



JÑĀNAPĪTHA MŪRTIDEVĪ JAINA GRANTHAMĀLĀ

SAMSKRIT GRANTHA NO 17

JAINENDRA VYĀKARANAM

BY

PUJYAPĀDA DEVANANDI

WITH

JAINENDRA MAHĀVRITTI

OF

SHRI ABHAYANANDI



*Editor*

Pandit SHAMBHU NATH TRIPATHI, *Vyakaranacharya*

*Assistant*

Pandit, MAHADEO CHATURVEDI, *Vyakaranashastriacharya*

*Published By*

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪTHA KĀSHĪ

*First Edition* }  
*600 Copies.* }

MARGSHIRSHA, VIR SAMVAT 2483  
VIKRAMA SAMVAT 2013  
NOVEMBER 1956

{ *Price*  
{ *Rs. 15/-*



# BHĀRATĪYA JÑĀNA-PĪTHA KĀSHĪ

FOUNDED BY,

SETH SHĀNTI PRASĀD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE BENEVOLENT MOTHER

SHRĪ MŪRTI DEVĪ

BHĀRATĪYA JÑĀNA-PĪTHA MŪRTI DEVĪ  
JAIN GRANTHAMĀLĀ

SAMSKRIT GRANTHA NO. 17

IN THIS GRANTHAMĀLĀ CRITICALLY EDITED JAIN ĀGAMIC PHILOSOPHICAL,  
PAURĀNIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS  
AVAILABLE IN PĀKRIT, SANSKRIT, APABHRANSHA, HINDI,  
KANNADA AND TAMIL ETC, WILL BE PUBLISHED IN  
THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR  
TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES

AND

CATALOGUES OF JAIN CHANDAPAS INSCRIPTIONS STUDIES OF COMBINED  
SCHOLARS & POPULAR JAIN LITERATURE WILL ALSO BE PUBLISHED

*General Editors*

Dr. Hiralal Jain M. A., D Litt.

Dr. A.N. Upadhye M.A , D. Litt

*Publisher*

AYODHYA PRASAD GOYALIYA

Sec , BHARATIYA JNAN PITHA  
DURGAKUND ROAD, BANARAS

## सम्पादकीय

जैन साहित्य जिस प्रकार साहित्यकी अन्य विविध धाराओंसे परिपुष्ट है, उसी प्रकार उसमें वैज्ञानिक व शास्त्रीय साहित्यकी भी कमी नहीं है। व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, गणित आदि विषयोंपर अनेक प्राचीन जैन ग्रन्थ पाये जाते हैं जो भारतीय साहित्यके अभिन्न अंग हैं और जिनका अभ्ययन नये दिन किसी भी विषयका ज्ञान परिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। किन्तु दुर्भाग्यवत् वह मन साहित्य अभी तक भी सुपेकाशित व सुलभ नहीं किया जा सका। इस दिशामें भारतीय ज्ञानपीठ जो प्रयत्न कर रहा है वह स्तुत्य है।

भारतीय व्याकरण शास्त्रमें जैनेन्द्र व्याकरणका एक प्रमुख स्थान है। जैन साहित्यमें तो इसकी स्थाति है ही, किन्तु अन्य मतावलम्बी शास्त्रकारोंने भी उसका उल्लेख, शाकटायन और पाणिनि जैसे अति-प्राचीन और सुविख्यात वैयाकरणोंके साथ-साथ किया है। इसकी दो सूत्र परम्पराएँ पाई जाती हैं और उसपर चारह सहस्र श्लोक प्रमाण महावृत्ति भी उपलब्ध है। किन्तु यह इतिहास-प्रसिद्ध व्याकरण अभी तक पूरा प्रकाशित नहीं हो सका। लगभग चालीस वर्ष पूर्व काशीसे इसका एक संस्करण निकला था जिसमें इसके पाँच अध्यायोंमेंसे केवल तीन अध्याय ही प्रकाशित हुए थे। बहुत कालसे वह संस्करण भी अप्राप्य है। इस प्रकार जिज्ञासु संसार इस ग्रन्थकी परिपूर्ण आवृत्तिके लिए दीर्घकालसे तृप्तानुर हो रहा था। हर्षका विषय है कि इस महान् त्रुटिकी प्रस्तुत संस्करण द्वारा भले प्रकार पूर्ति हो रही है। इसमें पाठ-सशोधनार्थ कारी और पूनासे प्राप्त अनेक प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोंका उपयोग किया गया है और अभयनन्दि कृत पूरी महावृत्ति भी सम्मिलित है।

इस व्याकरणके सम्बन्धमें समस्त ज्ञातव्य विषयोंका परिचय इसके साथ प्रकाशित श्रद्धेय पं० नाथूरामजी प्रेमीके लेख एवं विद्वद्गुरु डॉ० वासुदेवशरणजी अग्रवालकी भूमिकामें आ गया है। प्रेमीजीका लेख मूलतः बहुत पहले, जब वह काशीका प्रथम संस्करण निकला था तब ही ( सन् १९२१ में ) लिखा गया था। इनका मशोधित रूप सन् १९४२ में उनके 'जैन साहित्य और इतिहास' शीर्षक संकलनमें प्रकाशित हुआ था। जिसका द्वितीय संस्करण सन् १९५६ में प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत लेखमें इस समय तक इस ग्रन्थ व ग्रन्थकर्त्ताके विषयमें जो कुछ ऐतिहासिक बातें ज्ञात हो चुकी हैं उनका निर्देश आ गया है। डॉ० अग्रवाल जी व्याकरणशास्त्रके, विशेषतः उसके ऐतिहासिक पक्षके, प्रकाण्ड पण्डित हैं, जिसका प्रमाण उनका 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' ग्रन्थ विद्यमान है। उन्होंने जैनेन्द्रमहावृत्तिके सूत्रों और उनकी महावृत्तिका सूक्ष्म आलोचन करके जो अनेक ऐतिहासिक तथ्य-रत्नोंका आविष्कार किया है वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। उनकी ओर हम पाठकोंका ध्यान विशेष रूपसे आकर्षित करना चाहते हैं।

हीरालाल जैन  
आ० ने० उपाध्ये

## ग्रन्थ-लागत

८७५-॥ कागज़ २२ x २९ - २८ पौण्ड  
 ४३ रीम १५ जिस्ता १० शीट  
 १८२६) छपाई ७०॥ फार्म  
 ५४०) जिल्द बंधाई  
 ३२३) कवर कागज़  
 २८) कवर छपाई

३८७१३) सम्पादन

२००) कार्यालय-व्यवस्था

७५०) मेट आलोचना

४००) प्र.फ.संशोधन

७५) पोस्टेज ग्रन्थ मेट भेजनेका

३५५०) कर्मीजन, विप्रापन, चित्रा-व्यय आदि

कुल लागत ११२४॥)

६०० प्रति छपा • लागत मूल्य ११॥=॥ • मूल्य १५)

# प्रति-परिचय

## ‘मु०’ प्रति

यह प्रति सरस्वतीभवन, काशीसे प्रकाशित हुई है। इसमें अध्याय ३ पाद २ सूत्र ६० तक ही छपे हैं।

## ‘अ०’ प्रति

यह भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूनाकी प्रति है। इसमें पत्र सख्या ४०२, पङ्क्ति प्रति पृष्ठ १५ और अक्षर प्रति पङ्क्ति लगभग ४६ हैं। साइज साँची सुपर रायल। पुस्तकके अन्तमें लेखनकाल तथा लेखक आदिका नाम निम्न प्रकार है—

“फागणमासे शुक्लपक्षे तिथौ ३ बुधवासरे संवत् १८८३ का। लीखकृतं माहृतमा पनालाल चार्मा सवाई जयपुरका। लिखी प्रागरा मध्ये। लिपायत चम्पारामजी पुस्तक मथुराको।”

## ‘व०’ प्रति

यह श्रीत्याद्वाद दिगम्बर जैन महाविद्यालय काशीकी प्रति है। इसमें कुल पत्र ४०३ हैं, प्रत्येक पृष्ठमें १० पङ्क्तियाँ और प्रत्येक पङ्क्तिमें लगभग ३२ अक्षर हैं। प्रति पूर्ण है। पुस्तकके अन्तमें समय आदिना निर्देश निम्न प्रकार है—

“अथ संवत्सरस्मिन् विक्रमार्कसमयातीत् सं० १६२६ वर्षे श्री मच्छालिवाहन शाके १६६४ प्रवर्तमाने उत्तरायणे वशंततौ [१] आपादमासे कृष्णपक्षे दशम्यां तिथौ शुक्रवासरे समाप्तमिति।.....ऐनेन्द्रपुरी नगरमध्ये।”

## ‘स०’ प्रति

यह भी श्रीत्याद्वाद दिगम्बर जैन महाविद्यालय काशीकी ही प्रति है। इसमें पत्र सख्या ३९४ है। पत्र सख्या १ से २७० तक प्रतिपृष्ठ १३ या १४ पङ्क्तियाँ और प्रति पङ्क्ति लगभग २५ अक्षर हैं। उसके आगेके पत्र दूसरे लेखकके लिखे हुए प्रतीत होते हैं जिनमें प्रत्येक पृष्ठमें १६ पङ्क्तियाँ और प्रत्येक पङ्क्तिमें लगभग ३४ अक्षर हैं। प्रति सुवाच्य तथा प्रायः शुद्ध है किन्तु इसके ३५० से ३६२ तक पत्र नहीं है। यह प्रति अध्याय ५ पाद १ सूत्र ३४ में जाकर समाप्त हो जाती है। इससे आगेके पत्र नष्ट प्रतीत होते हैं।

## ‘द०’ प्रति

यह प्रति भी श्रीत्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालय काशीकी है। इसके २७५ पत्रोंमें अध्याय ४ पाद १ सूत्र १२५ तककी वृत्ति उपलब्ध है। इसके प्रारम्भके ४९ पत्रोंमें प्रतिपृष्ठ ११ पङ्क्तियाँ तथा प्रतिपङ्क्ति लगभग ३८ अक्षर हैं तथा उसके आगे पत्र सख्या ५० से २७५ तक प्रति पृष्ठ १२ पङ्क्तियाँ तथा प्रतिपङ्क्ति लगभग ४६ अक्षर हैं।

## ‘पू०’ प्रति

यह प्रति भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूनाकी है। यह दो भागोंमें विभक्त है। प्रथम भागमें पत्र सख्या १ से ३१४ तक तथा दूसरेमें १ से ७४ तक है। इसके प्रत्येक पृष्ठमें १४ पङ्क्तियाँ और प्रत्येक पङ्क्तिमें लगभग ४२ अक्षर हैं। दूसरे भागमें चतुर्थ अध्यायके चतुर्थ पादका कुछ अन्तिम भाग तथा पञ्चम अध्याय पूर्ण है। लेखन काल आदिका परिचय लेखकके शब्दोंमें निम्नप्रकार है—

‘पंडित जन स्य चीनती है परोक्ष मम एह।

हीनाधिक लखि सोधियो हंसियो मति धरि नेह ॥

मिति चैत्र-शुक्ल २ भौमवासरे शुभ सम्वत् १६३३ का।”

इन सभी प्रतिधोंमें अध्याय ४ पाद ३ से पञ्चम अध्यायके अन्त तक बीच बीचमें कुछ सूत्रोंकी वृत्ति नहीं लिखी गई है जो यत्न करनेपर भी उपलब्ध न हो सकी और इसीलिए जैनेन्द्र पञ्चाध्यायीके आधारसे द्वा-क्रममें केवल सूत्रमात्रका निर्देश कर दिया गया है।

## [ लेखक—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ]

भारतवर्षमें व्याकरणशास्त्रका अव्ययन लगभग तीन सहस्र वर्षसे चला आ रहा है। भाषाके शुद्ध ज्ञानके लिए व्याकरणका महत्त्व सर्व सम्मतिमें स्वीकृत हुआ, अतएव व्याकरणको 'उत्तम विद्या' अर्थात् अन्य विद्याओंकी अपेक्षा श्रेष्ठ कोटिमें माना गया। किसी भी भाषाके इतिहासमें धातु और प्रत्ययोंकी पहचान उस गौरवपूर्ण स्थितिकी सूचक है जिसमें सद्धम दृष्टिसे भाषाके आन्तरिक संगठनका विवेक कर लिया जाता है, और शब्दोंकी उत्पत्ति और निर्माणकी जो प्राणवन्त प्रक्रिया है उसके रहस्यको आत्ममात् कर लिया जाता है। यों तो सभी मनुष्य अपनी अपनी मातृभाषामें बोलकर अपना अभिप्राय प्रकट कर लेते हैं, किन्तु व्याकरणकी प्रक्रियाका जन्म उस राजपथका निर्माण है जिसपर चलकर निर्भय भावमें हम भाषाके विस्तृत साम्राज्यमें जहाँ चाहें पहुँच सकते हैं और शब्दोंमें भावप्रकाशनकी जो अपरिमित क्षमता है उसको भी प्राप्त कर सकते हैं। संस्कृत वैयाकरणोंने संसारमें सर्वप्रथम इस प्रकारका महानोय कार्य किया। शब्दोंके विभिन्न रूपोंके भीतर जो एक मूल सजा या धातु निहित रहती है उसके स्वरूपका निश्चय और प्रत्यय जोड़कर उसमें बनेवाले क्रिया और सजा रूपी अनेक शब्दोंकी रचना एवं प्रत्ययोंके अर्थोंका निश्चय—इस प्रकारके विविध विचारकी पद्धति का जिस शास्त्रमें आरम्भ और विकास हुआ उसे शब्दविद्या या व्याकरणशास्त्र कहा गया।

संस्कृत साहित्यमें पाणिनि की अष्टाध्यायी व्याकरणशास्त्रका सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन है। उसके लगभग चार सहस्र सूत्रोंमें लौकिक और वैदिक संस्कृतका जैसा अद्भुत विचार किया गया है, वह विलक्षण है। पाणिनिने संस्कृत व्याकरणका जो स्वरूप स्थिर किया उसीका विकास अनेक वृत्ति, वार्तिक, भाष्य, न्याय, टीका, प्रक्रिया आदिके रूपमें लगभग इस शती तक होता आया है। किन्तु पाणिनिके अतिरिक्त, पर मुख्यतः उन्हींकी निर्धारित पद्धतिसे और भी व्याकरण-ग्रन्थोंका निर्माण हुआ। इस विषयमें एक प्राचीन श्लोक ध्यान देने योग्य है—

इन्द्रश्चन्द्र काशकृन्नापिण्ली शाकटायनः ।

पाणिन्यमर्जनेन्द्रा जयन्यष्टौ च शाब्दिकाः ॥

होता है कि उन प्राचीन व्याकरणोंकी अधिकांश सामग्रीके आधारपर एव स्तः अपनी सृजनेजिका द्वारा लोकोत्ते शब्द-सामग्रीका संग्रह करके पाणिनिने अपनी अष्टाध्यायीका निर्माण किया। वह शान्त लोकमें इतना महान् और सुविदित समझा गया [पाणिनीय महत् सुविहितम्, भाष्य ४।३।६६] कि पाणिनिके उत्तर कालमें नये व्याकरणोंकी रचनाका क्रम एक प्रकारसे बन्द सा हो गया। उसके बाद व्याकरणका परिष्कार केवल वार्तिक, भाष्य और वृत्तियों द्वारा चलता रहा। कात्यायन जैसे प्रखर बुद्धिशाली आचार्यने पाणिनि व्याकरणपर लगभग सवा चार सहस्र वार्तिकोंकी रचना करके उस महान् शास्त्रके प्रति अपनी निष्ठा अभिव्यक्त की, पर कोई स्वतन्त्र व्याकरण रचनेका उपक्रम नहीं किया। इसी प्रकार भगवान् पतञ्जलिका महाभाष्य भी पाणिनीय व्याकरणकी सीमाके भीतर एक अद्भुत प्रयत्न था। पाणिनि लगभग पाँचवीं शती विक्रम पूर्वमें नन्द राजाओंके समयमें हुए थे। यह अनुश्रुति ऐतिहासिक तथ्यपर आश्रित जान पड़ती है जैसा कि हमने अपने 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' नामक ग्रन्थमें प्रदर्शित किया है। अतएव यह स्पष्ट है कि पाणिनिके बाद लगभग एक सहस्र वर्षतक नूतन व्याकरणकी रचनाका प्रयत्न नहीं किया गया।

भारतीय साहित्यिक इतिहासका यह सुविदित तथ्य है कि कुषाण कालके लगभग संस्कृत भाषाको पुनः सार्वजनिक रूपमें साहित्यिक भाषा और राजभाषाका पद प्राप्त हुआ। कनिष्कके समयमें अश्वघोषके काव्योंकी रचना और रुद्रदामाके जूनागढ लेखसे यह स्पष्ट विदित होता है। वस्तुतः इस समय भाषाके क्षेत्रमें जो क्रान्ति घटित हुई उसका ठीक स्वरूप कुछ इस प्रकार था—ब्राह्मण साहित्यमें तो संस्कृत भाषाकी परम्परा सदासे अस्तुत्त थी ही, पर उसके अतिरिक्त बौद्ध और जैन आचार्योंने भी संस्कृत भाषाको उन्मुक्त भावसे अपना लिया और उसके अध्ययनसे दोनोंने अपने अपने क्षेत्रमें विपुल साहित्यका निर्माण किया जिसमें किसी समय सहस्रो ग्रन्थ थे। कुषाण कालसे जो भाषा सम्बन्धी नया परिवर्तन आरम्भ हुआ था वह उत्तरोत्तर सञ्चल होता गया, वहाँ तक कि लगभग चौथी-पाँचवीं शती ईस्वीमें संस्कृत भाषाको न केवल भारतवर्षमें अखण्ड राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त हुई, वरन् मध्य एशियासे लेकर हिन्द एशिया या द्वीपान्तर तकके देशोंमें पारस्परिक व्यवहारके लिए वह अन्तर्राष्ट्रीय भाषा भी बन गई।

इस पृष्ठभूमिमें शब्दविद्याका पुनः वह छूटा हुआ सृज आरम्भ हुआ और नये व्याकरणशास्त्र लिखे जाने लगे। स्वयं पाणिनीय व्याकरणों पर वामन जयादित्य कृत काशिका वृत्ति और जिनेन्द्रबुद्धि कृत न्यासकी रचना हुई। यह टीकाके मार्गसे प्राचीन व्याकरणका ही विशदीकरण था; किन्तु बौद्ध और जैन जो दो बड़े समुदाय संस्कृत भाषाकी नई शक्तिके परिचित हो रहे थे, उन्होंने अपने अपने क्षेत्रमें दो नये व्याकरणोंका निर्माण किया। बौद्धोंमें आचार्य चन्द्रगोमी कृत चान्द्र व्याकरण और जैनोमें आचार्य देववन्दी पूज्यपाद कृत जैनेन्द्र व्याकरण गुप्त युगमें अस्तित्वमें आये। ज्ञात होता है कि दोनोंकी ही रचना लगभग ५ वीं शती ईस्वीके उत्तरार्धमें हुई। चान्द्र व्याकरणकी स्वोपज वृत्ति में 'अजयद् जतों हृणान्' [१।२।८१] उदाहरणसे सिद्ध है कि पाँचवीं शतीके मध्यमें स्कन्दगुप्तने हूणोंपर जो बड़ी विजय प्राप्त की थी उसकी समकालीन स्मृति इस उदाहरणमें अवशिष्ट है। इससे चान्द्रव्याकरणके रचनाकाल पर प्रकाश पड़ता है। पूज्यपाद देववन्दीने दो सूत्रोंमें प्रसिद्ध आचार्य, सिद्धसेन [वेत्ते. सिद्धसेनस्य, ५।१।७] और समन्तभद्र 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' [५।४।१४०] का उल्लेख किया है, ये दोनों देववन्दीसे कुछ समय पूर्व हो चुके थे। यद्यपि सिद्धसेन दिवाकरका समय भी सर्वथा निश्चित नहीं है, किन्तु अनुश्रुतिके अनुसार उन्हें विक्रमादित्यका समकालीन माना जाता है। विक्रमके नवरात्रोंकी सूचीमें जिस क्षणिका उल्लेख है उन्हें विद्वान् सिद्धसेन दिवाकर ही मानते हैं। श्री राष्ट्रसेन सिद्धसेनका समय पाँचवीं शतीके मध्यभागमें माना है, किन्तु चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य [३७५-४१३] और सिद्धसेनकी समसामयिकताका आधार यदि सत्य हो तो सिद्धसेनकी चौथी शतीके अन्तमें मानना ठीक होगा। लगभग यही समय समन्तभद्रका होना चाहिए। श्री प्रेमीजीने अपने पाण्डित्यपूर्ण लेखमें देववन्दीके

समयके विषयमे जो प्रमाण सङ्गृहीत किये हैं उनमें सम्मिलित साक्षीसे भी यही मन्वित होता है कि आचार्य देवनन्दी लगभग पाँचवीं शतीके अन्तमें हुए हैं। इस सम्बन्धमें एक विशेष प्रमाणकी ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। इसके अनुसार सवत् ६६० में बने हुए दर्शनसार नामक प्राकृत ग्रन्थमें कहा है कि पूज्यपादके शिष्य वज्रनन्दीने दक्षिण मधुरामे ५२६ विक्रमीमें [ ४६६ ई० ] द्राविड़ सभकी स्थापना की। इसमें भी पूज्यपादका समय ५ वीं शतीके उत्तरार्धमें सिद्ध होता है। इसीका समर्थन करनेवाला एक अन्य प्रमाण है—कर्नाटक-कविचरित्र के अनुसार गगवशीय राजा अविनीत [ वि० स० ५२३ ] के पुत्र दुर्विनीत [ वि० स० ५३८, ईस्वी ४८१ ] आचार्य पूज्यपादके शिष्य थे अतएव पूज्यपाद ५ वीं शतीके उत्तरार्धके सिद्ध होते हैं। महा राज पृथिवीकोकणके दानपत्रमें लिखा है—श्रीमत्कोकणमहाराजाधिराजस्याविनीतनाम्न पुत्रेण शब्दावतारकारेण देवभारतीनिबद्धबृहत्कथेन किरातार्जुनीयपचदशसर्गटीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन, अर्थात् अविनीतके पुत्र दुर्विनीतने शब्दावतारनामक ग्रन्थकी रचना की थी। जैसे प्रेमीजीने लिखा है शिमोगा जिलेकी नगर तहसीलके शिलालेखमें देवनन्दीको पाणिनीय व्याकरण पर शब्दावतार न्यासका कर्ता लिखा है। अनुमान होता है कि दुर्विनीतके गुरु पूज्यपादने वह ग्रन्थ रचकर अपने शिष्यके नामसे प्रचारित किया था।

जैनेन्द्र व्याकरण उस श्रुतखलाकी पहली कड़ी है जिसमें गुप्तकालसे लेकर मध्यकाल तक उत्तरोत्तर नये नये व्याकरणोंकी रचना होती चली गई। जैनेन्द्र [पाचवीं शती], चन्द्र [पाचवीं शती], शाकटायन [नवमी शती का पूर्वार्द्ध], सरस्वतीकण्ठाभरण [ ग्यारहवीं शतीका पूर्वार्द्ध ] और प्रसिद्ध हैमशब्दानुशासन [ बारहवीं शतीका पूर्वार्द्ध ] इन सबने उन्मुक्त मनसे और अत्यन्त सौहार्द भावसे पाणिनीय व्याकरणकी मूल सामग्री का प्रबलभजन लिया। इनमें भी जैनेन्द्र-व्याकरणने भोजके सरस्वतीकण्ठाभरणको छोड़ कर अपने आपको पाणिनीय ग्रन्थोंके सबसे निकट रखा है। किसी भी प्रकरणके अध्ययनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैनेन्द्रने पाणिनि सामग्री की प्रायः अविकल रक्षा की है। केवल स्वर और वैदिक प्रकरणोंको अपने युगके लिए आवश्यक न जान कर उन्होंने छोड़ दिया था। जैनेन्द्र व्याकरणके कर्ताने पाणिनीय गणपाठकी वृत्त सावधानीसे रक्षा की थी। मूल व्याकरणमें पाणिनिके गणसूत्रोंको प्रायः स्वीकार किया गया है। यद्यपि वैदिक शास्त्राओंवाले और गोत्र सम्बन्धी गणोंमें कुछ होनेवाले नामोंका जैन साहित्यके लिए उतना उपयोग न था, किन्तु जिस समय इस व्याकरणकी रचना हुई उस समय भाषाके विषयमें लोककी चेतना अत्यन्त स्वच्छ और उदार भावमें युक्त थी, अतएव जैनेन्द्र व्याकरणकी प्रवृत्ति पाणिनि सामग्रीके निराकरणमें नहीं, बरन् उसके अविस्मरे अधिक सम्बन्धमयी जाती है। जैनेन्द्र व्याकरणके साथ उसका अलग गणपाठ किसी समय अवश्य ही रहा होगा, यद्यपि अब यह पृथक् रूपसे उपलब्ध न होकर अमरनन्दी इत महावृत्तिके अन्तर्गत ही सुरक्षित है। काव्यात्मके वर्णिक और पतञ्जलिके भाष्यकी इष्टियोंमें जो नये नये रूप सिद्ध किये गये थे उन्हें देवनन्दीने सर्वोप अपना लिया, इस लिए भी यह व्याकरण अपने समयमें विशेष लोकप्रिय हुआ होगा। यह प्रवृत्ति साहित्य में किसी अंशमें आ गई थी और चन्द्र आदि व्याकरणोंमें भी बराबर पाई जाती है।

शास्त्रके तुलनात्मक अध्ययनके लिए जैनेन्द्रका यह वर्तमान संस्करण अधिक उपयोगी सिद्ध होगा, विशेषतः गणपाठसे तुलनात्मक अध्ययनके लिए इस संस्करणका विशेष उपयोग हो सकेगा।

आचार्य अभयनन्दीकी महावृत्ति लगभग काशिकाके समान ही वृत्त ग्रन्थ है। उसके वर्तने काव्यायनके वार्तिक और पतञ्जलिके भाष्यसे बहुत अधिक उपादेय सामग्रीका अपने ग्रन्थमें संकलन कर लिया है। महावृत्ति-का काल आठवीं शताब्दीका प्रारम्भ माना जाता है और सम्भावना ऐसी है कि अभयनन्दीने काशिका वृत्तिका उपयोग किया था। वस्तुतः किसी भी पाठकसे यह तथ्य छिपा नहीं रह सकता कि अष्टाध्यायी और काशिकाका ही रूपान्तर जैनेन्द्र पञ्चाध्यायी और उसकी महावृत्तिमें प्राप्त होता है। फिर भी काशिका और महावृत्तिही सूक्ष्म तुलना करनेपर यह प्रकट हो जाता है कि अभयनन्दीने कुछ ऐसे उदाहरण दिये हैं जो काशिकामें उपलब्ध नहीं होते और फलस्वरूप ऐसी सामग्रीकी रक्षा की है जो काशिकासे प्राप्त नहीं हो सकती। उन्होंने जहाँ सम्भव हो सके वहाँ जैन तीर्थङ्करोंके, महापुरुषोंके, या ग्रन्थोंके नाम उदाहरणोंमें डाल दिये हैं। जैसे, सूत्र १।४।१५ के उदाहरणमें 'अनु शालिभद्रम् आख्याः, अनुसमन्तभद्रं तार्किकः'; सूत्र १।४।१६ के उदाहरणमें 'उपसिद्धनन्दिनं कवयः, उपसिद्धसेनं वैयाकरणः'. सूत्र १।४।२० की वृत्तिमें 'आकुमारं यशः समन्तभद्रस्य' सूत्र १।४।२२ की टीकामें 'अभयकुमारः श्रेणिकतः प्रति', सूत्र २।१।६८ की टीकामें 'भरतगृणः, भुजबलिगृणः', सूत्र १।३।१० की वृत्तिमें 'आकुमारं यशः समन्तभद्रस्य' ऐसे उदाहरण हैं जो वृत्तिकारने मूलग्रन्थके अनुकूल जैन वातावरणका निर्माण करनेके लिए अपनी प्रतिभासे बनाये हैं। सूत्र १।३।५ की वृत्तिमें 'प्राभृतपर्यन्तमर्धाते' उदाहरण महत्वपूर्ण है, उसीके साथ 'सवन्धम्, सटीकम् अर्धाते' भी व्यान देने योग्य है। यहाँ ऐसा विदित होता है कि प्राभृतसे तात्पर्य महाकर्मप्रकृति प्राभृतसे था जिसके रचयिता प्रा० पुष्पदन्त तथा भूतबलि माने जाते हैं [प्रथम-द्वितीय गती]। इसीका दूसरा नाम पट्खण्डागम प्रसिद्ध है। इसीका भागविशेष 'ग्रन्ध' या महाग्रन्ध [महाधवल सिद्धान्तशास्त्र] था जिसके अध्ययनसे यहाँ अभयनन्दीका तात्पर्य ज्ञात होता है; अर्थात् उस समय भी विद्वानोंमें प्राभृत या पट्खण्डागमसे पृथक् महाग्रन्धका अस्तित्व था और दोनोंका अध्ययन जीवनका आदर्श माना जाता था। 'सटीकमर्धाते' में जिस टीकाका उल्लेख है वह धवला टीका नहीं हो सकती क्योंकि उसकी रचना वीरसेनने ८१६ ई० में की थी। श्रुतावतारके अनुसार महाकर्मप्राभृतपर आचार्य कुन्दकुन्दने भी एक बड़ी प्राकृत टीका लिखी थी जो इस समय अनुपलब्ध है। सम्भवतः वही टीका प्राभृत और ग्रन्धके साथ पढ़ी जाती थी। इनके स्थान पर पाणिनि सूत्रके उदाहरणोंमें किसी समय इष्टि, पशुग्रन्ध, अग्नि, रत्न नामक शतपथ ब्राह्मणके तत्तद् कार्डोका अध्ययन विद्याका आदर्श माना जाता था। देवनन्दीने सूत्र १।४।३४ में जिन श्रीदत्त आचार्यका उल्लेख किया है उन्हें कुछ विद्वान् काल्पनिक समझते हैं, परन्तु अभयनन्दीकी महावृत्तिसे सूचित होता है कि श्रीदत्त कोई अत्यन्त प्रसिद्ध वैयाकरण थे जिनका लोकमें प्रमाण माना जाता है। 'इतिश्रीदत्तम्', यह प्रयोग 'इतिपाणिनि' के सदृश लोकप्रसिद्ध था। इसी प्रकार 'तत्तद्गीदत्तम्', 'अहोश्रीदत्तम्' प्रयोग भी श्रीदत्तकी लोकप्रियता और प्रामाणिकता अभिव्यक्त करते हैं [श्रीदत्तशब्दों लोके प्रकाशते; महावृत्ति १।३।५]। सूत्र ३।३।७६ पर 'तेन प्रोक्तम्' के उदाहरणमें अभयनन्दीने 'श्रीदत्तके विरचित ग्रन्थको श्रीदत्तायम् कहा है। इससे ज्ञात होता है कि श्रीदत्तका बनाया कोई ग्रन्थ अवश्य था। सूत्र १।४।४ की वृत्तिमें 'शरदं मथुरा रमणीया, मासं कल्याणी काञ्ची' ये दोनों उदाहरण अभयनन्दीकी मौलिकता सूचित करते हैं। पाणिनि सूत्र 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' [१।३।५] की काशिका वृत्तिमें 'मासं कल्याणी' उदाहरण तो है किन्तु 'मासं कल्याणी काञ्ची' यह ऐतिहासिक सूचना अभयनन्दीने किसी विशेष स्रोतसे प्राप्त की थी। जिस काञ्चीपुरीके मासव्यापी उत्सवोंकी विशेष शोभाकी ओर इस उदाहरणमें संकेत है वह महेंद्रवर्मन्, नरसिंह वर्मन् आदि पल्लवनरेशोंकी राजधानीके सम्बन्धमें होना चाहिए। अतएव सतम शतीसे पूर्व यह उदाहरण भाषामें उत्पन्न न हुआ होगा। सूत्र ४।३।११४ की वृत्तिमें अभयनन्दीने माघके 'सदाद्यभिषेचनेन विभ्रता' श्लोकका उद्धरण दिया है। माघके दादा सुप्रभदेव वर्मलातके मन्त्री



ये जिसका एक शिलालेख ६२५ ई० का पाया जाता है। अतएव मात्रका समय सप्तम शतीका उत्तरार्ध होना चाहिए। उसके बाद ही अभयनन्दीने महावृत्तिका निर्माण किया होगा। सूत्र १।४।६९ पर 'चन्द्रगुप्त-सभा' उदाहरण तो पाणिनीय परम्परामें प्राप्त होता है किन्तु उसके साथ काशिकामें जो 'पुण्यमित्रसभा' दूसरा उदाहरण है उसकी जगह महावृत्तिकारने 'सातवाहनसभा' उदाहरण रक्खा है। उसी प्रकार काशिकामें [१।४।२३] में केवल 'काष्ठसभा' उदाहरण है, किन्तु अभयनन्दीने 'पापाण्यसभा' और 'पञ्चेष्टकसभा' ये दो अतिरिक्त उदाहरण दिये हैं। कहीं कहीं अभयनन्दीने काशिकाकी अपेक्षा भाष्यके उदाहरणोंको स्वीकार किया है। जैसे सूत्र १।४।१३७ में 'औदालकिः पिता, औदालकायनः पुत्रः' यह भाष्यका उदाहरण था जिसे बदलकर काशिकाने अपने समयके अनुकूल 'आर्जुनिः पिता, आर्जुनायनः पुत्रः' [काशिका १।४।६६] यह उदाहरण कर दिया था। 'आर्जुनायन' काशिकाकारके समयके अधिक सन्निकट था जैसा कि समुद्रगुप्तकी प्रयागस्तम्भ प्रशस्तिमें आर्जुनायनगणके उल्लेखसे ज्ञात होता है। कहीं कहीं महावृत्तिमें काशिकाकी सामग्रीको स्वीकार करते हुए उससे अतिरिक्त भी उदाहरण दिये गये हैं जो सूचित करते हैं कि अभयनन्दीकी पहुँच अन्य प्राचीन वृत्तियों तक थी, जैसे सूत्र १।४।८३ की वृत्तिमें 'उद्धथेशवति' तो काशिकामें भी है किन्तु 'विपाट्-चक्रभिदम्' [विपाटा और चक्रभिद् नदीका संगम] उदाहरण नया है। ऐसे ही सूत्र २।४।२९ में मयूरिकाग्रन्थ, कौञ्चग्रन्थ, चक्रग्रन्थ, कृट्यग्रन्थ उदाहरण महावृत्ति और काशिकामें समान हैं, पर चण्डालिकाग्रन्थ और महि पिकग्रन्थ उदाहरण महावृत्तिमें नये हैं। काशिकाका मुष्टिग्रन्थ महावृत्तिमें दृष्टिग्रन्थ और चोरकग्रन्थ चारकग्रन्थ हो गया है। सूत्र १।३।३६ में भी चारकग्रन्थ पाठ है। सूत्र ५।४।९६ 'पान देशे' की वृत्तिमें काशिकाके 'क्षीरपाणाः उर्गानराः' को 'क्षीरपाणाः आन्ध्राः' और 'सौवीरपाणा वाह्लीकाः' को 'सौवीरपाणाः द्रविणाः' कर दिया है। 'द्रविणाः' द्रमिल या द्रमिडका रूप है। ये परिवर्तन अभयनन्दीने किसी प्राचीन वृत्तिके आधार पर या त्वय अपनी मञ्चनाके आधारपर किये होंगे। आन्ध्र देशमें दूध पीनेका और तामिल देशमें कौजी पीनेका व्यवहार लोकमें प्रसिद्ध रहा होगा। कहीं-कहीं महावृत्तिमें कठिन शब्दोंके नये अर्थ सप्रह करनेका प्रयास किया है इसका अच्छा उदाहरण सूत्र २।४।१६ का 'अपटर्क्षणी' शब्द है। पाणिनि सूत्र ५।४।७ की काशिका वृत्तिमें 'अपटर्क्षणी मन्त्रः' उदाहरण है अर्थात् ऐसा मन्त्र या परामर्श जो केवल राजा और मन्त्रीके बीचमें हुआ हो [यो द्वाभ्यामेव क्रियते न बहुभिः]। 'पटर्क्षणी भिद्यते मन्त्रः' के अनुसार राजा और मुख्य मन्त्रीकी 'चार आँखों' या 'चार कानों' में बाहर जो मन्त्र चला जाता था उसके फूट जानेकी आशंसा रहती थी। अभयनन्दीने काशिकाके इस अर्थको स्वीकार तो किया है, किन्तु गौण रीतिमें। उन्होंने 'अपटर्क्षणी देवदत्तः' उदाहरणको प्रवानता दी है। अर्थात् कोई देवदत्त नामका व्यक्ति जिसने अपने पिता, पितामह और पुत्रमेंसे किसीको न देखा हो। अर्थात् जो तब अपने पिता पितामह की मृत्युके बाद उत्पन्न हुआ हो और तब अपने पुत्र कर्मके कुछ मान पढ़ते गत हो गया हो। इसके अतिरिक्त गदों भी अपटर्क्षणी कहा है [येन वा बन्धुकेन ह्यं क्रीडनं मोक्षयेवमुक्तः]। या तो ये अर्थ अभयनन्दीके समयमें लोकप्रचलित थे या उनकी कल्पना है। महावृत्तिमें 'अपटर्क्षणी' का एक अर्थ मछली भी किया है पर उसमें गौणत्व ही ज्ञात पड़ती है। सूत्र ३।४।३४ में 'अपानग्रो' शब्दके अर्थका भी महावृत्तिमें विचार है।

महावृत्ति सूत्र २।२।६२ में द्वाविंशतकी विशेष मन्त्रपूर्ण सामग्री सुरक्षित रख गई है। उसमें यो उदाहरण आये हैं—

यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो मध्यमिकाम् ।' इनमें शाकलके यवन राजाओं द्वारा किये हुए उन दो हमलोका उल्लेख है जिनमेंसे एक पूर्वकी ओर साकेत पर और दूसरा पच्छिममें मध्यमिका पर। मध्यमिका चित्तौड़के पासका वह स्थान था जिसे इस समय नगरी कहते हैं और जहाँ खुदाईमें प्राप्त पुराने सिक्कों पर मध्यमिका नाम लिखा हुआ मिला है। ये हमले किस राजाने किये थे उसका नाम पतञ्जलिने नहीं दिया, किन्तु यूनानी इतिहासलेखकोंके वर्णनसे ज्ञात होता है कि उस राजाका नाम मिनन्दर था जिसे पाली भाषामें मिलिन्द कहा गया है। उसके सिक्कों पर तत्कालीन बोलचालकी प्राकृत भाषामें उसका नाम मेनन्द्र मिलता है। महावृत्तिके 'अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्' इस उदाहरणमें दो महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ हैं। इसमें राजाका नाम महेन्द्र दिया हुआ है, पर हमारी सम्मतिमें इसका मूलपाठ 'मेनन्द्र' था। पीछेके लेखकोंने मेनन्द्र नामकी ठीक पहचान न समझ कर उसका संस्कृत रूप महेन्द्र कर डाला। इस उदाहरणसे संस्कृत साहित्यकी भारतीय सत्ता प्राप्त हो जाती है कि पूर्वकी ओर अभियान करनेवाले यवनराजका नाम मेनन्द्र या मिनन्दर था। यवनराज मेनन्द्रने पाटलिपुत्र पर दाँत गड़ा कर पहले धक्केमें मथुरा पर अधिभार जमाया और फिर आगे बढ़कर साकेतको छेड़ लिया। साकेत पहुँचनेके लिए मथुराका जीतना आवश्यक था। अब यह सूचना पक्के रूपमें अभयनन्दीके उदाहरणसे प्राप्त हो जाती है। इससे यह भी पता लगता है कि काशिकाके अतिरिक्त भी अभयनन्दीके सामने पाणिनि व्याकरणकी ऐसी सामग्री थी जिससे उसे यह नया ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त हुआ। सूत्र १।३।३६ की वृत्तिमें आरण्यक पर्व १२६।८-१० का यह श्लोक पठित है—

उल्लखलैराभरणैः पिशाची यदभापत् । एतत्तु ते दिवा नृत्तं रात्रौ नृत्तं तु द्रव्यसि ॥

काशिका २।१।४५ में यह श्लोक किन्हीं प्रतियोंमें प्रक्षिप्त और किन्हींमें मूलके अन्तर्गत माना गया है, किन्तु महावृत्तिसे सिद्ध हो जाता है कि वह काशिकाके मूलपाठका भाग था। श्लोकके उत्तरार्धमें जो 'दिवा-नृत्तं रात्रौ नृत्तं' पाठ है उसका समर्थन महाभारतकी कुछ प्रतियोंसे होता है पर कुछ अन्य प्रतियोंमें 'वृत्त' पाठ है जैसा कि काशिकामें और महाभारतके पूना संस्करणमें भी स्वीकार किया गया है। आचार्य अभयनन्दीने अपनी महावृत्तिकी जिस प्रकार पाणिनीय व्याकरणकी पुष्कल सामग्रीसे भर दिया है वह सर्वथा अभिनन्दनके योग्य है। आशा है जिस समय कागिज्ञावृत्ति, अभयनन्दीकृत महावृत्ति और शाकटायन व्याकरणकी अमोघवृत्ति इन तीनोंका तुलनात्मक अध्ययन करना सम्भव होगा तो यह ज्ञात और भी स्पष्ट रूपसे जानी जा सकेगी कि प्रत्येक वृत्तिकारने परम्परासे प्राप्त सामग्रीकी कितनी अधिक रक्षा अपने अपने ग्रन्थमें की थी। यह सन्तोषका विषय है कि इन वृत्तियोंने सावधानीके साथ प्राचीन सामग्रीको बचा लिया।

आचार्य देवनन्दीने पाणिनीय अष्टाध्यायीको आधार मानकर उसे पञ्चाध्यायीमें परिवर्तन करते समय दो बातोंकी ओर विशेष ध्यान रखा था—एक तो धातु, प्रत्यय, प्रातिपादिक, विभक्ति, समास आदि अन्वर्थ महासंज्ञाओंको भी जिनके कारण पाणिनीय अष्टाध्यायी व्याकरणमें इतनी स्पष्टता और स्वारस्य आ सका था, इन्होंने बीजगणितके जैसे अतिसंक्षिप्त संकेतोंमें बदल दिया है जिनकी सूची परिशिष्टमें दे दी गयी है। दूसरे जितने स्वर सम्बन्धी और वैदिक प्रयोग सम्बन्धी सूत्र थे उनको आ० देवनन्दीने छोड़ दिया है। किन्तु ऐसा करते हुए इन्होंने उदारतासे काम लिया है, जैसे ग्रानाय्य, धाय्या, सानाय्य, कुण्डपाय्य, परिचाय्य, उपचाय्य, [२।१।१०४-१०५] प्रावस्तुत् [२।२।१५६] आदि वैदिक साहित्यमें प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंको रख लिया है। इसी प्रकार सास्य देवता प्रकरण [३।२।०१-२८] में शुक्र अपोनपृ, महेन्द्र, सोम, आवापृथिवी, अनुत्तर ही रहने दिया है। प्रत्ययोंमें आनेवाले फ, ट, ख, छ, घ और यु, उ, एव उनके स्थानमें होनेवाले आदेशोंको भी ल्योम ल्यो रहने दिया है। [५।१।१. ५।१।२]। 'तेन प्रोक्तम्' प्रकरण [३।३।७६-८०] में वैदिक शाखाओं और ब्राह्मण ग्रन्थोंके नाम भी ल्योके ल्यो जैनेन्द्र व्याकरणमें स्वीकृत कर लिये गये हैं। कहीं कहीं जैनेन्द्रने उन परिभाषाओंको स्वीकार किया है जो प्राक् पाणिनीय व्याकरणोंमें मान्य थीं और जिनका

उल्लेख भाष्य या वार्तिकोमें आया है। उदाहरणके लिए जैनेन्द्र सूत्र १।३।१०५ में उत्तरपठो गुमजा मानी गई है। पतञ्जलिके महाभाष्यमें सूत्र ७।३।३ पर श्लोम्वार्तिकमें घु पाठ है और वहां 'किमिद घोरिति उत्तर-पठस्येति' लिखा है। सूत्र ७।१।२१ के भाष्यमें अघुको अनुत्तरपठका पर्याय माना है पर कीलहार्न का सुझाव था कि घु का शुद्ध पाठ घु होना चाहिए। वह बात जैनेन्द्रके सूत्र १।३।१०५ 'उत्तरपठं घु' से निश्चयेन प्रमाणित हो जाती है। और अब भाष्यमें भी घु ही शुद्ध पाठ मान लेना चाहिए।

सबसे आश्चर्यकी बात यह है कि पाणिनिके 'पूर्वत्रासिद्धम्' [८।२।१] सूत्र और उसने मन्वित अक्षिप्त प्रकरणको भी जो पाणिनिके शास्त्रनिर्माण कौशलका अद्भुत नमूना है, जैनेन्द्र व्याकरणमें 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र [५।३।२७] में स्वीकार किया है। तदनुसार जैनेन्द्रके सारे चार अव्यायोके प्रति ग्रन्थके लगभग दो पाद अक्षिप्त शास्त्रके अन्तर्गत आते हैं। देवनन्दीने अपनी पञ्चाव्यायीमें पाणिनीय अष्टाध्यायीके सूत्रक्रममें कमसे कम फेरफार करके उसे जैसेका तैसा रहने दिया है। केवल सूत्रोंके शब्दोंमें जहाँ-तहाँ परिवर्तन करके सन्तोष कर लिया है। जैनेन्द्र और पाणिनीय व्याकरणोंकी तुलनात्मक पाठ सारणीसे यह स्पष्ट हो जाता है। विशेष तुलनात्मक सूत्रसूची ग्रन्थके अन्तमें परिशिष्ट रूपमें दी गयी है।

जैनेन्द्र	पाणिनि	जैनेन्द्र	पाणिनि
१।१	१।१-२	३।३	४।३-४।४।१०६
१।२	१।३-४	३।४	५।१-५।२।४७
१।३	२।१-२	४।१	५।२।४८-५।३।११०
१।४	२।३-४	४।२	५।४
२।१	३।१	४।३	६।१-३
२।२	३।२	४।४	६।४
२।३	३।३	५।१	७।१-२।११३
२।४	३।४	५।२	७।२।११४-७।४
३।१	४।१	५।३	८।१-२
३।२	४।२	५।४	८।३-४

पूज्यपाद देवनन्दीने आचार्य गृह्यपिच्छ उमास्वयतिके तत्त्वार्थसूत्रपर सर्वार्थमिद्वि नामक टीका का निर्माण किया था जो ज्ञानपीठसे प्रकाशित हो चुकी है। उस ग्रन्थमें उन्होंने कई व्युत्पत्तियों का व्याकरणके सूत्रों का उद्धरण दिया है। उनमें बिना पक्षपातके जैनेन्द्र सूत्रोंको भी और पाणिनीय सूत्रोंको भी उद्धृत किया गया है। उदाहरणके लिए अध्याय ४ सूत्र १६ की सर्वार्थमिद्वि टीका में दो सूत्रोंका उल्लेख है—'तद्विप्रश्नम्नामि'

## दो शब्द

मुग्धबोध व्याकरणके रचयिता बोपदेवके नामसे एक श्लोक प्रसिद्ध है, यथा—

“इन्द्रश्चन्द्रः काशकृस्नापिशली शाकटायनः ।

पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः ॥”

इसमें मुख्य आठ व्याकरणोंके साथ जैनेन्द्र व्याकरणका भी उल्लेख है। इस समय यद्यपि इस व्याकरणका पूर्ण रूपसे अध्ययनाध्यापन आदिमें उपयोग नहीं दिखाई देता तथापि ऐतिहासिक तथा मातृकृतिक दृष्टिसे इसका अपना विशेष महत्त्व है। इतना होने पर भी जैनेन्द्रव्याकरणका कोई प्रामाणिक संस्करण अद्यावधि उपलब्ध न हो सका। लाजरस कम्पनी बनारसकी ओरसे इसका प्रकाशन हुआ भी तो भी वह अध्याय ३ पाद २ सूत्र ६० तकका ही हो सका। और इसलिए इस ग्रन्थके सर्वाङ्गपूर्ण सुन्दर प्रकाशनकी आवश्यकता बनी रही।

लगभग ८-१० वर्ष भारतीय ज्ञानपीठके अधिकारियोंका ध्यान इस कमीकी ओर आकृष्ट हुआ। फलस्वरूप इसके सम्पादनका गुरुतर कार्य इसके अधिकारी विद्वान् श्री प० शम्भुनाथ जी त्रिपाठी व्याकरणाचार्य सप्ततीर्थको सौंपा गया। श्री त्रिपाठीजीने इसका पूरा प्रामाणिक सम्पादन करनेका प्रयत्न तो किया किन्तु प्रेसमें देनेके पूर्व ही वे यहाँसे चले गये और उन्होंने यहाँ आनेका विचार ही त्याग दिया। तब भी ज्ञानपीठके सुयोग्य मन्त्री श्री अयोध्याप्रसाद जी गोयलीयने अपने प्रयत्नमें कमी न आने दी। उन्होंने सूचित किया कि यदि त्रिपाठी जी यहाँ नहीं आ सकते हैं तो आप इसे उनके पास ले जाकर सम्पादन सम्बन्धी सारी बातें समझ लीजिए और इसे पूर्ण निर्दोष बनाकर प्रकाशनके लिए दे दीजिए। तदनुसार मैं त्रिपाठी जीके मूल निवास-स्थान दोस्तपुर [फैजाबाद] भी गया किन्तु उनसे साक्षात् भेंट न हो सकनेके कारण मन्त्री जीकी सम्मतिसे मुझे ही इस कार्यमें लग जाना पड़ा। अभी तक सम्पादित होकर मेरे नामसे कोई ग्रन्थ प्रकाशित तो नहीं हुआ है फिर भी ज्ञानपीठमें रहते हुए मैंने जो सम्पादन सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया है उसपर विश्वास करके मैंने माननीय मन्त्रीजी, श्री प० फूलचन्द जी सिद्धान्तशास्त्री एव डा० वासुदेवशरण अग्रवालके उत्साहपूर्ण आदेशसे यह कार्य अपने हाथमें ले लिया। ‘अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रम्’ इस वचनके अनुसार यह शब्दशास्त्र अनन्त और अगाध है—इसका पार पाना कठिन है; फिर भी त्रिपाठी जी द्वारा किये गये सम्पादनरूप सेतुके रहनेसे उसपरसे चलनेमें मुझे विशेष कठिनाईका अनुभव नहीं करना पड़ा। इन सब प्रयत्नोंके फलस्वरूप जो भी कार्य हुआ है वह सामने है।

### सम्पादनकी विशेषताएँ

यह तो पहले ही निर्देश कर आये हैं कि इसका सर्वप्रथम सम्पादन श्रीमान् त्रिपाठी जीने किया था। उन्होंने भाण्डारकर इन्स्टीट्यूट पूना और त्याद्वद विद्यालय काशीकी हस्तलिखित प्रतियों तथा लाजरस कम्पनी बनारसकी मुद्रित प्रतिकों आधारे प्रस्तुत संस्करणका सम्पादन किया है। प्रतियोंका परिचय ग्रन्थमें प्राप्य दिया है। यद्यपि उपर्युक्त सभी प्रतियोंमें वृत्तिमें आये हुए सूत्रोंकी अध्याय व पादके अनुसार संख्याका उल्लेख नहीं किया है तथापि आवश्यक समझकर [ ] कोष्ठकमें उन्होंने उसका निर्देश कर दिया था जिसमें हमें बहुत कुछ सशोधन भी करना पड़ा है।

प्रायः सब प्रतियोंमें कुछ पाठ वृद्धि व अशुद्ध हो गये हैं। इस सम्बन्धमें वहाँ अशुद्ध पाठको वैसा ही रखकर उसके सामने अन्य ग्रन्थोंके आधारसे शुद्ध पाठ देनेका प्रयास किया गया है, यथा—‘अनियता [नियतवृत्तयः] उत्स्रेषजीविन’, ‘दृशोर [दृश्यमानेन] सम्भाव्यमानेन’ [पृष्ठ १०३] आदि।

वृत्तिमें प्रायः वार्तिकों और परिभाषाओंका उल्लेख किया गया है। उनके परिज्ञानके लिए वार्तिकोंके अन्तमें [वा०] तथा परिभाषाओंके अन्तमें [प०] या [परि०] ऐसा संकेतात्मक निर्देश कर दिया है।

यह तो मानी हुई बात है कि श्रीमान् त्रिपाठीजीने इसके सम्पादनमें बहुत श्रम किया है तथापि हमें जो ग्रन्थ विशेषताएँ लानी पड़ी हैं उनका विवरण इस प्रकार है—

१. किसी भी उपलब्ध प्रतिमें अध्याय व पादके साथ सूत्रसंख्या नहीं दी गई थी, किन्तु आवश्यक समझकर हमने अध्याय तथा पादकी संख्याका प्रत्येक सूत्रके साथ उल्लेख कर दिया है।

२. अव्याय ४ तथा ५ में अनेक स्थलों पर सूत्र तथा उनकी वृत्ति खण्डित है। हमने उन स्थलों पर मुद्रित जैनेन्द्र पञ्चाव्यायीके अनुसार सूत्रपाठ देकर उसे पूर्ण करने का प्रयत्न किया है।

३. श्री त्रिपाठीजीने परिशिष्ट तैयार नहीं किये थे जिनकी प्रति हमें कम्पनी पड़ी है। जो परिशिष्ट दिये गये हैं वे ये हैं—[१] जैनेन्द्र सूत्रोंकी अकारादि अनुक्रमणिका, [२] जैनेन्द्र वार्तिकोंकी अकारादि अनुक्रमणिका, [३] जैनेन्द्र परिभाषाओंकी अकारादि अनुक्रमणिका, [४] जैनेन्द्र गणपाठ सूची, [५] जैनेन्द्र मजा सूची [इस सूचीमें विद्वानोंकी जानकारीके लिए जैनेन्द्र सजाओंके साथ तन्ममकृत पाणिनि मजाओंका भी उल्लेख कर दिया है], [६] जैनेन्द्र तथा पाणिनिके सूत्रोंकी तुलनात्मक सूत्र सूची और [७] जैनेन्द्र सुपाठ।

### प्रत्याहार-विचार

उपलब्ध किसी भी प्रतिमें प्रत्याहार-सूत्रोंका उल्लेख नहीं मिलता। मालूम पड़ता है कि जैनेन्द्र व्याकरणमें लेखक-परम्पराकी भूलसे उनका उल्लेख होना छूट गया है, क्योंकि शब्दानुशासनके सूत्रोंमें प्रत्याहारोंका आश्रय लेकर शालोंकी प्रवृत्ति दिखलाई गई है। इस समय हमारे सामने दो प्रकारके प्रत्याहार मत् उपस्थित हैं—प्रथम पञ्चाव्यायीके आरम्भमें आये हुए और दूसरे शब्दार्णवचन्द्रिकाके आरम्भमें आये हुए।

पञ्चाव्यायीके आरम्भमें आये हुए प्रत्याहार-सूत्र ये हैं—

“अहडण् १। ऋल् २। एग्रोड् ३। ऐग्रौच् ४। हयवरट् ५। लण् ६। जमडणनम् ७। ऋभज् ८। घटधप् ९। जयगडडण् १०। सफट्टथचटनव् ११। कपय् १२। शपसम् १३। हल् १४।”

किन्तु शब्दार्णवचन्द्रिकामें आये हुए प्रत्याहार-सूत्रोंमें पञ्चाव्यायीके प्रत्याहार-सूत्रोंमें कुछ प्रन्तर है। यहाँ पर द्वैविध्यका ठीक तरहसे ज्ञान करानेके लिए शब्दार्णवचन्द्रिकाके प्रत्याहार सूत्र भी दिये जाते हैं—

“अहडण् १। ऋल् २। एग्रोड् ३। ऐग्रौच् ४। हयवग्लण् ५। जमडणनम् ६। ऋभज् ७। घटधप् ८। जयगडडण् ९। सफट्टथचटनव् १०। कपय् ११। शपस अ अ ऋ ऌ ड १२। हल् १३।”

शब्दार्णवके ये प्रत्याहार-सूत्र शाकटायनके प्रत्याहारसूत्रोंमें बहुत कुछ साम्य रखते हैं। जानकारीके लिए शाकटायनके प्रत्याहार-सूत्र भी यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

“अहडण् १। ऋल् २। एग्रोड् ३। ऐग्रौच् ४। हयवग्लण् ५। जमडणनम् ६। जयगडडण् ७। ऋभज् ८। सफट्टथचट ९। चटनव् १०। कपय् ११। शपस अ अ ऋ ऌ ड १२। हल् १३।”

## सात विभक्तियोंका विचार

साधारणतया पाणिनीय अष्टाध्यायी सूत्रपाठमें ७ विभक्तियोंके लिए प्रथमा, द्वितीया, तृतीया आदि शब्दोंका ही निर्देश किया है। पृथक् किन्हीं सशब्दोंका निर्देश नहीं किया है, किन्तु जेनेन्द्रकारने 'विभक्ती' शब्दके प्रत्येक अक्षरको अलग करके स्वरके आगे 'प्' और व्यञ्जनके आगे 'त्रा' जोड़कर सात विभक्तियोंकी संज्ञा निर्दिष्ट की है: यथा—'वा' [प्रथमा], इप् [द्वितीया], भा [तृतीया], अप् [चतुर्थी], का [पञ्चमी], ता [षष्ठी] और ईप् [सप्तमी]। इस प्रकार 'विभक्ती' शब्दके आधारसे ही इन सशब्दोंका उल्लेख अन्यत्र कहीं देखनेमें नहीं आता।

## जेनेन्द्र व्याकरण सम्बन्धी अनेक विशेषताएँ

१. पाणिनीय अष्टाध्यायीमें वैदिक एवं स्वरप्रक्रिया इन दो प्रकरणोंके सूत्रोंका स्वतन्त्र रूपसे उल्लेख है किन्तु जेनेन्द्रकारने इन दोनों प्रकरणोंके सूत्रोंका उल्लेख नहीं किया है। क्योंकि वैदिक शब्दों व प्रयोगोंकी सिद्धि और स्वरविधानका प्रश्न जेनेन्द्रकारके समक्ष उपस्थित नहीं था।

२. पाणिनीय व्याकरणमें एकशेष प्रकरणके सूत्रोंका स्वतन्त्र रूपसे उल्लेख है। किन्तु जेनेन्द्रकार इस प्रकरणके सूत्रोंकी आवश्यकताका अनुभव नहीं करते हुए माद्धम देते हैं। उन्होंने इस प्रकरणको व्यानमें रखकर 'स्वाभाविकत्वाद्भिधानस्यैकशेषानारम्भः' इस सूत्रकी रचना की है। इससे विदित होता है कि उनका मत रहा है कि लोक-व्यवहारमें जो चीज आबाल वृद्ध प्रचलित है उसे सूत्रबद्ध निर्देश करके शास्त्रके कलेवरको बढ़ाना उचित नहीं है। और इसी लिए उन्होंने एकशेष प्रकरणको नहीं रखा है।

३. पाणिनीय व्याकरणसे सम्बद्ध स्वतन्त्र रूपसे चार प्रकरण मिलते हैं—लिङ्गानुशासन, पाणिनीय शिक्षा, धातुपाठ और गणपाठ। यह कह सकना तो कठिन है कि इन सबका निर्माण स्वयं पाणिनिने किया होगा। उदाहरणार्थ—पाणिनीय शिक्षाको ही लीजिए। इसके प्रारम्भके प्रथम श्लोकमें कहा है—'अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीय मतं यथा।' अर्थात् पाणिनिके मतानुसार शिक्षाका निरूपण करते हैं। तथा इसी प्रकरणके अन्तमें एकाधिक चार पाणिनिके लिए नमस्कार भी किया गया है। इसलिए बहुत सम्भव है कि इस प्रकरणका मकलन पाणिनीय व्याकरणको आधार मानकर किसी अन्य समर्थ विद्वान्ने किया हो। स्वामी दयानन्द सरस्वतीने विक्रम संवत् १९३६ में 'वर्णोच्चारण शिक्षा' के नामसे भाषानुवाद सहित एक पुस्तिका प्रकाशित की थी, उसमें उन्होंने किसी प्राचीन प्रतिके आधारसे पाणिनीय शिक्षा-सूत्रोंका सकलन किया था। बहुत सम्भव है कि ये शिक्षासूत्र ही वर्तमान श्लोकबद्ध पाणिनीय शिक्षाके आधार रहे हों।

४. पाणिनीय लिङ्गानुशासनका समावेश अष्टाध्यायीमें नहीं किया गया है। उपलब्ध पाणिनीय लिङ्गानुशासनमें कुल १८१ सूत्र हैं। उनमें कुछ ऐसे भी सूत्र हैं जो अष्टाध्यायीमें भी उपलब्ध होते हैं, परन्तु अधिकतर सूत्र अष्टाध्यायीसे सम्बन्ध नहीं रखते। इन सूत्रोंका निर्माण किसने किया यह प्रश्न विचारणीय है। बहुत सम्भव है कि पाणिनि व्याकरणमें शब्दसिद्धिके आधार पर अन्य किसी विद्वान्ने लिङ्गानुशासनको सूत्रबद्ध कर दिया हो।

जेनेन्द्र व्याकरणमें लिङ्गानुशासन तथा जेनेन्द्र शिक्षा नामके दो प्रकरण अभी तक उपलब्ध नहीं हुए।

५. 'भूवादयो धात्वः' [ १।३।१ ] 'प्रतिप्रभृतिभ्यः शप्' [ २।४।७२ ] इत्यादि सूत्रों द्वारा गणेशः प्रत्यय विधान तथा 'इदितो नुम् धातोः' [ ७।१।५८ ], 'स्यन्तक्षणाश्चसृजागृणिश्च्येदिताम्' [ ७।२।५ ], 'रदश्च पञ्चभ्यः' [ ७।३।६८ ] आदि सूत्रों द्वारा अनुबन्ध तथा गणपाठका आश्रय लेकर धातुओंसे कार्य विधान किया गया है। इसी प्रकार गणपाठका आश्रय लेकर भी प्रकृति-प्रत्ययका विधान किया हुआ है। इससे यह निश्चित है कि पाणिनिके समक्ष उनके स्वनिर्मित गणपाठ और धातुपाठ अवश्य ही विद्यमान थे।

यही स्थिति जेनेन्द्र धातुपाठ तथा गणपाठके विषयमें भी है। वहाँ भी 'भूवादयो धुः' [ १।२।१ ] 'उङ्होऽन्यादिभ्यः' [ १।४।१४५ ] 'इदिङोर्नुम्' [ ५।१।३७ ] आदि सूत्रों-द्वारा धातुओंसे सजा, प्रत्यय और आगम एवं आदेश आदिका विधान किया गया है। तथा गणपाठके निमित्तसे भी शास्त्र प्रवृत्ति देखी जाती है।

अतः सुनिश्चित है कि जैनेन्द्रके समस्त भी अपने स्वरचित धातुपाठ तथा गणपाठ अवश्य रहे होंगे किन्तु काल-क्रम वे आज अनुपलब्ध हो गये हैं।

६. पाणिनि व्याकरणमें उणादि-सिद्ध कार्योंके लिए “उणादयो बहुलम्” [ ३।३।१ ] सूत्र आता है। जैनेन्द्र व्याकरणमें भी इसी रूपमें इस सूत्रका उल्लेख है [ २।२।१६ ]। इन दोनों मूल व्याकरणोंमें इस प्रकरणमें आये हुए प्रयोगोंकी सिद्धिके विषयमें इससे अधिक कुछ नहीं कहा गया है। मात्र जैनेन्द्र महावृत्तिमें इस सूत्रकी व्याख्या करते समय कुछ सूत्रोंके उल्लेखके साथ उनके द्वाग सिद्ध होनेवाले प्रयोगोंके कतिपय प्रकार दिखलाये गये हैं। यह निश्चित कहना कठिन है कि जैनेन्द्र महावृत्तिमें ये उणादि सूत्र कहाँ से आये। यदि इन्हें जैनेन्द्रकारका माना जाय तो शका होती है कि पञ्चाध्यायीमें इनका सकलन क्यों नहीं हुआ ? यद्यपि महावृत्तिमें उल्लिखित उणादि सूत्रोंमें कहीं-कहीं जैनेन्द्रव्याकरणकी सजाओका प्रयोग किया हुआ दिखाई देता है यथा ‘अम् सर्वधुभ्यः’ [ पृष्ठ १७ ], पर जबतक कोई निश्चित आधार नहीं मिलता तबतक इन सूत्रोंको स्वयं जैनेन्द्रकारका मान लेनेको मन नहीं होता। उणादि प्रकरणका सकलन करते हुए भट्टोजिदीक्षितने, सिद्धान्तकोमुदीमें ७५५ सूत्र प्रमाण पञ्चादी उणादि सूत्रोंकी सोंझहरण व्याख्या दी है। किन्तु पाणिनिकी अष्टाध्यायीमें ये सूत्र उपलब्ध नहीं होते। उणादिका निर्देश करनेवाला ‘उणादयो बहुलम्’ [ ३।३।१ ] सूत्र अष्टाध्यायीमें उपलब्ध होता है किन्तु उसका सकलन भट्टोजिदीक्षितने उणादि प्रक्रियामें न करके उत्तर कृदन्तमें लिया है। विद्वानोक्त मत देखते हैं कि ये उणादिसूत्र शाकटायन प्रणीत हैं जिनके समयका उत्प्रेषण करते हुए श्रीयुविष्टिर मीमांसने लिखा है कि ‘इस्का काल विक्रमते लगभग ३१०० वर्ष पूर्व होगा’। [ संस्कृत व्याकरणशास्त्रका इतिहास पृष्ठ ११६ ]

पातञ्जल महाभाष्यमें एक वाक्य मिलता है, यथा—‘नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शाकट्य च लोकः।’

इसका आशय यह है कि ‘निरुक्ते सभी मन्त्राशब्दोंको धातुज कहा है और व्याकरण शाकट्य पुत्र [शाकटायन] भी ऐसा ही कहते हैं।’ इसमें मालूम पड़ता है कि शाकटायन विरचित कोई ऐसा ग्रन्थ अवश्य रहा होगा जिसमें धातुओंके निमित्तमें ग्रन्थ विधान करके मन्त्राशब्दोंकी सिद्धि की गई हो। वह ग्रन्थ उणादिके सिवा और क्या हो सकता है ? उणादिके दशपादी तथा त्रिपादी पाठ भी उपलब्ध होते हैं। [विशेष विवरणके लिए इसी ग्रन्थमें प्रकाशित श्रीयुविष्टिर मीमांसका ‘जैनेन्द्र शब्दानुमान आर उणादिलिपाट’ शीर्षक निबन्ध देखिए]।

श्री डा० दानुवैशरणीजी अग्रवालने जानपीठके अनुगोवमें इसकी अनुसन्धानपूर्ण भूमिका लिगा है इसके मन्त्रोंके घटानेकी क्रिया की तथा इनके ही अनुगोवमें ऐतिहासिक मामलोंकी पूर्णता के लिए भी ५०

# देवनन्दिका जैनेन्द्र व्याकरण

लेखक :- श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी

## जैनेन्द्र और ऐन्द्र

मुग्धबोधकर्ता बोपदेवने जिन आठ वैयाकरणोंके नामोंका उल्लेख किया है, उनमें एक 'जैनेन्द्र' भी है<sup>१</sup>। ये जैनेन्द्र अथवा जैनेन्द्र व्याकरणके कर्ता कौन थे इस विषयमें इतिहासज्ञोंमें कुछ समय तक बड़ा विवाद चला था। डॉ० कीलहार्ने इसे जिनदेव अथवा भगवान् महावीरद्वारा इन्द्रके लिए कहा गया बतलाया<sup>२</sup> और इसके सुबूतमें उन्होंने कल्पसूत्रकी समयसुन्दरकृत टीका, और लक्ष्मीवल्लभकृत उपदेशमाला-कर्णिकाका यह उल्लेख पेश किया था कि जिनदेव महावीर जिस समय आठ वर्षके थे उस समय इन्द्रने शब्दलक्षणसबधी कुछ प्रश्न किये और उनके उत्तररूप यह व्याकरण बतलाया गया, इसलिए इसका नाम जैनेन्द्र पड़ा<sup>३</sup>।

श्वेताम्बरसम्प्रदायके और भी कई ग्रन्थोंमें इस प्रकारके उल्लेख मिलते हैं। कल्पसूत्रकी विनयविजय-कृत सुबोधिका टीकामें लिखा है कि भगवान्को माता-पिताने पाठशालामें गुरुके पास पढ़नेके लिए भेजा है, यह जानकर इन्द्र स्वर्गसे आया और पण्डितके घर, जहाँ भगवान् थे वहाँ, गया। उसने भगवान्से पण्डितके मनमें जो जो सन्देह थे, उन सबको पूछा। जब सब लोग यह सुननेके लिए उत्कर्ण हो रहे थे कि देखें यह बालक क्या उत्तर देता है, तब भगवान् वीरने सब प्रश्नोंके उत्तर दिये, और तब 'जैनेन्द्र व्याकरण' बना।

परन्तु इस प्रसंगके वे सब उल्लेख अपेक्षाकृत अर्वाचीन ही हैं जिनमें भगवान्के उत्तररूप इस व्याकरणका नाम 'जैनेन्द्र' बतलाया है। प्राचीन उल्लेखोंमें इसका नाम जैनेन्द्रकी जगह 'ऐन्द्र' प्रकट किया है, जैसा कि आचर्यकसूत्रकी हारिभद्रीयवृत्तिके पृष्ठ १८२ में लिखा है<sup>४</sup>।

इसी प्रकार सुप्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्रने अपने योगशास्त्रके प्रथम प्रकाशमें लिखा है कि भगवान्ने

१. इन्द्रश्चन्द्रः काशकृन्नापिशली शाकटायनः ।

पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः ॥—धातुपाठ

२. इडियन एन्टिक्वेरी १०, पृ० २५१ ।

३. यद्विन्द्राय जनेन्द्रेण कौमारेऽपि निरूपितम् । ऐन्द्रं जैनेन्द्रमिति तत्प्राहुः शब्दानुशासनम् ॥

४ [शक्रः] यत्र भगवान् तिष्ठति तत्र पण्डितगेहे समाजगाम । आगत्य च पण्डितयोग्ये आसने भगवन्तमुपवेश्य पण्डितमनोगतान् सन्देहान् पप्रच्छ, श्रीवीरोऽपि बालोऽयं किं वक्ष्यतीत्युत्कर्णेषु सकललोकेषु सर्वाणि उत्तराणि ददाति, ततो 'जैनेन्द्रव्याकरणां' जज्ञे । यतः—

सर्वो य तत्समग्रं भगवत आसणे निवेसित्वा । सदस्स लक्षणां पुच्छे वागराश्रयवा इदं ॥

५ शक्रः तत्समग्रं लेप्ताचार्यसमक्षं भगवन्तं तीर्थकरं आसने निवेश्य शब्दस्य लक्षणां पृच्छति । भगवता च व्याकरणं लभ्यधाति । व्याक्रियन्ते लौकिक-सामायिकाः शब्दाः । अनेन इति व्याकरणां शब्दशास्त्रम् । तदवयवाः केचन उपाध्यायेन गृहीताः, ततश्च ऐन्द्रं व्याकरणं संजातम् ।

६ मातापितृभ्यामन्येषुः प्रारब्धेऽध्यापनोत्पत्तेः । आः सर्वज्ञस्य शिष्यत्वमितिन्द्रस्तमुपास्थितः ॥ ५६ ॥

उपाध्यायमने तस्मिन्वासवेनोपवेजितः । प्रणम्य प्रार्थितः स्वामी शब्दपारायणं जगौ ॥ ५७ ॥

इदं भगवतेन्द्राय प्रोक्तं शब्दानुशासनम् । उपाध्यायेन तच्छ्रुत्वा लोकेऽप्येन्द्रमितीरितम् ॥ ५८ ॥



इन्द्रके लिए जो शब्दानुशासन कहा, उपाध्यायने उसे सुनकर लोकमें 'ऐन्द्र' नामसे प्रकट किया। अर्थात् इन्द्रके लिए जो व्याकरण कहा गया, उसका नाम 'ऐन्द्र' हुआ।

प्राचीन कालमें इन्द्रनामक आचार्यका बनाया हुआ एक संस्कृत व्याकरण था<sup>२</sup>। उसका उल्लेख ग्रन्थोंमें मिलता है। ऊपर दिये हुए चोपदेवके श्लोकमें भी उसका नाम है। हरिवंशपुराणके कर्त्ताने देवनन्दिने 'इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्यापिब्याकरणेक्षिणः' विशेषण दिया है। शब्दार्णवचन्द्रिकाकी ताड़पत्राली प्रतिमें, जो १३ वीं शताब्दीके लगभगकी लिखी हुई मालूम होती है, 'इन्द्रश्चन्द्रः शक्यतनय' आदि श्लोकमें इन्द्रके व्याकरणका उल्लेख किया है। बहुत अधिक समय हुआ यह नष्ट हो गया है<sup>३</sup>। जब यह उपलब्ध ही नहीं है तब इसके विषयमें कुछ कहनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। यद्यपि आज्ञाफलके समयमें इस बातपर कोई भी विद्वान् विश्वास नहीं कर सकता है कि भगवान् महावीरने भी कोई व्याकरण बनाया होगा और वह भी मागधी या प्राकृतका नहीं, किन्तु ब्राह्मणोंकी खास भाषा संस्कृतका। तो भी यह निस्सन्देह है कि वह व्याकरण 'जैनेन्द्र' नहीं था। यदि बनाया भी होगा तो वह 'ऐन्द्र' ही होगा। क्योंकि हरिभद्रसूरि और हेमचन्द्रसूरि उसीका उल्लेख करते हैं, जैनेन्द्रका नहीं। जान पड़ता है, विनयविजय और लक्ष्मीवल्लभने पीछेसे 'ऐन्द्र' को ही 'जैनेन्द्र' बना डाला है। उनके समयमें भी 'ऐन्द्र' अप्राप्य था, इसलिए उन्होंने प्राप्य 'जैनेन्द्र' को ही भगवान् महावीरकी कृति बतलाना विशेष सुकर और लाभप्रद सोचा।

हरिभद्रसूरि विक्रमकी आठवीं शताब्दीके और हेमचन्द्रसूरि तेरहवीं शताब्दीके विद्वान् हैं जिन्होंने 'ऐन्द्र' को भगवान्का व्याकरण बतलाया है, परन्तु 'जैनेन्द्र' को भगवत्प्रणीत बतलानेवाले विनयविजय और लक्ष्मी-वल्लभ विक्रमकी अठारहवीं शताब्दीमें हुए हैं।

### भगवद्वाग्वादिनी

विनयविजयजीके इस उल्लेखका अनुसरण करके उनके कुछ समय बाद वि० सं० १७६७ में हिमी विद्वान्ने साध्यात् महावीर भगवान्का बनाया हुआ व्याकरण तैयार कर दिया और उसका दृगग नाम 'भगवद्वाग्वादिनी' रक्खा!

इस भगवद्वाग्वादिनीकी एक प्रति भाण्डारकर रिमर्च इन्स्टिट्यूटमें है, जो तत्काल नगम र नर्पि नापक लेखक द्वारा वि० सं० १७६७ में लिखी गई थी। इसकी पत्रमात्रा ३०, और श्लोकमात्रा ८०० है। यह बहुत शुद्ध है। जैनेन्द्रका मंत्रपाठ मात्र है और वह सूत्रपाठ है जिसपर शब्दार्णवचन्द्रिका दीक्षा लिखी गई है। इस वाग्वादिनीके आविष्कारकने शक्ति भग्न इस बातको सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि इसका र्त्ता भगवान् महावीर भगवान् है। दिगम्बरी देवनन्दि नहीं। उनको मंत्र प्रकियाँ हमने इस ग्रन्थमें अन्तर्गत कर दी हैं।

डॉ० कीलहार्नके इस भ्रमको सबसे पहले स्व० डॉ० के० वी० पाठकने दूर किया और अब तो जेनेन्द्र व्याकरण काफी प्रसिद्ध हो गया है।

## देवनन्दि और पूज्यपाद

श्रवणगेलगोलके शिलालेख न० ४० ( ६४ ) में लिखा है कि उनका पहला नाम देवनन्दि था, बुद्धिकी महत्ताके कारण वे जिनेन्द्रबुद्धि कहलाये और देवोंने उनके चरणोंकी पूजा की, इस कारण उनका नाम पूज्यपाद हुआ।

मंगराज कविके शकसंवत् १३६५ के शिलालेखसे भी यही दो नाम प्रकट होते हैं।

जिनेन्द्रबुद्धि नामके एक और व्याकरण हो गये हैं जिनका बनाया हुआ पाणिनि व्याकरणकी काशिका-वृत्तिपर एक न्यास है। वे बोधिसत्त्वदेशीयाचार्य या बौद्ध साधु थे।

देवनन्दिका संज्ञित नाम 'देव' भी था। जिनसेन<sup>३</sup> और वादिराजसूरिने इन्हे इसी संक्षिप्त नामसे स्मरण किया है।

अनेक लेखकोने उन्हें केवल देवनन्दि नामसे और केवल पूज्यपाद नामसे स्मरण किया है और दोनों नामोंसे उन्हें व्याकरण माना है।

महाकवि धनजयकी नाममालामें एक श्लोक है जिसमें पूज्यपादको लक्षण ग्रन्थ (व्याकरण) का कर्ता माना है<sup>४</sup>।

जैनेन्द्रकी प्रत्येक हस्तलिखित प्रतिके प्रारम्भमें जो श्लोक मिलता है, उसमें ग्रन्थकर्ताने 'देवनन्दितपूजेश' पदमें जो कि भगवान्का विशेषण है अपना नाम भी प्रकट कर दिया है<sup>५</sup>। संस्कृत प्राकृत ग्रन्थोंके मंगलाचरणोंमें

१. यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः ॥२॥

श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुग यदीयम् ॥३॥

जैनेन्द्रं निजशब्दभागमतुलं सर्वार्थसिद्धिः परा

सिद्धान्ते निपुणत्वमुद्धकविता जैनाभिपेकः स्वकः ।

छन्दः सूक्ष्मधिय समाधिगतकं स्वास्थ्य यदीयं विदा-

माख्यातीह स पूज्यपादमुनिपः पूज्यो मुनीनां गणैः ॥४॥

२. श्रीपूज्यपादोद्धृतधर्मराज्यस्ततः सुरार्धाश्वरपूज्यपादः ।

यदीयवैदुष्यगुणानिदानी वदन्ति शास्त्राणि तदुद्धृतानि ॥ १५ ॥

धृतविश्वबुद्धिरयमत्र योगिभिः कृतकृत्यभावमनुविश्रुतैः ।

जिनवदयभूव यदनङ्गचापहृत्स जिनेन्द्रबुद्धिरिति साधुचरितः ॥ १६ ॥

श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमोपधर्द्धिर्जीयाद्दिदेहजिनदर्शनपूतगात्रः ।

यत्पादधोतजलस्पर्शप्रभावात् कालायसं किल तदा कनकीचकार ॥ १७ ॥

३. कर्माणा तीर्थकृतेव, किं तरां तत्र वर्ण्यते । विदुषा वाट् मलध्वंसि तीर्थं यस्थ वचोमयम् ॥ ५२ ॥

—आदिपुराण प्र० पर्व

४. अचिन्त्यमहिमा देव सोऽभिवंद्यो हितैपिणा । शब्दाश्च येन सिद्धयन्ति साधुत्वं प्रतिलंभिताः ॥ १८ ॥

—पार्श्वनाथचरित प्र० सर्ग

५. प्रमाणमकरकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम् । धनंजयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ॥ २० ॥

६. लक्ष्मीराज्यन्तिकी यस्य निरवद्याऽवभासते । देवनन्दितपूजेशं नमस्तस्मै स्वयंभुवे ॥

यह पद्धति अनेक विद्वानोंने स्वीकार की है। इससे स्वयं ग्रन्थकर्ताके वचनोसे भी जैनेन्द्रके कर्ता 'देवनन्दि' ठहरते हैं।

गणरत्नमहोदधिके कर्ता वर्धमान और हैम शब्दानुशासनके लघुन्यास बनानेवाले कनकप्रभ भी जैनेन्द्र व्याकरणके कर्ताका नाम देवनन्दि ही बतलाते हैं। अतः अब हम विषयमें किसी प्रकारका जोड़ सन्देह बाकी नहीं रह गया कि यह व्याकरण देवनन्दि या पूज्यपादका बनाया हुआ है।

## दो तरहके सूत्र-पाठ

जैनेन्द्र व्याकरणके मूल सूत्र-पाठ दो प्रकारके उपलब्ध हैं—एक तो वह जिसपर आचार्य अभयनन्दि की 'महावृत्ति' तथा श्रुतकीर्तिकृत 'पञ्चवस्तु' नामकी प्रक्रिया है, और दूसरा वह जिसपर सोमदेवगृहित 'शब्दार्णव-चन्द्रिका' और गुणनन्दिकृत 'प्रक्रिया' है। पहले प्रकारके पाठमें लगभग ३००० और दूसरेमें लगभग ३८०० सूत्र हैं, अर्थात् एकसे दूसरेमें कोई ७०० सूत्र अधिक हैं, और जो ३००० सूत्र हैं वे भी दोनोंमें एकसे नहीं हैं। अर्थात् दूसरे सूत्रपाठमें पहले सूत्र-पाठके सैकड़ों सूत्र परिवर्तित और परिवर्धित भी किये गये हैं। पहले प्रकारका सूत्र-पाठ पाणिनीय सूत्र-पाठके ढंगका है, वर्तमान दृष्टिसे वह कुछ अपूर्ण सा जान पड़ता है और इसी लिए महावृत्तिमें बहुतसे वार्तिक तथा उपसख्यान आदि बनाकर उसकी पूर्णता की गई जिसलाई देती है, जो कि दूसरा पाठ प्रायः पूर्ण-सा जान पड़ता है और इसी कारण उसकी टीकाओंमें वार्तिक आदि नहीं मिललाई देते। दोनों पाठोंमें बहुत-सी संज्ञाएँ भी भिन्न प्रकारकी हैं।

इन भिन्नताओंके होते हुए भी दोनों पाठोंमें समानताभी भी कमी नहीं है। दोनोंके अविच्छाद्य ग्राह्य समान हैं, दोनोंके प्रारम्भका मंगलाचरण बिलकुल एक है और दोनोंके कर्ताओका नाम भी देवनन्दि या पूज्य-पाद लिखा हुआ मिलता है।

## असली सूत्रपाठ

अब प्रश्न यह है कि इन दोनोंमेंसे स्वयं देवनन्दि या पूज्यपादका बनाया हुआ प्रगल्भी या पाठ कौन-सा है ?

हमारे खयालमें आचार्य देवनन्दि या पूज्यपादका बनाया हुआ सूत्र-पाठ बरी ही जिसपर अभयनन्दि अपनी महावृत्ति लिखी है। यह सूत्रपाठ उस समयतक तो टीका समझा जाता था जब तक शाकटायन व्याकरण नहीं बना। शायद शाकटायनको भी जैनेन्द्रके होते हुए एक जुदा जैन व्याकरण बनानेकी आवश्यकता उगीली। मरसूस हुई कि जैनेन्द्र अपूर्ण है, और इसलिए बिना वार्तिकों और उपसख्यानों आदि के उसमें काम नहीं चल सकता, परन्तु जब शाकटायन जैसा सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण बन चुका, तब जैनेन्द्र व्याकरण के बने। उसकी बुनियाँ खटकने लगी और उनमेंसे आचार्य गुणनन्दिने उसे सर्वाङ्गपूर्ण बनानेका प्रयत्न किया। उस प्रयत्न का फल ही यह दूसरा सूत्र-पाठ है जिसपर सोमदेवकी शब्दार्णव चन्द्रिका रची गई है। उस सूत्रपाठ में आचार्य साथ देखनेसे मालूम पड़ता है कि गुणनन्दिके समय तक व्याकरण-निरुद्ध होने के प्रयोग प्रचलित थे। उस समय उसने मोल्द है और इसलिए उसके टीकाओंमें वार्तिक आदि बनाने में संशय नहीं पड़ता पड़ा है। अभयनन्दि की महावृत्तिके ऐसे ईश्वरी वार्तिक हैं जिनमें हम दूसरे पाठों में नहीं पाते।

१—शब्दार्णव-चन्द्रिकाके अन्तिम पद्यमे सुप्रसिद्ध गुणनन्दि आचार्यके शब्दार्णवमे पवेश करनेके लिए सोमदेवकृत वृत्तिको नौकाके समान बतलाया है।<sup>१</sup> इससे जान पड़ता है कि आचार्य गुणनन्दिके बनाये हुए व्याकरण ग्रन्थकी यह टीका है और उसका नाम शब्दार्णव है। इस टीकाका 'शब्दार्णव चन्द्रिका' नाम भी तभी ग्रन्थवर्क होता है, जब मूल सूत्र ग्रन्थका नाम शब्दार्णव हो। हमारे इस अनुमानकी पुष्टि प्रक्रियाके अन्तिम श्लोकसे और भी अच्छी तरहसे हो जाती है जिसका आशय यह है कि गुणनन्दिने जिसके शरीरको विस्तृत किया है, उस शब्दार्णवको जाननेकी इच्छा रखनेवालोंके लिए तथा आशय लेनेवालोंके लिए यह प्रक्रिया साक्षात् नावके समान काम देगी। इसमें 'शब्दार्णव' को जो 'गुणनन्दितानितवपुः' विशेषण दिया है, वह विशेष ध्यान देने योग्य है। उससे साफ समझमें आता है कि गुणनन्दिके जिस व्याकरणपर ये दोनों टीकाएँ—शब्दार्णव-चन्द्रिका और प्रक्रिया—लिखी गई है उसका नाम 'शब्दार्णव' है और वह मूल ( असली ) जैनेन्द्र व्याकरणके सन्निहित शरीरको तानित या विस्तृत करके बनाया गया है।

शब्दार्णवचन्द्रिकाके प्रारम्भका मंगलाचरण भी इस विषयमें ध्यान देने योग्य है<sup>२</sup> जिसमें ग्रन्थकर्तानि भगवान् महावीरके विशेषणरूपमें क्रमसे पूज्यपादका, गुणनन्दिका और अपना ( सोमामर या सोमदेवका ) उल्लेख किया है, और इससे वे निस्सन्देह यही ध्वनित करते हैं कि मुख्य व्याकरणके कर्ता पूज्यपाद है, उसको विस्तृत करनेवाले गुणनन्दि हैं और फिर उसकी टीका करनेवाले सोमदेव ( स्वयं ) हैं। यदि यह चन्द्रिका टीका पूज्यपादके व्याकरणकी ही होती, तो मंगलाचरणमें गुणनन्दिका नाम लानेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। गुणनन्दि उनकी गुरु-परम्परामें भी नहीं हैं, जो उनका उल्लेख करना आवश्यक होता। अतः यह सिद्ध है कि चन्द्रिका और प्रक्रिया दोनोंके ही कर्ता यह समझते थे कि हमारी टीकाएँ असली जैनेन्द्रपर नहीं किन्तु उसके 'गुणनन्दितानितवपुः' शब्दार्णवपर बनी है।

२—शब्दार्णव-चन्द्रिका और जैनेन्द्र-प्रक्रियाँ इन दोनों ही टीकाओंमें 'एकशेष' प्रकरण है, परन्तु अभयनन्दिकृत 'महावृत्ति' वाले सूत्रपाठमें एकशेषको अनावश्यक बतलाया है—“स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भः।” [ १-१-१६ ] और इसीलिए देवनन्दि या पूज्यपादका व्याकरण 'अनेकशेष' कहलाता है। चन्द्रिका टीकाके कर्ता स्वयं ही “आदावुपज्ञोपक्रमम्” [ १-४-११४ ] सूत्रकी टीकामें उदाहरण देते हैं “देवोपज्ञमनेकशेषव्याकरणम्।” यह उदाहरण अभयनन्दिकृत महावृत्तिमें भी दिया गया है। इससे सिद्ध है कि शब्दार्णव चन्द्रिकाके कर्ता भी उसी व्याकरणको देवोपज्ञ या देवनन्दिकृत मानते हैं, जो अनेकशेष है, अर्थात् जिसमें 'एकशेष' प्रकरण नहीं है और ऐसा व्याकरण वही है जिसकी टीका अभयनन्दिने की है।

३—आचार्य विद्यानन्दि अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृष्ठ २६५ में 'नैगमसग्रह-' आदि सूत्रकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं, “नयश्च नयौ च नयाश्च नया इत्येकशेषस्य स्वाभाविकस्याभिधाने दर्शनात् केपाञ्चित्था वचनोपलम्भाच्च न विरुद्ध्यते।” इसमें स्वाभाविकताके कारण, एकशेषकी अनावश्यकता प्रतिपादन की है और पर अनावश्यकता जैनेन्द्रके वास्तविक सूत्र पाठमें ही उपलब्ध होती है। “स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भः” [ १-१-१६ ] यह सूत्र शब्दार्णववाले पाठमें नहीं है, अतः विद्यानन्द भी पूर्वोक्त सूत्रवाले

१. धीसोमदेवयतिनिर्मितिमाध्याति या नां. प्रतीतगुणनन्दितशब्दार्णवौ।

संय सताममलचेतसि विस्फुरन्ती वृत्तिः सदा नुतपदा परिवर्तिपीष्ट ॥

२. ससंधि दधते समासमभितः रयातार्थनामोज्जतं, निज्ञात बहुतद्धितं कृतमिहाख्यात यशःशालिनम्।

संपा धीगुणनन्दितानितवपुः शब्दार्णव निर्णये, नाचित्याध्रयतां विविक्षुमनसां साक्षात्स्वयं प्रक्रिया ॥

३. धीपूज्यपादनमल गुणनन्दिदेवं सोमामरव्रतिपूजितपादयुग्मम्।

सिल समुन्नतपट वृषभ जिनेन्द्रं सच्छृङ्खलक्षणमहं विनमामि वीरम् ॥

४. इस प्रक्रियाका भी नाम 'शब्दार्णव-प्रक्रिया' होगा, जैनेन्द्र प्रक्रिया नहीं।

जैनेन्द्र-पाठके माननेवाले थे। पाठकोको यह स्मरण रखना चाहिए कि उपलब्ध व्याकरणोंमें 'अनेकशेष' व्याकरण केवल देवनन्दिकृत ही है, दूसरा नहीं।

४—तत्त्वार्थ-टीका 'सर्वार्थसिद्धि' के कर्ता स्वयं पूज्यपाठ या देवनन्दि है। इस टीकामें अध्याय ५, सूत्र २४ की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं, " 'अन्यतोऽपि' इति तसि कृते सर्वतः । ' और इसी सूत्रको व्याख्या करते हुए राजवार्तिककार लिखते हैं, " 'दृश्यतेऽन्यतोऽपीति' तसि कृते सर्वेषु सर्वत इति भवति । " बान पड़ता है कि या तो सर्वार्थसिद्धिकारने इस सूत्रको सन्क्षेप करके लिखा होगा, या लेखको तथा छापनेवालोंने प्रारम्भका 'दृश्यते' शब्द छोड़ दिया होगा। वास्तवमें यह पूरा सूत्र 'दृश्यतेऽन्यतोऽपि' ही है और यह अभयनन्दिवाले सूत्र पाठके अ० ४ पा० १ का ७९ वाँ सूत्र है। परन्तु शब्दार्णववाले पाठमें न तो यह सूत्र है और न इसके प्रतिपाद्यका विधानकर्ता कोई दूसरा सूत्र है। इससे सिद्ध है कि पूज्यपाठका अमली सूत्रपाठ वही है जिसमें उक्त सूत्र मौजूद है।

५—भट्टाकलकदेवने तत्त्वार्थराजवार्तिकमें 'आद्ये परोक्षम्' [ अ० १, सू० ११ ] की व्याख्यामें "सर्वाणि सर्वनाम" [ १-१-३५ ] सूत्रका उल्लेख किया है, इसी तरह पण्डित आशाधरने ग्रन्थारम्भमामृतटीका [ अ० ७ श्लो० २४ ] में "स्तोके प्रतिज्ञा" [ १-३-३७ ] और "भार्थे [ १-४-१४ ] इन दो सूत्रोंको उद्धृत किया है और ये तीनों ही सूत्र जैनेन्द्रके अभयनन्दिवृत्तिवाले सूत्रपाठमें ही हैं। शब्दार्णववाले पाठमें इनका अस्तित्व ही नहीं है। अतः अकलकदेव और प० आशाधर इसी अभयनन्दिवाले पाठको ही माननेवाले थे। अकलकदेव वि० की आठवीं नौवीं शताब्दिके और आशाधर १३ वीं शताब्दिके विद्वान् हैं।

६—प० श्रीलालजी शान्नीने शब्दार्णव-चन्द्रिकाकी भूमिकामें लिखा है कि "आचार्य पूज्यपाठने स्वनिर्मित 'सर्वार्थसिद्धि' में 'प्रमाणनयनविगमः' [ अ० १ सू० ६ ] की टीकामें यह वाक्य दिया है— "नयशब्द-स्यात्पाच्छतरत्वात् पूर्वनिपात प्राप्नोति ? नय टोष, अभ्यर्हितान्प्रमाणस्य तत्पूर्वनिपात ।" और अभयनन्दिवाले पाठमें इस विषयका प्रतिपादन करनेवाला कोई सूत्र नहीं है। केवल अभयनन्दिका 'अभ्यर्हितं प्रपू निपतति' वार्तिक है। यदि अभयनन्दिवाला सूत्र पाठ ठीक होता तो उसमें इस विषयका प्रतिपादन मग्न अवश्य होता चा कि नहीं है। पर शब्दार्णववाले पाठमें 'अर्थम्' [ १-३-११५ ] ऐसा सूत्र है जो इसी विषयको प्रतिपादित करता है। इसलिए यही सूत्र-पाठ देवनन्दिकृत है।" इसपर हमारा निवेदन यह है कि "अत्पान्तम्" [ २-२-३४ ] यह सूत्र पाणिनिका है और इसके ऊपर कान्यावनका "अभ्यर्हितं च" वार्तिक तथा पतञ्जलि का "अभ्यर्हितं प्रा निपतति" भाष्य है। इससे मालूम होता है कि पूज्यपाठने अपनी सर्वार्थसिद्धि-टीकाके उस स्थलमें पाणिनि और पतञ्जलिके ही सूत्र तथा भाष्यको लक्षण करके उक्त विधान किया है। यह निश्चित है कि उन्होंने अपनी सर्वार्थसिद्धिमें अन्य वैदिकग्रन्थोंके भी मत दिए हैं और अनेक बार पतञ्जलिके मन्त्रभाष्यके वाक्य ।

सर्वार्थसिद्धि अ० ४ सूत्र २२ की व्याख्यामें लिखा है— "यथाहुः—द्रुमायां तपरस्मिन् स यस्मात्तस्मिन् योरुपसंस्थानमिति ।" इसी अन्य पुरुषकी 'आहु' क्रिया ही कर रही है कि अन्यथा यों कि भी अन्य पुरुषका वचन दे रहे हैं। अब पतञ्जलिका महाभाष्य दृष्टि। उसमें १-२-१ के ५ वे वार्तिकमें भाष्य में लिखा हुआ वही वाक्य दिया हुआ है—एक अक्षरम भी हेतु नहीं है। उसमें स्पष्ट है कि सर्वार्थसिद्धि में

सर्वार्थसिद्धि अ० ७ सूत्र १६ की व्याख्यामें लिखा है, “शास्त्रेऽपि ‘अश्ववृषयोर्मधुनेच्छायामित्येवमादिषु तदेव गृह्यते ।” यह पाणिनिके ७-१-५१ सूत्रपर कात्यायनका पहला वार्तिक है । वहाँ “अश्ववृषयोर्मधुनेच्छायाम्” इतने शब्द है और इन्हींको सर्वार्थसिद्धिकारने लिया है । यहाँ कात्यायनके वार्तिकको उन्होंने ‘शास्त्र’ शब्दसे व्यक्त किया है ।

सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सूत्र ४ की व्याख्यामें ‘नित्य’ शब्दको सिद्ध करनेके लिए पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं, “नेः ध्रुवे त्यः इति निष्पादितत्वात् ।” परन्तु जैनेन्द्रमें ‘नित्य’ शब्दको सिद्ध करनेवाला कोई सूत्र ही नहीं है, इसलिए अभयनन्दिने अपनी वृत्तिमें “इयेस्तु” [ ३-२-८५ ] सूत्रकी व्याख्यामें “नेर्ध्रुवः इति वक्तव्यम्” यह वार्तिक बनाया है और ‘नियत सर्वकाल भव नित्यं’ इस तरह स्पष्ट किया है । जैनेन्द्रमें ‘त्य’ प्रत्यय ही नहीं है, इसके बदले ‘य’ प्रत्यय है । अतः सर्वार्थसिद्धिकारने पूर्वोक्त बात स्वनिर्मित व्याकरणको लक्ष्यमें रखकर नहीं कही है । अन्य व्याकरणोंके प्रमाण भी वे देते थे और यह प्रमाण भी उसी तरहका है ।

कुछ स्थानोंमें उन्होंने अपने निजके सूत्र भी दिये हैं । जैसे पाँचवे अध्यायके व्याख्यानमें लिखा है “विशेषणं विशेष्येण” इति वृत्तिः ।” यह जैनेन्द्रका १-३-५२ वाँ सूत्र है । यह सूत्र शब्दार्णव-चन्द्रिका [ १-३-४८ ] वाले पाठमें भी है ।

इन सब प्रमाणोंसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है कि जैनेन्द्रका असली सूत्र-पाठ वही है जिसपर अभयनन्दिकृत वृत्ति है । शब्दार्णव-चन्द्रिकावाला पाठ असली सूत्र पाठको सशोधित और परिवर्धित करके बनाया गया है और उसका यह स्वरूप सभ्यतः गुणनन्दि आचार्यकृत है ।

अब प्रश्न यह है कि जब गुणनन्दिने मूल ग्रन्थमें इतना परिवर्तन और सशोधन किया, तब उस परिवर्तित ग्रन्थका नाम जैनेन्द्र ही क्यों रक्खा ? इसके उत्तरमें निवेदन है कि एक तो शब्दार्णव चन्द्रिका और जैनेन्द्र-प्रक्रियाके पूर्वोल्लिखित श्लोकोंसे गुणनन्दिके व्याकरणका नाम ‘जैनेन्द्र’ नहीं किन्तु ‘शब्दार्णव’ मालूम होता है । सम्भव है कि अर्धदृग् लेखकोंकी कृपासे इन टीकाग्रन्थोंमें ‘जैनेन्द्र’ नाम शामिल हो गया हो । दूसरे यदि ‘जैनेन्द्र’ नाम हो भी, तो ऐसा कुछ अनुचित नहीं है । क्योंकि गुणनन्दिका प्रयत्न कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ बनानेकी इच्छासे नहीं किन्तु ‘जैनेन्द्र’ को सर्वांगपूर्ण बनानेकी सदिच्छासे है और इसीलिए उन्होंने जैनेन्द्रके आधेसे अधिक सूत्र ज्योंके त्यों रहने दिये हैं, तथा मंगलाचरण आदि भी उसका ज्योंका त्यों रक्खा है ।

### जैनेन्द्रकी टीकाएँ

पूज्यपादस्वामीकृत असली जैनेन्द्रकी इस समय तक केवल चार ही टीकाएँ उपलब्ध हैं—१ अभयनन्दिकृत ‘महावृत्ति’, २ प्रभाचन्द्रकृत ‘शब्दाम्भोजभास्करन्यास’, ३ श्रुतकीर्तिकृत ‘पचवस्तुप्रक्रिया’ और ४ ५० महाचन्द्रकृत ‘लघुजैनेन्द्र’ । परन्तु इसके सिवाय इसकी और भी कई टीकाएँ होनी चाहिए । पचवस्तुके अन्तर्गत श्लोकोंमें जैनेन्द्रशब्दागम या जैनेन्द्र व्याकरणको महलकी उपमा दी है । वह मूलसूत्ररूप स्तम्भोंपर खड़ा किया गया है, न्यासरूप उसकी भारी स्तम्भय भूमि है, वृत्तिरूप उसके किवाड़ हैं, भाष्यरूप शम्भूतल है, टीकारूप उसके माल या मजिल है और यह पचवस्तु टीका उसकी सोपानश्रेणी है । इसके द्वारा उक्त महलपर आरोहण किया जा सकता है । इससे मालूम होता है कि पचवस्तुके कर्ताके समयमें इस व्याकरणपर १ न्यास, २ वृत्ति, ३ भाष्य और ४ कई टीकाएँ, इतने टीका-ग्रन्थ मौजूद थे ।

१. तत्पार्थराजवार्तिकमें भी है “शास्त्रेऽपि अश्ववृषयोर्मधुनेच्छायामित्येवमादौ तदेव कर्मारयायते ।”

२. सूत्रान्तर्गममुद्धत प्रविलसन्त्यासोरत्नचित्तिध्रीमद्वृत्तिकपाटसंपुटयुत भाष्योऽथ शय्यातलम् ।

टीकानालमिहाररश्मिरचितं जैनेन्द्रशब्दागमं प्रासादं पृथु पचवस्तुकमिदं सोपानमारोहतात् ॥

**न्यास**—उक्त टीकाओंमेंसे 'न्यास' तो गान्ध स्वयं पूज्यपादका ही होगा जो अभी तक अनुपलब्ध है। शिमोगा जिलेकी नगर तहसील के ४६वें गिलालेखमें लिखा है कि पूज्यपादने एक तो (अपने व्याकरणपर) जैनेन्द्र-संज्ञक न्यास और दूसरा पाणिनि व्याकरण पर शब्दावतार नामक न्यास बनाया। इसके सिवाय वेद-शास्त्र और तत्त्वार्थ-टीका भी लिखी।

यह निश्चय है कि पूज्यपाद केवल सूत्र-ग्रन्थ बनाकर ही न रह गये होंगे। अपनी मानो हुई अतिशय सूक्ष्म सजायों और परिभाषाओंका स्वष्टीकरण करनेके लिए उन्हें कोई टीका या वृत्ति अवश्य बनानी पड़ी होगी जिस तरह शाकटायनने अपने व्याकरणपर अमोघवृत्ति नामकी स्वोपजटीका बनाई।

विद्यानन्दने अष्टमहत्ती ( पृष्ठ १३२ ) में 'प्यखे कर्मण्युपसंख्यानात्' यह वचन उद्धृत किया है। यह किसी व्याकरण ग्रन्थका वार्तिक है, परन्तु पाणिनिके किसी भी वार्तिकमें यह नहीं मिलता। अभय नन्दिकी महावृत्तिमें अवश्य ही "प्यखे कर्मणि का वक्तव्या" [ ४ १-३८ ] इस प्रकारका वार्तिक है, परन्तु अभयनन्दिकी वृत्ति विद्यानन्दसे पीछे की बनी हुई है, इसलिए विद्यानन्दने यह वार्तिक अभयनन्दिकी वृत्तिमें नहीं किन्तु अन्य ही किसी ग्रन्थसे लिया होगा।

**भाष्य**—जैनेन्द्रके भाष्यका अभी तक पता नहीं लगा।

आगे हम उपलब्ध टीकाग्रन्थोंका परिचय देते हैं—

**१-महावृत्ति**—इसकी एक प्रति पूनेके भाण्डारकर रिमर्न इन्स्टीट्यूटमें मौजूद है और एक प्रति बम्बईके सरस्वती-भवनमें भी है। पूनेकी प्रतिमें इसकी श्लोकसंख्या १२००० के लगभग है। प्रारम्भके ३१४ पत्र एक लेखरुके लिखे हुए और शेष ७४ पत्र, चैन सुदी २ म० १६३३ को किसी दूसरे लेखरुके लिखे हुए हैं। प्रतिके दोनों ही भाग जयपुरके लिखे हुए मात्राम होते हैं। कई स्थानोंमें कुछ पंक्तियाँ छूटी हुई हैं<sup>३</sup> और अन्तमें मोर्दे प्रशस्ति प्राप्ति नहीं है<sup>३</sup>।

इस महावृत्तिसे क्या अभयनन्दि सुनि है। उन्होंने न तो अपनी गुरुपरम्पराका ही परिचय दिया है और न ग्रन्थ रचनेका समय ही। परन्तु सूत्र ३-२-५५ की टीकामें एक जगह उदाहरण दिया है— "तत्त्वार्थवार्तिकसंधायते।" इसमें मालूम होता है कि भट्टाकलकत्तेके बाद अर्थात् १५<sup>०</sup> की प्राठवीं नवीं शताब्दिके बादकी यह वृत्ति है—और पञ्चवस्तुके पूर्वोक्तिखित श्लोकमें इसी वृत्तिका उल्लेख जान पड़ता है, इसलिए ध्रुतकीर्तिके अर्थात् विक्रमकी बारहवीं शताब्दिके पहले किसी समयमें ये हुए हैं। जैनेन्द्रकी उपासना टीकाओंमें यही टीका सबसे प्राचीन मान्य होती है।

**२-शब्दाभोजभाष्यकरन्यास**—बम्बईके सरस्वती भवनमें इसकी दो अपूर्ण प्रतियाँ मौजूद हैं। एक प्रतिमें १४ वें पत्रसे २६६ तक और फिर ६२० वें पत्रसे ७०३ तकके ही पत्र हैं। १४ वें पत्रपर पत्र

१. न्यास जैनेन्द्रसंज्ञक मन्त्रवृत्तिननु पाणिनीयन्य भूयो न्यास शब्दावतार मनुचननिमित्त वयशास्त्र च १॥ ।

यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचयद्विद तां भाष्यमा पूज्यपादस्वामी भृपालवन्य स्वपरहितवत् पूर्णादयोः १११ ॥

० न ५६० १ और १३ मन् १८७५-७६ की रिपोर्ट।

३ टीकात्मक । श्रीमत्सर्वज्ञवर्त्मनःशब्दवृत्तिननुपाणिगुण्यो नमः ।

अध्यायके पहले पादका १६ वाँ सूत्र है। यह प्रति बहुत प्राचीन और शुद्ध है परन्तु आगसे भुलसी हुई है। दूसरी प्रतिमे केवल तीन अध्याय है। इसकी श्लोक संख्या १२००० है। इससे जान पड़ता है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ १६००० के लगभग होगा।

अभयनन्दिकी वृत्तिसे यह बढ़ा है और उससे पीछे बना है। इसमें महावृत्तिके शब्द ज्योके ल्यों ले लिये गये हैं और तीसरे अध्यायके अन्तके एक श्लोकमें अभयनन्दिको नमस्कार भी किया है।

इसके कर्ता प्रभाचन्द्र हैं और वे प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके ही कर्ता मालूम होते हैं। क्योंकि इसके प्रारंभमे ही यह कहा गया है कि अनेकान्तकी चर्चा उक्त दोनों ग्रन्थोंमे की गई है, इसलिए यहाँ नहीं करते। अवश्य ही इसमें उन्होंने अपने ही ग्रन्थोंको देखनेके लिए कहा है, “अथ कोऽयमनेकान्तो नामेत्याह—अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वानित्यत्वसामान्यासामान्याधिकरण्यविशेषणविशेष्यादिकोऽनेकान्तः स्वभावो चत्यार्थस्यासावनेकान्तः, अनेकान्तात्मक इत्यर्थः। तत्र च प्रतिष्ठितमिथ्याविकल्पकल्पिताशेषविप्रतिपत्तिः प्रत्यक्षादिप्रमाणमेव प्रत्यस्तमयतीति (?) तद्विततया तदात्मकत्वं चार्थस्य अध्यक्षतोऽनुमानदिश्च यथा सिद्धयति तथा प्रपञ्चतः प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्रतिरूपितमिह द्रष्टव्यम्।”

इसके मंगलाचरणमे पूज्यपाद और अकलंकको नमस्कार किया गया है।

३—पंचवस्तु—भाडारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूटमे इसकी दो प्रतियाँ मौजूद है, जिनमें एक ३००—४०० वर्ष पहलेकी लिखी हुई है और बहुत शुद्ध है और दूसरी<sup>३</sup> सवत् १६२० की। पहलीपर लेखकका नाम और प्रति लिखनेका समय आदि नहीं है। इसके अन्तमे केवल इतना लिखा हुआ है—“कृतिरियं देवनद्या-चार्यस्य परवादिमथनस्य ॥३॥ शुभं भवतु लेखकपाठकयोः ॥ श्रीसंघस्य ॥”

दूसरी प्रति रत्नकरण्डभावाकाचारवचनिका आदि अनेक भाषाग्रन्थोंके रचयिता सुप्रसिद्ध पण्डित सदा-सुखजीके हाथकी सवत् १९१० की लिखी हुई है<sup>४</sup>।

यह टीका प्रक्रिया बद्ध है और बड़े अच्छे ढंगसे लिखी गयी है। इसकी श्लोकसंख्या ३३०० के लग-भग है। प्रारंभके विद्यार्थियोंके लिए बड़ी उपयोगी है।

इस ग्रन्थके आदि-अन्तमे कहीं भी कर्त्ताका नाम नहीं है। केवल एक जगह पाँचवें पत्रमे नाम आया है, जिससे मालूम होता है कि इसके रचयिता श्रुतकीर्ति हैं<sup>५</sup>।

१. नमः श्रीवर्धमानाय महते देवनन्दिने । प्रभाचन्द्राय गुरवे तस्मै चाभयनन्दिने ॥

२. नं० १०५६ सन् १८८७-६१ की रिपोर्ट ।

३. नं० ५६० सन् १८७५-७६ की रिपोर्ट । इस ग्रन्थकी एक प्रति परतापगढ़ (मालवा) के पुराने दि० जैनमन्दिरके भंटांरमे भी है। देखो जैनमित्र ता० २६ अगस्त १९१५।

४. अट्टे नभध्वन्निविधिस्थिराके शुद्धे सहस्र्यम् (?) युक् चतुर्थ्याम् ।

सत्प्रक्रियायन्धनिबन्धनेय सद्भवस्तुवृत्तीरदनात्समाप्ता (?) ॥

श्रीमत्परायामधिपेशराज्ञि श्रीरामसिंहे विलसत्यलेखि ।

श्रीमदुधेनेह सदासुखेन श्रीयुक्तेलालनिजात्ममुद्धयै ॥

शब्दीयशास्त्र पठित न यस्तैः न्वदेहमपालनभारवद्भिः ।

किं दर्शनीयं वधनीयमेतद् वृथांगसंघावपलापवद्भिः ॥

यह प्रति भी प्रायः शुद्ध है ।

५. याम वैर-वर्ण-वर-चरणादीना संघीना बहूना संभवत्वात् संशयान. शिष्यः संपृच्छति स्म । वस्तुस्थितिरिति ।

सज्ञान्दमप्रवृत्तिरतजदिसर्गजन्मा सधिस्तु पंचक इतीन्धमिहाहुरन्ये ।

तत्र स्वरप्रवृत्तिरतजविज्जपतोऽस्मिन्मधि त्रिधा वधयति श्रुतकीर्तिरार्यः ॥



कनड़ी भाषाके चन्द्रप्रभचरित नामक ग्रन्थके कर्ता अगल कविने श्रुतकीर्तिको अपना गुरु वतना है—“इदु परमपुरुषाथकुलभूभृत्समुद्भूतप्रवचनसरित्सरिचाथ—श्रुतकीर्तित्रैविचचक्रवर्तिपदपद्मनिधानदीपवर्तिनी मदगलदेवविरचिते चन्द्रप्रभचरिते—” इत्यादि । और यह चरित शक सवत् १०११ ( वि० स० ११४६ ) में बनकर समाप्त हुआ है । अतएव यदि श्रुतकीर्ति और श्रुतकीर्ति त्रैविच चक्रवर्ती एक ही हों तो पञ्चवन्तुसे भी अभयनन्दि महावृत्तिके पीछेकी—विक्रमकी चारहवीं शताब्दिके प्रारम्भकी—रचना समझना चाहिए । नदिमारी गुर्वावलीमें श्रुतकीर्तिको वैयाकरण-भास्कर लिखा है ।

४—लघुजैनेन्द्र—इसकी एक प्रति अकलेश्वर ( भरोच ) के त्रिगम्बर जैनमन्दिरमें है और दूसरी अधूरी प्रति परतापगढ़ ( मालवा ) के पुगने दि० जैनमन्दिरमें । यह अभयनन्दिकी वृत्तिके आचारमें लिखी गई है । परिङ्कत महाचन्द्रजी विक्रमकी इसी तीसरी शताब्दिमें हुए हैं ।<sup>१</sup> इन्होंने द्रष्टु, प्राहुत और भाषामें कई ग्रंथ लिखे हैं ।

५—जैनेन्द्र-प्रक्रिया—यह ५० वशीधरजी न्यायतीर्थ न्यायशास्त्रीने राल ही लिखी है । इसमें केवल पूर्वार्ध ही छपकर प्रकाशित हुआ है ।<sup>२</sup>

## शब्दार्णवकी टीकाएँ

जैनेन्द्र सूत्र पाठके सुशोधित परिवर्धित संस्करणका नाम—जैमा कि परले लिगा जा चुका है—शब्दार्णव है । इसके कर्ता गुणनन्दि हैं । यह बहुत संभव है कि सूत्र-पाठके सिवाय उन्होंने इसमें कोई टीका या वृत्ति भी बनाई हो जो कि उपलब्ध नहीं है ।

गुणनन्दि नामके कई विद्वान् हो गये हैं । एक गुणनन्दिका उल्लेख श्रवणोत्तमोल्लेख ४२, ४३ और ४७ वें नम्वरके लिखालेखोंमें मिलता है । ये बलाफिच्छके शिष्य और गृध्रपिच्छके प्रशिष्य थे । तर्क, व्याकरण और साहित्य शास्त्रोंके बहुत बड़े विद्वान् थे । इनके ३०० शास्त्रपरगत शिष्य थे और उनमें २२ शिष्य सिद्धान्तशास्त्री थे । आदि पत्रमें गुणदेवेन्द्र भी इन्हींके शिष्य थे । कर्नाटक अविचरितके अनुसार इनका समा वि० सवत् ६५७ निश्चय किया है । क्योंकि इनके प्रशिष्य देवेन्द्रके शिष्य आदि पत्रका नाम वि० स० ६५६ में हुआ था और उसने ३६ वर्षकी अवस्थामें अपने सुप्रसिद्ध कनड़ी भाष्य भागवत्चम्पू और आदिपुगण निर्माता किये हैं । हमारा अनुमान है कि ये ही गुणनन्दि शब्दार्णवके कर्ता हैं ।

चन्द्रप्रभचरित महाकाव्यके कर्ता वीरनन्दिका समय शक सवत् ९०० के लगभग निरचन में आये हैं । क्योंकि वाडेगाङ्करने अपने पार्वनाथचरितमें उनका स्मरण किया है और वीरनन्दि की मुद्रा १०११ में प्रकाश

१. त्रैविच श्रुतकीर्तिको वैयाकरणभास्कर ।

है—१ धी गुणनन्दि, २ विबुध गुणनन्दि, ३ अभयनन्दि और ४ वीरनन्दि । यदि पहले गुणनन्दि और वीरनन्दिके बीचमे हम ७८ वर्षका अन्तर मान लें, तो पहले गुणनन्दिका समय वही शक सवत् ८२२ वा वि० स० ९५७ के लगभग आ जायगा । इससे यह निश्चय होता है कि वीरनन्दिकी गुरुपरम्पराके प्रथम गुणनन्दि और आदि पम्पके गुरु देवेन्द्रके गुरु गुणनन्दि एक ही होगे ।

गुणनन्दि नामके एक और आचार्य शक सवत् १०३७ [वि० स० ११७२] में हुए हैं जो मेघचन्द्र नेविवके गुरु थे ।

शब्दार्णवकी इस समय दो टीकाएँ उपलब्ध हैं और दोनो ही सनातनजैनग्रन्थमालामें छप चुकी हैं—

१-शब्दार्णवचन्द्रिका, और २-शब्दार्णव प्रक्रिया ।

१-शब्दार्णवचन्द्रिका—इसकी एक बहुत ही प्राचीन और अतिशय जीर्ण प्रति भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूटमें है । यह ताड़पत्रपर नागरी लिपिमें है । इसके आदि-अन्तके पत्र प्रायः नष्ट हो गये हैं । छपी हुई प्रतिमें जो गद्य-प्रशस्ति है, वह इसमें नहीं है और अन्तमें एक श्लोक है जो पूरा नहीं पढ़ा जाता—

इन्द्रश्चन्द्रः शक्यतनयः पाणिनिः पूज्यपादो

यत्प्रोवाचापिरालिरमरः काशकृत्स्नः.....शब्दपारायणस्येति ।

इसके कर्ता श्रीसोमदेव सुनि हैं । ये शिलाहार वंशके राजा भोजदेव [द्वितीय] के समयमें हुए हैं और अर्जुनिका नामक ग्रामके त्रिभुवनतिलक नामक जैनमन्दिरमें—जो कि महामण्डलेश्वर गंडरादित्यदेवका बनवाया हुआ था । इसे शक सवत् ११२७ [वि० स० १२७२] में बनाया है । यह ग्राम इस समय आजरें नामसे प्रसिद्ध है और कोल्हापुर राज्यमें है । वादीभवज्राकुश श्रीविशालकीर्ति पण्डितदेवके वैयाकृत्यसे इस ग्रन्थकी रचना हुई है ।

इस ग्रन्थके मंगलाचरणके पहले श्लोकमें पूज्यपाद, गुणनन्दि और सोमदेव ये विशेषण वीर भगवान्को दिये हैं और दूसरे श्लोकमें कहा है कि यह टीका मूलसधीय मेघचन्द्रके शिष्य नागचन्द्र ( भुजंगसुधाकर ) और उनके शिष्य हरिचन्द्र यतिके लिए बनाई गई<sup>१</sup> ।

गुणनन्दिनी प्रशसा चुरादि धातुपाठके अन्तमें भी एक पद्यमें की गई है, जिसका अन्तिम चरण यह है—  
“शब्दप्रज्ञा स जीयाद्गुणनिधिगुणनन्दिमतीशस्सुसौख्यः ।” इसमें शब्दब्रह्मा विशेषण देकर गुणनन्दिको शब्दार्णव व्याकरणका कर्ता ही प्रकट किया गया है ।

ये मेघचन्द्र आचार्यारके कर्ता वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्तिके गुरु ही मालूम होते हैं । इन्हें श्रवणवेल्लोलके न० ४७ के शिलालेखमें सिद्धान्तज्ञतामें जिनसेन और वीरसेनके सहश, न्यायमें अकलकके समान और व्याकरणमें साक्षात् पूज्यपादसदृश बतलाया है । श्रवणवेल्लोलके न० ५० और ५२ नम्बरके शिलालेखोंसे मालूम होता है कि इनका स्वर्गवास शक सवत् १०३७ [वि० स० ११७२] में और उनके शुभचन्द्रदेव नामक शिष्यका स्वर्गवास शक सवत् १०६८ [वि० स० १२०३] में हुआ था । इसके सिवाय उनके दूसरे शिष्य प्रभाचन्द्रदेवने शक स० १०४१ [वि० स० ११७६] में एक महापूजाप्रतिष्ठा कराई थी । जब सोमदेवने शब्दार्णवचन्द्रिका मेघचन्द्रके शिष्य हरिचन्द्रके लिए शक स० ११२७ [वि० स० १२६२] में बनाई थी, तब मेघचन्द्रका समय वि० स० ११७२ के लगभग मना जा सकता है ।

१. न० २५ सन् १८८०-८८ की रिपोर्ट ।

२. ‘पूज्यपादममत्त गुणनन्दिदेवं सोमामरवृत्तिपूजितपादयुग्मम् ।

सिद्ध सन्तपतपद् वृषभ जिनेन्द्र सच्छब्दलक्षणमहं विनमामि वीरम् ॥ १ ॥

३. धीमूलसधजलजप्रतियोधमानोमधेन्दुर्दीक्षितभुजङ्गसुधाकरस्य ।

राटान्ततोपनिधिद्विपरस्य वृत्ति रमे हरीदुपतये वरदीक्षिताय ॥ २ ॥

नागचन्द्र नामके दो विद्वान् हो गये हैं, एक पम्प रामायणके कर्ता नागचन्द्र जिनका दूसरा नाम अभिनव पम्प था, और दूसरे लघिसारटीकाके कर्ता नागचन्द्र । पहले गृहस्थ थे और दूसरे मुनि । अभिनव पम्पके गुरुका नाम बालचन्द्र था जो मेघचन्द्रके सहाय्याथी थे और दूसरे स्वयं बालचन्द्रके शिष्य थे । इन दूसरे नागचन्द्रके शिष्य हरिचन्द्रके लिए यह वृत्ति बनाई गई है । इन्हे जो 'सद्धान्ततोयनिधिवृद्धिकर' विशेषण दिया है उससे मालूम होता है, कि ये सिद्धान्तचक्रवर्ती या टीकाकार होंगे ।

२—शब्दार्णव-प्रक्रिया—यह जैनेन्द्र प्रक्रियाके नामसे लुपी है, परन्तु वास्तवमें इसका नाम शब्दार्णव-प्रक्रिया ही है । हमें इसकी कोई हस्तलिखित प्रति नहीं मिल सकी । जिस तरह अभयनन्दिकी वृत्तिके बाद उसीके आधारसे प्रक्रियारूप पंचवस्तु टीका बनी है, उसी प्रकार सोमदेवकी शब्दार्णव चन्द्रिकाके बाद उसीके आधारसे यह प्रक्रिया बनी है । प्रकाशकोने इसके कर्ताका नाम गुणनन्दि प्रकट किया है, परन्तु जान पड़ता है कि इसके अन्तिम श्लोकमें गुणनन्दिका नाम देखकर ही भ्रमवश इसके कर्ताका नाम "गुणनन्दि" समझ लिया है<sup>१</sup> ।

इनमेंसे पहले पद्यसे यह स्पष्ट है कि गुणनन्दिके शब्दार्णवके लिए यह प्रक्रिया नावके समान है और दूसरे पद्यमें कहा है कि सिंहके समान गुणनन्दि पृथ्वीपर सदा जयवन्त रहे । यदि इसके कर्ता स्वयं गुणनन्दि होते तो स्वयं ही अपने लिए यह कैसे कहते कि वे गुणनन्दि सदा जयवन्त रहे ? अतः गुणनन्दि ग्रन्थकर्त्तामें कोई पृथक् ही व्यक्ति है जिसे वे श्रद्धास्पद समझते हैं ।

तीसरे पद्यमें भट्टारकशिरोमणि श्रुतकीर्ति देवकी प्रशंसा करता हुआ कवि करता है कि वे मंरे मंरुप मानसरोवरमें राजहस्के समान चिरकालतरु विराजमान रहे । इसमें भी ग्रन्थकर्त्ता अपना नाम प्रकट नहीं करते हैं, परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि वे श्रुतकीर्तिदेवके कोई शिष्य होंगे और संभवतः उन श्रुतकीर्तिके नहीं जो पंचवस्तुके कर्त्ता हैं । ये श्रुतकीर्ति पंचवस्तुके कर्त्तामें पृथक् जान पड़ते हैं । क्योंकि इन्हें प्रक्रियाके कर्त्तामें 'कविपति' बतलाया है, व्याकरणज्ञ नहीं । ये वे ही श्रुतकीर्ति मालूम होते हैं जिनका समय प्रो० पाठकने शक संवत् १०४५ या वि० सं० ११८० बतलाया है<sup>२</sup> । श्रवणवेल्लगोलके जैन गुरुग्रामे 'चारुकीर्ति पंडिताचार्य' का पद शक संवत् १०३२ के बाद प्राग्गण किया है और पहले चारुकीर्ति इन्हीं श्रुतकीर्तिके पुत्र थे<sup>३</sup> । श्रवणवेल्लगोलके १०८ वें शिलालेखमें इनका जिक्र है और इनकी बहुत ही प्रशंसा की गई है ।

प्रक्रियाके कर्त्तामें इन्हे भट्टारकोत्तम और श्रुतकीर्तिदेवयतिप लिया है और उस लेखमें भी भट्टारकोत्तम लिखा है । अब ये दोनों एक मान्य होने हैं । आश्चर्य नहीं जो इनके पुत्र और शिष्य चारुकीर्ति पंडित ताचार्य ही इस प्रक्रियाके कर्त्ता हों ।

## देवनन्दिका समय

देवनन्दिने अपने किसी ग्रन्थमें न तो कोई रचना-तिथि दी है और न अपनी गुरुपरम्परा। इसलिए उनके समयका निर्णय उनके ग्रन्थोंके उल्लेखों तथा दूसरे साधनोंसे ही करना पड़ेगा।

जैनेन्द्र व्याकरणके 'वेत्तेः सिद्धसेनस्य' [५-१-७] सूत्रमें सिद्धसेनका मत दिया है और प्रजाचक्षु ५० सुखलालजीने सिद्धसेनका समय विक्रमकी पाँचवीं शताब्दि निश्चित किया है<sup>१</sup>। उनके लेखका सारांश आगे दिया जाता है—

“जैसलमेरके जैन भण्डारमें विशेषावश्यक भाष्यकी जो अतिशय प्राचीन प्रति मिली है उसके अंतमें ग्रन्थकार जिनभद्र गणिने स्वयं ही ग्रन्थ-रचना-काल दिया है। और उसके अनुसार उक्त ग्रन्थ वि० स० ६६६ में वल्लभीमें समाप्त हुआ है। उन्होंने अपने इस विशेषावश्यक भाष्यमें और द्वितीय लघुग्रन्थ विशेषणवतीमें सिद्धसेन और मल्लवादिके उपयोगाभेद-वादकी विस्तृत समालोचना की है। मल्लवादि सिद्धसेनके सन्मतितर्कके टीकाकार है। इससे सिद्ध होता है कि मल्लवादि और सिद्धसेन जिनभद्रगणिसे क्रमशः पूर्व और पूर्वतर है। मल्लवादिके विनष्टमूल द्वादशार नयचक्रके जो प्रतीक उसके विस्तृत टीकाग्रन्थमें मिलते हैं उनमें सिद्धसेन दिवाकरके उल्लेख तो हैं, परन्तु जिनभद्रगणिके नहीं हैं। इससे फलित होता है कि मल्लवादि जिनभद्रसे पहले हुए हैं और मल्लवादिने सिद्धसेनके सन्मतितर्कपर टीका लिखी थी, इसका निर्देश आचार्य हरिभद्रने किया है। अतः यह सिद्ध है कि सिद्धसेन मल्लवादिके पहले हुए हैं। इसलिए मल्लवादिको विक्रमकी छठी शताब्दिके पूर्वार्धमें माना जाय, तो सिद्धसेनका समय पाँचवीं शताब्दि ठीक लगता है।

‘सिद्धसेनके मतके अनुसार ‘विद्’ धातुमें ‘र’ का आगम होता है, भले ही वह सकर्मक हो। उनकी नवीं द्वात्रिंशतिकाके २२वें पद्यमें ‘र’ आगमवाला ‘विद्वते’ प्रयोग मिलता है। अन्य वैयाकरण ‘सम्’ उपसर्ग-पूर्वक अकर्मक विद् धातुमें ‘र’ आगम मानते हैं जब कि सिद्धसेनने अनुपसर्ग और सकर्मक विद् धातुमें ‘र’ आगमवाला प्रयोग किया है। इसके सिवाय पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि टीकाके [अ० ७ सूत्र १३] में सिद्धसेनकी तीसरी द्वात्रिंशिकाके १६ वें पद्यकी ‘उक्त च’ शब्दके साथ “वियोजयति चासुभिर्न वधेन संयुज्यते” पक्ति उद्धृत की है। द्वात्रिंशिकामें यह पूरा पद्य इस प्रकार है—

वियोजयति चासुभिर्न वधेन संयुज्यते

शिवं च न परोपमर्दं पु [प] रूपस्मृतेर्विद्यते ।

वधायतनमभ्युपैति च पराननिघ्नमपि

त्वयाऽयमतिदुर्गमः प्रथ[श]महेतुरुच्योतितः ॥१६॥

“पूज्यपाद देवनन्दिका समय विक्रमकी छठी शताब्दीका पूर्वार्ध माना जाता है। परन्तु मेरी समझमें अभी इसपर और भी गहराईसे विचार होनेकी जरूरत है। यदि सिद्धसेनको देवनन्दिसे पूर्ववर्ती अथवा उनका वृद्धसमकालीन माना जाय, तो भी उनका समय पाँचवीं शताब्दिसे अर्वाचीन नहीं जान पड़ता।”

सिद्धसेनसे देवनन्दि कितने बादके हैं, इसका निर्णय करनेके लिए देवसेनके दर्शनसारसे भी कुछ सरापता मिल सकती है। यह ग्रन्थ उन्होंने वि० स० ६६० में धारानगरीमें निवास करते हुए पूर्वाचार्योंकी द्वादह गाथाओंका एकत्र सचय करके—‘पुष्पाहरिकयाद् ग्राहाद् संचिञ्चण एयत्थ’ लिखा गया है। अर्थात् इस ग्रन्थकी गाथाएँ देवसेनसे भी पहलेकी हैं और इस दृष्टिसे उनकी प्रामाणिकता अधिक है। उसके अनुसार भी पूज्यपादका शिष्य पाटुडवेदि वज्रनन्दि द्राविड सघका कर्ता हुआ और तत्र दक्षिण मथुरा [मदुरा] में

१ देखो भारतीय विद्या, भाग ३, अंक ५ में ‘श्री सिद्धसेन दिवाकरनां समयानी प्रश्न’ शीर्षक लेख।

नागचन्द्र नामके दो विद्वान् हो गये हैं, एक पम्प रामायणके कर्ता नागचन्द्र जिनका दूसरा नाम अभिनव पम्प था, और दूसरे लब्धिसारटीकाके कर्ता नागचन्द्र । पहले ग्रहस्थ थे और दूसरे मुनि । अभिनव पम्पके गुरुका नाम बालचन्द्र था जो मेघचन्द्रके सहाध्यायी थे और दूसरे स्वयं बालचन्द्रके शिष्य थे । इन दूसरे नागचन्द्रके शिष्य हरिचन्द्रके लिए यह वृत्ति बनाई गई है । इन्हें जो 'राद्धान्ततोयनिधिवृद्धिकर' विशेषण दिया है उससे मालूम होता है, कि ये सिद्धान्तचक्रवर्ती या टीकाकार होंगे ।

२—शब्दार्णव-प्रक्रिया—यह जैनेन्द्र प्रक्रियाके नामसे छपी है, परन्तु वास्तवमें इसका नाम शब्दार्णव-प्रक्रिया ही है । हमें इसकी कोई हस्तलिखित प्रति नहीं मिल सकी । जिस तरह अभयनन्दिकी वृत्तिके बाद उसीके आधारसे प्रक्रियारूप पञ्चवस्तु टीका बनी है, उसी प्रकार सोमदेवकी शब्दार्णव चन्द्रिकाके बाद उसीके आधारसे यह प्रक्रिया बनी है । प्रकाशकोंने इसके कर्ताका नाम गुणनन्दि प्रकट किया है, परन्तु जान पड़ता है कि इसके अन्तिम श्लोकमें गुणनन्दिका नाम देखकर ही भ्रमवश इसके कर्ताका नाम "गुणनन्दि समझ लिया है" ।

इनमेंसे पहले पद्यसे यह स्पष्ट है कि गुणनन्दिके शब्दार्णवके लिए यह प्रक्रिया नावके समान है और दूसरे पद्यमें कहा है कि सिंहके समान गुणनन्दि पृथ्वीपर सदा जयवन्त रहे । यदि इसके कर्ता स्वयं गुणनन्दि होते तो स्वयं ही अपने लिए यह कैसे कहते कि वे गुणनन्दि सदा जयवन्त रहे ? अतः गुणनन्दि ग्रन्थकर्तासे कोई पृथक् ही व्यक्ति है जिसे वे श्रद्धास्पद समझते हैं ।

तीसरे पद्यमें भट्टारकशिरोमणि श्रुतकीर्ति देवकी प्रशंसा करता हुआ कवि कहता है कि वे मेरे मनरूप मानसरोवरमें राजहंसके समान चिरकालतक विराजमान रहें । इसमें भी ग्रन्थकर्ता अपना नाम प्रकट नहीं करते हैं, परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि वे श्रुतिकीर्तिदेवके कोई शिष्य होंगे और संभवतः उन श्रुतिकीर्तिके नहीं जो पञ्चवस्तुके कर्ता हैं । ये श्रुतिकीर्ति पञ्चवस्तुके कर्तासे पृथक् जान पड़ते हैं । क्योंकि इन्हे प्रक्रियाके कर्ताने 'कविपति' बतलाया है, व्याकरणज्ञ नहीं । ये वे ही श्रुतिकीर्ति मालूम होते हैं जिनका समय प्रो० पाठकने शक संवत् १०४५ या वि० सं० ११८० बतलाया है<sup>३</sup> । श्रवणबेलगोलके जैन गुरुओंने 'चारुकीर्ति पंडिताचार्य' का पद शक संवत् १०३२ के बाद धारण किया है और पहले चारुकीर्ति इन्हीं श्रुतकीर्तिके पुत्र थे<sup>४</sup> । श्रवणबेलगोलके १०८ वे शिलालेखमें<sup>५</sup> इनका जिक्र है और इनकी बहुत ही प्रशंसा की गई है ।

प्रक्रियाके कर्ताने इन्हे भट्टारकोत्तस और श्रुतकीर्तिदेवयतिप लिखा है और इस लेखमें भी भट्टारकयति लिखा है । अतः ये दोनों एक मालूम होते हैं । आश्चर्य नहीं जो इनके पुत्र और शिष्य चारुकीर्ति पण्डिताचार्य ही इस प्रक्रियाके कर्ता हों ।

१. छपी हुई प्रति के अन्तमें "इति प्रक्रियावतारे कृद्धिधिः समाप्तः । समासेयं प्रक्रिया ।" इस तरह छपा है । इससे भी इसका नाम जैनेन्द्र-प्रक्रिया नहीं जान पड़ता ।

२. सत्संधि दधते समासमभितः रयातार्थनामोन्नतं निर्जात बहुतद्धितं कृतमिहारयातं यशःशालिनम् ।  
से पा श्रीगुणनन्दिनानितवपुः शब्दार्णवं निर्णय नाविन्याश्रयता विविधमनसां साक्षास्वयं प्रक्रिया ॥१॥  
दुरितमदेभनिशुम्भकुम्भस्थलभेदनक्षमोन्नतः । राजन्मृगाधिराजो गुणनन्दी भुवि चिरं जीयात् ॥२॥  
सन्मार्गे सकलसुखप्रियकरे संज्ञापिते सद्गते दिग्वासस्सु चरित्रवानमलकः कान्तो विवेकी प्रिय ।  
सोऽयं यः श्रुतकीर्तिदेवयतिपो भट्टारकोत्तसको रंरम्यान्मम मानसे कविपतिः सद्राजहंसश्चिगम् ॥३॥

३. देखो 'सिस्टिम्स आफ् संस्कृत ग्रामर', पृष्ठ ६७ ।

४. देखो 'कर्नाटक जैन कवि' पृष्ठ २० ।

५. तत्र सर्वशरीरिरक्षाकृतमतिविजितेन्द्रियः । सिद्धशासनवर्द्धनप्रतिलब्धकीर्तिकालापः ॥२॥

विश्रुतश्रुतकीर्तिभट्टारकयतिस्ममजायत । प्रस्फुटद्वचनामृताशुचिनाशितानिलहृत्तमा ॥३॥

## देवनन्दिका समय

देवनन्दिने अपने किसी ग्रन्थमें न तो कोई रचना-तिथि दी है और न अपनी गुणपरम्परा। इसलिए उनके समयका निर्णय उनके ग्रन्थोंके उल्लेखों तथा दूसरे साधनोंसे ही करना पड़ेगा।

जैनेन्द्र व्याकरणके 'वैत्तेः सिद्धसेनस्य' [५-१-७] सूत्रमें सिद्धसेनका मत दिया है और प्रजाचक्षु ५० सुखलालजीने सिद्धसेनका समय विक्रमकी पाँचवीं शताब्दि निश्चित किया है। उनके लेखका साराश आगे दिया जाता है—

"जैसलमेरके जैन भण्डारमें विशेषावश्यक भाष्यकी जो अतिशय प्राचीन प्रति मिली है उसके अंतमें ग्रन्थकार जिनभद्र गणिने स्वयं ही ग्रन्थ-रचना-काल दिया है। और उसके अनुसार उक्त ग्रन्थ वि० स० ६६६ में बल्लभीमें समाप्त हुआ है। उन्होंने अपने इस विशेषावश्यक भाष्यमें और द्वितीय लघुग्रन्थ विशेषणवतीमें सिद्धसेन और मल्लवादिके उपयोगाभेद-वादकी विस्तृत समालोचना की है। मल्लवादि सिद्धसेनके सम्मतितर्कके टीकाकार है। इससे सिद्ध होता है कि मल्लवादि और सिद्धसेन जिनभद्रगणिसे क्रमशः पूर्व और पूर्वतर है। मल्लवादिके विनष्टमूल द्वादशार नयचक्रके जो प्रतीक उसके विस्तृत टीकाग्रन्थमें मिलते हैं उनमें सिद्धसेन दिवाकरके उल्लेख तो हैं, परन्तु जिनभद्रगणिके नहीं हैं। इससे फलित होता है कि मल्लवादि जिनभद्रसे पहले हुए हैं और मल्लवादिने सिद्धसेनके सम्मतितर्कपर टीका लिखी थी, इसका निर्देश आचार्य हरिभद्रने किया है। अतः यह सिद्ध है कि सिद्धसेन मल्लवादिके पहले हुए हैं। इसलिए मल्लवादिको विक्रमकी छठी शताब्दिके पूर्वार्धमें माना जाय, तो सिद्धसेनका समय पाँचवीं शताब्दि ठीक लगता है।

"सिद्धसेनके मतके अनुसार 'विद्' धातुमें 'र' का आगम होता है, भले ही वह सकर्मक हो। उनकी नवीं द्वात्रिंशतिकाके २२वें पद्यमें 'र' आगमवाला 'विद्वते' प्रयोग मिलता है। अन्य वैयाकरण 'सम्' उपसर्ग-पूर्वक अकर्मक विद् धातुमें 'र' आगम मानते हैं जब कि सिद्धसेनने अनुपसर्ग और सकर्मक विद् धातुमें 'र' आगमवाला प्रयोग किया है। इसके सिवाय पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि टीकाके [अ० ७ सूत्र १३] में सिद्धसेनकी तीसरी द्वात्रिंशिकाके १६ वे पद्यकी 'उक्त च' शब्दके साथ "वियोजयति चासुभिर्न वधेन संयुज्यते" पक्ति उद्धृत की है। द्वात्रिंशिकामें यह पूरा पद्य इस प्रकार है—

वियोजयति चासुभिर्न वधेन संयुज्यते

शिवं च न परोपमर्देषु [प] रुपस्सृतेर्विद्यते।

वधापतनमभ्युपैति च पराननिघ्नमपि

त्वयाज्यमतिदुर्गमः प्रथ[श]महेतुरुद्योतितः ॥१६॥

"पूज्यपाद देवनन्दिका समय विक्रमकी छठी शताब्दीका पूर्वार्ध माना जाता है। परन्तु मेरी समझमें अभी इसपर और भी गहराईसे विचार होनेकी जरूरत है। यदि सिद्धसेनको देवनन्दिसे पूर्ववर्ती अथवा उनका हृदयकालीन माना जाय, तो भी उनका समय पाँचवीं शताब्दिसे अर्वाचीन नहीं जान पड़ता।"

सिद्धसेनसे देवनन्दि कितने बादके हैं, इसका निर्णय करनेके लिए देवसेनके दर्शनसारसे भी कुछ सहायता मिल सकती है। यह ग्रन्थ उन्होंने वि० स० ६६० में धारानगरीमें निवास करते हुए पूर्वाचार्योंकी स्तार्ह हर्ष गाथाओंका एकत्र सचय करके—'पुष्पाहरिकथाइं गाहाइं संचिउण एयत्थ' लिखा गया है। अर्थात् इस ग्रन्थकी गाथाएँ देवसेनसे भी पहलेकी हैं और इस दृष्टिसे उनकी प्रामाणिकता अधिक है। उसके अनुसार ही पूज्यपादका शिष्य पाहुव्वेदि वज्जनन्दि द्राविड सघका कर्ता हुआ और तत्र दक्षिण मथुरा [मदुरा] में

वि० स० ५२६ में यह महामिथ्याती सघ उत्पन्न हुआ। वज्रनन्दि चूँकि देवनन्दिके शिष्य थे, इसलिए इस सघ-स्थापना-कालके लगभग या दस बीस वर्ष पहले देवनन्दिका समय माना जा सकता है। सिद्धसेनके पूर्वोक्त निश्चित किये हुए समयसे भी यह असंगत नहीं जान पड़ता।

प० युधिष्ठिर मीमांसकने 'संस्कृत व्याकरण शास्त्रा इतिहास' लिखा है। उन्होने जैनेन्द्रके 'वेत्ते मिद्ध-सेनस्य' सूत्रपरसे अनुमान किया है कि सिद्धसेनका कोई व्याकरण ग्रन्थ अवश्य होगा। उज्ज्वलदत्तकी उणादि सूत्र वृत्तिमें 'क्षपणक' के नामसे एक ऐसा सूत्र उद्धृत है जिससे प्रतीत होता है कि क्षपणकने भी उणादि सूत्रोंपर कोई व्याख्या लिखी थी और उससे यह भी संभावना होती है कि क्षपणकने अपने शब्दानुशासनपर भी कोई वृत्ति रची होगी। मैत्रेयरक्षितने तत्रप्रदीपमें भी क्षपणकके व्याकरणका उल्लेख किया है।

बहुतसे विद्वानोंकी राय है कि ज्योतिर्विदाभरणमें<sup>३</sup> बतलाये हुए विक्रमके नौ रत्नोंमें जो क्षपणक है, वही सिद्धसेन है और गुप्तवशके चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ही विक्रमादित्य है। इतिहासज्ञ विन्सेट स्मिथके अनुसार चन्द्रगुप्तका समय वि० सं० ४३२ से ४७० तक है और इस तरह सिद्धसेनका समय जो प० सुखलालजीने विक्रमकी पाँचवीं शताब्दि निश्चित किया है, और भी पुष्ट हो जाता है।

हेब्वुर्के दानपत्रमें गंगवशी महाराजा अविनीतके पुत्र दुर्विनीतको "शब्दावतारकारः देवभारतीनियद्ध-वृहत्कथः किरातार्जुनीयपञ्चदशसर्गटीकाकारः"<sup>४</sup> ये तीन विशेषण दिये हैं जिनका अर्थ होता है—शब्दावतारके कर्ता, पैगाचीने संस्कृतमें गुणाढ्यकी बृहत्कथाको रचनेवाले और किरातार्जुनीय काव्यके पन्द्रह सर्गों के टीकाकार। इन विशेषणोंमें कोई ऐसी बात नहीं जिससे यह प्रकट हो कि देवनन्दि दुर्विनीतके शिष्यागुरु थे या उनके समकालीन थे। परन्तु चूँकि शिमोगा जिलेके नगर ताल्लुकेके ४६ वें शिलालेखमें<sup>५</sup> पूज्यपादको पाणिनीयके शब्दावतारका कर्ता बतलाया है, इसलिए दुर्विनीतके साथ लगे हुए "शब्दावतारकार" विशेषणसे कुछ विद्वानोंको भ्रम हो गया और दोनोंको समकालीन समझकर गुरु-शिष्यका सम्बन्ध खड़ा कर दिया है। दुर्विनीतका राज्यकाल वि० स० ५३९ से शुरू होता है, इसलिए इसीके लगभग पूज्यपादका समय मान लिया गया, परन्तु मैसूरके आस्थान विद्वान् प० शान्तिराज शास्त्रीने भास्करनन्दिद्वारा तत्त्वावलीकाकी प्रस्तावनामें इस भ्रमको स्पष्ट कर दिया है। इसलिए भले ही पूज्यपाद देवनन्दि दुर्विनीतके राज्यकालमें रहे हो, परन्तु केवल इस दानपत्रसे वह सिद्ध नहीं किया जा सकता।

जैनेन्द्र व्याकरणके एक और सूत्र "चतुष्टयं समन्तभद्रस्य" [४-४-१४०] में सिद्धसेनके ही समान आचार्य समन्तभद्रका उल्लेख है, जिससे समन्तभद्रका देवनन्दिसे पूर्ववर्ती होना सिद्ध होता है, परन्तु साथ ही

१. सिरिपुञ्जपादसीसो दाविडसंवस्स कारणो दुट्ठो। णामेण वज्जणटी पाहुटवेदी महासत्तो ॥

पच्चसए द्धर्वासे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स। दक्खिणमट्टरा-जादो दाविडसंघे महामोहो ॥

२. प्रकाशक—भारतीय साहित्यभवन, नवावगज, दिल्ली।

३. धन्वन्तरिक्षपणकामरमिहशकुवेतालभट्टवट्ठपरकालिदासा। ग्यातो वगहमिहरो नृपते. समायाः रत्नानि वै वररचिर्नव विक्रमस्य ॥

४. मैसूर एण्ड कुर्ग गैजेटियर, प्रथम भाग पृ० ३७३.

५. इस शिलालेखका वह 'न्याय जैनेन्द्रसंघ' आदि पद्य इसमें पहले पृष्ठ ३३ पर उद्धृत किया है।

६. चौदाचार्य चन्द्रकीर्तने "समन्तभद्र" नामका एक व्याकरण लिखा था और चन्द्रकीर्तने धर्मकीर्तने भी पूर्ववर्ती है। १२ वीं शताब्दिमें लिखे हुए चौद्व धर्मके इतिहासमें जो निम्नवर्ती भाषामें हैं, और जिसका अंग्रेजी अनुवाद हो गया है इस बातकी सूचना मिलती है। प० श्री दलमुय मानवणियाने अपने एक पत्रमें मुझे यह लिखा है।

सर्वार्थसिद्धि टीकाके 'मोक्षमार्गस्य नेतार' आदि मंगलाचरण पर समन्तभद्रने 'आत्ममीमासा' नामक ग्रन्थ लिखा है। इससे जान पड़ता है कि दोनों समकालीन एक दूसरेका आदर करनेवाले हैं और एक दूसरेके ग्रन्थोंसे सुपरिचित होनेके कारण ही यह संभव हुआ है कि देवनन्दि अपने जैनेन्द्र व्याकरणमें समन्तभद्रका व्याकरणविषयक मत देते हैं और समन्तभद्र देवनन्दिकी सर्वार्थसिद्धिके मंगलाचरणपर अपनी आत्ममीमासा निर्माण करते हैं।

आचार्य विद्यानन्दने अपनी आत्मपरीक्षाके अन्तमें लिखा है—

श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरानोद्भवस्य,  
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत् ।  
स्तोत्र तीर्थोपमानं प्रथितपृथुयशं स्वामिमीमांसितं तत् ,  
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्धये ॥ १२३ ॥

अर्थात् प्रकाशमान रत्नोके उद्भवस्थान तत्त्वार्थशास्त्र रूप अद्भुत समुद्रके उत्थान या बढावके आरम्भकालमें शास्त्रकार ( देवनन्दि ) ने तीर्थके तुल्य जो प्रसिद्ध और अति यशस्वी स्तोत्र ( मोक्षमार्गस्य नेतार आदि ) बनाया और जिसकी स्वामि ( समन्तभद्र ) ने मीमासा की, उसीका अपनी शक्तिके अनुसार सत्यवाक्यार्थसिद्धिके लिए विद्यानन्दने बड़े आदरके साथ कथन किया।

इसमें यह बिल्कुल स्पष्ट रूपसे कह दिया गया है कि 'मोक्षमार्गस्य नेतार' इस मंगलाचरण पर ही आत्ममीमासा रची गई है और उसीपर विद्यानन्द परीक्षा ( आत्मपरीक्षा ) लिखते हैं।

परन्तु उक्त पद्यमें जो 'शास्त्रकारैः' पद पड़ा हुआ है, उसपर एक बड़ा भारी विवाद खड़ा कर दिया गया है और उसका अर्थ किया जाता है—तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति, जब कि वास्तवमें मोक्षमार्गस्य नेतार आदि मंगलाचरण सर्वार्थसिद्धिका है। मूल तत्त्वार्थसूत्रका नहीं। क्योंकि यदि यह मंगलाचरण तत्त्वार्थसूत्रका होता तो उसकी टीका सभी दिग्भर श्वेताम्बर टीकाकार जो प्राचीन हैं—अवश्य करते। और कोई न करता तो देवनन्दि पूज्यपाद तो [सर्वार्थसिद्धिमें] अवश्य करते। सर्वार्थसिद्धि टीकाका पहला संस्करण स्व० पं० कल्लाप्पा भरमाप्पा नित्ठवेने प्रकाशित किया था। उसमें इसे टीकाके मंगलाचरणके रूपमें ही दिया है और भूमिगमें भी उन्होंने इसे टीकाका ही बतलाया है। शोलापुरके प० वशीधरजी शास्त्रीके संस्करणमें भी यह टीका है और यह संस्करण उन्होंने आगरेकी तीन प्राचीन प्रतियोंके आधारसे सम्पादित किया है। उसमेंकी एक प्रतिका तो वे ५०० वर्ष पुरानी बतलाते हैं। अकलकदेव और विद्यानन्दने भी राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकमें इसकी टीका नहीं की है, श्वेताम्बर टीकाकार सिद्धसेन और हरिभद्र आदिने भी नहीं की। तत्त्वार्थसूत्रपाठ [मूल] की भी अधिकांश लिखित प्रतियाँ इस मंगलाचरणसे रहित हैं। सनातनग्रन्थमाला प्रथम गुच्छक, जैननित्यपाठसंग्रह आदि मुद्रित प्रतियोंमें भी यह नहीं है। तत्त्वार्थसारमें भी, जो तत्त्वार्थका एक तरफने पद्धति पद्यानुवाद है, अमृतचन्द्रने इस मंगल पद्यका अनुवाद नहीं किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह मंगलाचरण सर्वार्थसिद्धि टीकाके कर्ता पूज्यपाद देवनन्दिका है, इसीपर समन्तभद्रने आत्ममीमासा और विद्यानन्दने आत्मपरीक्षा की रचना की।

१ दिग्भर टीकाकारोंमें ध्रुतसागर और भास्करनन्दने 'मोक्षमार्गस्य' आदिकी टीका की है। इनमें ध्रुतसागर विष्णुशर्मा सोलहवीं शताब्दिके अन्तमें हुए हैं और भास्करनन्दि १३-१४ वीं शताब्दिके हैं।

२ जिन पद्यों या गुच्छोंमें मूल तत्त्वार्थसूत्र लिखा मिलता है, उसमें इस मंगलाचरणके साथ ही प्रायः "त्रैलोक्य द्रव्यपट्टक" आदि संस्कृत पद्य और भगवती आराधनाके प्रारम्भकी 'सिद्धे जयप्पसिद्धे' आदि दो गाथाएँ भी लिखी रहती हैं और उनके बाद 'सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः' शुरु होता है। वास्तवमें जो लोग निचपाठ करते हैं, उन्होंने यह परंपरा चला दी है।



अतएव समन्तभद्र और देवनन्दि छठी शताब्दिके हैं और समकालीन हैं। सिद्धसेन उनके पूर्ववर्ती हैं।

### जैनेन्द्रोक्त अन्य आचार्य

पाणिनि आदि वैयाकरणोंने जिस तरह अपनेसे पहलेके वैयाकरणोंके नामोंका उल्लेख किया है, उसी तरह जैनेन्द्रसूत्रोंमें भी नीचे लिखे पूर्वाचार्योंका उल्लेख मिलता है—

१ राट् भूतचलेः [३-४-८३], २ गुणे श्रीदत्तस्यास्त्रियाम् [१-४-३४], ३ कृवृपिमृजां यशोभद्रस्य [२-१-६६], ४ रात्रे कृति प्रभाचन्द्रस्य [४-३-१८०], ५ वेत्तेः सिद्धसेनस्य [५-१-७], ६ चतुष्टयं समन्तभद्रस्य [५-४-१४०]।

जहाँतक हम जानते हैं इन छहों आचार्योंमेंसे शायद किसीने भी कोई व्याकरण ग्रन्थ नहीं लिखा है। इनके ग्रन्थोंमें कुछ भिन्न तरहके शब्द प्रयोग किये गये होंगे और उन्हींको लक्ष्य करके उक्त सब सूत्र रचे गये हैं। शाकटायनने भी इसीका अनुकरण करके तीन आचार्योंके मत दिये हैं।

१—भूतचलि-भूतचलिका ठीक-ठीक समय निश्चित करना कठिन है। इतना ही कहा जा सकता है कि वे वीर नि० स० ६८३ के बाद हुए हैं।<sup>१</sup>

२—स्वामी समन्तभद्र<sup>२</sup> और ३—सिद्धसेन प्रसिद्ध हैं।

४—श्रीदत्त-विद्यानन्दने अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें श्रीदत्तके 'जल्पनिर्णय' नामक ग्रन्थका उल्लेख किया है। मालूम होता है कि ये बड़े भारी वादि-विजेता थे<sup>३</sup>। आदिपुराणके कर्ता जिनसेनसरिने भी इनका स्मरण किया है। संभव है<sup>४</sup> ये श्रीदत्त दूसरे हो और जल्प-निर्णयके कर्ता दूसरे, तथा इन्हीं दूसरेका उल्लेख जैनेन्द्रमें किया गया हो।

५—यशोभद्र—आदिपुराणमें यशोभद्रका स्मरण करते हुए कहा है कि विद्वानोंकी सभामें जिनका नाम कीर्तन सुननेसे ही वादियोंका गर्व खर्व हो जाता है।<sup>५</sup>

६—प्रभाचन्द्र—आदिपुराणमें जिनसेन स्वामीने प्रभाचन्द्र कविकी स्तुति की है, जिन्होंने चन्द्रोदयकी रचना की थी। हरिवंशपुराणमें भी इनका स्मरण किया गया है। ये कुमारसेनके शिष्य थे।

### उपलब्ध ग्रन्थ

जैनेन्द्रके सिवाय पूज्यपादके केवल पाँच ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं।

१—सर्वार्थसिद्धि—आचार्य उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्रपर दिग्भ्रर सम्प्रदायकी उपलब्ध टीकाओंमें सबसे पहली टीका।

२—समाधितंत्र। इसमें लगभग १०० श्लोक हैं, इसलिए इसे समाधिशास्त्र भी कहते हैं।

३—इष्टोपदेश—यह केवल ५१ श्लोकोंका छोटा सा ग्रन्थ है। ५० आगाधरने इसपर एक संस्कृत टीका लिखी है।

४—दशभक्ति [संस्कृत]—प्रभाचन्द्राचार्यने अपने क्रियाश्रलापमें इसका कर्ता पूज्यपाद या पाद-पूज्यको बताया है। परन्तु इसके लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता।

१-२. इसके लिए प्रो० हींगलाजर्जीकी धवलाकी 'भूमिका' और पं० जुगलकिशोरजी मुन्तासका 'स्वामी समन्तभद्र' देखिए।

३. द्विप्रकारं जगौ जल्पं तत्त्व-प्रानिभगोचरम् । त्रिपष्टेर्वादिना जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये ॥

४. श्रीदत्ताय नमस्तस्मै तपःश्रीदीप्तमूर्तये । कण्ठीरवायित येन प्रवादीभद्रप्रेम्णे ॥४५॥

५. विदुर्विद्वत्पु मयसु यन्म्य नामापि कीर्तितम् । निग्ययंयति तद्गुणं यशोभद्रः स पातु नः ॥४६॥

५—सिद्धप्रियस्तोत्र—निर्णयसागरकी काव्यमाला [सप्तमगुच्छ] में छप चुका है। २६ पत्रोंमें चौबीस तीर्थङ्गरोकी स्तुति है।

### अनुपलब्ध ग्रन्थ

शब्दावतार न्यास और जैनेन्द्र न्यास—पूज्यपादका पाणिनि व्याकरणपर 'शब्दावतार' नामका न्यास है और जैनेन्द्रपर स्वोपज्ञ न्यास भी है।

वैद्यक ग्रन्थ—शुभचन्द्रकृत शानार्णवके 'अपाकुर्वन्ति' आदि श्लोकके 'काय' शब्दसे ध्वनित होता है कि पूज्यपादका कोई वैद्यक ग्रन्थ होगा।

सार-संग्रह—धवला [वेदनाखण्ड पु० १ पृ० १६७] के एक उद्धरणके आधारसे 'सारसंग्रह' नामक एक और ग्रन्थके होनेका अनुमान है—“तथा सारसंग्रहेऽप्युक्तं पूज्यपादैः अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमपर्यायाधिगमे कर्तव्ये जात्यहेत्वपेक्षो निरवयवप्रयोगो नय इति।” यह कोई न्याय या सिद्धान्तका ग्रन्थ जान पड़ता है। उक्त वाक्यका 'पूज्यपाद' किसी अन्य पूज्य आचार्यका विशेषण भी हो सकता है।

'जैनाभिषेक' नामके एक और ग्रन्थका जिक्र श्रवणचेलगोलके शिलालेख न० ४० के 'जैनेन्द्रं निज-शब्द भागमनुल' आदि श्लोकमें किया गया है।

इस लेखके लिखनेमें हमें भद्रेय मुनि जिनविजय और प० बेचरदास जीवराजकी न्याय-व्याकरण-तीर्थसे बहुत अधिक सहायता मिली है। इसलिए हम उक्त दोनों सज्जनोंके अत्यन्त कृतज्ञ हैं। मुनि महोदयकी कृपासे हमको जो साधन सामग्री प्राप्त हुई है यदि न मिलती तो यह लेख शायद ही इस रूपमें पाठकोंके सम्मुख उपस्थित हो सकता।

### परिशिष्ट १

#### पूज्यपाद-चरित

कनडी भाषाके इस चरितको चन्द्रय्य नामक कविने जो कर्नाटक देशके मलयनगरकी 'ब्राह्मणगली' के रहनेवाले थे। दुःसम कालके परिधावी संवत्सरकी आश्विन शुक्ल ५, शुक्रवार, तुलालग्नमें समाप्त किया है। चरितका सारांश यह है—

१. 'अपाकुर्वन्ति यद्वाच. कायवाक्चित्तसम्भवः। कलङ्कमङ्गिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते॥

पूनेके भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूटमें 'पूज्यपादकृत वैद्यक' नामका एक ग्रन्थ है, परन्तु वह आधुनिक ढंगमें लिखा हुआ कनडी भाषाका ग्रन्थ है। उसमें न कहीं पूज्यपादका उल्लेख है और न वह उनका बताया हुआ है। 'वेद्यसार' नामका एक और ग्रन्थ अभी जैन-सिद्धान्त-भास्करमें प्रकाशित हुआ है, पर यह भी उनका नहीं है।

विजयनगरके राजा हरिहरके समयमें एक मंगराज नामके कनडी कवि हुए हैं। वि० सं० १४१६ के लगभग उनका अस्तित्व-काल है। स्थावर विषयकी प्रक्रिया और चिकित्सापर उनका खगेन्द्रमणिदर्पण नामका ग्रन्थ है। वे उसमें अपनेको पूज्यपादका शिष्य बतलाते हैं और यह भी कि यह ग्रन्थ पूज्यपाद पंचम ग्रन्थसे संगृहीत है। अभी हाल ही शोलापुरसे उग्रदित्याचार्यका 'कृत्याणकारक' नामका ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। उसमें भी अनेक जगह 'पूज्यपादेन भाषित.' कहकर पूज्यपादके वैद्यक ग्रन्थका उल्लेख किया गया है। उग्रदित्य राष्ट्रकूट अमोघवर्षके समयके बतलाये गये हैं, परन्तु हमें इसमें सन्देह है। उनकी प्रगति की भी बहुत सी बातें सन्देहास्पद हैं जिनपर विचार होनेकी आवश्यकता है।

२. हमें लिए प्रो० हीरालालजी जैन लिखित धवला (पुस्तक १) की भूमिकाके पृष्ठ ६०-६१ देखिए।

कर्नाटक देशके ' कोले ' नामक ग्रामके माधवभट्ट नामक ब्राह्मण और श्रीदेवी ब्राह्मणीसे पूज्यपादका जन्म हुआ । ज्योतिषियोंने बालकको त्रिलोकपूज्य बतलाया, इस कारण उसका नाम पूज्यपाद रक्खा गया । माधवभट्टने अपनी स्त्रीके कहनेसे जैनधर्म स्वीकार कर लिया । भट्टजीके सलेका नाम पाणिनि था उसे भी उन्होंने जैनी बननेको कहा, परन्तु प्रतिष्ठाके खयालसे वह जैनी न होकर मुडीगुड ग्राममें वैष्णव सन्यासी हो गया । पूज्यपादकी कमलिनी नामक छोटी बहिन हुई, वह गुणभट्टको व्याही गई, और गुणभट्टको उससे नागार्जुन नामक पुत्र हुआ ।

पूज्यपादने एक बगीचेमें एक साँपके मुँहमें फँसे हुए मेडकको देखा । इससे उन्हें वैराग्य हो गया और वे जैन साधु बन गये ।

पाणिनि अपना व्याकरण रच रहे थे। वह पूरा न हो पाया था कि उन्होने अपना मरण-काल निकट आया जान कर पूज्यपादसे कहा कि इसे तुम पूरा कर दो। उन्होंने पूरा करना स्वीकार कर लिया।

पाणिनि दुर्व्यनवश मरकर सर्प हुए। एक बार उसने पूज्यवादको देखकर फूटकार किया, इसपर पूज्य-पादने कहा, विश्वास रखो, मैं तुम्हारे व्याकरणको पूरा कर दूँगा। इसके बाद उन्होंने पाणिनि व्याकरणको पूरा कर दिया।

इसके पहले वे जैनेन्द्र व्याकरण, अर्हत्प्रतिष्ठाालक्षण और वैयक ज्योतिष आदिके कई ग्रन्थ रच चुके थे ।

गुणभङ्ग के मर जानेसे नागार्जुन अतिशय दग्गिरी हो गया । पूज्यपादने उसे पद्मावतीका एक मन्त्र दिया और सिद्ध करनेकी विधि भी बतला दी । उसके प्रभावसे पद्मावतीने नागार्जुनके निकट प्रकट होकर उसे सिद्ध-रसकी वनस्पति बतला दी ।

इस सिद्ध-रससे नागार्जुन सोना बनाने लगा। उसके गर्वका परिहार करनेके लिए पूज्यपादने एक मामूली वनस्पतिसे कई घड़े सिद्ध-रस बना दिया। नागार्जुन जब पर्वतोंको सुवर्णमय बनाने लगा, तब धरमोन्ध-पद्मावतीने उसे रोका और जिनालय बनानेको कहा। तदनुसार उसने एक जिनालय बनवाया और पार्श्वनाथकी प्रतिमा स्थापित की।

पृथ्वपाद पैरोमे गगनगामी लेप लगाकर विदेहक्षेत्रको जाया करते थे । उस समय उनके शिष्य वज्रनन्दिने अपने साथियोंसे भगड़ा करके द्राविड़ संघकी स्थापना की ।

नागार्जुन अनेक मन्त्र तन्त्र तथा रमादि सिद्ध करके बहुत ही प्रसिद्ध हो गया । एक बार दो मुन्दरी स्त्रियाँ आईं जो गाने नाचनेमें कुशल थीं । नागार्जुन उनपर मोहित हो गया । वे वहीं रहने लगीं और कुछ समय बाद ही उसकी रसगटिका लेकर चली गयी ।

पूज्यपाद मुनि बहुत समयतक योगाभ्यास करते रहे। फिर एक देव-विमानमें बैठकर उन्होंने अनेक तीर्थोंकी यात्रा की। मार्गमें एक जगह उनकी दृष्टि नष्ट हो गई थी, सो उन्होंने एक शान्त्यष्टक बना कर ज्योंनी त्यों कर ली। इसके बाद उन्होंने अपने ग्राममें आकर समाधिपूर्वक मरण किया।

इस चरितपर कोई टीका टिप्पणी करना व्यर्थ है। इस तरहके न जाने कितने मनगढ़न्त और ऊलजगुल किस्से हमारे यहाँ इतिहासके नामसे चल रहे हैं।

परिशिष्ट २

## हेच्यूरका दानपत्र

श्रीमन्माधवमहाधिराज, तस्य पुत्र अविच्छिन्नाश्वमेवावभृशभिपिन्ः श्रीमददभ्यङ्गलगनगन्धि-  
मालिनः श्रीमत्कृष्णवर्ममहागजस्य प्रियभागिनेयः जननदेवतादुष्यङ्ग एवाप्रिगनराज्य विद्वत्प्रियाग्रनविज-  
पोपलभूतः अस्तम्भ्रावनमितममन्तमामन्तमण्डनः अविनीतनामा श्रीमद्रोहगिमताराजः तस्य पुत्र पुष्पादगा-  
प्रियपुत्रिकापुत्रः विजृम्भणाक्षकित्रयोपनमितममन्तमामन्तमण्डनः अन्दर्यालनः रूपौलररेपेनरागक्षनेरुमम-

मुखमखुतप्रधानपुरुषपशुपहारः विषसविहस्तीकृतकृतान्ताभिमुखः शब्दावतारकारः देवभारतीनियद्वयहन्त्र्य-  
किराताकुनीयपञ्चदशसर्गटीकाकारः दुर्निनीतनामा..... —४सूर एण्ड कुर्ग गैजेटियर, प्रथम पृ० ३७२

## परिशिष्ट ३

### [भगवद्वाग्वदिनीका विशेष परिचय]

इसके प्रारम्भमें पहले 'लक्ष्मीरात्यन्तिकी यस्य' आदि प्रसिद्ध मंगलाचरणका श्लोक लिखा गया था। परन्तु पीछेसे उसपर हस्ताल फेर दी गई है और उसकी जगह यह श्लोक और उत्थानिका लिख दी गई है—

ओ नमः पार्श्वाय

त्वरितमहिमदूतामंत्रितेनादभुतात्मा, विषममपि सघोना पृच्छता शब्दशास्त्रम् ।

भुतमदरिपुरासीद् चादिवृन्दाप्रणीनां परमपदपटुर्यः स ध्रिये वीरदेवः ॥

छाष्टवर्षिकोऽपि तथाविधभक्ताभ्यर्थनाप्रणुलः स भगवानिदं प्राह—सिद्धिरनेकान्तात् । १-१-१ ।

इसके बाद सूत्रपाठ शुरू हो गया है। पहले पत्रके ऊपर मार्जिनमें एक टिप्पणी इस प्रकार दी है जिसमें पाणिनि आदि व्याकरणोंको अप्रामाणिक ठहराया है—

“प्रमाणवद्व्यासमुपेक्षणीयानि पाणिन्यादिप्रणीतसूत्राणि स्यात्कारवादित्रदूरत्वात्परिभाषकादिभाषितवत् अप्रामाणानि च कपोलकल्पनामलिनानि हीनमातृकत्वात्तद्वदेव ।”

इसके बाद प्रत्येक पाठके अन्तमें और आदिमें इस प्रकार लिखा है जिससे इस सूत्र-पाठके भगवत्प्रणीत होनेमें कोई सन्देह बाकी न रह जाय—

“इति भगवद्वाग्वदिन्यां प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः । ओ नमः पार्श्वाय । स भगवानिदं प्राह ।”

सर्वत्र 'नमः पार्श्वाय' लिखना भी हेतुपूर्वक है। जब ग्रन्थकर्ता स्वयं महावीर भगवान् हैं तब उनके ग्रन्थमें उनसे पहलेके तीर्थंकर पार्श्वनाथको ही नमस्कार किया जा सकता है। देखिए, कितनी दूरतक विचार किया गया है !

आगे अध्याय २ पाठ २ के 'सह्वहचल्यपतेरिः' [६४] सूत्र पर निम्न प्रकार टिप्पणी दी है और सिद्ध किया है कि यदि यह व्याकरण भगवत्कृत न हो तो फिर सिद्धहैमके अमुक सूत्रकी उपपत्ति नहीं बैठ सकती—

“इदं शब्दानुशासनं भगवत्कर्तृकमेव भवति । 'सह्वहचल्यपतेरिर्धाजकसूत्रज्ञमेः कीलिट् चवत्-डौ सातहिवावाहवाचलिपापति, सखिचाक्रिदधिधन्निनेर्माति सिद्धहैमसूत्रस्यान्यथानुपपत्तेः । शर्ववर्मपाणिन्योस्तु आट्टणोपधालोपि किट्च १, आष्टगमहनजनः किन्तौ लिट् चेति २ ।”

इसके बाद ३-२-२२ सूत्रपर इस प्रकार टिप्पणी दी है—

“कथं न ह्यच प्राग्भरतेष्वादि चेन्नादिनयापि शिक्षाविशेषाः ।

कुमारशब्दः प्राच्यानामारिवनं मासमूचिवान् ।

मैथुन तु भिषक्तत्रे वाचकं मधुसर्पिणः ॥

इयापन्यथानुपपत्तेरिति बौटिकतिमिरोपलक्षणम् ।”

इसके बाद ३-४-४२ सूत्र [स्तेयार्हत्वम्] पर फिर एक टिप्पणी दी है—

“इदं शब्दानुशासनं भगवत्कर्तृकमेव भवति । अर्हतस्तोन्त च १, सहाद्वा २, सखिवणिग्दूताद्य-  
३, स्तेयार्हत्वं ४, ति सिद्धहैमसूत्रान्यथानुपपत्तेः । पाणिन्यादौ त्वाहंत्वशब्दं प्रति सूत्राभावात् । कथं सरस्वतीकान्तरये तदासिः । ऐन्द्रानुसारादहंशब्दयश्चेति पश्य ।

फिर ३-४-४० सूत्र [रात्रेः प्रनाचन्द्रस्य] पर एक टिप्पणी है। इसमें बौटिकों या दिगम्बरियोंका उल्लेख किया गया है—

“इदं शब्दानुशासनं भगवत्कर्तृकमेव भवति । रात्रेः प्रभाचन्द्रस्य सूत्रस्य प्रक्षेपता स्फुटत्वात् । अतो वौटिकतिमिरोपलक्षणे—

देवनन्दिमतां मोहः प्रक्षेपरजमोऽपि चेत् ।

चिराय भवता रात्रेः प्रभाचन्द्रस्य जीव्यताम् ॥

पञ्चोत्तरः कः स्वचानासीः प्रभेन्दोः नग्न यस्य यः [१] ।

विस्मयो रमयेः शिष्या स तं चेदुदेवनन्दिनम् ॥ इति ।

विक्रमादनुसूयागच्छे ४०६ देवनन्दी, ततो गुणनन्दि-वृत्तमारनन्दि-लोकचन्द्रानन्तरं मुनिरैयुगाच्छे प्रथम-प्रभाचन्द्र इति वौटिके ।”

इसी तरह ४-३-७ [वेत्तेः सिद्धसेनस्य] सूत्रपर लिखा है—

“वेत्तेः सिद्धसेनस्य, चतुष्टयं समन्तभद्रस्य प्रक्षेपेऽर्वाच्यता स्फुटत्वात्, रात्रेः प्रभाचन्द्रस्य वदिति वौटिकतिमिरोपलक्षणे ।”

अन्तर्मे ५-४-६५ [गृह्योमि] सूत्रपर एक टिप्पणी दी है जिसमें पाणिनि आदि वैयाकरणोंकी अमर्ष-जता सिद्ध की गई है—

“प्रयोगाशातना माभूदनादिसिद्धा हि प्रयोगाः । ज्ञानिना तु केवलं ते प्रकाश्यन्ते न तु क्रियन्ते इति । अतएव शब्दोदीति पाणिनीयसूत्रं वर्गप्रथमेभ्यः शकारः स्वरयवरपरः शकादृशकारं नवेति शर्ववर्मकर्तृ-ककालापकसूत्रानुसारि । अत एव पाणिन्यादयोऽसर्वज्ञा इति सिद्धम् । अतएव तेन तत्त्वत आप्तत्वाभाव इति सिद्धिः । नन्वभ्यः प्रभूर्तानिसूत्रे निर्जरसैर्मुल्या यदि युक्तिस्ते मस्करिणैव भवत्कृतमास्ते न तु सारस्वत-वादेव्या । गृह्योदिप्रमुखैः सूत्रैस्तच्छ्रुप्रभृतिपदादर्शा कालापकाद्युपजीवी पाणिनिरजिनत्वं प्रति नाव्यक्तम् ।”

जहाँ सूत्रपाठ समाप्त होता है, वहाँ लिखा हैः—

इत्यारयद्भगवानर्हन्श्रुत्वेन्द्रस्तु मुदं वहन् ।

वादिववत्राजचन्द्रः स्वमदिराभिमुखोऽभवत् ॥

आगे ग्रन्थ-प्रशस्ति देखिए—

“श्रीं नमः सकलकलाकौशलपेशलशीलगालिने पार्श्वाय पार्श्वपादश्वाय । स्वस्ति तत्प्रवचनसुधाम-मुद्रलहरीस्नायिभ्यो महामुनिभ्यः । परिममाप्तं च जैनेन्द्र नाम महाव्याकरणम् । तदिदं श्रीवीरप्रभुर्मन्त्रोने पृच्छते प्रकाशयांचकार । मपादलक्षव्याख्यानकपरमतमदाधकारापहारपरममिति । नमः श्रीमच्चरमपरमेश्वर-पादप्रसादविशदस्याद्वादनयममुपासनगुणक्रीडिमक्रीडिकगणाविर्भूतचिद्विभूतिविमलचन्द्रचान्द्रकुलविपुलवृहत्त-पोनिगमनिर्गतनागपुरीयस्वच्छगच्छसमुत्थमुत्पविपादर्वचन्द्रशास्त्रासुत्पाकृतसुकृतसुकृतिवररामेन्दूपायायचारचर-णारविन्दरजोराजीमधुक्गनुक्करवाचकपदवीपवित्रिताक्षयचन्द्रचरणेभ्यः समुधी रत्नचन्द्रम् । श्रीवीरगत २२६७ विक्रमनृपात्तु सं० १७६७ फाल्गुनमित्तत्रयोदशी भौमे तक्षकायपुरस्थेन रत्नपिण्डा दर्शनपात्रिन्याय लिखित चिरं नंदात् ।”

ग्रन्थके पहले पत्रकी खाली पीठपर भी कुछ टिप्पणियाँ हैं और उनमें अविनाश वे ही हैं जो ऊपर दी जा चुकी हैं । वे इस प्रकार हैं—

श्री नमः पार्श्वाय

जैनेन्द्रमैत्रत मिदं हेमनो जयहेमवत् । प्रकृतन्यतर्गदगन्वाचान्यनामेनुमर्हति ॥ कथम् ।

इन्द्रध्वज वागवृन्नापिशनीशाकटायना । पाणिन्यमर्गजैनेन्द्रा जययष्टी हि शाब्दिका ॥

इति ( ? ) चतुर्थी नदितानुपलक्षणम् ।

१ यह ‘वौटिकमतिमिरोपलक्षण’ नामका कोट्टं ग्रन्थ है और संभवत वाग्यादिनामि रत्नांका ही बनाया हुआ है ।

यदिद्राय जिनेन्द्रेण कौमारेऽपि निरूपितं । ऐंद्रं जैनेन्द्रमिति तत्प्राहुः शब्दानुशासनं ॥  
यदावश्यकनिर्युक्तिः—

‘ग्रहं तं अम्मापिअरो जाणित्ता अहियअट्ठवासं तु ।

कयकोउअलंकारं लेहायरिअस्स उवणिति ॥

सवो अ तस्समवक भयवंतं आसणे निवेसित्ता ।

सहस्य लक्खणं पुच्छे वागरणं भवयवा इदं ॥ इति ॥

तदवयवा केचन उपाध्यायेन गृहीताः । ततश्चैन्द्रं व्याकरणं संजातमिति हरिभद्रः ॥

यत्तु देवनदिबौटिकं पूज्यपाद

इतीच्छंतस्तद्गुरुकाः पूज्यपादस्य लक्षणं ।

द्विसंधानकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ।

इति धनंजयकोपात्तद्युक्तं । नेति चेत्कथं जैनेन्द्रमिति । द्वादशस्वरमध्यमिति चेन्न इतरोपपदस्याभावात् । जैनकुमारसम्भववदगतिरिति चेन्न । कुमारवदिंद्रं प्रति श्लेषाभावात् थारीतिकततद्वितभावाच्च तर्हि

लक्ष्मीरात्यतिकी यस्य निरवधावभासते । देवनंदितपूजेशे नमस्तस्मै स्वयंभुवे ॥

का गतिरिति चेत् ।

लक्ष्मीरात्यतिकीपद्यनुपज्ञेऽस्य कितरां । ऐंद्रत्वयजि तत्त्वार्थं मोक्षमार्गस्य पद्यैवत् ॥

मिन्नादयश्चेत्यथमं यदि हैमत्वपेक्षयते ।

कालापकादि न तथा षट्चैन्द्रं महते कृतिः ॥

पूर्वत्र । मिप् दस् मस् १ सिप् धस् थ २ तिप् तस् भि ३ इड् वहि महि १ थस् आथां ध्वं २ त आताम् भड् ३ इति ।

आख्यातरीति प्रति देवराजे मिव्वस्मसो यः पितः रादितोदाः ।

जीवं प्रपत्ताहममात्थ विश्वे तत्त्वादिमं स्वां कतिमात्मनौथं ॥

तर्हि निदसेनादिविशेषोऽपि दुर्निवार इति चेन्न

जातामात्रोपि चिद्दीर्यं प्रत्यात्मशरणोऽसि यः ।

जनताका वराकीर्यं परात्मन् वीर तत्पुर ॥

इति बौटिकमतमिमिरोपलक्षणस्य तुर्येऽवकाशे इन्द्रजिनेन्द्रौ प्रत्युत्तरिणौ यदतोऽदोतद्विततस्त्वमसि-  
मिदित् टोरेयमद्रैद्र जैनेन्द्रं व्याकरणानां । सिद्धिमनेकांतादिच्छो अः × क × पाहं त्यतथारीते हैमागीकृत-  
वर्मन्प्रक्षेपार्यविजेयचिरर्जाया इति प्रसन्नचन्द्रोत्पले [?]

१ इसके स्थाने ४-३-७ सूत्रकी टिप्पणी जैसा ही लिखा है और फिर ३-४-४० सूत्रकी टिप्पणीके 'देवनन्दिमतां' आदि ही श्लोक दिये हैं ।

२ इसके स्थाने ५-४-६५ सूत्रकी टिप्पणी दी है ।

शीर्ण हो जायें। ईंट पत्थरोंसे बने भौतिक कृतियोंको बचाने अथवा उनके उद्धारकी चिन्ताकी अपेक्षा इन सांस्कृतिक और बौद्धिक कृतियोंका बचाना, उनका उद्धार करना परम आवश्यक है। जो विद्वान् महानुभाव, धनी मानी श्रेष्ठीवर्ग तथा सस्थाएँ इस कार्यमें लगी हुई हैं वे देश, जाति तथा धर्मकी वास्तविक सेवा कर रही हैं। देशके स्वतन्त्र हो जाने पर युगयुग उपार्जित प्राचीन वाङ्मयकी रक्षाका भार मुख्यतया राज्यको ही वहन करना चाहिए, परन्तु सम्प्रति हमारे नेता इस ओर उदासीन हैं।

### उपलब्ध जैन व्याकरण

जैन आचार्यों-द्वारा लिखे गये ६, ७ व्याकरण इस समय उपलब्ध हैं। उनमेंसे केवल तीन व्याकरण प्रमुख हैं—जैनेन्द्र, शाकटायन और सिद्धहैम। इनमें आचार्य देवनन्दी, अपर नाम पूज्यपाद, इतर नाम जिनेन्द्रबुद्धि द्वारा प्रोक्त जैनेन्द्र व्याकरण सबसे प्राचीन है।

इन प्रमुख तीन व्याकरणोंके ग्रन्थ भी अभी तक पूरे प्रकाशित नहीं हुए। सबसे अधिक हैम व्याकरणके ग्रन्थ प्रकाशमें आये हैं<sup>१</sup>। शाकटायन व्याकरण केवल चिन्तामणि नामक लघुवृत्ति सहित प्रकाशित हुआ है [परिशिष्टमें मूल गणपाठ, लिङ्गानुशासन तथा धातुपाठ भी छुपे हैं]। सूत्रकारकी स्वोपज्ञ अमोघ महावृत्ति अभी तक लिखित रूपमें ही क्वचित् उपलब्ध होती है<sup>२</sup>। जैनेन्द्र व्याकरण भी तृतीय अव्यायके द्वितीय पादके ६० वें सूत्र तक अभयनन्दी विरचित महावृत्ति सहित कुछ वर्ष पूर्व लाजरस कम्पनी काशीसे प्रकाशित हुआ था [अब वह भी दुर्लभ है]। यह प्रथम अवसर है कि भारतीय ज्ञानपीठ काशीने इस भारी कमीको पूर्ण करनेका बीड़ा उठाया और वह उसे अभयनन्दीकी महावृत्ति सहित प्रकाशित कर रहा है।

### जैनेन्द्रसे प्राचीन व्याकरण

आचार्य पूज्यपादने अपने शब्दानुशासनमें निम्न ६ पूर्ववर्ती आचार्योंका उल्लेख किया है—

१—गुरे श्रीदत्तस्यास्त्रियाम् [ १।४।३४ ]

२—कृतृपिमृजा यशोभद्रस्य [ २।१।२६ ]

३—राद् भूतयलेः [ ३।४।८३ ]

४—रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य [ ४।३।१८० ]

५—वेत्ते सिद्धसेनस्य [ ५।१।७ ]

६—चतुष्टय समन्तभद्रस्य [ ५।४।१४० ]

इन छ आचार्योंमेंसे किसीका भी ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है। अनेक विद्वानोंको इन आचार्योंके व्याकरण-शास्त्र-प्रवक्तृत्वमें भी सन्देह है। जैसा कि जैन इतिहास-विशेषज्ञ श्री ५० नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'जैन साहित्य और इतिहास' [ पृष्ठ १२० ] में लिखा था—

“इन छ आचार्योंमेंसे किसीका भी कोई व्याकरण ग्रन्थ नहीं है। परन्तु जान पड़ता है इनके अन्य ग्रन्थोंमें कुछ भिन्न तरहके शब्द प्रयोग किये गये होंगे और उन्हींको व्याकरण मित्र करनेके लिए ये सप्त सूत्र रचे गये हैं<sup>३</sup>।”

१ सम्प्रति हैम व्याकरणकी केवल लघुवृत्ति सुप्राप्य है, अन्य सभी मुद्रित ग्रन्थ दुःप्राप्य हो गये। इनका पुनर्मुद्रण अन्यन्त आवश्यक है।

२ यह महावृत्ति भी श्रीश्री ही भारतीय ज्ञानपीठ काशीमें ही प्रकाशित होगी।

३ यद्यपि माननीय प्रेमीजीने इस विचारकी निम्नगताको समझकर अपने ग्रन्थके द्वितीय सम्प्रकरणमें उक्त शश निकाल दिया, पुनरपि निनी ऐसी धारणा अभी भी है उनके विचारोंके प्रतिनिधित्व रूपमें उक्त पट्टि नहीं उद्धृत की है।

प० फूलचन्द्र सि० शा० ने भी सर्वार्थसिद्धि की भूमिकामे लगभग इसी मतका प्रतिपादन किया है।

पाणिनीय व्याकरणमे स्मृत शाकल्य आपिशलि शाकटायन आदि १० प्राचीन शाब्दिकोंके विषयमे भी अनेक विद्वानोंकी ऐसी ही धारणा है।

हमारे विचारमे इस प्रकारकी धारणाओंका मूलकारण भारतीय प्राचीन ग्रन्थों और ग्रन्थकारोंके विषयमे पाश्चात्य विद्वानोंद्वारा समुत्पादित अविश्वासकी भावना और अनर्गल कल्पनाएँ ही हैं।

हम अपने 'संस्कृत व्याकरण-शास्त्रका इतिहास' ग्रन्थमे पाणिनिमे पूर्ववर्ती आपिशलि काशकृत्स्न और भागुरि आदि अनेक शाब्दिक आचार्योंके सूत्र, धातु और गणके वचन उद्धृत करके सिद्ध कर चुके हैं कि पाणिनिसे प्राचीन आचार्योंके भी पाणिनिके समान ही सर्वांगपूर्ण व्याकरण थे। अब तो काशकृत्स्न व्याकरणका समग्र धातुपाठ चन्वीर कवि कृत कन्नड टीकासहित प्रकाशमे आ गया है। उसमे काशकृत्स्न शब्दानुशासनके लगभग १४० सूत्र भी उपलब्ध हो गये हैं। ये [ धातुपाठ तथा सूत्र ] न केवल उनके सर्वाङ्गपूर्ण होनेके, अपितु पाणिनीय व्याकरणसे अधिक विस्तृत होनेके भी प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

इसी प्रकार आचार्य पूज्यपादके शब्दानुशासनमे उद्धृत प्राचीन वैयाकरणोंके विषयमे भी हमारी यही धारणा है कि उन आचार्योंने भी अपने-अपने शब्दानुशासन रचे थे। उन्हींके शब्दानुशासनसे आचार्य पूज्यपादने उनके मतोंका संग्रह किया। इसके विपरीत कल्पना करना पूज्यपाद जैसे प्रामाणिक आचार्यको मिथ्यावादी कहना है [ आः शान्तं पापम् ]। जब हमने पाणिनिसे पूर्ववर्ती अनेक शाब्दिक आचार्योंके बहुतसे वचन प्राचीन ग्रन्थोमे ढूँढ लिये, यहाँ तक कि आज शब्दतन्त्र-प्रणेता इन्द्रके भी 'अथ वर्णसमूहः', 'अर्थः पदम्' दो सूत्र उपलब्ध कर लिये, ऐसी अवस्थामे हमें पूर्ण निश्चय है कि यदि जैन वाङ्मयका सावधानता पूर्वक अवगाहन किया जाय तो इन आचार्योंके शब्दानुशासनोके सूत्र भी अवश्य उपलब्ध हो जायेंगे।

आचार्य सिद्धसेनका व्याकरण-प्रवक्तृत्व—आचार्य सिद्धसेनके व्याकरणविषयक मतका उल्लेख आचार्य पूज्यपादने तो किया ही है; उसके अतिरिक्त भी अनेक ऐसे प्रमाण उपलब्ध होते हैं जिनसे उनके व्याकरण प्रवक्ता होने की पुष्टि होती है। यथा—

१. सर्वार्थसिद्धि प्रस्तावना पृ० ५१।

२. देखो 'संस्कृत व्याकरण शास्त्रका इतिहास' के तत्त्व प्रकरण।

३. श्री डा० वासुदेवशरणजी अग्रवालने "पाणिनि कालीन भारतवर्ष [ हिन्दी संस्करण ] पृष्ठ ५ प० २२, २३ पर पाणिनिपूर्ववर्ती व्याकरणोंको बिना किसी प्रमाणके एकाङ्गी लिखा है। पृष्ठ २६ पं० ६ पर गणपाठकी सामग्रीको पाणिनिकी मौलिक देन बताया है। परन्तु पृष्ठ ३१ पं० १६, १६ में भर्तृहरिके प्रमाणसे पाणिनि-पूर्ववर्ती आपिशलिके गणपाठकी सत्ता भी स्वीकार की है। डा० कीलहार्नका भर्तृहरि कृत महाभाष्य टीका सचधी लेख हमें सुलभ नहीं हुआ। अतः नहीं कह सकते कि उसमें आपिशल गणपाठका उल्लेख था वा नहीं। परन्तु हमने अपनी भर्तृहरिकृत महाभाष्य टीकाकी प्रतिलिपिके आधारसे 'सं० व्या० भाष्यका इतिहास' पृष्ठ १०२ पर आपिशल गणपाठका उल्लेख किया है। तथा इसी ग्रन्थके पृष्ठ २७४-२७८ पर महाभाष्यटीकाके इतिहासोपयोगी सभी वचन एकत्रित कर दिये हैं।

४. इन सूत्रोंका प्रकाशन हम शीघ्र ही कर रहे हैं।

५. सं० व्या० भा० का इतिहास पृष्ठ ६२। महाभाष्य मराठी अनुवाद प्रस्तावना खण्ड [ भाग ७, सन् १९५४ ] पृष्ठ १०१, १२६ पर श्री प० कर्जानाथ अभ्यङ्गरजीने हमारे द्वारा प्रथमतः [ सन् १९५१ ] प्रवर्तित दोनों सूत्रोंका उल्लेख किया है। दूसरे सूत्रका पाठ भी हमारे द्वारा परिष्कृत ही स्वीकार किया है। लेखने अन्वय भी हमारे ग्रन्थके पर्याप्त दुर्लभ सामग्री स्वीकार की है, परन्तु हमारे ग्रन्थका कहीं निर्देश नहीं दिया।



१. अभयनन्दी जैनेन्द्र १।४।१६ की वृत्तिमें एक उदाहरण देता है—‘उपसिद्धसेनं वैयाकरणाः’ अर्थात् सत्र वैयाकरण सिद्धसेनसे हीन है ।

इस उदाहरणसे स्पष्ट है कि अभयनन्दी आचार्य सिद्धसेनको न केवल वैयाकरण ही मानता है, अपितु उस कालतक प्रसिद्ध वैयाकरणोंमें उसे सर्वश्रेष्ठ कहता है ।

### जैनेन्द्र व्याकरण

आचार्य पूज्यपाद अपर नाम देवनन्दीने जिस शब्दानुशासनका प्रवचन किया वह लोकमें जैनेन्द्र-नामसे विख्यात है ।

इस शब्दानुशासनका जैनेन्द्र नाम क्यों पड़ा, आचार्य पूज्यपादका काल कौन सा है, जैनेन्द्र व्याकरण का मूल सूत्रपाठ कौन सा है, इसपर कितने व्याख्या ग्रन्थ लिखे गये और आचार्य पूज्यपादने जैनेन्द्र व्याकरणके अतिरिक्त और कितने ग्रन्थ लिखे इत्यादि विषयोंपर हम यहाँ विशेष चर्चा नहीं करेंगे, क्योंकि इन विषयोंपर माननीय श्री प० नाथूरामजी प्रेमीने अपने ‘जैन साहित्य और इतिहास’ ग्रन्थमें विस्तारसे लिखा है [ यही अश पुनः परिष्कृत करके इस ग्रन्थके आदिमें पृष्ठ १७-२७ तक छपा है ] । पश्चात् हमने भी अपने ‘संस्कृत व्याकरण शालका इतिहास’ ग्रन्थमें विस्तारसे विवेचना की है [ हमने श्री प्रेमीजीके ग्रन्थसे पर्याप्त सामग्री ली है ] । इसलिए हम यहाँ केवल उतना ही अश लिखेंगे, जो उक्त दोनों लेखोंके पश्चात् परिज्ञात हुआ है ।

**जैनेन्द्र नामका कारण**—इस शब्दानुशासनको सर्वत्र जैनेन्द्र नामसे स्मरण किया है । इसके नाम करणके सम्बन्धमें श्री प्रेमीजीने जैनग्रन्थोंसे जो कथाएँ उद्धृत की हैं, वे प्रायः ऐतिहासिक तत्त्वरहित हैं । श्री प्रेमीजी भी उक्त कथाओंसे सन्तुष्ट नहीं हैं । हमारे विचारमें इस नामकरणका निम्न कारण है—

आचार्य देवनन्दीका एक नाम जिनन्दबुद्धि भी था जैसा कि श्रवणवेलगोलके ४० वे शिलालेखमें लिखा है—

यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनन्दबुद्धिः ॥२॥

श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुग यदीयम् ॥३॥

अर्थात्—आचार्यका प्रथम नाम देवनन्दी था, बुद्धिकी महत्ताके कारण वह जिनन्दबुद्धि कहलाये और देवोंने उनके चरणोंकी पूजा की, इस कारण उनका नाम पूज्यपाद हुआ ।

जिस प्रकार ‘पदेपु पदैकदेशान्’ नियम अथवा ‘विनापि निमित्तं पूर्वोत्तरपदयोर्वा स वक्तव्यम्’ [४।१।१३६] वार्तिकके अनुसार प्राचीन ग्रन्थकार देवं अथवा नन्दी<sup>१</sup> नामसे देवनन्दीको स्मरण करते हैं, उसी प्रकार जिनन्द एक देश भी जिनन्दबुद्धि अपरनाम देवनन्दीका वाचक है । अतः ‘जैनेन्द्र’ की व्युत्पत्ति होगी—जिनन्द्रेण प्रोक्तं जैनेन्द्रम् । अर्थात् जिनन्द = जिनन्दबुद्धि = देवनन्दी द्वारा प्रोक्त व्याकरण ।

**आचार्य देवनन्दीका काल और उसका निश्चायक नूतन प्रमाण**—आचार्य देवनन्दीके कालके विषयमें ऐतिहासिकोंका परस्पर वैमत्य है । यथा—

१—कीथ अपने ‘हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर’ में लिखता है—

The जैनेन्द्र व्याकरण ascribed to the Jinendia ically written by पूज्यपाद देवनन्दी perhaps was Composed C. 678. P. 432.

१ देखो पृष्ठ ३२३-३२८ तथा ४०१-४३१ ।

२ जिनसेन तथा वादिराज मूरि ‘देव’ नामसे स्मरण करते हैं । देवो श्री प्रेमीजीका लेख, यही ग्रन्थ, पृष्ठ १६, टि० ३,४ ।

३ इसके उत्तरण आगे लिङ्गानुशासनके प्रक्रममें देंगे ।

अर्थात्—जैनेन्द्र व्याकरण सन् ६७८ [=७३५ वि०] के समीप लिखा गया।

२—श्री प्रेमीजीने अनेक प्रमाण उपस्थित करके देवन्दीका काल सामान्यतया विक्रमकी पष्ठ शताब्दी निश्चित किया है। [देखो इसी ग्रन्थके साथ मुद्रित उनका लेल]।

३—श्री आई० एस० पवतेने अपने 'स्टू कचर आफ दी अष्टाध्यायी' में लिखा है—

'महामहोपाध्याय नरसिहाचार्यने कर्णाटक कवि चरितके प्रथम भागके प्रथम संस्करणमें पूज्यपादकी ईस्वी सन् ४७० [=५२७ वि०] में बताया है और दूसरे संस्करणमें सन् ६०० [=६५७ वि०] का। परन्तु मुझे २१।२।१९२३ को लिखे एक पत्रमें लिखा है कि पूज्यपाद ४५० ई० [=५०७ वि०] के आसपास है'।

४—हमने अपने व्याकरण शास्त्रके इतिहासमें श्री प्रेमीजी द्वारा उद्धृत प्रमाणोंके आधारपर आचार्य पूज्यपादका काल विक्रमकी पष्ठ शताब्दीका पूर्वार्द्ध माना था। अब हम उसे ठीक नहीं समझते।

विक्रमकी पष्ठ शताब्दीसे पूर्व—अब हमें जो नूतन प्रमाण उपलब्ध हुआ है, उसके अनुसार आचार्य पूज्यपाद विक्रमकी पष्ठ शताब्दीसे पूर्ववर्ती है, यह निश्चित होता है।

कात्यायनने एक विशिष्ट प्रकारके प्रयोगके लिए नियम बनाया है—परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शन-विषये [महा० ३।२।११]। अर्थात्—ऐसी घटना जो लोकविज्ञात हो, प्रयोक्ताने उसे न देखा हो, परन्तु प्रयोक्ताके दर्शनका विषय सम्भव हो [अर्थात् वह घटना प्रयोक्ताके जीवन-कालमें घटी हो] उस घटनाको कहनेके लिए भूतकालमें लङ् प्रत्यय होता है।

पतञ्जलिने महाभाष्यमें इस वार्तिकपर उदाहरण दिये हैं—अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्। वार्तिकके नियमानुसार साकेत[=अयोध्या] और माध्यमिका [=चिचौड़ समीपवर्ती नगरी ग्राम] पर वह लोकप्रसिद्ध आक्रमण पतञ्जलिके जीवनकालमें हुआ था। प्रायः सभी ऐतिहासिक इस विषयमें सहमत हैं।

इसी प्रकारका नियम पाणिनिसे उत्तरवर्ती प्रायः सभी व्याकरण-ग्रन्थोंमें उपलब्ध होता है और उसका उदाहरण देते हुए ग्रन्थकार प्राचीन उदाहरणोंके साथ साथ स्वसमकालिक किन्हीं महती घटनाओंका भी प्रायः निर्देश करते हैं। यथा—

अजयद् जतों हूणान्। चान्द्रै

अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्। जैनेन्द्र० [२।२।६२]

अदहद्मोघवर्षोऽरातीन्। शाकटायन [४।३।२०८]

अरणत् सिद्धराजोऽवन्तिम्। हैम० [५।२।८]

इनमें अन्तिम दो उदाहरण सर्वथा स्पष्ट हैं। आचार्य पाल्यकीर्ति [शाकटायन] महाराज अमोघवर्ष और आचार्य हैमचन्द्र महाराज सिद्धराजके कालमें विद्यमान थे। इसमें किसीको विप्रतिपत्ति नहीं। परन्तु चान्द्रके जत और जैनेन्द्रके महेन्द्र नामक व्यक्तिको इतिहासमें प्रत्यक्ष न पाकर पाश्चात्य मतानुयायी विद्वानोंने जतको गुप्त और महेन्द्रको मेनेन्द्र-मिनण्टर बनाकर अनर्गल कल्पनाएँ की हैं। इस प्रकारकी कल्पनाओंसे इतिहास नष्ट हो जाता है। हमारे विचारमें जैनेन्द्रका 'अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्' पाठ सर्वथा ठीक है, उसमें विद्वन्मत्त नास्तिकी सम्भावना नहीं है। आचार्य पूज्यपादके कालकी यह ऐतिहासिक घटना इतिहासमें सुस्थित है।

१. देवो, स्टू कचर आफ दी अष्टाध्यायी, भूमिका, पृष्ठ १३।

२. यद्यपि ये उदाहरण जमना, धर्मदाम तथा अभयनन्दीकी वृत्तिसे दिये हैं, परन्तु इन वृत्तिकारोंने ये उदाहरण चन्द्र और पूज्यपादकी स्तोत्र वृत्तिसे लिये हैं।

महेन्द्र और उसका मथुरा-विजय—जैनेन्द्रमे स्मृत महेन्द्र गुप्तवशीय कुमारगुप्त है। इसका पूरा नाम महेन्द्रकुमार है। जैनेन्द्रके 'विनापि निमित्त पूर्वोत्तरपद्योर्वा खं वक्तव्यम्' [४।१।१३६] वार्तिक अथवा 'पदेषु पदैकदेशान्' नियमके अनुसार उसीको महेन्द्र अथवा कुमार कहते थे। उनके सिक्रोपर श्री महेन्द्र, महेन्द्रसिंह, महेन्द्रवर्मा, महेन्द्रकुमार आदि कई नाम उपलब्ध होते हैं।<sup>१</sup>

तिव्वतीय ग्रन्थ चन्द्रगर्भ सूत्रमे लिखा है—“यवनों पल्लिको शकुनो [कुशनो] ने मिलकर तीन लाख सेनासे महेन्द्रके राज्यपर आक्रमण किया। गङ्गाके उत्तरप्रदेश जीत लिये। महेन्द्रसेनके युवा कुमारने दो लाख सेना लेकर उनपर आक्रमण किया और विजय प्राप्त की। लौटनेपर पिताने उसका अभिषेक कर दिया।”<sup>२</sup>

चन्द्रगर्भ सूत्रका महेन्द्र निश्चय ही महाराज कुमारगुप्त है और उसका युवराज स्कन्दगुप्त। मञ्जु श्री मूलकल्प श्लोक ६४६ मे श्री महेन्द्र और उसके सकारादि पुत्र [स्कन्दगुप्त] को स्मरण किया है।<sup>३</sup>

चन्द्रगर्भ-सूत्रमे लिखित घटनाकी जैनेन्द्रके उदाहरणमे उल्लिखित घटनाके साथ तुलना करनेपर स्पष्ट हो जाता है कि जैनेन्द्रके उदाहरणमे इसी महत्त्वपूर्ण घटनाका संकेत है। उक्त उदाहरणसे यह भी विदित होता है कि विदेशी आक्रान्ताओंने गङ्गाके आस पासका प्रदेश जीतकर मथुराको अपना केन्द्र बनाया था। इस कारण महेन्द्रकी सेनाने मथुराका ही घेरा डाला था।

महाभाष्य, शाक्ययन तथा सिद्ध हैम व्याकरणोंमे निर्दिष्ट उदाहरणोंके प्रकाशमे यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य पूज्यपाद गुप्तवशीय महाराजाविराज कुमारगुप्त अपर नाम महेन्द्र कुमारके समकालिक हैं। पाश्चात्यमतानुसार कुमारगुप्तका काल वि० स० ४७०-५१२ [=४१३-४५५ ई०] तक था। अतः पूज्यपादका काल अधिकसे अधिक विक्रमकी ५ वीं शतीके चतुर्थ चरणसे षष्ठ शताब्दीके प्रथम चरण तक माना जा सकता है, इसके पश्चात् नहीं। भारतीय ऐतिहासिक काल-गणनानुसार गुप्तकाल इससे कुछ शताब्दी पूर्ण ठहरता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनेन्द्रके 'अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्' उदाहरणमे महेन्द्रको मेनेन्द्र = मिनण्डर समझना भारी भ्रम है।

## जैनेन्द्र शब्दानुशासन

अब हम जैनेन्द्र व्याकरणके सम्बन्धमे सक्षेपसे लिखते हैं—

**जैनेन्द्र शब्दानुशासनका परिमाण**—जैनेन्द्र शब्दानुशासनमे ५ अध्याय, २० पाद और ३०६७ सूत्र [प्रत्याहार सूत्रोंके बिना] हैं।

**जैनेन्द्रका प्रधान उपजीव्य ग्रन्थ**—आचार्य पूज्यपादके समय निश्चय ही पाणिनीय और चान्द्र शब्दानुशासन विद्यमान थे। पूज्यपादने अपने शब्दानुशासनकी रचना पाणिनीय शब्दानुशासनके आधार पर की है, यह पाणिनीय चान्द्र तथा जैनेन्द्र शब्दानुशासनोकी सूत्र-रचना और प्रकरण विन्यासकी तुलनामे स्पष्ट है।<sup>४</sup> कहीं-कहीं ऐसा भी प्रतीत होता है कि पूज्यपादने चान्द्र शब्दानुशासनसे भी कुछ सहायता ली है।

**जैनेन्द्रमे प्रत्याहार सूत्रोंका सद्भाव**—अभयनन्दीभी महावृत्तिके साथ 'अ इ उ ण्' आदि प्रत्याहार सूत्र उपलब्ध नहीं होते, परन्तु जैनेन्द्र शब्दानुशासनके मूल पाठमे वे अवश्य विद्यमान थे। इसमें निम्न हेतु हैं।

क—जैनेन्द्र सूत्रपाठमे जहाँ अनेक वर्णोंका निर्देश करना होता है, वहाँ सदैपार्य पाणिनीय अनुशासन के समान प्रत्याहारोंका प्रयोग किया है। यथा—अच् [१।१।५६], इक् [१।१।१७], यण् [१।१।६६],

१. श्री प० भगवत्तर्कजी कृत भारतवर्ष का इतिहास [म० २००३], पृष्ठ ३५४।

२. वही, पृष्ठ ३५४।

३. महेन्द्रनृपवरो मुरारि. मसारायो मन. परम्।

४. जैनेन्द्र और पाणिनीय सूत्रोंकी तुलनात्मक सूची इस ग्रन्थके अन्तमें दी गई है।

ऐच् [१।१।१५], एड् [१।१।७०]। ये प्रत्याहार पाणिनीय प्रत्याहारोंके समान हैं। किस प्रत्याहारमें कितने वर्णोंका निर्देश समझना चाहिए अथवा प्रत्याहार कैसे बनाया जाता है, इसका नियम प्रदर्शक “अन्ये नेतादिः” सूत्र जैनेन्द्र शब्दानुशासन [१।१।७३] में विद्यमान है। इस सूत्र द्वारा अच् प्रत्याहारोंका परिज्ञान/ तभी सम्भव है, जब ग्रन्थके आरम्भमें पाणिनीय ग्रन्थवत् प्रत्याहार सूत्र पठित हो। अन्यथा ‘अन्येनेतादिः’ सूत्र तथा इसकी वृत्ति कभी समझमें नहीं आ सकती।

ख—जैनेन्द्र १।१।४८ पर अभयनन्दी लिखता है—‘रन्त इति लणो लकारेण प्रश्लेषनिर्देशात् प्रत्याहारग्रहणम्।’ अर्थात् ‘रन्त’ इस निर्देशमें लण् सूत्रके लकारमें पठित प्रकारसे र प्रत्याहार लिया गया है। “लण्” यद् पाणिनिके समान प्रत्याहार सूत्र ही है।

ग—अभयनन्दी १।१।३ सूत्रकी वृत्तिके अनन्तर उदाहरण देता है—‘अ इ उ ण्—णकार’। अर्थात् ‘अ इ उ ण्’ सूत्रमें ‘ण्’ इत् सचक है। यहाँ भी पाणिनिके समान ‘अ इ उ ण्’ सूत्रको उद्धृत किया है।

इन प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि जैनेन्द्र व्याकरणके आरम्भमें भी प्रत्याहार सूत्र थे। हमने प्रत्याहार-सूत्रोंके विषयमें हम महावृत्तिके सम्पादक महोदयसे पूछा था कि किसी हस्तलेखमें ये सूत्र मिलते हैं, अथवा नहीं। श्री सम्पादकजीने २६।६।५६ के उत्तरमें लिखा—“प्रत्याहार सूत्रोंका पाठ किसी भी हस्तलिखित प्रतिमें उलब्ध नहीं है। मुद्रित जैनेन्द्र पञ्चाध्यायी तथा शब्दार्णव चन्द्रिकामें कुछ हेर फेरके साथ पाणिनीय व्याकरण सटण [अ इ उ ण् आदि] दो प्रकारके सूत्रपाठ मिलते हैं।”

हमारा विचार है कि प्रत्याहार सूत्रोंकी व्याख्याकी आवश्यकता न समझकर अभयनन्दीने इनकी व्याख्या नहीं की। अव्याख्यात होनेके कारण महावृत्तिके हस्तलेखोंमें इनका अभाव हो गया। अथवा यह भी सम्भव है—जैसे अन्यत्र कई स्थानों पर सूत्रोंकी वृत्ति उपलब्ध नहीं होती, उसी प्रकार इन प्रत्याहार-सूत्रोंकी भी व्याख्या नष्ट हो गई और व्याख्याके न रहने पर महावृत्तिके हस्तलेखोंमें सूत्र पाठका भी अभाव हो गया। जो कुछ भी कारण उनके अभावका हो, परन्तु इतना निस्सन्दिग्ध है कि अभयनन्दी जैनेन्द्र प्रत्याहार-सूत्रोंसे परिचित था।

सूत्रपाठके पाठान्तर—महावृत्तिके साथ जो जैनेन्द्रसूत्र पाठ छपा है उसमें तथा अभयनन्दीकी व्याख्यामें उद्धृत सूत्र पाठमें कतिपय पाठान्तर उपलब्ध होते हैं। कई पाठान्तर अभयनन्दीकी वृत्तिके गम्भीर अनुशीलनसे विदित होते हैं, यथा—

क—अभयनन्दी ने १।१।८५ की व्याख्यामें ५।१।७९ का पाठ उद्धृत किया है—‘वद्वज्र’ इत्यादि-नैप्। परन्तु ५।१।७६ पर सूत्रपाठ छपा है—‘वज्रवद्वोऽन्तः’ [ इस पर वृत्ति अप्राप्त है ]।

ख—जैनेन्द्र १।२।१।१४ सूत्रका मुद्रित पाठ है—साधकतमं करणम्। इसकी व्याख्यामें अभयनन्दी लिखता है—‘पु तिङ्निर्देशेण विमर्थः ? परिग्रहणम् [ १।२।१।१२ ] इत्यनवकाशया संप्रदानसंज्ञया बाधा मा भव।’ अर्थात्—पुलिङ्ग निर्देश कथो किया ...।

एक सूत्र में दो पद हैं। दोनों ही नपुसक लिङ्ग पढ़े हैं। ऐसी अवस्थामें न तो शका ही उपपन्न होती है और न उक्ता समाधान ही। क्योंकि ‘नन्वाध्य आसम्’ [ १।२।१६१ ] सूत्रानुसार नपुसक लिङ्गसे निर्दिष्ट नपुंसक अनवकाश सगसे बाध होता है। अतः ‘करण’ सज्ञाका नपुसकसे निर्देश होनेके कारण प्रत्ययश संप्रदान सज्ञा [ १।२।१।११२ ] से निश्चय ही बाध होगा। इस कारण प्रतीत होता है अभय नन्दीका सूत्रपाठ “साधकतमं करणम्” था, जो पीछेसे त्रिभुत हो गया। ‘करणः’ पुल्लिङ्ग निर्देश होनेपर ही

१. नावग्रयनकी चिन्तामणि वृत्तिमें भी प्रत्याहार सूत्र व्याख्यात नहीं है।

२. एट २८८, २९०, ३२८।

‘पुल्लिगनिर्देशः किमर्थः’ यह शका तथा उसका समाधान उत्पन्न हो सकता है। पुल्लिग निर्देश [करण.] होनेपर अनवकाश सप्रदान सजासे भी करण सजाकी बाधा नहीं होगी और ‘अनेन परिकीर्तः’ प्रयोग भी उपपन्न हो जायगा।

**जैनेन्द्रमें एक विवेचनीय स्थल**—जैनेन्द्र व्याकरण लौकिक भाषाका व्याकरण है। इसलिए उसमें स्वर और वैदिक प्रक्रियाका अंग छोड़ दिया है। प्रथमाव्यायके प्रथम पाठमें आचार्यने तीन सूत्र पढ़े हैं—कौवैतौ, उजः, ऊम् [२४-२६] [यहाँ शुद्ध पाठ ‘ऊं’ चाहिए] इन सूत्रोंके पाठ तथा इनकी वृत्तिमें प्रतीत होता है कि इनका प्रयोग विषय लोकभाषा है। परन्तु इनका वास्तविक प्रतिपाद्य विषय वैदिक [पदपाठ] है। यह बात पाणिनिके ‘संबुद्धौ शाकल्यस्येतावन्तार्पे, उजः ऊं’ [१।१।१६-१७] सूत्रोंमें स्पष्ट है। पाणिनिने प्रथम सूत्रमें वैदिक सम्प्रदायके पारिभाषिक ‘अनार्प इति’ का निर्देश किया है [इसकी अनुवृत्ति अगले सूत्रमें भी जाती है]। पदकारो द्वारा पदपाठमें प्रगृह्य आदि सजाका निदर्शन करानेके लिए मन्त्रसे बहिर्भूत जिस ‘इति’ शब्दका प्रयोग किया जाता है वह अनार्प इतिकरण कहाता है। इसीको उपस्थित भी कहते हैं। इस शब्दका व्यवहार भी पाणिनिने ६।१।१२६ में किया है। ये सजाएँ प्रातिशाख्यग्रन्थोंमें प्रसिद्ध हैं। पदपाठमें अनार्प इतिकरणका प्रयोग कहाँ करना चाहिए इसका प्रतिपादन प्रातिशाख्यमें विस्तारसे किया है। ऋग्वेदके पदपाठमें शाकल्यने प्रगृह्य सजक [जैनेन्द्रके अनुसार ‘दि’ सजक] पदसे परे सर्वत्र इति शब्दका प्रयोग किया है। यथा—अग्नि इति [ऋ० ५।४।५४], मेथेते इति [ऋ० १।१।१३।३] युष्मे इति [ऋ० ४।१।०।८], वायो इति [ऋ० १।२।१], ऊं इति [ऋ० १।२।४।८], गौरी इति [ऋ० ४।१।२।३]। पाणिनिने शाकल्यके मतका अनुवाद अपने शास्त्रमें किया है। इससे स्पष्ट है कि जैनेन्द्रके उक्त सूत्रोंद्वारा प्रतिपाद्य विषय भी वैदिक नियमोंके अन्तर्गत आता है। इसलिए आचार्यको चाहिए था कि उसने जैसे पाणिनिके “शे” [१।१।१३] और “इदूतौ च सप्तमी” [१।१।१८] सूत्रोंके प्रतिपाद्य विषयके लिए सूत्र रचना नहीं की, वैसे ही इनका भी समावेश न करता। समावेश करनेसे विदित होता है कि आचार्यने इन सूत्रोंके प्रतिपाद्य विषयको लौकिक समझा है। परन्तु लोभमें बाधा इति ऊं इति ऐसे प्रयोग उपलब्ध नहीं हैं।

**भूलका कारण**—इस भूलका कारण भगवान् पतञ्जलिकी पाणिनीय उजः ऊं [१।१।१७] सूत्रकी व्याख्या है। पतञ्जलिने शाकल्य ग्रहणको विकल्पार्थ मानकर और उजः ऊं का योग-विभाग करके ‘वायो इति वायविति, वाय इति, ऊं इति उ इति विति’ इतने कात्पनिक रूप बनाये हैं। पतञ्जलिने भी पारिभाषिक ‘अनार्प इति’ को ‘लौकिक इति’ मान लिया, ऐसा प्रतीत होता है, परन्तु यह ममम्न प्राचीन वैदिक साम्प्रदायके विपरीत।<sup>१</sup> इस विषयमें भाष्यकार पतञ्जलिका अनुकरण करनेसे ही जैनेन्द्रमें यह भूल हुई प्रतीत होती है।

**जैनेन्द्रके सम्बन्धमें एक भ्रम**—जैनेन्द्र शब्दानुशासनके सम्बन्धमें भ्रम है कि जैनेन्द्र ही प्रथम व्याकरण है जिसमें एकशेष प्रकरण नहीं है। इसका कारण महावृत्तिमें निर्दिष्टि ‘देवोपज्ञमनेकशेष व्याकरणम्’ [१।४।६७] उदाहरण है। हमने स० व्या० शास्त्रका इतिहासमें [पृष्ठ ४२४] इस भ्रमका निराकरण किया है। जैनेन्द्रसे प्राचीन चान्द्रमें भी एकशेष प्रकरण नहीं है।

**सर्वार्थसिद्धि और जैनेन्द्र शब्दानुशासनका पौर्वापर्य**—आचार्य पृथ्वपादने तत्त्वार्थ सूत्रकी सर्वार्थसिद्धि नामक व्याख्यामें कहीं पाणिनीय शब्दानुशासनके और कहीं स्वर्गचिन्तन शब्दानुशासनके सूत्र यत्र तत्र उद्धृत किये हैं। इसमें विदित होता है कि जैनेन्द्र शब्दानुशासनकी रचना आचार्यने सर्वार्थसिद्धिके पूर्वापर्यन्त की

१ इसकी विशद विवेचनाके लिए देखो हमारे द्वारा सम्पादित ‘अष्टाध्यायीप्रकाशिका’ का ‘उजः ऊं’ [१।१।१७] सूत्र।

## जैनेन्द्र शब्दानुशासनके खिल पाठ

वैयाकरण बाङ्मयमें शब्दानुशासन पद केवल सूत्रपाठके लिए प्रयुक्त होता है। सूत्रपाठको लघु बनानेके लिए उससे सम्बद्ध विस्तृत विषयोको सूत्रकार जिन ग्रन्थोंमें संगृहीत करते हैं वे शब्दानुशासनके खिल अथवा परिशिष्ट कहाते हैं। प्रायः प्रत्येक शब्दानुशासनके धातुपाठ, गणपाठ, उणादि और लिङ्गानुशासन ये चार खिल होते हैं। इन्हे मिलाकर व्याकरणकी पञ्चपाठी बनती है। जैनेन्द्र व्याकरण के भी ये चार खिल थे [ उणादि और लिङ्गानुशासन उपलब्ध नहीं है ]।

**धातुपाठ**—आचार्य देवनन्दी प्रोक्त धातुपाठका मूल ग्रन्थ हमारे देखनेमें नहीं आया। गुणनन्दी प्रोक्त शब्दार्णव व्याकरण [ जैनेन्द्रका परिवर्धित संस्करण ] का चन्द्रिका टीकासहित जो संस्करण काशीसे छपा है, उसके अन्तमें जैनेन्द्र धातुपाठ भी मुद्रित है। वह धातुपाठ जैनेन्द्र [ पूज्यपाद ] प्रोक्त मूल रूपमें है अथवा शब्दार्णवके समान परिवर्धित है, यह हम नहीं कह सकते। अभयनन्दीकी महावृत्तिमें जैनेन्द्र धातुपाठके अनेक सूत्र उद्धृत हैं उनकी मुद्रित जैनेन्द्र धातुपाठकी तुलनासे कुछ परिणाम निकाला जा सकता है। परन्तु सम्प्रति मेरे पास मुद्रित जैनेन्द्र धातुपाठ नहीं है। अतः मैं इसके निर्यायमें इस समय असमर्थ हूँ।

मैं इसी वर्ष ६ अगस्तको काशीमें भारतीय ज्ञानपीठके व्यवस्थापक तथा महावृत्तिके सम्पादक महोदयोंसे मिला था [ वह मेरा प्रथम मिलन था ] और उन्हें ग्रन्थके अन्तमें जैनेन्द्र धातुपाठ छापनेका सुझाव दिया था। दोनों महानुभावोंने बड़ी सहृदयतासे मेरे सुझावको स्वीकार किया और वह इस ग्रन्थके अन्तमें दिया जा रहा है [ अभी छपा मेरे पास नहीं पहुँचा ]।

**धातुपारायण**—आचार्य हेमचन्द्रने स्वीय लिङ्गानुशासनके स्वोपज्ञ विवरणमें पृष्ठ १३२ पं० २० पर नन्दिधातुपारायण तथा पृष्ठ १३३ पं० २३ पर नन्दिपारायण उद्धृत किया है। इस नामके साथ हेम-धातुपारायण नामकी तुलनासे प्रतीत होता है कि यह आचार्य देवनन्दीका अपने धातुपाठ पर स्वोपज्ञ विवरण रहा होगा।

**गणपाठ**—जैनेन्द्र गणपाठ अभयनन्दीकी महावृत्तिमें यथास्थान सन्निविष्ट है, पृथक् छपा नहीं मिलता।

**उणादिसूत्र**—जैनेन्द्र उणादिसूत्रका कोई हस्तलेख अभी तक हमारी दृष्टिमें नहीं आया। महावृत्तिके सम्पादकजीसे भी इसके विषयमें पूछा था। उन्होंने २६।६।५६ के पत्रमें लिखा—“उणादि सूत्र तथा परिभाषाओंका भी संकलन करी नहीं उपलब्ध हो सका। लिङ्गानुशासन भी जैनेन्द्रका अनुपलब्ध ही है।”

अभयनन्दीकी महावृत्तिमें अनेक उणादि सूत्र उद्धृत हैं। कुछ प्राचीन पञ्चपादीसे पूर्णतया मिलते हैं, कुछमें पाटान्तर है। अनेक सूत्र ऐसे भी हैं जिनमें प्रत्यक्ष जैनेन्द्र संज्ञाओंका प्रयोग हुआ है। इसलिए यह निश्चित है कि जैनेन्द्र प्रोक्त उणादि सूत्र भी थे। उदाहरणके लिए हम कुछ सूत्र उद्धृत करते हैं। यथा—

१ काशिका १।३।२ में खिल शब्द इसी अर्थमें प्रयुक्त है।

२ प्राचीन परम्परानुसार ‘भू सत्तायाम्’ पृथ वृद्धौ आदि वाक्य सूत्र माने जाते हैं। द्रष्टव्य-अस्मत्-सपादिन रितरन्तिगी. पृष्ठ १, टि० २।

१—तनोतेड्डः सन्वच्च । पृष्ठ ३ ।

२—अस् सर्वधुभ्यः । पृष्ठ १७ ।

३—कृत्रापाजिमिस्वदिसाध्यग्रभ्य उण् । पृष्ठ ११८ । ७—आडि णित् । पृष्ठ ११६ ।

४—वृत्तवदिहनिमिकपिभ्यः सः । पृष्ठ ११८ ।

५—अण्डो जृकृस्वृडः । पृष्ठ ११६ ।

६—गमेरिन् । पृष्ठ ११६ ।

८—भुवश्च । पृष्ठ ११६ ।

**जैनेन्द्र उणादि सूत्रोंका आधार**—जिस प्रकार आचार्य पूज्यपादने अपने शब्दानुशासनके प्रवचनमें पाणिनीय शब्दानुशासनका प्रधान आश्रय लिया, उसी प्रकार उणादि सूत्रोंके प्रवचनमें भी निश्चय ही किसी प्राचीन उणादिको मुख्य आधार बनाया होगा । जैनेन्द्र उणादि पाठके उपलब्ध न होनेसे यद्यपि हम निश्चय पूर्वक नहीं कह सकते कि आचार्यने किस प्राचीन उणादि पाठको मुख्यता दी, पुनरपि हमारा अनुमान इस प्रकार है—

पाणिनीय सम्प्रदायसे सबद्ध मुख्यतया दो प्रकारके उणादि पाठ उपलब्ध होते हैं । एक है पञ्चपादी और दूसरा दशपादी । पञ्चपादी-पाठ भी रामायण महाभारत आदि ग्रन्थोंके समान अनेक शाखाओंमें विभक्त है । एक है औत्तर पाठ, दूसरा पश्चिमोत्तर, तीसरा दक्षिणात्य । उज्ज्वलदत्त तथा तदश्रित भट्टोजिदीक्षित आदिकी वृत्तियाँ औत्तरपाठ पर हैं [ उज्ज्वलदत्त वगीय था, अतः इसे वाङ्म पाठ भी कह सकते हैं ] । श्वेत वनवासी तथा नारायणकी वृत्ति दक्षिणात्य पाठ पर है । क्षीरस्वामी अपनी क्षीरतरङ्गिणीमें पश्चिमोत्तर पाठको उद्धृत करता है [ इसे काश्मीर पाठ कह सकते हैं ] । दशपादी पाठ पञ्चपादीके सम्भवतः पश्चिमोत्तर पाठके आधार पर रचा गया है । पञ्चपादी पाठका भी मूल कोई त्रिपादी पाठ प्रतीत होता है । उणादिके ये सभी पाठ आचार्य पूज्यपादसे प्राचीन हैं । अभयनन्दीने १।१।७५ सूत्रकी वृत्तिमें एक जैनेन्द्र उणादि सूत्र उद्धृत किया है—“अस् सर्वधुभ्यः” ।

पञ्चपादीका औत्तरपाठ—सर्वधातुभ्योऽसुन् । [ उज्ज्वल० ४।१८८ ]

“ “ दक्षिणात्य पाठ—असुन् [ श्वेत० ४।१६४ ]

“ “ पश्चिमोत्तर पाठ—असुन् [ क्षीरतरङ्गिणी पृष्ठ ९३ प० १६' ]

दशपादीका पाठ असुन् [ ९।४९ ]

इन सब सूत्रोंकी तुलनासे स्पष्ट है कि जैनेन्द्र उणादि पाठका मुख्य उपजीव्य औत्तर पाठ है जिसमें जैनेन्द्रके ‘सर्वधुभ्यः’ समान ‘सर्वधातुभ्यः’ पद विद्यमान है । अन्यपाठों में ‘सर्वधातुभ्यः’ पद है ही नहीं—

**उणादि सूत्र व्याख्या**—आचार्य देवनन्दी कृत उणादि सूत्र व्याख्याका हमें कोई साक्षात् प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ, परन्तु जिन प्रकार आचार्यने अपने धातुपाठकी तथा लिङ्गानुशासनकी व्याख्या की उसी प्रकार उणादिकी व्याख्या भी अवश्य रची होगी ।

१. महावृत्तिका मुद्रित पाठ है—‘अण्डः । जृकृस्वृडः’ । यह अशुद्ध है । तुलना करो—‘अण्डन् कृस्वृज्ज’ [ पञ्चपादी उ० १ । ११८ ॥ द० उ० ५ । ६ ॥ ] सूत्र से ।

२. हमने इसका अनेक हस्तलेखोंके आधारपर सम्पादन किया है । सरस्वती भवन ग्रन्थमाला काशीसे [ १६४२ में ] यह प्रकाशित हुआ है ।

३. हमने दशपादी उणादिके उपोद्घातमें दोनों पाठों तथा इनकी वृत्तियोंका संज्ञित इतिहास १६४२ में लिखा था । उस समय पञ्चपादीके इतने विभिन्न पाठका बोध हमें नहीं था । उणादि सूत्र आर उनका व्याख्याओंका विस्तृत इतिहास हम अपने स० व्या० शास्त्रका इतिहासके दूसरे भागमें लिखेंगे ।

४. क्षीरतरङ्गिणीके सम्पादनके प्रारम्भमें हमें इसका ज्ञान नहीं था, अतः हमने वहाँ दशपादीके पते दिये हैं ।

५. लिङ्गानुशासनकी व्याख्याका वर्णन आगे करेंगे ।

लिङ्गानुशासन—आचार्य देवनन्दी प्रोक्त लिङ्गानुशासनका कोई ग्रन्थ हमारी दृष्टिमें नहीं आया, परन्तु जैनेन्द्र लिङ्गानुशासन था अवश्य । इसमें निम्न प्रमाण हैं—

१—वामन प्रपने लिङ्गानुशासनके अन्तमें प्राचीन आचार्य प्रोक्त लिङ्गानुशासनोंका निर्देश करता हुआ लिखता है—व्याटिप्रणीतमथ वाररुचं सचान्द्र जैनेन्द्र लक्षणगतं विविधं तथाऽन्यत् । लिङ्गस्य लक्षम्..... ॥ ३० ॥ इसमें जैनेन्द्र लिङ्गानुशासनका उल्लेख स्पष्ट है ।

२—अभयनन्दी अपनी महावृत्ति १।४।१०८ में लिखता है—गोमयकपायकार्पापणकुतपकनाटशंखादि-पाठादवगमः कर्तव्यः । अर्थात् गोमय आदि शब्द जिनमें उभयलिङ्गता देखी जाती है, उनका ज्ञान पाठसे करना चाहिए ।

यहाँ पाठसे अभिप्राय लिङ्गानुशासनका ही है, क्योंकि 'पुंसि चार्धर्चाः' [ १।४।१०८ ] सूत्र पर पाणिनिके समान जैनेन्द्रमें कोई गण नहीं है । अतः इनका पाठ लिङ्गानुशासनमें ही सम्भव हो सकता है ।

३. आचार्य हेमचन्द्रने अपने लिङ्गानुशासनके स्वोपज्ञ विवरणमें नन्दीके नामसे एक पाठ उद्धृत किया है—“भ्रामरं तु भवेच्छुक्लं क्षौद्रं तु कपिलं भवेत्”—इति नन्दी । पृष्ठ० ८५ पंक्ति २५ ।

हमारे विचारमें यह पाठ देवनन्दीके लिङ्गानुशासनका है और पूर्वोद्धृत नियमके अनुसार यहाँ नन्दी शब्दसे देवनन्दीका ग्रहण है । हर्षवर्धनीय लिङ्गानुशासनके सम्पादक प० वेङ्कट राम शर्माने अपनी निवेदनामें २३ प्राचीन लिङ्गानुशासनोंका उल्लेख किया है । उसमें सख्या १८ पर 'नन्दिद्वक्त लिङ्गानुशासन' का निर्देश है । इससे भी हमारे विचारकी पुष्टि होती है कि आचार्य हेमचन्द्र द्वारा नन्दी-नामसे स्मृत आचार्य देवनन्दी ही है ।

लिङ्गानुशासन छन्दोवद्ध था—हैमलिङ्गानुशासन विवरणमें उद्धृत पूर्व वचनसे प्रतीत होता है कि देवनन्दी प्रोक्त लिङ्गानुशासन छन्दोवद्ध था ।

लिङ्गानुशासन-व्याख्या—आचार्य देवनन्दीने अपने लिङ्गानुशासनपर कोई व्याख्या भी लिखी थी । हेमचन्द्र अपने लिङ्ग विवरणमें लिखता है—“नन्दिनः गुणवृत्तेस्त्वाश्रयलिङ्गता स्वादुरोदनः, स्वाद्वी पेया, स्वादु पयः ।” आचार्य हेमचन्द्रने यह पङ्क्ति श्रवणं अभिप्राय निश्चय ही जैनेन्द्रलिङ्गानुशासनकी व्याख्यासे लिया होगा ।

### व्याकरणके अन्य ग्रन्थ

पूर्वलिखित धातुपाठ, गणापाठ, उणादि और लिङ्गानुशासन इन ४ खिलोंके अतिरिक्त जैनेन्द्र शब्दानुशासनसे सम्बन्ध रखनेवाले न्यूनातिन्यून तीन ग्रन्थ और थे । उनके नाम हैं—वार्तिकपाठ, परिभाषा पाठ, सिद्धा ।

वार्तिक-पाठ—अभयनन्दीकी महावृत्तिमें जैनेन्द्र शब्दानुशासनसे सम्बन्ध रखनेवाले बहुतसे वार्तिक व्याख्यात हैं । ये वार्तिक किसके हैं, यह अज्ञात है । इसी प्रकार महावृत्तिमें समस्त वार्तिक व्याख्यात हैं अथवा उसमें वार्तिकके समान अधिक उपयोगी वार्तिकोंका ही सन्निवेश है, यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि जैनेन्द्र वार्तिक पाठका स्वतन्त्र ग्रन्थ अभी तक प्रकाशमें नहीं आया ।

आर्य भुवर्गतिने अपनी पञ्चवस्तुप्रक्रियाके अन्तमें जैनेन्द्रशब्दानुशासनपर रचे गये किसी भाष्य ग्रन्थकी रचना की है । यह भाष्य इन समय अनुपलब्ध है । स्वयं आचार्य पूज्यपादने भी अपने शब्दानुशासनपर एक न्यास लिखा था, यह भी अप्राप्य है । अतः जैनेन्द्रसे सम्बद्ध वार्तिक पाठकी रचना किसने की यह अज्ञात है ।

वार्तिक अभयनन्दी विरचित नहीं हैं—महावृत्तिमें व्याख्यात वार्तिक अभयनन्दी विरचित नहीं हैं, ६ वेदिके उन्में वतनन्धानपर पाठजन महाभाष्यके समान वार्तिकोंका निराकरण करके सूत्र-द्वारा कार्यका



निर्वाह दर्शाया है। यथा—उदित्कार्यं वर्णकार्यं च तदन्तादपि भवतीति वक्तव्यं भवती, अतिभवती, दाक्षिं । नैतद् वक्तव्यम्... । पृष्ठ १५ । यदि वार्तिक अभयनन्दी विरचित होते तो वह स्वयं अनर्थक वार्तिक रचकर उनका खण्डन न करता । इतना ही नहीं, अभयनन्दीसे पूर्ववर्ती विद्यानन्द<sup>१</sup> जैनेन्द्र महावृत्ति १।४।३७ में पठित 'प्यखे का वक्तव्या' वार्तिकका अष्टसहस्री [ पृष्ठ १३२ ] में 'प्यखे कर्मण्युपसंख्यानान्' इस रूपमें अर्थतः अनुवाद करता है । 'प्य, ख' ये जैनेन्द्रके पारिभाषिक प्रयोग हैं ।

अभयनन्दीकी वृत्तिमें वार्तिकोंके व्याख्यात होने तथा अष्टसहस्रीमें उद्धृत होनेसे इतना तो निश्चय है कि ये अभयनन्दीसे प्राचीन है । हमारा विचार है कि व्याकरण सवधी अन्य ग्रन्थोंके समान वार्तिकपाठ भी आचार्यने स्वयं रचा होगा ।

**परिभाषा-पाठ**—परिभाषाएँ व्याकरण शास्त्रका महत्त्वपूर्ण भाग है । परिभाषाएँ दो प्रकार की हैं । कुछ सूत्रकार द्वारा स्वयं सूत्रोंमें पठित होती हैं । यथा—इको गुणवृद्धी [ अष्टा० १।१।३ ] इकस्तौ [ जैनेन्द्र० १।१।१७ ] । कुछ सूत्रसे बहिर्भूत होती हुई भी सूत्रकार-द्वारा स्वीकृत होती हैं । पाणिनीय व्याकरणसे सवद्ध परिभाषाएँ व्याङ्कित मानी जाती हैं ।<sup>२</sup> भाष्यकार पतञ्जलिने अनेक परिभाषाओंको सूत्रोंसे जापित किया है, अनेकको वे बिना जापकके प्रमाण मान लेते हैं । अभयनन्दीकी महावृत्तिमें अनेक परिभाषाएँ उद्धृत हैं<sup>३</sup> । कतिपय परिभाषाओंके जापक भी लिखे हैं । इन परिभाषाओंका पाठ पाणिनीय परिभाषाओंके समान होते हुए भी स्वतन्त्रानुसार परिवर्तित है । जैनेन्द्र सवद्ध परिभाषाओंका प्रवक्ता कौन है, यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता । परिभाषा पाठका स्वतन्त्र ग्रन्थ हमारे देखनेमें नहीं आया ।

**परिभाषाओंकी व्याख्या**—इन जैनेन्द्र परिभाषाओंकी व्याख्या भी किसी प्राचीन ग्रन्थकारने की थी । अभयनन्दी १।१।६१ पर लिखता है—सन्निपातपरिभाषाया अनित्यतां वक्ष्यति । यहाँ 'वक्ष्यति' क्रियाका कर्ता कौन है, यह अज्ञात है । परन्तु इससे इतना स्पष्ट है कि अभयनन्दीसे पूर्व किसीने परिभाषाओंकी व्याख्या रची थी । इस प्रकारका विचार परिभाषा वृत्तिमें ही सम्भव हो सकता है ।

आचार्य हेमचन्द्रने अपने व्याकरणसे सवद्ध परिभाषाओंकी स्वयं ही रचना की और स्वयं ही उनकी व्याख्या की । इसी प्रकार आचार्य पूज्यपादने भी स्वयं परिभाषा पाठ और उसकी व्याख्या लिखी हो यह सम्भव हो सकता है ।

**शिक्षा**—अभयनन्दीने १।१।२ की वृत्तिमें लगभग ४० शिक्षासूत्र उद्धृत किये हैं । ये अविशाल शिश्नासूत्रोंसे मिलते हैं<sup>४</sup> । पुनरपि इनका प्रवचन जैनेन्द्र व्याकरणकी प्रक्रियानुसार किया हुआ है, यह दोनोंकी तुलनासे स्पष्ट है । यद्यपि ये जैनेन्द्र सम्बन्धी शिक्षासूत्र किसके द्वारा प्रोक्त हैं, यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता, तथापि जैसे आपिशलि, पाणिनि और चन्द्रगोमीने अपने अपने शब्दानुशासनोमें सम्बद्ध शिक्षासूत्रोंका प्रवचन किया । इसी प्रकार सम्भव है आचार्य देवनन्दीने इन शिक्षासूत्रोंका भी प्रवचन किया हो । इसका विशेष वर्णन हम 'शिक्षाका इतिहास' नामक ग्रन्थमें करेंगे [पाण्डुलिपि प्रायः तैयार हो चुकी है ।

१. देखो, श्री प्रेमीजीसा 'देवनन्दीका जैनेन्द्र व्याकरण' लेख, यही ग्रन्थ पृष्ठ २४ ।

२. सं० व्या० शा० का इतिहास पृष्ठ २०७ ।

३. देखो महावृत्ति पृष्ठ ४५५, ४५६ । इस सूत्रोंमें कुछ परिभाषाएँ गड़ गई हैं । यथा—पृष्ठ १२ पर उद्धृत—'युवदन्वकृतमनेकान्तरं न' परिभाषा ।

४. देखो हमारे द्वारा सम्पादित तथा प्रकाशित 'शिक्षा सूत्राणि' [आपिशलि, पाणिनीय तथा चान्द] ।

## आचार्य पूज्यपादके अन्य ग्रन्थ

श्री प० नाभूरामजी प्रेमीने अपने लेखमें आचार्य पूज्यपादके निम्न ग्रन्थोंका उल्लेख किया है—

उपलब्ध ग्रन्थ—१. सर्वार्थसिद्धि, २. समाधितन्त्र ३. इन्द्रोपदेग, ४. दशभक्ति ।

अनुपलब्ध, परन्तु ज्ञात ग्रन्थ—१. जगदावतार न्यास, २. जैनेन्द्र न्यास, ३. वैयक ग्रन्थ [नाम अज्ञात], ४. सार-संग्रह, ५. जैनाभिषेक ।

वैयक ग्रन्थके सम्बन्धमें नये प्रमाण—१. आचार्य पूज्यपाद रचित वैयक ग्रन्थका उल्लेख श्री प्रेमीजीके लेखके पृष्ठ १९, टि० १ पर उद्धृत भवणवेल्गोलके ४० वें शिलालेखके चतुर्थ श्लोकके तृतीय चरणके 'त्वाध यदीयम्' पदोंमें भी मिलता है ।

२. जैन आचार्य उपाधित्य-विरचित कल्याणकारक नामक ग्रन्थमें भी पूज्यपादके वैयक ग्रन्थका निर्देश है ऐसा ज्ञात हुआ है [स्वयं नहीं देखा] ।

आचार्य पूज्यपादका नूतन परिज्ञात ग्रन्थ-छन्दःशास्त्र—आचार्यने छन्दःशास्त्र पर भी कोई ग्रन्थ लिखा था, इसकी सूचना भवणवेल्गोलके ४० वें शिलालेखके चौथे श्लोकके तृतीय चरणके 'छन्दः' पदसे मिलती है । श्री प्रेमीजीसे इसका सञ्चेत रह गया प्रतीत होता है । जैनेन्द्र छन्दःशास्त्रका विस्तृत वर्णन हम अगले 'छन्दःशास्त्रका इतिहास' में करेंगे । यह लिखा जा रहा है ।

इस प्रकार आचार्य पूज्यपादके व्याकरणातिरिक्त उपलब्ध और अनुपलब्ध ग्रन्थोंकी संख्या १० हो जाती है ।

हमारे विचारानुसार आचार्य विरचित जैनेन्द्र व्याकरण सम्बन्धी निम्न ग्रन्थ थे—

जैनेन्द्र सूत्रपाठ, जैनेन्द्रन्यास, धातुपाठमूल, धातुपारायण, गणपाठ, उणादिसूत्र, लिङ्गानुशासन, लिङ्गानुशासन व्याख्या, वार्तिकपाठ, परिभाषापाठ और शिक्षासूत्र ।

सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठके अतिरिक्त अन्य सभी ग्रन्थोंको ढूँढनेका प्रयत्न होना चाहिए । ये ग्रन्थ निश्चय ही किन्हीं जैन ग्रन्थालयोंमें छिपे पड़े होंगे । उनका उद्धार परम आवश्यक है । धातुपाठ और गणपाठके हस्तलेखोंको भी उपलब्ध करनेका प्रयत्न करना चाहिए । जिससे इनकी पाठशुद्धिमें सहायता मिले ।

## जैनेन्द्रके व्याख्याग्रन्थ

जैनेन्द्र शब्दानुशासनपर अनेक ग्रन्थ लिखे गये । उनमेंसे जैनेन्द्रन्यास, भाष्य, अभयनन्दीकी महावृत्ते, प्रभाचन्द्रना शब्दाभोजभारकर न्यास, पञ्चवस्तु, लघुजैनेन्द्र और जैनेन्द्र प्रक्रिया नामक ग्रन्थोंका उल्लेख श्री प० नाभूरामजी प्रेमीने अपने 'द्वयनन्दीका जैनेन्द्र व्याकरण' नामक लेखमें किया है । इनमेंसे न्यास और भाष्य ग्रन्थ इस समय अनुपलब्ध हैं । उल्लेख ग्रन्थोंमें अभयनन्दीकी वृत्ति ही सबसे प्राचीन है ।

अभयनन्दीसे प्राचीन अनेक वृत्तियाँ—अभयनन्दीने महावृत्तिके आरम्भमें एक श्लोक लिखा है—  
यत्तुवद्वलक्षणमुपजपारमन्यरव्यक्तमुक्तमभिधानविधौ दरिद्रैः ।

तत्सर्वलोकद्वयप्रियचारवाक्यैर्व्यक्तीकरोत्यभयनन्दिमुनि समस्तम् ॥

अर्थान्—वर्तमानमें पार पाने योग्य जिस रावटवृत्तोंमें दरिद्रोंने व्याख्या करनेमें स्पष्ट नहीं किया, वह सम्पूर्ण शब्दलक्षणों को अभयनन्दी मुनि सच्चे हृदयोंकी प्रिय लगनेवाले सुन्दर वाक्योंसे स्पष्ट करता है ।

उक्त श्लोकके पूर्वांशसे स्पष्ट है कि अभयनन्दीसे पूर्व इन जैनेन्द्र शब्दानुशासनपर ऐसी अनेक वृत्तियाँ हो चुकी थीं, जिनमें उनकी पूर्ण स्पष्ट व्याख्या नहीं थी । वे व्याख्याएँ लघुवृत्तिके रूपमें थीं, पर 'दरिद्रैः' पदसे व्यक्त होता है ।

अभयनन्दीका काल—अभयनन्दीका काल विवादास्पद है । डाक्टर वेल्गेलकरने अपने 'हिस्ट्रीम ऑफ़ इण्डियन लैंग्वेज' में अभयनन्दीका काल ई. पू. ५५० [दि० ८०७] माना है [पैराग्राफ ३०] । अभयनन्दीकी

महावृत्ति ३।२।५५ में भट्ट अकलक [जिनका काल ८०० विक्रम माना जाता है] के तत्त्वार्थवार्तिक का उल्लेख है। इससे यह वृत्ति उसके वाद की है, यह निश्चित है। हमने अपने स० व्या० शास्त्रका इतिहास ग्रन्थमें अभयनन्दीका काल विक्रम सवत् १०००-१०५० के मध्यमें लिखा है [पृष्ठ ४२६]। अभी इस विषयमें अनुसंधानकी आवश्यकता है।

**अभयनन्दीकी महावृत्ति**—जैनेन्द्र व्याकरणके वाट्स्वयमे महावृत्तिका वही गौरवपूर्ण स्थान है जो पाणिनीय व्याकरणमें काशिका का है। यह महावृत्ति काशिकासे भी अधिक विस्तृत है। इसका ग्रन्थ परिमाण १२ सहस्र श्लोक है। ग्रन्थकारने अपनी वृत्तिके सम्बन्धमें पूर्वनिर्दिष्ट श्लोकमें जो लिखा है वह पूर्णतया सत्य है, उसमें यत्किंचित् अतिशयोक्ति नहीं है।

**अभयनन्दीका पाण्डित्य**—निश्चय ही अभयनन्दी व्याकरण शास्त्रमें परम निपुण थे। उनकी व्याकरण विषयक-ज्ञान केवल जैनेन्द्र तक सीमित नहीं था, अपितु पाणिनीय व्याकरणमें भी उनकी अप्रत्यात गति थी। यह इस वृत्तिके सूक्ष्म अध्ययनसे पदे-पदे स्पष्ट होता है। महावृत्तिमें कई स्थल उनके व्याकरण विषयक अभूतपूर्व पाण्डित्यका निदर्शन कराने हैं। यथा १।२।९६ सूत्रकी व्याख्यामें “प्रविनश्य” प्रयोगश्री सिद्धिके सम्बन्धमें जो विचार किया है, वह हमें अन्यत्र उपलब्ध नहीं हुआ।

**महावृत्तिके उपजीव्य ग्रन्थ**—यद्यपि अभयनन्दीने अपनी महावृत्तिकी रचनामें निस्सन्देह जैनेन्द्र न्यास, प्राचीन लघु वृत्तियाँ, पातञ्जल महाभाष्य आदि सभी ग्रन्थोंसे सहायता ली है, तथापि सूत्र व्याख्या शैली और वाक्य विन्यासमें काशिकावृत्तिका प्रभाव अधिक प्रतीत होता है।

**पतञ्जलिके पदच्छिन्नोपर**—[क] पतञ्जलिने जिस प्रकार पाणिनि और कात्यायनके प्रति सम्मान की भावना रखते हुए उनके सूत्र तथा वार्तिककी सूक्ष्म विवेचना करते समय पाणिनि और कात्यायनके गौरवसे प्रभावित हुए बिना अपना निर्णय प्रकट किया है, उसी प्रकार अभयनन्दी मुनिने भी अनेक स्थलों पर जैनेन्द्र वार्तिकोका निष्प्रयोजनत्व दर्शाया है। यथा—पृष्ठ १५ पर “उगित् कार्यम्” तथा पृष्ठ २६ पर “दाणश्च सा” वार्तिक का।

[ख] जैसे पतञ्जलिने पाणिनीय सूत्रोंसे साक्षात् असिद्ध प्रयोगोंका साधुत्व दर्शानेके लिए योगविभाग रूपी कौशल दिखाया है। उसी प्रकार अभयनन्दीने भी योगविभाग द्वारा अनेक पदोंका साधुत्व दर्शानेका प्रयत्न बहुत स्थानोंपर किया है।

**महावृत्तिकी एक महती विशेषता**—महावृत्तिकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें पाणिनि पतञ्जलि चन्द्र तथा पूज्यपाद द्वारा असंगृहीत प्राचीन व्याकरण नियमोंका यत्र तत्र सग्रह उपलब्ध होता है। यथा [१।२।१]—

‘भूवादीनां वनारोऽयं लक्षणार्थः प्रयुज्यते । इको यणिभर्त्यवधानमनेनेपामिति संग्रह ।’

अर्थात्—‘भूवादयो धु’ [१।२।१] सूत्रमें ‘भू+घ्रादयो’ के मन्थमें व्कारका निर्देश व्याकरणशास्त्र लक्षण वतलनेके लिए रखा गया है। अनेक आचार्योंके मतमें ‘इक्’ ने परे यण्का व्यवधान होता है, इस लक्षणका सग्रह वनारसे दर्शाया है।

१. कलकत्ताके श्री पं० क्षितिशचन्द्र जी चट्टोपाध्यायने ‘ऐकिकल टर्म्स ऑफ़ सम्भूत ग्रामर’ [पृष्ठ ७१] में इस कारिका तथा महावृत्तिमें आगे व्याख्यान दो चर्म्माता पाठ उस प्रकार उद्धृत किया है—“भूवादीनां वनारोऽयं लक्षणार्थः प्रयुज्यते । एवमनमिको यणिभर्त्यवधानमनेनेपामिति वदेरेणादिके इति । नृनादय इति ज्ञेया भूवादयोऽथवा ।”

२. इस सन्धि तथा इससे पटनिष्ठि प्रक्रियापर पटनेवाले प्रभावके विषय हमारा स० व्या० शास्त्र का इतिहास, पृष्ठ २१-२४ विशेष रूपसे देवना चाड़ि।

हमारी दृष्टिमें अभीतक सबसे प्राचीन यही ग्रन्थ है, जिसमें यणव्यवधान सन्धि का साधात् उल्लेख किया है।<sup>१</sup> आगे वृत्तिकारने महाभाष्योक्त वकारके मंगलार्थत्वका खण्डन किया है। हमारे विचारमें 'मङ्गलार्थः प्रयुज्यते' लेखमें पतञ्जलिका 'मंगल' का वह भाव नहीं है जो जनसाधारणमें प्रसिद्ध है। अपितु यहाँपर अच्येता छात्रोंका मंगल अभिप्रेत है। इसकी व्याख्याम स्पष्ट कहा है—अध्येतारश्च मङ्गलार्था यथा स्युः। अध्येताप्रोक्ता मंगल लक्षण जानसे ही सम्भव है।<sup>२</sup>

महावृत्ति मध्यमधर्मे दृष्टित—यद्यपि महावृत्तिका यह संस्करण पाँच हस्तलेखोंके आधार छाया है, परन्तु इसमें अनेक स्थलोंपर कई कई सूत्रोंकी व्याख्या सन्निहित है। देखो पृष्ठ २८८, ३१७, ३५८। इससे स्पष्ट है कि ये पाँचों हस्तलेख किसी एक ही मूल प्रतिकी प्रतिलिपियाँ हैं। अतः इसकी पूर्तिके लिए अन्य हस्तलेख प्राप्त करनेका प्रयत्न कर ॥ चाहिए।

### जैनेन्द्र व्याकरण तथा महावृत्तिका मुद्रण

आजसे ४६ वर्ष पूर्व काशीकी लाजरस कम्पनीकी ओरसे सन् १९१० में महावृत्ति सहित जैनेन्द्र व्याकरणका मुद्रण आरम्भ हुआ था। इसके सम्पादक थे, विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी। इसका मुद्रण तृतीय अत्रायके द्वितीय पाठके ६०वें सूत्र तक ही होकर रह गया। तब से यह परमोपयोगी ग्रन्थ अधूरा ही रहा। यह परम सौभाग्यका विषय है कि भारतीय ज्ञानपीठ कार्गोने इस ग्रन्थरत्नको प्रकाशमें लानेका महान् प्रयत्न किया। उसीका यह फल है कि ४६ वर्षके अनन्तर यह ग्रन्थ पूरा छपकर प्रकाशमें आया है। इसके लिए उक्त संस्था अत्यन्त धन्यवादकी पात्र है। इस संस्थाने इसी प्रकारके अनेक दुर्लभ ग्रन्थोंका प्रकाशन करके समस्त भारतीयों, विशेषकर जैनमतानुयायियोंका महान् उपकार किया है। हमारी यही कामना है कि यह संस्था भविष्यमें भी इसी प्रकार अपना कार्य करनेमें समर्थ हो, दिन दूनी रात चौगुनी फले फूले।

महावृत्तिका नूतन संस्करण—भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित महावृत्तिका यह संस्करण निस्सन्देह महान् परिश्रमका फल है। इसके सम्पादनमें ५ हस्तलेखोंसे सहायता ली गई है। इतना प्रयत्न करनेपर भी इसके सम्पादनमें कुछ कमियाँ रह गई हैं। उनकी ओर भी संकेत कर देना हम उचित समझते हैं, जिसमें प्रागामी संस्करणमें उसका परिमार्जन हो सके।

क—अनेक स्थानोंपर उद्धृत जैनेन्द्र सूत्रोंके पते देने रह गये हैं। यथा—पृष्ठ ११ पं० २—जेरिति दीर्घम्—'जेः' ४।१।२३४ का सूत्र है, यहीं पृष्ठ ५० १३—शास इत्येवमादिषु—'शास' यह ४।४।३३ का प्रतीक है।

ख—वृत्तिमें उद्धृत उद्धरणोंके पते देने रह गये। यथा—पृष्ठ २४ पङ्क्ति २६—'एति जीवन्तमानन्दः'। यह समापण सुन्दरगण्ड सर्ग ३४ श्लोक ६ का तृतीय चरण है। पृष्ठ ११६ पं० ६ पर निर्दिष्ट 'बाहुलकं प्रवृत्तेरत्तुष्टे' कारिका महाभाष्य ३।३।१ की है। इसी प्रकार १।२।१२१ सूत्रपर उद्धृत कारिकाएँ भी महाभाष्य की हैं।

ग—वर्तमानोंपर कुछ अधिक सावधानता बर्ती जाती तो अनेक पाठ ठीक हो सकते थे। यथा—पृष्ठ ११६ पं० ५ पर दृष्टित 'अष्टः। जृक्षृष्टृष्टृ।' पाठ 'अष्टो जृक्षृष्टृष्टृ।' चाहिए। पृष्ठ ८ पं० ५-६—'कृतः। उपायान्। भृत्यवर्तमाने ....'। यहाँ 'कृतः। कृतवान्। "तः" [२।२।८५] भृत इति वर्तमाने....."

१ यद्यपि शाब्दज्ञान लघुवृत्ति [पृष्ठ २३] में यह नियम उल्लिखित है। उसका काल अनिश्चित है। समोपवृत्तिमें इसका उल्लेख है या नहीं यह हमें ज्ञात नहीं।

२. महाभाष्यकी पंक्ति का यह अभिप्राय हमें महावृत्तिक प्रमाणमें ही समझमें आया।

पाठ चाहिए। 'भूत इति वर्तमाने' आदि पदों द्वारा जिस सूत्रकी वृत्ति लिखी है वह, 'तः' [२।२।८५] सूत्र यहाँ वृद्धि है।

घ - अनेक स्थानों पर वृत्तिमें उद्धृत जैनेन्द्र सूत्र तथा परिभाषा आदिको भिन्न ढाड़पमें करना रह गया है।

ङ—कहीं कहीं सम्पादकीय टिप्पणियोंमें भी भूल प्रतीत होती है। यथा—पृष्ठ १६ पं० १६ पर [४ अन्यथा अनिदित इति उडः खस्य प्रतिषेधः स्यात् ।] पर टिप्पणी है—४. कोष्ठ स्थित. पाठोऽप्रासंगिक इव भाति । “अलुडः—विडित्यनिदित.” इत्यस्यात्राप्रवृत्तेः । प्रतीत होता है यह पङ्क्ति पाणिनीय व्याकरण की प्रक्रियाकी भ्रान्तिसे लिखी गई है। 'हन्सूत' इस अवस्थामें 'त' के परे रहने पर 'यस्ये तंवादि गु.' [जै० १।२।१०२] सूत्रसे 'हन् स्' की 'गु' [पाणिनीय अग] सजा है। जैनेन्द्र प्रक्रियानुसार २।१।३८ सूत्रमें 'सि' प्रत्यय होता है, उसका इकार इत् है। गुके इदित् होनेसे 'हलुडः क्लियनिदित' [४।४।२३] सूत्रकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। उसकी प्रवृत्ति न होनेसे उड् [= उपधा] के 'न्' का लोप नहीं हो सकता। अतः कोष्ठान्तर्गत पङ्क्ति सर्वथा शुद्ध है।

इन सूत्र कमियोंने रहने पर भी जो संस्करण प्रकाशित हुआ है, वह निस्सन्देह महान् प्रयत्नका फल है। प्रथमचार इतना सुन्दर संस्करण प्रकाशित हो गया, यह महान् सतोषकी बात है।

ग्रन्थके सम्पादनमें कितना परिश्रम पड़वा है, यह भी मुक्तभोगी ही जान सकता है। हाँ, ग्रन्थको सर्वाङ्गसुन्दर बनानेका लक्ष्य तथा उसके लिए सर्वविध प्रयत्न सम्पादकका अवश्य होना चाहिए। तत्पश्चात् जो कार्य हो जाय उससे सन्तुष्ट रहते हुए अगले संस्करणको सर्वात्मना श्रेष्ठ बनानेका प्रयत्न होना चाहिए।

# जैनेन्द्रमहावृत्तिः



# आचार्यदेवनन्दिप्रणीतम् जैनेन्द्र-व्याकरणम्

## अभयनन्दाचार्यकृतमहावृत्तिसहितम्

देवदेव जिन नत्वा सर्वसत्त्वाभयप्रदम् ।  
शब्दशास्त्रस्य सूत्राणां महावृत्तिर्विरच्यते ॥ १ ॥  
यच्छब्दलक्षणम् सुतजपारमन्थैरव्यक्तमुक्तमभिधानविधौ दरिद्रैः ।  
तत् सर्वलोकहृदयप्रियचारुवाक्यैर्व्यक्तीकरोत्यभयनन्दिमुनिः समस्तम् ॥ २ ॥  
शिष्टाचारपरिपालनार्थमादाविष्टदेवतानमस्कारलक्षणं मङ्गलमिदमाहाचार्यः—

लक्ष्मीरात्यन्तिकी यस्य निरवद्याऽवभासते ।  
देवनन्दितपूजेशे नमस्तस्मै स्वयम्भुवे ॥

लक्ष्मी. क्षीः । सैव विशिष्यते—अन्तमतिक्रान्तः कालोऽत्यन्तः तत्र भवा आत्यन्तिकी अविनश्यती  
आलम्ब्यभावाधीना केवलज्ञानादिविभूतिरित्यर्थः । अवद्याद् गर्हान्निष्क्रान्ता निरवद्या निर्दोषा, अवभासते  
शोभते, यस्य भगवतः, यत्प्रेति सर्वनामपदस्य सामान्यवाचित्वेऽपि अन्यस्यैवंविधा श्रीर्न सम्भवतीति पारिशो-  
षादर्द्रष्टारकस्य ग्रहणम् । यच्छब्दाभिहितोऽर्थस्तच्छब्देन परामृश्यत इति तस्मै देवनन्दितपूजेशे स्वयम्भुवे  
नमः । 'प्रत्यु' इत्यभ्युपगमः, देवाः सुराः तैर्नन्दिता अभिवर्दिता सा चासौ पूजा च तस्याः, 'ईष्ट' इति क्विपि  
हृते देवनन्दितपूजे, तथा स्वयमात्मना भवतीति स्वयम्भूः । नमःशब्दयोगे सर्वत्र डेर्भवति ।  
लोके प्रसिद्धसाधुत्वानां शब्दानामन्वाख्यानार्थमिदमारभ्यते । अन्वाख्यानञ्च प्रकृत्यादिविभागेन सामा-  
न्यविशेषवता लक्षणेन शब्दानां व्युत्पादनम् । तच्च शब्दार्थसम्बन्धमन्तरेण न सम्भवति । शब्दार्थसम्बन्धसिद्धि-  
शानेकान्तार्थानित्यत आह—

सिद्धिरनेकान्तात् ॥१॥१॥ प्रकृत्यादिविभागेन व्यवहाररूपा श्रोत्रग्राह्यतया परमार्थतोपेता प्रकृत्या-  
दिविभागेन च शब्दानां सिद्धिः अनेकान्ताभवतीत्यर्थाधिकार आ शास्त्रपरिसमाप्तेर्वेदितव्यः । अस्तित्वनास्ति-  
त्यनेत्यनियच्छेदनात्पञ्चानाधिकरणविशेषणविशेष्यादिकोऽनेकः अन्तः स्वभावो यस्मिन् भावे सोऽयमने-

कालः शब्देनैवा इत्यर्थः । तत्पावादेतावायधारणात्मकं प्रत्यक्षं तदव्यवहारान्ययानुपपत्तेरितिदमनुमानञ्च  
रूपकम् । अत्रालि नन्तित्वादीनां परस्परविरुद्धानां कथमैकाधिकरण्यमसङ्कीर्णरूपता च ? यथा  
भगवन्नेकं हेतौ सन्त्यप्यनेकेन जनकं रने वा जन्यमानरूपरतापेक्षयोः सहकारित्वात्सहकारित्वयोः ।  
स्य हेतो सन्त्यनेकपक्षेण रूपद्वयं रने च सनागासभागकार्यापेक्षया, अत्रापि तर्हि स्वरूपपररुपापेक्ष-  
याऽहेतुत्वात्तन्ने प्रत्यसर्वापेक्षया च नियचानित्यत्वे, द्रव्यसर्वाययोश्चान्वयव्यतिरेकाभ्यां सिद्धिरित्यात्ता  
त्यनेकत्वं । अनेकान्तादिर्नानेव रूपकम्, हेतो कापि भवति । तैर्नानित्यः शब्दः कृतकत्वादित्यादि सिद्धम् ।  
१. ह्युत्तरम् । २. तस्मै नमः इति शेषः । ३. सन्बन्धान्तरेण अ०, सु० । ४. 'प्रकृत्यादिविभागेन'  
वि सुत्तरम् । ५. नैकपक्षि-सु० । ६. जनकयोरपि सु० । ७. च भागा-अ० । ८. पञ्चन्यपि ।



उत्तरत्र त्वेकदेशाद्व्यवायोऽधिकार इति । वक्ष्यति—“सस्थानक्रियं स्वम् [१।१।२] इति । एतच्च वस्तुना साधर्म्य-  
वैधर्म्यात्मकेऽनेकान्ते सत्युपपन्नते । तथा हि अकाराकारयोः ह्रस्वदीर्घकालभेदेन वैधर्म्येऽपि तुल्यस्थानकरणत्वेन  
साधर्म्यमस्तीति स्वसञ्ज्ञाव्यवहारः सिध्यति । यदि हि साधर्म्यमेव स्यात्, तदामित्वेनेवान्यैरपि धर्मैः  
साधर्म्ये सर्वमेकं प्रसज्येत । यदि च वैधर्म्यमेव, तदा कस्यचिदस्ति त्वमपरस्य नास्ति त्वमन्यस्य चान्यत् स्यात् ।  
“अधु मृत” [१।१।५] इति अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थवच्छब्दरूप मृतसञ्ज्ञकमनेकान्तात् सिध्यति । तथा हि—  
विभक्त्यन्तस्य च शब्दस्य प्रयोगादर्थे जानमुत्पद्यत इति सङ्घाता अर्थवन्तो दृष्टाः, तदवयवानामन्यन्वयव्यतिरेका-  
भ्यामर्थवत्ता जायते । वृत्तावित्यत्र, विसर्जनीयाभावादेकत्वार्थो निवृत्तः, औकारभावाद् द्वित्व जातम् । अकार-  
रान्तवृत्तशब्दान्वयाजातिरन्वयिनी प्रतीयते । अन्वयव्यतिरेकौ च भावाद्येकान्तवादे न स्तः । तथा “व्यपाये  
ध्रुवमपादानम्” [१।२।११०] इत्यादिपट्कारकी नित्यक्षणिकपक्षयोर्नोपपद्यते व्यपायध्रौव्यात्रभावात् । उक्तं च—

“इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेष क्रमो

व्ययोर्यमनुपङ्गजं फलमिदं दर्शयेयं मम ।

अयं सुहृदयं द्विषन् प्रयतदेशकालाविमा-

धिति प्रतिवितर्कयन् प्रयतते बुधो नेतरः ॥”

सस्थानक्रियं स्वम् ॥ १।१।२ ॥ स्थान ताल्वादि, क्रिया सृष्टतादिका । समाना स्थाने क्रिया यस्य,  
सामर्थ्यात् स्थानमपि समान लभ्यते । अथवा समान स्थानक्रिय यस्य, समानस्येति योगविभागात् मादेशः,  
तत् सस्थानक्रिय स्वसज्ञ भवति । आत्मलाभमापद्यमाना वर्णास्तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थान वर्णात्पत्तिस्थानमित्यर्थः ।  
तदष्टविधम्—

“अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।

जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥” इति ।

द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुरान्तरः परिस्पन्दः क्रिया । सा चतुर्विधा—सृष्टता ईप्ससृष्टता विवृतता  
ईषद्विवृतता चेति । ध्वनावुत्पद्यमाने यया स्थानानि सृष्टाति सा सृष्टता । मनाक् स्पर्श ईप्ससृष्टता । दूरेण स्पर्श  
विवृतता । समीपेण स्पर्श ईषद्विवृतता । कस्य पुनः किं स्थानम् ? अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः । हविमर्जनीया-  
बुरस्यावेकेषाम् । जिह्वामूलीयो जिह्वयः । सर्वमुखस्थानमवर्णमेके मन्यन्ते । इशयव्येदैतस्तालव्याः । एदौ  
कण्ठतालव्यावेकेषाम् । उव्योदौदुपध्मानीया ओष्ठ्याः । ओष्ठौ कण्ठोष्ठ्यावेकेषाम् । वकारो  
दन्तोष्ठ्यः । सुक् स्थानमेके वाञ्छन्ति । ऋदुरणा मूर्धन्याः । रेफो दन्तमूल्य एकेषाम् । लृतुलसा दन्ता ।  
नासिकयोऽनुस्वारः । अमङ्गणा. स्वस्थानाः । नासिकास्थाना एकेषाम् । तेषां स्वमञ्जाप्रानिर्दोष । नृष्टिः  
सृष्ट सृष्टानुगत करण कृतिरुच्चारणमेवामिति सृष्टकरण वर्णाः । ईप्ससृष्टकरण अन्तःस्था । ईषद्विवृतकरण  
ऊष्माणः । विवृतकरणाः स्वराः । तेभ्य एदौतौ विवृततर्गौ । तेन दव्येतत् मन्वोदनामिति म्नेऽको दीन्वाभाव ।  
ताभ्यामंदौतौ विवृततर्गौ । तेन दिश्यैन्द्रया मन्वोपवम् । ताभ्यामवर्ण इति । तेन पित्र्यः, दन्त्यत्र, मन्त्रा । अन्ये  
संवृतमकारमिच्छन्ति लोके । शास्त्रव्यवहारे तु विवृतम् । एतच्चायुक्तम्, लोकशास्त्रयोन्वाच्यं प्रत्यभिज्ञेन ।  
अयं च प्रपञ्चाश्रितनीयः । स्वर्गेभ्यो विवृततर्गः आचर्णच इति । इत्ययं निर्देशो न दोषः पश्यामः । अ य य य य  
कार उदात्तोऽनुदात्तः स्वगति । स प्रत्येक उमञ्जोऽमञ्जक ” । एव दीः, एव प । एवमष्टादशप्रयोगेऽन्तर्ग  
तथा इवर्णः, तथा उवर्णः, तथा ऋवर्णः, तथा लृवर्णः । कथं लृमागे द्विमात्र ? अर्गाक्तनानुकरणेन ।  
सन्त्यन्तराणां प्रा न मन्ति, तान्यतो द्वादशप्रभेदानि । अन्तःस्था यवन्ता द्विप्रभेदा नामिहोक्तप्रभेदा । एवमर्थः १०

१. उत्तरसूत्रैक-३० उत्तरसूत्रैकदेशाद्व्यवायो-मु० । २. अनुवृत्तिर्यर्थः । ३.-नकारण-अ०, पा०,

४.-न्यून । अधु व०, मु० । ५. च भावावेकान्त-मु० । ६. प्रतिपु न्तिप इति पाठ । ७. पा० पा० १३।

८. पारिनीयानाम् । ९. ओष्ठदान्तयो मृदम् । १०. अवर्णच व०, म०, मु० । ११. अ, एव दी, एव प, एव दी,

अ०, व०, म० । १२.-मन्त्र चै-अ० ।

चैतेऽणसु पठ्यन्ते । अण् स्व गृह्णातीति यथा स्यात् । रेफोष्मणा स्वा न सन्ति । वर्गः स्ववर्गेण स्वसञ्ज्ञो भवति । उदाहरण-लोकाग्रम् । मुनीशः । स्थानग्रहण किम् ? कचटतपाना समानक्रियाणां भिन्नस्थानानां मा भूत् । तर्ता तर्पुमिति । अत्र “भूतो भूरि स्वे” [५।४।१३६] इति पकारस्य तकारे ख प्रसज्येत । क्रियाग्रहण किम् ? इचुयशाना समानस्थानानां भिन्नक्रियाणां मा भूत् । तत्र को दोषः ? अरुश्च्योततीत्यत्र “भूतो भूरि स्वे” [५।४।१३६] इति शकारस्य चकारे ख प्रसज्येत । “ऋकारलृकारयोः स्वसञ्ज्ञा वक्तव्या” [वा०] । पितृ लृकारः पितृकारः । स्वप्रदेशाः “स्वेऽको दी.” [४।३।८८] इत्येवमादयः । शास्त्रलाघवार्थं सजाकरणम् ।

हलोऽनन्तराः स्फः ॥ १।१।३ ॥ हलोऽनन्तराः विजातीयेरङ्गिभरव्यवहिताः सम्बद्धोच्चारणाः स्फसजा भवन्ति । समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिराश्रीयते । तेन प्रत्येक स्फसञ्ज्ञा न भवति । हल इति जात्यपेक्षो बहुत्वनिर्देशः । तेन ह्योर्ग्रहणा च स्फसञ्ज्ञा । शर्म-कर्मोति रमौ । इन्द्रश्चन्द्र इति नदराः । हल इति किम् ? तितडः । “तनेड्डः सन्वच्च” इति डडः । अघाकारोकारावनन्तरौ स्फान्तखं प्रसज्येत । अनन्तरा इति किम् ? पचति पनसम् । आद्य रूप प्रत्युदाहरण पनसमित्यत्र “स्फादेः स्फोऽन्ते च” [४।३।४६] इति सख स्यात् । स्फ इति वर्णपिण्डेन सञ्ज्ञाकरणं किम् ? एवरूपः समुदायः स्फसञ्ज्ञो यथा स्यादित्येवमर्थम् । स्फप्रदेशाः “स्फेरः” [१।२।१००] “लिङस्फात् किन्” [१।१।७६] इत्येवमादयः ।

नासिक्यो डः ॥ १।१।४ ॥ नासिकाया भवो वर्णो ऽसञ्ज्ञो भवति । नासिकायाश्चावर्णनगरयोर्नासादेशो ये विहितः । अमडणना उदाहरणम् । परस्पर स्वसञ्ज्ञा स्यात् इति चेत् ; नैवम्, स्वस्थानप्रभवा एवामी । उपचारात्नासिक्यत्वम् । यथा मुखप्रभवोऽपि स्वर उपचाराद्वशे भवो वश्य इत्युच्यते । तथापि सति मुख्येऽनुस्वारे नासिक्ये कथमुपचरितग्रहणम् । तस्य ङसजाया प्रयोजनं नास्तीत्यग्रहणम् । ङसञ्ज्ञाकार्यं शान्तो दान्त इति “ङस्य क्विभ्रल्लोः द्विति” [४।४।१३] इति दीत्वम् । नासिक्य इति किम् ? ततम् । “अनुदात्तोपदेश” [४।४।३७] इत्यादिना ङखञ् प्रसज्येत । पङ्कः पङ्कवान् इत्यत्र “ङस्य क्विभ्रल्लोः” [४।४।१३] इति दीत्व स्यात् । वत्वस्य चासिद्धत्वात् “अनुदात्तोपदेश” [४।४।३७] इत्यादिना ङख च प्रसज्येत ।

अधु मृत् ॥ १।१।५ ॥ धुवर्जितमर्थवच्छब्दरूप मृत्सञ्ज्ञा भवति । धोरर्थवतः पर्युदासाच्चा [द] र्थवत्त्वं लभ्यते । अर्थभ्राभिधेयो भावाभावरूपः । तत्र भावरूपो जातिगुणक्रियाद्रव्यभेदेन चतुर्विधः । गौः । शुक्लः । पाचकः । इति । अद्रव्यविचक्षायां जात्यादिनार्थवत्त्वम् । द्रव्याभिधाने तु द्रव्यगुणलिङ्गसख्याकर्मादयो व्यपदिश्यन्ते । तेषां योतनार्थं द्वावदयः स्वादयश्चोत्पद्यन्ते । एव द्वित्यो ङवित्थः । कुण्ड पीठम् । अभावरूपाभिधाने अभावो विनाशः । शशविषाणम् । अजिति किम् ? अहन् । मृत्वे नख स्यात् । पर्युदासादर्थवदिति किम् ? धन वनम् । नवगवधेमृत्सञ्ज्ञायां नख प्रसज्यत । लृः पूरिति वव्यन्तस्य ध्रुत्वेऽपि कृदन्तत्वान् मृत्सञ्ज्ञा । मृत्प्रदेशाः “ढ्याम्मृदः” [१।१।१] इत्येवमादयः ।

एदधृत्सना ॥ १।१।६ ॥ एदन्त एदन्त ससञ्ज्ञकश्च मृत्सञ्ज्ञा भवति । कृत्-जाता । ज्ञातव्यम् । हृत्-प्राजापत्यः । आकाशपतिः । स-जिनधर्मः । साधुवृत्तम् । “सिद्धे सत्यास्मिन् नियमार्थः” [परि०] “नियमश्च विधिः सः प्रतिपदः” इति त्यान्तेषु एदन्तत्ववत्त्वमृत्सञ्ज्ञा । इह मा भूत् । आसिचन् । अभवन् । उत्पन्नानां स्वादीनभोग्यादिनिष्पन्नत्वस्मिन् दर्शनं स्वाद्युत्पत्तिः स्यात् । इह च काण्डे कुट्ये रमते राजकुलमिति “प्रो नपि” [१।१।७] इति मृत्प्राप्तादेशः स्यात् । साहस्यमपि नियमार्थम् । अर्थवत्संघातानां समजकस्येव मृत्सञ्ज्ञा, वाक्यस्य ना भूत् । साहस्यमृत्वे इति, “सुपो एमुदो.” [१।४।१४२] इति सुप उप प्रसज्येत । सग्रहणात् उत्पज्यातीयस्यैव एतत्सञ्ज्ञास्य वाक्यस्य निर्वाहः, न प्रवृत्तित्यमृदापत्यः । तेन “वा सुपो बहुः प्राक्तु” [४।१।१२७] इति वहौ केऽङ्गि च हने नृदृष्टेण एमारिवा उच्चैः पठतीति मृत्वं न निर्वर्तते । ननु च “सुस्मिदन्तं पदम्” [१।२।१०३]

१-मन्मथो-इति पाठः । २.-ति नै-अ० । ३. सम्प्रत्य-इति सुवचम् । ४.-ना तु खं च मु० । ५. स्यात् । सध्वप्यु-अ०, स० ।-नृ । अर्थवतः पर्यु-अ० । ६. न्यायसं० । ७. मुखप्रतिपेधफलमि-अ०, स० । ८. मते । ९. -चिच ह-मु० ।

इत्यत्रान्तग्रहणादन्यत्र “संज्ञाविधौ त्यग्रहणात्तदन्तविधिर्नास्ति” [परि०] इत्युक्तं तत्कथं कृदन्तहृदन्तग्रहणम् ? नात्र संज्ञाविधिः । पूर्वेण विहिताया मृत्संज्ञाया नियमोऽयम् । अथवा “सात्” [५।४।७७] इति पञ्चप्रतिषेधादिह तदन्तविधिर्जायते । अन्यथा सादित्येतस्य केवलस्य मृत्वे “नाद्यन्ते” [५।४।७६] इत्यनेनैव प्रतिषेधः मिद्वः स्यात् । अथ “कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्” [परि०] इति कृद्ग्रहणं समुदायविवक्षया न नियमार्यम् । तेन देवदत्तेन कृतमित्यादेः समुदायस्य मृत्वात् “सुपो भुमृदो” [१।४।१४२] इति सुपः उप् प्रसज्येत । नैप दोषः, “साधनं कृत्वा बहुलम्” [१।३।२६] इत्यस्यानर्थक्यप्रसङ्गात् । सर्वगच्छाना व्युत्पत्तिरस्तीत्यस्मिन् पक्षे, पूर्वपक्षे नान्युदाहरणं, संज्ञार्थमेव तत् ।

प्रो नपि ॥१।१।७॥ मृदिति वर्तमानमर्थात्तान्त सम्पद्यते । प्रादेशो भवति नपि वर्तमानस्य मृदः । नविति नपु सकलिङ्गस्य संज्ञा पूर्वपाम् । श्रियमतिक्रान्तमतिश्रि । अतिरि । अनिवधु कुलम् । अतिनु जलम् । ईकारैकारौ तालव्यौ । ऊकारौकारौ च ओष्ठयावस्माकम्, ततः “स्थानेऽन्तरतमः” [१।१।४७] इति परिभाषया अन्त्यस्याचः प्रादेशः । नपीति किम् ? राजकुमारी । अग्रणीः । मृद इति किम् ? रमने कुलम् । नन्यलिङ्गत्वादाख्यातस्यात्र प्रादेशाप्राप्तिरत एवात्रापि न प्रादेशः काण्डीभूतमिति । इह तर्हि मा भूत् । काण्डे तिष्ठन्, कुड्ये तिष्ठत इति । अत्र मृदधिकाराद् मृदमृदोरेकादेशो मृदन्न भवति ।

स्त्रीगोर्नीचः ॥१।१।८॥ न्यभूतो यः स्त्रीत्यः गोशब्दश्च तदन्तस्य मृदः प्रादेशो भवति । स्त्री इति स्वरितचिह्नितनिर्देशात् स्त्रियामित्येवविहितस्य त्यस्य ग्रहणम् । निष्कौशाम्भिः । निर्मथुरः । उभयगतिरिह शास्त्रे । तेन एकविभक्तित्वादप्रधानत्वाच्च शास्त्रीय लौकिकं च न्यक्त्यं गृह्यते । “त्यग्रहणे यस्मात्स्य तदादेः” इतीयं परिभाषा स्त्रीत्यग्रहणान्नेष्यते । तेन—अतितिलपीडनिः । अतिराजकुमारिः । चित्रगुः । श्वेतगुः । बोक्तत्वादप्रधानत्वाच्च न्यक्त्यम् । स्त्री इति स्वरितचिह्नितग्रहणं किम् ? अतिलक्ष्मीः । अतिश्रीः । नीच इति किम् ? साधुविद्या । सुगौः । इह राजकुमारीपुत्रः सुगोकुलमिति यदपेक्ष न्यक्त्यं तत्प्रति तदन्तस्य नास्तीति न प्रादेशः । मृद इत्यधिकारः किमर्थः ? कुमारीपुत्रः गोकुलम् “बोक्तं न्यक्त्यं” [१।३।६३] इति प्रादेशः प्रमज्जेत । “ईयसो वसे प्रतिषेधो वक्तव्यः” (वा०) बह्वयः श्रेयस्यो यस्य बहुश्रेयसी पुरुषः । विद्यमानश्रेयसी । मान्तो विधिरनित्य इति “कृन्मोः” [४।२।१५३] इति कवपि न भवति ।

हृदुप्युप् ॥१।१।९॥ स्त्रीग्रहणं नीच इति चानुवर्तते । हृदुपि सति स्त्रीत्यस्य नीच उभयवर्तते । आमलकम् । कुवलम् । वटरम् । आमलक्या अवयवः फलम् । “नित्यं दुश्शरादेः” [३।३।१०६] इति मयद् । इतराम्या “प्राग् द्रोण” [३।१।६८] तयोः “उप् फले” [३।३।१२१] इत्युप् । स्त्रीत्यस्य पूर्वेण प्रादेशो प्राप्ते उवनेन क्रियते । तस्य “परेऽचः पूर्वविधौ” [१।१।५७] इति स्थानिवद्भावाद् “यस्य ठ्या च” [४।४।१३६] इत्यकारस्य ख प्राप्तमीविधिं प्रति स्थानिवद्भावप्रतिषेधान्न भवति । एव पञ्चेन्द्रः । पञ्चशङ्कुलः । पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्य “हृदर्थः” [१।३।४६] इति पसः “संख्यादी रश्च” [१।३।४७] इति रमज्ज, “प्राग्द्रोण” [३।१।६८] इति, तस्य “रस्योवनपत्ये” [३।१।७४] इत्युप् । स्त्रीत्यस्योपि “मन्त्रियोगशिष्टानामन्यतरापाये उभयोरप्यभावः” [परि०] इत्यानुको निवृत्तिः । पञ्चभिः शङ्कुलोभिः क्रीतः आर्तादणः “शदुवर्णौ” [३।४।१०६] इत्युप् । हृदिति किम् ? गार्गीपुत्रः । सुप उवत्र । उपीति किम् । गार्गी त्वम् । नीच इत्येव—अवर्णी । कुन्ती । कुरु । अवन्तेरपत्य स्त्री “द्विकुरन्त्यज्जदकोशलान्यः” [३।१।१०३] इति न्यः । तस्य “कुन्त्यरन्तिकुरन्त्यः स्त्रियाम्” [३।१।१०७] इत्युप् । “इतो मनुजजाने” [३।१।५५] इति जी । “ऊस्तः” [३।१।५६] इति ऊ । अत्र उपि सनीत्युच्यमाने प्रसज्येत ।

इद् गोण्याः ॥१।१।१०॥ इकारदेशो भवति गोण्या हृदुपि सति । पञ्चमिर्गोलीभिः क्रीतः पञ्चगोणिः । दशगोणिः । आर्तादणो “शदुवर्णौ” [३।४।२६] इत्युपि कृते स्त्रीत्यस्य पूर्वर्णोपि प्राप्तं ज्ञेन इकारः । गोण्या इति मूत्रे प्रकृतप्रादेशेन मिद्वे इद्वचनं किम् ? कचिदन्यत्रापि यथा स्यात् । पञ्चभिः गर्गिभिः क्रीतः पञ्चर्गिः । समर्गिः ।

आकालोऽन् प्रदीपः ॥१११११॥ आ एति माभिकदिमाभिकमिमात्तणं संक्षितया निर्देशः । प्रदीप एति "सूत्रेऽस्मिन् सुक्षितमिष्टः" [५१२११४] एति जराः स्थाने सुः । अ आ आरश्चनेन काल एव कालो यत्र सोऽन् यथासंख्यं प्र दीप एतेनयंशो भवति । अकालः—दधि । मधु । पितृ । आकालः—सद्यः । गौरी । चागोरुः । आ २ कालः—आगत्य भो मायुन जिनदत्ता २ एतादयः । कालमाह्वं प्रत्येकं परिमाणार्थम् । ततः अकाल एति विशेषणत्वात् मित्रकालयोर्दीपयोर्माह्वं न भवति । अत्रमाह्वं किमर्थम् ? एतन्नां यथातन्निवृत्त्यर्थम् । पतङ्गः । तितउत्तुमिति । प दीपपदेशाः "प्रो नपि" [११११७] एतेनमादयः ।

अचश्च ॥११११२॥ परिभाषेयम् । अचः स्थाने ते प दीपसंज्ञका भवन्ति । "प्रो नपि" [११११७] एति । एतितु । अतिमि । एतुतो विशेषणविशेषणान् एति अजन्तस्य प्रादेशः । अच एति किम् ? सुवाक् प्रतु-कुलम् । एतः प्रो न भवति । "दीरुद्धमे" [५१२११४] एति । नीयते । रूप्यते । अच एति किम् ? गिगते । "एमित्तामदोदीः" [५१२१७२] एतत् कलमायेन शमादिनाञ्च विशिष्टात् एतन्जन्तस्यापि दीलम् । शाश्वति । चावप्रेः प एतत्तपि कलमायेन दिना अतिशिशोः । आगत्य भो मायुन जिनदत्ता २ । अच एति किम् ? भर्गवीरेत् । तकारस्य मा भूत् । चकारः किमर्थः ? सञ्जायिषौ नियमार्थः । एह मा भूत् । योः । पन्थाः । राः । पुष्पाम् । पुमिः ।

उच्चनीचावुदात्तानुदात्तो ॥११११३॥ अजिति वर्तते । उच्चैरुपलभ्यमानोऽन् उदात्तसंज्ञो भवति । नीचे-रुपलभ्यमानोऽनुदात्तसंज्ञो भवति । स्थानकृतमुच्चं नीचत्वं च गुणः सशिनो विशेषणम् । समान एव स्थाने उच्च-भागनिपक्षोऽन् उदात्तयो भवति, नीचभागनिपक्षोऽनुदात्त एति । "निस्त्याः शब्दार्थसंबन्धाः" एति धैरिप्यते तेन निरुपलभ्य नित्यस्य शब्दस्य अक्षयवोपचयापचयाभावात् उदात्तप्रदिव्यपदेशो न पठते, सात्वयवत्त्वे च तेनानित्यत्वं प्राप्नोति । न च नित्यस्य स्थानकरणत्वापारविशेषादिशेषः प्रसज्यते । दृष्टिकपक्षेऽपि नेका नित्याः सञ्जातिरिति यामपेदायाम् योचंरं नीचैरिति परस्परपेक्षो व्यवहारो भवेत् । तस्मादुक्तमनेकान्तमाश्रित्योदा-त्तादयः समर्पणीयाः । न च लोकप्रतीतेषु शब्देषु विभागोऽनुदात्तादयः प्रतीयन्ते केवलं शास्त्रे व्यवहारार्थं प्रति सञ्जायते । भू एति उदात्तात्तादेर् । भविता । एष स्पर्ष एतेतयोस्तोऽनुदात्त एति "उच्चुदात्ततो दः" [११२१६] एति दो भवति । पठते । स्पर्षते । उदात्तानुदात्तप्रदेशेषु उच्चनीचगुणविशिष्टस्य माह्वं प्रत्येकम् ।

व्यामिश्रः स्वरितः ॥११११४॥ उच्चनीचगुणव्यामिश्रोऽन् स्वरितसंज्ञो भवति । पच गज एतन्तस्य स्वरितत्वात् "अस्वरितैः फलप्ये फले" [११२१६८] एति दो भवति । पचे । गजे । स्वरितप्रदेशाः "स्वरितैर्नापिकारः" [११२१५] एतेनमादयः ।

पार्दनेप् ॥११११५॥ प्रत्येकं चावपरिसमाप्तिरानीयते । प्रत्येकमादेया कर्षाणिमैजिलोपा सञ्जा भवति । पार्दिशेपालाजगदिसम पक्षो जायते । तत्रा हि नानर्थकमिदमनार्थप्रामाण्यात् । श्रावणानुशासनमपि न भवति, एतत्ता पचकार लप्यस्यात् । एप्पूसा-स्यापि मूलज्ञा सिद्धा । नापि पूर्वोपरप्रयोगनियमार्थम् । "सावेस्मे" [५११७७] एतत् यथापि प्रयोगदर्शनात् । स्थाना-स्थानार्थमपि न समवति । "अचयत्त [अचयवाप्तोः] [५१२११६] "रायो एति" [५१११४४] "नायो रात्" [५१२१०२] "गुजेरप्" [५१२११] एति च उभयदर्शनात् । लिङ्गा-भा उच्चनीचभागमा । विशेषणवशात् भवतोऽपि प्रतीतपदार्थयोर्भेदं नित्योत्पलवत् । एतन्मन्त्रार्थस्वात्मभावात् सञ्जायते । यः । एह दृष्टा यज्ञः । यच्चानामेवा तद्व्यतिथानामतद्भाविताना च सामान्येनेप्यंशः । तद्भावितानामु-

१. एतन्मन्त्रं च न गतस्य अन्दी-पसंज्ञानिवृत्त्यर्थः । २ 'क्ष' एतस्य एतन्मुदात्तस्य 'प्र' संज्ञार्थं एवपि परममुक्त्वं भवत्येतत् । ३ तितउत्तुमिति 'अउ' एति ए-उत्तंवात्स्य दीर्घज्ञार्थं 'चा पदस्य' [५१११४] एति विनापरा सुक्त्वं भवत्येतत् । ४. विरोध्यते ए०, च०, स० । ५. परिशेषा-च० । ६. सत्यमुदाहर-स० । ७ 'नायो रात्' ए०, च०, स० । एतच्च नोपलभ्यते । 'नायो रात्' एतुपलभ्यते परन्तु नोचितमिदमपि । अन्तरवत्त्वान्न नतो नदेर्नो. [५११८३] एति प्रतिभाति ।



इति प्रकृतिभावः । ईदूदेदिति किम् ? वृत्तावत्र । तपकरणमसन्देहार्थम् “मणीवादिषु नेत्यते” मणीव । दम्प-  
तीव । रोदसीव शोभेते । “संज्ञाविधौ स्यग्रहणे तदन्तविधिर्नास्ति” इति अशुक्ले शुक्ले सम्पन्ने शुक्लयास्ता  
क्ते इति त्यसे त्याश्रयन्यायेन दिसज्ञा न भवति ।

झः ॥१११२१॥ एदिति निवृत्तम् । दकारस्य स्थाने यो मकारस्तस्मात्परावीदूतौ दिसज्ञौ भवतः । अमी  
आसते । अमी अत्र । अमू आसते । अमू अत्र । “बहावीरेतः” [ ५।२।८६ ] इति मत्वमीत्व च । “दादुर्दो  
मोऽदसोऽसे” [ ५।३।८८ ] इति मत्वम् । द्विमात्रस्य औकारस्य द्विमात्र ऊकारः । आश्रयान्मकारादीना  
सिद्धिः । द इति किम् ? शम्यत्र । दाडिम्यत्र । म इति किम् ? द इति तानिर्देशपक्षे तेऽत्रेत्यत्र दकारादेशस्य  
परेणादेपि कृते स्थानिवद्भावात्तद्वद्भावाच्च दिसज्ञा प्रसज्येत । कानिर्देशपक्षे चतुष्पदार्थ इत्यत्र स्यात् । ईदूदित्येव ।  
इमेऽत्र । एकयोगनिर्दिष्टानानेकदेशोऽनुवर्तते निवर्तते चैकदेश इति एदग्रहण निवृत्तमिति । अन्यथा अमुकेऽत्रे-  
त्यत्रानुवर्तनसामर्थ्यादुकारककाराभ्या व्यवधानेऽपि वचनप्रामाण्यादिसज्ञा प्रसज्येत ।

निरेकाजनाङ् ॥१११२२॥ निसज्ञ एकाच् अनाङ् दिसज्ञो भवति । अ अपेहि । इ इन्द्र पश्य । उ  
अपसर । निरित किम् ? चकारात्र । अन्यव्यतिरेकाभ्या प्रकृतेस्त्यस्य च विभागः । अपायिना ह्यनुबन्धलिङ्गेन  
निरनुबन्धादकाराद् भिद्यते णल् । एकश्चासावच्च एकाजिति किम् ? प्रश्नाति । अनाडिति किम् ? आ उद-  
कान्तात् । ओदकान्तात् । टित्करणे येष्वर्थेषु डिदय वर्तते तत्र प्रतिषेधो यथा स्यादन्यत्र दिसज्ञैव भवति ।

“ईपदधे” क्रियायोगे मर्यादाऽभिर्विधौ च यः ।  
एतमातं” डितं विधाद् वाक्यस्मरणयोरडित् ॥”

यथाक्रमम् । आ उष्णम् ओष्णम् । आ इहि एहि । आ उदकान्तात् ओदकान्तात् । आ अर्मकेभ्यः  
आर्मकेभ्यः । आर्मकेभ्यो यशः प्रतीतम् । वाक्यपूरणे स्मरणे चार्थे टित्त्वाभावादिसज्ञा । आ एव तु मन्यसे ।  
आ एव किल तत् ।

ओत् ॥१११२३॥ अनेकाजर्थ आरम्भ । ओदन्तो निर्दिसज्ञो भवति । अहो इति । उताहो इति ।  
अत्र ओदिति प्रधानम् । वचनात्तु प्रधानेनापि तदन्तविधिः । तेनेह लाक्षणिक्त्वान्न भवति । अदोऽभवत् । तिरो-  
ऽभवत् । अनुपदेशोऽदः । [ १।२।१३६ ] “तिरोऽन्तधौ” [ १।२।१४० ] इति निसज्ञा । इह तु गौणत्वान्न भवति ।  
अगौगोः सम्पन्नो गोभवत् । “ध्विडाजूर्यादि” [ १।२।१३२ ] इति निसज्ञा । गौणत्वाद्वाहीके गोशब्दस्य  
अभेदादिवार्यमिति चेत् ? सामान्येन सन्तु तस्य पदस्य प्रयोगाददोषः ।

कौ चेत्तौ ॥१११२४॥ किनिमित्तो य ओकारस्तदन्त इतौ परतो वा दिसज्ञो भवति । पटो इति । पट-  
धिति । साधो इती । साधविती । काविति किम् ? गवित्ययमाह । गौरिति वक्तव्यमशक्त्या गो इत्युक्तमनुक्रियतेऽ-  
नेवान्ताभ्यणात् । अनुकार्यानुकरणयोर्भेदविवक्षायां सत्यर्थवत्त्वे विभक्त्यनुत्पादः । इताविति किम् ? पटोऽत्र ।

ऊजः ॥१११२५॥ उजिन्वेतस्य वा दिसज्ञा भवतीतौ परतः । उ इति, विति । “निरेकाजनाङ्”  
[ १।१।२२ ] इति नित्य दिसज्ञा प्राप्ता । सानुबन्धकानिर्देशः किमर्थः ? अहो इति । उताहो इति । निसघातपक्षे  
निरनुबन्धस्य भा नृत् ।

ऊम् ॥१११२६॥ ऊजः ऊर्मित्यपमादेशो भवतीतौ परतः । इति द्विमात्रो नासिन्म्यो दिसज्ञश्च ऊं  
एति धागपतितोऽपि निग्नकोऽस्ति तत्प्रेतादेव प्रयोगो यथा स्यादित्यारम्भः ।

दाधा भवपित् ॥१११२७॥ दा धा इत्येवरूपा धवो भुसज्ञा भवन्ति पितौ वर्जयित्वा । दारुपाश्च-

१.-पानका—सं०, सं०, सु० । २. अकारेण इत्यर्थः । ३. योगे निर्दि—अ० । ४.-को दे-सं० ।  
५. निरिति प्राणे कत्सास भवतीत्यत आह-अपायिनेत्यादि । ६. लिङ्गेन निरनुबन्धलिङ्गेन निर-अ०, सु० ।  
परतममीचीन एष पाठ । ७. एव-सु० । ८. तेन विना मर्यादा । ९. तेन सहाभिर्विधिः । १०. माह-  
टि-सं०, सं०, सं० । ११. संहृतस्य य० ।

दाहरणम्—नाडायनः । दैवदत्तिः । औपगवः । अतद्भावितानाम्—मालामयम् । रैमयम् । नौमयम् । विम-  
राऽर्थे “नित्यं दुशरादेः” [३।३।१०६] इति मयट् । आदिति तपरकरणमैजर्थम् । तादपि परस्तपर इति ।  
तेन तवैपा महौषधिरित्यादिषु त्रिमात्रचतुर्मात्राणां निवृत्तिः । “आदेर्गैप्” [१।१।१५] इत्यत्र “सूत्रेऽस्मिन्  
सुधिवधिरिः” इति जसः स्थाने सुः । ए’प्रदेशाः “मृजेरैप्” [५।२।१] इत्येवमादयः ।

अदेहेप् ॥ १।१।१६ ॥ अदेडा वर्णानां प्रत्येकमेकित्वेपा सजा भवति । अत्रायतद्भावितानां तद्भा-  
वितानामदेडामेप्सजा । अतद्भावितानाम्—पचन्ति । पचे । एघन्ते । “एघ्यतोऽपदे” [४।३।८४] इति पररूपम् ।  
तद्भावितानाम्—कर्ता । तरति । चेता । स्तोता । ऋकारस्यैवै’प्रसङ्गे स्थानतोऽन्तरतमौ अकाराकारौ भवतः ।  
तौ च प्रसज्यमानावेव रन्तौ । अदिति तपरकरण दी-पनिवृत्त्यर्थमेड्यं च । तेन मालेय खट्वोदा इत्यत्र त्रिमा-  
त्रचतुर्मात्राणां निवृत्तिः । ए’प्रदेशाः “मिदेरेप्” [५।२।७६] इत्येवमादयः ।

इकस्तौ ॥ १।१।१७ ॥ परिभाषेयम् । ऐवेपौ सजया विधीयमानौ इक एव स्थाने भवतः । स्थानि-  
नियमोऽयं न विधिनियम इति । कुत एतत् ? “सक्थ्यस्थित्थ्यश्चाम्” [५।१।५४] इतीको निर्देशात्, एवे  
पोर्लक्षणान्तरेण विधानाच्च । प्रत्यासत्तेः पूर्वमेवुदाहरणं वक्ष्यति । “गाऽग्यो.” [५।२।८१] । करोति । नयति ।  
भवति । “सावैस्मे” [५।१।७७] । अकार्णीत् । अनैपीत् । अहौपीत् । इच्छातो विशेषणविशेष्यभावः । “मिदेरेप्”  
इत्यत्र गृह्यमाणेन मिदादिना इग्विशेष्यते । तेनानन्त्यस्य भवति । “जुसि” [५।२।८०] “गाऽग्यो.”  
[५।२।८१] इति च गृह्यमाणमिका विशेष्यते इतीगन्तस्य भवति । इक इति किम् ? आत्मध्यक्षरव्यञ्जनानां मा  
भूत् । यानम् । ग्लायति । उभिभता । अजित्यत्रानुवर्तनादैवेपोः सगन्धे सिद्धे ‘तौ’ग्रहणं सजाविधाने नियमार्थम् ।  
द्यौः । पन्थाः । सः । यत्र स्थानी निर्दिश्यते तत्र नेद व्याप्रियते । यथा “मिण्यच.” [५।२।३] इति ।

नधुखेऽगे ॥ १।१।१८ ॥ प्रतिषेधसामर्थ्यादेकदेशे धुर्वर्तते । धोः ख यस्मिन्नगे स धुखः । तन्निमित्ता  
वैवेपौ न भवतः । लोलुवः । पोपुवः । मरीमृजः । यङन्तेभ्यः पचावच् । “यङोऽचि” [१।४।१४४] इति  
यङ उप । अतः<sup>१</sup> खात् प्रागेव च यङ उत्रेपितव्यः । अन्यथा देर्ष इत्यत्र अखमजादेश इति कृत्वा तस्य  
स्थानिवद्भावात् “दीङोऽचि क्ङिति युट्” [४।४।६२] इति युट् प्रसज्येत । धुग्रहणे किम् ? लूप्—लपिता ।  
खविधिवर्धलवानिति प्रागेव धुसज्ञाया अनुबन्धनाशः । अत्रागनिमित्तं ख नास्तीति<sup>२</sup> द्रव्यङ्गवैकल्यं नाशङ्कनीयम् ।  
यतो धुग्रहणे सति वसो लभ्यतो धोः ख यस्मिन्निति । वसेन अग इत्यस्य विशेषणं किम् ? कनूयी, कोपयति । अत्र  
पुक्माश्रित्य यख नागनिमित्तमिति न प्रतिषेधः । ‘पसे तु प्रसज्येत । अग इति किम् ? रोरवीति । गर्गिमित्तं  
एवभवत्येव । अत्रापि यङ्खमगनिमित्तं<sup>३</sup> न भवतीति द्रव्यङ्गवैकल्यं न मन्तव्यम्, यतोऽगग्रहणे सति  
धुखनिमित्तत्वं लभ्यते । इक इत्येव । अभाजि । रागः ।

क्क्ङिति ॥ १।१।१९ ॥ गिति किति ङिति च निमित्तभूते यावैवेपौ प्राप्नुतस्तौ न भवतः । गिति—  
“ग्लाम्भूजिस्थः क्लुः” [ २।२।११५ ] इति, भूष्णुः । जिष्णुः । किति—चितम् । स्तुतम् । भिन्नम् ।  
मृष्टम् । ङिति—चिनुतः । चिन्वन्ति । मृष्टः । मृजन्ति । इक इत्येव । कामयते । अचिनवामित्यत्र लगे  
ङित्वात्कस्मान्न प्रतिषेधः, “सुभवत्योर्मिङि” [५।२।८६] इति । अभूत्<sup>१०</sup> । भवतेर्हलादा मिट्प्रतिषेधमचन  
ज्ञापकं ङितो लकारस्यादेशो ङिन्न भवतीति । यासुटो ङित्करणं च ज्ञापकम् ।

ईदूदेद्विदिः ॥ १।१।२० ॥ ईत् ऊत् एत् इत्येवमन्तो यो द्विः स दिमजो भवति । अग्नी र्ति ।  
वायू इति । खट्वे इति । तद्वदित्यनेन द्वे द्वे ईच्चैकदेशो द्विग्रहणेन गृह्यत इतीदग्रन्तश्च भवति व्यपदेश्यग्रन्तश्च ।  
मुख्यरूपेणाय द्विरेकारान्तः । पचेने इति । पचेये इति । मय्या दिमजायाम् “प्रकृत्याऽचि दिपा.” [४।३।१०३]

१. त्रनिवृ-अ०, व०, म० । २. अकारान्तेभ्यश्च । ३. अकारान्ताञ्च न्ययश्च । ४. अत्रायानिना-  
देश इत्यर्थः । ५. वि-अग्रवै-व० । ६. वमे तु अ०, व०, म० । ७. यट् म-अ०, व०, म० । ८. ‘अगनि-  
मित्तं न’ इत्यत्र ‘अनिमित्तं न’ इति पाठः स्वरूपः । ९. ‘क्लु’ मु० । १०. अभूत् इत्यस्य ‘मून्वयोर्मिङि’  
इत्यतः पूर्वमेव पाठो युक्तः । ‘अभूत्’ इत्यस्याग्रे ‘इत्यत्र’ इत्यपि योज्यम् ।

इति प्रकृतिभावः । ईदूदेदिति किम् ? वृत्तावत्र । तपकरणमसन्देहार्थम् “मणीवादिषु नेव्यते” मणीव । दम्प-  
तीव । रोदसीव शोभेते । “संज्ञाविधौ स्वग्रहणे तदन्तविधिनस्ति” इति अशुक्ले शुक्ले सम्पन्ने शुभलास्ता  
वत्ते इति त्यजे त्याश्रयन्यायेन दिसजा न भवति ।

अः ॥१११२१॥ एदिति निवृत्तम् । दकारस्य स्थाने यो मकारस्तस्मात्परावीदूतो दिसजो भवतः । अमी  
आसते । अमी अत्र । अमू आसते । अमू अत्र । “बहावीरेतः” [ ५।२।८६ ] इति मत्वमीत्व च । “दादुदो  
मोऽदसोऽसे” [ ५।३।८८ ] इति मत्वम् । द्विमात्रस्य औकारस्य द्विमात्र ऊकारः । आश्रयान्मकारादीना  
सिद्धिः । द इति किम् ? शम्यत्र । दाडिम्यत्र । म इति किम् ? द इति तानिर्देशपक्षे तेऽन्नेत्यत्र दकारादेशस्य  
परेणापि कृते स्थानिवद्भावात्तद्वद्भावाच्च द्विमात्रा प्रसज्येत । कानिर्देशपक्षे चतुष्पत्यर्थ इत्यत्र स्यात् । ईदूदित्येव ।  
इमेऽत्र । एकयोग निर्दिष्टानामेकरेशोऽनुवर्तते निवर्तते चैकदेश इति एद्ग्रहण निवृत्तमिति । अन्यथा अमुकेऽन्ने-  
त्यत्रानुवर्तनसामर्थ्यादुकारककाराभ्या व्यवधानेऽपि वचनप्रामाण्यादिसजा प्रसज्येत ।

निरैकाजनाड् ॥१११२२॥ निसज एकाच् अनाड् दिसजो भवति । अ अपेहि । इ इन्द्र पश्य । उ  
अपसर । निरिति किम् ? चकारात्र । अन्यव्यतिरेकाभ्या प्रकृतेस्त्यस्य च विभागः । अपायिना ह्यनुबन्धलिङ्गेन  
निरनुबन्धादकाराद् भिप्रते णल् । एकश्चासावच्च एकाजिति किम् ? प्रशनाति । अनाडिति किम् ? आ उद-  
कान्तात् । ओदकान्तात् । डित्करणे येष्वर्थेषु डिदय वर्तते तत्र प्रतिषेधो यथा स्यादन्यत्र दिसजैव भवति ।

“ईपदर्थे क्रियायोगे मर्यादाऽभिर्विधौ च यः ।  
एतमातं” डितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरडित् ॥”

यथाक्रमम् । आ उष्णम् ओष्णम् । आ इहि एहि । आ उदकान्तात् ओदकान्तात् । आ अर्मकेभ्यः  
आर्मकेभ्यः । आर्मकेभ्यो यशः प्रतीतम् । वाक्यपूरणे स्मरणे चार्थे चित्वाभावादिसजा । आ एव नु मन्यसे ।  
आ एव किल तत् ।

ओत् ॥१११२३॥ अनेकाजर्थ आरम्भः । ओदन्तो निर्दिसजो भवति । अहो इति । उताहो इति ।  
आ ओदिति प्रधानम् । वचनात्तु प्रधानेनापि तदन्तविधिः । तेनेह लाक्षणिकत्वान्न भवति । अदोऽभवत् । तिरो-  
ऽभवत् । अनुपदेशेऽद. [ १।२।१३६ ] “तिरोऽन्तधी” [ १।२।१४० ] इति निसजा । इह तु गौणत्वान्न भवति ।  
अगौर्गाः सम्पन्नो गोभवत् । “चिबडाज्यादि” [ १।२।१३२ ] इति निसजा । गौणत्वाद्वाहीके गोशब्दस्य  
पथभेदादिकार्यमिति चेत् ? सामान्येन सस्तु तस्य पदस्य प्रयोगाददोषः ।

को चेनौ ॥१११२४॥ किनिमित्तो य ओकारस्तदन्त इतौ परतो वा दिसजो भवति । पटो इति । पट-  
धिति । माधो इती । साधविती । काविति किम् ? गवित्ययमाह । गौरिति वक्तव्यमशक्त्या गो इत्युक्तमनुक्रियतेऽ-  
नवान्ताश्रयात् । अनुकार्यानुकरणयोरभेदविवक्षायामसत्यर्थवत्त्वे विभक्त्यनुत्पादः । इताविति किम् ? पटोऽत्र ।

उजः ॥१११२५॥ उजित्येतस्य वा दिसजा भवतीतो परतः । उ इति, विति । “निरैकाजनाड्”  
[ १।१।२२ ] इति नित्य दिसजा प्राप्ता । सानुबन्धकानिर्देशः किमर्थः ? अहो इति । उताहो इति । निसघातपक्षे  
निरनुबन्धस्य भा भूत् ।

उम् ॥१११२६॥ उज. ऊमित्ययमादेशो भवतीतौ परतः । इति द्विमात्रो नासिक्यो दिसजकश्च ऊ  
इति यशपठितोऽपि निसजोऽस्ति तत्पेतादेव प्रयोगो यथा स्यादित्यारम्भः ।

दाधा भवपित ॥१११२७॥ दा धा इत्येवरूपा धवो भुसजका भवन्ति पितौ वर्जयित्वा । दारूपाश्च-

१.-यानका—अ०, स०, मु० । २.अकारेण इत्यर्थः । ३. योगे निर्दि—अ० । ४.-को दे-स० ।  
५. निरिति प्राणे कत्मास भवतीत्यत आह-अपायिनेत्यादि । ६. लिङ्गेन निरनुबन्धलिङ्गेन निर-अ०, मु० ।  
परमसमीचीन एष पाठः । ७. एव-मु० । ८. तेन विना मर्यादा । ९. तेन सहाभिविधिः । १०. माड्  
दि-स०, प०, स० । ११. तद्धृतस्य य० ।



त्वारः । प्रणिददाति । दाण् । प्रणिदाता । प्रणिदयते । प्रणिद्यति । धारूपो द्वौ । प्रणिदधाति । प्रणिदधति ।  
 दैपः पित्करणं ज्ञापकम् । अत्र प्रतिपदोक्तपरिभाषा नाश्रीयते । सुमंजाकार्यं “नेर्गदन्द” [५।१।१००]  
 इत्यादिना एत्वं “सुमा” [४।१।६५] इत्यादिना हलीत्व च । दीयते । धीयते । धीत वत्सेन । अपिदिदि  
 किम् ? दायते वर्हिः । अयदायते भाजनम् । सुप्रदेशाः “सुस्थोः” [१।१।६१] इत्येवमादयः ।

क्लृक्त्वत् तः ॥ १।१।२८ ॥ क्लृक् क्लृवतुश्च तस्यौ भवतः । रूपसंज्ञेयम् । कृतः । कृतवान् । भूत इति  
 वर्तमाने इति क्लृक्त्वत्तुल्यौ त्वौ भवतः । कारितः । कारितवान् । “ते सेटि” [४।१।५४] इति णेः खम् ।  
 भिन्नः । भिन्नवान् । “द्रान्तस्य तो नः” [५।३।५६] इति नत्वम् । ककारः क्तकार्यार्थः । उकार उक्तिकार्यार्थः ।  
 तप्रदेशाः “ते सेटि” [४।१।५४] इत्येवमादयः ।

संज्ञाः खुः ॥ १।१।२९ ॥ मजाशब्दवाच्योऽर्थः खुमजो भवति । खुप्रदेशाः “सावन्यपदाय”  
 [१।३।१८] इत्येवमादयः ।

भावकर्म डिः ॥ १।१।३० ॥ भावकर्मशब्दवाच्योऽर्थो डिमजो भवति । डिप्रदेशाः “जिडौ”  
 [२।१।६२] इत्येवमादयः । तत्र भावकर्मणोर्ग्रहणं प्रत्येतव्यम् ।

शि धम् ॥ १।१।३१ ॥ शि इत्येतद्वसज भवति । शि इति नपु सके जश्शसोरादेशस्यार्थवतो ग्रहणम् ।  
 कुण्डानि तिष्ठन्ति । कुण्डानि पश्य । धप्रदेशाः “धेऽकौ” [४।१।६] इत्येवमादयः ।

सुडनपः ॥ १।१।३२ ॥ सुडिति प्रत्याहारेण स्वौजसमौद्य ग्रहणम् । सुड् धसजो भवति नपुसकलिङ्गा-  
 दन्यस्य । राजा । राजानौ । राजानः । राजानम् । राजानौ । “धेऽकौ” [४।१।६] इति दीत्वम् । सुडिति  
 किम् ? राज्ञः पश्य । अनप इति किम् ? सामनी । वेमनी । अनप इति पर्युदासात् स्त्रीपुसम्बन्धिनः सुडो धसजा  
 नपुसके न विधिर्न प्रतिषेधः । तत्र पूर्वेण जश्शसोरादेशस्य शेषसजा भवत्येव । ननु व्यक्त स्त्रीपुसग्रहणमेव  
 कर्तव्यम् ? एवं तर्ह्यनप इति निर्देशात् सापेक्षस्यापि नञः सविधिर्भवतीति ज्ञायते । तेन अश्राद्धभोजी अलक्षण  
 भोजीत्येवमादयः सिद्धाः ।

कतिः संख्या ॥ १।१।३३ ॥ कतिशब्दः सख्यामजो भवति । कतिकृत्वः । कतिधा । कतिकः । कि  
 परिमाणमेवा “किम्” [३।४।१६२] “संख्यापरिभाषे ढतिश्च” [३।४।१६३] इति उक्तः । कति वारात्  
 भुङ्क्ते । कतिभिः प्रकारैः । कतिभिः क्रीत इति । यथाक्रमं “संख्याया ध्वंभ्यावृत्तौ कृत्वस्” [४।२।२४]  
 “संख्याया विधार्थे धा” [४।१।१०६] “संख्यायाः कोऽतिशतः” [३।४।१६] इति क इत्येते भवन्ति ।  
 ननु प्रदेशेषु सख्याग्रहणेनान्वर्थविज्ञानात् सख्यायतेऽनयेति कृत्वा कतिशब्दस्यापि ग्रहणे मित्रे किमर्थमिदम् ?  
 नियमार्थम् । अनियमितेषु कतिशब्दस्यैव सख्यापक्षता । तेन भूतिप्रभृतादीना निवृत्तिः । “संख्यावानुऽवहुगणान्”  
 [४।२।६६] इत्यत्र बहुगणयोः प्रतिषेधान्नवति सख्याग्रहणम् । बहुकृत्वः । गणकृत्वः । वपुत्यमद्वयोर्येन  
 सख्यात्वम् । “वतोर्वेट्” [३।४।२०] इति वचनं ज्ञापकं भवति वत्तन्तस्य सख्याग्रहणेन ग्रहणम् । तावतिकः ।  
 तावत्कः । सख्याप्रदेशाः “संख्याया कोऽतिशतः” [३।४।१६] इत्येवमादयः ।

ष्णान्तेल् ॥ १।१।३४ ॥ कतिः सख्येति वर्तते । पकारनकारान्ता सख्या कतिशब्दश्च इत्यमो भवतः ।  
 ष्णान्तेति पदस्य सख्यापेक्षः स्त्रीलिङ्गनिर्देशः । कतेऽनुवर्तनसामर्थ्यादित्यमजा । पट् । पञ्च । मत । कति  
 तिष्ठन्ति । “उबिलः” [५।१।१६] इति जम उप् । ष्णान्तेति सख्याविशेषणं किम् ? विप्रप पामान इति अन्त-  
 ग्रहणं वसनिर्देशेन सख्याप्रतिपत्त्यर्थमौपदेशिकार्थं च । तेन शतानीत्यादौ न भवति । इत्प्रदेशाः “उबिलः”  
 [५।१।१६] इत्येवमादयः ।

सर्वादिः सर्वनाम ॥ १।१।३५ ॥ सर्वादयः शब्दा प्रत्येक सर्वनामज्ञा भवन्ति । सर्व । सर्वस्मि ।  
 सर्वेषाम् । त्रियाम्-सर्वस्यै । विश्वे । विश्वस्मि । उभयशब्दस्य “सर्वनाम्नो” सा” [१।४।३६] इत्यमर्थः पाठः ।

१. जिडा-अ०, स० । २. स्त्रीपु ससम्ब-अ०, म० । ३. नप. व० । ४. -या अन्या-मु० ।

५.-दि स-मु० । ६.-सो भावत्ये-व० । -म्नो भावत्ये-म० ।

उभाम्या हेतुभ्याम् । उभयोर्हेतोर्यसति । द्विवचनटाप्परश्चायम् । उभौ पत्नौ । उभे कुले । उभे विने । उभे । उभयस्मिन् । उभयेषाम् । जति “प्रथमचरम्” [१।१।४१] आदिविकल्पान् पूर्वनिर्णयेनायमेव विधिः । उभये इति । डतरडतम् इति ल्यौ । कनस्मै । इतर अन्य अन्यतर । इतरस्मै । अन्यस्मिन् । अन्यतरस्मै । ल इत्यय शब्दोऽन्यवाची । त्वे । त्वेगाम् । नेम । नेमस्मिन् । जसि वक्ष्यमाणो विकल्पः । नेमे । नेमाः । समशब्दः सर्वशब्दस्यार्थः । समे । समस्मिन् । अन्यन यथासख्य समाः । समे देशे तिष्ठतीति भवति । सिमः । सिमस्मै । पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्” “स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्” “अन्तरं दहिर्योगोप-संव्यानयोः” त्यद् तद् यद् एतद् अदम् इदम् एक द्वि । अत्रविधि प्रति द्विपर्यन्तात्यदादयः । युष्मद् अस्मद् भवन् किम् । त्यदादीना यत्परं तत्तदुभयवाचि । सर्वनामेत्यन्वर्थसंज्ञाविज्ञानात् सज्ञोपसर्जनाना न भवति । सर्वो नाम कश्चित्तस्मै सर्वाय देहि । अतिक्रान्तः सर्वमतिस्वस्तस्मै अतिसर्वाय । “पूर्वपदात् खावगः” [१।१।८७] इति एव न भवति । सर्वनामप्रदेशाः “आम्यात्सर्वनाम्नः” [१।१।३४] इत्येवमादयः ।

वा दिक्त्वये ॥१।१।३६॥ दिगुपदिष्टे से वसज्ञके सर्वादीनि वा सर्वनामसंज्ञकानि भवन्ति । “न वे” [१।१।३७] इति प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम् । दक्षिणपूर्वस्यै । दक्षिणपूर्वायै । उत्तरपूर्वस्यै । उत्तरपूर्वायै । दक्षिणस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोऽन्तरालमिति विदुः “दिशोऽन्तराले” [१।१।८८] इति वसः । “सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः” [वा०] इति पूर्वपदस्य पुंवद्भावः । उत्तरपदस्य “स्त्रीगोर्नोचः” [१।१।८८] इति प्रः । पुनष्टाप् । प्रतिपदोक्तस्य दिक्त्वस्य ग्रहणादिह नास्ति विकल्पः । दक्षिणैव पूर्वा अस्य मुग्धस्य दक्षिणपूर्वाय देहि । दक्षिणा च सा पूर्वा च सा अस्मिन्नपि विग्रहे परत्वात् “दिशोऽन्तराले” [१।१।८८] इतीय प्रातिर्न राज्ञ दण्डवारितेति कर्त्तव्यमेवेदं सूचन् । दिग्ग्रहणं किम् ? “न वे” इति प्रतिषेधं वक्ष्यति तस्य प्रतिषेधस्यास्य च विकल्पस्य विग्रहणार्थम् । सग्रहणं किम् ? साधिकारविहिते वसे विकल्पो यथा स्यादातिदेशिके मा भूत् । दक्षिणदक्षिणस्यै देहि । “आवाधे” [१।१।८८] इति द्विलम् । ववदतिदेशश्च “न वे” इत्यत्रापीदं सग्रहणमनुवर्त्तते तेनापि न प्रतिषेधः । द्रग्रहणं किम् ? दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् । द्वन्द्वे विकल्पो मा भूत् । ननु प्रतिपदोक्तस्य चरणमोक्तं ततो “द्वन्द्वे” [१।१।३६] इत्येव प्रतिषेधः सिद्धः । उत्तरार्थं तदिह वग्रहणम् ।

न वे ॥१।१।३७॥ वने सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि न भवन्ति । ह्यन्याय । अन्यथाय । “सर्वनामसंख्ययोः” इति वक्ष्यत्वेन पूर्वनिपातः सख्याया एव । प्रियविश्वाय । प्रियोभयाय । इदमेव प्रतिषेधवचनं शापकमत्र तदन्तविधिरस्तीति । तेन परमसर्वस्मै इत्यत्रापि सर्वनामसंज्ञा । ननु सर्वनामसंज्ञायामन्वर्थविज्ञानात्सज्ञोपसर्जननिवृत्तिरुक्ता सज्ञोपसर्जनध्वंस इति सर्वनामसंज्ञायाः प्राप्त्यभावात्संज्ञमिदमनर्थकम् । नानर्थकमेतत्, प्रयोजनसंज्ञावात् । त्वकं पिताऽस्य अत्र पिताऽस्य त्वकपितृकः । मत्कपितृकः । वसावयवस्य सर्वनामसंज्ञाविरहादगमा भूत् । कुत्साद्यर्थे के परतः । “त्ययोश्च” [१।१।३६] इति लमादेशौ । स इत्येव । एवैकस्मिन् । “एको वषत्” [१।१।३७] इत्यातिदेशिके वने प्रतिषेधो मा भूत् । दाशधिकारे पुनर्ग्रहणं वसगर्भे द्वन्द्वेऽपि नित्यप्रतिषेधार्थम् । वक्षान्तरग्रहान्तरा इति ।

भासे ॥१।१।३८॥ भासे सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि न भवन्ति । मात्पूर्वाय । सवत्सरपूर्वाय । भासेन पूर्वः । “पूर्वादत्तरा” [१।१।३८] आदिसूत्रेण भातः । सः इति वर्त्तमाने पुनः सग्रहणं भासार्थं वाक्येऽपि तत्संज्ञाप्रतिषेधार्थम् । भासेन पूर्वः । ह्येव च “पूर्वावर” [१।१।३८] इत्यादि भासे यद् वाक्यं तत्र प्रतिषेधो न । “सधन इत्ता दहुल्म्” [१।१।३६] इति भासे । लवका कृतम् । मयका कृतम् । अन्यथा लत्वेन कृतं मत्वेन कृतमिति स्मृत् । लवका मरुतेति पूर्व लमादेशौ । ततः सुवन्तादक् । तथा ह्यन्विधौ वक्ष्यति । मृदः सुपः इति च ह्यन्विधौ वक्ष्यते । अनिधानतश्च व्यवस्था । तत्र मृदः प्राक् सुगोऽभवति । युष्मकाभिः । असकाभिः ।

१. एवरोपदादिनो हि “त्यदादीनाम्निधः सहोक्तौ यत्परं तन्निवृत्त्यते” इति वचनेन परस्य पूर्वार्थ-परिधानमनुपगच्छन्ति । पर “त्यदादीनां यत्परं तत्तदुभयवाचि” इत्यं कशेषमकृत्यैवायमाचार्य एक-मेवप्रयोजनं निर्मादयति । २. ‘सर्वनाम’ इत्यत्र इति शेषः । ३. सौत्रत्वात् इति शेषः । ४. ‘प्रदाय’ सु० । ५. ‘न वे’ सूत्रार्थमित्यर्थः । ६. ‘एव’ सु० ।

युष्मकासु । अस्मकासु । युवकयोरावकयोरिति । क्वचित्तु सुवन्तस्याक् । त्वयका । मयका । त्वयकि । मयकि ।

द्वन्द्वे ॥१११३९॥ द्वन्द्वे मे सर्वादिनि सर्वनाममज्ञानि न भवन्ति । कतरकतमात्र । कतरकतमात्र । कतरकतमानाम् ।

वा जसि ॥१११४०॥ द्वन्द्वे मे सर्वादयः सर्वनाममज्ञाना वा भवन्ति । कतरकतमे । कतरकतमाः । प्रवेणं नित्यप्रतिषेधः प्राप्तः । जमीत्याधारनिर्देशाज्जमि कार्यं जीभावो विभाष्यते । अक् तु पूर्वैरेव प्रतिषिद्धः । यदि जनि परतस्तत्संज्ञा विकल्प्येत तदा मजापन्नेऽगमयेत् । कतरकतमके इत्यनिष्ट प्रसज्येत । कुत्साद्यर्थविवक्षाया तु ने मति तद्व्यवधानान्न शीभावः । अतः कतरकतमका इति सिध्यति । न च केऽपि सति स्वार्थिकस्य प्रकृतिप्रयोगेन ग्रहणम् । अन्यथा सर्वादौ डतरडतमग्रहणमनर्थकं स्यात्, सर्वनाम्न एव तयोर्विधानात् ।

प्रथमचरमतयाल्पाध्वकतिपयत्वेमाः ॥१११४१॥ प्रथमादयः शब्दा जसि वा सर्वनाममज्ञाना भवन्ति । प्रथमे, प्रथमाः । चरमे, चरमाः । तय इति त्यग्रहणं तेन वचनात्मजाविधावपि तदन्तविधिः । द्वाववयवापरा-मिति द्वितये, द्वितयाः । “संख्याया अवयवे तयट्” [ ३।३।१६४ ] इति तयट् । एहदशविभक्तस्यान्य-त्वाद्विकल्पः द्वये द्वयाः । उभये । अयमुभयराजः सर्वादित्वान्नित्यं सर्वनाममज्ञानः । अल्पे, अल्पाः । अय, अया । कतिपये, कतिपयाः । नेमे, नेमाः । नेमशब्दस्य प्राप्तेऽन्येषामप्राप्ते विभाषा । अत्रापि जमः कार्यं प्रति निरूप्य । कुत्साद्यर्थे के कृते तेन व्यवधानात्पक्षेऽपि सर्वनाममज्ञाना न भवति । तेन प्रथमका इत्यादि निवृत्तम् ।

पूर्वादयो नव ॥१११४२॥ पूर्ववादयो नव सर्वादौ व्यवस्थिता जमि वा सर्वनाममज्ञाना भवन्ति । तथा पि-“पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्” “स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्” “अन्तरं वयिर्गोप-संव्यानयो” इति । पूर्वे, पूर्वाः । परे, पराः । अग्रे, अग्राः । दक्षिणे, दक्षिणाः । उत्तरे, उत्तराः । अग्र, अग्रा । अग्रे, अग्रराः । व्यवस्थायामिति किम् ? दक्षिणा इमे गावकाः । अपरा वादिनः । नात्र दिग्दशकाल-क्रतोऽवधिनियमो व्यवस्था प्रतीयते, किं तर्हि ? प्राचीण्यमन्यार्थता च । अमजायामिति किम् । उत्तरा मृगाः । व्यवस्थायामपीय मजा । नेपा ह्ये शिष्याः स्वाः । यदा ज्ञातिधनयोः सन्नारूपेण वर्तते तदा तदा नृभिः सर्व-नाममज्ञाना । उल्लुकादीन् स्वा दहन्ति । विद्यमाना अपि स्वा न दीयन्ते । अन्तरे गृहा । अन्तरा गृहा ।

विदुषः पश्य । शास्त्रान्तरेण गूतो यणः स्थाने<sup>१</sup> इक् स जितञो यथा “जेः” [ ४।३।६५ ] इति परपूर्वत्वम् , जेरिति दीत्वम् । हूतः । गृहीतः । यदि यणः स्थाने इक् भाव्यमानो जितञ इहापि स्यात् , अदुहितराम् । अदुगु-  
भ्याम् । अन्नगुवा । दुर आत्मकर्मणि लङ् । “स्तोश्च जेश्च” [ २।१।५६ ] इति जियकोः प्रतिधः । शप्  
त गोप् । अत्र लत्व स्थाने इट् वकारस्य स्थान उदूठा<sup>२</sup> ? ततश्च “जः” [ ४।३।६५ ] इति परपूर्वत्व “लः”  
[ ४।४।२ ] इति दीत्व च प्रसज्येत । नाय दोषः , भावव्या सजया विधायमानस्यको जित्यात् । “कार्यकाल  
मंशपरिभाषम्” इति । जिप्रदेशाह “वे व्यस्य पुत्रपत्योजः” [ ४।३।६ ] इत्येवमादयः

ता स्थाने ॥१।१।४६॥ येमनुसूत्रमुच्चारिता ता सा स्थान एव ज्ञातव्या । बहवो हि तार्थाः । स्वस्वामि-  
नग्रन्धमीपसमृद्धिकातवयवस्थानादयः । तेषु प्रातेषु नियमः क्रियते-अन्यार्यसप्रत्ययो मा भूदिति । नित्य-  
शब्दार्थमग्रन्धविवक्षाया स्थान उब्दः प्रसङ्गवाची । प्रसङ्गश्च प्रातार्हत्वं स्वार्थप्रत्ययकावसरो वा । यथा गुरोः  
स्थाने शिष्य उपचरते इति गुरोः प्रसङ्ग इति गम्यते । एवमस्ते, स्थाने प्रसङ्ग भूः । भविता । भवितुम् ।  
भवितव्यम् । वृजः प्रसङ्ग वचिर्भवति । वह्ना । वक्तुम् । वक्तव्यम् । अनित्यशब्दार्थसम्बन्धविवक्षाया मपकर्ष-  
वाची स्थानशब्द<sup>३</sup> । यथा गो. स्थाने अश्व वध्नाति । एवमस्तेः स्थानेऽपकर्षे भूर्भवति । अस्तोरनन्तरमस्ते.  
समीप त्वेवमादयो निवर्तिता भवन्ति । यत्र तानिर्देशे सम्बन्धविशेषो न निर्ज्ञातस्तत्रेयं परिभाषोपतिष्ठते । शास  
इत्येवमादिषु तु प्रागे य उट् तत्त्वेत्यवयवयोगो निर्ज्ञात इति नेय व्याप्रियते ।

स्थानेऽन्तरतमः ॥१।१।४७॥ अन्तरः प्रत्यासन्नः । स्थाने प्राप्यमाणानामन्तरतम एवादेशो  
भवति । प्रान्तरं च शब्दस्य स्थानार्थगुणप्रमाणतः । स्थानतः—लोकागम् । “स्वेज्को दी.” [ ४।३।८८ ] इति  
कण्टय एवाकारो दीर्भवति । अर्थतः—वतण्डस्यापत्य स्त्री “वतण्डात्” [ ३।१।६७ ] इति यञ् । तस्य “स्त्रिया-  
सुप्” [ ३।१।६८ ] इत्युप् । वतण्टी चासौ युवतिश्च वातण्ड्ययुवतिः । “पोटायुवतिस्तोक” [ १।३।६० ] आदि  
सूत्रेण यक्त प्रस, “म्युक्तपुंरु” [ ४।३।१४६ ] आदिना पुवद्भावः प्राप्तो “जातिश्च” [ ४।३।१५३ ] इति  
प्रतिपिठः “पुंवचजातीयदेशाये” [ ४।३।१५४ ] इति । अर्थतो वातण्ड्यशब्दो भवति । गुणतः—  
पाक<sup>४</sup> । त्याग<sup>५</sup> । अत्रपाणस्य घोषवतस्तादृश एव । प्रमाणतः—अमुष्मै । अमूभ्याम् । प्रस्य प्रः । दीसञ्कल्प्य  
दी । स्थान इति वर्तमाने पुनः स्थानादण यत्रानेकमान्तर्यं सम्भवति तत्र स्थानत एव भवतीति । चेता । स्तोता ।  
प्रमाणतोऽकारः प्रातः स्थानतोऽन्तरतमावेकारौकारौ च । तत्र पुनः स्थानग्रहणात्स्थानकृतमेवान्तर्यं बलीय  
इत्यकारौकारो भवतः । तमग्रहण किम् ? वाग्धसति । हकारस्य पूर्वस्वत्वे सोष्मणस्तोष्मा द्वितीयः प्राप्तो नादवतो  
नादवाकृतीयः । तमग्रहणात् सोष्मा नादवाश्च स चतुर्थो भवति ।

रन्तोऽणुः ॥१।१।४८॥ उः स्थानेऽणु प्रसज्यमान एव रन्तो भवति । लक्षणांतरेण विधीयमान  
एवाणु विधानबलेन तत्सहायक प्रतिप्रमानेन<sup>६</sup> रन्तो गव्यत इत्यर्थः । अकर्तरीति निर्देशात्सर्वादेशो न  
भवति । वतां । विपति । गिरति । द्वेमातुरः । भरतः । शातमातुरः । द्वयोर्मात्रोरपत्य<sup>७</sup> [ शतमातुरपत्यम् ]  
‘तत्प्रापत्यम्’ [ ३।१।७७ ] इत्यणि पठतो “मातुरुत्तरायाऽसम्भद्रादेः” [ ३।१।१०४ ] इत्युकारादेशः । उरिति  
ति । नेप् । पन्था । अणिति किम् ? मातापितरौ । सौधातकिः । आनङ्ग्रकडौ सधातावेतौ । नाणौ ।  
‘परिरेयत् ततो स्थान एव रन्त ? यो हि द्वयास्तानिर्दिष्टयोः स्थाने भवति सोऽन्यतरेणापि व्यपदिश्यते ।  
गन्त पुन । नाणां पुन । अत्राणुमरयोः न्वसशोत्ता । तेन तवत्कारः । कथ लन्तत्वम् ? रन्त इति लणो  
लाग्नान्तरेण प्रलोक नर्देशात् प्रत्याहारादणम् । तेनादोषः ।

१. स्थाने रन्तो ति-सु० । २. प्राप्यमाणसरो चा ज०, स० । ३. उन्मस्य सु० । ४. “रन्तोऽणुः”  
सु० रन्तत्वात्पठनेन । ५. पठनेनेति गोप् । ६. यत् शतमातुराणामपत्यं तस्या, अ०, च०, स० ।

अन्तेऽलः ॥१११४६॥ तानिर्दिष्टस्य य उच्यते विधिः सोऽन्ते वर्तमानस्यालः स्थाने भवति । “ता स्थाने” इति तास्थाने निर्जातस्यानेनान्ते उपसहारः । क्रियते । टिलिन्मितस्त्ववयवसम्बन्धतानिर्दिष्टस्य विधीयमाना अन्तस्य न भवन्ति । “इद् गोण्याः” [ ११११० ] पञ्चगोणिः । दशगोणिः । अन्यस्येद् भवति । ननु “पुंसीदोऽः” [ ११११६६ ] इति वर्तमाने “हलि खम्” [ ११११७१ ] इतीद्रूपस्य योऽन्त्यस्तस्य प्राप्नोति । “नानर्थकेऽन्तेऽलो विधिः” इति न भवति । “ता स्थाने” इत्यस्य योगस्य किं प्रयोजनम् ? यस्तानिर्दिष्टस्तस्य स्थाने आदेशो यथा स्यादधिकस्य मा भूत् । “पाद. पव्” [ ४१४११६ ] इति । द्विपदः पश्य । पादन्तस्य न भवति ।

डित् ॥१११५०॥ डितः सर्वेऽनेकालः । डिद्य आदेशोऽनेकाल् सोऽन्तेऽलः स्थाने भवति । वक्ष्यति “युष्मदस्मदोऽकड् खञ्” [ ३१२१२१ ] यौष्माकीणः । आस्माकीनः । दकारस्याकड् । अकारोच्चारणसामर्थ्यात्तरूपाभावः । “सिद्धे सत्यारम्भो नियमस्य” डिदेवानेकालन्त्यस्य स्थाने । अतोऽन्यः सर्वस्य । “अस्तिनू-जोभूवच्ची” [ ११४१२४ ] इत्येवमादयः सर्वादेशाः ।

परस्यादेः ॥१११५१॥ परस्य कार्यं शिष्यमाणमादेरलः स्थाने वेदितव्यम् । क्व च परस्य कार्यम् । यत्र कानिदेशेन “ईष्केत्यव्यवाये पूर्वपरयोः” [ १११६० ] इति परस्य ताप्रकृतिः । “ईदासः” [ ११११४२ ] आसीनो मुङ्क्ते । द्वयनगोरीदपः” [ ४३१२०२ ] द्वीपः । अन्तरीपः । समीपः ।

शित्सर्वस्य ॥१११५२॥ शिदादेशः सर्वस्य स्थाने वेदितव्यः । “जशसोः शिः” [ ११११७० ] धनानि तिष्ठन्ति । वनानि पश्य । इदमेव ज्ञापकमनुबन्धकृतमनेकालत्वं न भवतीति । तेन “द्विच उव्” [ ४३११०८ ] इत्येवमादिषु सर्वादेशो न भवति । ण अल् णालिति प्रश्लेषनिर्देशाण्यलादयः सर्वादेशाः । “अथाभ्य श्रौण्” [ १११११८ ] इति “परस्यादेः” इतीम वाधित्वा शित्वेन परत्वाद्वा सर्वादेशः ।

टिदादिः ॥१११५३॥ टियः स तानिर्दिष्टस्यादिर्भवति । “बलाद्यगस्येद्” [ १११८४ ] लविता । लवितुम् । लवितव्यम् । “ता स्थाने” इत्यस्यायमपवादः । “चरेष्टः” [ २१२१२१ ] इत्येवमादौ तानिर्देशाभावाद्वादौ विधिः । अथवा “मध्येऽपवादाः पूर्वान्विधीन् वाधन्ते” इति “ता स्थाने” इत्यस्येव बाधो न तु त्यपरत्नस्य ।

किदन्तः ॥१११५४॥ कियः स तानिर्दिष्टस्यान्तो भवति । मुण्डो भीषयते । जटिलो भीषयते । भियो णिच् हेतुभयार्थे । “ईतः पुग्नित्यम्” [ ४३१४६ ] इति पुक् । “योर्भास्मेहेतुभये” [ ११२१६४ ] इति वः । पूर्वोक्तपरिहाराद् “जातः कः” [ २१२१३ ] इत्येवमादिषु नातिप्रसङ्गः ।

परोऽचो मित् ॥१११५५॥ अन्त इति वर्तते । अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामः । मित्यः स तानिर्दिष्टस्यान्यादचः परो भवति । अन्तग्रहणानुवृत्तेर्हलन्तस्यापि भवति । अन्यथा अच इति विशेषणम् । तेन तदन्तर्गिरः स्वयमेव लभ्येतेति वक्ष्यति । “इदिद्धोनुम्” [ ५११३७ ] नन्दिता । नन्दितुम् । नन्दितव्यम् । व्यपदेशवद्भावादत्रान्त्यत्वम् । “रुधितुदादिभ्यां शनश्शौ” [ २११७३ ] रुणद्धि । भिनन्ति । “ता स्थाने” [ ११११४३ ] “त्यः” [ २११११ ] “परः” [ २१११२ ] इत्यनयोरयमपवादः । “मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् वाधन्ते” इत्यन्या परिभाषा “तृणह” [ ५१२१६० ] इति निर्देशात् ।

स्थानीवादेशोऽनल्विधौ ॥१११५६॥ स्थान प्रसङ्गोऽस्यास्तीति स्थानीव भवत्यादेशः । स्थान्या श्रयेषु कार्यध्वनलाश्रयेषु स्थान्यादेशयोर्नालात् स्थानिकार्यमादेशः न प्राप्नोतीत्यतिदिश्यते । धुगुत्तद्गु गुमिन् पदगादेशाः प्रायः प्रयोजयन्ति । घोरदेशो घुरिव भवति । अर्नर्भभावे धोविहितान्वयादयः सिद्धाः । भस्मिन् । भवित्त । गोरदेशो गुरिव भवति । त्रयाणाम् । “गोः” [ ४१४११ ] “नामि” [ ४१४१३ ] इति दील्य सिद्धम् । कृदादेशः कृदिव । प्रहृत्य । प्रहृत्य । प्यादेशो कृते पिति तुज्जिद्धः । हृदादेशो हृदिव । अर्वादेशो अर्वादि ।

१. नानुयन्वेति परिभाषा एतन्मात्रार्थान्तिष्यद्वा । २. “वाधा” अ०, व०, ग० । ३. तानिर्देशा-भावादित्यर्थः ।

शालाकिः “प्राग्याट्ठण्” [३।३।१२६] इकादेशो कृते “कृद्धृत्साः” [१।१।६] इति मृत्सजा सिद्धा ।  
 सुमादेशः सुवि । वृत्ताय । डेर्यादेशोऽपि “सुपि” [१।२।१६७] इति दीत्वं सिद्धम् । मिडादेशो मिडिव ।  
 वभूवतुः । वभूवुः । अतुस्युसि च कृते “सुम्मिज्जन्तं पदम्” [१।२।१०३] इति पदमजाया ‘पदस्येति’ रित्त्वं  
 सिद्धम् । पदादेशः पदमिव भवति । ग्रामो वः खम् । ग्रामो नः खम् । वस्नसोः कृतयोः पदस्येति रित्त्वं सिद्धम् ।  
 गादेशो ग इव । अचिनुतम् । डिलादेः प्रतिषेधः । इवेति किम् ? स्थानी आदेशस्य सजेति मा विजायि ।  
 अत्र को दोषः ? “आटो यमहगः” [१।२।२३] इति वधेरेव दर्विधः स्यादन्तेस्त्वाश्रयस्य न स्यात् ।  
 इवग्रहणादुभयत्र भवति । आहत । आवधिष्ट । आदेशग्रहण किम् ? विकारमात्रेऽपि यथा स्यात् । पचतु ।  
 पचन्तु । मिडन्त पद सिद्धम् । अनल्विधाविति किम् ? यौः । पन्थाः । स्यः । व्युपथित्यदादेशा न स्थानिवद्  
 भवन्ति । स्थानिवद्भावे “एट्टड्यापः” [४।३।१६] इति सोः ख प्रसज्येत । अलः परो विधिरय प्राप्तः ।  
 क इष्ट इत्यत्रेकारस्य स्थानिवद्भावे हशि रेत्वं प्रसज्येत । अलि विधिरयम् । प्रदीव्येति क्वात्यस्य स्थानिवद्भावे  
 “क्वात्तायस्ये” [१।१।८४] प्रसज्येत । अलः स्थाने विधिरयम् । अलाश्रयो विधिः अल्विधिः । शाक-  
 पार्थिवादिवन्मयूरव्यसकादित्वात् ।

**परेऽचः पूर्वविधौ** ॥१।१।१७॥ आदेशः स्थानीवेति वर्तते । अजादेशः परनिमित्तकः पूर्वविधौ  
 कर्तव्ये स्थानीव भवति । पटुमाचष्टे पटयति । णिनिमित्तस्य स्थानिवद्भावात् “उडोऽस्तः” [१।२।४]  
 रत्येभ्य भवति । अवधीन् । अगनिमित्तस्यातः खस्य स्थानिवद्भावात् “प्रतोऽनादेर्धेः” [१।१।८३] इति हलन्त-  
 लक्षण ऐद्विकृत्यो न भवति । पूर्वण “अनल्विधौ” [१।१।१६] इति प्रतिषेध उक्तेऽल्विध्यर्थमिदम् । परे  
 इति किम् ? वर्यापत्रः । पादस्य खमजादेशः परनिमित्तो न भवतीति पद्भावे स्थानीव न भवति । युवतिर्जायाऽ-  
 स्य युवजानिः । जायाया निङ् न परनिमित्तक इति “वलि व्योः खम्” [४।३।१५] न प्रतिबध्नाति । अच  
 इति किम् ? प्रगत्य । ये परतो ऽस्य ख परनिमित्त प्रस्य तुकि कर्तव्ये स्थानीव न भवति । पूर्वविधाविति  
 किम् ? नन्धेयः । निधेरपत्य “द्वयचः” [३।१।११०] “इतोऽनिजः” [३।१।१११] इति ढणि परविधौ कर्तव्ये  
 आत्वस्य न स्थानिवद्भावः । अन्यथा व्यचो ढण् न स्यात् । हे गौः । परविधौ सुखे कर्तव्ये ऐपो न स्थानिव-  
 द्भावः । अचोऽनादिष्टात् पूर्वविधौ स्थानिवद्भावः । इह मा भूत् । अचीकरत् । अजीहरत् । अत्र हि  
 “शौ कच्युट्” [१।२।११५] इति प्रादेशो कृते द्वित्वे च प्रादेशस्य स्थानिवद्भावात् “घौ कच्यनक्त्वे सन्वत्”  
 [१।२।१६०] इति सन्वद्भावो न प्राप्नोति । आदिष्टादेशोऽचः पूर्व इति स्थानिवद्भावान्न भवति । वाय्वोरध्व-  
 योरत्यत्र यत्विधि प्रति स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् “वलि व्योः खम्” [४।३।१५] इति यत्वं प्राप्नोति ।  
 पर्वव्योऽत्र यत्नः ।

**न पदान्तद्वित्ववरेयखस्वानुस्वारदीचर्विधौ** ॥१।१।१८॥ पदान्तादिविधिष्वजादेशः स्थानीव  
 न भवति । पृथ्ण प्राप्तस्य स्थानिवद्भावस्य प्रतिषेधोऽयम् । पदान्तविधौ—कौ स्तः । कानि सन्ति । अतः  
 च विजिगमित्तमावादेशे यणादेशे च कर्तव्ये स्थानीव न भवति । अथ नात्र नियमः पूर्वविधेः । स्तः कौ, सन्ति  
 कानि इत्यपि प्रयोगात् । आदिष्टाच्चाचः पूर्वमोकारादि । इदं तलुदाहरणम्—अभिपन्ति । निपन्ति । द्वित्व-  
 विधौ—अप्यन । मध्यत्र । यणादेशस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् “अनचि” [१।४।१२७] इति धकारस्य दित्व  
 सिद्धम् । “असिद्धं दहिरंगमन्तररो” इति स्तान्तस्य ख न भवति । वरविधौ—यायावरः । यातेर्यङन्तात्  
 “यो यट्” [२।२।१५०] इति वरे कृतेऽतः खस्यागनिमित्तस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधाद्यत्वे च कृते अका-  
 रस्य स्थानिवद्भावात् “इटि चान्तम्” [४।४।६३] इत्यात्व न भवति । ईविधौ—आमलकम् । पञ्चदाक्षिः ।

१. पदान्त “सन्वत्प्राप्ति” इति रित्त्वं सिद्धमिति । २. व्याघ्रस्येव पदावस्येति वसे “खम्पा-  
 दन्तात्प्राप्ते” इत्यन. स्ते ततोऽपन्त्यार्थे “गगार्थेयज्” इति यजि “पादः पत्” इति पदादेशो ण्विचि  
 रैवाप्रस्य इति । ३. “होः यलंपे च होपाजादेश एव न स्थानिवत्” इत्येवंरूपो यत्नः ।

आमलक्या अवयवः कल "नित्यं दुग्गरादेः" [३।३।१०६] इति मयट्। तस्य "उफले" [३।३।१२१] इत्युप्।  
 "हृदुप्युप्" [१।१।६] इति स्त्रीत्यन्वोप् परनिमित्तकस्तस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् "यस्य डयां च"  
 [४।४।१३६] इत्यल न भवति। पञ्चभिर्दानीभिः क्रीतः "रादुचखौ" [३।४।२६] इति ठण उपि स्त्रीत्यन्वोप्।  
 तस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधादिकारस्य ख न भवति। यखविधौ—कण्डति। कण्डयो, "क्तिव्क्तौ सौ"  
 [२।३।१५०] इति क्तिचि कृतेऽतः खन्यागनिमित्तस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् "वलि व्योः खम्"  
 [४।३।५५] इति यल भवति। उवादेशे प्रति स्थानिवद्भावः स्यादिति चेद् भवतु। च्छ्वो, शृङ् भविष्यति।  
 ततः स्वेऽको दीत्वम्। योऽनादिष्टात्पूर्वं इति न्यायात्पुनरुवादेशो न भवति। स्वविधौ—शिखिड। पिखिड।  
 शनस खस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधादत्रानुस्वारस्य परस्वत्य भवति। अनादिष्टादच, पूर्वस्थानी नकारस्तस्यै  
 वाय विधिः। अनुस्वारविधौ—शिपन्ति। पिपन्ति। "नश्चापदान्तस्य झलि" [५।४।८] इत्यनुस्वारे  
 कर्तव्ये नकारः "शनस. खम्" [४।४।१०१] इत्यनादिष्टादचः पूर्व इत्यल न स्थानिवद्भवति। दीविधौ—प्रतिदीनः।  
 प्रतिदीना। अनः खस्य परनिमित्तस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् "हल्यभकुछुरे" [५।३।८६] इत्यनुवृत्तौ "उडि"  
 [५।३।८७] इति दीत्व सिद्धम्। वकारो हल्गरोऽस्मादेव वचनात्। चर्विधौ—जन्तुः। जन्तुः।  
 "गमहनजनखनयसोऽनडि ङिडति" [४।४।६३] इत्युडः ख घकारस्य चवे कर्तव्ये स्थानीव न भवति।  
 गिर्योरिति प्रकृतिपूर्वत्वेनान्तरङ्गे दीवे कर्तव्ये यणादेशोऽसिद्धः।

द्वित्वेऽचि ॥१।१।५६॥ नम्रान्तद्वित्वेऽप्यतो द्वित्वग्रहणमनुवर्तते। त कार्यविशेषणम्। द्वित्वनिमित्ते  
 ऽन्यजादेशो द्वित्वे कर्तव्ये स्थानीव भवति। रूपातिदेशोऽयम्। आदुङ्गिखान्त स्थायापदेशा प्रयोजनम्।  
 आत्वम्—पपुः। पपुः। "इटि चात्वम्" [४।४।६३] इत्यात्वस्य स्थानिवद्भावादेकाचो लिटि द्वित्व  
 सिद्धम्। उडः खम्—जम्पुः। जम्पुः। "गमहनजनखनयसोऽनडि" [४।४।६३] इत्युडः खस्य स्थानिवद्भावाद्  
 द्वित्व भवति। णिखम्—आटिडत्। लुडि कचि णिखे च कृते णिखस्य स्थानिवद्भावादच इति द्वितीय-  
 सैकाचो द्वित्व भवति। अन्तःस्थादेशः—चक्रुः। चक्रुः। यणादेशस्य स्थानिवद्भावादेकाचो द्वित्व भवति।  
 अयापदेशाः—अह निनय निनाय। अह लुलव लुलाव। अयापदेशानां स्थानिवद्भावादस्य णलि नेन,  
 लोलौ इति द्वित्व भवति। द्वित्वनिमित्त इति किम्? दुद्गृपति। ऊठि यणादेशो धोर्न तूद् द्वित्वनिमित्तमिति  
 स्थानिवद्भावो न भवति। अचीति किम्? जेव्रीयते। देव्रीयते। यडि द्वित्वनिमित्ते प्राध्मोरीकारादेशः  
 स्थानीव न भवति। द्वित्वे कर्तव्य इति किम्? जग्ले। मग्ले। धोराकारस्यावस्थान न भवति।

ईप्केत्यव्यवाये पूर्वपरयोः ॥१।१।६०॥ ईविति यत्र निर्दिश्यते तत्र पूर्वस्याव्यवहितस्य मज  
 भवति। केति यत्र निर्दिश्यते तत्र परस्याव्यवहितस्य कार्यं भवति। ताप्रस्तुतिर्भवतीत्यर्थः। इतिकणोऽर्थ-  
 निर्देशार्थः। ईकेति इमे सजे द्वयोर्मभक्तयोः प्रत्यायिके प्रसिद्ध। ताभ्यामिति शब्दः परः प्रयुज्यमानो विभक्ति-  
 प्रतिपाद्यो योऽर्थस्त प्रत्याययति। ईवया यत्र निर्दिश्यते, कार्यो यत्र निर्दिश्यत इत्यर्थः। ईवर्निर्देशः  
 "अचीको यण्" [४।३।६५] दव्युदकम्। मध्वियत्। अव्यवाय इति किम्? धर्मविदत्र। कार्यनिर्देशः—  
 अत्यात्। दवति। दवति। अव्यवाय इति किम्? चिकीर्षन्ति। शपा व्यववाय्भेगदादेशो न भवति।

नाशः खम् ॥१।१।६१॥ नाशोऽनुपलब्धिवग्भावोऽप्रयोग इत्यनर्थान्तरम्। एतेः शब्दः प्रति  
 पाद्यमानस्यार्थस्य खमित्येषा मजा भवति। इतिकणोऽनुवर्तते। तेन नाशार्थस्य मज य लभ्यते। स्थानिवद्भावा  
 चानुवर्तते। प्रसङ्गवाच्य स्थानी। तेन प्रसङ्गस्य नाशः स्वमजो भवति। भाविना नाशस्य मजिच मजार्थो भावि  
 नीतिनतगतराश्रयदोषः। वक्ष्यति "वलि व्योः खम्" [४।३।५५] दातरः। काणेरः। "शुद्राभ्यो वा" [३।३।१००] इति  
 दूण्। "इटि चात्वम्" [४।४।६३] चित्वम्। जह्यात्। खप्रदशा. "वलि व्योः खम्" [४।३।५५] इत्यनन्तरम्।

१. खमि-पुन न अ०, म०। २. पतिर्दन्ता अ०, म०। ३. पतिर्दन्ते अ०, म०। ४. प्रकृते

"गिरि" इत्यस्य पूर्वनामस्य "गिरि" इत्यस्यपक्षत्वेनेत्यर्थः। ५. -वापदेशो द्वि-प०। ६  
 आयादादे-स०।

उबुजुस् ॥१११६२॥ तस्यैव नाशस्य उप् उच् उम् इत्येताः सज्ञा भवन्ति । मज्जिमक्कप्रसङ्ग इति चेत् उप् उच् उस् मज्जिमिर्भावितस्य नाशस्य एताः पृथक् सज्ञास्तेनादोषः । “नोमता गोः” [ १११६४ ] इति प्रतिषेधो जापकः । खमजाया अत्र समावेशो भवति । ततः पञ्च सप्तेति त्याश्रयं पदल सिद्धम् । “क्मस्याचि नम्” [ ५२१६६ ] इति वर्तमाने “वोव् दुहदिह” [ ५२१७० ] आदिष्वन उच्चचन जापकमुबुजुमः सर्वस्य स्थाने भवन्ति नान्तस्य । एता अपि भाविन्यः सज्ञाः । उदाहरणम्—पञ्चशष्कुलम् । पञ्चभिः शाकुलीभिः क्रीतम् । “शद्वत्तौ” [ ३१२६ ] इत्यार्हस्य ठण् उप् । ततो “हृदुष्युप्” [ १११६६ ] इति न्नीत्यन्योप् । जुगेति । निमेति । “उज् जुहोत्यादिभ्यः” [ ११४१४२ ] इति शप् उच् । तत उच्च द्विलम् । पञ्चालाना निवागो जनपद इत्यागतस्याण “जनपदे उस्” [ ३२१६१ ] इत्युस् । ततो “युक्तवदुसि लिङ्गसंख्ये” [ १११६८ ] इति लिङ्गसंख्यातिदेशः । उबुजुमप्रदेशाः “हृदुष्युप्” [ १११६६ ] इत्येवमादयः ।

त्यखे त्याश्रयम् ॥१११६३॥ त्यस्य खे कृतेऽपि त्याश्रय कार्यं भवति । मुष्मिन् क्पिप्पुत् गिप्पानि प्रायः प्रयोजयन्ति । सुप्, खम्—धर्मवित् । सोः खेऽपि पदसज्ञा भवति । मिडः लम्—अधोव् । “हृद्व्राप” [ ४१३१५६ ] इति तिप्, खेऽपि पदसज्ञायामेवत्वमप्युज्ज्वलचत्त्वानि भवन्ति । क्पिपः खम्—अग्निचत् । क्पिपो नाशेऽपि तुक् । यडः खम्—पापचीति । यडो नाशेऽपि द्विलादिकाय भवति । गिप्पम्—कार्येति । हार्येति । शेरभाभेनैवभवति । प्रथम त्यग्रहण किम् ? आन्वीति । आङ् पूर्वादन्तेर्विध्यादिति । “आटो यमदन” [ १२१२२ ] इति दः । “लिङ्गोऽनन्त्यसखम्” [ २१११२८ ] इति सीयुडेकदशस्य सकारस्य खेऽपि त्याश्रय कार्यं भलि क्पिपि उप् ख न भवति । द्वितीय त्यग्रहण किम् ? वर्णाश्रय मा भूत् । गवं हितम् गोहितम् । त्यगे सत्यपि अचीति वर्णाश्रया अवादयो न भवन्ति ।

नोमता गोः ॥१११६४॥ उमता वचनेन नाशिते त्ये यो गुस्तस्य त्याश्रय न भवति । मृष्टः । पुहुबः । शवाश्रयवैषे न भवतः । गर्गा इति बहुत्वाव्यक्ताया यजिजोरुपि कृते तदाश्रय आदरेण भवति । गोरिति किम् ? पापक्ति । जरीरुहीति । द्वित्व जिश्च भवतः । नोमतेति योगविभागः । तेन गोरन्यत्रापि क्वचि-त्याश्रय न भवति । परमवाच । परमवाचा । अन्तर्वर्तिनी विभक्तिर्माश्रय पदत्वारुत्व प्राप्त नोमतेति प्रतिपिप्यते ।

अन्त्याद्यच्चष्टि ॥१११६५॥ अच इति जातिनिर्देशः । निर्धारणे च ता । समानजातीयस्यैव लोके निर्धारण प्रसिद्धमिति द्वितीयमज्ग्रहण लभ्यते । अचा योऽन्योऽच् तदादि शब्दरूप टिसंज्ञ भवति । धर्मविद्वज् इच्छन्दः । ज्ञानमुदज् उच्छन्दः । आताम्, आथामित्यत्र उच्छन्दः । पचेते । पचेथे “टिद्वटरे” [ २१४६५ ] इति टरेत्वम् । अट् पचे इति व्यपदेशिकवाचात्तदादित्वम् । टिप्रदेशाः “टिद्वटरे” [ २१४६५ ] इत्येवमादयः ।

उपान्त्यालुङ् ॥१११६६॥ अलामन्त्यस्य समीपोऽल् उड्सञो भवति । अन्त्यग्रहणादला समुदायो लम्पो । अलामुदावापत्तया अन्त्योऽल् भवति न केवलः । पच् इत्यकारः । मिड् इतीकारः । पाचकः । भेदकः । उपान्त्य ईप् किम् ? व्यवहितस्यान्त्यस्य च मा भूत् । अलिति किम् ? समुदायस्य मा भूत् । उड् प्रदेशाः “इटोऽन” [ ५२१४ ] “युड” [ ५२१८३ ] इत्येवमादयः ।

येनालि विधिस्तदन्ताद्योः ॥१११६७॥ येन शब्देन यो विधिर्विधीयते स तदन्तस्य भवति । यानि यो विधि स तदादो भवति । “योऽचोऽगसुयुव” [ २११८४ ] इत्यचो यविधिर्विधीयत इत्यजन्ता-भवति । जेपम् । जेपम् । केवलाद्व्यपदेशिवद्भावेन । एयम् । अध्येयम् । “जातः कः” [ २१२३ ] इत्या-गणनात् । गोदः । कम्पलटः । “मन्त्य-विधौ न तदन्तविधिः” [ वा० ] । सविधौ—कट् परमश्रित इति ईप्पो न भवति । तन्निधौ—यत्ननट्यापत्य सौत्रनाटिः । “नडादेः फण्” [ ३११८८ ] इति फण न भवति । “उगित्कार्ये” वर्णाकार्ये च तदन्तादपि भवतीति वक्तव्यम्” [ वा० ] भवती । अतिभवती । दाजि । नैतद्वक्तव्यम् ।



सुपा श्रितादयो विशेष्यन्ते न तु श्रितादिभिः किञ्चिद्विशेषणेन च तदन्तविधिः । मृदा नडादयो विशेष्यन्ते न नडादिभिर्मृदः । उगिता च वर्णेन मृद् विशेष्यते । अलीति वर्णनिर्देशः । अलि यो विधिः स तदादौ भवति । “शुभुभ्रुवां श्वोरचीयुवौ” [४।४।७२] चिह्नियतुः । चिह्नियुः । व्यपदेशिवद्भावेन केवलेऽपि तदादित्वम् । चिह्निये । येनेति करणे मा । विधिशब्दः कर्मसाधनः ।

अद्वद्यैन्दुः ॥ १।१।६८ ॥ अद्विवति जातिनिर्देशो निर्धारणे चेप् । अक्षु आदिभूतोऽच् ऐप् यस्य समुदायस्य स दुसज्ञो भवति । ऐतिकायनस्य शिष्य ऐतिकायनीयः “दोश्छ” [३।२।६०] इति छः । आम्बष्ठस्यापत्यमाम्बष्ठ्यः “द्वित्कुरुनाद्यजादकोऽलान्व्य” [३।१।१५३] इति व्यः । इवणा अस्मिन्देशे सन्ति “वुच्छणकठेल” [३।२।६०] आदिस्त्रे अरीहणादित्वाद् वुञ् । द्रौघणके जातो द्रौघणकीयः “दोः कखोळः” [३।२।११७] इति छः । अद्विवति किम् ? हलामाविवक्षार्थम् । औपगवीयः । कापटवीयः । जात्यपेक्षया बहुत्व किम् ? द्वयच एकाचश्च दुसज्ञा यथा स्यात् । मालामयम् । वाङ्मयम् । आदिरिति किम् ? सभामनयने ञतः साभासन्नयनः । छः प्रसज्येत । ऐविति किम् ? दत्तस्याय दात्तः । दुप्रदेशाः “दोश्छ” [३।२।६०] इत्येवमादयः ।

त्यदादि ॥ १।१।६९ ॥ त्यदादीनि शब्दरूपाणि दुसज्ञानि भवन्ति । अद्वयादिरिति नेहाभिमन्यते । यद्यभिसवध्येत तदोपसर्जनत्वे सत्यपि वचनात्तदादेशेव दुसज्ञा स्यात् केवलानामिति । त्यदीयः । तदीयः । तापत्य त्वादायनिः । मादायनिः । “वा वृद्धाद् दोः” [३।१।१४४] इति फिञ् । त्यदादिः सर्वादेरन्तर्गण आ परिसमाप्तेः ।

एङ् प्राग्देशे ॥ १।१।७० ॥ अद्वयादेरिति वर्तते । एङ् यस्याचामादिस्तद् दुसज्ञ भवति प्राप्नो देशाऽभिधाने । एणीपचने जात एणीपचनीयः । एव गोनर्दीयः । भोजकयीयः । एङिति किम् ? आहिच्छत् । कान्यकुब्जः । प्राग्ग्रहणा किम् ? देवदत्तो नाम वाहीकेषु ग्रामस्तत्र भवो दैवदत्तः । देश इति किम् ? मोमती नाम नदी तस्या भवो गौमतः । “वा नाम्नः” [१।१।७१] इति यदा दुसज्ञा नास्ति तदेदमुक्तम् । “भिन्नलिङ्गो नदीदेशोऽग्रामोऽपुरम्” [१।४।८३] इति शापकान्नादी देशग्रहणेन न गृह्यते । शरावती नाम नदी तस्याः प्रगौ देशः प्राग्देशः । उत्तरस्तूदीचा देशः ।

वा नाम्नः ॥ १।१।७१ ॥ पुरुषैर्व्यवहाराय सङ्केतितः शब्दः सज्ञा नाम । नामधेयस्य वा दुसज्ञा भवति । पद्मनन्दीयम् । पाद्मनन्दिनम् । देवदत्तीयम् । दैवदत्तम् । नाम्न इति किम् ? देवैर्दत्त इति य क्रियानिमित्तको देवदत्तशब्दस्तस्य काश्यादिषु पाठाष्टकृजान्वेव भवतः । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेन घृतप्राणो रौढिः घृतरौढिः । सजेयम् । तस्य शिष्या घृतरौढीयाः । एवमोदनपाणीयाः । वृद्धाम्भीयाः । वृद्धमशय पीयाः । नित्य दुसज्ञा । “जिह्वाकात्यहरितकात्ययोर्न भवत्येव” [ वा० ] जैहाकाताः । हारितकाताः ।

अणुदित् स्वस्यात्मनाऽभाव्योऽतपरः ॥ १।१।७२ ॥ अण् उदिच्च गृह्यमाणः स्वस्य प्राप्तो भवति आत्मना सह भाव्यमान तपर च वर्जयित्वा । इदमण्ग्रहण परेण एकागेण । “अतः प्राग्देशे” [३।२।१००] इति तपरनिर्देशाज्जायते । “यय डथा च” [४।४।१३६] दाक्षिः । चोलिः । दत्य । कोमार । “अस्य च्वौ” [३।२।१४१] शुक्लीभवति । मालीभवति । उदित्—“स्तो. श्रुना श्रु.” [३।४।११३] “ष्टुना ष्टुः” [३।४।१२०] । अभाव्य इति किम् ? भाव्यन्ते उत्पायन्ते त्यादेशादित्किमिति न स्वस्य प्राप्ता न भवन्ति । “अस्त्यात्” [२।३।८४] “त्यदादेर” [३।१।१६१] दित्-लविता । मिन्-अग्न । मित । “सृजिह्वोरम्” [४।३।२१] । अतपर इति किम् ? भिमोऽत पेम्” [३।१।८] । वृत्तः । गत्ता भिरित्यत्र न भवति । तकार इत्यस्य सोऽय निदिति सिद्धे परग्रहणानुभयार्थम् । तः परोऽन्त्यात्पगन्नादाय परम्

१. इतिकस्यापत्यं पुमान् ऐतिकायन । नडादे फणिनि फण् । ३ अग्रान्तर्गण्यर्थे । ४ वृत्तान्तर्गण्यर्थे

परः । इदमेव ज्ञापकं सविधौ केति योगविभागोऽस्ति । “आदेगैप्” । [ १।१।१५ ] “अदेडेप्” [ १।१।१६ ] तपरत्वादैजेडादिषु त्रिमात्रचतुर्मात्राणां निवृत्तिः । “अभाव्योऽतपरः” इति पृथग्भावा-  
न्नञ्चारणं किम् ? कचिद्भाव्योऽपि स्व गृह्णातीति ज्ञापनार्थम् । अमूभ्याम् । सगासूत्रमिदं न परिभाषा ।  
सा हि नियमार्था भवति । न चाणुदिता स्वस्यास्वस्य च ग्रहणा प्राप्तं येन स्वस्यैवेति नियमः स्यात् ।

अन्त्येनेतादिः ॥१।१।७३॥ अन्त्येनेतसंज्ञकेन गृह्यमाण आदिस्तन्मध्यपतिताना ग्राहको भवत्यात्मना  
सह । आद्यन्तौ सम्बन्धिशब्दौ । अतः सामर्थ्यादाद्यन्तव्यतिरेकेण तन्मध्यपाति वस्तु प्रत्येकं सगित्वेनाक्षितम् ।  
अ इ उ इत्येतेषां प्रत्येकमणिति सगा । एवमक् अच् अट् इत्येवमादयः । अन्त्येनेति किम् ? सुडित्यत्र  
पादिना टा इत्येतस्य टकारेण ग्रहणा मा भूत् । अन्त्येनेतीदमेव ज्ञापकं सहाय्यं गम्यमानेऽपि भा भवति ।

असंख्यं भिः ॥१।१।७४॥ सख्या एकत्वादिका सा यस्य न विद्यते तदसंख्यं भिः भवति । एकत्वा-  
दिनिग्रहना विभक्त्युत्तिसरख्यादप्राप्ता “सुपो भेः” [ १।४।१५० ] इति वचनाद्भवति । के पुनरसंख्याः ? स्वर ।  
अन्तर । प्रातर । सनुतर । पुनर । सायम् । नक्तम् । अस्तम् । वस्तोः । दिवा । दोषा । ह्यः । श्वः । कम् । शम् ।  
योर्मयः (?) च<sup>१</sup> । न । अन्नम् । विहायसा । रोदसी । ओम् । भूः । भुवः । स्वस्ति । समया । निकपा । अन्तरा ।  
वर्ति । साम्प्रतम् । अद्या । सत्यम् । इडा । मुधा । मृषा । वृथा । मिथ्या । मिथो । मिथु । मिथुनम् । मिथस् ।  
अनिशम् । मुहुः । अमीक्षणम् । मङ्क्षु । भयिति । उच्चैस् । अवश्यम् । सामि । साचि । विष्वक् । अन्वक् ।  
आनुक् । साजक् । द्राक् । प्राक् । ऋधक् । पृथक् । धिक् । हिरक् । ज्योक् । मनाक् । शनैः । ईपत् । जोषम् ।  
तूष्णीम् । कामम् । निकामम् । प्रकामम् । आरात् । अरम् । वरम् । परम् । चिरम् । तिरः । नमः । स्वयम् ।  
भूयः । प्रायः । प्रवाहुकम् । आर्यहलम् । कुः । अलम् । बलवत् । अतीव । सुष्ठु । दुष्ठु । ऋते ।  
सर्पि । साक्षात् । मनात् । सना । आशु । सहसा । युगपत् । उपाशु । पुरा । पुरतः । पुरस्तात् । पुरः ।  
एत्येवप्रकाराः, निसर्गाश्च सर्वे “च, वा, ह, अह” एवम्प्रभृतयो हृतश्च तसादयस्तत इत्यादयश्च्यर्थः, कृतः  
सुमासुमादयः कजाप्यादेशश्चेति । हसधेति केचित्पठन्ति, तत्तु चिन्त्यम् । उपाग्निकमित्येकोऽसम्भवात् । उपकुम्भ-  
मन्यम् इति भुमो दर्शनात् । उपकुम्भीकृत्येति ईवविधानाच्च । सामान्यविषया भिसज्ञा । विशेषविषया निसज्ञा ।  
असंख्यग्रहणं किम् ? यत्रासंख्यत्वं प्रतीयते तत्र भिः भवति । उच्चैः । परमोच्चैः । अस्ति । स्वस्ति । उपसर्जने मा भूत् ।  
अत्युच्चैः । अत्युच्चैः । अत्यस्ति । भिः प्रदेशाः “सुपो भेः” [ १।४।१५० ] इत्येवमादयः ।

गाड्गादेरञ्जिण्डित् ॥१।१।७५॥ गाडित्येतस्मात् कुटादिभ्यश्च धुभ्यः परेऽञ्जितस्त्या डितो भवन्ति ।  
विनापि वतमतिदेशो गम्यते । गाडिति व्याख्यानादिडादेशो गृह्यते । कुटादिस्तुदादेरन्तर्गणो यावत् वृत्तशब्द इति ।  
गाड्—अभ्यगीपत् । अभ्यगीपाताम् । अभ्यगीपत् । लुङ्लुङोर्वेति इङो गाडादेशः । “सुमा” [ १।४।६५ ]  
आदिस्त्रेणेत्येवम् । कुटादि—कुटिता । कुटितुम् । कुटितव्यम् । पुटिता । पुटितुम् । पुटितव्यम् । व्यचरेनसि  
रुटादित्वम्—विचिता । विचितुम् । विचितव्यम् । अनसीति किम् ? उद्वयचाः । “अस् सर्वधुभ्यः” इत्यस् ।  
अञ्जिदिति विम् ? उक्तोच्यति । उक्तोचो वर्तते । द्वितीव द्विद्वत् । ईवन्ताद्वदर्थो गम्यते । तेन उच्चुकुटिपति  
एत्यत्र “एनुदात्तेतो दः” [ १।२।६ ] इति दो न भवति ।

इड्विजः ॥१।१।७६॥ अन्त्येनेतादिरित्यत आदिरिति वर्तते । विजैर्धोस्तर इडादिस्त्यो डिः भवति ।  
उड्विजिना । उड्विजितुम् । उड्विजितव्यम् । इडिति किम् ? उद्वेजनम् । उद्वेजनीयम् । विज इति किम् ?  
रुपिता ।

१. “भिः” सु० । २. “च नान्नो” इति अ०, व०, स०, पुस्तकेषु, तत्र “च” “न” “आम्” “नो”  
इति पञ्चोद्देशो पुनः । ३. “वर्ति” अ०, व०, स० । ४. “भाजक्” इति अ० । “ताजक्” इति स० ।  
“ताजर्” इति प० मुद्रितयोः । परमयं शब्दभेदोऽन्वेयमाणोऽन्यव्याकरणकोशेषु च नोपलब्धः ।  
५. अङ्गनादिति सुप्तम् । ६. “हिद्वद्भ—अ०, व०, स० ।

वोर्णोः ॥१११७७॥ ऊर्णांतिः पर इडादित्यो<sup>१</sup> वा डिङ्भवति । प्रोर्णुं वित्ता । प्रोर्णावित्ता । अप्राप्ते<sup>२</sup> कित्तोऽयम् । दसजके तु लङ् इटि परत्वान्नित्यो विधिः । प्रोर्णुं वि । अत्रिणदित्येव । जिवदिटि-प्रोर्णावित्ते । इडादिरित्येव । प्रोर्णावनम् । प्रोर्णावनीयम् ।

गोऽपित् ॥ १११७८ ॥ अपिद् गसंजको डिङ्भवति । कुन्तः । कुर्वन्ति । चिनुनः । चिन्वन्ति । मृष्टः मृजन्ति । ग इति किम् ? कर्ता । मार्ष्टा । अपिदिति किम् ? करोति । मार्ष्टि । अपिदिति प्रमज्यप्रतिषेधः । यद्येवं तुदानि लिखानीत्यत्र पिदपितोरेकादेशः <sup>३</sup>पिङ्गवतीति “व्युङ्” [१११८३] एवमज्येन । नाप दोषः । लोडादेशस्य पित्वं न चाटः । अथवाय पर्युदासः । इह तर्हि च्यवन्ते प्लवन्त इति परापेक्षपिदपितोरेकादेशः पिदोऽन्यत्वमस्तीत्येव प्रतिषेधः प्रसज्येत । नैप दोषः—“वाणांद् गावं वलीयः” इति, प्रागेवैकादेशादेष ।

लिङ्स्फात्कित् ॥ १११७९ ॥ अपिदित्येव । अस्फान्तात्परोऽपिलिट् किङ्भवति । विभिदनुः । विभिदुः । ममृजतुः । ममृजुः । लिङिति किम् ? यष्टा । अस्फादिति किम् ? ममन्थतुः । ममन्थुः । ननु गर्गध्व गग्निरित्यत्रास्फाद्विहितो लिट् । नैवम् । नुम्बिषावुपदेशग्रहणाश्रयणात् । एवञ्च कुण्डा हुण्डेत्यत्र “सरोर्हल” [१११८५] इति अस्त्यो भवति । अपिदित्येव । विभेदित्य । डिङिति वर्त्तमाने किङ्ग्रहणं किम् ? ईजतु । ईजुः । डिङिति जिर्न स्यात् । अयमेव किङ्ग्रहणः । वृष्टे, वृष्टे इत्यत्र परत्वादेपि कृते स्फान्तत्वमिति चेत्, वृष्ट्याचिन्वात्परशब्दस्येत्यदोषः । अस्फादिति प्रसज्यप्रतिषेधः । न चेत् स्फान्ताद्विहित इति पर्युदासे हि हलन्तादेव लिट् किन् स्यात् । “वोर्णोः” [१११८८] इत्यतो वेति व्यवस्थितविभाषाऽनुवर्तते । ततः श्रन्विग्रन्विदम्भिवर्जी न्विभ्योऽपि किङ्गवतीत्येके । श्रेयतुः । श्रेयुः । ग्रेयतुः । ग्रेयुः । देभतुः । देभुः । परिपन्वजे । परिपन्वजाते । समीधे । समीधाते । समीधिरे ।

मृडमृदगुधकुपवदवसः क्त्वा ॥१११८०॥ मृड मृद गुध कुप वद वस इत्येतेभ्यः पर ऋत्वा ल्यः किङ्भवति । मृडित्वा । मृदित्वा । गुधित्वा । कुपित्वा । उदित्वा । उपित्वा । सिद्धे विधिरागम्यमाणो नियमार्थः । तुल्यजातीयस्य च नियमः । सेट् क्त्वा तुल्यजातीयः, तेन मृडादिभ्य एव क्त्वा सेट् किङ्भवति नान्येभ्यः । ढेत्वा । सेवित्वा । वर्तित्वा । सेङिति विशेषणं किम् ? मुक्त्वा । मुक्त्वा । मृडादिभ्यः क्त्वेव किङ्गवतीति<sup>४</sup> निपरीतो नियमो नाशङ्कनीयः । एव हि “क्लिशः” [१११८१] इति क्त्ववचनमनर्थकं स्यात्, प्रतिषेधाभावात् । गुधिकुप्योस्तु “व्युङोऽवो हलः संश्च” [१११८७] इति विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थः पाठः ।

क्लिशः ॥ १११८१ ॥ क्लिशः परः क्त्वा सेट् किङ्भवति । क्लिशित्वा । पूर्वेषु नियमेन क्त्वे निरर्तिते “व्युङोऽवो हलः संश्च” [१११८७] इति विकल्पः प्राप्तः । पूर्व<sup>५</sup>सूत्रे इष्टनोऽवधारणार्थं योगान्तरम् ।

मुपग्रहिरुर्दावदः संश्च ॥१११८२॥ मुप ग्रहि रुर्दावद इत्येतेभ्यः पर मश्च (मन्) ऋत्वा च सेट् किङ्गवति । मुमुपिपति । जिघृक्षति । रुन्दिपति । विविदिपति । मुपित्वा । गृहीत्वा । रुन्दिन्वा । विदिन्वा । प्रमृडादिनियमान्निवृत्तौ विध्यर्थमितरेषा “व्युङोऽवो हलः संश्च” [१११८७] इति विकल्पे प्राप्तं वचनम् ।

भल्लिकः ॥१११८३॥ क्येति निवृत्तम् । अन्येनेतादिग्नित्वादिपरितो वर्तते । इगन्ताडोः परो भल्लिकः सन्किङ्गवति । सामर्थ्यात्मनिहितस्य धोविका तदन्तर्निव । चिचीपति । चिचीपति । चिचीपति । चिचीपति । लुलूपति । यदि सनि दीन्ववचनसामर्थ्यान्मात्रिकद्विमात्रिकयोग्यभावः सिद्ध इत्यन्यानर्थक्यम् । गिरमार्ति तः न स्यात् । जीप्यति । एतन्मिस्तु सनि चिचीपत्यादिषु सावकाश दीन्व परन्वागिग्नयेन वा यो । भल्लिक इति ग्नित्वा शिशविपते । इक इति किम् ? पिरानति । मर्नान्येव । कर्ता ।

१.-दि. ल्यो” व०, म०, सु० । २.-प्लविक-अ० । ३ पिङ्गवद् अ-अ०, व०, म० । ४ चाट अ० ।

५.-वति विप-अ०, व०, म० । ६ पूर्वे सूत्रे सु० । ७ रुन्दिवा इति नान्वि अ० व० म० पुम्भ्ये ।

८. झीप्सवतीति अ०, व०, म० ।

हलन्तात् ॥ १।१।८४ ॥ सन् भलिक इति<sup>१</sup> वर्तते । अन्तःशब्दः समीपवचनः । इकोऽन्तः समीपो यो हल  
तदन्तादोर्शलादिः सन्किद् भवति । जिभित्सति । बुभुत्सते । विवृत्सति । अन्तग्रहण किम् ? यियद्गति । जिर्न  
भवति । नात्रेक्समीपादलः परः सन् । एव वा सूत्रार्थः । इकः परो हलन्तो हलवयवो यो धुस्तस्मादुचरो  
भलादिः सन्किद् भवति । अन्तग्रहण स्पष्टार्थमुक्तमस्मिन् व्याख्याने । इक इति कानिदेशः किम् ? यियद्गति ।  
भलित्येव । विविद्धपते । “निरैकाजनाड्” [१।१।२२] इत्यत्र एकग्रहण आपकमुक्तम्, “अन्यत्र वर्णग्रहणे जाति-  
गहणमिति ।” तेनेह हलग्रहणेन भिन्नेष्वभिन्नाभिधानप्रत्ययनिमित्तं हल् जातिर्गृह्यते । ततो धिप्सतीति सिद्धम् ।  
सिलिङ् दे ॥ १।१।८५ ॥ सन्निति निवृत्तम् । भलिकः हलन्तादिति च वर्तते । सिश्च लिङ् च दे इको  
हलन्तात्परो भलादी कितौ भवतः । सेरेव दपरत्व विशेषणं न लिङोऽसम्भवात् । द एव हि लिङ् भलादिः ।  
अभिक्त । अयुद् । भित्सीष्ट । भुत्सीष्ट । द इति किम् ? असाक्षीत् । अद्राक्षीत्<sup>२</sup> । कित्वे सृजिहशोरमागमो न  
स्यात् । “वदमज (वजवद)” [१।१।७६] इत्यादिनैप् । इक इत्येव । अयष्ट । यक्षीष्ट । जिः प्रसज्येत ।  
हलन्तादित्येव । अचेष्ट । चेपीष्ट । एम्न स्यात् । भलादिरित्येव । अवर्तिष्ट । वर्तिषीष्ट । एम्न स्यात् ।

उः ॥ १।१।८६ ॥ अतर्व्याख्यानादग्रहणम् । ऋवर्णान्ताद्धोः परौ सिलिङौ दे भलादी कितौ भवतः ।  
अकृत । अहत । कृषीष्ट । हृषीष्ट । द्विमात्रस्य ऽअस्तीर्ष्यम् । स्तीर्षीष्ट । “लिङ्स्वीर्दे” [१।१।६०] इत्यनि-  
ट्पक्षे द्रष्टव्यम् । भलादिरित्येव । अस्तरिष्ट । स्तरीषीष्ट ।

गमो वा ॥ १।१।८७ ॥ गमेधोः परौ सिलिङौ दे भलादी वा कितौ भवतः । समगत । सङ्गसीष्ट ।  
वा गमः कित्वे “अनुदात्तोपदेश” [४।४।३७] इत्यादिना डत्व “प्राद् गोः” [१।३।४५] इति सेः खम् । पक्षे-  
समगस्त । सङ्गसीष्ट ।

हनः सिः ॥ १।१।८८ ॥ हन्तेधोः परः सिर्दे किद्भवति । आहत । आहसाताम् । आहसत । सेः  
कित्वान्तरूपं तम् । [अन्यथा अनिदित इति उडः खस्य प्रतिषेधः स्यात् ।] पुनः सिग्रहणं लिङ्निवृत्त्यर्थम् ।  
दाग्रहणमनुवर्तते । एव नित्यो वधादेश इति इह प्रयोजनं नास्ति ।

यमः सूचने ॥ १।१।८९ ॥ यमेधोः सूचनेऽर्थे वर्तमानात्परः सिर्दे किद्भवति । सूचनं गन्धनमा-  
विपरणमिन्त्यर्थः । उदायत । उदायसाताम् । उदायसत । अकर्मकत्वे “आडो यमहनः” [१।२।२३] इति दः ।  
सूचनं इति किम् । आपस्त कृपाद्रज्जुम् । सकर्मकत्वे “समुदाड्यमोऽग्रन्त्ये” [१।२।७०] इति दः ।

चोपयमे ॥ १।१।९० ॥ उपयमो दारत्वीकारः । उपयमेऽर्थे वर्तमानाद्यमेधोः परः सिर्दे वा किद्भवति ।  
उपायत कन्त्याम् । उपायस्त कन्त्याम् । “स्वीकृतानुपाद्यम्” [१।२।५१] इति दः । इयमप्राप्ते विभाषा ।  
स्वीभारसूचने पूर्वविप्रतिषेधेन पूर्वेषु नित्यो विधिः ।

भुस्थोरिः ॥ १।१।९१ ॥ द इति वर्तते । भुसृशकानां स्था इत्येतस्य च धोरिकारोऽन्तादेशो भवति सौ  
तिष्ठ देविर् । अदित । अधित । उपास्थित । “प्राद्” [४।३।१८] इति सेः खम् । सन्निपातपरिभाषाया  
“नित्यता यदापते । तिष्ठते. “उपान्मन्त्रकरणे” [१।२।२०] “धे.” [१।२।२१] इति दः । इत्ववचनसामर्थ्या-  
देषां निवृत्तिः । सिर्देति विद्ग्रहणमुत्तरार्थमनुवर्तमानं सेरपि विशेषणम् ।

१ इति च वर्तते अ०, य०, स० । अत्र च शब्दोऽप्यर्थकः । २. अन्तःशब्दः य० ।  
३. अद्राक्षीत् इति सुव्रतपुस्तके नास्ति । ४. कौटुकस्थितः पाठोऽप्रासंगिक इव भाति । “हलुङः  
विहसन्ति” इत्यस्याप्राप्तत्वे । ५. एन्धोर्दे “एनो वध लिङ्” इति नित्यवधादेशविधानात्  
“एनं सि” इत्यत्र लिङ्नुवृत्तेः प्रयोजनं नास्ति कित्वप्रयुक्त-नख-रूप-फलस्य लिटि नित्ये  
प्राप्तोऽभावात् । ६-पक्षे विहितम् । तः सेट्—अ०, य०, स० ।

मेकत्वमिन्द्रियाणां<sup>१</sup> स्वातन्त्र्ये बहुत्वम् । सविशेषणस्यात्मविवक्षैव । अह देवदत्तो ब्रवीमि । अह साधुर्ब्रवीमि । युष्मदि गुरावुभयविवक्षा । त्व मे गुरुः । यूय मे गुरुवः । एतच्च शब्दशक्ति<sup>२</sup> स्वाभाव्यात् । फल्गुनीप्रोष्ठपदानां नन्त्रे द्वयोर्वहुत्व वेति न वक्तव्यम् । कथं कदा पूर्वे फल्गुन्यौ कदा पूर्वाः फल्गुन्यः । कदा पूर्वं प्रोष्ठपदे कदा पूर्वाः प्रोष्ठपदाः ? यदा फल्गुनीसमीपगते चन्द्रमसि फल्गुनीशब्दो विवक्ष्यते तदा बहुत्वमन्यदा द्वित्वम् ।

**स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भः ॥१।१।१००॥** स्वभावत एव शब्द एकशेषमनपेक्ष एकत्वद्वित्वबहुत्वेषु वर्तते । अत एवैकशेषानारम्भः । एकत्वादीनां प्रकृत्युपात्तानामभिव्यक्तये विभक्त्युपादानम् । यथा एको द्वौ बहवः पञ्च सप्तेति । एव वृद्धः वृद्धौ वृद्धाः । अथ प्रत्यर्थं शब्दनिवेशान्न-  
केनानेकस्याभिधानं तत्रानेकार्थाभिधानेऽनेकशब्दत्वं प्रसक्तमत एकशेषः । अत्रोच्यते-यदि भिन्नेष्वभिधानाभिधानप्रत्ययहेतुर्जातिः शब्दार्थः । तस्याः प्रत्यायने एक एव शब्दः समर्थः । अथ ब्रह्म शब्दार्थः । तच्चेनेक व्यावृत्ताभिधानबुद्धिलिङ्गम् । तस्याभिधित्सायामनेकशब्दत्वे प्राप्त एकशेष इति । एतदप्ययुक्तम् । अवशिष्टः शब्दो निवृत्तशब्दस्य यद्यर्थमभिधत्ते तदास्य द्वित्वेऽपि वृत्तिरिति किमेशेषेण । अथ नाभिधत्ते तदा पश्चादपि स एवार्थः । कथमनेकार्थं वृत्तिः ? सत्प्राणा द्वन्द्वनिवृत्त्यर्थमेकशेष इत्यपि नास्त्यनभिधानात् । न हि भवति द्वौ च द्वौ च द्वाविति । अथ विरुपशब्दार्थ एकशेषः । तथाहि-“वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः” [पा० सू० १।२।६५] ‘अपत्यमन्तर्हित वृद्धम्’ । एवकारो भिन्नक्रमः । निरोधो वैरूप्यम् । वृद्धः शिष्यते यूना सह वचने वृद्धयुवलक्षणे एव यदि विशेषः समानाया प्रकृतौ । गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ । दाक्षिश्च दाक्षायणश्च दाक्षी । वृद्ध इति किम् ? औपगवश्चानन्तर औपगविश्च युवा औपगवौपगनी । गार्गिगार्ग्यायणौ । यूनेति किम् ? गर्गश्च गार्ग्यश्च गर्गगार्ग्यौ । तल्लक्षण एवेति किम् ? गार्ग्यवात्स्यायनौ । अत्र प्रकृतिविशेषोऽप्यस्ति । एवकारः किमर्थः । भागवित्ति भागवित्तिका । भागवित्तेरपत्य युवा । “दोष्टेण सौमिरेण प्रायः” [३।१।१३६] इत्यत्र क्षेपस्यापि भावान्न तल्लक्षण एव । विशेष इति किम् ? वैदश्च वृद्धो वैदश्च युवा वैदवैदौ । तल्लक्षणवैरूप्याभावात् द्वन्द्वो भवत्येव । “स्त्री पुंवच्च” [पा० सू० १।२।६६] स्त्री वृद्धा यूना सह वचने शिष्यते पुंवद्भावश्चास्या भवति तल्लक्षण एव यदि विशेषः । गार्गी च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ । दाक्षी च दाक्षायणश्च दाक्षी । नेद द्वय वक्तव्यम् । जीवति वश्ये वृद्ध द्वयमभिधत्ते । अजीवति वृद्धयूनाद्वन्द्वो नास्त्यनभिधानात् । जीवति वश्ये वृद्धा स्त्री युवानञ्च सामान्येन वृद्धशब्द एवाभिधत्ते । द्वन्द्वस्य चानभिधानम् । यदपि पुमान् स्त्रिया सह वचने शिष्यते तल्लक्षण एव यदि विशेषः । कठश्च कठी च कठा । मयूरश्च मयूरी च मयूरौ । प्राणिधर्मयोः स्त्रीपुसयोर्ग्रहणादिह न भवति । नदनदीपति । घटघटीसराबोदञ्चनादि । तल्लक्षण इत्येव । कुकुटमयूरौ । एवकार इत्येव । इन्द्रेन्द्राण्यौ । भवभवान्यौ । पुयोगलक्षणोऽप्यत्र विशयः । इदमपि जातिमात्रविवक्षया सिद्धयति । द्वन्द्वस्य चानभिधानम् । अभिधाने द्वन्द्वोऽस्ति । नदनदीपतिः । ब्राह्मणयगा ब्राह्मणा(ण)वत्सो । भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्या शिष्यत इति न वक्तव्यम् । भ्राता च स्वमा च भगिनी च भ्रातरौ । पुत्रश्च दुहिता च पुत्री । अपत्यमात्रविवक्षया द्वन्द्वानभिधानञ्च । इदं तर्हि वक्तव्यम् । नपुसक<sup>१०</sup>मन पुसकेनैकवचास्यान्यतरस्यान्तल्लक्षण एव यदि विशेष इति । शुक्लञ्च वन्न शुक्लश्च कश्चल शुक्ला च गार्गी तदिदं शुक्लम् । तानीमानि शुक्लानि । नेद ज्याय, त्रिपु लिङ्गेषु नपुसकस्य प्रश्नादो प्राधान्यात् । तेन (नपुसक<sup>१०</sup>)

१.-याणां बहु-अ०, व०, म० । २-क्तिस्व । वात् । फल्गु-अ० । ३ “फल्गुनीप्रोष्ठपदानां च नन्त्रे” पा० सू० १।२।६० । ४. प्रत्यर्थशब्द-अ० । ५.-धाने प्रत्य-अ० । ६-तस्य शः-अ०, व०, स० । ७-कार्थे वृ-म० । ८ ‘पुमान् । स्त्रिया’ पा० सू० १।२।६१ । ९-तस्य भिलक्ष्य गणऽयति । १०. “नपुसकमनपुसक नैववच्चास्यान्यतरस्याम्” इति पा० सू० १।२।६५ ।

सामान्यविशेषापेक्षया च वचनभेदः । पिता<sup>१</sup> मात्रा श्वशुरः श्वश्र्वाऽन्यतरस्यामित्यपि न वक्तव्यम् । सामान्यत्रि-  
क्षया पितरौ श्वशुराविति । द्वन्द्वोऽप्यस्ति । मातापितरौ । श्वश्रूश्वशुरौ । श्वश्रूशब्दः स्त्रियामैव निपातितः ।  
“त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम् ।” [ पा० सू० १।२।७२ ] सर्वैरिति त्यदादिभिरन्यैश्च सहवचने त्यदादीनि शिष्यन्त  
इत्येतदपि नास्ति । त्यदादीनामन्यापेक्षया सामान्यवाचित्वम् । त्यदादिषु च यद्यत्पर तत्तत्सामान्यवाचीति  
तत्प्रयोगो युक्तः । स च देवदत्तश्च तौ । कश्च देवदत्तश्च कौ । स च यश्च यौ । अथात्र कस्य लिङ्गम् । स च  
स्थाली च कुण्डञ्च । स च देवदत्ता च<sup>२</sup> कुण्डं चेति । उच्यते—द्वन्द्वा<sup>३</sup>पवादोऽयम् । द्वन्द्वे चान्त्यलिङ्गम् । अत्रापि  
तदेव युक्तम् । इदं चापि न वाच्यम् । “ग्राम्यपशुसत्तेष्वतरुणेषु स्त्री” [ पा० सू० १।२।७३ ] ग्राम्या ये  
पशवस्तेषा सत्तेषु स्त्री शिष्यते अतरुणाश्चेद् ग्राम्यपशवः । गावश्च स्त्रियो गावश्च पुमांसः गाव इमाः । अजा  
इमाः । ग्राम्यपशवश्च किम् । आरण्याना मा भूत् । रुख इमे । पृषत इमे । पशुग्रहण किम् । ब्राह्मणा इमे ।  
सत्तेष्विति किम् ? एतौ गावौ चरतः । अतरुणेष्विति किम् ? वत्सा इमे । वर्करा इमे । कथं नेदं वक्तव्यम् ?  
लिङ्गमशिष्य लोकाश्रयत्वलिङ्गस्येति । अन्यथा अश्वा इमे इत्येवमादिषु एकशेषेषु अनिष्ट स्त्रीलिङ्ग  
प्रसज्येत

इत्यभयनन्दिमुनिविरचिताया जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ।

भूवादयो ध्रुः ॥ १।२।१ ॥ भू इत्येवमादयः शब्दाः प्रत्येकं ध्रुवज्ञा भवन्तः । भू एव स्पष्टं इत्यादि ।  
धोरित्यधिकृत्य लटादिविधः कार्यम् । भवति । एधते । स्पष्टते । आदिशब्दो व्यवस्थावाची । तेन आणवयत्या-  
दीना निरासः । अर्थपदोपलक्षितानाञ्च व्यवस्था । ततो ध्रुवमानशब्दाना यावामादिवित्येवमादीना सर्वनामवि-  
कल्पप्रतिषेधस्वर्गादिवाचिनामग्रहणम् । भूशब्द आदिरेषामिति वसे भवादय इति प्राप्नोति । नैवम् । “भूवादीनां  
वकारोऽयं लक्षणार्थः प्रयुज्यते । इको यण् भिर्च्यवधानमेवेषामिति संग्रहः” । तेन त्रियण्यक यजामहे वायुवम्भ-  
र्योरिवेत्यादि सिद्धम् । “भुवो वार्धं चदन्तीति” भवतेः सम्पदादिपाठात्किवप् । भुव भवन क्रिया वदन्तीति बहु-  
लवचनादण्यन्तादपि वदेरौणादिके इजि कृते भवादयः । अस्मिन् पक्षे शिष्टाप्रयोगादाणवयत्यादीनां क्षेपः ।  
“भ्वर्धा वा वादयः स्मृताः ।” अथवा वा गतिगन्धनयोस्त्रिस्मात्पर आदिशब्दः । भुवो वादयो वाच्यवाचक-  
भावसम्बन्धे ता भ्वर्थ इत्यर्थः । ये तु वकारो मङ्गलार्थ इति पठन्ति । त इदं वाच्याः । यद्याधिक्याहकारो मङ्गल-  
मतिप्रसङ्गः स्यात् । एतेन तत् ज्ञानं प्रत्युत्पन्नम् । मङ्गलाभिधेयश्च वकारो नाममालादिषु न पठ्यते । वृत्तौ  
मप्यनिपातश्च चिन्त्यः । ध्रुवदेशाः “धोर्यद् क्रियासमभिहारे” [२।१।१६] इत्येवमादयः ।

अकर्मको धिः ॥ १।२।२ ॥ अकर्मको धुर्धिसज्जो भवति । “वर्त्राप्यम्” [१।२।१२०] इत्यादिना  
लक्षणेन विरितं कर्म तद्विवर्चितं वा नास्या (नास्त्यस्य वाऽ) कर्मकः । धिप्रदेशाः “अनोघेः” [१।२।४५]  
इत्येवमादयः ।

कार्यार्थोऽप्रयोगीत् ॥ १।२।३ ॥ शास्त्रेऽन्यस्य कार्यार्थमाश्रीयते प्रयोगे च न श्रूयते यः स इत्सञ्ज्ञो  
भवति । अरुण्णवारः । जिमिदा स्नेहने, टुनदि समृद्धौ, डुकृञ् करण इत्यादिषु जिटुडवो डेडस्यादिषु  
एवारः । कार्यार्थ इति किम् ? कुलात्सः कुलीनः । परमकुलीन इत्यत्र स्वकारस्याऽप्रयोगात्वात् “खित्यमेर्मु-

१. “पिता मात्रा, श्वशुरः श्वश्र्वा” पा० सू० १।२।७०, ७१ इत्यभिलक्ष्य खण्डयति । २. -त्ता च ।  
स ८ वृ-ल०, स० । ३. इदमेकलोपवादिना मते संगच्छते । एकशेषानारम्भवादिना वृत्तिकृता तु “लिंग-  
मशिष्यं लोबाध्ययत्वालिङ्गस्य” इति वाच्यम् । ४. -न्दिविर-अ०, व०, स० । ५. आणवयत्या-अ०, स०  
आणवयत्या-द० । ६. -दाणपय-अ०, व०, स० । ७. निरास इत्यर्थः । ८. “भूवादीनां वकारोऽयमंग-  
रार्थः प्रयुज्यते” ( १।१।१। पा० म० भा० ) इति खण्डनपरः सन्दर्भः ।

मचः” [१।३।१७६, १७७] इति मुम् प्रसज्येत । अत्रप्रयोगीति किम् ? परमकुलीनः । ईनादेशः कार्यमिति मुम् स्यात् । ननु कार्यार्थोऽप्रयोगी च खः कथं नेत्सञ्ज. ? उभयविशेषणोपादानात् । अन्यस्य कार्यार्थो भूजोऽप्रयोगीयदोषः । अन्वर्था चेयमित्संज्ञा । एति गच्छति नश्यतीत् तेन “तस्य लोपः” [पा. स. १।३।१६] इति न वक्तव्यम् । प्रयोगानुसारेणाप्रयोगित्वावगतेः । प्रतिपत्तिगौरवमिति चेत् “उपदेशेऽजनुनासिक इत्” [पा० सू० १।३।२] इत्यनुनासिकत्वमपि प्रयोगादेवावसीयत इति समानम् । इत्यदेशाः “टिदादिः” [१।३।१३] इत्येवमादयः ।

यथासंख्यं समाः ॥ १।२।४ ॥ यथासंख्यं यथाक्रमं समाः शिष्यमाणा भवन्ति<sup>१</sup> । यथासंख्यं “यावथा-वध्यसादृश्ये” [१।३।६] इति हसः । समास्तुल्याः । तुल्यत्वञ्च द्विष्टमतः । पूर्वोद्दिष्टानामनुद्दिष्टाः समा ज्ञेयाः । “सिन्धुस्थतसोऽस्तंतताम्” [२।४।८२] प्रथमसंख्यस्य मिपः प्रथमसंख्योऽम् इत्येवमादि योज्यम् । समा इति किम् ? “सङ्घादङ्गलक्षणधोपेऽन्यजिज्ञामण्” [३।३।६५] सङ्घादयश्चत्वारोऽर्था अजादयन्त्य, वेगभ्यां सङ्घादिषु चतुर्ष्वर्थेष्वजतादण् भवति, तथा यजन्तादिजन्ताच्च । समशब्दस्य सर्वार्थं युक्तार्थं च सर्वनाम-सञ्ज्ञोक्ता न तुल्यार्थे ।

स्वरितेनाधिकारः ॥ १।२।५ ॥ स्वरितेन लिङ्गेनाधिकारो वेदितव्यः । “त्य.” [२।१।१] “पर.” [२।१।२] “इयाम्मुदः” [३।१।१] इत्येवमादिः । स्वरित इति आचार्यप्रतिज्ञाया लिङ्गम् । “व्यामिश्र स्वरितः” [१।१।१४] इत्यस्याचो धर्मत्वेन “रो रि” [५।४।१८] इत्येवमादिषु हल्स्वसम्भवादग्रहणम् । त्रिपि कारो विनियोगो व्यापार इत्यर्थः । स्वरितेनेति योगविभागाद्यथासंख्यमपि स्वरितेन ज्ञेयम् ।

डनुदात्तेतो दः ॥ १।२।६ ॥ डकारेतोऽनुदात्तेश्च धोर्द एव भवति । डितः । पूङ् । सूते । शीङ् । शेते । इङ् । अधीते । अनुदात्तेतः । आस । आस्ते । वस । वस्ते । चक्ष । आचष्टे । चक्षेर्ङित्करणमनर्थकम् । अनुदात्तेतत्वाद्युच् । विचक्ष्णः । “लः कर्मणि च भावे च धेः” [२।४।२४] इति धोर्लकारा विहिताः । तद् द्वारेण दविधौ मविधौ च प्राप्ते प्रकृतिनियमोऽयम् । डनुदात्तेतो द एव भवति । दस्त्वनियतः । सोऽन्योऽपि प्राप्तः । “मम्” [१।२।७५] इति द्वितीयो नियमः । यत्र मञ्च दश्च प्राप्नोति तत्र ममेव भवति । यद्द ल-नियमः स्याद् डनुदात्ते एव दो भवति नान्येभ्यस्तदान्यत्र मस्य सिद्धत्वात् “मम्” [१।२।७५] इति सू-मनर्थकं स्यात् । तदारम्भादिष्टावधारणं सिद्धम् । किञ्च त्यनियमे हि डनुदात्तेतोऽपि म प्राप्नोति तन्निवृत्त्यै शेषान्ममिति शेषग्रहणं कुर्यात् । तदकरणं च ज्ञापकं प्रकृतिनियमस्य ।

डौ ॥ १।२।७ ॥ डिरिति भावकर्मणाः सञ्ज्ञा । डौ द एव भवति । आस्यते भवता । सुप्यते भवता । भावस्यैकत्वं युष्मदस्मदर्थोऽसम्भवश्च । कारकेभ्यः पृथग्भूतो धोर्यः स्वप्रधानको भावः । एति जीवन्मानन्द इत्यत्र आनन्दो बाह्य एतेः कर्तृत्वेन विवक्षित इति<sup>२</sup> दो न भवति । कर्मणि । क्रियते कटः । कर्मकर्त्तरि । लूतो के<sup>३</sup>सरः । भिद्यते कुमूलः स्वयमेव । अर्थनियमोऽयम् । दस्तु कर्तर्यपि प्राप्तः स ममित्यनेन नियमेन निरतः । यदि हावेव दो भवतीति त्यनियमः स्याद् भावकर्मणोरनियतत्वान्मेऽपि प्राप्ते तन्निवृत्त्यर्थं शेषात् कर्त्तरि गर्मानुश्लेषे शेषोऽकरणं ज्ञापकमर्थनियमस्य । एवं प्रकृतिनियमेऽर्थनियमे च सति “मम्” [१।२।७५] इति कर्तृग्रहणं शेषग्रहणञ्च प्रत्याख्यातम् ।

कर्त्तरि जे ॥ १।२।८ ॥ कर्त्तरि जार्थे दो भवति । “कर्मव्यतिहारे जः” [२।३।७६] इति जो मि-तत्तत्सहचरितः कर्मव्यतिहारो जार्थः । कर्मव्यतिहारश्च कर्मग्रहणमामर्थ्यात् क्रियाव्यतिहारः । अन्यस्य कर्मिण्या क्रिया यदान्यः करोति तदिष्टा चेतस्सदा क्रियाव्यतिहारः । व्यतिलुनीने । व्यतिपुनीने । आगम्भगमगो

१.-न्ति । यायामह्वया यथा—अ०, ब०, म० । २. इत्यत्र दो अ०, ब० । ३. केश अ०, ब०, स० । ४. उत्तरवाक्यस्वारभ्येन शेषाकरणं ज्ञापकं प्रकृतिनियमस्य, कर्तृग्रहणाग्रहणज्ञापक-मर्थनियमस्येति पाठो युक्तः । ५. समहचरित इत्यर्थः । ६. व्यतिलुनते । व्यतिपुनते अ०, ब० ।



कर्तव्येव सिद्धे कर्तृग्रहणमुत्तरार्थम् “न गतिहिंसाधैभ्यः” [१।२।६] इति । कर्तरि कर्मव्यतिहारे विहितस्य दस्य प्रतिषेधो यथा स्यादिह मा भूत् । व्यतिभूयते सेनया । व्यतिगम्यन्ते ग्रामाः । व्यतिहन्त्यन्ते दस्यवः । क्रिया-व्यतिहार इति किम् ? पारिभाषिककर्मव्यतिहारे मा भूत् । देवदत्तस्य धान्यं व्यतिलुनन्ति ।

न गतिहिंसाधैभ्यः ॥ १।२।६ ॥ गत्यर्थेभ्यो हिंसाधैभ्यश्च धुभ्यो जायं दो न भवति । व्यतिगच्छन्ति । व्यतिधावन्ति । हिंसाधैभ्यः । व्यतिहसन्ति । व्यतिभिन्दन्ति । व्यतिछिन्दन्ति । व्यन्तिपिपति । बहुवचनानन्दंशो ह्तादिसंग्रहणार्थः । व्यतिहसन्ति । व्यतिजल्पन्ति । व्यतिपठन्ति । व्यतिकथयन्ति । “ह्रवहोरपतिपेधो वक्तव्यः” [वा०] सम्प्रहरन्ते राजानः । व्यतिवहन्ते नयः । गतिहिसयो प्रतिषेधो गतिहिंसाहेतौ न भवति । व्यतिगमयन्ते । व्यतिभेदयन्ते ।

परस्परान्योन्येतेरेतरे ॥ १।२।१० ॥ परस्पर अन्योन्य इतरेतर इत्येतेषु प्रयुक्तेषु जायं दो न भवति । परस्परस्य व्यतिलुनन्ति । अन्योन्यस्य व्यतिलुनन्ति । इतरेतरस्य व्यतिलुनन्ति । व्यतिभ्यां द्योतितेऽपि कर्मव्य-तिहारे परस्परदिपदप्रयोगो द्वावपूपौ भङ्गोति यथा । परस्परदिशब्दानां कथं सिद्धिः । द्वित्वप्रकरणे कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वित्वम् । “सवच्च बहुलम्” [वा०] इति वक्ष्यति ।

निविशः ॥ १।२।११ ॥ नि इति स्वरूपस्य ग्रहणं न निसञ्ज्ञाया । निपूर्वादिशो दो भवति । निविशते । निविशेते । निविशन्ते । लावल्यायामडागमः । तद्भक्तो न व्यवधायकः । न्यविशत । “मम्” [१।२।७५] इति मं प्राप्तम् । सनिर्देशः समर्थार्थः । सामर्थ्यञ्च धोर्गिना । तेनेह न भवति । मधुनि विशन्ति भ्रमराः । अनर्थकत्वाद्वा ।

परिव्यवक्रियः ॥ १।२।१२ ॥ परि वि अव इत्येवंपूर्वात् क्रीणातेर्दो भवति । परिक्रीणीते । विक्रीणीते । प्रवनीणीते । अक्रत्राप्ये फले विधिरयम् । अनर्थकत्वादिति न भवति । उपरि क्रीणाति । गवि क्रीणाति । अपचाव क्रीणीव । क्री इति अनुकरणम् । अनुकार्येणार्थवत्त्वान्मृत्वे सति स्वादिविधिः । “प्रकृतिवदनुकरणम्” इति ध्रुवातिदेशादिशब्दशेषः । उत्तरत्र जेरिति निर्देशात् वक्तरणादपि स्वाश्रयोऽपि कचिदेव ।

विपराजेः ॥ १।२।१३ ॥ वि परा इत्येवंपूर्वाजयतेर्दो भवति । विजयते । पराजयते । अत्रापि सनिर्देशः समर्थस्य गोर्हणार्थः । तेनेह न भवति । बहुविजयति वनम् । पराजयति सेना ।

आडो दोऽव्यसने ॥ १।२।१४ ॥ व्यसनं विकसनं विवरणं वा । अन्येषां दारुपाणा व्यसने वृत्तिर्नास्ति । आर्पूर्वाद्दत्तान्तेऽर्थे दो भवति । वियामादत्ते । अक्रत्राप्ये फले प्रापणार्थमिदम् । अव्यसनमिति किम् ? द्यास्य व्याददाति । पिलकं व्याददाति । विपादिका व्याददाति । “स्वाङ्गकर्मकादिति वक्तव्यम्” [वा०] इह मा भूत् । व्याददते पिपीलिका पतङ्गमुखम् । यद्यक्रत्राप्ये फले प्राप्तस्याव्यसन इति प्रतिषेधः । कर्त्राप्ये फले व्यसने दः प्राप्नोति । नैवम् । अव्यसन इति योगविभागाद् येन केनचित्प्राप्तस्य प्रतिषेधः । आडिति डित्करणं किम् ? आ ददात्यसौ भिक्षामिदानीमहमस्माप्यम् । आडिति योगविभागः । तेन स्थः प्रतिज्ञाने दो भवति । सनिर्देशं शब्दमार्गान्ते । “गमयतेः कालहरणे” [वा०] आगमयस्व तावदेवदत्त । “नुप्रच्छिभ्याञ्च” [वा०] । आरुते शृगालः । आपृच्छते गुरुमिति तिङम् ।

क्रीडोऽनुपर्याडः ॥ १।२।१५ ॥ अनु परि आड् इत्येवंपूर्वात् क्रीडो दो भवति । अनुक्रीडते । परिक्री-डते । आरुते । गिलाहचर्चान्तेर्गोरेव प्रहणादिह न भवति । माणवकमनु क्रीडति । माणवकेन सहेत्यर्थः । “भाषे” [१।१।१४] इत्यनुना योग इप् गितिसञ्ज्ञाप्रतिषेधश्च । “शिक्षेर्जिज्ञासायां दो वक्तव्यः” [वा०] एते एतन्नास्ते एतन् । विशनु शिक्षते । धनुषि शिक्षते । कर्मविवक्षायां वियाः शिक्षाचक्रे । “हरतेर्गति-कारणस्ये” [वा०] एतन्नास्ते एतन् । अनुहस्ते मातृक गावः । मातृगगतम् “ऋतष्टम्” [१।१।१२] इति ठञ् ।



गतिताछील्य इति किम् ? मातरमनुहरन्ति । “शप उपलम्भन इति च वक्तव्यम्” [ वा० ] वाचा शरोरस्पर्श-  
नमुपलम्भः । देवदत्ताय शपते । उपलम्भन इति किम् ? शपति ।

समोऽकूजे ॥१२।१६॥ सम्पूर्वात् क्रीडोऽकूजेऽर्थे दो भवति । सक्रीडते । सक्रीडेते । स्क्रीडन्ते ।  
अकूज इति किम् ? सक्रीडन्ति शक्यानि । अव्यक्त शब्द कुर्वन्तीत्यर्थः ।

स्थोऽवविप्राच्च ॥१२।१७॥ अव वि प्र इत्येवंपूर्वात् सम्पूर्वाच्च तिष्ठतेर्दो भवति । अवतिष्ठते ।  
वितिष्ठते । प्रतिष्ठते । सन्तिष्ठते ।

जीप्सास्थेयोक्तौ ॥१२।१८॥ परपरितोषार्थमात्मरूपादिप्रकाशन जीप्सा । स्थीयतेऽस्मिन् निर्गन्धपे-  
रोति स्थेयः । बहुलवचनादधिकरणे यः । जीप्साया स्थेयोक्तौ च तिष्ठतेर्दो भवति । जीप्साया-तिष्ठते क्त्वा  
छात्रेभ्यः । तिष्ठते ब्राह्मणी छात्रेभ्यः । स्वाभिप्रायप्रकाशनेनात्मान रोचयतीत्यर्थः । जीप्सनक्रियया कर्मव्यपदेश-  
भाजा छात्राणामुपेयत्वात् सप्रदानत्वम् । स्थेयोक्तौ-देवदत्ते तिष्ठते । त्वयि तिष्ठते । मयि तिष्ठते । सशयानि-  
श्रयं करोतीत्यर्थः ।

उद ईहे ॥१२।१९॥ उत्पूर्वात्तिष्ठतेरीर्हार्थे वर्तमानादो भवति । गेहे उत्तिष्ठते । धर्मे उत्तिष्ठते । घटत  
इत्यर्थः । ईह इति किम् ? अस्माद् ग्रामाच्छतमुत्तिष्ठति । उत्पद्यत इत्यर्थः । ईह इति ईहतेः पर्यायग्रहणात्  
गम्यमानायामीहाया न भवति । आसनादुत्तिष्ठति । उत्तिष्ठति सेना । अस्माद् ग्रामाद्विष्टिः (?) । पञ्च  
पुरुषा उत्तिष्ठन्ति ।

उपान्मन्त्रकरणे ॥१२।२०॥ उपपूर्वात्तिष्ठतेर्मन्त्रकरणे दो भवति । जगत्पोषतिष्ठते । त्रिष्टुभोपतिष्ठते ।  
मन्त्रकरण इति किम् ? भर्तारमुपतिष्ठति भार्या यौवनेन । उपादिति योगविभागः । तेन देवपूजामन्त्रतिष्ठण-  
मित्रकरणपथिपु दो भवति । देवपूजायाम्-सीमन्धरमुपतिष्ठते । सङ्गतिकरणे-रथिकानुपतिष्ठते । मित्रकरणे-  
महामात्रानुपतिष्ठते । सङ्गतिकरणमुपश्लेषः । मित्रकरण मानसः सम्बन्धः । पथि-अत्र पन्थाः सुखमुप-  
तिष्ठते । “वा लिप्सायामिति वक्तव्यम्” [ वा० ] । भिक्षुको दातृकुलमुपतिष्ठते । उपतिष्ठति वा ।

धेः ॥१२।२१॥ अकर्मको धेरिति । उपपूर्वात्तिष्ठतेर्धेर्दो भवति । यावद्भुक्तमुपतिष्ठते । यावदोर्दनमुपति-  
ष्ठते । भोजने भोजने ओदने ओदने उदीक्षत इत्यर्थः । धेरिति किम् ? स्वामिनमुपतिष्ठति ।

व्युत्तपः ॥१२।२२॥ धेरिति वर्तते । वि उदित्येवम्पूर्वात्तपतेर्धेर्दो भवति । वितपते । ज्वलतीत्यर्थः ।  
उत्तपते । धेरित्येव । उत्तपति मुखर्णं मुखर्णकारः । वितपति पृथ्वीमादित्यः । दहतीत्यर्थः । व्युद इति मिम ?  
निष्ठपति । दीप्यत इत्यर्थः । “स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम्” [ वा० ] वितपते पाणिम् । उत्तपते पाणिम् ।  
आत्मीयमङ्ग स्वाङ्ग न पाणिभाषिक तेनेह न भवति । वितपति परपाणिम् । उत्तपति देवदत्तो यजदत्तस्य गृधम् ।

आङ्गे यमहनः ॥१२।२३॥ आङ्पूर्वाभ्या यम हन इत्येताभ्या यिभ्या दो भवति । आङ्छेते । दीर्घा  
भवतीत्यर्थः । आहते । आहनाते । आहन्ते । यमः कर्त्राण्ये फले “समुदाहृत्यमोऽग्रन्थे” [ १।०।७० ] उच्यते ।  
दः सिद्धोऽन्यत्रेदम् । धेरित्येव । आयच्छति रज्जम् । आहन्ति पापम् । “स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम्” [ १।० ] ।  
आयच्छते पाणिम् । आहते वक्तः । स्वाङ्गादिति किम् ? परकीयान्ने कर्मणि मा भव । आहन्ति  
शिरः परकीयम् ।

१. रीहेऽर्थे अ०, व०, स० । २. अ० स० पुस्तकयोः “विष्टि इति पाठः । व० सू० पुस्तकयोः  
“विष्टिः” इति । परं “विष्टिः” इति पाठः प्रतियोगि । विष्टिश्च कर्मकृत् ‘जगत्पोषयति विष्टि कर्मकृत्’ इति  
रपि” इति शाश्वतवचनात् । पूर्ववाक्याच्चात्र “उत्तिष्ठति” इत्यन्याकारः । ‘गृष्टि’ इत्यपि पाठः  
सम्भवति । गृष्टिश्च सङ्कल्पमृता गौः । ३. दानिङ्-अ० । ४.-दामोद-अ० । ५. दीर्घाभव-अ०, स० ।

समो गम्प्रच्छिस्वच्छिश्चुविद्दशः ॥११२१॥ धेरिति वर्तते । सम्पूर्वभ्यो गम्-प्रच्छि-स्व-श्च-भृ-भृच्छि-  
भृ-विद्-दश-इत्येतेभ्यो दो भवति । सङ्गच्छते । सपृच्छते । सस्वरते । भृ हांत भृच्छतेरित्येतेषु ग्रहणम् । समृच्छते ।  
समिष्यते । समरिष्यते । भृच्छतेरनादशस्य ग्रहणम् । आदशस्य भृग्रहणेन सिद्धत्वात् । समृच्छिष्यते ।  
सभृष्यते । विदेरादिकस्य ग्रहणं मर्वाद्भस्साहचर्यात् । सवेत्तं । सपश्यते । धेरित्येव । सङ्गच्छति  
सुददम् । सवेत्ति धर्मम् । “नेरस्यत्युहोर्वीत वक्तव्यम्” [वा०] । निरस्यते । निरस्यति ।  
समृहति । समूहते ।

निसंव्युपाद् तः ॥११२२॥ पुनः संग्रहणादेरिति निवृत्तम् । नि-स-वि-उप इत्येवम्पूर्वात् ह्यतेदो  
भवति । निहयते । सहयते । विहयते । उपहयते । ह्यतेरात्वेन विकृतनिर्देशेऽपि प्रकृतिग्रहणम् “न व्यो लिटि”  
[११३६] इति निर्देशात् ।

आडः स्पर्द्धे ॥११२३॥ स्पर्द्धः पराभिभवेच्छा । आङ्पूर्वात् ह्यतेः स्पर्द्धविषये दो भवति । मल्लो  
मल्लमाहयते । छात्रश्छात्रमाहयते । स्पर्द्धयाह्वानं करोतीत्यर्थः । स्पर्द्ध इति किम् ? गामाह्वयति ।

गन्धनाऽवक्षेपसेवाऽन्यायप्रतियत्नप्रकथोपयोगे कृञः ॥११२४॥ गन्धनं सूचनम् । अव-  
क्षेपो भर्त्सनम् । सेवा सश्रयः । अविधिना प्रवृत्तिरन्यायः । अविद्यमानार्जनं विद्यमानसंस्कारो वा प्रतियत्नः ।  
प्रवन्धेन कथनं प्रकथा । उपयोगो धर्मादिनिमित्तो व्ययः । गन्धनादिष्वर्थेषु वर्तमानात् कृञो दो भवति । गन्धने-  
उत्कुरुते प्रयमिमम् । सूचयतीत्यर्थः । अवक्षेपे-स्येनो वर्तकामुपकुरुते । भर्त्सयतीत्यर्थः । सेवायाम्-गणकानु-  
पकुरुते । सेवत इत्यर्थः । अन्याये-परदारानुपकुरुते । न्यायमनपेक्ष्य तेषु प्रवर्तत इत्यर्थः । प्रतियत्ने-एधो  
दकस्त्रोपस्कुरुते । “प्रतियत्ने कृञः” [११३६०] इति कर्मणि ता । “उपात्प्रतियत्नवैकृत०” [४३११२]  
इत्यादिना मुट् । प्रकथायाम्-जनापवादान् प्रकुरुते । उपयोगे-शतं प्रकुरुते । धर्माद्यर्थं विनियुङ्क्त इत्यर्थः ।  
एतेष्विति किम् ? कटं करोति । आविष्करोतीत्यत्र आविः शब्द एव गन्धने वर्तते न करोति । अपकारप्रयुक्त  
वा सूचनं गन्धनमित्यदोषः ।

प्रसहनेऽधेः ॥११२५॥ प्रसहनमभिभवः । अधिपूर्वात्कृञः प्रसहनेऽर्थे दो भवति । शत्रूनधिकुरुते ।  
वादिनोऽधिकुरुते । अभिमनतीत्यर्थः । प्रसहन इति किम् ? आधिकरोति । अकर्त्राप्ये फले ममेव भवति ।

शब्दकर्मणो वेः ॥११२६॥ कर्मेह कर्त्राप्यम् । विपूर्वात् करोतेः शब्दकर्मकादो भवति । ध्वाङ्गो  
विकुरुते खरान् । क्राष्टा विकुरुते खरान् । शब्दकर्मण इति किम् ? विकरोति कटम् । शब्दग्रहणेन शब्दविरोधाः  
स्वरादयो गृह्यन्ते । तेनेह न भवति । वकरोति शब्दम् । विकरोत्यनुवाकम् । विकरोत्यध्यायमसावह्वा ।

धे ॥११२७॥ विपूर्वात्करोतेर्धेदो भवति । विकुर्वते संभवाः । साधुदान्ताः । ओदनस्य पूर्णाश्छात्रा  
विकुर्वते । “वृष्यये यागे उपलक्ष्यानम्” [वा०] इति करणे ता ।

सम्मानात्सञ्जनोपनयनज्ञानभूतगणनव्ययं नियः ॥११२८॥ सम्मानः पूजनम् । उत्सञ्ज-  
नमुत्सृज्य । उपनयनमाचारपरम्परान् । ज्ञानमवगमः । भूतवतनादानम् । भृशशुल्कादिनियतान् गणनम् ।  
पन्था धर्मादिपन्थापनभागः । सम्मानादेषु यथासम्भवं विशेषणेषु नयतेर्धेदो भवति । सम्मान-नयते चावी  
स्वादाद । चाना दुदित्तं प्रागादाचावाऽप तथाकृतः । विनेयेषु प्रातपादनेन सम्मानं करोतीत्यर्थः । उत्सञ्जने-  
बालगणनयते । उत्सृज्यतीत्यर्थः । उपनयन-माणवकनुपनयते । आत्मनः शिष्यभावेन माणवकं प्रापयतीत्यर्थः ।  
ज्ञान-नयते चाना तन्नाय । तन्पदवाधान् निश्चिन्तातीत्यर्थः । भूतो-कर्मकरानुपनयते । वेतनादानेन पुष्पा-  
तीत्यर्थः । गणन-नयते । वर विनयते । निर्यातयन्तात्यर्थः । व्यये-शतं विनयते । सहस्रं विनयते । एते-  
ष्विति किम् ? प्रज्ञा नयति ज्ञानम् ।

१. एतद् गन्धनस्य वर्तमानत्वेन दो वक्तव्य इत्यादिनायामुत्तरद्वयम् ।

कर्तृस्थे कर्मण्यमूर्तौ ॥११२।३२॥ नयतेः कर्ता लकारवाच्यः । रूपाद्यात्मिका मूर्तिः । कर्तृस्थे कर्मणि मूर्तिर्वर्जिते सति नयतेदौ भवति । क्रोध विनयते । हर्ष विनयते । श्रम विनयते । शमयतीत्यर्थः । अत्र कर्तृस्थ-त्वात्कर्मणः कर्त्राऽप्यफलता कर्मता । तेन कर्त्राप्ये क्रियाफले सिद्धेऽपि दे नियमार्थमेतत् । कर्तृस्थ इति किम् ? देवदत्तो जिनदत्तस्य क्रोध विनयति । कर्मणीति किम् ? बुद्धया विनयति । अमूर्ताविति किम् ? गडु विनयति ।

किरतेर्हर्षजीविकाकुलायकरणे ॥११२।३३॥ किरतेर्दो भवति हर्षजीविकाकुलायकरण इत्येतेषु गम्य-मानेषु । हर्षे-अपस्किरते वृषभो हृष्टः । जीविकायाम्-अपस्किरते कुक्कुटो भक्षार्थी । कुलायो निवासः-कुला-यकरणे-अपस्किरते आ आश्रयार्थी । “चतुष्पाः छकुनिष्वपाद्धर्पादौ” [१।३।११५] इति मुट् ।

वृत्तिसर्गतायने क्रमः ॥११२।३४॥ वृत्तिरविघातः । सर्ग उत्साहः । तायन पृथूभावः । वृत्त्यादिष्व-र्थेषु वर्तमानात् क्रमेदौ भवति । वृत्तो-नयेष्वस्य क्रमते बुद्धिः । न प्रतिव्ययत इत्यर्थः । सर्गे-क्रमते जैनेन्द्रा-ध्ययनाय । उत्सहत इत्यर्थः । तायने-नास्मिन्मूढे शास्त्राणि क्रमन्ते । न तायन्त इत्यर्थः । एतेष्विति किम् ? क्रामति । “क्रमो मे” [१।२।७४] इति दीत्वम् ।

परोपात् ॥११२।३५॥ वृत्तिसर्गतायन इति वर्तते । पर-उप-इत्येवम्पूर्वात् क्रमेदौ भवति । पराक्रमते । उपक्रमते । सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय परोपाभ्यामेव नान्यस्माद्देः । अनुक्रमति । वृत्त्यादिष्वित्येव । पराक्रमति । उपक्रमति ।

ज्योतिरुद्रतावाहः ॥११२।३६॥ आङ्पूर्वात् क्रमेज्योतिषामुद्रमनेऽर्थे दो भवति । आक्रमते स्यं । आक्रमते चन्द्रमाः । आक्रमन्ते ज्योतीषि । ज्योतिरुद्रताविति किम् ? आक्रामति धूमो हर्म्यतलम् । आक्रामति माणवकः कुतपमित्यत्रोद्वेगिरपि नास्ति ।

वेः स्वार्थं ॥११२।३७॥ स्वार्थः पादविक्षेपः । विपूर्वात् क्रमेः स्वार्थे दो भवति । (अश्वः) सुउ विक्रमते । साधु विक्रमते । विक्रमणमश्वदीना शिखाविशेषाद् गतिविशेषः । स्वार्थ इति किम् ? विक्रामत्य-जिनसन्धिः । स्फुटतीत्यर्थः ।

प्रादारम्भे ॥११२।३८॥ आरम्भः प्रथम कर्म । प्रपूर्वात् क्रम आरम्भे दो भवति । प्रक्रमते भोक्तुम् । परोपादित्यत उपादिति वर्तते । उपक्रमते भोक्तुम् । आरभते भोक्तुमित्यर्थः । आरम्भ इति किम् ? पूर्वयुः प्रक्रमति । अपरश्चुरूपक्रमति । पूर्वस्मिन्निहनि यदनेन गतं तदपरस्मिन्नागच्छतीत्यर्थः ।

चाऽगेः ॥११२।३९॥ अगेः क्रमो वा दो भवति । क्रमते । क्रामति । इयमप्राप्ते विभाषा । वृत्त्या-दिषु पूर्वेण नित्यो विधिः । अगेरिति किम् ? सक्रामति ।

ज्ञोऽपह्ववे ॥११२।४०॥ अपह्ववेऽपलापः । अपह्ववेऽर्थे जानातेदौ भवति । शतमपजानीते । सप्तमपजानीते । अपह्वव इति किम् ? किञ्चिदपि जानासि ।

धेः ॥११२।४१॥ जानातेर्धेदौ भवति । सर्पिषो जानीते । दन्तो जानीते । सर्पिषा दन्ता चापायनं सम्पश्यत इत्यर्थः । “ज्ञोऽस्वार्थं करणे” [१।४।५८] इति करणे ता । अकर्त्राप्ये फले इदं दविधानम् । धेरिति किम् ? स्वरेण पुत्र जानाति ।

सप्ततेरस्मृतौ ॥११२।४२॥ स्मृतिराध्यान चिन्तन वा । सप्तानिपञ्चात्रानातेरस्मृत्यर्थे दो भवति । शत सज्जानीते । शत प्रतिजानीते । अस्मृताविति किम् ? मातुः सज्जानाति । पितुः सज्जानाति । “सप्तदशैक्येर्गं कर्मणि” [१।४।५९] इति ता ।

दीप्स्युपोक्तिज्ञानेहविमत्युपमन्त्रणे वदः ॥११२।४३॥ दीप्तिः प्रमाशनम् । उपोक्तिज्ञानेहविमत्युपमन्त्रणे उपसान्त्वनमित्यर्थः । ज्ञान पदार्थावगम । ईदो वद । नानामतिर्विमति । उपमन्त्रणं रक्षणमुद्बोधनम् । दीप्स्य-

क्षेत्रे वदते । को यतत इत्यर्थः । विमतौ-गोहे विवदन्ते । गोष्ठे विवदन्ते । विचित्र भापन्त इत्यर्थः । उपम-  
न्त्रणे-कुलभार्यामुपवदते । परदारानुपवदते । अनुकूलयतीत्यर्थः । एतेष्विति किम् ? वदति देवदत्तः ।

व्यक्तवाक्समुक्तौ ॥१२।४४॥ व्यक्तवाचो व्यक्तवर्णत्वान्मनुष्यादयः । प्रसिद्धाः । सम्भूय वचन  
समुक्तिः । व्यक्तवाचा समुक्तौ गम्यमानाया वदतेर्दो भवति । सम्प्रवदन्ते ग्राम्याः । सम्प्रवदन्ते साधवः । सम्भूय  
भापन्त इत्यर्थः । व्यक्तवागिति किम् ? सम्प्रवदन्ति कुष्ठुयः । समुक्ताविति किम् । देवदत्तो वदति जिनदत्तम् ।

अनोधेः ॥१२।४५॥ अनुपूर्वाद् वदतेर्धेदो भवति । अनुवदते जिनदत्तो देवदत्तस्य । अनुः सादृश्ये  
पुनरर्थे वा । धेरिति किम् ? पूर्वमुक्तमनुवदति । व्यक्तवाक्समुक्तावित्येव । अनुवदन्ति वीणाः ।

वा विवादे ॥१२।४६॥ विवादो विप्रलापस्तत्र वर्तमानाद्वदतेर्वा दो भवति । विप्रवदन्ते सावत्सराः ।  
विप्रवदन्ति सावत्सराः । विप्रवदन्ते वादिनः । विप्रवदन्ति वादिनः । युगपद्विरुद्ध वदन्तीत्यर्थः । व्यक्तवाग्रहण-  
मनुवर्तते । ततो व्यक्तवाक्समुक्ताविति नित्ये प्राप्ते विकल्पः । विवाद इति किम् ? सम्प्रवदन्ते साधवः । व्यक्त-  
वागित्येव । सम्प्रवदन्ति शकुनयः । समुक्तावित्येव । सम्प्रवदन्ति वादिनः क्रमेण ।

प्रोऽवात् ॥१२।४७॥ अवपूर्वाद्गिरतेर्दो भवति । अवगिरते । अवगिरते । अवगिरन्ते । गृणातेरव-  
पूर्वस्य प्रयोगो नास्ति । अवादिति किम् ? गिरति । निगिरति ?

प्रतिज्ञाने समः ॥१२।४८॥ प्रतिज्ञानमभ्युपगमः प्रतिज्ञानेऽर्थे सम्पूर्वाद्गिरतेर्दो भवति । अनेकान्ता-  
त्मक वस्तु सङ्गिरते । शत सङ्गिरते । प्रतिज्ञान इति किम् ? सङ्गिरति ।

उच्चरोऽधेः ॥१२।४९॥ उत्पूर्वाच्चरतेरधेदो भवति । गुरुवचनमुच्चरते । उत्क्रम्य चरतीत्यर्थः ।  
अधेरिति किम् ? धूम उच्चरति । उर्ध्वं गच्छतीत्यर्थः ।

समो भया ॥१२।५०॥ सम्पूर्वाच्चरतेर्भान्तेन योगे दो भवति । रथेन सचरते । अश्वेन सचरते ।  
भान्ते प्रयुक्ते दो भवति, न तु गम्यमाने । भायुक्तादिति किम् ? त्रीँल्लोकान् सचरति जिनधर्मः । अत्र स्वात्मनेति  
करण गम्यमानम् । “दाणश्च वा चेद्वयधेऽशिष्टव्यवहारे इति वक्तव्यम्” [वा०] सम्पूर्वाद्दाणो भायोगे दो भवति  
सा चेद्वयधेऽभा । ददमेव जापकमशिष्टव्यवहारे भाऽपि भवतीति । दास्या सप्रयच्छते । वृपत्या सप्रयच्छते  
कामुकः । सम इति सम्यगे ता । तेन प्रशब्देन व्यवधानं न भवति । अवर्थ इति किम् ? पाणिना सम्प्रयच्छति ।  
नेद वक्तव्यम् । कर्मव्यतिहारे दः । सहाय्ये च भा द्रष्टव्या ।

स्वीकृतावुपायमः ॥१२।५१॥ पाणिग्रहणमविरोधो वा स्वीकृतिः । उपपूर्वाद्यमः स्वीकृतावर्ते दो  
भवति । वत्यामुपयच्छते । भार्यामुपयच्छते । स्वीकृताविति किम् ? परभार्यामुपयच्छति ।

शुस्मृदशः सनः ॥१२।५२॥ शुस्मृदश-इत्यनेन सन्तेभ्यो दो भवति । शुस्मृते शुस्मृत् ।  
शुस्मृते पूर्ववृत्तम् । दिहत्ते देवम् । शुहशिभ्यामकर्मकावत्थाय “सन्ते गन्धर्वे” [१२।५३] इत्यनेन  
दो विहितस्तत्र “सन पूर्ववत्” [१२।५२] इत्येव द तिह् शुस्मृतेभ्यः ।

सः ॥१२।५३॥ जगते सन्तः दो भवति । सन्ते सन्तः । “सन्ते” [१२।५३]  
“षे” [१२।५३] “सपतेरस्मृतौ” [१२।५३] इति सन्तेर्दो भवति । सन्ते सन्तः । “सन्ते” [१२।५३]  
[१२।५३] इत्येव पूर्ववत् इति सिद्धत्वे सन्तेर्दो भवति ।

चिकित्सा वैद्यः । चिकित्सेति वैद्यकग्रन्थः । कर्त्राप्ये इत्येव । सयच्छति उयच्छति आयच्छति परस्य वत्सम् ।  
“आडो यमहनः” [ १।२।२३ ] इत्यनेन धेर्द्विधानमुक्तम् ।

ज्ञोऽज्ञोः ॥१।२।७१॥ जानातेरगिपूर्वाद्दो भवति कर्त्राप्ये फले । गा जानीते<sup>१</sup> । अगोरिति किम् ? स्वर्ग-  
लोक प्रजानाति । कर्त्राप्ये फले इत्येव । परस्य गा जानाति ।

णिचः ॥१।१।७२॥ णिजन्ताद्दो भवति कर्त्राप्ये फले । कटं कारयते । ओदनं पाचयते । लक्ष्णेः<sup>२</sup>  
स्वरितेत्करणाज्जायते हेतुमण्णिचो ग्रहणमिदम् । कर्त्राप्ये फल इत्येव । परस्य कटं कारयति ।

पादस्याङ्यमाङ्यसपरिमुहर्चिचनृद्धेद्वद्वसः ॥१।२।७३॥ णिच इति वर्तते । पा दमि  
आङ्यम आङ्यस परिमुह र्चि-च-नृत्-धेद्-वद्-वस इत्येतेभ्यो ण्यन्तेभ्यः कर्त्राप्ये फले दो भवति । पाययते ।  
दमयते । आयामयते । “यमोऽपरिवेषणे” इति मित्सञ्जाप्रतिषेधात् प्रो न भवति । आयामयते । परिमोहयते ।  
रोचयते । नर्तयते । धापयते । वादयते । वासयते । पाधेदोरयर्थत्वान्नतिवद्योश्चल्यर्थत्वात् “चल्ययार्थान्”  
[ १।२।८४ ] इति म प्राप्तम् । अन्येषाम् “अणौ धेः प्राणिकर्तृकात्” [ १।२।८५ ] इति । तत आरम्भः ।

वा वाग्गम्ये ॥१।२।७४॥ वागिति नेद पारिभाषिकस्य “ईपाञ्च वाक्” [ २।१।७६ ] इत्यस्य  
ग्रहणं किं तर्हि वाक्छब्दः । पदान्तरमित्यर्थः । वाग्गम्ये कर्त्राप्ये फले वा दो भवति । स्व धान्यं पुनीते । स्वं  
धान्यं पुनाति । पङ्भिर्योगैर्नित्यं दे प्राप्ते विकल्पोऽयम् ।

मम् ॥१।२।७५॥ निर्यमार्थम् । यस्मान्म दश्च प्राप्नोति तस्मान्ममेव भवति । पूर्वेण प्रकरणेन  
प्रकृतिनियमः कृतो दस्त्वनियत इत्युभयप्रातिरस्ति । याति । वाति । प्रविशति । आक्रामति धूमः । ओ द एव  
भवतीति अर्थनियमो व्याख्यातः । ततः कर्त्तरि मं द्रष्टव्यम् । यदि वा “कर्त्तरि जे” [ १।२।८ ] इत्यतः कर्त्तरि  
तेनेह न भवति । गम्यते । रम्यते ।

परानुकृञः ॥१।२।७६॥ परा अनु इत्येवपूर्वात् कृजो म भवति । गन्धनादिषु दः प्राप्तस्तदपवादोऽयम् ।  
परकरोति । अनुकरोति । कर्त्राप्ये फले ममेव भवति । कस्मान्न नियमः । तत्रापूर्वां विधिरस्तु नियमो वास्तव्य  
पूर्व एव विधिर्भवति ।

प्रत्यभ्यतिक्षिपः ॥१।२।७७॥ प्रति अभि अति इत्येवपूर्वात् क्षिपो म भवति । प्रतिक्षिपति । अभि  
क्षिपति । अतिक्षिपति । स्वरितेत्वाद्ः प्राप्तः । एतेभ्य इति किम् ? आक्षिपते ।

प्रवहः ॥१।२।७८॥ प्रपूर्वाद्बहतेः कर्त्राप्ये फले म भवति । प्रवहति<sup>३</sup> ।

मृपः परेः ॥१।२।७९॥ परिपूर्वान्मृपतेर्मे भवति । परिमृष्यति । परिमृष्यतः । परिमृष्यान्तः । वार्त्ता<sup>४</sup>  
केचिदनुवर्तयन्ति । परिवहति । परेरिति किम् । मृष्यते परीपहान् माधुः ।

व्याङ्श्च रमः ॥१।२।८०॥ वि आङ् इत्येवपूर्वात् परिपूर्वाच्च रमेर्मे भवति । विरमति । आरमति ।  
परिरमति । अनुदात्तेत्वाद्ः प्राप्तः । एतेभ्य इति किम् । रमते । अभिरमते ।

उपात् ॥१।२।८१॥ उपपूर्वाच्च रमेर्मे भवति । भार्यानुपगमति । पृथग्गोप उन्नगर्गः ।

वा धेः ॥१।२।८२॥ उपपूर्वाद्रमेर्धेर्वा म भवति । वावद्रुक्नुपगमति । उगमते । निर्यात इत्यर्थः ।  
विरिरसतीत्यत्र पूर्वस्य दनिमिताभावात् “मन. पूर्ववत्” [ १।२।८८ ] इति दो न भवति ।

बुध्युभ्रश्जनेद्भुद्र न्नोर्णेः ॥१।२।८३॥ कर्त्राप्ये - इति द प्राप्तेऽयमागमः । बुद् बुद् नश्च  
जन इद् भुद्र लु इत्येतेभ्यो ण्यन्तेभ्यो म भवति । वेऽनाक  
[ १।२।८८ ] इति दो न भवति ।

१ जानीते । अश्वं जानीते । अगे—अ० ७०

स्वरितेत्करणादित्यर्थः । ३. नियमोऽयम् अ०

स० १, ५. “परिपहान्” अ० । ६. “वावद्रुक्नुपगमति”

इति सिद्धे अप्राणिकर्तृकार्यं ग्रहणम् । प्रवत्यादीनामचल्यद्यर्थम् । बोधयति पद्मम् । बोधयति काष्ठानि । नाशयति पापम् । जनयति पुण्यम् । अध्यापयति शास्त्रम् । प्रावयति ग्रामम् । प्रापयतीत्यर्थः । द्रावयति लोहम् । वितापयतीत्यर्थः । स्नावयति तैलम् । स्यन्दयतीत्यर्थः ।

चल्यद्यर्थत् ॥११२।८४॥ गेरिति वर्तते । चलेरर्थः कम्पनम् । अदेरर्थोऽभ्यवहारः । चल्यर्थेभ्योऽद्य-  
र्थेभ्यश्च ध्रुवो गन्तेभ्यो म भवति । चल्यर्थेभ्यः-चलयति । चोपयति । कम्पयति । “कम्पने चलेः” (?)  
इति मित्सञ्जाया प्रादेशः । अद्यर्थेभ्यः-निगारयति । भोजयति । आशयति । सर्वत्राद्यर्थकार्यमदेनेष्यते । आद-  
येन्ते देवदत्तेन । इह पय उपयोजयते देवदत्तेनेति भक्षणार्थाभावात् न भवति । सकर्मकार्यमप्राणिकर्तृकार्यञ्च  
सूत्रम् ।

अणौ धेः प्राणिकर्तृकात् ॥११२।८५॥ अण्यन्तावस्थाया यो धुधिः प्राणिकर्तृकस्तस्मादण्यन्तान्मं  
भवति । आस्ते देवदत्तः । आसयति देवदत्तम् । शेते देवदत्तः । शाययति देवदत्तम् । अणाविति किम् ? चेत-  
यमान प्रयोजयति । चेतयते । ननु च “णिचः” [११२।७२] इत्यत्र हेतुमणिचो ग्रहण व्याख्यातम् । अणा-  
विति तस्याय प्रतिषेधः । तेनात्र म भवत्येव चेतयतीति । इदं तर्हि प्रत्युदाहरणम् । आरोह्यमाण प्रयोजयति  
आरोहयते । अथवाऽणाविति धेर्विशेषणम् । अणौ यो धिस्तस्य ऋण यथा स्यात् । अन्यथा धिग्रहणे  
स्यन्तविशेषणे इहैव म स्याच्चेतयमान प्रयोजयति चेतयति । आसयति इत्यादौ न स्यात् । धेरिति किम् ?  
कट कुर्वाण प्रयोजयति कारयते । प्राणिकर्तृकादिति किम् ? शुष्यन्ति व्रीहयः । शोषयते व्रीहीनातपः । “प्राण्यो-  
पधिवृक्षेभ्योऽवयवे च” [३।३।१०३] इति पृथगनिर्देशादिह शब्दशास्त्रे वनस्पतिकायाः प्राणिग्रहणेन न गृह्यन्ते ।

प्यपो वा ॥११२।८६॥ क्यप्प्रतादा म भवति । वावचनसामर्थ्यात् पक्षे दोऽपि भवति । अपट्य-  
ट्यवति पटपटयति । पटपटयते । “अव्यक्तानुकरणादनेकाचोऽनितौ डाच्” [४।२।६१] इति डाच् । “डाचि”  
इति द्वित्वम् । “अत्रौ डाचि नित्यम्” [४।३।८७] इति तकारस्य पररूपत्वम् । टित्वम् । “डाज्जलोहितात्क्यप्”  
[२।१।११] इति क्यप् । एवमलोहितो लोहितो भवति लोहितायते ।

द्युद्भ्यो लुङि ॥११२।८७॥ कृपूपर्यन्ता द्युतादयः । वेति वर्तते । द्युतादिभ्यो वा म भवति लुङि  
परतः । व्यद्युत् । व्यद्योतिष्ट । अलुद्यत् । अलोद्यिष्ट । मविधिपक्षे “द्युत्पुषादित्सर्तिशास्त्रयैर्मे” [२।१।४८]  
इत्यच् । यत्रापि मेऽङ्विधानसामर्थ्यान्मविधिर्लब्धस्तथाप्यनुदात्तेत्करण लुङोऽन्यत्र सावकाशमिति नित्यं मं  
स्यादिति विकल्पार्थं वचनम् । लुङीति किम् ? द्योतते । द्युता सहचरिता इतरेऽपि तयोच्यन्त इति बहुवचन-  
निर्देशः ।

स्यसनोर्द्व्यभ्यः ॥११२।८८॥ द्युतादिष्वन्तर्भूता वृतादयः । वृतादिभ्यो वा म भवति स्ये सनि च  
यति । वृत्त्यति । अवृत्त्यत् । विवृत्त्यति । वर्तिष्यते । अवर्तिष्यत । विवर्तिष्यते । एव वृध सुध स्यन्दू इत्येते  
योष्ठाः । मविधौ “न वृतादेः” [५।१।१०७] इतीट्प्रतिषेधः ।

लुटि च कृप् ॥११२।८९॥ कृपेर्लुटि स्यसोश्च वा म भवति । कल्प्ता । कल्प्तारौ । कल्प्तारः ।  
कल्पयति । अवकल्पयत् । चिकल्पयति । कल्पितारः । कल्पिष्यते । अवकल्पिष्यत । चिकल्पिष्यते । कृपेर्द्व्यता-  
दित्वादेव स्यसनोर्विकल्पे सिद्धे चकारेणानुकर्षणमसन्देहार्थम् । कृप इति लत्व किमर्थम् ? ऋकारस्थस्य रेफ-  
भागस्य रेफाद्व्यनेन ग्रहणं यथा स्यात् । कृतः । कृतवान् । मातृणाम् । पितृणाम् । लत्व एतच्च सिद्धम् ।

स्पर्द्धे परम् ॥११२।९०॥ स्पर्द्धे पर कार्ये भवति । द्वयोः प्रसङ्गयोरन्यार्थयोरेकस्मिन् युगपदुपनि-  
पाते स्पर्द्धे स्पर्द्धे । “यज्यतो दोः” [१।२।९६] “सुषि” [१।२।९७] इति दीत्वस्यावकाशः । देवाभ्याम् ।  
इन्द्राभ्याम् । “चरौ कल्पेन” [१।२।९८] इत्यस्यावकाशः । देवेषु । वृक्षेषु । इहोभय प्राप्नोति देवेभ्य इति । सूत्र-  
नित्यते परमेव भवति । अप्रवृत्तो पर्याये वा प्राप्ते वचनम् । “कार्यकाल सञ्ज्ञपरिभाषम्” [परि०] इति । यावन्ति

१. पापम् । जनयति पापम् । जन-य०, स० । २. ‘आदयते’ अ०, व०, स० । ३. चिकल्पयति ।  
परिरेरता । कल्पितारौ । कल्पितारः-अ०, व०

कार्याणि तावद्वा सूत्रस्य भेद इति विधिर्नियमश्चेदं सूत्रम् । यत्र परस्मिन्कार्ये कृते “पुनः प्रसंगविज्ञानात्” पूर्वं तत्र विधिः । यत्र परमेव कार्यं दृश्यते “सकृद्गते परनिर्णये बाधितो बाधित एव” [परि०] इति तत्र नियमः । तत्र तथा द्वित्वस्यावकाशः । त्रेभिद्यते । जेरवकाशः । विचति । वेविच्यते इति परन्वाजौ कृते पुनः प्रसङ्गाद् द्वित्वम् । “जरशसो शिः” [१।१।१७] इत्यस्यावकाशः । कुण्डानि । “डेसुटोरम्” [१।१।२४] इत्यस्यावकाशः । यूप राजानः । इह यूप गुरुकुलानि इति पर एवाम्भावः । अतुल्यबलयोः स्पर्द्धां न भवति । उत्सर्गदण्डवादः । परनित्यविचारणे भवेन्नित्यम् । नित्यात्तथान्तरङ्गम् । तस्मादप्यनवकाश यत् । एकार्थयोरपि नास्ति विरोधः । धोर्विहितास्तव्यादयः पर्यायेण भवन्ति ।

**नव्वाध्य आसम् ॥१।२।६१॥** नपा निर्दिष्टो वाच्यो भवति आ साधिकारपरिसमाप्ते रित्येषोऽधिकारो वेदितव्यः । लोके संज्ञासमावेशो दृष्टः इन्द्रः शक्रः पुरन्दर इति । शास्त्रेऽपि त्यः कृद् व्य इति । “शेषोऽग एव” [२।४।६४] इत्यवधारणाज्ज्ञापयति इहापि संज्ञासमावेशः स्यादिति यत्नः क्रियते । यत्र नपः समावेश इष्यते तत्र चशब्दोपादानमस्ति । यथा “यश्चैकाश्रये” [१।३।४४] इति । वक्ष्यति “प्रो धि च” [१।२।६१] विदि । भिदि । “स्फे रुः” [१।२।१००] । शिद्धि । भिद्धि । नपा निर्दिष्टा धिसंज्ञा रुसंज्ञया बाध्यते समावेशो हि अततत्तदित्यत्र “धौ कच्यनक्खे सन्वत्” [१।२।१६०] इति कप्परे<sup>१</sup> धौ परतः सन्वद्धाव प्रमज्जेत । अविव्रजदित्यत्र धेर्दात्वं स्यात् । नभिति किम् ? बाधव्यः । पुल्लिङ्गा गुसंज्ञा पुल्लिङ्गया भसंज्ञया न बाध्यते ।

**य्यौ स्याख्यायौ मुः ॥१।२।६२॥** स्त्रियमाचक्षाते इति स्त्राख्यायौ । “प्रो” [२।२।४] इति नियमादप्राप्तः “सुपि” [२।२।७] इति योगविभागात्कः । यावीकारोकारौ स्याख्यायौ तदन्त शब्दरूप मुसजं भवति । “सुग्मि-डन्तं पदम्” [१।२।१०३] इत्यत्रान्तग्रहणमन्यत्र संज्ञाविधौ तदन्तविधिप्रतिषेधार्थमिह नाश्रीयते “आमीयुजो” [१।२।६४] इति नियमारम्भात् । व्याविति यणदेशादूकारो द्विमात्रस्तत्साहचर्यादीकारोऽपि द्विमात्रः । ईकार-कुमारी । गौरी । लक्ष्मीः । ऊकारः-ब्रह्मवन्धू । वामोरुः । यवागूः । “अण् मोः” [५।२।१०७] इत्यादि मुसंज्ञाकार्यम् । व्याविति किम् ? मात्रे । दुहित्रे । स्याख्याविति किम् ? हे ग्रामणीः । हे खलपः । नेमौ स्त्रियमेवाचक्षाते । आख्याग्रहणं किम् ? शब्दार्थे स्त्रीत्वे यथा स्यात् पदान्तरगम्ये मा भूत् । ग्रामणं स्त्रियै । खलपे स्त्रियै । उभयलिङ्गानामिष्यवनिप्रभृतीनां शब्दार्थ एव स्त्रीत्वम् । इने अग्रन्ने स्त्रियै । तथा गुणशब्दानां पट्यै स्त्रियै । इदञ्चाख्याग्रहणस्य प्रयोजनम् । कुमारीभिवात्मानमाचरति ( कुमारीवाचरति ) “आचारे सर्वमृद्भ्यः क्विप्” इति क्विप् । कुमार्यै देवदत्ताय । लक्ष्मीमतिक्रान्ताय अनिलक्ष्म्यै । प्रागेव मुसंज्ञा वृत्ता तदन्तान्मुकार्यं भवति । इह अतिकुमारये देवदत्ताय । प्रादेशे कृते “अनल्विधौ” [१।१।५१] इति प्रतिषेधान्मुकार्यं न भवति ।

**स्त्री ॥१।२।६३॥** स्त्रीशब्दश्च मुसजो भवति । “आमीयुजोः” [१।२।६४] “वा” [१।२।६५] इति प्रश्च [१।२।६६] इति नियमविकल्पयोः सामान्येन पुरस्तादयमपवादः । हे स्त्री । स्त्रीणाम् । नि । प्रादेशर्तुं डाडागमाः सिद्धाः ।

**आमीयुजोः ॥१।२।६४॥** आमि पण इयुजोः स्यानिनौ य्यौ स्याख्यौ मुसजौ भवतः । मिदं सत्यारम्भो नियमार्थः, आप्येव मुसंज्ञा नान्यत्र । हे श्रीः । हे भूः । इयुजोगिति स्मि ? प्रश्नै । वर्यायै ।

**वा ॥१।२।६५॥** वा<sup>१</sup> मुसंज्ञा भवतीत्यामीयुजोः । श्रीणाम् । श्रियाम् । भ्रूणाम् । भ्रूजाम् ।

**इति प्रश्च ॥१।२।६६॥** य्यो<sup>२</sup> प्र. स्याख्य इयुजोश्च स्यानिनौ य्यौ य्यौ तेषां इति वा<sup>३</sup> भवति । इत्यै । इतये । येनै । येनवे । पक्षे “स्त्रमन्वि” [१।२।६७] इति मुसंज्ञा । “मोर्वि”

१ ‘विदि’ अ०, व०, म० । २-तशन । अररऽद्वि-अ०, म० । ३. क-परायौ प-अ० ।

४. ‘आप्नो.’ म० । ५. डागमाडागमा सिद्धा -अ०, व०, म० । ६. ‘वा च मु-अ०, म० ।

[११२।१०६] एप् । ह्युवो । श्रियै । श्रिये । भ्रुवै । भ्रुवे । स्याख्यावित्येव । अग्नये । अतिकृतये । अतिश्रिये । अतिभ्रुवे दवदत्ताय । खौ खोः प्र इति किम् ? मात्रे । दुहित्रे ।

स्वसखि ॥११२।६७॥ प्रो खोरिति वर्तते । खोः प्रस्तुसजो भवति सखिशब्द वर्जयित्वा । असखीति प्रतिषेधात् मिद्धौ प्रेति निर्देशाच्चस्याख्यस्य स्याख्यस्य च प्रत्येह ग्रहणम् । अग्नये । वायवे । स्याख्यश्च यो मुग्गो न भवति तस्य ग्रहणम् । कृतये । धेनवे । मुसज्ञाविषये “नब्बाध्य आसम्” [११२।६९] इति सुसंज्ञा वाच्यते । कृत्याम् । धेन्वाम् । असखीति किम् ? सख्युः । सख्यौ । असखीति पर्युदासोऽयम् । तेन शोभनः सखा सुसखा । अतिसखा । अतिसखेरागच्छति । अतिसखेः स्वम् । सखिशब्दादन्यत्वमस्तीति सुसंज्ञा । मृद्ग्रहणेन तदन्तविधिरिति वा<sup>२</sup> । खोः प्र इत्येव । पित्रे । मात्रे । सुप्रदेशाः “सोर्द्धिति” [५१२।१०६] इत्येवमादयः ।

पति' से ॥११२।६८॥ पतिशब्दः स एव सुसंज्ञो भवति । प्रजाप्रतिना । प्रजापतये । पतिरेव स इति कस्मान्न नियमः । एव हि “द्वन्द्वे सुः” [११३।६८] इति पूर्वनिपातवचनमनर्थकं स्यात् द्वन्द्वे पतिरिति ब्रूयात् । न ह्यन्यस्य से सुसंज्ञासम्भवः । अपि चानेकप्राप्तावेकस्य नियम इति वचनमनर्थकं स्यात् । पट्टमृदुगुप्तपट्व इति । स इति किम् ? पत्या । पत्ये ।

प्रो घि च ॥११२।६९॥ प्र इति मात्रिकस्य सज्ञा । प्रो घिसंज्ञो भवति । भेत्ता । बोद्धा । घीति नपा निर्देशः किमर्थः ? पुल्लिङ्गया रुसंज्ञया बाधा यथा स्यात् । प्रयोजनमग्रे वक्ष्यते । चशब्दः सञ्ज्ञान्तर-समावेशार्थः । घि च भवति यच्चान्यत्प्राप्नोति तच्च भवति । इह प्रविनय्य गत इति सुसंज्ञासमावेशः । विश्च ना च विनयो तावाचष्टे णिच् । “शाविष्टवन्मृदः” [४१४।१४६] इति इष्टवद्भावः । टिलम् । प्रशब्देन योगः । त्वः प्यादेशे णिरे प्राप्ते घिसंज्ञाया सत्या “प्ये घिपूर्वात्” [४१४।१४६] इति णेरयादेशः सिद्धः । सुसंज्ञायाञ्च पूर्वनिपातः । अन्यथेकारोकाराभ्यामन्यत्र सावकाशा घिसंज्ञा इकारोकारविषयत्वादनवकाशया सुसंज्ञाया बाधेत ।

स्फे रुः ॥११२।१००॥ प्र इति वर्तते । स्फसंज्ञो परतः प्रो रुसंज्ञो भवति । कुण्डा । हुण्डा । स्पर्धा । नुम्विधानुपदेशाश्रयणात्प्रागेव नुम् । “सरोर्हलः” [२।३।८२] इति अस्त्यः । “अजाद्यतष्टाप्” [३।१।४] ।

दी। ॥११२।१०१॥ दीरिति द्विमात्रस्य सज्ञा । दीश्च रुसंज्ञो भवति । ईहाञ्चक्रे । लिटि परतः “सरोरिजादेः” [२।१।३२] इत्याम् । शेषम् “आम्बत्तकृजः” [१।२।५६] इत्यत्रोक्तम् । सरिति पुल्लिङ्ग-निर्देशः किमर्थः ? रकारोकारविषयया सुसंज्ञया बाधा मा भूत् । द्वयोः समावेशे हे परमवाणीश्च इत्यत्र “अन्मो.” [४।२।१५३] इति सुसंज्ञाश्रयः कप् । रुसंज्ञाश्रयो “अनृतोऽनन्तस्याप्येकैकस्य रोः” [२।३।६४] इति पूर्वविशेषः सिद्धः ।

यस्ये तदादि गु ॥११२।१०२॥ यो हि यस्मात्तयः स तस्येत्युच्यते । यस्य धोर्मदो वा त्यः यत्यस्तस्मिन् परतराश्रयिणश्च गुणश्च भवति । केवलायाः प्रकृतेर्व्यपदेशिवद्भावात्तदादितम् । दोग्धि । जुहोति । पार्श्वप्रातः । गुणवानि । गुकार्पमेविडागमो नुमागमश्च । जसि “नोडः” [४।४।१५] इति दीत्वञ्च । यदिति सतिगतदेशात् । अन्य ग तदादीति न लभ्येत तथा च त्वे सति पूर्वमात्रस्य गुसंज्ञा स्यात् । तत्र को दोषः ? एतन्निमित्तं प्राशरोदिति सरोरिजागमः स्यात् । यत्त इति यच्छब्देन तस्य विशेषणं किम् ? अस्यापत्यमिः । उच्यते ए परंपरं प्राशरोरं स्यात् । अत्यन्त स्थानिवद्भावाद् व्यवधानमिति चेत् योऽनादिष्टादचः पूर्वस्त प्रति रमितीत्यादि । अतिष्टा-चरोरं पूर्वो निष्पत्त्यस्य पदस्य पदान्तरेणाभिसम्बन्धात् । यत्त इति ईमिर्देशः

१. ‘निर्देशात्’ इत्यस्य ‘अनुवृत्तेः’ इत्यर्थः । प्रसङ्गस्वारस्यात् । २. ‘वा’ अनित्यमित्यर्थः । ३. नोड इत्यस्मिन्नुपवर्तमाने ‘घेऽर्को’ इति दीः ।



किमर्थः ? यत्त्यस्तदादि गुरित्युच्यमाने यस्य त्यः सम्भवति तस्यान्यस्मिन्नपि शब्दे गुसंज्ञा स्यात् । तथा च न्तिरे इदं स्वर्यर्थं भुवे इदं स्वर्यर्थम् । इयुवौ प्रसज्येयाताम् । तदादिचचन किमर्थम् ? यत्रानेकस्यः सम्भवति तत् तदादेर्गुसंज्ञा यथा स्यात् । करिष्यति । कुराडानि । स्थान्तस्य सनुम्कस्य च गुसज्ञाया “यञ्यतो दीः” [१।१।६] “धेऽकौ” [४।४।६] इति दीत्वं सिद्धम् । गुरिति पुल्लिङ्गनिर्देशो भषजज्ञासमावेशार्थः । इह वाभ्रव्य इति गुसंज्ञाश्रय आदेरैप् । भसज्ञाश्रयः “कद्र्वो रोऽस्वयम्भुवः” [४।४।१३४] इति श्रोकारः । इह च यनुः परमस्य याजुष्कः । गुसज्ञाश्रय आदेरैप् “स्वादावधे” [१।२।१०६] इति पदत्वे पदसज्ञाश्रयाणि रिसत्वपञ्चानि मिथानि । नपुसकलिङ्गा चेद् गुसज्ञा होतुरपत्य हौत्र इत्यत्र सावकाशा सती पदसज्ञा वाच्येत ।

**सुम्मिडन्तं पदम् ॥१।२।१०३॥** “नः क्ये” [१।२।१०४] इति नियमारम्भात् सुविधि प्रत्यागृह्य नेपो बहोः । मिडा साहचर्याद्वा । सुवन्त मिडन्त च शब्दरूप पदसज्ञ भवति । स्रकारः पचति । पदसंज्ञाश्रयो रित्वादिविधिः । खरि सादेशविधिश्च भवति । ननु सुम्मिडौ ल्यो । त्यग्रहणे यस्मात्स तदग्रेण ह्यन्मित्यन्तग्रहण किमर्थम् ? अन्यत्र सज्ञाविधौ तदन्तविध्यभावज्ञापनार्थम् । तेन दृपक्षीर्णेत्यत्र क्लान्तस्य “क्क-चत्” [१।१।२८] इत्यनेन तसज्ञा नास्तीति “द्वान्तस्य तो नः” [५।३।५६] इत्येव विधिर्पदकारापेक्षया न भवति । इह च कुमारीगौरितरा “तादी कः” [४।१।११७] इत्यनेन तरान्तस्य भषज्ञा नास्तीति “क्कूप०” [४।३।१५५] इत्यादिना प्रादेशो न भवति । पदमिति नपा निर्देशो भषज्ञया बाधा यथा स्यादित्येवमर्थः । अन्यथा राज्ञः राजन्य इत्यत्र भषज्ञाश्रयमनोऽख पदसंज्ञाश्रय नखञ्च स्यात्, पदप्रदेशाः “पदस्य” [५।३।१४] इत्येवमादयः ।

**नः क्ये ॥१।२।१०४॥** क्य इति क्यचूक्यङ्क्यपामविशेषग्रहणम् । क्ये परतो नान्तस्य पदसज्ञा भाति । राजानमिच्छति राजीयति । राजेवाचरति राजायते । अचर्म चर्म भवति चर्मायते । पदत्वे सति नरा सिद्धम् । “नखं सुविधिं कृत्तु कि” [५।३।२८] इति नियमादन्यत्र सिद्धमिति “क्यचि” [५।२।१४०] इतोत्त “दीरकृद्गो” [५।२।१३४] इति दीत्वञ्च भवति । “त्यखे त्याश्रयम्” [१।१।६३] इति पदत्वे मिद्धे नियमार्थं मिदम् । नान्तमेव क्ये पदसज्ञ भवति नान्यत् । वाच्यति । शुच्यति<sup>१</sup> । कुत्व न भवति । नान्त स्य एवेति गिरितीतो नियमो नाशङ्कनीयः । “अकौ” [५।३।३०] इति कौ नखप्रतिषेधात् जायते पदत्वे हि नखप्राप्तिः ।

**सिति ॥१।२।१०५॥** सिति त्ये परतः पूर्वं पदसज्ञ भवति । भषतोऽय भषदीय<sup>२</sup> । “भवतष्टण्डुमौ” [३।२।६१] इति छस् । “यचि भः” [१।२।१०७] इति पदसज्ञाया बाधिताया पुनरासम्भः । एवमूर्णा ग्रन्थास्तीति ऊर्णायुः । “ऊर्णाहंशुर्मभ्यश्च युस्” [४।१।६२] इति युम् । “यस्य द्याज [४।४।१३६] इति खं न भवति । अह्युः । अह्युः । शुभ्युः । शुभयुः । “वा पदान्तस्य” [५।४।१३३] इति परमात्मिन्य ।

**स्वादावधे ॥१।२।१०६॥** अध इति प्रतिषेधाद्वाया एकस्य सोर्ग्रहणम् । स्वादा धर्माज्जने परत पां पदसज्ञ भवति । राजम्याम् । राजभिः । राजन्वम् । राजता । अध इति किम् ? राजानौ । राजान । यत्रैव सा त्यत्रापि प्रतिषेधः स्यात् । नैवं शङ्क्यम् । अध इति पर्युदासोऽयं धादन्यत्र पदसज्ञा विधीयते । ये तु परमं भविष्यति । यद्येव सुवाचौ सुवाच इत्यत्रान्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदत्व प्राप्नोति । अन्तु तर्हि प्रमत्तप्रतिपत्तिः । राजेयत्र “अकौ” [५।३।३०] इति प्रतिषेधान् जायते सौ पदसज्ञा भवति । एवमप्यध इति अनन्तरात् स्वादौ विधेः प्रतिषेधोऽयं सुवाचौ सुवाच इत्यत्र पूर्वेण प्राप्तिस्त्येव । कर्तव्योऽत्र वन् । “उत्तरपदत्वे चाप्याश्रित्य त्वलक्षणं न भवतीति ।

**यचि भः ॥१।२।१०७॥** स्वादावध इति वर्तते । यस्मादावधानो च स्वादो धर्माज्जने पूर्वमेव भषा । गार्ग्यः । वात्स्यः । दाक्षिः । प्लाक्षिः । पूर्वेषु पदसज्ञा प्राप्ता भवद् “यस्य द्याज” इत्यस्य । “नमोऽन्तो

१. अवे अ०, य०, स० । २. भवर्थम्-अ०, य०, स० । ३. इति वाच्य-य०, स० ।

४. न सम्भ-अ० । ५. च्यति य०, स० ।

मनुष्या वसुपसङ्ख्यानम् । [ वा० ] नमसा तुल्य वर्तते इति नमस्वत् । अङ्गिरस्वत् । मनुष्यत् । वृष्णो वत्सश्वयोर्ध्वोर्मसंज्ञेति केचित् । वृष्णो वसुः वृषण्वसुः । वृषणश्च ।

मत्वर्थे स्तो ॥११२॥१०८॥ मत्वर्थे ल्ये परतः सकारान्तं तकारान्तञ्च भवञ्च भवति । तपस्वी । यशस्वी । “विन्नस्मायामेधास्त्रजः” [४।१।४७] इति विन् । मतोर्विशेषणत्वेऽपि मत्वर्थग्रहणेन ग्रहणम् । यथा देवदत्तशालापण्डिता आनीयन्तामित्युक्ते देवदत्तो विशेषणभूतोऽपि यदि पण्डितः सोऽपि आनीयते । भास्वान् । विद्युत्त्वान् । मरुत्वान् । स्ताविति किम् ? राजवद् गृहम् ।

कारके ॥११२॥१०९॥ कारक इत्ययमधिकारः । यदित उर्ध्वमनुक्रमिष्यामः कारक इत्येवं तद्वेदित-  
व्यम् । कारक निर्वर्तक हेतुर्वा । कथं ? क्रियायाः । का च क्रिया ? ध्वर्थः । कारक इति निर्धारणलक्षणोऽयमीप् ।  
जात्यपेक्षैकवचनम् । सौत्रो वा निर्देशः । कारकेषु यद्भ्रुव तदपादानं, यः कर्मणोपेयोऽर्थः स सम्प्रदानमित्यादि  
योज्यम् । वक्ष्यति “ध्यपाये ध्रुवमपादानम्” । [ १।२।११० ] ग्रामादागच्छति । स्वर्गादवरोहति । अपाय-  
क्रियाया ग्रामोऽपि निर्वर्तकः देवदत्तोऽपि । ध्रुवत्वाद् ग्रामोऽपादानम् । कारक इति किम् ? वृक्षस्य पर्णं पतति ।  
कुड्यस्य पिरडः पतितः । अपायक्रियाया निर्वर्तकत्वेन वृक्षः कुड्यञ्च न विवक्षितम् । “अकथितञ्च”  
[ १।२।१११ ] अपादानादिभिरकथितं च कारकं कर्मसञ्ज्ञं भवति । आचार्यं धर्मं पृच्छति । कारक इति किम् ?  
आचार्यस्य शिष्यं धर्मं पृच्छति । आचार्यस्य शिष्यविशेषणत्वादकारकत्वम् । यदा कारकञ्चाकारकञ्च सर्वमकथितम-  
प्रतिपादितमित्यर्थस्तदेव प्रत्युदाहरणम् । असङ्कीर्तितमिति व्याख्याने कारकमेव लभ्यते । प्रदेशेषु कारकाभिधानेऽ-  
पादानादीनां ग्रहणम् ।

ध्यपाये ध्रुवमपादानम् ॥११२॥११०॥ धीर्बुद्धिः । प्राप्तिपूर्वको विश्लेषोऽपायः । धिया कृतो  
अपायो ध्यपायः । धीप्राप्तिपूर्वको विभाग इत्यर्थः । धीग्रहणे ह्यसति कायप्राप्तिपूर्वक एवापायः प्रतीयते धीग्रह-  
णेन सर्वः प्रतीयते । ध्रुवमविचलम्, अवधिभूतं वा । ध्यपाये साध्ये यद् भ्रुव तदपादानसञ्ज्ञं भवति । ग्रामादा-  
गच्छति । ग्रामो देवदत्तं नानुपतति इति ध्रुवः । अथवा अपायात्प्रागपि ग्रामः । अपायेऽपि ग्राम एव । देवदत्त-  
स्त्वपाये ग्रामग्रहणेन न गृह्यत इति ग्रामो ध्रुवः । एवमश्वत्थाद् धावतः पतितः । गच्छतः सार्थादवहीनः । देवदत्तो  
जिनदत्तादागतः । मेघो परस्परतोऽपसर्पतः । शृङ्गाच्छरो जायते । गङ्गा हिमवतः प्रभवति । इह ग्रामान्नागच्छ-  
तीति पूर्वमपादानसञ्ज्ञा पश्चात्प्रतिषेधः । धियाऽपायस्य विशेषणं किम् ? अधर्माजुगुप्तने । प्रेक्षापूर्वकारी दुःखहेतुर-  
धर्म इति बुद्ध्या सप्राप्य ततो निवर्तत इति अपादानत्वम् । एवमधर्माद्विरमति प्रमाद्यति । व्याघ्राद्विभेति । चौरे-  
भ्यन्नायने । अभ्ययनात् पराजयते । न शनोतीत्यर्थः । यवेभ्यो गा वारयति । अकार्यास्तुतं वारयति । कृपादन्ध  
वारयति । उपाध्यायादन्तर्द्धत्ते । भय सञ्जित्य निवर्तत इत्यर्थः । विवक्षातः कारकाणि भवन्ति । उपाध्यायाद-  
र्धते । उपाध्यायाच्छृणोति । अविवक्षाया नटस्य शृणोति । ग्रन्थिकस्य शृणोति । ध्रुवमिति किम् ? अरण्ये  
गिमेति । नात्र भयावधिभूतमरण्यं किं तर्हि चौरः । नपा निर्देशः किमर्थः । वक्ष्यमाणभिः सञ्ज्ञाभिर्वाधा  
यथा स्यात् । धनुषा विप्रति । पुलिङ्गया करणसञ्ज्ञया बाधात् । कास्यपात्र्या भुङ्क्ते । पुलिङ्गाऽधिकरणसञ्ज्ञैव ।  
पशुर्दिपतीति वक्तृसञ्ज्ञा । इह गा दोग्धि पय इति परत्वात्कर्मसञ्ज्ञा । अपादानप्रदेशाः “काऽपादाने” [१।४।३७]  
इत्येदमादयः ।

कर्मणोपेयः सम्प्रदानम् ॥११२॥१११॥ उपपूर्वादिटो ये कृते उपेय इति भवति । कर्मणा य  
उपेयोऽर्पितत्कारकं सम्प्रदानमत्र भवति । उपाध्यायाय गा ददाति । देवाय वसिं प्रयच्छति । कर्मणेति किम् ?  
गया उपाध्यायर्पणेति । सम्प्रदानमित्यन्वर्थसञ्ज्ञाकरणत्वाद् ददात्यर्थानां धूनां द्रव्येण कर्मणा उपेयोऽर्थः सम्प्रदानमिति ।  
नेत्रं न भवति । देवदत्तं वत्सं ददाति । मित्रस्य कार्यं कथयति । अजा नयति ग्रामम् । सम्यक् प्रदानं सम्प्र-  
दानमिति चाभिहितम् । नेत्रं न भवति । प्लुतं पृष्ठं ददाति । रजस्य वत्सं ददाति । राज्ञो दण्डं ददाति । इह  
तर्हि कथं भवत्यन निरुद्धे । उदायं सजयति । तिष्ठने ब्राह्मणी छात्रेभ्यः ? तादर्थ्यात् सिद्धम् । अथवा

कथञ्चिद्विवक्षितभेदाभिः सन्दर्शनप्रार्थनाऽव्यवसायक्रियाभिः क्रियापि व्याप्या सती कर्मतयोपेयत्वात् सम्प्रदानम् । तेनेहापि भवति । रोचते देवदत्ताय मोदकः । स्मृते देवदत्ताय मोदकः । पुष्पेभ्यः स्मृह्यति । मित्राय कथयति । मित्राय क्रुध्यति । मित्राय द्रुह्यति । मित्राय ईर्ष्यति । मित्रायाम्रयति । मित्राय कुप्यति । कोपादन्यत्र क्रुधादीना प्रार्थनादिभिः क्रियाविशेषैर्भेदो न विवक्षित इति क्रियायाः कर्मव्यपदेशो नास्ति । भार्यामीर्ष्यति । औषध द्वेष्टि । शप उपलम्भनेऽर्थे भेदः । देवदत्ताय शपते । हुङ् आत्मनिहवे भेदः । मित्राय हुते । अन्यत्र मित्र हुते । राशौ द्योर्देवालोचने । पुत्राय राध्यति । पुत्राय ईक्षते । अन्यत्र पुत्रस्य राध्यति । पुत्रमीक्षते । यत्र च प्रत्याङ्पूर्ः शृणोतिरभ्युपगमे वर्तते । देवदत्ताय प्रतिशृणोति । अनुप्रतिपूर्वश्च शृणोतिर्यदि कथयितुः प्रोत्साहने वर्तते । आचार्याय अनुगृणाति । आचार्याय प्रतिगृणाति । इह भेदाभेदविवक्षा । देवदत्ताय श्लाघते । देवाय प्रणमति । गत्यर्थानां चेष्टायामसम्प्राप्तावुभे [वा०] । यथा ग्रामाय गच्छति । ग्राम गच्छति । ग्रामाय व्रजति । ग्राम व्रजति । चेष्टायामिति किम् ? मनसा पाठलिपुत्र गच्छति । असम्प्राप्ताविति किम् ? पन्थान गच्छति । भार्या गच्छति । अन्यत्राभेदविवक्षैव । कट करोति । ओदन पचति । शास्त्र पठति । “सग्योश्च क्रुधिद्रुह्योः” [वा०] मित्रमभि- क्रुध्यति । मित्रमभिद्रुह्यति । “सिद्धिरनेकान्तात्” [ ११११ ] इत्यतो भेदाभेदोभयविवक्षा प्रत्येत्या । परेषामपि प्रतिपत्तिगौरव तुल्यम् । क क्रियाया व्याप्यत्वमिष्टं क च नेति दुर्बोधम् ।

**धारेरुत्तमर्णः ॥११२॥११२॥** ऋणे उत्तम उत्तमर्णः । निपातनात् सविधिः । धारयतेरुत्तमर्णो योऽर्थस्तत्कारक सम्प्रदानसञ्ज्ञ भवति । देवदत्ताय गा धारयति । उत्तमर्ण इति किम् ? देवदत्ताय शत धारयति दरिद्रः ।

**परिक्रयणम् ॥११२॥११३॥** परिक्रीयतेऽनेनेति परिक्रयणम् ; तत्कारक सम्प्रदानसञ्ज्ञ भवति । शताय परिक्रीतः । सहस्राय परिक्रीतः । साधकतमत्वात् करणसञ्ज्ञा प्राप्ता ।

**साधकतमं करणम् ॥११२॥११४॥** क्रियायामतिशयेन साधक साधकतमम् , तत्कारक करणसञ्ज्ञ भवति ।

“दानेन भोगं दयया सुरुपं ध्यानेन मोक्षं तपसेष्टसिद्धिम् ।

सत्येन वाच्यं प्रशमेन पूजा वृत्तेन जन्माग्रमुपेति मर्त्यः ॥”

तमग्रहण किमर्थम् ? यथा रूपप्रस्तावे अभिरूपाय कन्या देयेत्युक्तेऽभिरूपतमायेति । एवमिहापि कारक-विकारादकारके सञ्ज्ञावृत्तिर्नास्तीति ‘साधक करणम्’ इत्युक्तेऽपि साधकतममिति गम्यते तदेतत् तमग्रहणजापरुमन्य । तमग्रहणेन विना प्रक्रयौ न लभ्यते । तेना “आधारोऽधिकरणः” [१११११६] इत्यनेन मुख्यामुख्ययोगधिकरणं सिद्धम् । तिलेषु तैलम् । गङ्गाया घापः । साधकतमस्याविवक्षाया स्वातन्त्र्याद्ननुविध्यनीति भवति । पुल्लिङ्गानि दशः किमर्थः ? परिक्रयणमित्यनवकाशया सम्प्रदानसञ्ज्ञया बाधा मा भूत् । शतेन परिक्रीतः । वचनात् मार्गः भवति । शताय परिक्रीतः । “दिवः कर्म” [११२११५] इत्यत्र च समावेशो यथा स्यात् । अत्रोद्भाव्यति ।

**दिवः कर्म ॥११२॥११५॥** दिवेः सावक्तम कारक कर्मसञ्ज्ञ भवति । अत्रान् दीव्यति । गर्भा- दीव्यति । नपा निर्देशात् करणत्वमपि ।

**आधारोऽधिकरणम् ॥११२॥११६॥** आत्रियतेऽन्मिन् त्रियेयावागः । इदमेव निपातवर्गस्य घञ । आधारो यन्तु कारकमधिकरणसञ्ज्ञ भवति । यत्रैव कर्तृकर्मणोर्वाङ्मरणमज्ञा प्राप्ता तर्हि त्वान् त्रिनाया । एव तर्हि कर्तृकर्मणो क्रियाश्रयोर्वाङ्मण्डावागेऽन्मिन् त । प्र तमग्रहणेन जीविगो

स्याप्याधारस्याधिकरणत्वम् । कर्तृकर्मणोः सत्यपि क्रियाधारत्वेऽनवकाशत्वात् कर्तृकर्मसञ्ज्ञे भविष्यतः । भेदवि-  
वक्षायां अधिकरणत्वमपि । अशनक्रिया देवदत्ते वर्तते । विह्वले दन तण्डुलेषु ।

“औपश्लेषिकवैषयिकाऽभिव्यापक इत्यपि । आधारस्त्रिविधः पोक्तः कटाकाशतिलेषु च ॥”

औपश्लेषिकः—कटे आस्ते । स्यात्या पचति । वैषयिकः—आकाशे शकुनयः । गङ्गाया धोपः । गुरौ  
वसति । यदधीना यस्य स्थितिः स तस्याधारः । अभिव्यापको विभागाप्रतीतेः । तिलेषु तैलम् । दधनि सर्पिः ।  
अधिकरणप्रदेशाः “ईदधिकरणे च” [१।४।४४] इत्येवमादयः ।

कर्मैवाऽधिशीङ्स्थाऽसः ॥१।२।११७॥ अधिपूर्वाणां शीङ् स्था आस् इत्येवमाधारो यस्तत् कारक  
कर्मसञ्ज्ञमेव भवति । ग्राममधिशेते । पर्वतमधितिष्ठति । प्रासादमप्यास्ते । एवकारः पु ल्लिङ्गाऽधिकरण-  
सजासमावेशनिवृत्त्यर्थः । कर्मप्रदेशाः “कर्मणीप्” [१।४।२] इत्येवमादयः ।

वसोऽनूपाध्याङ् ॥१।२।११८॥ अनु उप अधि आङ् इत्येवम्पूर्वस्य वसतेराधारो यस्तत् कारक  
कर्मसञ्ज्ञ भवति । ग्राममनुवसति । गिरिसुपवसति । गृहमधिवसति । वनमावसति । इह कथ ग्रामे उपवसति ।  
भोजननिवृत्तिं करोतीत्यर्थः ? अत्रापि त्रिरात्रादेराधारस्य कर्मत्व प्रतीयते ।

अभिनिविशश्च ॥१।२।११९॥ अभिनि इत्येवम्पूर्वस्य विशतेराधारो यस्तत् कारकं कर्मसञ्ज्ञ भवति ।  
ग्राममभिनिविशते । गेहमभिनिविशते । चकारात् कचिदधिकरणसञ्ज्ञाऽपि भवति । या या सञ्ज्ञा यस्मिन्नभिनि-  
विशते । अर्थेऽभिनिविष्टः । कृत्याणोऽभिनिवेशः ।

कर्त्राप्यम् ॥१।२।१२०॥ कर्त्रा क्रियया यदाप्य तत् कारक कर्मसञ्ज्ञ भवति । कर्तृग्रहणादाप्यग्रहण-  
सामर्थ्याद्वा क्रिया लभते । तत्र कर्म ।

“प्राप्य विषयभूतं च निर्वर्त्य विक्रियात्मकम् । कर्तुश्च क्रियया व्याप्यमीप्सितानीप्सितेतरत् ॥”

प्राप्यत्वसामान्य सर्वत्र विद्यते । प्राप्यम्—ग्राम गच्छति । आदित्य पश्यति । विषयभूतम्—जैनेन्द्रमधीते ।  
रिमवन्त शृणोति । निर्वर्त्यम्—वट करोति । ओदन पचति । विक्रियात्मकम्—काष्ठानि दहति । घट भिनत्ति ।  
ईप्सितम्—गुड भक्षयति । ओदन भुङ्क्ते । अनीप्सितम्—ग्राम गच्छन् व्याघ्र पश्यति । कण्टकान्  
गृह्णाति । अनुभयम् ग्राम गच्छन् वृक्षमूलान्युपसर्पति । कर्त्रेति किम् ? मापेक्षश्च बध्नाति । अश्वेन  
कर्मणा भक्षणक्रियया मापाणामाप्याना कर्मसञ्ज्ञा मा भूत् । अथ सर्वाणि कारकाणि कर्त्राऽप्यन्त इति कर्मसञ्ज्ञा  
प्राप्नोति ? नैष दोषः । सर्वेषु कारकेष्वप्येषु आप्यग्रहणसामर्थ्यादाप्यतमे सप्रत्ययः । तेन करणादिषु न भवति ।  
पयसा ओदन भुङ्क्ते । इह कथ कर्मत्व गेह प्रविशतीति ? आधारस्याविवक्षया ।

अकथितञ्च ॥१।२।१२१॥ अकथितमसङ्कीर्तितम् । अपादानादिभिर्विशेषकारकादिभिरकथितं च यत्  
कारकं तत् कर्मसञ्ज्ञ भवति । अकथितमप्रधानमिति गृह्यमाणे इह देवदत्ताद् गा याचत इत्यप्रधानतयाऽपादान-  
सञ्ज्ञा कर्मसञ्ज्ञा चाप्येत ।

“दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिक्षिचिजामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ ।

प्रविशसिगुणेन च यत् सचते तदकीर्तितमाचरितं कविना ॥”

दुहि—गा दोग्धि पयः । गौः कारकमपादानत्वेनासङ्कीर्तितमपायस्याविवक्षितत्वात् । गोरप्याप्यत्वेन सिद्ध  
कर्मत्वमिति चेत् परिगणनार्थमिदं बह्वक्ष्यम् । इह मा भूत् । नटस्य शृणोति श्लोकम् । याचि—माणवक  
न पश्ये । अचनमात्रेणापायस्त्राविवक्षितत्वात् । रधि—गामवत्तण्डि प्रजम् । सतोऽप्याधारस्याविवक्षा ।  
पश्येति यथा । प्रच्छि—आचार्य धर्म पृच्छति । प्रश्नमात्रेणापायस्याविवक्षा । भिक्षि—देवदत्त गा  
मिदं । चिन्—दृष्टमवचिनोति फलानि । उपयोगनिमित्तं प्रयोगनिमित्तम् । अथवा उपयोगो दुग्धादि तन्नि-  
मित्तं गच्छति । इत्यादि तर्हि स्तान् । पाणिना कात्यायना दोग्धि । पाण्यादिकमप्युपयोगनिमित्तमित्याह ।

अपूर्वविधौ—यस्य पूर्वो विधिर्नोक्तः । इह तु पूर्वमेव करणसञ्ज्ञा अधिकरणसञ्ज्ञा च विहिता । ब्रुविशा-  
स्योर्गुणेन च क्रियया कर्मणा वा यत् सचते सम्भव्यते तदकीर्तितमित्युक्तमाचार्येण । ब्रुचि—माणवक धर्मे  
ब्रूते । शासि—माणवक धर्ममनुशास्ति । माणवकस्य सम्प्रदानत्वेनाविवक्षा । अकथितमिति किम् ? देवदत्तो  
गा याचते । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेनम् “कालभावाध्वगन्तव्याः<sup>१</sup> कर्मसंज्ञं ह्यकर्मणामिति” लब्धम् ।  
काले<sup>२</sup>—मासमास्ते । सवत्सर वसति । भावे<sup>३</sup>—गोदोह स्वपिति । अर्ध्वा च स गन्तव्यश्चेति इच्छया विशेषणत्वम् ।  
क्रोशमास्ते । क्रोश स्वपिति । देशोऽपि कर्मसंज्ञ इति केचित् । कुरुमास्ते । कुरुन् स्वपिति । अय नीर्गह  
हरतिकृषि<sup>४</sup>जयत्यादयो द्विकर्मका उपलभ्यन्ते । तेषां कथं द्विकर्मकत्वं प्रधानाप्रधानकर्मणोः सामान्येनाऽप्यत्वात् ।  
अजा नयति ग्रामम् । भार वहति ग्रामम् । भार<sup>५</sup> हरति ग्रामम् । शाखा कर्पति<sup>६</sup> ग्रामम् । देवदत्तो जिनदत्तं शतं  
जयति । देवदत्तो ग्रामं शतं दण्डयति । अयं तु विशेषः —

“प्रधानकर्मण्यभिधेये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम् । अप्रधाने दुहादीनां ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः ॥”

नीयते अजा ग्रामम् । उह्यते भारो ग्रामम् । ह्रियते भारो ग्रामम् । कृष्यते शाखा ग्रामम् । जीयते  
जिनदत्तः शतम् । दण्ड्यते जिनदत्तः शतम् । अप्रधाने कर्मणि दुहादीनाम् । दुह्यते गौः पयः । याच्यते माण-  
वको गाम् । अवब्रूयते गा व्रजः । पृच्छ्यते आचार्यो धर्मम् । भिक्ष्यते देवदत्तो गाम् । अवब्रूयते वृक्षः  
फलानि । उच्यते माणवको धर्मम् । शिष्यते<sup>७</sup> माणवको धर्मम् । एयन्ते कर्तुश्च कर्मण इति उत्तर सूत्रेणाऽप्य-  
न्तावस्थाया यः कर्ता एयन्तावस्थाया कर्मतामापन्नः प्रयोज्यस्तस्याभिधाने लादीनाहुः । बोध्यते माणवकः  
शास्त्रम् । गम्यते माणवको ग्रामम् । भोज्यते माणवक ओदनम् । आस्यते माणवको मासम् । अयाच्यते<sup>८</sup>  
माणवको जैनेन्द्रम् । ननु एयन्तेषु ध्रुवु एयन्तावस्थाया क्रियया प्रेषणाऽध्येषणलक्षणया यदाप्यते तत् प्रधान  
कर्म । अवयवक्रियया यदाप्यते तदप्रधानम् । एव च सति प्रधानकर्मण्यभिधेये लादीनाहुरित्यनेनेव मिद्वलादन-  
र्थकमिदं एयन्ते कर्तुश्च कर्मण इति ? नानर्थकं समुच्चयार्थमेतत् प्रधाने कर्मणि लादयो भवन्त्यप्रधाने च । तत्र  
बोध्यते माणवक धर्मः । भोज्यते माणवकमोदनः । अव्याप्यते माणवक जैनेन्द्रः । अकर्मणा गत्यर्थानां च प्रधान  
एव कर्मणि लादयः । आस्यते माणवको मासम् । आस्यते माणवको गोदोहम् । गम्यते माणवको ग्रामम् ।  
प्राप्यते माणवको ग्रामम् ।

ज्ञागम्यद्यर्थधेरणि कर्ता णौ ॥११॥१२२॥ शार्थानां गम्यर्थानामद्यर्थानां धीनाञ्च धूनामण्य-  
न्तानां यः कर्ता स णौ सति कर्मसंज्ञो भवति । शार्थानाम्—जानाति माणवको धर्मम् । ज्ञापयति माणवक  
धर्मम् । बुध्यते माणवको धर्मम् । बोधयति माणवक धर्मम् । पश्यति माणवको ग्रामम् । दर्शयति माणवक  
ग्रामम् । गम्यर्थानाम्—गच्छति माणवको ग्रामम् । गमयति माणवक ग्रामम् । याति माणवको ग्रामम् ।  
यापयति माणवक ग्रामम् । अद्यर्थानाम्—भुङ्क्ते ओदनं माणवकः । भोजयति माणवकमोदनम् । अश्नाति  
माणवक ओदनम् । आशयति माणवकमोदनम् । धीनाम्—आस्ते माणवकः । आसयति माणवकम् । शो-  
माणवकः । शाययति माणवकम् । अत्रापि पूर्ववर्णिजन्तवाच्यया क्रियया प्रेषणाय्येषणलक्षणया आयातात्  
कर्मसंज्ञा सिद्धा । यत्रापि स्वातन्त्र्यामाप्यन्वञ्चास्ति तथापि कर्मवैत्यवधारणात् कर्तृसंज्ञा न भवतीति । एव मिदं  
नियमार्थमिदं तेषामेवाणौ कर्ता एयन्ते कर्मसंज्ञो भवति नान्येषाम् । पचयोदनं देवदत्तः । पाचययोदनं  
दत्तेन । अणि कर्तेति किम् ? गमयति देवदत्तो जिनदत्तम् । तमन्यः प्रबुद्धः । गमयति देवदत्तं न जिनदत्तम् ।  
नययादयः प्रापणार्था न गम्यर्थानेनेह कर्मसंज्ञा न भवति । अजा नयति देवदत्तः । नाययति देवदत्तं न । भा-

१. गन्तव्यः क-मु०, व० । २. कालः अ०, म० । ३. भावः अ०, म० । ४. कृषि-मु० ।

५. जिनदत्तो ग्रामं भारं हरति अ०, व०, म० । ६. कृषति अ०, व०, म० । ७. शिष्यते माणवको धर्मम्  
इति व० पुनर्वे नास्ति । ८. अव्याप्यते माणवको जैनेन्द्रम् अ०, व०, म० ।

वहति वाहीकः । वाहयति वाहीकेन । यदा गत्यर्थतासंभवस्तदा भवति कर्मसंज्ञा । वहन्ति बलीवर्दा यवान् । वाहयन्ति बलीवर्दान् यवान् । प्रवहत्युदकं देवदत्तः । प्रवाहयत्युदकं देवदत्तम् । “अद्यर्थेषु अदिखाद्योः प्रतिषेधो वक्तव्यः [ वा० ] अन्ति देवदत्तः । आदयति देवदत्तेन । खादयति (खादति) देवदत्तः । खादयति देवदत्तेन । अथवा “सर्वमद्यर्थकार्गमदेर्न भवतीति वक्तव्यमधिकरणे तविधिं मुक्त्वा” [ वा० ] आदयते माणवकेन । “चल्यचर्धात्” [ १।२।८४ ] ममपि न भवति । “भक्षिरहिंसार्थः कर्मसंज्ञो न भवतीति वक्तव्यम्” [ वा० ] भक्षयति पिएडो देवदत्तः । भक्षयति पिएडो देवदत्तेन । अहिंसार्थस्येति किम् ? भक्षयति बलीवर्दो यवम् । भक्षयति बलीवर्दं यवम् । अत्र हिंसाऽस्ति । वनस्पतिकायानां प्राणित्वात् । प्रकृतेन कर्मणा अकर्मका इह गृह्यन्ते तेन धिग्रहणे कालादिकर्मणः कर्ता कर्मसंज्ञो भवति । आस्ते मास देवदत्तः । आसयति मास देवदत्तम् । आस्ते गोदोह देवदत्तः । आसयति गोदोह देवदत्तम् । आस्ते क्रोशं देवदत्तः । आसयति क्रोश देवदत्तम् ।

शब्दे च ॥१।२।१२३॥ शब्दे कर्मभावेन क्रियाभावेन च यो ध्रुवतैः तस्याण्यन्तस्य कर्ता एव कर्मसंज्ञो भवति । शब्दकर्मणः—शृणोति देवदत्तः शब्दम् । श्रावयति देवदत्तं शब्दम् । उपलभते देवदत्तः शब्दम् । उपलभयति देवदत्त शब्दम् । अधीते माणवकस्तर्कम् । अध्यापयति माणवकं तर्कम् । शब्दक्रियस्य—जल्पति देवदत्तः । जल्पयति देवदत्तम् । विलपति देवदत्तः । विलापयति देवदत्तम् । चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन एयत्यादिषु न भवति । हयति देवदत्तः । ह्राययति देवदत्तेन । क्रन्दति देवदत्तः । क्रन्दयति देवदत्तेन ।

हृक्रोर्न वा ॥१।२।१२४॥ हृ कृ इत्येतयोरण्यन्तयोर्यः कर्ता स एयन्तयोर्न वा कर्मसंज्ञो भवति । न वेति निर्देशात् प्राप्ते चाप्राप्ते च विकल्पः । प्राप्ते—अभ्यवहरति देवदत्तः । अभ्यवहारयति देवदत्त देवदत्तेनेति वा । विहरति देवदत्तः । विहारयति देवदत्त देवदत्तेनेति वा । विकुर्वते सैन्धवाः । विकारयन्ति सैन्धवान् सैन्धवैरिति वा । अत्रार्थगम्यर्थे धिग्रजायां पूर्वेण प्राप्तिः । अप्राप्ते—हरति माणवको भारम् । हारयति माणवकं माणवकेन वा । करोति कट देवदत्तः । कारयति कट देवदत्त देवदत्तेन वा । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थोऽनुवर्तते । तेन अभिवादिदृश्योर्द्विविधे विकल्पः । अभिवदति गुरु देवदत्तः । अभिवादयते गुरु देवदत्त देवदत्तेन वा । पश्यन्ति भृत्या राजानम् । दर्शयते भृत्यान् भृत्यैरिति वा । “णिच्” [ १।२।७२ ] इति दक्षिणि ।

स्वतन्त्रः कर्ता ॥१।२।१२५॥ स्वतन्त्र आत्मप्रधानः । क्रियासिद्धौ स्वतन्त्रो योऽर्थस्तत् कारकं कर्तृसंज्ञ भवति । देवदत्तः पचति । देवदत्तेन कृतम् । प्रेषितः करोतीत्यत्रापि स्वातन्त्र्यं गम्यते । अनिच्छायामकरणात् । इह स्थाली पचतीति स्वातन्त्र्यं विवक्षितम् ।

तयोजको हेतुः ॥१।२।१२६॥ योजकः प्रेरकः, तस्य स्वतन्त्रस्य योजको योऽर्थस्तत् कारकं हेतुसंज्ञ भवति । पुल्लिङ्गकर्तृसंज्ञासमावेशात् कर्तृसंज्ञा च । कारयति । भोजयति । हेतुत्वात् “हेतुमति” [ २।१।२४ ] इति णिच् । कर्तृत्वात्कारवाच्यता । गौणस्यापि योजकस्य हेतुत्वम् । भिक्षा वासयति । कारीपोऽग्निरभ्यपयति । तयोजक इति वचनं शापक “वृजकार्थ्या” [ १।३।७८ ] “कर्तरि” [ १।३।७९ ] इत्यस्य तात्प्रतिषेधनमित्यतम् ।

निः ॥१।२।१२७॥ अधिकारोऽयम् । “प्राग्धोस्ते” [ १।२।१४६ ] इत्यतः प्राक् । यानित ऊर्ध्वमनु-  
गच्छन्ति निःशस्त्रे वेदितव्या । वक्षति चादिरसत्वे । च वा ह अह एव । निरिति पुल्लिङ्गनिर्देशः किमर्थः ? निरिच्छन्त्या नगदेशो यथा स्थान् । निप्रदेशाः “निरेकाजनाट्” [ १।१।२८ ] इत्येवमादयः ।

चादिरसत्वे ॥१।२।१२८॥ सीदत अस्मि लिङ्गसत्त्वे इति सत्त्वम् । लिङ्गसंख्यावद् द्रव्यमित्यर्थः । चादयो निःशस्त्रा भवन्ति न चेत् सत्त्वं वर्तते । च वा ह अह एव एवम् नूनम् शश्वत् सप्तं कूपं कुवित्

नेत् चेत् चण् कञ्चित् यत्र नह हन्त माकिम् नकिम् माङ् । डकारो “भाडि लुडि” [१३११५३] इति विशेषणार्थः । अडिति माशब्दे माऽभवत् मा भविष्यति । न नञ् । जकारो “नज्” [१३१६८] इति विशेषणार्थः । नहि वाच त्वाक ननु च त्वे तु द्वे त्वे नु वै रुवै रेवै श्रौपट् वौपट् वपट् स्वाहा स्वधा श्रोम तथाहि खलु किल अथ अवत् स्म असि अ इ उ ऊ ऋ लृ ए ऐ ओ औ उज् मुज् आढ आतड वेलायमा मात्रायाम् यावत् यथा किम् यत् तत् यदि पुरा धिक् हे हौ पाट् प्याट् उताहो आहो अथो अथो मानो ननु नाना मन्ये असि ब्रूहि हितु तु इति इव वत चैन धावत एवं आ आं शं हिकम् हिरुक् शुभम् सुकम् शुक्म् तुकम् नहि कम् ऋतम् सत्यम् अद्धा नो हि मुधा न चेत् जातु कथम् ऋते कुत्र अपि (अपि) आदक आवहन् भोस् श्रित् वाह्य संवत् दिग्ध्या पशु युगपत् फट सह अनुष्वक् ताजक् नाजक् अङ्ग पुत्र अये अरे यो वट् वेट् वाट् उं श्रक्ति मर्या ईप<sup>१०</sup> कीम् सीम् गिविभङ्गीस्वरप्रतिरूपकाश्च । गिप्रतिरूपका अवदन्तिनादौ । दुर्नीतं दुर्नय इति एत्वं न भवति । असत्त्व इति किम् ? अस्यापत्यमिरिति ।

**प्रादिः ॥१२१२२६॥** प्रादयो निसंज्ञा भवन्त्यसत्त्वे । प्रपराऽपसमूनिर्दुर्व्याङ्म्यधयोऽप्यनिमदभयश्च । प्रतिना सह लक्षयितव्याः पयुपयोरपि लक्षणमत्र । असत्त्व इत्येव । विप्रातीति विप्रः । पगजयति सेना । पृथक्करणमुत्तरार्थम् । प्रादीनामेव गिसंज्ञा यथा स्याच्चादीना मा भूत् । उत्तरत्र प्रादिग्रहणे क्रियमाणे अति यायोगे निसंज्ञा न स्यात् । आ एवं नु मन्यसे । आ एवं किल तत् ।

**क्रियायोगे गि ॥१२१२३०॥** क्रियायोगे प्रादयो गिसंज्ञा भवन्ति । प्रणमति । परिणायकः । “गेरसेऽपि विकृते” [१४१६८] इति एत्वं सिद्धम् । क्रियायोग इति किम् ? प्रगता नायका असादेशात् प्रनायको देशः । नन्वत्रापि क्रियाऽस्ति । योगग्रहणसामर्थ्यात् यत्क्रियायुक्तास्त प्रति गितिमज्ञा भवति । गमि क्रियया चात्र योगः । “मरुच्छदस्योपसंख्यानम्” । मरुतः । “गेस्तोऽचः” [५१२१४१] इति अनजन्तऽप्युपसंख्यानसामर्थ्यात्तादेशः । “प्रज्ञाश्रद्धाच्चावृत्तिभ्यो णः” [४११२८] इति निर्देशादङ्विषये श्रतो गितम् । “तिरोऽन्तर्द्वौ” [१२११४] इति निर्देशादन्तःशब्दस्यापि क्यादिविषये ।

**ति ॥१२१२३१॥** तिसंज्ञाश्च प्रादयो भवन्ति क्रियायोगे । प्रकृत्य । प्रस्तृत्य । तिसंज्ञाया “तिकुप्रादयः” [११३१८१] इति पसः । “प्यस्तिवाक्से त्वः” [५११३१] इति प्यादेशः । पुल्लिङ्गा गिमज्ञा समानिगति । अभिषिच्य । प्रणम्य । पत्न्यत्वे निद्धे । योगविभागः किमर्थः ? उत्तरत्र तिसंज्ञैव यथा स्यात् गिमज्ञा मा भूत् । इह ऊरीस्यादिति । “गिप्रादुर्भ्या यच्यस्तेः” [१४१६८] इति पल स्यात् ।

**चिञ्जाजूर्यादिः ॥१२१२३२॥** च्यन्तो डाजन्त ऊरीप्रभृतयश्च शब्दाः क्रियायोगे तिमज्ञा भवन्ति । अशुक्लं शुक्लं कृत्वा शुक्लीकृत्य । डाच्-अपट् पट् कृत्वा पटपटाकृत्य । कृन्वन्तियोगे चिञ्जाचौर्त्ति ॥ तत्साहचर्यादूर्वादीनामपि कृन्वन्तिभिरेव योगे तिसंज्ञा भवति । ऊर्यादिषु च्यर्थो न भवति । ऊरीकृत्य । ऊरीभूय । उररीभूय । ऊरीउररीशब्दावङ्गीकरणे विस्मारे च । पापीशब्दो वि यम मायुर्ग मरणा विलापे च । तालीआतालीशब्दौ वर्णे । वेताली वेत्त्ये । धूसीशब्दः कान्तो वाञ्छयाशब्द । सकलाशमया ध्वसकलाभ्रसकला एते हिंसायाम् । गुलुगुथाशब्दौ पीडायाम् । सत्रः सहायं । पलू पली विह्वो अकी ॥ विकारे । आलम्बी आलोष्टी वेदासी वेवाली वर्णाली मन्ममा मसममा एते हिंसायाम् । श्रौपट् वौपट् स्वाहा

१. त्वे व० । २. तुवे व० । तुवै व०, म० । ३. रे अ०, व० । ४. हे अ० । ५. हे म० । ६. अवो अ०, व०, म० । ७. चन । ८. वत व० । वत । ध । वत म० । वत । धवत । म० । ९. भो शिवन् अ० । १०. वाट अ० । १०. इप अ० ।

त्वधा एते दानार्थाः । चादिषु च पाठादक्रियायोगेऽपि निसञ्ज्ञा । प्रादुस् अत् आविस् । प्रादुःकृत्य । प्रादुर्भूय । भदाय । आविर्भूय । आविःशब्दः साक्षादादौ च पठ्यते । तस्य “वा कृञि” [१।२।१४१] इति करोतियोगे तिस्रशविकल्पः । आविष्कृत्य । आविष्कृत्वा ।

अनितावनुकरणम् ॥१।२।१३३॥ अव्यक्तो व्यक्तो वा शब्दोऽनुक्रियतेऽनेनेत्यनुकरणम् । अनिति-परमनुकरण क्रियायोगे तिस्रश्च भवति । खादृकृत्य । पयत्कृत्य । अनिताविति किम् ? खाडिति कृत्वा निरष्टी वत् । खादृच्छब्दस्य धोः प्राक् प्रयोगः सविधिरच प्रसज्येत । “ध्वादेः षः सः” [४।३।५३] इत्यत्र सुबधुष्टी-घतिष्वकृतिष्वप्रायतीर्णा प्रतिषेध उक्तः ।

सदादरानादरयोः ॥१।२।१३४॥ आदरः सम्भ्रमः । अवज्ञानमौदासीन्य वाऽनादरः । सच्छब्द आदरानादर इत्येतयोरर्थयोस्तिस्रजो भवति । आदरे-सत्कृत्य । अनादरे-असत्कृत्य । अनादर इत्यर्थनिर्देशात् सच्छब्दस्य तदन्तविधिरिष्टः । तेनेहापि भवति । परमसत्कृत्य । तिस्रज्ञायां निस्रज्ञासमावेशः । निस्रज्ञस्या-सख्यत्वाभिमतञ्जा । आदरानादरयोरिति किम् ? सत्कृत्वा काण्ड गतः । विद्यमान कृत्वेत्यर्थः ।

भूषाऽपरिग्रहेऽलमन्त ॥१।२।१३५॥ अलमन्तरित्येतौ शब्दौ भूषायामपरिग्रहे चाथे यथासंख्यं तिमजौ भवत । अलङ्कृत्य । भूषयित्वेत्यर्थः । अन्तर्हृत्य । मध्ये हत्वेत्यर्थः । भूषाऽपरिग्रह इति किम् ? अल कृत्वा । अन्तर्हत्वा मूषिका गताः । पर्याप्तं कृत्वेत्यर्थः । परिग्रहेत्यर्थः । “तिरोऽन्तर्द्धौ” [१।२।१४०] इति नापकादन्तःशब्दस्य गिमजाऽपि । अङ्गिविधिरण्वेषु प्रयोगदर्शनात् । अन्तर्द्धा । अन्तर्द्धिः । अन्तर्णेत्यर्थः ।

कणेमनः श्रद्धाघाते ॥१।२।१३६॥ श्रद्धाघातोऽभिलाषनिवृत्तिः । कणेमनःशब्दौ श्रद्धाघातेऽर्थे तिस्रजौ भवतः । कणेशब्द ईदन्तप्रतिरूपको निस्रजोऽभिलाषातिशये वर्तते । मनःशब्दोऽपि तत्साहचर्यादिह तादृशः । कणेत्य भुङ्क्ते । मनोहत्य भुङ्क्ते । श्रद्धाघात इति किम् ? तन्दुलावयवे कणे हत्वा गतः । मनो हत्वा गतः । चेतो हत्वेत्यर्थः ।

पुरोऽस्तं भिः ॥१।२।१३७॥ पुरस् अन्तमित्येतौ भिस्रजौ क्रियायोगे तिस्रजौ भवतः । पुरःशब्दः “पूर्वाधरावर्यान् पुरुषोऽसि” [४।१।१०३] इत्यत्र साधितः । अस्तंशब्दोऽनुपलब्धौ वर्तते । पुरस्कृत्य गतः । अस्तंज्ञत्य पुनरुदेति । “नमःपुरसास्त्र्योः” [५।४।२६] इति सखम् । भिरिति किम् ? पूः पुरौ पुरः कृत्वा गतः । अस्त कृत्वा काण्ड गतः ।

गत्यर्थवदेऽच्छ ॥१।२।१३८॥ भिरिति वर्तते । अच्छशब्दो भिस्रंश गत्यर्थे वदतौ च तिस्रजौ भवति । अच्छगत्य । अच्छगम्य । “च्ये” [४।४।३८] “वा म.” [४।४।३६] इति वा मस्य खम् । अस्तौ च । अच्छशब्दो एताभ्यां आभिमुख्ये च वर्तते । भिरित्येव । उदकमच्छं गत्वा ।

अनुपदेशेऽद ॥१।२।१३९॥ अवचनात्मिका प्रतिपत्तिरनुपदेशः । अदःशब्दोऽनुपदेशे तिस्रंशो भवति । अदःकृत्य । अनुपदेश इति किम् ? अदः कृत्वा गतः । एतत् कृत्वा गत इति परस्य कथयति ।

तिरोऽन्तर्द्धौ ॥१।२।१४०॥ तिरःशब्दोऽन्तर्द्धाने तिस्रजो भवति । तिरोभूय । अन्तर्द्धानिविति किम् ? तिरो भूत्वा स्थित । तिरोभूत्वा स्थित इत्यर्थः ।

वा कृञि ॥१।२।१४१॥ तिरःशब्दोऽन्तर्द्धौ कृञि वा तिस्रजो भवति । प्राप्ते विकल्पः । तिरस्कृत्य । तिर कृत्वा । “तिरस्ते वा” [५।४।३०] इति सखम् । अन्तर्द्धानित्येव । तिरः कृत्वा काण्ड गतः ।

उपाजेऽन्वाजे ॥१।२।१४२॥ उपाजे अन्वाजे ईदन्तप्रतिरूपकावेतौ कृञि वा तिस्रजौ भवतः । उपा-नेत्य । उपाजे कृत्वा । अन्वाजे कृत्य । अन्वाजे कृत्वा । दुर्गलस्य भग्नस्य वा बलाधानं कृत्वेत्यर्थः ।



**साक्षादादिः ॥११२।१४३॥** वेति वर्तते । साक्षात्प्रभृतीनि शब्दरूपाणि कृजि वा तिमजानि भवन्ति । “चिचडाजूर्यादिः” [११२।१३२] इत्यतो मण्डूकश्रुत्या क्विग्रहणमर्थपरमनुवर्तते । तेन च्युयं तिमजानि-कल्पोऽयम् । साक्षात्कृत्य । साक्षात्कृत्वा । मिथ्याकृत्य । मिथ्याकृत्वा । यदा चिचरुपद्यते तदा “चिचडाजूर्यादिः” इत्यनेन नित्य तिसंज्ञा भवति । साक्षात् । मिथ्या । चिन्ता । भद्रा । रोचना । लोचना । अमा । आस्था । श्रद्धा । आस्था । प्राजया । प्राजरुहा । वीजया । वीजरुहा । ससर्या । अर्थे । लवणम् । उष्णम् । शीतम् । उदकम् । आर्द्रम् । तिसन्निभयोगे लवणादीनां मकारान्तत्वं निपात्यते । अग्नौ । वसे । विक्रमे । विकम्पने । विहसने । अग्नौप्रभृतय ईवन्तप्रतिरूपका निपातन वा । वेति व्यवस्थितविभाषानुवर्तनाल्लवणादीनां व्यन्तानां मकारौकारनिपातन न भवति । लवणीकृत्य । वशीकृत्य । नमम् । प्रादुराविःशब्दौ ऊर्जादिष्वपि पठ्येते । तयोः कृजि विकल्पार्थं इह पाठः ।

**मनस्युरस्यनत्याधाने ॥११२।१४४॥** मनसिउरसिशब्दौ ईवन्तप्रतिरूपकौ निपातन च । अत्याधान-मुपश्लेषः । मनसि उरसि इत्येतौ अनत्याधानेऽर्थे कृजि वा तिसंज्ञौ भवतः । उरसिकृत्य । उरसि कृत्वा । मनसिकृत्य । मनसि कृत्वा । निश्चिन्त्येत्यर्थः ; अनत्याधान इति किम् ? उरसि कृत्वा पाणि शेते ।

**मध्ये पदे निवचने ॥११२।१४५॥** अनत्याधान इति वर्तते । मध्ये पदे निवचने इत्येतौ शब्दाः कृजि वा तिसंज्ञा भवन्ति अनत्याधाने । एकारान्तता पूर्ववद्वेदितव्या । मध्येकृत्य । मध्ये कृत्वा । पदेकृत्य । पदे कृत्वा । निवचने इति वचनाभावे वर्तते । निवचनेकृत्य । निवचने कृत्वा । अनत्याधान इत्येव । हस्तिनः पदे कृत्वा हस्तमास्ते ।

**हस्ते पाणौ स्वीकृतौ तिः ॥११२।१४६॥** हस्ते पाणौ इत्येतौ स्वीकृतावर्थे कृजि तिमजो भातः । हस्तेकृत्य । पाणौकृत्य । भार्या कृत्वेत्यर्थः । स्वीकृताविति किम् ? हस्ते कृत्वा कार्पापणं गतः । नात्र दार-स्वीकारः । पुनस्तिग्रहणं नित्यार्थम् ।

**प्राध्वं वन्धे ॥११२।१४७॥** प्राध्वमिति मकारान्तो भिन्नजः शब्द आनुलोम्ये वर्तते । प्राध्वंशब्दः कृजि तिसंज्ञो भवति वन्धो निमित्त चेत् । प्राध्वकृत्य । वन्धनिमित्तमानुलोम्यमिह प्राध्वकरणम् । वन्ध इति किम् ? प्रगतमध्वानं प्राध्वं कृत्वा शकटं गतः । “तिकुप्रादयः” [१।३।८१] इति पमः । “गेरान्” [१।३।८७] इति सान्तोऽकारः । प्रतिपदोक्तपरिभाषानाश्रये प्रत्युदाहरणमिदम् ।

**जीविकोपनिपदाचिवे ॥११२।१४८॥** उपनिपदहस्यम् । जीविका उपनिपदित्येतौ शब्दाविवशब्दत्वायं कृजि तिसंज्ञौ भवतः । जीविकाकृत्य । उपनिपदकृत्य । जीविकामिव उपनिपदमिव कृत्वेत्यर्थः । इवाथ इति किम् ? जीविका कृत्वा गतः ।

**प्राग्धोस्ते ॥११२।१४९॥** प्रयोगनियमोऽयम् । ते गतितमजा धोः प्रागेव प्रयोक्तव्याः । तथा नाना-हृतम् । ते इति वचनं किमर्थम् । अनन्तराणां तीनां गीनां च ग्रन्थार्थम् ।

**लो मम् ॥११२।१५०॥** नवानां लसाराणामनुबन्धापाये ल इति सामान्येन निर्देशः । लाङ्गो मम् ॥ भवति । मिप् वष् मस् सिप यम् थ तिप् तस भि शतृ । नपा निर्दग्, पुल्लिङ्गना दमजया बाधा यया स्यात् । समावेशे हि आक्रमन आदित्यः । मद्गन्ध इत्यत्र “क्रमो मे” [५।२।७५] दीप “गमेगित” [१।१।१०६] इति इट् प्रसज्येन । शतरि ममजा मावसायेति मिट् लु उद्धमार्गाभिर्मन्मदादिभिः म्माभिर्भियः । नाशदनीयम् । “सावैग्मे” [५।१।७७] इति वचनं ज्ञापकं मिटा ममजाऽपि भवतीति ।

**इडानं दः ॥११२।१५१॥** इडिति प्रत्ययान्तर इडित्यतः प्रभृति आ भट्टा उभयङ्ग । इट् च आत्मानं दसजौ भवतः । इट् वडि मडि यात् आथान् जम् न आत्मान् भट्ट । आत्मानं शनो यत्ते ।

**मिडन्निशोऽस्मद्युमदन्त्याः ॥११२।१५२॥** मिटो म्माजलि च त्रीणि त्रीणि वसन्तीति अन्तर्ग-दन्त्य इति एवमजानि भवन्ति । मिट् वष् मडित्यन्तम् । मिट् यम् येन युज्यते । मिट् त्वं म्माजलि ।

दानामपि । इट् वहि महि इत्यस्मद् । थास् आथा ध्वमिति युष्मद् । त आतां भडित्यन्यः । मिड् इति किम् ? अनुत्तरस्य दस्य मस्य च ग्रहणार्थम् । त्रिश इति “संख्यैकाद्वीप्सायाम् [४।२।४८] इति शस् ।

साधने स्वार्थे ॥१।२।१५३॥ अस्मदादयोऽन्वर्थसज्ञा अनुवर्तन्ते । लस्येत्यधिकृत्याविशेषेण मिडादयो विहितास्तन्नियमोऽयम् । स्वस्यार्थः स्वोऽर्थो वा स्वार्थस्तस्मिन् स्वार्थे साधनेऽस्मदादयो वेदितव्याः । अस्मत्पदस्यार्थे साधनेऽस्मत्त्रिकं युष्मत्पदस्यार्थे साधने युष्मत्त्रिकमाभ्यामन्यस्यार्थे साधनेऽन्यन्त्रिकं भवति । अस्मदाद्यर्थानां साधनत्वे सति नियमोऽयम् । ततोऽस्मदादिपदानामनुप्रयोगे सत्यसति चास्मदादयो भवन्ति । अह पचामि । आवा पचावः । वय पचामः । पचामि । पचावः । पचामः । त्व पचसि । युवा पचथः । यूय पचथ । पचसि । पचथः । पचथ । स पचति । तौ पचतः । ते पचन्ति । पचति । पचतः । पचन्ति । एव दविधावपि शैल्यम् । भावेऽस्मद्युष्मदर्थयोरभावात् भावस्य चाभ्यामन्यत्वादेकत्वाच्च तस्मिन् साधनेऽन्य एव भवति । आत्यये भवता । ग्लायते भवता । यत्रास्मदाद्यर्था युगपत् साधनं तत्र क इष्यते ? पूर्वनिर्णयमेव यः पूर्वः । अत्र किमस्मदर्थ एव साधनेऽस्मद् भवतीत्यवधियते आहोस्विदस्मदर्थे साधनेऽस्मदेव भवतीति । उभयथाऽप्यदोषः सर्वेषां नियतत्वात् । ननु द्वितीये पक्षे त्वया (मया) कुर्वाणेनेत्यत्र दोषः । मैवम् । त्रिकापेक्षया नियमो न साधनापेक्षया ।

प्रहासे मन्यवाचि युष्मन्मन्यतेरेकवच्च ॥१।२।१५४॥ मन्य इति मन्यतेरेकदेशः । ब्रूते इति वाक् । मन्यो वाक् यस्य प्रहासस्य तस्मिन् मन्यवाचि प्रहासे गम्यमाने युष्मद्भवति मन्यतेरेकास्मद्भवति एकवच्च । अस्मद्युष्मदोर्व्यत्ययार्थोऽयमारम्भः । एहि मन्ये रथेन यात्यसि न हि यात्यसि यातस्ते पिता । एहि मन्यसे रथेन यास्यामीति प्राप्तम् । एवमेहि मन्ये ओदनं भोक्ष्यसे न हि भोक्ष्यसे भुक्तः सोऽतिथिभिः । द्वित्वबहुत्वविवक्षा-यामपि मन्यतेरेकवद्भावो भवति । एव मन्ये रथेन यात्यथ न यात्यथेति । प्रहास इति किम् ? एहि मन्यसे ओदनं भोक्ष्य इति सुष्ठु मन्यते साधु मन्यसे ।

एकद्विवहवश्चैकशः ॥१।२।१५५॥ यान्यस्मद्युष्मदन्यसञ्ज्ञानां सञ्चित्वेनोपात्तानि षट् त्रिकाणि तान्येकश एव द्वि बहु इत्येवमज्ञानं भवन्ति । मित्रित्येकः । वसिति द्विः । मसिति बहुः । एव शेषेषु योज्यम् । अस्मदादिषु पुल्लिङ्गा एकादिभिः सह समाविशन्ति ।

सुपश्च ॥१।२।१५६॥ त्रिश इति वर्तते । सुपश्च त्रिकाणि एकद्विबहुसञ्ज्ञानि भवन्त्येकशः । सु इत्येकः शौ इति द्विः । जसिति बहुः । एव शेषेषु त्रिकेषु नेयम् । उभयत्र चशब्द “साधने स्वार्थे” [१।२।१५२] इत्येवमुक्त्यर्थः । एकार्थे साधने एको भिन्नभवति । द्वयर्थे द्विर्वस् । बहुवर्थे बहुर्मस् । एवं मिड्नु सुप्सु च योज्यम् । ननु च “साधने स्वार्थे” इत्येतन्मिड् उपपद्यते यतः साधनं कारकं क्रियायां निर्वर्तकं क्रिया च पदार्थः । धोश्च मिडो विहिता इति साधनवाचित्वोपपत्तेः । सुपस्त्वक्रियावाचिनो ङयाम्मृदो विधीयन्त इति तत्र साधने स्वार्थ इत्येतन्न घटते । नैप दोषः । अक्रियावाचिनोऽपि विधीयमानाः सुपः क्रियावाचिपदान्तरमा-वाच्यन्ति । पदान्तरवाच्या क्रियायाः साधनभावोपपत्तेः सुप्सुपि “साधने स्वार्थे” इत्ययं व्यवहारो युज्यते । उच्यते पचति देवदत्तो पचत । देवदत्ता पचन्ति । यत्रापि क्रियापदं न प्रयुज्यते वृद्धः प्लक्ष इति तत्राप्य-न्ति भवन्ति परः स्मरितित्त्वपेक्षया व्यवहारः । मिडः सामान्येन धुमात्राद्विधीयन्ते सुपश्च मृन्मात्रात्तेषां सकरेण प्रत्यये निमित्तोऽयम् । त्वनिमित्तोऽर्थनियमो वा । एवार्थ एव साधनं एको भवति द्वयर्थ एव साधने द्विर्भवति त्वार्थ एव साधने त्वनिमित्तोऽर्थनियमः । एकार्थे साधने एक एव भवति द्वयर्थे द्विरेव भवति बहुवर्थे बहुरेव भवति त्वनिमित्तोऽर्थनियमः । त्वनिमित्तपक्षे “सुपो के” [१।४।१५०] इति वचनं ग्रापकमेकत्वादीनामभावेऽनुत्पद्यन्ते केः एव इति । त्वनिमित्तपक्षे एवञ्चादयो निपतात्स्यान् व्यभिचरन्ति त्याः पुनरनियता एकत्वादीनामभावे व्यति-पद्यन्ते मिड्पदस्येति भवन्ति । तत्र “सुपो केः” [१।४।१५०] इत्युपि कृते सुवन्तं पदं भवति ।

यावद्यथावधृत्यसादृश्ये ॥१३१६॥ प्रसक्तस्य परिमाणमवधृतिः । सादृश्यं तुल्यता । यावत् यथा इत्येतौ शब्दावधृति असादृश्य इत्येतयोरर्थयोः सुपा सह यथासंख्य हसो भवति । यावदमत्र यावदवकाशमति-  
थीन् भोजय । यावन्त्यमत्राणि तावतो भोजयेत्यवधार्यते । यथावृद्ध साधूनर्चय । यथापटु । यथाव्यापकम् ।  
वृद्धानतिक्रमेणेत्यर्थः । उत्तरपदार्थानतिवृत्तिर्यथाशब्दस्यार्थो बोधा सादृश्यञ्च । अवधृत्यसादृश्य इति किम् ?  
यावद् दत्तं तावद्भुक्तम् । यथा देवदत्तस्तथेन्द्रदत्तः । पूर्वैर्गौव यथार्थं हसे सिद्धे सादृश्ये प्रतिषेधार्थमिह यथाशब्दो  
पादानम् । गुणक्रियाछायासादृश्ये हसो वक्तव्यः [वा०] गुणः—यथाशक्ति । यथावलम् । क्रिया—यथोपदेशम् ।  
छाया—यथासुखम् । न वक्तव्यम् । अत्राप्युत्तरपदार्थानतिवृत्तिर्गम्यते ।

स्तोके प्रतिना ॥१३१७॥ भीति निवृत्तम् । स्तोके मात्रा । स्तोकेऽर्थं प्रतिना सह सुवन्त हने  
भवति । सूपस्य मात्रा सूपप्रति । शाकप्रति । स्तोक इति किम् ? वृत्तं प्रति विद्योतते विद्युत् । लक्षणेऽ  
प्रतिशब्दो वर्तते ।

परिणाऽक्षशलाकासंख्याः ॥ १३१८ ॥ अक्षशब्दः शलाकाशब्दः संख्या च परिणा सह हसो  
भवति । परिणाक्षशलाकासंख्यमिति सिद्धे बहुवचननिर्देशादिष्टसंग्रहो लब्धो वेति सिद्धावलोकनाद्वा । अक्षदो  
यदा भान्ता एकलञ्चाक्षशलाकायोः पूर्वोक्तस्यान्यथावृत्तौ परिशब्दो यदा वर्तते कितवव्यवहारविषये तदा वृत्तिरि-  
ष्यते । तथाहि पञ्चिका नाम द्यूत यत्र पञ्चाक्षाः शलाका वा पात्यन्ते पञ्चस्वेकरूपासु पातयिता जयत्यन्यथा  
पाते जीयते । अक्षेणेदं न तथा वृत्तं यथा पूर्वं जये । अक्षपरि । शलाकापरि । संख्या—एकपरि । द्विपरि ।  
त्रिपरि । चतुःपरि । परिणेति किम् ? सुवन्तमात्रे मा भूत् । अक्षादय इति किम् ? पाशकेनेदं न तथा दूतम् ।  
एकल्लेऽक्षशलाकायोरिति किम् ? अक्षाभ्यां न तथा वृत्तम् । कितवव्यवहार इति किम् ? अक्षेणेदं न तथा  
वृत्तं शकटे ।

वा ॥१३१९॥ वेत्ययमधिकारः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्तद्वा भवतीति वेदितव्यः । इत उत्तर. गां-  
धिर्वा भवति पक्षे वाक्यमपि साधु भवति । पूर्वस्तु सर्वाधिर्नित्यः । तेनास्वपदेन तत्र विग्रहो ज्ञेयः ।

पर्यपाङ्गवहिरञ्चवः कया ॥१३१२०॥ परि अप आङ्गवह्निम् अञ्च इत्येते सुवन्ताः कान्तेन स  
वा हसो भवति । परित्रिगतं वृष्टो देवः । वाक्यपक्ष परैर्वर्जने वा वचनमिति वा द्वित्वम् । परि परि त्रिगतंभ्यः ।  
परि त्रिगतंभ्यः । अप त्रिगतंभ्यः । “वर्जनेऽपपरिभ्याम् [१४१२१] इति का । आपाटलिपुा वृष्टो  
देवः । पाटलिपुत्रात् । आकुमार यशः समन्तभद्रस्य । आ कुमारभ्यः । “काङ्गमर्यादावचने” [१४१२०] ।  
इति मर्यादाभिविधयोः का । वहिर्ग्रामम् । वहिर्ग्रामात् । इदमेव जापकं वह्नि.शब्दयोगे का भवति । अम् ।  
प्राग्ग्रामम् । प्राग्ग्रामात् । प्राची दिग् रमणीया इति विग्रह्य “दिक्छन्द्रेभ्यो वा केभ्योऽस्ताद्विग्नेभ्यो काल”  
[४११६२] इति अस्तात् । तस्य “अञ्चेरप्” [४११६६] इत्युप् । “सुपो केः” [१४११५०] इति सुप उप् ।  
पदत्वात् कुत्वम् । तेन योगे ता प्राता ता वाचित्वा दिक्छन्द्रेभ्यो वा प्राता ता वाचित्वा “ताऽन्तमर्थं त्येन”  
[१४१३६] इति ताया प्रातायाम् “अञ्चुद्यु” [१४१३८] इति का भवति । कयेति किम् ? परिणा ।  
अपगतः । वर्जनार्थाभावात् का नालीति “निकुप्राड्य” [१३१८१] इति नित्य पक्षो भवति ।

लक्षणेनाभिमुख्येऽभिप्रती ॥१३१११॥ लक्षणेनेनेति लक्षणम् । तद्वाचिना सुवन्तेन स अग्नि  
प्रतिशब्दावाभिमुख्ये वर्तमानौ वा हसो भवन्ति । अग्न्याग्नि शलभा. पतन्ति । प्रत्याग्नि शलभा. पतन्ति । अग्नि  
मभि पतन्ति । अग्निं प्रति पतन्तीति वाक्यम् । अत्राग्निना चिदन शलभपातो लक्षणे । “वाग्नेभ्योऽभिमुख्ये  
लक्षणेऽभिना” [१४१११] इप् । “भागे चानुप्रतिपरिणा” [१४११२] इति चेप् । लक्षणेनाभिप्रतीति  
सुवन्तं प्रति गत । दिङ्मोक्षन्त्रेव एतदगन्त इत्यर्थः । आभिमुख्य इति किम् ? अग्न्याग्नि गत । अग्निना  
प्रतिनोऽङ्को सप्तमिति । यद्यपि पूर्वमर्थप्रधानो हसन् यत्परिणामादित्यस्यार्थोऽपि न्यस्य । अग्नि-  
इति किम् ? येनाग्नित्वेन गत । येनैवत्याग्निना दृष्ट हसो न भवति ।

यत्समयाऽनुः ॥११३१२॥ समयावाची अनुशब्द उपचारात् समया । यस्य समया यत्समया । मुख्येन समयाशब्देन योगाभावादिम्न भवति । अत एव “न क्ति” [ ११४७२ ] इत्यादिनाऽपि न तासप्रति-  
पेधः । अनुर्यत्समयावाची तेन लक्षणभूतेन सह वा हसो भवति । अनुवन गतोऽशनिः । वनमनुगत इति  
वाक्यम् । “भाते चानुप्रतिपरिण” [ ११४१२ ] इति लक्षणा इप् । वनेन समीपस्थमशनिगमन लक्ष्यते । “किं  
विभवत्यभ्यास-” [ ११३५ ] इत्येव सिद्धे विकल्पार्थं वचनम् । यत्समयेति किम् ? वृक्षमनु विद्योतते ।

आयामिना ॥११३१३॥ अनुरिति वर्तते । लक्षणेनेति च । अनुनाऽऽयामिना लक्षणभूतेन सह वा  
हसो भवति । द्वयोः पट्टहरीनयोर्दार्ढ्ययोगेऽनुः प्रयुज्यमान उभयोर्दार्ढ्यत्वमाह । तत्र प्रसिद्धाऽऽयामेन लक्षणेनाति-  
शयेन दीर्घेण वा हसवृत्तिर्भवति । अनुगङ्गा वाराणसी । अनुशोने पाटलिपुत्रम् । वाक्यमपि साधु भवति ।  
गङ्गामन्वायता वाराणसी । नः प्रायामेन पत्तनायामो लक्ष्यते । लक्षणे इप् । अथवा “हेतावनुना” [ ११४१३ ] ।  
‘भाऽर्थे’ [ ११४१४ ] इतीन् । गङ्गाया सहायतेत्यर्थः ।

तिष्ठद्गवादीनि च ॥११३१४॥ तिष्ठद्गु इत्येवमादीनि च शब्दरूपाणि हसज्ञानि भवन्ति । समुदाया  
एते हसजाः कार्यार्थः (कार्यार्थः) पाठादेव निपात्यन्त इत्यर्थः । तिष्ठद्गु कालविशेषेऽन्यपदार्थे । तिष्ठन्ति गावो  
यस्मिन् काले दोहाय तिष्ठद्गु । “त्यो” [ ५१११५७ ] इति लटः शत्रादेशो निपातनाद्वा । “स्त्रीगोर्ज्ञेचः” [ ११११८ ]  
इति प्रादेशः । वहन्ति गावो यस्मिन् काले वहद्गु । आयतीगवम् । पूर्वपदस्य निपातनात् पुवद्भावाभावो  
ऽकारश्च सान्तो निपात्यते । खलेबुसम् । निपातनादीपोऽलुप् । लूनयवम् । लूयमानयवम् । लूयन्ते यवा यस्मिन्  
काले त्योगिति लटः शानादेशः । पूतयवम् । पूयमानयवम् । सहृतयवम् । सहियमाणयवम् । सहृतबुसम् ।  
सहियमाणबुसम् । एते कालविशेषेऽन्यपदार्थे उक्ताः । समभूमिसमपदातिशब्दौ पूर्वपदार्थप्रधानौ समत्व भूमेः  
समत्व पदातेरिति । उत्तरपदार्थप्रधाने तु समा भूमिः समभूमिरिति षस एव । हसे पूर्वपदस्य केचिन्मकारान्त-  
त्वमपीच्छन्ति । समम्भूमि । समम्पदाति । सुपमम् । विषमम् । निष्पमम् । दुष्पमम् । अवरसमम् । समशब्देन  
पूर्वपदार्थप्रधाने हसः । अत्र शोभनत्व समत्येत्येवमादिवाक्यमप्युल्लम् । उत्तरपदार्थप्रधान्ये तु षसः । समाशब्दः  
सबलस्वाचि । तेन वक्ष्यमाणो हसः । आयतीसमा । आयतीसमम् । पापसमम् । पुण्यसमम् । केचित्तु सम-  
शब्देनैव भासमिच्छन्ति । आयत्या सममायतीसमम् । प्रगतमहः । प्राहम् (प्राहम्) । उत्तरपदार्थप्रधान्ये षसः ।  
प्राते (हो) वक्ष्याणामानाहृदिहो तिप्पुनर्वसू । प्रथम् । प्रमृगम् । प्रदक्षिणम् । अपदक्षिणम् । सम्प्रति ।  
प्रसम्प्रति । एच्-दण्डादण्ड । मुसलामुसलि । “ज इच्” [ ४१२१२८ ] इति इच् सान्तः । “अन्यस्यापि”  
[ ४१२१२९ ] इति पूर्वपदस्य दीत्वम् । चशब्दोऽवधारणार्थः । तिष्ठद्गवादीन्येव नान्यैः सह वृत्ति लभन्ते ।  
परम तिष्ठद्गु । “सन्मत्परमो” [ ११३५६ ] इत्यादिना षसो न भवति ।

पारे मध्ये तथा वा ॥११३१५॥ पारे मध्ये शब्दौ तान्तेन सह हसो भवति वावचनात्तासोऽपि । प्रकृ-  
तेन पात्राणेन वाक्यस्य साधुत्वमभ्यनुज्ञायते । हसन्नियोगेन वानयोरेकारान्तता निपात्यते । पार गङ्गायाः । मध्य  
गङ्गायाः । पारेगङ्गम् । मध्येगङ्गम् । तासपदे गङ्गापारम् । गङ्गामध्यम् ।

सख्या वश्येन ॥११३१६॥ विद्याजन्मादिहृतः सन्तानो वशः । तत्र भवो वश्यः । सख्या वश्य-  
वादिना हसो भवति । दो मुनी व्याकरणस्य वश्यो द्विमुनि व्याकरणस्य । अत्र सम्बन्धे ता । यदा व्याक-  
रणस्यार्थोपदेशो विदितः तदा दो मुनी तावेव व्याकरणमिति दो मुनी वश्यौ द्विमुनि व्याकरणमिति तदा-  
शान्तामिति न भवति । एव सतवाशि । निवोशलम् । एवाधयस्य वसस्य चापवादोऽयम् ।

नदीमिध ॥११३१७॥ बहुवचननिर्देशादर्थत्वेद गहणम् । नदीवाचिणि । शब्दैः सह सख्या हसो  
भवति । एव तिष्ठद्गु समाहृतः सन्तिन्नु । सतगङ्गम् । द्विपुनम् । तिस्रो गोदावर्यः समाहृताः त्रिगो-  
दावर्यः । “एषोद्वेषणेष्वर्था भूमेर” सान्त इत्यते । गोदावर्यश्च नद्याश्च संख्याया उत्तरे यदा ॥” इति

अस्यः सान्तो भवति । नदीशब्दोऽपि नदीवचन इति तेनापि वृत्तिः । पञ्चनदम् । अत्राऽयः सान्तः । चकारः किमर्थः ? समाहारे यथा स्यादिह मा भूत् । द्वीरावतीको देशः । एका नदी एकनदी ।

**खावन्यपदार्थं ॥१३।१८॥** सख्येति निवृत्तम् । नदीभिरिति वर्तते । अन्यपदार्थे खुविये नदीभिः सह सुवन्त हसो भवति । उन्मत्तगङ्गा देशः । लोहितगङ्गा । शनैर्गङ्गा । तूष्णीगङ्गा । अत्र वृत्तिरनेन मञ्ज गम्यत इति सामर्थ्याच्चित्यः सविधिः । उन्मत्ता गङ्गा यस्मिन् देशे इति सादृश्यमात्रेणार्थकथनं यथा गौरित्यस्यार्थं गच्छतीति । खाविति किम् ? शीघ्रा गङ्गा यस्मिन् देशे स शीघ्रगङ्गो देशः । अन्यपदार्थे इति किम् ? कृष्णावेष्णा । कृष्णावेष्णा नाम नदीविशेषलक्षणः ।

**पम् ॥१३।१९॥** अधिकारोऽयं प्राग् वसात् । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः षमजः सो भवति इत्येवं वेदितव्यम् । वक्ष्यति “इसच्छ्रितातीतपतितगतात्यस्तैः” [१३।२१] । धर्मं श्रितो धर्मश्रितः । नपा निर्दश किमर्थः ? इह वीरपुरुषको ग्राम इति पूर्वापरप्रथमादिस्त्रेण प्राप्तः स्वपदार्थविषयत्वादनन्तरङ्गः पमो अदिगतेन वसेन वाच्यो यथा स्यात् । उत्तरपदार्थप्रधानत्वं पसस्याभिधानवशात् ।

**इपा च प्राप्तापन्ने ॥१३।२०॥** इवन्तेन सह प्राप्तापन्ने शब्दरूपे पसो भवति । प्रातो जीविका प्रात जीविकः । आपन्नो जीविकामापन्नजीविकः । “स्त्रीगोर्नोचः” [१।१।८] इति प्रादेशः । चकार किमर्थः ? अस्मिन् देशसमुच्चयार्थः । प्राता जीविका प्राप्ताजीविका । आपन्ना जीविकामापन्नाजीविका । प्रपञ्चार्थमिदं गूढम् । ज्येनाप्येतत् सिध्यति । यदा कर्मणि क्लृप्ता प्राता जीविका येनेति विग्रहो यदा कर्तरि तदा प्राता जीविका य पुन्यमिति ।

**इसच्छ्रितातीतपतितगतात्यस्तैः ॥१३।२१॥** तच्छ्रितेन प्राप्तापन्नयोर्ग्रहणम् । इवन्त श्रितः प्रतीतः पतितः गतः अत्यस्त इत्येतैश्च सह पसो भवति । जीविका प्रातो जीविकाप्रातः । सुखापन्नः । धर्मश्रितः । ससारमतीतः ससारातीतः । नरक पतितो नरकपतितः । मोक्ष गतो मोक्षगतः । तुहिनमत्यन्तस्त्रुणिनात्मनः । इविति पदं सूत्रे वानिर्दिष्टं “वोक्तं न्यक्” [१।३।६३] इति न्यम्भश्च तस्य वृत्तो “पूर्वम्” [१।३।६७] इति पूर्वनिपातः । महान्तं धर्मं श्रित इति सापेक्षत्वाद्वृत्त्यभावः । यदा महाश्रामो धर्मश्च महाधर्म इति तदा महाधर्मश्रित इति भवति ।

**स्वयं क्लेन ॥१३।२२॥** स्वयमित्येतत् क्षिप्तजं क्लान्तेन सह पसो भवति । इवन्तस्मिन् देशसमुच्चयार्थः । दिम योगमुत्तुत्य गच्छति । स्वयन्धौतौ पादौ । स्वयगुता । “कृद्ग्रहणे तिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम् ।” न्या विलीनमाश्रयम् । ऐक्यं प्रयोजनम् । स्वयधौतस्येदं स्वायधौतम् ।

**खट्वाऽक्रमे ॥१३।२३॥** आचार्यासनं खट्वा । उत्पद्यगमनमक्रमः । खट्वाशब्द इत्यन्तः क्लान्तेन सह पसो भवति अक्रमे । खट्वाऽन्तो जालम् । खट्वाश्रितः । खट्वाऽनुतः । सर्व एते अविनीतपर्यायाः । गुणभिरनुज्ञातेन खट्वा आरोह्य तदन्यथाक्रममक्रमोऽत्र प्रतीयते । अत्रापि वृत्तिरप्यस्यास्मात् गम्यत इति निमित्तं सविधिः । वाक्य सादृश्यमात्रेण । अक्रम इति किम् ? खट्वाऽन्तोऽध्यापकाऽन्यापयति ।

**सामि ॥१३।२४॥** सामि इत्यर्द्धवाचि क्षिप्तजं तत् नुवन्त क्लान्तेन पसो भवति । सामिनाम् । सामिभुक्तम् । सट् प्राताद्वृत्त्युत्पत्तिः प्रयोजनम् । इवित्युपेक्षया गच्छति ।

सुखम् । चत्यन्तरमणीयम् । सर्वरात्रकल्याणी । सर्वरात्रशोभना । “कालाध्वन्यविच्छेदे” [१।४।४] इतीप् ।

भा गुणोक्तप्राऽर्थेनोनैः ॥१।३।२७॥ भान्त गुणोक्त्या अर्थशब्देन गुणवाचिभिश्च शब्दैः सह प्रसो भवति । शङ्खला खण्डः शङ्खलाखण्डः । “गुणवचनादुप्” [वा० ४।१।२३]” इति मतोरुप् । एव गिरिणा काणः गिरिकाणः । मदेन पटुर्मदपटुः । कुसुमैः सुरभिः कुसुमसुरभिः । कार्यकारणभावलक्षणमत्र सामर्थ्यं शङ्खलादिभूतत्वान् खण्डत्वादीनाम् । उक्तिगहणं किमर्थम् ? उच्यते इत्युक्तिः । गुणेनोक्तिर्गुणोक्तिः । गुणक्षरेण ऽप्येव शब्दो वर्तते तेन वृत्तिर्यथा स्यात् केवलेन गुणेन मा भूत् । मदेन पाटवम् । वृत्तेन पाटवम् । चयनं-धान्येनाथो धान्यार्थः । पुण्येनार्थः पुण्यार्थः । अर्थशब्दोऽत्र प्रयोजनवाची । ऊनैः—मापेणोनो मात्रेण । मापविकलम् । एतैरेति किम् ? गोभिर्वपावान् । अस्त्यत्र कार्यकारणभावः । गोभिः कृतत्वादपाव- त्वस्य । इह कस्मान् भवति ? अक्षणा काणः । असाध्यात् । नात्र काणत्वमस्ति कृतमन्येन केनापि काणः कृत । केवलमक्षणा काणत्वमुक्तो लक्ष्यते । इह कस्मान् भवति । दन्ना पटुः । घृतेन पटुः । अनभिधानात् ।

पूर्वावरसदृशकलहनिपुणमिश्रलक्षणसमैः ॥१।३।२८॥ पूर्वं अवर सदृश-कलह-निपुण-मिश्र- लक्षणं सम इत्येतैः सह भान्त प्रसो भवति । मासेन पूर्वो मासपूर्वः । सवत्सरपूर्वः । मासावरः । सवत्सरावरः । प्रसादेव वचनाच्चा । हेतौ वा । पित्रा सदृशः पितृसदृशः । “भाऽतुलोपमाभ्यां तुल्यार्थे” [१।४।७६] इति भा । विग्रया सदृशो विग्रसदृशः । असिना कलहोऽसिकलहः । वाचा निपुणो वाङ्निपुणः । गुडेन मिषा गुडमिषा । तिलमिषा धाना । वाचा श्लक्ष्णो वाक्श्लक्ष्णः । जिह्वाश्लक्ष्णः । मात्रा समो मात्र- समः । कुलेन समः कुलसमः ।

साधनं कृता बहुलम् ॥१।३।२९॥ साधनं कारकं तत् कृदन्तेन बहुलं प्रसो भवति । कर्तृ-अहिना एतोऽहितः । करणम्-विशेष एतो विप्रहतः । “कृद्ग्रहणे तिकारकपूर्वस्यापि ।” ( नखैनिर्भिन्नः ) नखनिर्भिन्नः । तथा देवदत्तेन नखनिर्भिन्नः देवदत्तनखनिर्भिन्नः । कर्म-ग्राम गमी ग्रामगमी । ओदनं बुभुक्षुरोदनबुभुक्षुः । अपादानम्-ग्रामनिर्गतं । ग्रधर्मगुप्युः । सम्प्रदानम्-पादाभ्यां हियते पादहारको भूपः । अधिकरणम्- गले चोपे गलचोपकः । “युद्ध्या बहुलम्” [२।३।१४] इति बहुलवचनादुभयत्र कर्मणि एव च । क्वचित् न भवति । दात्रेण लूनवान् । परशुना छित्तवान् । व्यान्तेरधिकार्थवचनं इष्यते । कुक्कुटैः सम्पात्याः कुक्कुट- सम्पात्या गन्ता । अत्यासक्तकथनम् । काकपेया नदी । धलेद्यः कूपः । कण्टकवचय ओदनः । बाष्पच्छेद्यानि तृणानि । काच- भवति । काके, पातव्याः । काकैः पानीया नदी । क्वचिदधिकार्थाभावेऽपि । बुसोपेन्ध्यम् । तृणोपेन्ध्यम् । पूरुत्तरजं वारकविभक्तोलक्षणं सावेधानमस्त्वेव प्रपञ्चः । साधनमिति किम् ? भिक्षाभिरुपितः । एतो भा । कृद्ग्रहणे हि । कृदन्तेनैव वृत्तिर्यथा स्यात् सुवन्तेन मा भूत् । अत्रावलिती । “क्तादल्पे” [१।३।४४] अल्पं शब्दात् साधने सिद्धं । सुपुलिङ्गयुक्ताद्भवति ।

भक्ष्यान्नाभ्यां मिश्रणव्यञ्जने ॥१।३।३०॥ मिश्रणव्यञ्जनवाचिना सुवन्तेन भक्ष्यान्नवाचिभ्यां यथा- रस्य प्रसो भवति । गुडेन मिषा धाना गुडधाना । वृत्तो क्रियाया अन्तर्ज्ञावादप्रयोगः । एव गुडपृथुकाः । [१।३।३१] । वत्सलम्-दन्ना उन्निहो ओदनो दधोदनः । घृतोदनः ।

तदर्थार्थदलितसुखरक्षितं ॥१।३।३१॥ तत्त इदं तदर्थम् । अत्रन्तं तदर्थेनार्थशब्देन च तदर्थेन-तत्त रक्षितं सुखरक्षितं इति नवति । रथाप दाहः रथदाहः । कुण्डलाय हिरण्यम् । कुण्डलहिर- ण्यम् । सुखं रस्य-रस्य प्रसो निरुतिनाम तदर्थेन वृत्तिः । वृत्तिः । प्रहृत्वा सह इत्यर्थः । इह न भवति । रथदाहः रथदाहः । रथदाहः रथदाहः । इदमेव रथः तदर्थे अन् भवति । कथमश्ववातो हस्तिविधेति ? ततो रक्षितम् । तदर्थेन निमित्तं वृत्तिः । इदं इदं तदर्थम् । त्रिलिङ्गता लोनाभयत्वात्त्रिलिङ्गस्य । आतुरार्था

यवागूः । आतुरार्थः रूपः । देवाय वलिः देववलिः । गृहवलिः । तादर्थ्यं अप् । गोभ्यो हित गोहितम् । चरन्-  
हितम् । हितयोगे इदमेव जापकमपः । गोभ्यः सुख गोमुखम् । “अप् चाशिष्या” [१।४।७७] इत्यादिना  
अप् । गोभ्यो रक्षित गोरक्षितम् । तादर्थ्यं ऽप् ।

का भीभिः ॥१।३।३०॥ बहुवचनादर्थाविज्ञानम् । कान्त् भीवचनैः सह पसो भवति । वृकेभ्यो भी-  
वृकभीः । वृकेभ्यो भीतो वृकभीतः । वृकेभ्यो मयं वृकभयम् । वृकेभ्यो भीतिः वृकभीतिः । मुद्गुत्तुगार्थं  
पूर्वस्थाय प्रपञ्चः ।

मुक्तापेतापोढपतितापत्रस्तैः प्रायः ॥१।३।३३॥ मुक्त-अपेत-अपोढ-पतित-अपत्रस्त इत्येतेः स-  
कान्तं प्रायः पसो भवति । भवान्मुक्तो भवमुक्तः । पापापेतः । मुक्तापोढः । स्वर्गपतितः । तद्गन्तापत्रस्तः । मा-  
त्रापादाने का । प्राय इति किम् ? प्रासादात् पतितः । भोजनादपत्रस्त इत्येवमादौ न भवति ।

स्तोकात्तिकदूरार्थकृच्छ्रं क्लेन ॥१।३।३४॥ स्तोक्-अन्तिक-दूर इत्येवमर्थाः शब्दा कृच्छ्रशब्द-  
कान्ताः क्लान्तेन सह पसो भवति । स्तोकान्मुक्तः । अन्तिकादागतः । अभ्यासादागतः । दूरादागतः । निप्रकृष्टा-  
दागतः । कृच्छ्रान्मुक्तः । कृच्छ्राल्लब्धः । “स्तोकाथकृच्छ्रेभ्योऽपादाने का” । दूरान्तिकार्थेभ्य इनेति का ।  
“कायाः स्तोकादेः” [४।३।१२१] इत्यनुप् ।

ईप्छौएडैः ॥१।३।३५॥ ईवन्त शौएडादिभिः सह पसो भवति । शौएडैः सहचरिता शौएडाः ।  
अद्वेत्तु प्रसक्तः शौएडोऽन्तशौएडः । पानशौएडः । वृत्तो प्रसक्तिक्रियाया अन्तर्भावप्रयोगः । सर्वत्र अग्निकरणं  
ईप् । शौएड, धूर्त, कितव, व्याड, सवीत, समीरण, अन्तर्वने अन्तर्वनान्तः । अधि राशि अधि राजावीनम् ।  
“अपढक्षसित्तङ्ग्वधिद्योः” [४।२।१६] इति खः । यदा पूर्वपदार्थप्राधान्य विभक्त्यर्थश्च तदा हस । अन्त-  
र्वणम् । अधिलि । परिडत । कुशल । चपल । निपुण ।

सिद्धशुष्कपक्कवन्धैः ॥१।३।३६॥ सिद्ध-शुष्क-पक्क-वन्ध इत्येतेरीवन्त पसो भवति । काम्पित्ये सिद्धः  
काम्पित्यसिद्धः । साकास्यसिद्धः । ऊके शुष्कः । ऊकशुष्कः । छायाशुष्कः । कुम्भीपक्कः । स्थालीपक्कः । चक्र-  
वन्धः । चारकवन्धः । “साधनं कृता” [१।३।२६] इत्यस्येव प्रपञ्चः ।

ऋणे व्यैः ॥१।३।३७॥ ईवन्त व्यान्तेः सह पसो भवति ऋणे गम्यमाने । माग द्यमृण मागम्यम् ।  
मासैकदेशे मासशब्दः । अधिकरणे ईप् । एव मक्त्वग्देयम् । नियोगतः कार्यमृणम् । तेनर्ताप माग प्र सिद्ध  
ज्ञेयम् । प्रातरध्वेयम् । अत्र यस्यान्तेनवाभिवानादिह न स्यात् । माग दातव्यम् । माग दानीयम् । ऋण इति  
किम् ? मासे देया भिक्षा ।

खौ ॥१।३।३८॥ खुवपये ईवन्त सुवन्तेन सह पसो भवति । अरण्येतिलकाः । वृत्तिपदन मन्त्रा मन्त्रा  
इति नित्यः सविधिः । “ईपोऽद्वलः” [४।३।१२७] इत्यनुप् । एवमगम्यमापकाः । वनकान्तकाः । जाला-  
जकाः । पूर्वार्हं स्तोकाः । कूपेपिशाचिकाः ।

क्लेनाहोरात्रभेदाः ॥१।३।३९॥ भेदा अवयवाः । क्लान्तेन सह अहोरात्रभेदा ईवन्ताः पसो भवति ।  
पूर्वार्हकृतम् । अपराहकृतम् । पूर्वरात्रनुक्तम् । अपरात्रनुक्तम् । भेदग्रहणं हि न ? “उत्तराहोरात्रभेदाः  
पिशाची यदभापत । एतत्तु ते दिवा नृत्तं रात्रौ नृत्तम् द्रक्ष्यसि ।”

तत्र ॥१।३।४०॥ क्लेनेति वर्तते । तत्रेवेतन् क्लान्तेन सह पसो भवति । तत्रेवेतन् । तत्रेवेतन् ।  
तत्रपीतम् । ऐक्यं प्रयोजनम् ।

रूपवर्षस्यापि ।” अत्रतप्तेनकुलस्थित त एतत् । कार्येष्वनवस्थितत्व तवेदमित्यर्थः । “पे कृति बहुलम्” [४।३।१३२] इत्यनुप् । एवमुदकेविशीर्णे भस्मनिहुतम् । निष्फल तवेदमित्यर्थः ।

ध्वाङ्गैः ॥१।३।४२॥ क्लेनेति निवृत्तम् । क्लेप इति वर्तते । बहुवचनादर्थानर्देशः । ध्वाङ्गवाचिभिः सुनन्त पसो भवति क्लेपे । तीर्थे ध्वाङ्ग इव तीर्थध्वाङ्गः । वृत्ताविचार्यस्यान्तर्भावः । तीर्थकाकः । श्राद्ध-वायसा । अनवस्थित एवमुच्यते । ध्वाङ्गैरित्यर्थानर्देशात्तत्सदृशानामपि ग्रहणमिति केचित् । तीर्थश्वा । तीर्थक्षारमेयः । तीर्थशृगालः । क्लेप इति किम् ? तीर्थे ध्वाङ्गो वास्यते ।

पात्रेसमितादयश्च ॥१।३।४३॥ क्लेप इति वर्तते । पात्रेसमितादयश्च शब्दा गणपाठादेव निपा-  
तिता. पसगा भवन्ति क्लेपे । पात्रे एव समिताः पात्रेसमिताः । पात्रेबहुलाः । न कचित्कार्य इति क्लेपो गम्यते ।  
निपातनादनुप् । उदुम्बरे मशक इव उदुम्बरमशकः । उदुम्बरकृमिः । कूपकच्छपः । अत्रकच्छपः । कूप-  
मण्डूकः । उदपानमण्डूकः । नगरकाकः । नगरवायसः । एतेष्विवार्थो वृत्तावन्तर्भूतः । मातरिपुरुषः ।  
अयुक्तकारीत्यर्थः । पिरुडीशूरः । निरुत्साह इत्यर्थः । गेहेक्ष्वेडी । गेहेनर्दी । गेहेनर्त्ती । गेहेविजिती ।  
गेहेव्याडः । गर्भेवृत्तः । गर्भेद्वतः । आखनिकवकः । गोष्ठेशूरः । गोष्ठेविजिती । गोष्ठेक्ष्वेडी । गेहेशूरः ।  
गेहेमेही । गेहेर्दोसः । गोष्ठेपटुः । गोष्ठेपरिडतः । गोष्ठेप्रगल्भः । कर्णेचुरुचुराः । चकारोऽवधारणार्थः ।  
पात्रेसमितादय एव न वृत्त्यन्तर लभन्ते । परमाः पात्रेसमिताः । अत्र एव क्तान्तेनापीह वृत्तिः सार्थिका  
चन्यथा ‘क्षेपे’ [१।३।४१] इत्यनेनैव सिद्धा स्यात् ।

पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलं यश्चैकाश्रये ॥१।३।४४॥ एकाश्रयः समानाधिकरणम् ।  
पूर्वकालवाचि-एकसर्व-जरत् पुराण-नव केवल इत्येते सुवन्ता एकाश्रये सति सुवन्तेन सह यसंशः सो भवति षसं  
शश्च । पूर्व. कालो यस्य स पूर्वकालः । सम्बन्धिशब्दत्वादपरकालेन तस्य वृत्तिः । पूर्व स्नाताः पश्चादनु-  
लिता न्नातानुलिता । कृष्टसमीकृतम् । छिन्नपरुटम् । दग्धप्ररुटम् । एकशायी । एकचर्या ।  
एकगिला । सर्वदेवा । सर्वपदार्थाः । जरद्वस्ती । जरद्ववः । पुरा भव पुराणम् । “सायञ्चिरम्प्रा-  
तोऽप्रोक्लिभ्यस्तनद्” [३।२।१३६] इति तनद् । अत्र एव निपातनात्तत्त्वम् । पुराणान्नम् । पुराणशास्त्रम् ।  
नागस्य । केवलमस्य ज्ञान केवलज्ञानम् । विशेषणवृत्तेरय प्रपञ्चः । चशब्दः षसज्ञासमावेशार्थः ।  
“नाना राजपुत्रादौ हनार्था पश्या नाप्येत । मोषिमा गौ मोषकगवी । “स्युक्तपुंस्क” [४।३।१४६]  
नाति एवमात्र, “न हृत्कोट” [४।३।१४६] इति प्रतिपिद्धो यस्यजाया “पुंवद्यजातीयदेशीये” [४।३।१५४]  
इति पुत्रमार्ति । पश्याप्यो “गोरद्वपि” [४।२।६४] इति टः सान्तः । इत उत्तरमेकाश्रयाधिकारो यावत्  
“मयूरस्यसकादयश्च” [१।३।६६] इति । एकाश्रय इति किम् ? एकस्या शायी ।

दिवसंरयस्यो ॥१।३।४५॥ दिग्वाचि उख्यावाचि च सुवन्तमेकाश्रये सुवन्तेन सह षसो भवति  
एवमप्ये । पूर्वैक.समाप्ती । अपरे कामशमी । पूर्ववृष्णमृत्तिका । अपरवृष्णमृत्तिका । दक्षिणपञ्चालाः ।  
उत्तरपञ्चाला । उत्तरा—पञ्चालाः । पञ्चवयः । सप्तार्थः । खाविति किम् ? दक्षिणा ग्रामाः । पञ्च  
तन्त्र ।

हृदयपुस्तकाहार ॥१।३।४६॥ दिक्स्थलमिति वर्तते । हृदयविषये द्यौ परतः समाहारेऽभिधेये  
हृदयपुस्तकाहार इत्येते सह पसो भवति । दिक् । हृदये—पूर्वस्या शालाया भवः पसे कृते समुदायात्  
‘दिक्स्थल’ [३।२।६४] इति टः । पूर्व‘गाल’ । अपरशाल । द्यौ—पूर्वा शाला प्रिया अस्त्य पूर्वशालाप्रियः ।  
‘अपरशाल’ । ‘अपरशाल’ । पूर्ववृत्त्य पुञ्जावः । दिशा समाहारो नास्ति । क्रियागुणा-  
देरुऽप्येतत्तत्त्वम् । हृदयः । हृदये—पञ्चभिः शङ्खुलीभिः क्रीतः पञ्चशङ्खुलः । अनेन



पसे कृते तस्य “संज्ञादी रश्च” [१।३।४७] इति रसजाया आर्हायस्य टणो “शदुवस्वो” [३।४।७६] इत्युत् ।  
 “हृदुप्युप्” [१।१।६] इति स्त्रीत्यस्योप् । पञ्चाना नापितानामपत्य पाञ्चनापितिः । “रस्योन्नपत्ये” [३।१।७५]  
 इति वचन जापक हृदर्थेऽपि से हृदुत्पत्तिर्भवति । द्यौ-पञ्च गावो धनमस्येति पञ्चगवधनः । अन्नसवमापेक्षया  
 “गोरहृदुपि” [४।२।६४] इति टः सान्तः सिद्धः । द्वेऽहनी जातस्य द्वयहजातः । “पुभ्योऽह्नोऽतः”  
 [४।२।६०] इत्यह्नादेशः । समाहारे-पञ्च पूलाः समाहृताः पञ्चपूली । अनेन पसः । उन्नगस्येण रस  
 जाया “रात्” [३।१।२५] इति डीविधिः । कथं पण्यगरी ? अत्रापि क्रियागुणपेक्षया समाहारोऽस्ति । लब्धा  
 शोभना चेति गम्यते समाहारस्यैकत्वादेकवचनम् । ननु समाहारः समूहः स तु हृदर्थ एव न पृथक् समाहार  
 निर्देशात् । समूहार्थस्य त्यस्यानुपपत्तिः पञ्चाना कुमारीणां समाहारः पञ्चकुमारि । त्योत्पत्तौ हि “रस्योन्नपत्ये”  
 [३।१।७५] इत्युप् प्रसज्येत । ततश्च “हृदुप्युप्” [१।१।६] स्त्रीत्यस्योप् स्यात् ।

संख्यादी रश्च ॥१।३।४७॥ हृदर्थश्च समाहार इत्यत्र सख्यादिर्यं स उक्तं स रसजो भवति  
 हृदर्थे । द्वावनुयोगौ वेत्यधीते वा द्वयनुयोगः । “रस्योन्नपत्ये” [३।१।७५] इत्यण उप । पञ्चसु ऋणो  
 सस्कृतः पञ्चकपालः । द्यौ-पञ्च नावः प्रिया अस्य पञ्चनावप्रियः । “नावो रात्” [४।२।१०२] इति टः  
 सान्तः । समाहारे-पञ्चपूली । चशब्दः पमजासमावेशार्थः । द्वे अगुली समाहृते द्वयङ्गुली । “पेऽङ्गुलेर्भि  
 सख्यादेः” [४।२।८८] इति अ. सान्तः । “रात्” [३।१।२५] इति डीविधिश्च सिद्धः ।

कुत्स्यं कुत्सन् ॥१।३।४८॥ कुत्स्यवाचि सुवन्त कुत्सनवाचिना पमो भवति । वैयाकरणतत्पत्तिः ।  
 प्रत्यासत्तः शब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य कुत्सायामय सविधिः । रूपसिद्धि पृष्ठो निःप्रतिभः सन् यः स सूचयति वीक्ष्यते  
 स खसूची । खसूचित्व कुत्सनम् । विशेषणस्य परनिपातार्थ आरम्भः । एव क्षत्रियभीरुः । श्रोत्रियाः कृताः ।  
 भिक्षुविटः । मीमांसकदुर्दृष्टः । कुत्स्यमिति किम् ? वैयाकरणः कृतवः । न हि वैयाकरणतः कृतवान्  
 कुत्स्यते । कुत्सनरिति किम् ? कुत्सितो ब्राह्मणः ।

पापाणके कुत्स्यैः ॥१।३।४९॥ पापाणकशब्दौ कुत्सनवचनो कुत्स्यवचनेः पमो भवति । पापकु  
 लालः । आणकनापितः । पूर्वयोगेन कुत्स्यस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते परनिपातार्थ आरम्भः ।

सामान्येनोपमानम् ॥१।३।५०॥ उपमानोपमेययोः साधारणो धर्मः सामान्यम् । उपमीयते परिनिद्ध  
 द्यते अनेन सादृश्येनार्थ इत्युपमानम् । उपमानवाचि सुवन्त सामान्यवाचिना सुवन्तेन सह पमो भवति । निग  
 धार सामान्यं न प्रतीयत इति सामान्यधर्मेण विशिष्टं यदुपमेयं तेनात्र वृत्तिः । शस्त्रीव श्यामा शम्भ्रीश्यामा  
 देवदत्ता । शस्त्रीशब्दः श्यामगुणमुपादाय देवदत्ताया वर्तत इति एकाश्रया वृत्तिर्न विद्व्यते । मृगीन चपला  
 मृगचपलेति पु वद्भावश्च भवति । एव कुमुदन्येनी हसगमनी न्यग्रोधपरिमण्डला दूर्वाकाण्डश्यामा सरफा  
 गोरी । सामान्येनेति किम् ? पला इव तण्डुलाः । पर्वता इव बलाहकाः । उपमानमिति किम् ? पला

१. न इन्द्रोऽग्निं यो ददन्ति, तस्य नादः, तस्मात् । २. तत्त्वमसि अ०, य० ।

विसमाप्तौ क्लोऽनञ् ॥१३।७५॥ विगता समाप्तिः विसमाप्तिः । ईपन्निष्पत्तिरित्यर्थः । यन्त्र क्तान्त विसमाप्तौ सामर्थ्यात् क्तान्तेन समस्यते पसो भवति । एकस्या हि क्रियाया विसमाप्तिर्भवति न क्तिना भेद इति सामर्थ्यम् । क्तान्तस्यानञिति प्रतिषेधान्नञ् प्रवेणापि क्तान्तेन सविधिः । कृतञ् तदङ्गत्वात् कृता-कृतम् । कृतभागसम्बन्धात् कृतम् । अकृतभागसम्बन्धात्तदेवाकृतम् । एव भुक्ताभुक्तम् । पीतापीतम् । अशितानशितम् । क्लिष्टाक्लिष्टितम् । “क्लिष्टशस्तक्त्वो.” [५।१।६८] इति वेद् । मुक्तविमुक्तम् । पीतविपीतम् । कृतापकृतम् । विसमाप्ताविति किम् ? सिद्ध चाभुक्त च । क्रियाभेदे विसमाप्तिर्नास्ति एतस्या समाप्तत्वादपरस्या अननुष्ठानात् । क्त इति किम् ? कर्तव्य तदकर्तव्य च । अनञिति किम् ? अकृत न तत्कृतञ्च । ननु कृद्ग्रहणे तिकारकपूर्वस्यैव ग्रहणमनञिति किमर्थम् ? नञ्प्रवेणापि नृत्त्यर्थमिति शेषः । इ गतप्रत्यागतः यातानुयात इत्येवमादिषु “पूर्वकालौक” [१।३।४४] इत्यादिना पसः ।

सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टं पूज्येन ॥१३।५६॥ सत्-महत्-परम-उत्तम-उत्कृष्ट इत्येते सुगन्ताः पूज्य-वचनेन सह समस्यन्ते पसो भवति । सश्च सः पुरुषश्च सत्पुरुषः । महापुरुषः । परमपुरुषः । उद्भूततम-उत्तमः । अत एव निपातनात् “किमेन्मिड्भिभाढामड्वये” [४।२।२०] इत्याम् न भवति । उत्तमपुण्याः । उत्कृष्टपुरुषः । पूज्येनेति वचनादत्र सदादयः पूजावचना शतव्याः । पूज्येनेति किम् ? उत्कृष्टो गौः । कर् मादुद्धृत इत्यर्थः ।

वृन्दारकनागकुञ्जरैस्तत् ॥१३।५७॥ पूज्येनेति वर्त्तमानमर्थवशाद्धान्त सपत्यते । वृन्दारकादिभिः सह तत् पूज्यवाचिसुवन्त समस्यते पसो भवति । तदित्यनेन पूज्यवचनेनाभिसम्बन्धात् वृन्दारकादयः पूजा वचना गृह्यन्ते । गोश्चासौ वृन्दारकश्च गोवृन्दारकः । पुन्नागः । गोकुञ्जरः । अश्वकुञ्जरः । व्याघ्राणाङ्गुलि-गणत्वात् “व्याघ्रैरुपमेयेऽवद्योगे” [१।३।५१] इत्येव सिद्धे सामान्यप्रयोगेऽपि यथा स्यादित्यारम्भः । गोनागो बलवान् । तदिति किम् ? शोभना शीमा कणा अस्य सुशीमो नागः ।

कतरकतमौ समर्थौ ॥१३।५८॥ किंशब्दात् “कियत्तदो निर्धारणे द्वयोरैकस्य डतर” [४।१।१४७] “वा बहुर्ना जातिप्रश्ने डतमः” [४।१।१४८] तयोः परतष्टिले कृते कतरकतमशब्दो सिद्धयतः । समर्थौ गङ्गा-तार्थौ समानार्थावेकार्थावित्यर्थः । तौ सुवन्तेन सह समस्यते पसो भवति । कदा चानयोः समानार्थता यदा जातिप्रश्ने तौ व्युत्पाद्येते तदा तयोः समानार्थत्वम् । कतरश्च न गार्ग्यश्च कतरगार्ग्यः । कतमगार्ग्यः । कत-रकठः । कतमकठः । वृद्ध चरणैः सहेति जातिवाचित्वम् । समर्थविति किम् ? स्तगो भक्तोर्दत्तः । द्रव्यप्रश्नोऽयम् । समर्थग्रहणं हि कतरन्यैव विशेषण उत्तरस्याविशेषण निधानान्न कतमन् । ताम् । जातिप्रश्न एव तैर्विधानात् । अतः कतमो भवता देवदत्त इति व्यावृत्तुदाहरणमाहानुपपन्नम् । ताम् । मयोः प्रश्ने विहितयोः सविधिना न गार्ग्यादेशेऽप्यवस्थेति वचनम् ।

च इभ्यपोटा । इभ्येति जातिशब्दः । स्त्री भूत्वा राज्यपालनार्थं या पुंवेपेण युज्यते सा पोटा । यापि गर्भ एव दास्यं गता साऽपि पोटा । “स्युक्तपुंस्क” [४।३।१४६] इत्यादिना पुंवद्भावे प्राप्ते “जातिश्च” [४।३।१४३] इति प्रतिषिद्धे “पुं वचजातीयदेशीये” [४।३।१४४] इति पुंवद्भावः । एवमार्यपोटा । युवतिस्तरुणी । इभ्य-युवतिः । क्षत्रिययुवतिः । अग्निश्च स स्तोकश्च तदग्निस्तोकम् । दधि च तत् कतिपयञ्च दधिकतिपयम् । स्तोककतिपयशब्दावेकार्थे । सकृत्प्रसूता गृष्टिः । गौश्च सा गृष्टिश्च गोगृष्टिः । धेनुरभिनवप्रसवा । गोधेनुः । वशा वन्ध्या । गोवशा । वेहत् गर्भघातिनी । गर्भधारिणीत्यन्ये । गोवेहत् । महता वत्सेन या दुह्यते सा वक्ष्यिणी । गोवक्ष्यिणी । प्रवक्ता उपाध्यायः । कठप्रवक्ता । कठश्रोत्रियः । अध्यापकोऽप्येता । कठा-ध्यापकः । कठधूर्तः । बुद्धिमानित्यर्थः । धूर्तग्रहणमिहाकुत्सार्थम् । अथवा आश्रयिषु कुत्सितेषु तद्भवति । आश्रयेषु तु कुत्सेषु इदम् । ब्राह्मणधूर्तः क्षत्रियधूर्तः इति यदा हि ब्राह्मणत्वमाश्रयि कुत्स्यते तदा तेनैव सिद्ध सविधानम् । यदा तु तद्युक्तो देवदत्तः कुत्स्यते तदर्थमिदम् । जातिरिति किम् ? देवदत्तः प्रवक्ता । देवदत्त-शब्दस्याजातिवचनत्वादवृत्तिः । जातेर्विशेष्यायाः पूर्वनिपातार्थं आरम्भः ।

चतुष्पाद्गर्भिण्या ॥१।३।६१॥ जातिरिति वर्तते । चत्वारः पादा यस्याः सा चतुष्पाद्वादिजातिः । “सुत्तरयादे” [४।३।१४०] इत्यकारस्य खम् । चतुष्पाज्जातिर्गर्भिणीशब्देन सहैकाश्रये समस्यते षसो भवति । गौश्च सा गर्भिणी च गोगर्भिणी । अजगर्भिणी । “पुं वचजातीयदेशीये” [४।३।१४४] इति पुंवद्भावः । चतुष्पादिति किम् ? ब्राह्मणी गर्भिणी । जातिरित्येव । कालाक्षी गर्भिणी । स्वस्तिमती गर्भिणी । चतुष्पदः संज्ञैषा । न तु जातिः । विशेष्यस्य पूर्वनिपातार्थं वचनम् ।

प्रशंसोक्त्या ॥१।३।६२॥ जातिरिति वर्तते । उच्यते इत्युक्तिः शब्दः । प्रशंसाशब्देन सह जातिवाचि सुनन्तं समस्यते षसो भवति । गौश्च स प्रकाण्डश्च तत् गोप्रकाण्डम् । प्रशस्तो गौरित्यर्थः । एवमश्वप्रकाण्डम् । गोमतल्लिका । अश्वमच्चर्चिका । गोकुमारी । गोतल्लजकः । अभिधा जातिरित्येव । देवदत्ता कुमारी ।

युवा खलतिपलितवलिनजरङ्गिः ॥१।३।६३॥ खलति पलित वलिन जरदित्येतैरेकाश्रयैर्युवशब्दः समस्यते षसो भवति । युवा खलतिः युवखलतिः । युवतिः खलती युवखलती । युवा पलितः युवपलितः । युवतिः पलिता युवपलिता । वलयोऽस्य सन्ति वलिनः । पामादित्वात् । युवा वलिनः युववलिनः । युवतिर्वलिना युववलिना । “जृषोऽतु” [२।२।८०] इति अतृत्ये कृते जरदिति भवति । युवा जरन् युवजरन् । युवतिर्जर्तरी युवजरती । “मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् ।” “पुं वचजातीयदेशीये” [४।३।१४४] इति पुंवद्भावान् विशब्दस्य निवृत्तिः ।

व्यतुल्याख्या अजात्या ॥१।३।६४॥ व्यान्तात्तुल्याख्याश्च अजातिवाचिना सह समस्यन्ते षसो भवति । परनिपातः फलम् । भोज्यश्च तदुष्णश्च भोज्योष्णम् । भोज्यलवणम् । पानीयशीतम् । हरणीयपूर्णो घटः । तुल्याख्या । तुल्यश्च स श्वेतश्च स तुल्यश्वेतः । सदशश्वेतः । तुल्यमहान् । सदशमहान् । अजात्येति किम् ? भोज्य घोटनः । तुल्यो वैश्यः । इह तुल्यसन्निति पूज्यत्वाभावात् परत्वाद्वा न सः । इह कथमेकाश्रया गृष्टिः । वृष्णसारङ्गः । लोहितसारङ्गः । वृष्णशवलः । लोहितशवलः । यदि सारङ्गादिशब्दा जातिवचना जातेः कथञ्चिदुष्णान्शमितमित्येकाश्रयत्वमस्ति ततो विशेषणलक्षणः सः । अथ पूर्वोत्तरपदयोर्वर्षाविशेषवाचत्वं तत्प्राप्त्या जातिविशेषणविशेषभावः । कृष्णश्वेतः । श्वतकृष्णः ।

कुमारः धमणादिभिः ॥१।३।६५॥ कुमारशब्दः धमणादिभिः सह समस्यते षसो भवति । कुमार-रक्षणो नृत् । तैरिहैतैरपदे गोलिङ्गः । अध्यापकादिभिरभयथा समस्यते । कुमारं श्रमणा कुमारश्रमणा ।  
१-मतल्लिका । अश्वमतल्लिका । गोमच्चर्चिका । गोकुमा-अ० ।-ल्लिका । अश्वमतल्लिका ।  
२



जनम् । गुणोक्त्येति किम् ? ईषत्कारकः । ईषद्भार्यः । ज्ञात्येकार्थसमवायिक्रियागुणापेक्षया जातेरपि वृद्धिहासौ ।

ता ॥१३।७०॥ तान्त सुवन्तेन सह षसो भवति । मोक्षमार्गः । स्वर्गसुखम् । राजपुरुषः ।

कृति ॥१३।७१॥ कृत्ययोगे या ता तदन्त सुपा सह षसो भवति । “न प्रतिपदम्” [१३।७३] इति प्रतिषेध वक्ष्यति । तस्यायं पुस्तान्निरासः । इध्मनां व्रश्चनः इध्मव्रश्चनः । पलाशसातनः । अविल-  
वनः । श्मश्रुकर्तनः । करणे युट् । “कर्तृकर्मणोः कृति” [१३।६८] इति ता ।

याजकादिभिः ॥१३।७२॥ याजकादिभिश्च सह तान्त समस्यते षसो भवति । पूर्वेण प्राप्तः तृज-  
काभ्या कर्त्तरीति प्रतिषिद्धः पुनरनेन षसः । देवाना याजको देवयाजकः । साधूना पूजकः साधुपूजकः ।  
याजक पूजक परिचारक परिवेषक स्तापक अध्यापक उद्धर्त्तक उत्सादक होतृ भर्तृ रथगणक पत्तिगणक ।

न प्रतिपदम् ॥१३।७३॥ प्रतिपद विहिता या ता तदन्त न समस्यते । शेषलक्षणा ता मुक्त्वा  
सर्वाऽन्या ता प्रतिपदविधाना । सर्पिषो ज्ञानम् । पयसो ज्ञानम् । “ज्ञो स्वार्थं करणे” [१३।६८] इति ता ।  
इहापि धर्मानुस्मरणम् । धर्मचिन्तनमिति । “स्त्रधंदयेश कर्मणि” [१३।६६] इत्यनेन शेषलक्षणा तानू-  
च्यते । वनस्वामी । वनेश्वरो विद्यादायाद इत्येवमादिषु “स्वामीश्वर०” [१३।७७] आदि सूत्रे चकारेण  
शेषलक्षणा ता समुच्यते ।

निर्धारणे ॥१३।७४॥ निर्धारणे या ता तदन्त न समस्यते । जातिगुणक्रियाभिः समुदायादेकदेशस्य  
निष्कृष्ट धारण पृथक्करण निर्धारणम् । क्षत्रियो मनुष्याणा शूतमः । श्यामा नारीणा दर्शनीयतमा । कृष्णा  
गवा सम्पन्नक्षीरतमा । धावन्तोऽश्वगाना क्षिप्रतमाः । क्षत्रियादिशब्देन सह वृत्तिर्न भवति । “यतश्च निर्धा-  
रणम्” [१३।७६] इति चकारेण शेषलक्षणायास्तायाः समुच्चयः । प्रतिपदविधानत्वे हि पूर्वैरेव सिद्धः प्रति-  
षेध इतीदमनर्थक स्यात् । इह पुरुषेश्वर इति शेषलक्षणा ता विवक्षिता न निर्धारणलक्षणा ।

डड् गुणतृत्तार्थसत्तव्यैकद्रव्यैः ॥१३।७५॥ डदन्त गुणार्थं तृत्तार्थं सत्सहं तव्य एकद्रव्य इत्येतैः  
सह तान्त न समस्यते । तस्य पूरणे डडित्यतः प्रभृति तमट्टकारेण डडिति प्रत्याहारः । चक्रधराणा पञ्चमः ।  
तीर्थङ्गराणा षोडशः । बलदेवाना नवमः । समुदायसमुदितसम्बन्धे शेषलक्षणा ता । गुणार्थः—बलाकायाः  
शौबल्यम् । वायस्य काण्ड्यम् । कण्टकस्य तैक्ष्ण्यम् । गुणगुणिसम्बन्धे ता । “एडि पररूपम्” [१३।८१]  
इत्यत्र परस्य रूप पररूपमिति वृत्तिपद शापक यो गुण्यद्वारेण पूर्वं द्रव्ये वृत्तो भवत्यन्ते गुणमाह तेन गुण-  
शब्देनेह प्रतिषेधः । यस्तु सर्वदा गुणवचनस्तेन वृत्तिर्भवत्येव । हस्तिरूपम् । कपित्थरसः । चन्दनगन्धः । अग्नि-  
रश्मिः । गुणशब्देनेह लोकप्रसिद्धा रूपरसगन्धस्पर्शा गुणा अभिप्रेताः । ततस्तद्विशेष्यैरयं प्रतिषेधः, तेन यत्न-  
शीरेव द्वालाघव वरणपाटव वचनप्रामाण्यं गोविंशतिरित्येवमादिषु न प्रतिषेधः । वृषलस्य धाष्ट्यमित्यत्र  
इत्येवमभिधानम् । तृत्तार्थः—फलाना तृत्तः । सक्तूना पूर्णः । फलाना सुहितः । सक्तूना प्रीतः । “तृत्त्यर्थे तृप-  
सख्यामम्” [पा०] इति ता । सदिति शतृशानयोः सज्ञा । चोरस्य द्विषन । “कर्तृकर्मणोः कृति” [१३।६८]

कुमारी प्रव्रजिता कुमारप्रव्रजिता । कुमारश्च स अध्यापकश्च स कुमारव्यापकः । कुमारी अध्यापिका कुमाराध्यापिका । श्रमणा प्रव्रजिता कुलटा गर्भिणी तापसी बन्धकी दासी एते स्त्रीलिङ्गाः । अध्यापक अभिरूपक पट्ट मृदु परिणत कुशल चपल निपुण ।

**मयूरव्यंसकादयश्च ॥१३॥६६॥** मयूरव्यसकादयश्च शब्दा गणपाठादेव निपातिताः पमजा भवन्ति । विशिष्टावसावस्य व्यसः । इवार्यै कः । व्यसको मयूरो मयूरव्यंसकः । छत्रव्यसकः । कम्भोजमुण्डः । यवनमुण्डः । एतेषु परनिपातः प्रयोजनम् । “एहीडादयोऽन्यपदार्थे ।” एहीडमिति यत्र कर्मणि एहि यवैरिति एहीडम् । “हियवं वर्तते । एहिवाणिजेति यस्या क्रियाया सा एहिवाणिजा । प्रेहिवाणिजा । एहिस्वागता । अप्रेहिस्वागता । एहिद्वितीया । अप्रेहिद्वितीया । प्रोहकटमस्या प्रोहकटा । प्रोहकर्दमा । उद्धमचूडा । आहरचेला । आहरवसना । आहरवितता । भिन्धिप्रलवणा । उद्धर उत्सृजेति यस्या सा उद्धरोत्सृजा । उद्धमविधमा । उद्धरविसृजा । उत्पतनिपता । उत्पचनिपचा । आख्यातमाख्यातेन सिद्धेऽप्यसातत्यार्थं वचनम् । उदक्च अवाक्च उच्चावचम् । उच्चैश्च नीचैश्च उच्चनीचम् । आचितञ्चोपचितञ्च आचोपचम् । आचितपराचितस्य आचपराचम् । निश्चितप्रचितस्य निश्चप्रचम् । अकिञ्चनम् । स्नात्वाकालकः । पीत्वास्तिरकः । भुत्तजा सुहितः । प्रोष्यपापीयान् । उत्पत्यणकला जाता । निपत्यरोहिणी जाता । निपद्यश्यामा जाता । अप्रेहिप्रघसा वर्तते । इहपञ्चमी । इहद्वितीया । ‘जहि कर्णणा बहुलमाभीक्ष्ण्ये कर्तारं चाभिदधाति ।’ जहि जोडमित्याह जहिजोड । उज्जहिजोडः । जहिस्तम्भः । ब्रह्ममिति किम् ? पचौदनम् । “आख्यातमाख्यातेन सातत्ये ।” अरनीतपित्रता वर्तते । पचतभृज्जता । खादतमोदता । खादाचामाः । आहरविवसा । आहरनिष्क्रिया । अविहितलक्षण सन्निधानमिह द्रष्टव्यम् । तेन शाकप्रधानः पार्थिवः शा पार्थिवः । कुतपसौश्रुतः । अजातौल्यलि । धृतगौदीया । औदनपाणिनीया इत्येवमादि सिद्धम् । चकारोऽवधारणार्थः । परमो मयूरव्यसकः । वृत्त्यन्तः न भवति ।

**काला मेयैः ॥१३॥६७॥** कालवाचिनः शब्दा मेयैः परिच्छेद्यैः सह समस्यन्ते पसो भवति । मेयैरिति सम्बन्धात् काला मानवचना गृह्यन्ते । यद्यपि मुख्यं मानव व्यवहारकालस्य मासादेर्न सम्भवति तथापि वचनात् परिच्छेदहेतुत्वमात्र साधर्म्यमुपादायोपचारात् कालः परिमाणम् । मासादयो जातादेः सम्बन्धिनीमादित्यगतिं परिच्छिन्दन्तीति जातस्यापि परिच्छेदहेतव उच्यन्ते । एकाश्रय इति निवृत्तम् । मासो जातस्य मासजातः । सवत्सरजातः । तासापवादोऽयम् । काला इति बहुवचननिर्देशः किमर्थः ? द्वे अहनी जातस्य द्वयदजातः । त्रिपदोऽपि पसो यथा स्यात् । “हृदर्थद्यु समाहारे” [१३॥४६] इत्यवयवपते “राजाह.सखिभ्यष्ट.” [४२॥६३] इति टः । “एभ्योऽहोऽहः” [४२॥६०] इति अह्लादेशः । यदा द्वयोरहोः समाहार इति विग्रहसदा “न समाहारे” [४२॥६१] इत्यह्लादेशप्रतिषेधः सिद्धः । द्वयहो जातस्य द्वयदजातः । त्रयहजातः ।

**नञ् ॥१३॥६८॥** नञ् सुपा सह समस्यन्ते पसो भवति । अत्राहणः । अधर्मः । अमर्षः । अमित्रः । अगौः । नेय पृथ्वपदार्थप्रधाना वृत्तिरलिङ्गामख्यत्वप्रसङ्गात् । किञ्च पूर्वपदप्रधानो हस उक्तः । अमन्त्रिकमिति । अन्यपदार्थप्राधान्ये तु अवर्णा हेमन्त इत्यत्र प्रादेशादि प्राप्नोति । असूत्तरपदार्थप्रधानय वृत्तिः । यो वमगामानयेत्युक्तेऽगोमात्रस्यानयन स्यात् । अथ स्वयमेव निवृत्तिपदार्थको गोशब्दः स नञा केवलं प्रायो । एतसति न कस्यचिदानयन स्यात् । नाय दोषः । द्वाविह गोशब्दो प्रवृत्तपदार्थको निवृत्तपदार्थस्त्वच । सारूप्यात्तयोर्भेदापरिज्ञाने निवृत्तपदार्थकस्य त्रौतनार्थं नञः प्रयोगः प्रतिषेधे सत्युत्तरपदार्थमदृशो वृत्त्यर्थो जायो । “नञ्निवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः” [परि०] इति वचनात् । अन्यपदार्थं तु पर्यादादमो भवति । अशालिमो देशः । अकारो नञोऽनित्यत्र विशेषणार्थः । वामनपुत्रादिभ्वनादेशो मा भूत् ।

**गुणोक्त्येपद् ॥१३॥६९॥** उच्यते इत्युक्तिः शब्दः । गुणशब्देन सह ईपच्छब्दः समसः । ईपच्छब्दो भवति । ईपकटारः । ईपविज्ञलः । ईपद्विकटः । ईपदुन्तः । ईपद्रक्तः । ईपनीतः । हृदुगतिः प्रातः

जनम् । गुणोक्त्येति किम् ? ईषत्कारकः । ईषद्भार्यः । जात्येकार्थसमवायिक्रियागुणापेक्षया जातेरपि वृद्धिहासौ ।

ता ॥१३॥७०॥ तान्त सुवन्तेन सह षसो भवति । मोक्षमार्गः । स्वर्गसुखम् । राजपुरुषः ।

कृति ॥१३॥७१॥ कृत्रयोगे या ता तदन्त सुपा सह षसो भवति । “न प्रतिपदम्” [१३॥७३] इति प्रतिषेध वक्ष्यति । तस्याय पुरस्तान्तिरासः । इध्मना ब्रश्चनः इध्मब्रश्चनः । पलाशसातनः । अविल-  
वनः । श्मश्रुकर्तनः । करणे युद् । “कर्तृकर्मणोः कृति” [१४॥६८] इति ता ।

याजकादिभिः ॥१३॥७२॥ याजकादिभिश्च सह तान्त समस्यते षसो भवति । पूर्वेण प्राप्तः वृज-  
काम्या कर्त्तरीति प्रतिषिद्धं पुनरनेन पसः । देवानां याजको देवयाजकः । साधूनां पूजकः साधुपूजकः ।  
याजक पूजक परिचारक परिवेषक स्तापक अभ्यापक उद्दत्तक उत्सादक होतृ भर्तृ रथगणक पत्तिगणक ।

न प्रतिपदम् ॥१३॥७३॥ प्रतिपद विहिता या ता तदन्त न समस्यते । शेषलक्षणा ता मुक्त्वा  
सर्वाऽन्या ता प्रतिपदविधाना । सर्पिषो ज्ञानम् । पयसो ज्ञानम् । “ज्ञो स्वार्थं करणे” [१४॥६८] इति ता ।  
इहापि धर्मानुत्तरणम् । धर्मचिन्तनमिति । “स्त्रधदयेर्शा कर्मणि” [१४॥६६] इत्यनेन शेषलक्षणा तानू-  
यते । वनत्वामी । वनेस्वरो विद्यादायाद् इत्येवमादिषु “स्वामीस्वर०” [१४॥७७] आदि सूत्रे चकारेण  
शेषलक्षणा ता समुच्चीयते ।

निर्धारणे ॥१३॥७४॥ निर्धारणे या ता तदन्त न समस्यते । जातिगुणक्रियाभिः समुदायादेकदेशस्य  
निकृष्य धारणं पृथक्करणं निर्धारणम् । क्षत्रियो मनुष्याणां शूद्रतमः । श्यामा नारीणां दर्शनीयतमा । कृष्णा  
गवां सम्पन्नक्षीरतमा । धावन्तोऽध्वगानां क्षिप्रतमाः । क्षत्रियादिशब्देन सह वृत्तिर्न भवति । “यत्तश्च निर्धा-  
रणम्” [१४॥७६] इति चकारेण शेषलक्षणायास्तायाः समुच्चयः । प्रतिपदविधानत्वे हि पूर्वैरेव सिद्धः प्रति-  
षेध इतीदमनर्थक स्यात् । इह पुरुषेश्वर इति शेषलक्षणा ता विवक्षिता न निर्धारणलक्षणा ।

डङ् गुणवृत्तार्थसत्तव्यैकद्रव्यैः ॥१३॥७५॥ डङ् गुणार्थं वृत्तार्थं सत्संज्ञं तव्य एकद्रव्य इत्येतैः  
सह तान्त न समस्यते । तस्य पूरणे डङित्यतः प्रभृति तमव्यकारेण डङिति प्रत्याहारः । चक्रधराणां पञ्चमः ।  
तीर्थहराणां षोडशः । दलदेवानां नवमः । समुदायसमुदितसम्बन्धे शेषलक्षणा ता । गुणार्थः—बलाकायाः  
शौक्ल्यम् । वाक्त्व काष्ण्यम् । कण्टकत्व तैक्ष्ण्यम् । गुणगुणिसम्बन्धे ता । “एङि पररूपम्” [४३॥८१]  
इत्यत्र परस्य रूप पररूपमिति वृत्तिपद आपक यो गुणद्वारेण पूर्वं द्रव्ये वृत्तो भवत्यन्ते गुणमाह तेन गुण-  
संज्ञेनेति प्रतिषेधः । यस्तु सर्वदा गुणवचनत्वेन वृत्तिर्भवत्येव । हस्तिरूपम् । कपित्थरसः । चन्दनगन्धः । अग्नि-  
संज्ञः । गुणशब्देनेति लोकप्रसिद्धा रूपरसगन्धत्वार्था गुणा अभिप्रेताः । तत्तत्तद्विशेषैरयं प्रतिषेधः, तेन यत्न-  
वृत्तेरभिधानम् । वृत्तार्थं—फलानां वृत्त । सकृन्ना पूर्णः । फलानां सुहितः । सकृन्ना प्रीतः । “वृत्त्यर्थं तूप-  
सत्त्वानम्” [५०] इति ता । सदिति शत्रुशानयोः सङ्ग । चोरस्य द्विपत् । “कर्तृकर्मणोः कृति” [१४॥६८]  
इति कर्मणि ता प्राप्ता “न क्ति०” [१४॥७२] इत्यादिना प्रतिषिद्धः । “द्विषः शत्रुर्वा वचनम्” [५०] ।



त्पलस्येति । गुणगुणिसम्बन्धे सविधिर्भवति । एकद्रव्येण गुणगुणिविवक्षा नास्तीति विशेषणवृत्तिरपि न भवति । भिन्ना प्रतिषेधो वक्तव्यः । देवदत्तस्य साक्षात् । देवदत्तस्योपरि ।

कर्मणि च ॥११३७६॥ चकारोऽवधारणार्थः । कर्मण्येव या ता विहिता तदन्तं सो न भवति । आश्चर्यो गवा दोहोऽगोपालकेन । रोचते मे ओदनस्य भोजन देवदत्तेन । साधु खलु पयसः पानं जिनदत्तेन । “युट्” [२।३।६७] इति नन्वावे युट् । “कर्तृकर्मणोः कृति” [१।४।६८] इत्युभयत्र ताया प्राप्ताया “द्विप्राप्तौ परे” [१।४।६९] इति कर्मण्येव भवति । कर्तरि तु भा । कर्मण्येवेति किम् ? इध्मवश्चनः ।

कर्तरि क्लेन ॥११३७७॥ कर्तरीति ताया विशेषणम् । कर्तरि या ता विहिता तदन्तं ह्यान्तेन सो न भवति । अस्मिन्नास्यते स्म इदमेपापमासितम् । इदमेपा यातम् । इदमेपा भुक्तम् । तयोरेव भावकर्मणोः क्ले प्राप्ते “धिगत्यर्थाच्च” [२।४।६८] “अधिकरणे चाधर्थाच्च” [२।४।६९] इति अधिकरणे क्लः । अधिकरणस्योक्तत्वात् । इदमित्येतस्मादीभ्यास्ति “मिडैकार्थे वा” [१।४।६९] इति वैव भवति । “कर्तृकर्मणोः कृति” [१।४।६८] इति ता प्राप्ता “न क्लितलोक” [१।४।७०] इत्यादिना प्रतिषिद्धा “क्लस्याधिकरणे” [१।४।७०] इत्यनेन एषामिति कर्तरि ता । एव राजा मतः, राजा बुद्धः, राजा पूजितः “मतिबुद्धिपूजाधर्थाच्च” [२।२।१६६] इत्यनेन वर्तमाने काले क्तो नियम्यते । स चेह कर्मणि कारके विहितः “कर्तृकर्मणोः कृति” [१।४।६८] इति कर्तरि ता प्राप्ता “न क्लित” [१।४।७०] इत्यादिना प्रतिषिद्धा भवतीत्यनेन सूत्रेण प्रत्यवस्थाप्यते । अथ यदा सकर्मकेभ्योऽधिकरणे क्तस्तदा कर्तृकर्मणोरनुक्तत्वात् “क्लस्याधिकरणे” [१।४।७०] इत्यनेन या ता कर्तरि तस्याः प्रतिषेधः सिद्धः कर्मणि या ता तस्याः कथं वृत्तिप्रतिषेधः । इदमोदनस्य भुवतमिति । नैप दोषः । कर्मणि चेति वर्तते तेनेह कर्तरि कर्मणि च ता क्तान्तेन न समस्यते । इह शेषलक्षणा ता । छात्रहसितम् ।

तृजकाभ्यां योगे ॥११३७८॥ कर्तरि या ता तदन्तेन सो न भवति । तृचैव कर्तुं कृत्वात् । तत्रोगे कर्तरि ता नास्ति । तृजग्रहणमुत्तरार्थम् । भवत आसिका । भवतः शायिका । भवतोऽग्रेगामिका । “पर्यायाहणोत्पत्तौ बुण्” [२।३।६२] इति भावे स्त्रीलिङ्गे बुण् । “कर्तृकर्मणोः कृति” [१।४।६८] इति कर्तरि ता । कर्तरीत्येव । इन्नुभक्तिका मे धारयसि । पूर्वबुण् । अत्रेत्नुशब्दात् कर्मणि ता “कृति” [१।३।७१] इति ता सः । म इति सम्प्रदानमेतत् ।

कर्तरि ॥११३७९॥ कर्तरि यो तृजकौ ताभ्या सह तान्तं न सो भवति । अया स्रष्टा । पुग भेत्ता । वप्रस्य भर्ता । याजकादिषु पतिपर्यायो भर्तृशब्दः । यवाना लावकः । सक्कूना पायकः । कर्तरीति शक्यमकर्तुं तृचोऽकस्य च कर्तरि विधानात् । नन्वकस्य भावेऽपि विधानमस्ति । सत्यम् । तद्व्योगे कर्तरि विहितायास्तायाः पूर्वणवृत्त्यभावः सिद्धः सामर्थ्यादिह कर्तरि विहितस्याकस्य ग्रहणम् । तदेतत्कर्तृग्रहणं जापकं पूर्वप्रतिषेधो नित्यः अयमनित्यस्तेन तीर्थकर्तारमर्हन्तमित्येवमादि सिद्धम् । तृनन्तेन वा “साधनं कृता” [१।३।२९] इति सः ।

क्रीडाजीविकयोर्नित्यम् ॥११३८०॥ नेति निवृत्तम् । तृचः क्रीडाजीविकयोरसम्भवाच्चानुवृत्तिः । क्रीडाया जीविकायाश्च तान्तमकेन सह नित्यं पसो भवति । क्रीडायाम्—उद्दालकपुष्पभञ्जिका । भावे खुविपने बुण् । “कर्तृकर्मणोः कृति” [१।४।६८] इति कर्मणि ता । जीविकायाम्—दन्तलेखकः । नखलेखकः । श्रवस्कारसूदकः । क्रीडाया कृतीति विरुत्पः प्राप्तः । जीविकाया कर्तरीति प्रतिषेधः प्राप्तः । क्रीडाया आरम्भादेन नित्यं नित्यग्रहणं जीविकार्यमुत्तरार्थञ्च ।

तिकुप्रादयः ॥११३८१॥ तिमजः कुशब्दः प्रादयश्च समर्थेन नित्यं पसो भवति । ऊरीकृत्य । ऊरीकृतम् । पटपटाकृत्य । प्रादिसाहचर्यात् कुशब्दो भिन्नं शो गृह्यते । कुन्सितो ब्राह्मणः कुब्राह्मणः । इपन्मपु काम

कारान् । ननु भेत्ता म विजेषणं विजेष्येणेतिद्वन्द्वस्य स्वचिद्व्यत्रापि विवक्षितमन्ते रामागार्थं चेत्यत्रेतिद्वन्द्वयत्नेन सः । विशेषणवृत्तिस्तु न गुणगुणिविवक्षान्वये विजेषणवृत्तेरप्यनर्हकारान् ।”

धुस्म् । “क्रियायोगे नि ति” [१।२।१३०-१३१] इति प्रादयोऽपि क्रियायोगे तिसंज्ञा अक्रियायोगार्थं प्रादि-  
ग्रहणम् । स्वती पूजाधक्म् । शोभनः पुरुषः सुपुरुषः । अतिपुरुषः । अतिशयेन स्तुतं सुस्तुतम् । अतिक्रमेण  
स्तुतमतिस्तुतम् । दुः पापाद्यर्थे । पापः पुरुषो दुष्पुरुषः । कृच्छ्रेण कृतं दुष्कृतम् । आढीषदाद्यर्थे । ईषत्कडार  
आकडारः । क्रियायोगे आनन्दमाभरणम् । प्रादय एवमात्मका यत्र क्रियापदं प्रयुज्यते तत्र क्रियाविशेषमाहुः ।  
यत्र न प्रयुज्यते तत्र ससाधना क्रियामाहुरिति । “प्रादयो गताद्यर्थं च वया” [वा०] प्रगत आचार्यः प्राचार्यः ।  
वृत्तिविषये प्रशब्दो गतशब्दस्यार्थं ससाधनमभिधत्ते । एवं प्रवृद्धो गुरुः प्रगुरुः । प्रपितामहः । सङ्गताथः  
समर्थः । “अत्यादय क्रान्ताद्यर्थं इषा” [वा०] अतिक्रान्तः खट्वामतिखट्वः । उक्रान्तो वेलामुद्धेलः ।  
“अद्यादय क्लृप्ताद्यर्थं भया” [वा०] अवक्रुष्टः कोविलया अवकोविलः । परिणद्धो वीरुद्धिः परिवीरुत् । “पर्या-  
दयो ग्लानाद्यर्थं जपा” [वा०] परिग्लानोऽध्ययनाय पर्यध्ययनः । उद्युक्तः सग्रामाय उत्सग्रामः । पर्यादिराकृतिगण  
रत्येके । अल कुमारिः । “निरादयः क्रान्ताद्यर्थं कया” [वा०] निःक्रान्तः कौशाम्या निष्कौशाश्विः । अपगतः  
शाखाया अपशाखः । लक्षणादिष्वर्थेष्वनभिधानादवृत्तिः । वृत्तं प्रति विद्योतते ।

वागमिड् ॥१।३।८२॥ वाक्संज्ञममिडन्तं समर्थेन नित्य पक्षो भवति । कुम्भं करोतीति कुम्भकारः ।  
शरलाव । अमिडिति किम् ? एधानाहारको व्रजति । “वृणुतुमौ क्रियार्था तदर्थायाम्” [२।३।८] इति वृण् ।  
अमिडिति प्रतिषेधवचनं जापकमनयोयोगयोः “सुप्सुपा” [१।३।३] इति नाभिसंव्रज्यते । एवञ्च सत्येतल्लब्धम्  
“तिवाक्कारकाणां प्राक् सुबुत्पत्तेः कृद्धिः सविधिः” [परि०] इति । इह माषवापिणी । व्रीहिवापिणी स्त्री ।  
वृद्धन्तेन वृत्तौ “मृदन्तनुम्विभक्त्याम्” [१।४।६५] इति एत्व सिद्धम् । अन्यथा सुबुत्पत्तिः स्त्रीत्येन बाधेत ।  
अभक्षतीति च प्रयोजनम् । यदि सुबुत्पत्तेः प्राक् तिवाक्कारकाणां कृता वृत्तिः । अदःकृत्य तमोपहः राजश्रित इत्यत्र  
पूर्वस्य पदकार्यं न त्यात् । “कायाः स्तोकादेः” [४।३।१२१] इत्येवमादि अनुव्विधानं चानर्थकं क्वचिदेव  
पीविधिण्यत्वादिविषये जापकात् सिद्धिः ।

मिनाऽमैव ॥१।३।८३॥ पूर्वेण सिद्धे नियमोऽयम् । भिस्संज्ञकेनामन्तेनैव वागमिड् पक्षो भवति । स्वादु-  
हार भुङ्क्ते । लवणहारं भुङ्क्ते । स्वाद्वर्थेषु वालु “स्वादुमि णम्” [२।४।१२] इति णम् भवति । स्वादु-  
मीति निर्देशात्यसन्नियोगे मान्तता निपात्यते । अमैवेति किम् ? कालो भोक्तुम् । समयो भोक्तुम् ।  
“वाल्समयवेलासु तुम्बा” [२।३।१४३] इति तुम् । आरम्भादेव नियमः सिद्धः । भिन्नैवेति विपरी-  
तादपारणे व्यावर्त्य नास्तीत्येवकारः किमर्थः ? अमैव यत् सह निर्दिष्टं वाक्संज्ञं तस्य वृत्तिर्यथा स्यात् । अमा  
चान्येन च यत् सह निर्दिष्टं तस्य मा भूत् । अग्रे भोजं गच्छति । अग्रेभुक्त्वा । प्रथममभोजम् । पूर्वं भोजम् ।  
“दाम्रे प्रथमपूर्वे” [२।४।९०] इति क्त्वाणमौ विहितौ । भिन्नेति विस्पष्टार्थम् । व्यावर्त्याभावात् ।

वा भादि ॥१।३।८४॥ “उपदंशो भायाम्” [२।४।३३] इत्यतः प्रभृति वाक्संज्ञा भादीत्युच्यते ।  
भादीनि वाक्संज्ञानि क्षमा सह वा समत्यन्ते पक्षो भवति । मूलकोपदंशं भुङ्क्ते । “उपदंशो भायाम्”  
[२।४।३३] इति णम् । पाश्चात्पीडम् । पार्श्वेनोपपीडं पार्श्वे उपपीडं शेते । “ईपि चोपपीडरुधकर्षः”  
[२।४।३५] इति णम् । अमन्तेनेत्येव । पर्याप्तो भोक्तुम् । प्रनुभोक्तुम् । “पर्याप्तवचने अलमर्थे” [२।४।५१]  
इति णम् । एतद्वारे गानुवर्तते तेन भादिपु पदमा सह निर्दिष्टं वाक्संज्ञं यदमा चान्येन च सह निर्दिष्टं तदपि  
रास्ये । उच्यते । “भावनिष्टोक्तौ कृजः क्वाणमौ” [२।४।४४] इति णम् ।

पत्या ॥१।३।८५॥ क्तान्तेन सह वा भादि समत्यन्ते पक्षो भवति । उच्चैःकृत्याचष्टे । उच्चैः कृत्वा ।  
न र्वायेन । प्रदेशात्तरत्वाद्यौ वृत्तिर्न भवति । अल कृत्वा । अग्रे भुक्त्वा ।

अर्थग्रहणं किमर्थम् ? यावता शब्दे कार्यस्यामम्भवादर्थं कार्यं विज्ञास्यते । अन्यपदार्थस्य ये लिङ्गसख्ये ते यथा स्यातामित्येवमर्थम् । बहुयवं कुलम् । बहुयवा भूमिः । बहुयवौ । बहुयवाः । वाविभक्त्यन्ते अन्यपदार्थे वृत्तिर्न भवत्यनभिधानात् । अनेकग्रहणं बहूनामपि प्रापणार्थम् । सामानाधिकरण्याभावेऽपि वसो भवति । कण्ठेकालः । उरसिलोमा । उच्चैर्मुखो देवदत्तः । अस्तिक्षीरा गौः । भीनामसख्यत्वादसामानाधिकरण्यम् । इहाभिधानाभावान्न भवति । पञ्चभिर्भुक्तमस्य । सामानाधिकरण्येऽप्यनभिधानम् । पञ्च गुरुवन्तोऽस्य । नपा निर्देशः किमर्थः ? उन्मत्तगङ्गम् । लोहितगङ्गम् । “खावन्यपदार्थे” [१।३।१८] इति ह्येव भवति । इह वीरपुरुषको ग्राम इति परत्वाद्वसः पसस्य बाधकः । शस्त्रीश्यामा देवदत्तेत्येवमादिषु “यश्चैकाग्रये” [१।३।४४] इति प्रकृतमस्ति तेन वसस्य बाधः । “प्रादयो गताद्यर्थे वया” [वा०] इत्येवमादि वार्तिकवचन प्रमाणम् । तेन निष्कौशाभिरित्येवमादिषु वसो न भवति । “ईदुपमानपूर्वस्य द्युत्तं वक्तव्यम्” [वा०] उदरे स्थितो मणिरस्य उदरेमणिः । “पे कृति बहुलम्” [१।३।१३२] इति ईपोऽनुप् । उष्ट्रमुत्तमिमुखमस्य उष्ट्रमुखः । उपमानावयवत्वादुष्ट्रोऽप्युपमानम् । इह केशचूडः सुवर्णालङ्कारो देवदत्तः इति केशसम्भारे केशशब्दः । सुवर्णविकारे सुवर्णशब्दो वर्तते । सङ्गतार्थः समर्थ इति निर्देशादेवजातीयस्य वा द्रुगद्रष्टव्यम् । प्रपतितपर्णः प्रपर्णः । अविद्यमानभार्यः अभार्यः ।

**संख्येये संख्यया भयासन्नादूरसंख्यम् ॥१।३।८७॥** सख्येये या सख्या वर्तते तया हि आसन्न अदूर इत्येतानि सख्या च वसो भवति । अनन्यार्थाथे वान्तेऽप्यन्यपदार्थे प्रापणार्थञ्च । समीपे दशानामिमे उपदशाः । उपविंशाः । समीपप्राधान्ये तु हसः । आसन्ना दशानामिमे आसन्नदशाः । आसन्नविंशाः । अदूरदशाः । अदूरचत्वारिंशाः । द्वौ वा त्रयो वा इमे द्वित्राः । त्रयो वा चत्वारो वा इमे त्रिचतुराः । “नन्विसूपन्निभ्यश्चतुरः” [४।२।७५] इति अस्त्यो निपात्यते । त्रिदश इमे त्रिदशाः । वृत्त्येवाभ्यावृत्तेरुक्तत्वात् सुचोऽप्रयोगः । सख्यासजाविधानेऽधिकशब्दस्यापि सख्यात्वमुक्तम् । अधिका दशानामिमेऽधिकदशाः । सख्येय इति किम् ? अधिका विंशतिर्गवाम् । संख्येय इति किम् ? पञ्च पदार्थाः । भयासन्नादूरसख्यमिति किम् ? पार्थिवाः पञ्च ।

**दिशोऽन्तराले ॥१।३।८८॥** दिक्छन्दाः सुवन्ता अन्तरालवचने वनजक्रः सो भवति । अन्तराल एव यथा स्यादिति नियमार्थ आरम्भः । दक्षिणस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर्यदन्तरालं दक्षिणपूर्वा । “सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पूर्वपदस्य पुंवद्भावः” [वा०] इति पुंवद्भावः । उत्तरपदस्य “स्त्रीगोनीचः” [१।१।८] इति प्रादेगः । अन्तरालदिशः स्त्रीत्वात् पुनष्टाप् । अनेकमित्यनुवर्त्तनात् न्यसजया द्वयोः पर्यायेण पूर्वनिपातः । एव दक्षिणपरा । उत्तरपरा । उचरपूर्वा । प्रसिद्धानां दिक्छन्दानां ग्रहणाविह न भवति । वारुण्याश्च कौत्रेयाश्च दिशोऽन्तरालम् ।

**तत्रेदमिति सरूपे ॥१।३।८९॥** तत्रेति ईवन्ते द्वे सरूपे इदमित्येतस्मिन्नर्थे वसो भवति । इति कर्णान् ग्रहणविशिष्टे युद्धे विवक्षा । केशेषु केशेषु च गृहीत्वा इदं युद्धं वृत्तं केशाकेशि । कचार्चि । “ज इच्” [४।२।२८] इति इच् सान्त इजिति तिष्ठद्वाद्यौ द्वसंज्ञार्थं पठ्यते । “अन्यस्यापि” [४।३।२३०] इति पूर्वपदस्य दीत्वम् । अत्र सापेक्षत्वात् पूर्वेण वृत्तिर्न प्राप्नोति । सरूपे इति किम् ? केशेषु च कर्णेषु च गृहीत्वा इदं युद्धं वृत्तम् ।

तेन ॥१।३।९०॥ इदमिति सरूपे इति वर्तते । तेनेति भान्ते सरूपे इदमित्येतस्मिन्नर्थे वसो भवति । इतिकरणानुवृत्तेर्यत्तेनेति निर्दिष्टं ग्रहणं चेत्तद्वति । दण्डैश्च दण्डैश्च ग्रहणैश्च युद्धं वृत्तं दागदगि । सुसलामुसलि । सरूपे इत्येव । दण्डैश्च कमण्डलुमिश्रं ग्रहणैश्च युद्धं वृत्तम् । योगविनाग उत्तमार्थः ।

**सहेति तुल्ययोगे ॥१।३।९१॥** तुल्ययोगं मनानक्रियादियोगः । तेनेति वर्तते । सद् वृत्त्येव सुवन्ता तुल्ययोगे वर्तमाने तेनेति भान्तेन सद् समन्वये वसो भवति । सद् वृत्त्येव सुवन्ता तुल्ययोगे वर्तमाने तेनेति भान्तेन सद् समन्वये वसो भवति । सद् वृत्त्येव सुवन्ता तुल्ययोगे वर्तमाने तेनेति भान्तेन सद् समन्वये वसो भवति ।

सुपुत्रः । “वा नीचः” [४।३।११०] इति सहशब्दस्य सादेशः । तुल्ययोग इति किम् ? प्रत्यह सह शावेन भार वहति रासमी । विद्यमानताऽत्र सहार्थः । आद्येनैव सिद्धे हसनिवृत्त्यर्थं कर्मभावार्थश्च वचनम् । इति-शब्दो योगविभागार्थः । तेनातुल्ययोगेऽपि कचिद्वसः का च । तेन सकर्मकाच्चेदौ भवति । सपत्नको वादी ब्रूत इत्यादि सिद्धम् । अत्र हि चरेरेव देन योगो न कर्मणः । तथा वादिन एव च तेन योगो न पक्षस्य ।

चार्थे द्वन्द्वः ॥१।३।१६२॥ चकृतोऽर्थश्चार्थः । तस्मिन् वर्तमानमनेकं सुबन्त द्वन्द्वसङ्गः सो भवति । चत्वारश्चार्थाः । समुच्चयोऽन्वाचय इतरेतरयोगः समाहारश्चेति । तत्रानियतक्रमयौगपद्याना द्वयादिवस्तूनामेकत्राधारोपः समुच्चयः । यथा “गामश्व पुरुषं पशुमहरहर्नयमानो वैवश्वतो न तृप्यति, सुरया इव दुर्मदी ।” गुणप्रधानभावमात्रविशिष्टः समुच्चय एवान्वाचयः । यथा भिक्षामट गा चानयेति । इतरेतरयोगसमाहारावपि समुच्चयस्य भेदौ । परस्पर सापेक्षतामवयवभेदानुगत इतरेतरयोगः । अनपेक्षिता अवयवभेदाः सहतिप्रधानाः समाहाराः । आद्योश्चमन्तरेणापि कचित् प्रयोगात् । असामर्थ्याच्च नास्ति सविधिः । इतरेतरयोगे । प्लक्षन्प्रोधी छाया कुतः । समाहारे प्लक्षान्यग्रोधं सिध्यति । वाक्त्वचम् । वाग्दृषदम् । छत्रोपानहम् । इह द्वाविंशतित्वयस्त्रिंशद्वास्त्रित्वेवमादिषु समाहारेऽपि लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वादिति नपुंसकत्वाभावः । द्वन्द्वप्रदेशः “द्वन्द्वान्छुदहपो राधे” [४।२।१०८] इत्येवमादयः ।

वोक्तं न्यक् ॥१।३।१६३॥ सलक्षणसूत्रेषु वानिर्दिष्ट न्यक्सङ्गः भवति । तस्य प्रयोजन पूर्वमित्यनेन पूर्वनिपातः । अधिति । अधिकुमारि । भोति वोक्तम् । कष्टश्रितः । इविति वोक्तम् । शङ्कलाखण्डः । भेति वोक्तम् । एव सर्वत्र बोद्धव्यम् । वसेऽनेक सुबन्त तस्य पूर्वनिपातनियममुत्तरत्र वक्ष्यति । इह राशः पुरष श्रित इति यत् प्रति यदप्रधान तत् प्रति तन्न्यक्सङ्गः भवति । कथमय विभागो लभ्यते । न्यगितीयमन्वर्थसङ्गः । नीचैरञ्चतीति न्यगप्रधानमित्यर्थः ।

एकविभक्ति ॥१।३।१६४॥ विभक्तिशब्दः पूर्वाचार्येण निर्दिष्टः एका विभक्तिर्यस्य तन्न्यक्सङ्गः भवति । निष्कशाभिः । निर्मथुरः । “परम्” [१।३।१६५] इत्यनेन परनिपातार्थमेतत् । प्रादेशस्तु “स्त्रीगो-नीचः” [१।१।१६] इत्यत्र अन्वर्थस्य नीचः समाश्रयणात् सिद्धः ।

परम् ॥१।३।१६५॥ एकविभक्ति न्यक्सङ्ग परं प्रयोक्तव्यम् । पूर्वमित्यनेन पूर्वनिपाते प्राप्तेऽपवादः । इह धर्मं भित् । धर्मे श्रितेन धर्मश्रिताय इत्येवमादिषु “वोक्तम्” [४।३।११०] इत्यनेनैव न्यक्सङ्गः भवत्यावकाशत्वात्तत्सदाभयः पूर्वनिपातः ।

राजदन्तादी ॥१।३।१६६॥ राजदन्तादिषु न्यक् परं प्रयोक्तव्यम् । उत्तरसूत्रैः प्राप्तस्य पूर्वनिपातस्यापवादोऽयम् । दन्ताना राजा राजदन्तः । वनस्याग्रे अग्रेवणम् । गणपाठादनुप् । लिप्तवासित नग्नमुषितम् । अर्थावलम्बनपक्षः सिद्धसमृष्ट भृष्टलुब्धितम् अर्पितोप्तम् उत्तगाढमेतेषु पूर्वकालस्य परनिपातः । उल्लूखलमुसल तदुल्लिखितम् । आरण्यायनिगन्धकी । चित्ररथग्राहलीकम् । अवन्त्यश्मकम् । शूद्रार्थम् । स्नातकराजानौ । जिपुत्रेणानौ । अक्षिभुक् । दास्यवम् । शब्दार्थौ । धर्मार्थौ । कामार्थौ । अन्तु व्यत्ययोऽपि । हर्षशब्दौ । अर्थधर्मौ । अर्थकामौ । वैयोरणमत्तम् । भोजवाजौ । गोपालधानीपूलासम् । पूलास-वरणम् । उशीरधीजम् । सिञ्जत्थम् । शिचान्नी । चित्रास्त्राती । भार्यापती । जायापती । जम्पती । दम्पती । जपाशब्दस्य जम्भाजो दम्भावरच निशत्यते । पुत्रपती । पुत्रपशू । केशश्मश्रुः । शिरोविन्दु । तन्निर्गन्ती । मण्डपिणी । आदन्ती । अन्तादी । गुणवृद्धी । वृद्धिगुणौ ।

पर्यम् ॥१।३।१६७॥ न्यगिति वर्तते । न्यक्सङ्गः पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । वाक्यवद् वृत्तावनियमो मा भूदित्यनेन । रङ्गानुसारण्यनि । यद् द्वे रूपे तान्ते राजः पुरपत्येति तत्र वक्ष्य न्यक्त्यन्यमित्यर्थसङ्गा-त्प्रादेशादयम् ।

द्वन्द्वे सुः ॥१३।१६॥ द्वन्द्वे से स्वन्तं पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । मुनिगुप्तौ । यदुगुप्तौ । अनेकप्राप्तावनियमेन मुनिपटुगुप्ताः । पटुमुनिगुप्ताः । पटुगुप्तमुनयः । न्यागित्यन्वर्थसज्ञा । द्वन्द्वे च न कस्यचिदप्राधान्यमित्यप्राप्ते पूर्वनिपात इदं सूत्रम् ।

अजाद्यत् ॥१३।१६॥ अजादि अदन्तं शब्दरूपं द्वन्द्वे से पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । इन्द्रचन्द्रौ । उष्ट्रश्वम् । उष्ट्रशशम् । इह इन्द्राग्नी । इन्द्रवायू इति सुलक्षणात् परत्वादनेन पूर्वनिपातः । उभयत्र वायोः प्रतिषेध इति आनङ् न भवति । बहुष्वनियमेन इभरथाश्वम् । अश्वरथेभम् । तपरकरणं किम् ? वृक्षाश्चे । अश्ववृक्षौ ।

अल्पाचूत्तरम् ॥१३।१००॥ अल्पाचूत्तरं शब्दरूपं द्वन्द्वे पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । धवखदिरौ । धवाश्वकणम् । “बहुष्वनियमः” [वा०] । वीणादुन्दुभिश्चङ्खाः । शङ्खदुन्दुभिर्वीणाः । “कृतुनक्षत्राणां समानाक्षराणामानुपूर्व्येण वक्तव्यम्” [वा०] । शिशिरवसन्तौ । हेमन्तशिशिरवसन्ताः । अश्विनीभरण्यः । कृत्तिकारोहिण्यः । समानाक्षराणामिति किम् ? ग्रीष्मवसन्तौ । “द्वयक्षरस्य पूर्वनिपातो वक्तव्यः” [वा०] । कुशकाशम् । तृणकाष्ठम् । “वर्णानामानुपूर्व्येण” [वा०] । ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः । “आतुरश्च ज्यायसः” [वा०] युधिष्ठिराजुनौ । “संख्याया अल्पीयसो वाचिकायाः” [वा०] द्वित्राः । एकादश । नवतिशतम् । “अभ्यर्हितस्य च” [वा०] । मातापितरौ । श्रद्धामेधे । दीक्षातपसी ।

ईद्विशेषणे वे ॥१३।१०१॥ ईद्वन्तं विशेषणं च वसे पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । वसे अनेकं सुप्तं न्यक् संज्ञमित्यनियमे प्राप्तेऽयमारम्भः । कण्ठेकालः । उरसिलोमा । उदरेमणिः । वहेगडुः । “अकामेऽमूर्धमस्तकात् स्वाङ्गम्” [४।३।१३१] इत्यनुप् । चित्रगुः । लम्बकर्णः । “सर्वनामसंख्ययोः पूर्वनिपातो वक्तव्यः” [वा०] । सर्वे श्वेतमस्य सर्वश्वेतः । सर्वगौरः । द्विशुक्लः । द्विकृष्णः । सर्वनामसंख्ययोः परस्पर वृत्तिः । वाग्ये संख्यायाः परत्वात् पूर्वनिपातः । द्वयन्यः । त्रयन्यः । “वा प्रियस्य” [वा०] । प्रियदधिः । दधिप्रियः । कथं गडु-कण्ठः । गडुशिराः । आहिताग्न्यादिषु द्रष्टव्यः ।

तः ॥१३।१०२॥ तान्तं वसे पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । कृतकटः । भिक्षितभिक्षः । अवमुक्तोपानत्कः । तान्तस्य विशेषणत्वेनाविवक्षितत्वात् पूर्वेण न सिध्यति । कथं कचिज्जातिकालसुखादिभ्यश्च तान्तस्य परप्रयोगः (जातः) । सारङ्गजग्धी । पलाण्डुभक्षिती । कालात्-मासजाता । संवत्सरजाता । सुखादिभ्यश्च-मुख जात यस्याः सुग-जाता । दुःखजाता । वाऽहिताग्न्यादिषु व्यवस्थयेद भविष्यति । प्रहरणार्थेभ्यः परे वेपौ वक्तव्ये । उग्रतोऽसिनेन अस्युद्यतः । मुसलोद्यतः । अग्निः पाणावस्य असिपाणिः । दण्डपाणिः । कथमुद्यतगदः । उद्यतासिः । इदमपि वेति सिंहावलोकनात् ।

वाऽऽहिताग्न्यादौ ॥१३।१०३॥ आहिताग्न्यादिषु वसे तान्तं वा पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । आहिताग्निः । अग्न्याहितः । एव जातपुत्रः । जातदन्तः । जातश्मश्रुः । तैलपीतः । घृतपीतः । मद्यपीतः । ऊढभार्यः । अर्थगतः । आकृतिगणोऽयम् । तेनेद्यो न वक्तव्याः ।

ये कडाराः ॥१३।१०४॥ ये कडादयो वा पूर्वं प्रयोक्तव्याः । कडारश्च स भद्रश्च स कडारभद्रः । भद्रकडारः । विशेषणस्य “वोक्तं न्यक्” [१।३।१३] पूर्वनिपातः प्राप्ते विभाष्यते । कडार गडुल कूट काण खञ्ज कुण्ट खोड खलति गौर वृक्ष भिक्षुक पिङ्गल तनु नट वधिर ।

उत्तरपदं घृ ॥१३।१०५॥ से यदुत्तरपदं तदयुः स भवति । पञ्चगवधनः । द्यौ परतः “इयं (र्धं) घृसमादरे” [१।३।४६] इति पूर्वस्य स) सज्ञाया टः सान्तः मिद्धः । एव द्वे अदनी जातस्य द्वयद्वयतः । “काष्ठा मेयैः” इति समुदायस्य पञ्चश द्यौ परतः । पूर्वस्यापि पञ्चशया टः सान्तः ।

इत्यभयनान्दविरचिताया जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ प्रथमस्याध्यायस्य तृतीयः पदः समाप्तः ।

अनुक्ते ॥१४१॥ अनुक्त इत्ययमधिकारः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्याम अनुक्त इत्येव तद्वेदितव्यम् । स्वार्थद्रव्यलिङ्गानि निको मृदर्थ इति अस्मिन् दर्शने स्वार्थिकाष्टात्रादयः सख्याकर्मादयो विभक्त्यर्थाः । एवं च 'कर्मणीप्' [१४१२] इत्येवमादीना 'साधने स्वार्थे' [१४१२३] इत्येतस्य च गुणप्रधानभावेनैक्यता । स्वार्थेकत्वादिविशिष्टेषु कर्मादिष्वनुक्तेष्विवाद्यो भवन्ति । अथवा अनुक्तकर्माश्रयेष्वेकत्वादिष्विवाद्यो भवन्ति । इह परिमख्यानमिति केचिन् । मिडकृद्भृतैरनुक्ते कर्मादायिति । वक्ष्यति 'कर्मणीप्' [१४१२] । कट करोति । ओदन भुङ्क्ते । अनुक्ते इति किम् ? क्रियते कटः । मिडोक्त कर्म । कृतः कटः । कृतोक्त कर्म । भाद्रिको देवदत्तः । 'आह्वं सुक्तं ठोऽनेन' [४१११८] इति ठः । हृतोक्तः कर्ता । शतेन क्रीतः । 'शता-दस्वार्थेऽस्ते ठयो' [३४११८] इति यः । हृतोक्त करणमिति । कर्तरि करणे च भा न भवति । प्राप्तमुदकं यं ग्रामं स प्रातोदको ग्रामः । तेन कर्मांस्तम् । मिडकृद्भृतैरिति परिमख्यानं किम् ? कट करोति भीष्ममुदारं दर्शनीयम् । अत्र कटशब्दादुत्पन्नमानया इषा उक्ते कर्मणि भीष्मादिभ्य इम्न स्यात् । तदेतत्परिगणनमयुक्तम् । कटोऽपि कर्म भीष्मादयोऽपि न ह्यलौ कटमात्रे सन्तोषं करोतीत्यनेकं कर्म गृह्यते । समुदायस्य चामृत्त्वात् प्रत्य-यवाद्धिभक्त्युत्पत्तिः । इह आत्मेन आस्ते शयने शेते इति अन्यो ह्यधिकरणप्रत्ययः सामान्येन युदाऽभिहितो अन्यश्च विशेषरूपेण विभक्त्योच्यते इति न दोषः ।

कर्मणीप् ॥१४१२॥ कर्मणि कारके अनुक्ते इव विभक्तिर्भवति । कट करोति । ग्राम गच्छति । स्यादित्यं पश्यति । अविशेषेण व्यामृदः स्वादयो वक्ष्यन्ते । तन्नियमोऽयं कर्मादिष्वेव इवाद्यो भवन्ति । इवाद्यो नियताः । कर्मादयस्त्वनियताः । तेषु ताऽपि प्राप्नोति । तत इदमुच्यते 'ता शेषे' [१४१२७] इति शेषे ता भवति' नोक्ते कर्मादौ ।

यन्तरान्तरेण योगे ॥१४३॥ प्रतिपदोक्तत्वादिहान्तरान्तरेणशब्दौ निसर्गौ ताभ्या योगे इन्विभ-होर्भवति । अन्तरा गन्धमादन माल्यवन्तञ्च कुरुवः । कुरुविशेषणत्वेन ताया प्राप्तायामिन्विधीयते । कुरु-शब्दार्थं वर्तमानात् मृदंतिरेकाभावात् इम्न भवति । अन्तराशब्दो मध्यमाधेयप्रधानं ब्रूते । अन्तरेणशब्दः तत्र भिन्नार्थः च । अन्तरेण सौमनसं विगृह्यमञ्च देवकुरुवः । मोक्षमन्तरेण नात्यन्तिकं सुखम् । निसर्ग-योर्प्रहणदिर न भवति । अन्तराया पुरि वसति । किं ते धात्रवाणा सालङ्कायनाना चान्तरेण गतेन । योग इति विम् ? अन्तरा तर्ज्जालान्च पाटलिपुत्रञ्च लुप्तस्य प्रकारः । ननु पदविधिरयं अन्तराशब्दे सामर्थ्यात् लुप्तान्तरादिन भविष्यति योगादणमनर्थकम् । कच्चिदन्यैरपि योगे यथा स्यादित्येवमर्थम् । 'अभितः परितः समनानिकशराप्रतिधोतेषूपसख्यानम्' [वा०] अभितो ग्रामम् । परितो ग्रामम् । समया ग्रामम् । निकया ग्रामम् । हा त्रेन्दत्तम् । वृणीष्व भद्रं प्रतिभाति चेत्त्वम् । बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित् । 'उभसर्वतसोः कार्योऽपिपुण्यादिषु त्रिषु । कृतद्वित्वेऽपिपुण्या योगस्ततोऽन्यत्रापि दृश्यते' [वा०] उभयतो ग्रामम् । सर्वतो ग्रामम् । पिदेवदत्तम् । उपर्यधिपति नृवोपलक्षणम् । सामीप्येऽधोऽधुपरि [“उपर्यध्यधसः सामीप्ये”] [१३१५] इति रिषे हने तयाणा गृहणम् । अधोऽधो ग्रामम् । उपर्युपरि ग्रामम् । अभ्यधि ग्रामम् । 'अन्यत्राऽपि पश्यते' [वा०] पिता धर्मं पुनं सुखम् । अपि शब्दान् च दृश्यते । हा तात हा पुत्र वत्सल ।

कालाध्यन्त्यविच्छेदे ॥१४४॥ अविच्छेदोऽत्यन्तयोगः । द्रव्यगुणक्रियाभिः काल्पन्येन काला-ध्यानात् कालाध्यन्त्यविच्छेदे वर्तमानस्य सत्त्वोरित् भवति । अन्यस्याश्रुतत्वात् कालाध्यावा-दिनानेकधिकरणविधानेने प्राप्ताया तद्विनिहाया सम्बन्धलक्षणाया ताया प्राप्तायामयं विधिः । कालस्य स्तोत्रेण केने—तात हातात । अन्तरा दीर्घेन्दम् । गुणेन—पञ्च मयुरा रमणीया । मातृ कल्याणी काञ्ची । मित्र—महामर्षिः । सज्जनमर्षिः । अप्यनो द्रव्येण योगे—क्रोश निम्ना । योजन वनराजिः । गुणेन—

क्रोश कुटिला नदी । योजनं दीर्घः पर्वतः । क्रियया—क्रोशमधीते । योजनमधीते । अविच्छेद इति किम् ? मासस्य द्विरधीते । क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः ।

**सिद्धौ भा ॥११४।५॥** अविच्छेद इति वर्तते । सिद्धिः क्रियाफलनिष्पत्तिः । अविच्छेदे यो काला ध्वानौ तद्वाचिभ्या भा भवति सिद्धौ गम्यमानायाम् । मामेन प्राभृतमधीतम् । योजनेन प्राभृतमधीतम् । सिद्धाविति किम् ? मासमधीत प्राभृत न चानेनावधारितम् । नात्र क्रियाकलनिष्पत्तिरस्ति प्वेण इवेव भवति ।

**क्रियामध्ये केपौ ॥११४।६॥** कालाव्वनीति वर्तते । क्रिययोर्मध्ये यौ कालाव्वानौ ताभ्या केपौ विभक्तयो भवतः । अद्य सुक्त्वा मुनिद्वयं हाडोक्ता द्वयहे भोक्ता । इहस्योऽयमिप्पासः क्रोशाद् विव्यति कोशे विवति लक्ष्यम् । चापाच्छुरस्य निर्गमन धानुष्कावस्थान वा एका क्रिया द्वितीया व्यधनक्रिया तयोर्मध्ये क्रोशशब्दात् प्राप्ता ।

**सुः पूजायां न गिति ॥११४।७॥** सुशब्दः पूजायामर्थे गितमस्तिमजश्च न भवति । सुस्थित भवता । सुसिद्धं भवता । गितसंज्ञाश्रयं पल्लव न भवति । तिसंज्ञाप्रतिषेधे यद्यपि तिसंज्ञाश्रयः सविधिर्न भवति, तथापि प्रादिलक्षणो भविष्यति । स्वती पूजायामिति वचनात् । सुसिध्य गतः । तस्मादुत्तरार्थं तिसंज्ञाप्रतिषेधमचनम् । पूजायामिति किम् ? सुपिक्त किं तवाऽत्र ।

**अतिक्रमे चातिः ॥११४।८॥** अतिक्रम आधिक्यम् । अतिक्रमे पूजायाञ्चातिशब्दो गितिमजो न भवति । अतिसिद्धमेव भवता । अतिस्तुतमेव भवता । गितिसंज्ञाश्रयः प्रादिलक्षणश्च सविधिर्न भवति । अतिसिद्धवैव गतः । पूजायाम्—अतिसिद्धमतिस्तुत भवता । स्वती पूजायामिति प्रादिलक्षणः सतिभिः । अतिसिध्य गतः । “प्यस्तिवाक्से क्वः” [११।३१] इत्यत्र तिग्रहणमुपलक्षणं प्रादिमेऽपि प्यादेशः ।

**पदार्थसंभावनाऽनुज्ञागर्हासमुच्चयेऽपिः ॥११४।९॥** अप्रयुज्यमानस्य पदस्यार्थः पदार्थः । संभावनं सामर्थ्याविष्करणम् । अनुज्ञा अभ्युपगमः । गर्हा निन्दा । एकत्रानेकस्य नियोजन समुच्चयः । एतेष्वर्थेष्वपिर्गितिसंज्ञो न भवति । पदार्थे—सर्पिणोऽपि स्यात् । पयसोऽपि स्यात् । बिन्दुः स्लोक मात्रा चेत्यस्यार्थोऽपिशब्दः । सम्यन्वे च ता । संभावने—अपि सिञ्चेन्मूलकसहस्रम् । अपि स्तुयाद्राजानम् । अनुगायाम्—अपि सिद्ध । अपि स्तुहि । अतिष्ठगे लोट् । गर्हायाम्—धिग् ब्राह्मणमपि सिञ्चेत्पलारुडम् । अपि स्तुयाद्रूपम् । “अनवकल्प्यमपे” [१३।१२१] इति लिङ् । समुच्चये—अपि सिद्ध । अपि स्तुहि । सिद्ध च स्तुहि चेत्यर्थः । गितिसंज्ञाश्रय पलादिकार्यं न भवति ।

**अधिपरी अनर्थकौ ॥११४।१०॥** अनर्थकवनर्यान्तरवाचिनो । अधि परि इत्येता अनर्थकौ गितिसंज्ञौ न भवतः । कुतोऽध्यागतः । कुतः पर्यागतः । गितिसंज्ञाश्रय सविधान न भवति । “प्राग्धोम्ने” [१२।१४६] इति प्रयोगनियमश्च न भवति । इह च पर्यायनद्वयमिति शल्ल न भवति ।

**वीप्सेत्यभूतलक्षणेऽभिनेप् ॥११४।११॥** न गितिर्गिति वर्तते योग इति च । वीप्सा इत्येतत् लक्षणं इत्येतेष्वर्थेषु अभिना योगे डड्विभक्ती भवति गितिसंज्ञाप्रतिषेधश्च । वीप्सायाम्—वृत्त वृत्तमभिनेष्यति । इत्यभूते—साधुदेवदत्तो मातरमभिनेष्यति । इत्यभभावोऽभिना गम्यते । लक्षणो—वृत्तमभिनेष्यति । वृत्तमभिनेष्यते । गितिसंज्ञाप्रतिषेधात् पत्र “प्राग्धोम्ने” [१२।१४६] इति नियमश्च न भवति ।

**भागे चानुप्रतिपरिण ॥११४।१२॥** भागेऽयं वीप्सेत्यभूतलक्षणेपु च अनु प्रातः पत्र इति भागोऽत्राशः । यदत्र मामनुन्यात् मा प्रति न्याय मा प्रति न्याय इति भागोऽत्राशः । वीप्सायाम्—वृत्त वृत्तम् अनुसिञ्चति प्रतिसिद्धति परिसिद्धति । इत्यभूते—साधुदेवदत्तो

१. सु व०, सु० । २. चाति अ०, स० । ३. येऽपि स० । ४. पर्यायनद्वयमिति अ०, व०, स० ।

५. वृत्तमभिनेष्यति अ०, व०, स० ।

नुरितः मातर प्रति मातर परि । लक्षणे—वृत्तमनुसिञ्चति प्रतिसिञ्चति परिसिञ्चति । वृत्त प्रति विद्यो-  
तते । एतेष्विति किम् ? ओदन परिषिञ्चति । अनुप्रातिपरिणेति किम् ? यदत्र मामभिष्यात् । अभेर्भागे  
गितिसज्ञा भवत्येव सगित्यात् सकर्मकत्वं कर्मणीप् षत्व च भवति ।

हेतावनुना ॥१४१३॥ हेतावर्थे अनुना योगे इन्विभक्ती भवति गितिसज्ञाप्रतिषेधश्च । जिनस्य  
ज्ञानोत्तिमन्यागमन्तुराः । सुराणामागमनस्य जिनज्ञानोत्पत्तिर्हेतुः । एव शान्तिचरितपट्टकप्रसारणमनु प्राव-  
र्णं पर्जन्यः । यदपि इत्थम्भूते लक्षणे वार्थेऽनुना योगे सिद्धैवेप् तथापि येन नाप्राप्तन्यायेन शेषलक्षणाया-  
न्तापः सोऽपवादः । हेत्वर्थे तु परत्वान्ना प्रसज्येत तद्वाधनार्थमिदम् ।

भार्थे ॥१४१४॥ भार्थः सहशब्दस्यार्थः । भार्थेऽनुना योगे इन् भवति गितिसज्ञाप्रतिषेधश्च ।  
नदीमन्ववसिता सेना । नदीमन्ववसिता नगरी । नद्या सह सम्बद्धेत्यर्थः । एव पर्वतमन्व  
वसिता मेना ।

हीने ॥१४१५॥ अनुनेति वर्तते । हीनार्थे द्योत्ये अनुना योगे इन् भवति गितिसज्ञाप्रतिषेधश्च ।  
उच्छ्रापेक्षया हीनो भवतीति सामर्थ्यादुच्छ्रादिप् । अनु शालिभद्रमाढ्याः । अनु समन्तभद्रं तार्किकाः ।

उपेन ॥१४१६॥ हीनार्थे उपेन योगे इन् भवति न गितिसज्ञा च । उपसिहनन्दिनं कवयः । उप-  
मिश्रतेन वपाकरणाः ।

ईषधिके ॥१४१७॥ ईन्विभक्ती भवति अधिकार्थे द्योत्ये उपेन योगे । उप खार्या द्रोणः । उप-  
निष् पार्पाणम् । कृत्वाधिकं मृदर्यातिरेकात्तत ईप् ।

ईश्वरेऽधिना ॥ १४१८ ॥ ईश्वरशब्द ईश्वरेशितव्यसन्धमुपलक्षयति । ईश्वरे द्योत्ये अधिना  
योगे ईन्विभक्ती भवति न गितिसज्ञा च । उत्तरसूत्राद्वेति विभाषाऽवलोकते । तत ईश्वरादीशितव्यान्व  
पर्यायेण । अधि मेऽश्वरे कुरवः । अधि कुरुषु मेघेश्वरः । इह विभक्त्यर्थे हसः कस्मान्न भवति विभ  
ह्रीशब्देन तत्र वारक एताः । ईश्वरेशितव्यसन्धश्चात्र न तु कारकम् ।

वा कृजधिः ॥१४१९॥ ईश्वर इति वर्तते । अधिशब्दः करोतौ वा गितिसज्ञो भवति ।  
तमपिह तमपिहत्वा । ईश्वर कृत्वेत्यर्थः । अत्र कर्मणीप् । पुनरधिग्रहण गितिसज्ञाप्रतिषेधार्थमेव  
न लीनः ।

मर्यादावचने ॥१४२०॥ कविभक्ती भवति आढा योगे मर्यादावचने गितिसज्ञाप्रति-  
षेधश्च । आ पाणिप् तत् तदो देवः । आ मधुरायाः । मर्यादायामिति सिद्धे वचनग्रहणमभिधिमग्रहा-  
नम् । तत् तन्मात्रं तत् सन्तमभस्त्व । मर्यादावचन इति किम् ? ईपदर्थे क्रियायोगे च मा भूत् ।  
मर्यादा । आढा तन्मात्रम् ।

वर्जनेऽपपरिभ्याम् ॥१४२१॥ विवक्षितेनापमन्यो वर्जनम् । वर्जनेऽप्ये अप परि इत्येताभ्या  
पः पः अपो नतो गितिः प्रतिसिञ्चति । अप विगतंभ्यो वृद्धो देवः । “परेवर्जने” [१३१४] इति वा  
पः पः अपो नतो गितिः । वर्ज इति किम् ? ओदन परिषिञ्चति ।

यतः प्रतिदाप्रतिनिधी प्रतिना ॥१४२२॥ प्रतिगान प्रतिदा प्रतिनिधीयत इति प्रतिनिधिः  
यतः प्रतिदा प्रतिनिधीयत इति प्रतिनिधिस्ततः कविभक्ती भवति न गितिसज्ञा च ।



संप्रदानेऽपि ॥१४।२३॥ संप्रदाने कारके अविभक्ती भवति । त्रिपृष्ठाय स्वयंप्रमामनात् । क्रियायाऽपि कर्मभूतया यदाप्यते तदपि संप्रदानमुक्तम् । देवदत्ताय रोचते । पत्ये शेते । श्वभ्यो वर्षति । भिक्षु-  
केभ्यो वर्षति । तदर्थेन सविधिवचन ज्ञापक तादर्थ्येऽव भवतीति । रथाय दारु । रत्ननाय स्यात् ।  
अवहननायोलुखलम् ।

ध्वर्थवाचः कर्मणि स्थानिनः ॥१४।२४॥ ध्वर्थः क्रिया । ध्वर्थो वागस्य स ध्वर्थवाक् । तस्य  
स्थानिनोऽप्रयुज्यमानस्य धोः कर्मणि कारके अविभक्ती भवति । यत्र यस्यार्थः प्रयोगान्तरेण प्रतीयते स  
तत्र स्थानी । एधेभ्यो व्रजति । अत्र आहत्तुमित्येतत्तुमन्तं पद स्थानि । तदेव च ध्वर्थवाक् । कर्मणीयो-  
ऽपवादोऽयम् । तादर्थ्येन सिद्धमिति चेत् स्थानिनो यथा स्यात् प्रयुज्यमानस्य मा भूत् इत्येवमर्थमिदम् ।  
ध्वर्थवाच इति किम् ? प्रविश पिण्डीम् । प्रविश तर्पणम् । अस्त्यत्र भक्षय सिञ्चेति च स्थानी न तु ध्वर्थ  
वाक् । कर्मणीति किम् ? एधेभ्यो व्रजति शकटेन । स्थानिन इति किम् ? एधानाहर्तुं व्रजति ।

तुमर्थाद्भावे ॥१४।२५॥ तुमा समानाऽर्थस्तुमर्थः । तुमर्था भावे वर्तमानो यस्त्यस्तदन्तान्मृदोऽन्  
भवति । “बुण्णुमौ क्रियया तदर्थान्मृदु” [२।३।८] इति वर्तमाने भावे “भाववाचिनः” [२।३।९] इति  
वक्ष्यति तेषां घञादीनामिह ग्रहणम् । पाकाय व्रजति । मतये व्रजति । पुष्टये व्रजति । अत्र तदर्थान् क्रियाया  
त्यस्य विधानात् तादर्थ्यं तेनैवोक्तमिति तादर्थ्यं अत्र न प्राप्नोति । तुमर्थादिति किम् ? पाकः । त्यागः । भा  
इति किम् ? कारको व्रजति ।

नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालं वपद्भ्योगे ॥१४।२६॥ नमस् स्वस्ति स्वाहा स्वधा अल वपद् इत्ये  
तैर्योगे अविभक्ती भवति । नमो देवेभ्यः । स्वस्ति प्रजाभ्यः । आशीर्विवक्षाया कुशलार्थयोगे ताऽपो प्राप्ते  
ताभ्या पूर्वनिर्णयेनायमेव नित्यो विधिः । स्वस्त्यस्तु गोम्यः । स्वस्ति प्रजाभ्यो भूयात् । स्वाहा इन्द्राय । स्वाहा  
अग्नये । स्वधा पितृभ्यः । अल मल्लो मल्लाय । अलमिति पर्याप्त्यर्थानां ग्रहणम् । “तस्मै प्रभवति”  
[३।१।६५] इति निर्देशात् । प्रभुर्मल्लो मल्लाय । समर्थो मल्लो मल्लाय । अन्यत्राऽपि कस्मान्न भवतीति ?  
कन्यामलङ्कुरते । अल रोदनेन । “वाग्विभक्तः कारकविभक्ती वलीयसी” इति कर्मणीप् । करणे च भा  
भवति । वपड्ग्नये । वपडिन्द्राय । यागग्रहणं किम् ? नमो जिनानामायतनेभ्यः । ननु इयाम्भूदः स्वादयो  
विहिताः । तदन्तविषयोऽयं नियमः पदविधिः । ततोऽसामर्थ्यादव जिनशब्दान्न भविष्यति योगग्रहणमनर्थं  
कम् । अन्यैरपि योगे यथा स्यात् इत्येवमर्थम् । “हितशब्दयोगे उपसख्यानम्” [ वा० ] अरोर्चास्ते हितम् ।  
‘क्लृप्प्यर्थधुप्रयोगोऽवक्तव्या’ [ वा० ] मूत्राय प्रकल्पते यवागूः । मूत्राय सपद्यते । मूत्राय जायते । भिन्न  
विकारापत्तौ चेद् वक्तव्यम् । अभेदे मूत्रं सपद्यते यवागूरिति वचं भवति । विकारग्रहणं किम् ? देवदत्ताय  
सपद्यते यवागूः । मूत्रं सपद्यते यवागूः । “उत्पातेन ज्ञाप्यमानेऽवक्तव्या” [ वा० ] ।

“वाताय कपिला विद्युदातपायातिलां हिनी ।

पीता वर्षाय विज्ञेया दुमिक्षाय भवेत्सिता ॥”

तेनेतत् सर्वं लब्धम् ।

प्रकृष्यगर्हं मन्यकर्मण्यर्जावे वा ॥१४।२७॥ प्रकृष्यगर्होऽन्तर्यामिस्कारः । प्रकृष्यगर्हं मन्य  
मन्यतेः कर्मणि जीवर्जावे वा अविभक्ती भवति । न त्वा तृणं मन्य । न त्वा तृणाय मन्ये । न त्वा तृ  
मन्ये । न त्वा बुधाय मन्ये । प्रकृष्येति किम् ? वायुं त्वा मन्ये । लाष्टं त्वा मन्ये । न त्वा नाभं मन्ये ।  
यावत्तीर्णं नाव्यम् । न त्वा अन्नं मन्ये । यावद् अन्नं आदन् । गर्हं इति किम् ? इन्द्रनीलात् पद्मनाभः

धिकगुण मन्वे । प्रशमेयम् । उभयग्रहणं किम् ? अश्मान दृषदं मन्वे । स्वरूपकथनमेतत् । मन्यग्रहणं किम् ? न त्वा वृण चिन्तय मि । विकरणनिर्देशः किम् ? न त्वा वृण मन्वे । अजीव इति किम् ? न त्वा श्वान मन्वे । न त्वा शृगाल मन्वे । अगर्हवाचित्वाद् युष्मदस्मददेरन्विभक्ती न भवति ।

संज्ञो भा ॥११४।२८॥ कर्मणीति वर्तते । सपूर्वस्य जानातेः कर्मणि भा भवति । मात्रा संजानीते । मातर संजानीते । पिता संजानीते । पितर संजानीते । “सप्रतेरस्मृतौ” [११२।४२] इति दः । वेति व्यवस्थित-विभाषाऽनुवर्तते । तेन दविषये भाविकल्पः । स्मृत्यर्थे मविधिः । तत्र मातुः संजानाति । मातर संजानाति । “स्त्रदर्पदयेता कर्मणि” [११४।२६] इत्यत्र ताविकल्प वक्ष्यति । कृत्प्रयोगे परत्वात् “कर्तृकर्मणोः कृति” [११४।६८] इति तैव भवति । मातुः संज्ञाता ।

कर्तृकरणे भा ॥११४।२९॥ कर्तरि करणे च कारके भाविभक्ती भवति । देवदत्तेन भुक्तम् । जिन-दत्तेन भुक्तम् । करणे—दात्रेण लुनाति । भेति वर्तमाने पुनर्भाग्रहणं किम् ? प्रकृत्यादिभ्यो यथा स्यात् । प्रकृत्याऽभिरूपः । प्रकृत्या दर्शनीयः । प्रायेण वैयाकरणः । काश्यपोऽस्ति गोत्रेण । समेन धावति । विरमेण धावति । द्विद्वेयेन धान्य क्रीणाति । पञ्चकेन पशून् क्रीणाति । सहस्रेण अश्वान् क्रीणाति ।

सहाधेन ॥११४।३०॥ योग इति मण्डूकफ्लुत्याऽनुवर्तते । सहशब्दार्थेन योगे भाविभक्ती भवति । प्रधानस्य मृदर्यातिरेकाभावादप्रधाने भवति । पुत्रेण सहागतः । पुत्रेण सह पिङ्गलः । पुत्रेण सह धनवान् । अत्र प्रधानाप्रधानयोः क्रियागुणद्रव्यसम्बन्धे सति सहयोगः । अर्थग्रहणं किम् ? पुत्रेण सार्द्धमागतः । पुत्रेण समम् । पुत्रेण साकम् । पुत्रेणामा । “तस्य द्रोणस्य संग्रामः सारणेन गदेन च । युगपत् कोपकामाभ्या मनीषिण इवाभवत्” । विनाऽपि सहशब्देन तदर्थसंप्रत्ययमात्रे च भवति । “अन्त्येनेताऽदिः” [१११।७३] अन्त्येन सह आदिरित्यर्थः । योग इत्येव । शिष्येण सहोपाध्यायस्य गौः । पुत्रेण सह स्थूलो ग्रामे । उपाध्याय शब्दस्य ग्रामशब्दस्य च नास्ति सहशब्देन योगः ।

येनाङ्गविकारेत्यम्भावौ ॥११४।३१॥ अङ्गविकारः शरीरविकृतत्वम् । अनेन प्रकारेण भवनमि-त्यभावः । कचिदेव छात्रादौ प्रकारे वृत्तिरित्यर्थः । येनाङ्गिनो विकार इत्यम्भावश्च लक्ष्यते ततो भाविभक्ती भवति । पक्ष्णा कायः । पाणिना कुणिः । पादेन खज्जः । इत्यम्भावेऽपि—भवान् कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीत् । मूलाया परिमाणमद्राक्षीत् । सहाधेनेत्यस्याविवक्षायांमिदं द्रष्टव्यम् । अङ्गविकारेत्यम्भावाविति किम् ? अन्ति वाणमल । वृत्ति प्रति विप्रोतते ।

हेतो ॥११४।३२॥ हेतावित्यर्थनिर्देशः । हेतावर्थे भा [च] भवति तद्वाचिनः । अन्नेन वसति । धानं खलम् । विषया पशः । इह लौकिकफलसाधनयोग्यः पदाथा हेतुर्दृश्यते । “तद्योजको हेतुः” [११२।१२६] एतत् पारिभाषिकस्य प्रयोगे तिद्धैव भा । उत्तरसूत्रे लविशेषेण हेतोर्ग्रहणं द्रष्टव्यम् ।

कर्तृकर्तरि ॥११४।३३॥ हेताविति वर्तते । कर्तृवर्जिते ऋणे हेतौ काविभक्ती भवति । भाषवा-दाऽप्यः । हताह्वः । सहसाह्वः । उत्तमर्णोऽत्र कर्ता । अकर्तरीति किम् ? वदस्त्वया देवदत्तः । नाऽहं ज्ञानि । शत मे धारयति । शतेन वदः । बन्धितस्त्वया देवदत्तः । नाऽहं बन्धयामि । शतं मे धारयति । शतेन वदः । वध देवदत्तेन शतेन बन्धितः । एकस्य हेतुकर्तृत्वमप्यस्य प्रयोज्यकर्तृत्वमित्यदोषः । वेति हेतोर्ग्रहणं । न हेतो वाऽपि भवति । वृत्तज्जादित्यन्त्यः । अनुपलब्धेर्नास्तीति ।

गुणे धीदत्तस्याऽस्त्वियाम् ॥११४।३४॥ हेताविति वर्तते । अन्तीलिङ्गे गुण्यं हेतो धीदत्तस्याचा-रिणेन भाविभक्ती भवति । अन्त्येना गतेन हेताविति भा । जात्याह्वः । जाड्येन वदः । पारिख्यात्यान्मुक्तः ।

पारिख्यात्येन मुक्तः । गुण इति किम् ? धनेन कुलम् । अस्त्रियामिति किम् ? बुद्ध्या मुक्तः ।

ता हेतौ ॥११४३५॥ हेताविति शब्दनिर्देशोऽयं हेत्वर्थस्य तु प्रकृतत्वात् । हेतुशब्दे प्रयुक्ते हेत्वर्थो ता भवति । अन्नस्य हेतोर्वसति । अव्ययनस्य हेतोर्वसति । भिक्षाया हेतोर्वसति । हेतुशब्दोऽपि हेत्वर्थे वर्तते । तस्मादपि ता । सामानाधिकरण्याद्वा ।

सर्वनाम्नो भा च ॥११४३६॥ हेतुशब्दे प्रयुक्ते सर्वनाम्नो भाविभक्ती ता च । केन हेतुना वर्तते । कस्य हेतोर्वसति । येन हेतुना वसति । यस्य हेतोर्वसति । पूर्वेषु तायामेव प्राप्तायामयमारम्भः । अथवा चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन निमित्तकारणप्रयोजनहेतुषु प्रयुक्तेषु सर्वासा प्रायो दर्शनमित्येतरलब्धम् । किं निमित्तं वसति । केन निमित्तेन वसति । कस्मै निमित्ताय वसति । कस्मान्निमित्तात् । कस्य निमित्तस्य । कस्मिन्निमित्ते वसति । एव कारणप्रयोजनहेतुप्रादाहार्यम् । प्रायोगहणादिभ्यः भवति ।

काऽपादाने ॥११४३७॥ अपादाने कारके काविभक्ती भवति । ग्रामादागच्छति । आचार्यादधीते । रथात् पतितः । केति योगविभागादन्यत्राऽपि भवतीति । तेनेदं बहु वक्तव्यं न भवति । “प्यवे कर्मणि का-वक्तव्या” [ वा० ] प्रासादमारुह्य प्रेक्षते । प्रासादात् प्रेक्षते । प्रासादाच्छ्रुति । “अधिकरणे प्यवे का-वक्तव्या” [ वा० ] आसने उपविश्य प्रेक्षते । आसनात् प्रेक्षते । शयनात् प्रेक्षते । “प्रश्नाख्यानयोश्च वा वक्तव्या” [ वा० ] किं देवदत्तो व्याकरणान् कथयति ? आख्याने—व्याकरणात् कथयति । “यतश्चाध्वकालपरिच्छेदमन्त का वक्तव्या” [ वा० ] गवेधुमतः साङ्कास्य चत्वारि योजनानि । कार्तिक्या आग्रहायणी माने । “कायुक्ताप पराध्वनो वा वेप् च वक्तव्ये” [ वा० ] गवेधुमतः साकास्य चत्वारि योजनानि, चतुर्षु योजनेषु ।

दिक्छब्दाऽन्याऽरादितरत्तेश्चुध्वाहियुक्ते ॥११४३८॥ दिक्छब्दः अन्य आगत् इतर ऋते अग्र्यु या आहि इत्येतैर्युक्तं काविभक्ती भवति । दिक्छब्द—इयमस्या पूर्वा । इयमस्या उत्तरा । शब्दग्रहणं किम् ? दिशि दृष्टो यः शब्दो देशकालवृत्तिनाऽपि तेन योगे यथा स्यात् । पूर्वा ग्रामात् । उत्तरा ग्रामात् । पूर्वा ग्रीष्माद्वसन्तः । अन्यदित्यग्रग्रहणम् । अन्यो देवदत्तात् । व्यतिरिक्तो देवदत्तात् । भिक्षो देवदत्तात् । अर्थान्तर देवदत्तात् जिनदत्तः । देवदत्ते मृदयातिरेकात् ताया प्राप्ताया वा विधीयते । आराचूशब्दो भिक्षजलो दूरंऽन्तिहे न वर्तते तत्रोगे “दूरान्तिकार्थेस्ता च [ ११४३९ ] इति आसिन् प्रातः काविभिः । आराद् गृहान् क्षेत्रम् । आराद् दत्तात् पीठम् । इतरो निर्दिश्यमानप्रतिपक्षार्थः । इतरो देवदत्तात् । ऋते इति भिक्षज्य पदम् । ऋते धमा कुतः मुखम् । अश्चयु । प्राग्रामात् । प्राची दिग्गमणीया । इत्येवमाप्यर्थं आगतस्य अस्मात्, “अन्तेरपु” [ ११४३९ ] इत्युप् । अस्य दिक्छब्देऽपि “ताऽतमर्थं त्येन” [ ११४३९ ] इति ता प्रागा तदपवादोऽयम् । आ दक्षिणा ग्रामात् । उत्तरा ग्रामात् । आहि । दक्षिणाहि ग्रामात् । उत्तराहि ग्रामात् । अस्मादर्थं “दक्षिणाद्वा [ ११४३९ ] ‘आहि च दूरे’ [ ११४३९ ] “उत्तरान्च” [ ११४३९ ] इति आग्रार्थं ल्यो । अत्रापि “ताऽतमर्थं त्येन [ ११४३९ ] इति ता प्रागा । “अवयवयोगे प्रतिषेधो वक्तव्यः” [ वा० ] पूर्वान्छब्दाभावाभा मन्वयस्व ।

ताऽतमर्थं त्येन ॥११४३९॥ वदयति दक्षिणोत्तरान्यामतम् । तन्ममानायनं त्येन युक्तं ता विभक्ती भवति । दक्षिणतो ग्रामस्य । उत्तरतो ग्रामस्य । उपरि ग्रामस्य । उपरिष्ठाद् ग्रामस्य । उपरिष्ठाद् ग्रामस्य । अतमर्थं निपातिता । पुरां ग्रामस्य । पुरस्ताद् ग्रामस्य । “पूर्वावगमगणां पुरस्तादपि [ ११४३९ ] “अस्तानि” [ ११४३९ ] इति च पुनश्चः ।

१ “गवेधुमतः” इत्यादि गवेधुमतः इत्यनन्तरम् अ० पुनर्देयान्ति । २ गवेधुमतः अ० । ३, उत्तरं ग्रामात् अ० ।

पृथग्विन्नानानाभिर्भा वा ॥ १।४।४१ ॥ पृथग्विना नाना इत्येतेर्युक्ते वा भाविभक्ती भवति ।

१. 'अप्यथा' स० । २. "प्रानो हू ना परयति" इति य० पुस्तके नान्ति ।

स्वामीश्वराधिपतिदायादसान्निप्रतिभूप्रसूतैश्च ॥१४१४७॥ स्वामिन् ईश्वर अधिपति दाया  
सान्निन् प्रतिभू प्रसूत इत्येतैरुक्ते तेपौ विभक्तयौ भवतः । गवां स्वामी । गोषु स्वामी । गवामीश्वरः । गोश्वी  
श्वरः । गवामधिपतिः । गोश्वधिपतिः । दायमादत्ते दायादः । “मे” [२।२।४] इति नियमादन्वस्मिन् गान  
प्राप्ते के अत एव निपातनात् कः । गवा दायादः । गोषु दायादः । गवा सान्नी । गोषु सान्नी । गवा प्रतिभू ।  
गोषु प्रतिभूः । गवा प्रसूतः । गोषु प्रसूतः । चकारः किमर्थः ? तेपोरनुवर्तनार्थः । अन्यथा पूर्वत्र चानुवृत्त्या  
ईपोऽनुवृत्तिर्न स्यात् । उत्तरसूत्रयोरपि चकारस्येदमेव फलम् । प्रसूतयोगे ईवेव प्रामा इतरैर्योगे ता प्राता ।

कुशलायुक्तेन चासेवायाम् ॥१४४८८॥ आसेवा मुहुर्मुहुः सेवा तात्पर्यं च<sup>१</sup> । कुशल प्रायुक्त  
इत्येताभ्या युक्ते आसेवाया गम्यमानाया तेषौ विभक्त्यौ भवतः । कुशलो विद्याग्रहणस्य । कुशलो विद्याग्रणे ।  
आयुक्तस्तपश्चरणस्य आयुक्तस्तपश्चरणे । आसेवायामिति किम् ? आयुक्तो गौः शकटे । आकृष्य गुरु  
इत्यर्थः । अधिकरणलक्षणेयमीप् ।

यतश्च निर्धारणम् ॥१॥४६॥ जानिगुणक्रियाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणम् । यतश्च निर्धारणं तत्तत्तेषां विभक्त्यै भवतः । मनुष्याणां त्रिविधः शूरतमः । मनुष्येषु त्रिविधः शूरतमः । नारीणां श्यामा दर्शनीयतमा । नारीषु श्यामा दर्शनीयतमा । अध्वगानां धावन्तः शीघ्रतमाः । अध्वगेषु धावन्तः शीघ्रतमाः । प्रपञ्चार्थमिदं समुदाये अवयवोऽन्तर्भूतः । अधिकरणविवक्षायां सिद्धा प्रत्ययसम्बन्धविवक्षायां तापि सिद्धा अत एवापादाने कापि भवति । गोभ्यः कृष्णा निर्धार्यते इति ।

विभक्ते का ॥१४॥१०॥ यतश्च निर्धारणमिति वर्तते । भिन्नजातीयात् समुदायाद्गुणादिना पृथक्करणं विभक्तनिर्धारणं तत्र का विभक्ती भवति । पूर्वेण तेषोः प्राप्तयोरयमपवादः । माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आह्वयतराः । दर्शनीयतराः । अयमस्मादधिकः । अयमस्माद्विलक्षणः । इदमपि प्रपञ्चार्थम् । पाटलिपुत्राणामाधिभावेन बुद्धिं प्राप्तानामपादानत्वमस्ति ।

साधुनिपुणेनाचार्यामीवप्रतेः ॥१४५१॥ साधु निपुण इत्येताभ्या युक्ते अर्चाया गम्यमानायामी-  
विवभक्ती भवति प्रतिशब्दस्याप्रयोगे । मातरि साधुः । पितरि साधुः । भ्रातरि निपुणः । पितरि निपुणः । तापना  
दोऽयम् । अर्चयामिति किम् ? साधुर्निपुणो वाऽमात्यो राजः । अत्रतेरिति किम् ? साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति ।  
प्रतिग्रहणमगितिवज्रनामभिपर्यन्तानामुपलक्षणम् । मातरमभि । मातरं परि । मातरमनु । कथयन्तः  
पितरि । अनिपुणो मातरि । प्रजाप्रयुक्तमाधुनिपुणप्रतिषेधोऽयम् । असमर्थस्यापि नन मर्तिवर्गिनि ।

प्रसितोत्सुकाभ्यां भा च ॥१।४।५२॥ प्रसित उत्सुक इत्येताभ्या युक्त भाविभक्ती भाति । ई  
च । केशैः प्रसितः । केशेषु प्रसितः । प्रसक्त इत्यर्थः । केशैरुत्सुकः । केशेषूत्सुकः । पक्षे भार्यमिदम् । ईश्वरिण्य  
त्वादेव सिद्धा ।

उसि भे ॥१।४।२३॥ ईवसुवर्तने भा च । उत्तिवपये भवाचिनि भेषौ विभक्त्यो भवतः । “भाय, क  
कालः” [३।२।४] इत्यागतस्याणः “उमभेदे” [३।२।५] इत्युसि कृते वदा भवाची शब्द काले वर्तते । तस्य  
तस्माद्भा च ईप् च भवत इत्यर्थः । पुष्पेण पायममश्रीयात् । पुष्पे पायममश्रीयात् । मर्माभि. पतनोदमन ।  
मघासु पललौदनम् । उसीति किम् ? मघासु ग्रहः । नात्र मघाराब्दः काले वर्तते । भ उति किम् ? पदातेः  
वसति । पञ्चालस्यापत्यानि पञ्चालाः तेषा निवाम. पञ्चाल. । निवाम्पयं आगनन्त्याणाः “अनगद उम”  
[३।२।६] इत्युम् । इह कस्मान्न भवति ? अयं पुत्रः । मिदैकार्यत्वात् । चण्डिकाया उयं स्थानम् ।  
ईवधिकारे मघारम्भसामर्थ्यात् । अत्रायपिस्मरणत्वादीव सिद्धा पते भार्ये वचनम् । य. विस्मरणेति । इति ।  
यथा स्यात्पा पचति तदेद प्रपञ्चार्थम् ।

मिडैकार्थं वा ॥११४।५४॥ मिडन्तेन पदेन एकार्थं वर्तमानान्मृदो वा विभक्ती भवति । गौश्ररति । कुमारी तिष्ठति । आदनः पच्यते । खारी मीयते । एकः । द्वौ । बहवः । इत्यत्रोक्तेष्वन्येकत्वादिषु वा भवतीत्युक्तप्रायम् । च वा ह उन्वैरित्येवमादिषु अनर्थकेषु च प्रादिषु मिडन्तेनकार्थत्वाभावेऽपि 'सुपो केः' [१।४।१२०] इति शपकाद्भवति । भावे वर्तमानेन मिडन्तेन स्वभावादन्येनेकार्थत्वं नास्ति । आत्यते देवदत्तेन । नन्वेकत्वादिविशिष्टेषु कर्मादिषु कर्मादिविशिष्टेषु वा एकत्वादेषु इत्यादिना नियमात् परिशेषात् वृत्तः सन्न इत्येवमादिषु वादिषु च "ह-याम्भृदः" [३।१।११] इत्यनेनैव वायाः सिद्धत्वादनर्थकमिदम् ? नानर्थकम् । एकद्विवहुवचनाना व्यतिकरनिवृत्त्यर्थं वायास्तायाश्च विषयभेदार्थं चेदम् । विसर्जनोयो विभाषा सन्देहनिवृत्त्यर्थम् ।

सम्बोधने बोध्यम् ॥११४।५५॥ सम्बोधनमभिमुखीकरणम् । सम्बोधने या वा तस्या बोध्यमित्येषा सजा । सम्बोधनेऽपि मिडैकार्थत्वमस्ति इति पूर्वेण वाविधानम् । हे देवदत्त आगच्छ । हे देवदत्तौ । हे देवदत्ताः । हे पचन् । हे पचमान । "सम्बोधने" [२।२।१०३] इति शत्रुशानौ । बोध्यसंज्ञाप्रयोजनम् "बोध्यमसहृत्" [२।३।२४] इत्येवमादि ।

एकः किः ॥११४।५६॥ बोध्यसंज्ञाया वाया एकवचन किंसंज्ञं भवति । हे कन्ये । हे वदो । किप्रदेशा "केरेहः" [४।३।५७] इत्येवमादयः ।

ता शेषे ॥११४।५७॥ कर्मादिकारकाणा अविवक्षा कर्मादिभ्योऽन्यो वा मृदार्थातिरेकः स्वस्वामिसंबन्धादिः शेषः । ता विभक्ती भवति शेषे अर्थविशेषे । नटस्य शृणोति । ग्रन्थिकस्य शृणोति । स्वस्वामिसंबन्धसमीप-समूहविकारावयवत्पानादयस्तार्थाः । राज्ञः स्वम् । मन्त्राणा राजा । देवदत्तस्य समीपम् । यवाना राशिः । यवाना धानाः । देवदत्तस्य हस्तः । गोः स्थानम् । शेषग्रहणं किम् ? इत्यादयो नियताः कर्मादयस्त्वनियतास्तेभ्यस्ता मा भूत् ।

ज्ञोऽस्त्वार्थे करणे ॥११४।५८॥ स्वार्थोऽवबोधनं तत्पर्युदस्यतो जानातेरस्त्वार्थं वर्तमानस्य करणे ताविभक्ती भवति । सर्पिषो जानीते । पयसो जानीते । सर्पिषा करणभूतेन अवेक्षते प्रवर्तते वा इत्यर्थः । "ज्ञोऽपहृत्वेः" [१।१।४] इति दविधिः । करणस्य शेषत्वविवक्षायामविवक्षाया च तैव भवति । अस्त्वार्थ इति किम् ? स्वरेण पुत्र जानाति ।

स्मर्यदयेशां कर्मणि ॥११४।५९॥ शेष इति वर्तते । स्मृ इत्यनेन समानार्थाना धूनां दय ईश इत्येतयोश्च कर्मणि शेषत्वेन विवेक्षते ता विभक्ती भवति । मातुः स्मरति । पितुः स्मरति । सर्पिषो दयते । सर्पिष ईष्टे । कर्मण्योति किम् ? मातुर्गुणैः स्मरति । शेष इत्येव । मातर स्मरति । यद्येव नार्थोऽनेन "ता शेषे" [१।४।५७] इत्येव सिद्धम् । लादेशे "न किं" [१।४।७२] इति प्रतिषेधोऽपि "कर्तृकर्मणोः कृति" [१।४।६८] इत्येतस्याः प्रातेरनन्तरत्वात् । नापि "प्रतिपदम्" इति सविधिप्रतिषेधार्थम् । नेयं प्रतिपदविधाना ता । वृत्तिरपि दृश्यते । अर्थानुस्मरणं धर्मानुचिन्तनम् । एव तर्हि कर्मणः शेषत्वेन विवेक्षितत्वादकर्मकत्वोपपत्तेर्लव्यक्तार्थाः भावे सिद्धा भवन्ति । मातुः स्मर्यते । मातुः स्मर्तव्यम् । सकर्मकविवक्षाया कर्मणि भवन्ति । माता स्मर्यते । माता स्मर्तव्या ।

प्रतियत्ने कृजः ॥११४।६०॥ करोतेः कर्मणि ताविभक्ती भवति प्रतियत्ने गम्यमाने । असतोऽर्थस्य प्रादुर्भावाय सतो गुणान्तराधानाय समीहा प्रतियत्नः । एधो दकस्योपस्कुरुते । काण्ड गुणस्योपस्कुरुते । "गन्धनाश्लेषः" [१।२।२७] आदिना दः । प्रतियत्न इति किम् ? कट करोति बुद्ध्या । शेष इत्येव । एधो दकमुपस्कुरुते ।

रुजर्थस्य भावधाचिनोऽज्वरिसन्ताप्योः ॥११४।६१॥ रुजर्थाना धूना भावकर्तृकाणा कर्मणि ता विभक्ती भवति ज्वरिसन्तापी वर्जयित्वा । चोरस्य रुजति रोगः । रुजर्थस्येति किम् ? एति जीवन्तमानन्दः ।

१. रोगः । वृषलस्यामयति रोगः । रुज—अ०, व०, स०

गत्यर्थोऽसौ । भाववाचिन इति किम् ? श्लेष्मा मधुराशिनं रुजति । अज्वरिसन्ताप्योरिति किम् ? आतून ज्वरयति ज्वरः । घटादित्वात् प्रादेशः । अत्याशिनं सन्तापयति ज्वरः । शेष इत्येव । चोर रुजति रोगः ।

**आशिपि नाथः ॥११४।६२॥** आशीःक्रियस्य नाथः कर्मणि ता विभक्ती भवति । सर्पियो नाथे । पयसो नाथते । सर्पिर्मे भूयात् इत्यर्थः । “आशिपि नाथः” इत्युपसर्ख्यानेन दविधिः । आशिपीति किम् ? माणवकमुपनाथति अङ्ग पुत्राधीष्वेति । शेष इत्येव । सर्पिर्नाथते ।

**जासनिप्रहणनाटकाथपिपां हिंसायाम् ॥११४।६३॥** जास निप्रहण नाट काथ पिप इत्येतेषां क्रिया-क्रियाणां कर्मणि ता विभक्ती भवति । “जस ताडने” इति चौरादिकः । चोरस्योज्जासयति । वृपलस्योज्जासयति । ‘जसु मोक्षण’ इत्येतस्य देवादिकस्याहिंसार्थत्वादग्रहणम् । जास इति कृतदीत्वोच्चारण किम् ? प्रादेशे मा भत् । दस्युमजीजसम् । निप्रहण इति निप्रयोः समुदितयोः व्यस्तयोर्विपर्यस्तयोर्ग्रहणम् । चोरस्य निप्रहन्ति । चोरस्य निहन्ति । चोरस्य प्रहन्ति । चोरस्य प्रणिहन्ति । नट अवस्यन्दने चुरादिः । चोरस्योन्नाटयति । दीत्वोच्चारण किम् ? दस्युमनीनयत् । “अथ क्रथ क्लथ हिंसार्थाः” “हेतुमति” [२।१।२४] इति णिच् । चोरस्योन्नाटयति । दीत्वं हि किम् ? दस्युमचिक्कथत् । घटादित्वेऽपि निपातनादुडः प्रादेशावाधनार्थं च । चोरस्य पिनाटि । वृपलस्य पिनाटि । हिंसायामिति किम् ? धानाः पिनाटि । शेष इत्येव । चौरं निहन्ति । रुजर्ववादेनेपामपीति चेदभावकर्तृकार्यं वचनम् । चोरस्योज्जासयति राजा ।

**व्यवहृणोः सामर्थ्यं ॥११४।६४॥** सामर्थ्यं समानार्थत्वं व्यवहृण इत्येतयोः सामर्थ्यं स्तुतिकर्मणि, ता भवति क्रयविक्रये द्यूते च सामर्थ्यम् । शतस्य व्यवहरते । सहस्रस्य व्यवहरते । सहस्रस्य पण्यते । ग्राय कस्मान्न भवति गुपादिभिः साहचर्यात् भौवादिकस्य स्तुत्यर्थस्य तत्र ग्रहणम् । इह तु तोदादिकस्यानुदात्तेतः । सामर्थ्यं इति किम् ? शलाका व्यवहरति । गणयतीत्यर्थः । देवान् पण्यति । शेष इत्येव । शत व्यवहरति । सहस्रं पण्यते ।

**दिवश्च ॥११४।६५॥** “व्यवहृणोः सामर्थ्यं” [१।१।६४] इति वर्तते । दिवश्च व्यवहृणाममाना र्थस्य कर्मणि ता भवति । शतस्य दीव्यति । सहस्रस्य दीव्यति । चकारः किमर्थः ? सामर्थ्यानुकर्षणार्थं । ननु विकारादेव सामर्थ्यग्रहणमनुवर्ततेऽन्यथा चानुकुष्टमुत्तरत्र च नानुवर्तते “वा गौ” इत्यत्र सामर्थ्यानुवृत्तिर्न स्यात्, अनुक्तसमुच्चयार्थस्तर्हि कचिदन्यस्यापि प्रयोगे यथा स्यात् । सप्ततृना पूर्णः । ओदनस्य तृतः । सामर्थ्यं इत्येव । साधून् दीव्यति ।

**वा गौ ॥११४।६६॥** सामर्थ्यं इति वर्तते । निपूर्वस्य दिवः कर्मणि वा ता विभक्ती भवति । शतस्य प्रदीव्यति । शतं प्रदीव्यति । सहस्रस्य प्रदीव्यति । सहस्रं प्रदीव्यति । इयं पूर्वेण ग्रामे विभाषा । ननु शेषां तापि भविष्यति इति व्यर्थमिदम् । एव तर्हि इदमेव शापकमनिपूर्वस्य शेषविपक्षा नास्ति इति । शापः दीव्यति । सामर्थ्यं इत्येव । शलाका प्रतिदीव्यति ।

**कालेऽधिकरणे सुजर्थं ॥११४।६७॥** कालेऽधिकरणे ता विभक्ती भवति सुजर्थं ते प्रयुक्ते । द्विरहोऽधीते । त्रिरहोऽधीते । पञ्चकृत्वोऽहो भुङ्क्ते । “संख्याया ध्वम्यावृत्तौ कृत्वम्” [४।१।२४] उच्यते । “द्विधिवनुभ्यं, सुच्” [४।१।२५] इति सुच् । काल इति किम् ? द्विः कागपात्र्या मुक्ते । अविमान इति किम् ? द्विरहो भुङ्क्ते । सुजर्थ इति किम् ? अहनि भुङ्क्ते । रात्रौ भुङ्क्ते । नन्वापि द्विः त्रिरिति गुणार्थं गम्यते । प्रयुक्तग्रहणं दूरादनुवर्तते तेन गम्यमाने सुजर्थं न भवति । शेष इत्येव । द्विरदवधीते ।

**कर्तृकर्मणोः कृति ॥११४।६८॥** कृति प्रयुक्ते कर्तरि कर्मणि च ता विभक्ती भवति । अनुक्तं कर्तृ वर्तते । भवत आत्मिका । भवत, शापिका । श्रीलङ्के भावे “पयोऽर्धार्णोऽप्यौ वृण्” [२।३।१७] इति वृण् ।

१. चोरस्य निप्रहन्ति इति व० पुस्तके नास्ति । २. व्यवहृणोः समान-अ० । ३. प्रविष्टि-यति च ।

यवाना लावकः । ओदनस्य भोजकः । विश्वस्य शता । तीर्थस्य कर्ता । वृत्तीति किम् ? ओदन पचति । ननु “न क्ति०” [१।४।७२] इत्यादिनाऽत्र प्रतिषेधो भविष्यति । एवं तर्हि हृति मा भूत् । कृतपूर्वी ऋट् । कृत पूर्वमनेन “इत्” [४।१।१६] “पूर्वात्” [४।१।२०] “सपूर्वात्” [४।१।२१] इतीन् । पुनः कर्मग्रहणादिह शेषस्य ग्रहणं नाभिसम्बध्यते ।

द्विप्राप्तौ परे ॥१।४।६६॥ पूर्वसूत्रविन्यासापेक्षया परशब्देन कर्माऽभिप्रेतम् । द्विप्राप्तौ कृति पर एव कर्मणि ता विभक्ती भवति न कर्तरि । आश्चर्यं गवा दोहोऽङ्गोपालकेन । रोचते मे ओदनस्य भोजनं देवदत्तेन । साधु खलु पयसः पानं जिनदत्तेन । द्वयोः प्राप्तिर्यस्मिन् कृतीति व्यधिकरणस्य वसत्याश्रयणाद् गिन्नं कृति नियमो न भवति । आश्चर्यमिदमतिथीना प्रादुर्भावः ओदनस्य च नाम पाकः । “अकारकारयोः प्रयोगे नेति वक्तव्यम्” [वा०] भेदिका देवदत्तस्य काष्ठानाम् । चिकीर्षा जिनदत्तस्य काव्यानाम् । अकारग्रहणेन निरनुबन्धकस्य “अस्यात्” [२।१।८४] इत्यस्यैव ग्रहणम् । “शेषे विभाषा” [वा०] अकारापापेक्षया शेषस्य स्तोत्रस्य ग्रहणम् । विचित्रा सूत्रस्य कृतिराचार्यस्य आचार्येण वा । केचिद्विशेषेणैवेच्छन्ति । विचित्रं शब्दानुशासनमाचार्यस्य आचार्येण वा ।

क्लृप्त्याधिकरणे ॥१।४।७०॥ अधिकरणे यः क्तस्तस्य प्रयोगे ता विभक्ती भवति । “अधिकरणे चाप्यर्थाच्च” [२।४।२६] इति अग्रथेभ्यो घिभ्यो गत्यथेभ्यश्च क्तो वक्ष्यते तस्य प्रयोगे “कर्तृक शोः कृति” [१।४।६८] इति ता प्राप्ता “न क्ति०” [१।४।७२] इत्यादिना प्रतिषिद्धा पुनः प्रसूयते । इदमेवार्थशतम् । इदमेवा भुक्तम् । इदमेवामासितम् । इदमेवा शयितम् । इदमेवा वृत्तम् । इदमेवा पराक्रान्तम् । एवमिति कर्तरि ता । अधिकरणस्य क्तेनोस्तत्त्वादिदंशब्दादीन् भवति । “अधिकरणे च” [२।४।५६] इत्यत्र चकारणं यथा प्रातः समुच्चियते । कर्तरि-इहेमे आसिताः । भावे-इह एभिरासितम् । शेषविवक्षायामिह एवमासितम् । एव सर्वत्र योज्यम् ।

भवति ॥१।४।७१॥ भवति काले विहितस्य क्तस्य प्रयोगे ता विभक्ती भवति । अयमपि प्रतिषेधापवादः । राजा मतः । राजा बुद्धः । सता पूजितः । “मतिबुद्धिपूजार्थाच्च” [२।२।१६६] इति सम्प्रतिकाले क्तः । शेषविवक्षाया यद्यपि ता सिद्धा तथापि कर्तृविवक्षाया भावाधनार्थमिदम् । सम्प्रतिकाले चकारेण लब्धेषु शीलितादिषु प्रयुक्तेषु ता नेष्यते । देवदत्तेन शीलितः । कथं मयूरस्य वृत्तं छात्रस्य हसितमिति ? शेषविवक्षयेदम् । कर्तरि तु मयूरेण वृत्तम् । छात्रेण हसितम् ।

न क्तिनलोकस्वार्थतृणाम् ॥१।४।७२॥ किं तल उ उक स्वार्थं तृन् इत्येतेषां प्रयोगे ता विभक्ती न भवति । “कर्तृकर्मणोः कृति” [१।४।६८] इति तायाः प्राप्तायाः प्रतिषेधोऽयम् । किं-कटं कृत्वा । कटं कर्तुम् । तदङ्गा-देवदत्तेन कृतम् । देवदत्तः कटं कृतवान् । ल-कटं कुर्वन् । कटं कुर्वणः । अनूपिवान् श्रीदत्तं धान्यसिंहः । कटं कारयामास । धर्मे दधिश्चतम् । “सहित्विद्वलिपतीनामिर्यङः” इत्यधिकृत्य धाङ्कुसुजनिर्निभ्यो लिट्प्रदित्युपसंख्यानानेन शीलादिष्वर्थेषु इरित्ययं लो भवति । कटं चिकीर्षुः । ओदनं बुभुक्षुः । कन्यामलङ्कारिष्णुः । उक-आगामुको वाराणसीम् । उकप्रतिषेधे कमेरप्रतिषेधः । दास्याः कामुकः । स्वार्थः—सुकरः कटो भवता । रुपानं पयो भवता । तृप्तिं प्रत्याहारः शत्रुशानावित्यत आरभ्य तृनो नकारेण । धान्यं पवमानः । अधीयन् जैनैन्द्रम् । “पट् यजो शानः” [२।२।१०६] इति शानः । “धारीडः शत्रुकृच्छ्रिणि” [२।२।१०८] इति शत्रुत्यः । कर्ता कटान् । वदिता जनापवादान् । शीलाग्र्यं तृप्तिं तृन् । “द्विप-शत्रुर्वा वचनम्” [वा०] चोरं द्विपन् । चोरस्य द्विपन् । “द्विषोऽज्ञौ” [२।२।१०६] इति शत्रुत्यः ।

वर्त्यत्यकस्य ॥१।४।७३॥ वर्त्यति काले विहितस्याकस्य योगे ता विभक्ती न भवति । कटं कारको भवति । ओदनं भोजको गच्छति । “वृणुमौ क्रियायाम्” [२।३।८] इति वृण् । वर्त्यतीति किम् ? ओदनस्य भोजकः । वर्त्यतीति विहितस्याकस्य ग्रहणादिह न भवति । वर्षशतस्य पूरकः । पुत्रपौत्राणां दर्शकः ।

आधमर्त्यं चेनः ॥१।४।७४॥ आधमर्त्यं वर्त्यति च काले विहितस्येनः प्रयोगे ता विभक्ती न



भवति । शतं दायी । सहस्र दायी । “आवश्यकधाधर्म्ययोर्णिन्” [२।३।१४६] इति णिन् । वर्त्यति । गमी ग्रामम् । आगामी नगरम् । “गम्यादिर्धर्त्यति” [२।३।१] इति वर्त्यतिकाले साधुत्वम् । आधर्म्ये चेन इति किम् ? अवश्यकारी कट्यस्य । आवश्यक्येऽर्थे कालसामान्ये णिन् ।

व्यस्य वा कर्त्तरि ॥१।४।७७॥ व्यस्यस्य प्रयोगे कर्त्तरि वा ता विभक्ती भवति । भवतः कटः कर्त्तव्यः । भवता कटः कर्त्तव्यः । कर्तृकर्मणोः कृतीति ता प्राप्ता विभाष्यते । कर्त्तरीति किम् ? गेयो माणवको गायानाम् । “भव्यगेयो” [२।४।५३] आदि सूत्रे कर्त्तरि गेयशब्दो निपातित । अत्र कर्मणि नित्य ता भवति । इह कस्मात्ता न भवति कष्टव्या ग्रामं शाखा देवदत्तेन । नेतव्या ग्राममजा देवदत्तेन । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेन “द्विप्राप्तौ परे” [१।४।६६] इत्यस्यास्ताया व्यप्रयोगे प्रतिषेध एव ।

भाऽतुलोपमाभ्यां तुल्यार्थः ॥१।४।७६॥ वेति वर्तते । तुलोपमाशब्दाभ्यामन्येतुल्यार्थः शब्द-युक्ते वा भाविभक्ती भवति । तुल्यो देवदत्तेन । तुल्यो देवदत्तस्य । पक्षे शेषलक्षणा ता । अतुलोपमाभ्या-मिति किम् ? नास्ति तुला देवदत्तस्य । उपमा नास्ति सत्कुमारस्य ।

अप् चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखहितार्थः ॥१।४।७७॥ वेति वर्तते । वा अन्विभक्ती भवति । आशिषि गम्यमानायाम् । आयुषो निमित्त स्यांगः । “निमित्तं संयागोत्पादौ” [३।४।३०] “योऽस्य परिमाणश्वादे.” [३।४।३८] इति यः । आयुष्य मद्र भद्र कुशल सुख हित इत्येवमर्थयुक्ते । आयुष्यमिद-मस्तु देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । चिरमस्तु जोवितं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । मद्र भवतु जिनशासनाय जिनशा-सनस्य वा । भद्रं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । कुशल साधुभ्यः । कुशल साधूनाम् । निरामय साधुभ्यः । निरामयं साधूनाम् । सुख साधुभ्यः । सुख साधूनाम् । शमस्तु साधुभ्यः । शमस्तु साधूनाम् । हित देवदत्ताय । हितं देवदत्तस्य । पथ्य देवदत्ताय । पथ्य देवदत्तस्य । पक्षे शेषलक्षणा ता । चकारः किमर्थः ? अर्थार्थेऽपि योगे यथा स्यात् । अर्थो देवदत्ताय । अर्थो देवदत्तस्य । प्रयोजन देवदत्ताय । प्रयोजन देवदत्तस्य । तापक्षे वृत्तिर्न भवति अगमकज्ञात् । न हि वृत्त्याऽऽशोर्गम्यते । आशिषीति किम् ? आयुष्य देवदत्तस्य । अत्र नाप् ।

प्राणितूर्यसेनाङ्गानां द्वन्द्व एकवत् ॥१।४।७८॥ प्राण्यङ्गानां तूर्याङ्गानां सेनाङ्गानां च द्वन्द्व एक-वद्भवति । एकार्थवद्भवतीति अर्थनिर्देशाद्विशेषणानामपि तद्वत्ता । पाणी च पादो च पाणिपादम् । दन्तोष्ठम् । शिरोग्रीवम् । यदि प्राण्यङ्ग प्राणिग्रहणेन गृह्यते “अप्राणिजातेः” [१।४।८२] इति प्रतिषेधे प्राप्त अथ न गृह्यते तदा “अप्राणिजातेः” इत्येव सिद्धे व्यतिकरनिवृत्त्यर्थं वचन प्राण्यङ्गानामन्येन द्वन्द्वो मा भूत् । तूर्यम्-मार्दङ्गिकाश्च पाणविकाश्च मार्दङ्गिकपाणविकम् । सेना-रथिकाश्च अश्वारोहाश्च रथिकाश्चारोहम् । रथिकपादातम् । “सेनाङ्गेषु बहुत्वे” [वा०] इति तेन रथिकाश्चारोहा । हस्त्यश्वादिषु पर्याप्तपशु विभाषा । यद्यप्यभिधानवशादिह समाहारे द्वन्द्वः, दधिपयग्रादिषु इतरैरन्योगे, तदमृगादिषु उभयत्र, तथापि तद्विषयविभागज्ञापनार्थमिदं प्रकरणम् ।

चरणानामनूक्तौ ॥१।४।७९॥ चरणं कडादिप्रोक्तोऽव्ययनिर्देशः । तत्रादा पुन्येध नेतृषु वा । तदेह गृह्यते । अनूक्तिरनुवादः । चरणानां द्वन्द्व एकवद्भवति अनूक्ता । स्थेगोर्नुदन्तयोः प्रमाणं चेन्मिष्यते । उदगात् कडकालापम् । प्रत्यङ्गात् कडकौशुमम् । अनूक्ताविनि किम् ? उदगुः कडकालापा । प्र-मोपदेशोऽयम् । कडेन प्रोक्तमधीयते कडाः । प्रोक्तार्थे “शौनकादिभ्यश्चुन्दमि णिन्” [३।३।१०] इति णिन् । तस्य “कडचरण (का सुप्)” इत्युप् । अन्वेतुविषयनाणः “उप प्रोक्तान्” [३।२।२४] इत्युप् । कड-पिना प्रोक्तमधीयते कालापाः । प्रोक्तार्थे “कडापिनोऽण्” । टिप्पणम् । परम्याणः “उप्रोक्तान्” [३।२।२४] इत्युप् । “अन्यो ब्राह्मणानि चाग्रे” [३।२।२६] इत्यन्वेतुविषयः ।

अध्वयुं कतुरनप् ॥१।४।८०॥ अध्वर्यमव्यञ्जि अध्वर्यवो वतुर्नद्वयः । अध्वर्य निपातनम् । अध्व-

कारस्य खम् । व्यजन्तस्य उश्च त्यः । अध्वर्युः कुरुरनपुसकलिङ्गो द्वन्द्वमेकवद्भवति । येषां क्रतूना यजुर्वेदशाखासु लक्षणं प्रयोगश्च शिष्यने पाधान्येन तेषामध्वर्युः क्रतूनामनपुसकलिङ्गाना द्वन्द्व एववद्भवति इत्यर्थः । अर्कश्च अश्वमेधश्च अर्काश्वमेधम् । सायाहातिरात्रम् । पौरुषीतिरात्रम् । अध्वर्युः कुरुरिति किम् ? पञ्चौदनदशौदनाः । इषुवजौ । उद्भिद्वलभिदौ । एते सामवेदवित्ताः । अनयति किम् ? राजपूत च वानपेय च राजस्यवाजपेये । इह कस्मान्न भर्गति दर्शपौरुषमासौ । दधिपयग्रादिषु द्रष्टव्यः ।

अधीत्याऽदूराख्यानाम् ॥१४८२॥ आख्या नामधेयम् । अधीत्या निमित्तभूतया अदूराख्यानां द्वन्द्व एकवद्भवति । पदमधीते पदकः । क्रममधीते क्रमकः । पदकक्रमम् । क्रमकवात्तिम् । पदाध्ययनस्यासन्नं क्रमाध्ययनम् । अधीत्येति किम् ? आत्यदरिद्रौ । अदूराख्यानामिति किम् । याज्ञिकवैयाकरणी । यशमधीते याज्ञिकः ।

अप्राणिजातेः ॥१४८३॥ अप्राणिजातिवाचिना द्वन्द्व एकवद्भवति । आराशन्ति । धानाशङ्कुलि । युगवरम् । अप्राणिग्रहण किम् ? गौपालिशालङ्कायनाः । गोच चरणे । सरेति जातिः । जातेरिति किम् ? हिमवद्विन्ध्यौ । नन्दकपाञ्चजन्यौ । सशशब्दा एते । नञ्सदृशसम्प्रत्ययेतुः । तेन द्रव्यजातीनामेतन्भावो न भवति । रूपरसगन्धस्पर्शाः । गमनागमने । जातेरविच्छाया न भवति । वदरामलकानि तिष्ठन्ति ।

भिन्नलिङ्गो नदीदेशोऽग्रामोऽपुरम् ॥१४८४॥ भिन्नलिङ्गाना नदीदेशवाचिनामग्रामाणामपुराणा द्वन्द्व एकवद्भवति । नदी-उद्दयश्चरावती च उद्दयेरावति । विपाट्चक्रभिदम् । गङ्गाशरणम् । देशाः-कुरवश्च कुरुक्षेत्रे च कुरुक्षेत्रेचम् । कुरुक्षेत्राङ्गलम् । दार्वाश्च अभिसार च दार्वाभिसारम् । काश्मीराभिसारम् । भिन्नलिङ्ग इति किम् ? गङ्गायमुने । मद्रकेकयाः । नदीदेश इति किम् ? कुङ्कुटमयूयां । अग्राम इति किम् ? जाम्बवश्च शालूकिनी च जाम्बवशालूकिन्यौ । ननु नयपि देश इति पृथग्रहण किमर्थम् ? शापकार्यं जनपदो देशोऽभिप्रेतो न नदीपर्वतादिः । तेनेह नैकवद्भावः । कैलासश्च गन्धमादन च कैलासगन्धमादने । अपुरमिति किम् ? लोके ग्रामग्रहणेन पुरमपि गृह्यते ततोऽपुरमिति प्रतिषेधः । मथुरापाठलिपुत्रम् । अग्राम इति प्रसज्यप्रतिषेधः । तेन यत्र पुरग्रामयोर्द्वन्द्वस्तत्रापि नैकत्वम् । नासौयकैतवौ पुरग्रामौ ।

क्षुद्रजीवाः ॥१४८५॥ इहाल्पशरीरः क्षुद्रः । क्षुद्रजीवाना द्वन्द्व एकवद्भवति । क्षुद्रजीवाश्रयो द्वन्द्व उपचारात् क्षुद्रजीवा इति निर्देशः । यूकालिङ्गम् । शतस्त्वश्च उत्पादकाश्च शतसत्पादकम् । दशमशकम् । “क्षुद्रजीवा अकङ्काला येषां त्वं नास्ति शोणितम् । नाञ्जलिर्यत्सहस्रेण केचिदानकुलादपि ॥” केचित् शब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । क्षुद्रजीवा इति बहुवचननिर्देशात् द्वित्वविषये नेदमिति यूकालिङ्गौ । दशमशकौ ।

येषाञ्च द्वेषः शाश्वतिकः ॥१४८६॥ द्वेषोऽप्रीतिः । येषां च द्वेषः शाश्वतिकस्तद्वाचिना द्वन्द्व एकवद्भवति । शाश्वतः शाश्वतिकः । “कालाट्टञ्” [३।२।१३१] इति ठञ् । निपातनादिकादेशः । “केनैनात्रे दिखम्” इति ख च न भवति । अहिनकुलम् । श्ववराहम् । “अन्यस्यापि” [४।३।२३२] इति टौत्वम् । शाश्वतिक इति किम् ? गौपालिशालङ्कायनाः । केनचिन्निमित्तेन कलहायन्ते । चकारोऽवधारणार्थः । अयमेव नित्य एकवद्भावो यथा त्यात् पश्वादिविभाषा मा भूत् । अश्वमहिपम् । कक्षोलूकम् ।

१. पा० नरामात्रे-“क्षुद्रजन्तुरनस्थि स्तादध वा क्षुद्र एव यः । नाञ्जलिर्यत्सहस्रेण केचिदानकुलादपि ।” २।४।८ । २. श्ववराहम् अ० ।

वर्णेनार्हद्रूपायोग्यानाम् ॥१।४।८६॥ वर्णेनार्हद्रूपस्यायोग्यास्तेषां द्वन्द्व एकवद्भवति । येन रूपेणार्हन्त्यमवाप्यते, तदिह नैर्ग्रन्थ्यमर्हद्रूपमभिप्रेतम् । अतिशयोपेतस्यार्हद्रूपस्य प्रातिहार्यसमन्वितस्य बहुतरमयोग्यमिति नेह तद् गृह्यते । तदायस्कारम् । कुलालवरुद्धम् । रजकतन्तुवायम् । नन्वेतेष्वन्येकवद्भावः प्राप्नोति । चण्डालमृतपाः । न दधिपयआदिष्वन्तर्भूतो द्वन्द्वो द्रष्टव्यः । वर्णेनेति किम् ? मूकवधिरा । एते करणदोषेणयोग्याः । अर्हद्रूपायोग्यानामिति किम् ? ब्राह्मणक्षत्रियौ ।

गवाश्वादीनि च ॥१।४।८७॥ गवाश्वादीनि च गणपाठे द्वन्द्वरूपाणि च एकवद्भवन्ति । गवाश्चम् । गवैडकम् । गवाधिकम् । अजाधिकम् । पशुविभाषा प्राप्ता । कुञ्जवामनम् । कुञ्जकैराक्तम् । पुत्रपोत्रम् । श्वचाण्डालम् । अद्वेपे-स्त्रीकुमारम् । दासीमाणवकम् । शाटीपिच्छिकम् । इदं जात्यविवक्षायां । उष्ट्रखरम् । उष्ट्रशशम् । पशु विभाषा प्राप्ता । मूत्रशकृत् । मूत्रपुरीषम् । यकुन्मेदः । मांसशोणितम् । इमानि जात्यविवक्षायां । दर्भशरम् । दर्भपूतीकम् । अर्जुनपुरुषम् । तृणोपलम् । एतेषां तृणविकल्पः प्रातः । दासीदासम् । कुटीकुटम् । भागवतीभागवतम् । एषा सरूपाणां लिङ्गमात्रकृतविशेषाणां निपातनाद् द्वन्द्वः । चकारोऽवधारणार्थः । गवाश्वादीनि पठितान्येवैकवद्भवन्ति नान्यथा । गोऽश्वौ । गोऽश्वम् ।

वा तरुमृगतृणधान्यव्यञ्जनपश्वश्ववडवपूर्वापरधरोत्तरपक्षिणः ॥१।४।८८॥ तरु-मृग तृणधान्य-व्यञ्जन पशु वेशेयग्राहिनामश्व-वडव-पूर्वापर-अधरोत्तर इत्येषा पक्षिविशेषाणां च द्वन्द्वो वा एकवद्भवति । प्लक्षन्त्यग्रोधम् । प्लक्षन्त्यग्रोधाः । आरण्या मृगाः । रुरुष्टपतम् । रुरुष्टपताः । कुशकाशम् । कुशकाशाः । ब्रीहियवम् । ब्रीहियवाः । दधिघृतम् । दधिघृते । ग्राम्याः पशवः । वृष्णिस्तभम् । वृष्णिस्तभाः । अश्वनजम् । अश्ववडवो । पर्यायनिवृत्त्यर्थं च अश्ववडवग्रहणम् । पूर्वापरम् । पूर्वापरे । अधरोत्तरम् । अधरोत्तरे । तित्तिरिकापिञ्जलम् । तित्तिरिकापिञ्जलाः । अत्रेष्टिः । “सेनाङ्गफलक्षुद्रजीवतरुमृगतृणधान्यपक्षिणां प्रकृत्यर्थमुत्तरे एकवद्भावः” [वा०] तेन रयिकाश्वारोहौ । बदरामलके । इदमेव जापकम् “अप्राणिजतेः” [१।४।८२] इत्यनं बहुवचनान्त एव विग्रहोऽभिप्रेतः । यूकालिहो । प्लक्षन्त्यग्रोधौ । रुरुष्टपतो । कुशकासो । ब्रीहियो । हसचक्रवाकौ । वेति योगविभागोऽयम् । द्वन्द्वमात्रे कृतो भवेत् । पूर्वो विधिस्तु नित्यार्थः तुल्यजात्यर्थं उत्तरः । इह मा भूत्—प्लक्षयवाः । हसष्टपताः ।

विरोधि चानाश्रये ॥१।४।८९॥ वेति वर्तते । आश्रयो द्रव्यं विरोधो येषामस्ति तद्वाचिनामनाश्रयाभिधायिना द्वन्द्व एकवद् भवति । विरोधीत्यामः खे कृते सौत्रो निर्देशः । सुखदुःखम् । सुखदुःखे । जननमरणम् । जननमरणे । शीतोष्णम् । शीतोष्णे । विरोधीति किम् ? कामक्रोधौ । अनाश्रय इति किम् ? मुग्धदुःखौ । शीतोष्णे उदके । चकारादविरोधेऽपि । वधूवरम् । वधूवरौ । स्थावरजङ्गमम् । स्थावरजङ्गमे ।

न दधिपयआदीनि ॥१।४।९०॥ दधिपयआदीनि द्वन्द्वरूपाणि नेकवद्भवन्ति । येन केनचित् प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम् । दधिपयसी । सर्पर्मन्थुनी । मधुसर्पिणी । व्यञ्जनत्वात् प्रातिः । ब्रह्मप्रजापती । गिरौ । वणौ । रुद्रद्विशास्त्रौ । परिव्राजककौशिकौ । प्रवर्ग्योपसदौ । वेतिप्रातिः । शुक्रकृष्णौ । इध्मासर्पिणी । निपातनात् पूर्वस्य दीलम् । योगानुव के । दीक्षानपसी । श्रद्धातपसी । अ ययननपमी । उन्मूलनममी । आयावसाने । श्रद्धामेवे । ऋक्सामे । वाट्मनमे । वेति योगविभागान् प्रातिः । चण्डालमृतपादयश्च ।

अर्थेतावत्त्वे च ॥१।४।९१॥ एतावत्त्वमिवत्ता । वृत्त्यवयवार्थानामेतावत्त्वे च द्वन्द्वो नैकाद्वर्त्तते । द्वादश मे मार्दङ्गिकपाणविका । चकारः प्रतिषेधानुत्कर्षणार्थः ।

वा समीपे ॥१।४।९२॥ नेति निवृत्तम् । अर्थानामेतावत्त्वस्य समीपे वा द्वन्द्व एकाद्वर्त्तते । गिरौ दन्तोष्ठम् । उपदशा दन्तोष्ठाः । एकवद्भावपक्षे हसोऽनुप्रसूते अन्यत्र वस । हसं “अतः” [१।४।११०] इति अ- सान्त- । वसे तु ट ।

स नप् ॥११४।६३॥ यस्यायमुक्त एकवद्भावः स नभवति । तथा चैवोदाहृतम् । गमाहा रे र्नो नप् भवतीति वक्तव्यम् । पञ्चाग्नि । पञ्चवायु । अकारान्तप्रकरणे “राक्” [३।१।२५] इति णिविधानं जापम् । अकारान्तोत्तरपदो रः स्त्रिया वर्तत इति । पञ्चपूली । पण्णगरी । “वाचन्त इति वक्तव्यम्” [वा०] पञ्चखट्वी । पञ्चखट्वम् । “स्त्रीगोर्नीचः” [१।१।८] इति प्रादेशः । “अन्नन्तस्य नखं मिर्या वा वृत्तिः” [वा०] पञ्चतक्षम् । पञ्चतक्षी । “पात्रादिभ्यश्च प्रतिषेधः” [वा०] पञ्चपात्रम् । त्रिभुवनम् । चतुर्भुगम् । पञ्चगवम् । दशगवम् । “गोरहृदुपि” [४।२।६४] इति टः सान्तः ।

हश्च ॥११४।६४॥ हसश्च नभवति । अधिति । उन्मत्तगङ्गम् । द्विमुनीदम् । “प्रो नपि” [१।१।७] इति प्रादेशार्थमनुप्रयोगार्थं च वचनम् । पूर्वपदार्थप्रधानस्यालिङ्गत्वं प्राप्तम् । अन्यत्राभिधेयवत्तिङ्गं प्राप्तम् । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन क्रियाविशेषणानां नपुंसकत्वं सिद्धम् । शोभन पचति<sup>१</sup> ।

पोऽनज्ज्यः ॥११४।६५॥ नज्ज्य यसञ्च वर्जयित्वा नभवतीत्येतदधिकृतं वेदितव्यम् । प इति पुल्लिङ्गेन निर्देशः सौत्रः । वाच्यप्रकरणादन्यत्र कामचारो वा वक्ष्यति । सेनासुराञ्छायाशालानिशा वेति । क्षत्रियसेना । क्षत्रियसेनम् । प इति किम् ? महती सेनाऽस्य महासेनः । अनजिति किम् ? असेना । अय इति किम् ? परमसेना ।

खौ कन्थोशीनरेपु ॥११४।६६॥ खुविषये कन्थान्तः षसो नभवति उशीनरेषु चेत् सा कन्था । सोसमीना कन्था सौसमिकन्थम् । आह्वरकन्थम् । आसमिकन्थम् । चर्मकन्थम् । एते उशीनरेषु ग्रामाः । विग्रहवाक्यं सादृश्यमात्रेण । खाविति किम् ? वीरणकन्था । उशीनरेष्विति किम् ? दक्षिकन्था । अन्यत्र ग्रामसञ्ज्ञेयम् ।

उपक्रामपक्रमं तदाद्युक्तौ ॥११४।६७॥ उपशायत इति उपज्ञा उपदेशः । उपक्रम्यत इति उपक्रमः प्रारम्भः । उपशोपक्रम इत्येवमन्तः षसो नभवति तयोपशोपक्रमयोराद्युक्तौ गम्यमानायाम् । स्वायम्भुवस्योपशो स्वायम्भुवोपशमाकालिकाचाराध्ययनम् । देवोपशमनेकशेषव्याकरणम् । कुरुराजस्योपक्रमः कुरुराजोपक्रमदानम् । अक्रम्योपक्रम स्वयवरविधानम् । उपशोपक्रममिति किम् ? आदिदेवतपस्या तीव्रा । तदाद्युक्ताविति किम् ? देवदत्तोपशो । देवदत्तोपक्रमो गणितम् । उत्तरपदस्य प्राधान्यवत्तिङ्गम् । प इत्येव । सम्यगुपशो भगवान् स्वायम्भुवो यस्येदमाकालिकाचाराध्ययनम् । वाक्येन तदाद्युक्तौ गम्यमानायामिदं प्रत्युदाहरणम् ।

छाया बहूनाम् ॥११४।६८॥ बहूना या छाया तदन्तः षसो नभवति । इक्षूणा छाया इक्षुच्छायम् । सलभच्छायम् । बहूनामिति किम् ? कुड्यस्य छाया कुड्यच्छायम् । कुड्यच्छाया । “सेनासुरा” [१।४।१०१] इत्यादिना विकल्पः । प इत्येव । बहवश्छाया अस्मिन्बहुच्छायो वनखण्डः ।

सभाऽराजामनुष्यात् ॥११४।६९॥ अराजः अमनुष्याच्च परा या सभा तदन्तः षो नभू भवति । अराजः । इनस्य सभा इनसभम् । ईश्वरसभम् । इन्द्रसभम् । पार्थिवसभम् । राजशब्दपर्युदासात् तत्पर्यायाणामत्र ग्रहणं न विशेषाणाम् । तेनेह न भवति । सातवाहनसभा । चन्द्रगुप्तसभा । अमनुष्यात्-रक्षसा सभा रक्षसभम् । पिशाचसभम् । अमनुष्यशब्दस्य च रक्षःप्रभृतिष्वेव रूढत्वादिह न भवति । काष्ठसभा । पापाणसभा । पक्षेष्टकसभा । यत्रेवं “टगमनुष्ये” [२।२।५०] इत्यत्र कथम् । जायाघ्नस्तिलकः । पित्तघ्नं एतम् । “युड्या बहुलम्” [२।३।६४] इति बहुलवचनात्तत्रान्यस्यापि ग्रहणम् । “अराजामनुष्यात्” इति किम् ? राजसभा । देवदत्तसभा । प इत्येव । ईश्वरा सभाऽस्य ईश्वरसभः ।

अशाला ॥११४।७०॥ अशाला च या सभा तदन्तः षो नभवति । गोपालसभम् । दासीसभम् । स्त्रीसभम् । अत्र समुदाये सभाशब्दः । अशालेति किम् ? देशिकसभा ।

सेनासुराच्छायाशालानिशा वा ॥१।४।१०१॥ सेना सुरा छाया शाला निशा इत्येवमन्तः पो वा नभवति । देवाना सेना देवसेनम् । देवसेना । पिष्टसुरम् । पिष्टसुरा । कुड्यच्छायम् । कुड्यच्छाया । गोशालम् । गोशाला । श्वनिशम् । श्वनिशा । चोरनिराम् । चोरनिशा । प इत्येव । सूरसेनो राजा । अनज्य इत्येव । असेना । परमसेना ।

द्वन्द्वे द्युवल्लिङ्गम् ॥१।४।१०२॥ द्वन्द्वे सेञ्चोरिष लिङ्गं भवति । इतरेतरयोगद्वन्द्वस्येह ग्रहणम् । तत्र सर्वेप्रामवयवाना प्राधान्यात् पर्यायेण समुदायलिङ्गे प्राप्ते वचनम् । कुक्कुटमयूर्वाविमे रमणीये । मयूरी कुक्कुटाविमौ । यथा “हश्च” [१।४।१४] इति नपुंसकलिङ्गातिदेशः सधातस्य भवति न चावयवस्य निवर्तकः । अधिस्त्रि । अधिकुमारीति । एवमहापि समुदाये लिङ्गातिदेशोऽनुप्रयोगार्थं क्रियमाणो नावयवस्य स्त्रीत्यस्य निवर्तकः । पसस्य द्युवल्लिङ्गातिदेशो न वक्तव्यः । विशेष्यवल्लिङ्गवचनानि भवन्ति विशेषणानामित्यनेन सिद्धत्वात् । द्युवर्थस्य तु विशेष्यत्वात् प्राधान्यम् । अर्द्धपिप्पली । अर्द्धकौशातकी शोभना । यत्र पूर्वपदार्थः प्रधानं ता पूर्ववल्लिङ्गमेव । यथा “प्राप्तापन्नालम्पूर्वतिसलक्षणेपु” । प्राप्तो जीविका प्रातर्जीविकः । आपन्नजीविकः । अल जीविकायै अलजीविकः । “निरादयः क्रान्ताद्यर्थं कथा” [वा०] निष्क्रान्ता कौशाम्ब्या निष्कौशाग्निः । हृदये रसस्य अन्यपदार्थप्राधान्यादभिधेयवल्लिङ्गम् । पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पञ्चकपालः पुरोडासः ।

अश्ववडवौ पूर्ववत् ॥१।४।१०३॥ अश्ववडवयोरितरेतरयोगे पूर्ववल्लिङ्गं भवति । अशश्च वडवा च अश्ववडवौ । समुदाये लिङ्गातिदेशोऽनुप्रयोगार्थं पूर्ववल्लिङ्गनिवृत्तिर्नास्तीत्युक्तम् । कथं टपो निर्गुत्तिः । अश्ववडव इति निपातनात् । पूर्ववदिति किमयम् ? अर्थातिदेशार्थम् । अश्ववडवावित्युच्यमाने वचनान्तरे न स्यात् । अश्ववडवान् पश्य । अश्ववडवैः कृतम् ।

राजाहो पुंसि ॥१।४।१०४॥ राजअहशब्दौ कृतसन्तौ निर्दिष्टौ एतौ पुंसि भवतः । द्वयो रान्योः समाहारः द्विराजः । “अहःसर्वकदेशमंस्त्यात्पुण्याच्च राज्ञेः” [४।२।८६] इत्यः सान्तः । पूर्वमहः पूर्वाहः । अपराहः । “पूर्वापरप्रथम” [१।३।१३] इत्यादिना पमः । “राजाहःसखिभ्यष्टः” [४।२।१३] इति टे कुटो “एभ्योऽहोऽहः” [४।२।१०] इत्यहादेशः । उत्तरपदप्राधान्यात् स्त्रीनपुंसके प्राप्ते ।

अहः ॥१।४।१०५॥ अह इत्ययं शब्दः पुंसि भवति । द्वयोरहो समाहारः द्वयहः । व्यहः । “न समाहरे” [४।२।११] इत्यहादेशप्रतिषेधः । टिलम् । “अनुवाकादयश्चेति वक्तव्यम्” [वा०] अनुवाकः । सम्प्रवाकः । सूक्तवाकः ।

पुण्यसुदिनाभ्यां नप् ॥१।४।१०६॥ पुण्यसुदिनाभ्यां परः अहशब्दो नभवति । पुण्यमहः पुण्याहम् । पुण्यग्रहणं सूत्र उपलक्षणम् । एकाहमिति च भवति । विशेषणसर्वाविः । “पुण्यैकाभ्याम्” [४।२।१०] इति अहादेशप्रतिषेधः । सुदिनमहः सुदिनाहम् ।

अपथम् ॥१।४।१०७॥ अपथं शब्दो नभवति । न पन्थाः अपथम् । “पथो घा” [४।२।१८] इति प्रतिषेधः विकल्पः । “ऋक्पृथू पथोऽनक्षे” [४।२।१००] इति अमान्तः । प इत्येव । न विपते पन्था असिन् अययो देशः । अगथा अटवी । “ऋषिंछादेरेति वक्तव्यम्” [वा०] उत्पथम् । “तिङ्गप्राप्तप” [१।३।८१] इति पठः । त्रिपथञ्चतुःपथमिति तासः ।

पुंसि चाधर्वा ॥१।४।१०८॥ अर्धर्चादयः शब्दाः पुंसि नपि च वेदितव्याः । अर्धे च ता ऋक् च सार्धर्चः । अर्धचन् । गोमयकृपायकार्पायणकुतपकृताटशङ्खादिपाठादवगमः कर्तव्यः ।

“शब्दरूपाश्रया चेत्यं प्रणीतोभयानिहता । काचिदप्यर्थमेदेन शब्देप व्यतिष्ठते ॥”

पञ्चराष्ट्रशब्दौ निधिवचनौ पुल्लिङ्गौ । जनत्रे द्विलिङ्गौ । भूतशब्दः प्राणिनि द्विलिङ्गः । त्रिपाशब्दः स्त्रीभिधेयवल्लिङ्गम् । मैत्रवगशब्दो लवणे द्विलिङ्गोऽन्यत्राभिधेयवल्लिङ्गः । सारशब्दोऽन्याद्यर्थे नपुंसकलिङ्गः । उत्कर्षेऽर्थे पुल्लिङ्गः । धर्मशब्दोऽपूर्वे पुल्लिङ्गः । तत्पञ्चने नपुंसकलिङ्गः ।

अगे ॥११४१०६॥ अगे इत्ययमधिकारो वक्ष्यते । “हनो वष लिटि” [११४११४] इति ।  
वध्यात् । वध्यास्ताम् । वध्यासुः । “अतः खम्” [११४१५०] इत्यकारस्य खम् । अग इति किम् ?  
हत्यात् । अग इति विषयनिर्देशः । आदेशो कृते यो यतः प्राप्नोति स ततो यथा स्यादित्येवमर्थः । आख्ये-  
यम् । भव्यम् । प्रवेयम् । परनिर्देशो हि एयः प्रसज्येत ।

लिकित्प्येऽदो जग्धिः ॥११४११०॥ तकारादौ किति प्ये चागे परतोऽदेर्जग्धिरादेशो भवति ।  
जग्धा । जग्धिः । जग्धवान् । इकार उच्चारणार्थः । “तथोर्ध्वोऽधः” [११३१५६] इति तकारस्य धत्वम् ।  
“भूर्ल जश् भृशि” [५१४११२८] इति धकारस्य दत्वम् । “भूरो भूरि स्वे” [११४११३६] इति दत्वम् ।  
कथमन्तम् ? “अदोऽनन्ते” [२१२१६०] इति निपातनात् । प्ये—प्रजग्ध्य । “अनल्विधौ” [११११५६]  
इति स्थानिवद्भावो नास्ति । इदमेव ज्ञापकम् “एकपदाक्षयत्वेनान्तरङ्गानपि जग्ध्यादिविधीन् बहिरङ्गः  
प्यादेशो बाधते” [५०] तेन प्रधानेत्यत्र हित्व न भवति । प्रखन्येति “जनसनसनाम्” [४१४१४३] इति  
नित्यमात्वं न भवति । प्रदायेति “दो दद्धोः” [१२११४८] इति दत्त्व नास्ति । प्रस्थायेति “शतिस्यत्ति-  
मास्या” [१२११४४] इत्यादिनेत्वं नास्ति । प्रशाम्येति “डस्य किम्बलोः” [४१४११३] इति दीत्व नास्ति ।  
प्रपृच्छ्य प्रदीन्येति शूठौ न भवतः । प्रपठ्येति इडभावः ।

घस्तृ लुङ्घञ्सनन्तु ॥११४१११॥ अर्देर्घस्तृ इत्ययमादेशो भवति लुङि घञि सनि अचि च  
परतः । लुङि—अघसत् । अघसताम् । अघसन् । घञि—घासः । सनि । जिघत्सति । अजिति  
पचाद्यचः [२१११०६] “गावदः” [२१३१५३] इत्यस्य च सामान्येन ग्रहणम् । प्राप्तिः प्रादनं  
वा प्रघवः ।

लिटि वा ॥११४११२॥ लिटि परतः अर्देर्घस्तादेशो भवति वा । जघास । जघतुः । जन्तुः । आद ।  
आदतुः । आदुः ।

वेजो वयिः ॥११४११३॥ वेजो वयिरादेशो लिटि वा भवति । इकार उच्चारणार्थः । उवाय ।  
ऊयतुः । ऊयुः । णलि “चत्थैर्वा लिटि” [४१३११३] इति वकारस्य जिः । “लिटि वेजो यः” [४१३१३२]  
इति यकारस्य जिप्रतिषेधे “हलोऽनादेः” [५१२१६१] इति खम् । अतुसि उसि च “वचिस्वपियजादीनां  
किञ्चि” [४१३१११] इति जिः प्राप्तः । “प्ये च” [४१३१३४] इति प्रतिषिद्धिः । “वो वा किति”  
[४१३१३३] इति विभाषया प्राप्तः । “ग्रहिज्यावयि” [४१३११२] इति नित्यो जिर्भवति । यदा न वयिस्तदा  
“प्ये च” [४१३१३४] इति जिप्रतिषेधे—ववौ । द्विवहोः “वो वा किति” [४१३१३३] इति जिपदे—  
ऊवतुः । ऊवुः । जौ कृते द्वित्वे च “वाणाद्गावं घलीयः” [५०] इति उवादेशो कृते “स्वेऽको” [४१३१८८]  
दीत्वम् । अजिपदे—ववतुः । ववुः ।

हनो वष लिङि ॥११४११४॥ हन्तेर्वष इत्ययमादेशो भवति लिङ्यगे परतः । वष इत्यदन्तः  
उदात्तरचादेशः । वध्यात् । वध्यास्ताम् । वध्यासुः । अखस्य स्थानिवद्भावादवधीरित्यत्र हलन्तलक्षणः  
“अतोऽनादेर्घः” [११११८३] इत्यैष न भवति । इह वेति न स्मर्यते । वषक इति प्रकृत्यन्तरस्य ।

लुङि ॥११४११५॥ लुङि परतो हन्तेर्वष इत्ययमादेशो भवति । अवधीत् । अवधिषाम् । अव-  
धिषुः । उत्तरत्र वानिर्देशादिह नित्यो विधिः ।

वेङि ॥११४११६॥ इङि लुङि परतो हन्तेर्वषादेशो वा भवति । आवधिषत् । आवधिषाताम् ।  
आवधिषत । आहत । आहताम् । आहसत । “लाडो यमहनः” [११२१२३] इति दविधिः । “हनः सिः”  
[११११८८] इति सेः क्त्वम् । कर्मणि—अवधि । अवधिषाताम् । अवधिषत । जिवद्भावे अपानि ।  
अपानिषाताम् । अपानिषत ।

लुङ्-एत्योर्गाः ॥११४११७॥ लुङि परतः एत्योर्गा इत्ययमादेशो भवति । अगात् । अगाताम् । अगुः । अध्यगात् । अध्यगाताम् । अध्यगुः । “स्येण्वि” [११४११८६] इत्यादिना “इण्वदिकः” इति च सेव् । “आतः” [२१४१६०] इति भेजुष् । पुनर्लुङ्ग्रहणमिष्यपि नित्यार्थम् । अगायि भवता । अध्यगायि भवता । गात्रमिति गायतेः ।

णौ गमज्ञाने ॥११४११८॥ णो परत एत्योर्गमित्ययमादेशो भवत्यज्ञानेऽर्थे । गमयति । गमयतः । गमयन्ति । अनेकार्थत्वादिकोऽप्यज्ञाने वृत्तिः । अधिगमयति । अधिगमयतः । अधिगमयन्ति । “उडोऽतः” [५१२१४] इत्यैप् । “जनीजृपक्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च” इति मित्वम् । “जिणमोर्दीमिताम्” [४१४८६] “ऽः” [४१४८७] इति प्रादेशः । अज्ञान इति किम् ? अर्थान् सप्रत्याययति ।

सनि ॥११४११९॥ सनि च परत एत्योरज्ञानेऽर्थे गमित्ययमादेशो भवति । जिगमिपति । अधिजिगमिपति । “गमेरिण्वे” [५१११०६] इतीट् । अज्ञान इत्येव । अर्थान् प्रतीषिपति । अच इति वर्तमाने “सन्त्यडोः” [४१३८८] इति द्वितीयस्यैकाचो द्वित्वम् । योगविभाग उत्तरार्थः ।

इडो ॥११४१२०॥ सनि परत इडो गमित्ययमादेशो भवति । अधिजिगासते । इडिकावविगि न व्यभिचरतः । “हनिङ्गम्यचां सनि” [४१४१९४] इति दीत्वम् ।

गाड्-लिटि ॥११४१२१॥ इडो गाडित्ययमादेशो भवति लिटि परतः । अधिजगे । अधिजगाते । अधिजगिरे । “सेह्यपिच्च” [२१४१७४] इति ज्ञापकादेशस्य डित्त्वे गाडो डित्करण किमर्थम् ? “गाडुडा-देरणिण्डित्” [१११७५] इत्यत्र विशेषणार्थः । गायतेग्रहण मा भूत् । अगासीद्वाथकः इति ईत्वं प्रसज्येत ।

लुङ्लुङोर्वा ॥११४१२२॥ लुङ्लुङोः परत इडो वा गाडदेशो भवति । लुङि—अध्यगीपत । अध्यगीपाताम् । अध्यगीपत । “गाड् कुटादेः” [१११७५] इति डित्वं “मुसास्थागा” [४१४१६५] इत्यादि-नेत्वम् । पक्षे अघ्यैट् । अघ्यैपाताम् । अघ्यैपत । लुङि—अध्यगीप्यत । अध्यगीप्येताम् । अघ्यगीप्यन्त । पक्षे अघ्यैप्यत । अघ्यैप्येताम् । अघ्यैप्यन्त ।

णौ सन्कचोः ॥११४१२३॥ णो सन्करे कचपरे च परतः इडो वा गाडेशो भवति । अघ्यापियु मिच्छति अधिजिगापयिपति । “प्रकल्प्यापवावृषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते” [५०] इति गाटादेशपक्षे “क्रीड्जेयो” [४१३४१] इत्यात्वं न भवति । अन्यत्र अघ्यापिपयिपति । “अचः” [४१३२] इति द्वितीयस्यैकाचो द्वित्वम् । कचपरे—अध्यजीगपत् । अन्यत्र अघ्यापिपत् । माट्-योगे - मा भवान-यापिपदिति भवति । “णौ कच्युडः” [२१२११५] इति प्रादेशे कृते द्वित्वम् । कथं जायते ? ओणुनेः ऋदित्करणे जायते यदि द्वित्वं प्रागेव स्यात् ओण उकारस्यानुद्भूतत्वात् प्रादेशप्रतिषेधार्थे ऋदित्करणमनर्थकं स्यात् ।

अस्तिव्रजोर्भूवची ॥११४१२४॥ अस्तिव्रजित्येतरयोर्व्यासङ्ग्यं भूवचि इत्येतादृशो भवति । भविता । भवितुम् । भवितव्यम् । अस्तीति तिग निर्देशः किमर्थः ? यस्य केनलस्य अस्तीति रूपं तस्य यथा स्यात् अनुप्रयोगस्य लिट्परस्य मा भूत् । ईदमास । व्रन् । वक्रा । वक्तुम् । वक्तव्यम् । वक्तेरिति उच्चारणार्थः । स्थानिवद्भावाद् । ऊचे ।

चत्तः स्शात्र् ॥११४१२५॥ चत्तः न्याजित्ययमादेशो भवति अगे । आग्याता । आग्याता । “स्शा.शो यो वा” [१४११२४] इति वा वकारादेशः । पर्याग्यानमित्यत्र स्शादेशेऽन्तामिड्-भावात् ऽशोः व्यवहित्वात् “कृम्यचः” [४१४१०८] इति गुत्वं न भवति । न्याजिवद्भावेन “उनुदन्तेवो ऽ” [११२१६] इति निच दो मा भूत् इति निच म्रियते ।



न वर्जने ॥१४१२६॥ वर्जनेऽर्थे चक्षुः रक्षाजदेशो न भवति । गा सचक्षुः । वर्जयित्वेत्यर्थः ।  
कण्टकाः सचक्षुः । नेति योगविभागादसि युचि च प्रतिषेधः । नृचक्षाः राक्षसः । विचक्षणः ।

वां लिटि ॥१४१२७॥ लिटि परतो वा चक्षुः रक्षाजदेशो भवति । आचक्ष्यौ । आचक्ष्ये ।  
आचक्ष्वे । पूर्वेण नित्ये प्राप्तेऽयमारम्भः ।

व्यजोऽघञचोः ॥१४१२८॥ अजेषोः वी इत्ययमादेशो भवति अघञचोः परतः । अनुदातोऽ  
यमादेशः । प्रवेता । प्रवायकः । अघञचोरिति किम् ? समाजः । उदाजः । समजः । उदजः । “पशुप्वज-  
समुदोः” [२।३।५६] इति पशुविषयेऽच् । अन्यत्र घञ् । अजिति सामान्यगहणं तेन पचादिलक्षणेऽप्यचि  
प्रतिषेधः । अजतीत्यजः ।

चहुलं खौ ॥१४१२९॥ खुविपये बहुलमजेवीभावः । प्रवयणो दण्डः ( प्राजनः । ) बहुलग्रहणा-  
द्युबलादौ च विकल्पः । प्रवेता । प्राजिता । प्रवेतुम् । प्राजितुम् । प्रवयणम् । प्राजनम् । अजिरमित्यौ-  
णादिकः शब्दः । समज्या । “समजनिषद्” [२।३।८१] इत्यादिना क्यप् । अत्र बहुलवचनान्न भवत्येव ।

जिण्यराजार्पाद्युवणिजोः ॥१४१३०॥ जिदन्तात् एयन्तात् राजविशेषवाचिवृद्धात् ऋष्यण-  
न्ताच्च पर्योरणिजोः यूनि उच् भवति । जितः-तिकत्यापत्य वृद्धं तैकायनिः । तैकायनेरपत्यं प्राग्दोरण उपि-  
तैकायनिः पिता तैकायनिः पुत्रः । विदस्यापत्य वैदः । वैदस्यापत्यं युवा इज उपि वैदः पिता वैदः पुत्रः । एयः ।  
कुरोरपत्य कौरव्यः । “कुर्वादेर्यः” [३।१।१३६] इति एयः । कौरव्यस्यापत्य इज उपि कौरव्यः पुत्रोऽपि ।  
इहोवचनसामर्थ्यात् कौरव्यशब्दादिज् । तिकादौ पाठात् फिजपि भवति । कौरव्यायणिरिति । राजः स्वफलकस्या-  
पत्यं स्वाफलकः । “कुर्वन्त्यन्धकृष्ट्ये” [३।१।१०३] इत्यण् । तदन्तादिज उपि स्वाफलकः पिता । स्वाफलकः  
पुत्र । एव कलिङ्गस्यास्य कालिङ्गः । “द्वयज्मगाधकलिङ्गसूरमसादण्” [३।१।१५२] इत्यण् । तदन्तादिज  
उपि कालिङ्गो युवाऽपि । इह पाञ्चालः पिता पाञ्चालः पुत्रः इति । “जितः” इति वा “राजः” इति वा उप् ।  
आर्पात् । वाशिष्ठरागपत्यं “कुर्वन्त्यन्धकृष्ट्ये” [३।१।१०३] इत्यण् । वाशिष्ठः । तदन्तादिज उपि वाशिष्ठः  
पुत्रोऽपि । जिण्यराजार्पादिति किम् ? कुहडस्यापत्य कौहडः । “शिवादिभ्योऽण्” [३।१।१०१] इत्यण् ।  
तस्याप्यस्य कौहडिः । यूनिति किम् ? वामरथस्यापत्यं वामरथः । “कुर्वादेर्यः” [३।१।१३६] । तस्य  
शिष्या वामरथाः । वामरथस्य “शकलादिवच्” इत्यतिदेशात् “शकलादिभ्यो वृद्धे” [३।२।८७] इति  
शैषिकोऽण् “क्यच्चयना” [४।४।१४१] इत्यादिना यत्तम् । अणिजोरिति किम् ? दक्षस्यापत्य दाक्षिः ।  
दाक्षेरपत्य दाक्षायणः ।

पैलादे ॥१४१३१॥ पैलादेः परस्य युवत्यस्योच् भवति । पीलाया अपत्यं पैलः । “पीलाया वा”  
[३।१।१०७] इत्यण् । पैलस्यापत्य “द्वयचोऽण्” [३।१।१४३] इति फिज् । तस्योप् । पैलः पुत्रोऽपि ।  
अन्य इजन्तास्तेभ्यः परस्य कण् “प्राचामिजोऽतौल्वलिभ्यः” [१।४।१३२] इति प्राप्ते उपि अप्रागर्थमिदम् ।  
पैलः सालङ्गि । सात्यकिः पिता । सात्यकिः पुत्रः । सात्यकामिः । औदक्षिः । बाह्यादिषु उदञ्चुशब्दः सनकारः  
पठ्यते । औदमज्जि । औदमज्जि । औदमेविः । औदशुद्धिः । दैवस्थानिः । पैङ्गलायनिः । राणायनिः ।  
शैरुदिति । भौलिङ्गि । राजाऽयं शाल्वावयवः । सौमिनि । औद्गार्हमानिः । औज्जिहानिः । औज्जहा-  
दिभिः । द्विसहायणः परस्य युवत्यस्योप् । आङ्गः । “द्वयचोऽण्” इति फिज् । तस्योप् । आकृतिगणोऽ  
यम् । तेन बौविज्जवालौ औदमज्जि एतेभ्यः शाल्वावयवत्वादिज् । भाडीजड्धिः इत्यादि द्रष्टव्यम् ।

प्राचामिजोऽतौल्वलिभ्यः ॥१४१३२॥ प्राचा वृद्धे य इज् तदन्ताद्युवत्यस्योच् भवति तौल्वलि-  
भ्यन्तीन् वर्जयित्वा । पानागारिः पिता । पानागारिः पुत्रः । मान्यरेपणिः पिता । मान्यरेपणिः पुत्रः ।



क्षैरकलम्भिः पिता । क्षैरकलम्भिः पुत्रः । “यज्जिजोः” [३।१।१०] इत्यस्य फण उप् । प्राचामिति किम् । दाक्षिः पिता । दाक्षायणः पुत्रः । अतौत्वलिम्भ्य इति किम् । तौत्वलिः पिता । तौत्वलापनः पुत्रः । तौत्वलिः । धारणिः । स्वालिम्भिः । दैलीपिः । दैवतिः । दैवमित्रिः । दैवमतिः । दैवयजिः । प्राडाहिनिः । मांघातकिः । आनुराहतिः । बाहादिरयम् । आनुतिः । आहिंसिः । आसुरिः । नैमपिः । आसिन्वकिः । वैङ्गिष्यौषिः । पौष्करसादिः । अय बाहादौ वैरकि । वैलकिः (वैल्वकिः) । वैरतिः । वैरुणिः । कारेणुपालिः ।

द्रेर्वहुषु तेनैवास्त्रियाम् ॥१।४।१३३॥ द्विसञ्जकस्य त्वस्य बहुषु वर्तमानस्य उव् भवति तेनो द्विसञ्जकेन कृत बहुत्वं भवति अस्त्रियाम् । आङ्गः । आङ्गौ । अङ्गाः । ऐच्चाकः । ऐच्चाकौ । इच्चाकः । अणः अजश्च द्विरित्यधिकारेण द्विसञ्जा स्वार्थिकानामपि “ते द्वयः” [४।२।१६] इति द्विसञ्जा । लौहवज्यः । लौहवज्यौ । लोहवज्जाः । ब्रैहिमत्यः । ब्रैहिमत्यौ । ब्रीहिमताः । “पूगाञ्च्योऽग्रामणीपूर्वात्” [४।२।१] इति ज्यः । द्वन्द्वेऽपि सामान्येन द्विसञ्जा कृते बहुत्वे भवति अङ्गवङ्गसुहाः । द्रेरिति किम् । औपगता । बहुष्विति किम् । आङ्गः । आङ्गौ । तेनैवेति किम् । प्रियो वाङ्ग एवामिति प्रियवाङ्गाः । अत्र वृत्त्या बहुत्वं गम्यते । अतोऽनुवर्हत्यान्तानामन्येषा च द्वन्द्वे तेनैव कृतं न बहुत्वमित्युभय भवति । गार्ग्यवात्सोपगवाः । शापकादुन्नप्यत्र भवतीति केचित् । गर्गवत्सोपगवाः । किं शापकमिति चेत् “शरद्वच्छुनकदभाद् मृगुत्साप्रायणेषु” [३।१।१९] इति वचनम् । मार्गवत्साप्रायणेष्विति निर्देशः स्यात् । उभययाऽपि साऽऽ प्रयोगः । अस्त्रियामिति किम् । आङ्गयः वाङ्गयः स्त्रियः ।

यस्कादिभ्यो वृद्धे ॥१।४।१३४॥ यस्क इत्येवमादिभ्यः परस्य वृद्धत्यस्य बहुषु वर्तमानस्योव् भाति अस्त्रियां तेनैव चेत् कृतं बहुत्वम् । उभयगतिरिह शास्त्रे लोकिकमपि वृद्धं गृह्यते तेनानन्तरापत्येऽप्युव् भाति । यास्कः । यास्कौ । यस्काः । “शिवादिभ्योऽण्” [३।१।१०१] इत्यागतस्याण उप् । यस्क लुब्ध द्रुह्य अयस्युण तृणकर्ण मलन्दन एतेषा शिवादिषु पाठः । कम्पलहार बहिर्योग कर्णादक पर्णादक सवामत्त पिएडीत्राय वक्तव्य रत्नोमुख जङ्घारथ उत्कास कटुक मन्थक पुष्करसन् । अस्य “न गोपवनादेः” [१।४।३।१८] इति प्रतिषेधः प्राप्तः । विपपुट उपरिमेखल पदक भटक मडिल भण्डिल एतेभ्यः “अरवादे. फञ्” [३।१।१९] इति फञ् । कुट्रि अजवस्ति विशि मिश्रयु एतेभ्यः “गृप्यादेः” [३।१।१२४] इति ढण् । वृद्ध इति किम् । यस्को देवता एषा यास्काः । बहुष्वित्येव । यास्कौ । तेनैव चेत्येव । प्रिययास्काः । अस्त्रियामित्येव । यास्फ ।

यज्जोः ॥१।४।१३५॥ यजश्च अजश्च वृद्धे बहुषु वर्तमानस्योव् भवति तेनैव चेद्वहुत्वमस्त्रियाम् । गर्गाः । वत्साः । अजः । विदाः । ऊर्वाः । “विदादिभ्योऽमृप्यानन्तर्येऽज्” [३।१।१३] इति अज् । वृद्धित्येव । गार्ग्यः । वैदः । तेनैवेत्येव । प्रियगार्ग्याः । वृत्त्याऽत्र बहुत्व गम्यते । यत्र वृत्त्येकत्व गम्यते यत्र वृत्त्या तत्रापि भवति । गर्गानतिक्रान्तः अतिगर्गः । अस्त्रियामित्येव । गार्ग्यः स्त्रियः । “यज्ज.” [३।१।१३] इति लीविधिः । “यस्य ड्याञ्च” [४।४।१३६] इति खम् । “द्वलो हनो ट्याम्” [४।४।१४०] इति यामाण खम् । “यजादीनामेकवद्वित्वयोर्वा तामे इति वक्तव्यम्” [ वा० ] गार्ग्यस्य कुल गार्ग्यकुलम् । गर्गकुलम् । गार्ग्ययोः कुल गार्ग्यकुलम् । गर्गकुलम् । वेदस्य कुल वैदकुलम् । निदकुलम् । वदयोः कुल वदकुलम् । विदकुलम् । न वक्तव्य यदा यनादयो न श्रूयन्ते तदा मूलप्रकृतेर्यामः निपतविषयवान् शब्दानां तत् स्थितिः सिध्यति ।

भृग्वत्रिकुत्सवशिष्टगोतमाङ्गिरोभ्यः ॥१।४।१३६॥ वृद्ध इति वन्ते । भृग्वदिभ्यः परस्य वृद्धत्यस्य बहुषु वर्तमानस्योव् भाति । भार्गवः । भार्गवौ । भृगवः । आत्रेयः । आत्रेयौ । आत्रेयोः । अत्रेयः । एव मृग्य वशिष्ठः । रोषण

अङ्गिरसः । अत्रिशब्दात् “इतोऽनिजः” [३।१।१११] इति ढण् । अन्येभ्य ऋष्यण् । बहुष्वित्वेव । भार्गवः । अङ्गिरसः । तेनैवेत्येव प्रियभार्गवाः । अस्त्रियमित्येव । भार्गव्यः स्त्रियः । वृद्ध इत्येव । भृगुर्देवता एवामिति भार्गवाः ।

इजो बहचः प्राच्यभरतेषु ॥१।४।१३७॥ बहचो मृदो य इज् तस्य प्राच्यभरतेषु वृद्धे बहुषून्भवति । प्राज्ञागारिः । पत्नागारी । पत्नागाराः । एव मान्थरेषणिः । मान्थरेषणी । मन्यरेषणाः । बहच इति किम् ? पौष्यः । प्राच्यभरतेष्विति किम् ? बालाक्यः । हास्तिदास्यः । ननु भरतः प्राच्य एव तेषां पृथग्ग्रहणं किमर्थम् ? जापकार्यमन्यत्र प्राच्यग्रहणे भरतग्रहणं न भवतीति । तेन “प्राचामिजोऽतौल्वलिभ्यः” [१।४।१३२] इति अत्र भरताभा युवत्यस्योन्म भवति । योधिष्ठिरिः पिता यौधिष्ठिरायणः पुत्रः । ननु युधिष्ठिरादिभ्य इजो व नास्ति “कुर्वृष्यन्धकवृष्णेः” [३।१।१०३] इत्यणा भवितव्यम् । इह सहि उन्म भवति औद्दालकः पिता औद्दालकायनः पुत्रः । अत्र “प्राचामिजोऽतौल्वलिभ्यः” इति युवत्यस्योप्प्रसज्येत । एतद्वि प्राच्यभरतगोत्रम् ।

न गोपवनादेः ॥१।४।१३८॥ विद्यान्तर्गणो गोपवनादिः । गोपवन इत्येवमादेः परस्य वृद्धत्यस्योच् न भवति । गोपवनस्यापत्यानि गोपवनाः । “यजजोः” [१।४।१३५] इत्यु प्रातः । गोपवन शिशुमिन्दु भाजन अश्ववतान श्यामक श्यामाक श्यापर्ण एते गोपवनादयः । प्राग्घरितशब्दात् परत उन्भवति । हरिताः । किंदाषाः । तौल्वलिप्रभृतयोऽत्र पठ्यन्त इति केचित् । तौल्वलयः । अनन्तरेण उप्रातः ।

घोषकादिभ्यः ॥१।४।१३९॥ उपक इत्येवमादिभ्य उत्तरस्य वृद्धत्यस्य वा बहुषून्भवति । उपकस्यापत्यानि उपकाः । औपकायनाः । लमकाः । लामकायनाः । एतौ नडादी । भ्रष्टकाः । भ्राष्टक्यः । कपिष्ठलाः । कापिष्ठलयः । कृष्णाजिनः । काष्णाजिनयः । कृष्णसुन्दराः । काष्णासुन्दरयः । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेनैवामद्वन्द्वे विकल्पः । परिशिष्टानां द्वन्द्वे चाद्वन्द्वे च । सुपिष्ट मयूरकर्ण कर्णक पर्णक पिङ्गलक नटिलक वधिरक एतेषां शिवादिषु पाठः । अनुलोमप्रतिलोम एतौ बाहादी । वयारक आडारक अमुक्तक [अमन्धक] उदक सुपर्चक सुवर्चक सुवर्मक खरीजङ्घ शलाजङ्घ शलायल पतञ्जल कमन्दक कण्ठेरणि कुपीतक काशकृत्स्न निदाघ कलशीकठ दामकण्ठ कृष्णपिङ्गल जनुक अविरग्व कपिञ्जलक प्रतान अनभिहित ।

तिककितवादिभ्यो द्वन्द्वे ॥१।४।१४०॥ वेति नानुवर्तते । कतिकितव इत्येवमादिभ्यो द्वन्द्वे वृद्धस्य बहुषून् भवति । तैकायनयश्च कैतवायनयश्च तिककितवाः । तिकादिलक्षणस्य फिज उप् । वाङ्खरयश्च भाण्डीरयश्च इज उपि वङ्खलभण्डीरया । पाटकयश्च नारकयश्च पटकरकाः । वाकनखयश्च श्वागुदपरिणद्धयश्च वकनखश्वगुदपरिणद्धाः । औञ्जयश्च काकुमाश्च ककुमशब्दः शिवादिषु विदादिषु वास्ति उञ्जककुमाः । लाङ्गयश्च शान्तमुखयश्च लङ्गशान्तमुखाः । उरसशब्दस्तिकादौ । औरसायनयश्च लाङ्गटयश्च उरसलङ्गटाः । अग्निवेशशब्दो गर्गादौ । अग्निवेशाश्च दाशेरकयश्च अग्निवेशदाशेरकाः । औपकायनाश्च लामकायनाश्च फण उपि उपक्लमकाः । भ्राष्टकयश्च कापिष्ठलयश्च भ्रष्टककपिष्ठलाः । काष्णाजिनयश्च काष्णासौन्दरयश्च कृष्णाजिनकृष्णसुन्दराः ।

कौण्डिन्यागस्त्ययोः कुण्डिनागस्ती ॥१।४।१४१॥ कौण्डिन्य आगस्त्य इत्येतयोर्वृद्धत्यस्य बहुषून् भवति कुण्डिन्य अगस्ति इत्येतौ चादेशौ ययासङ्ख्यं भवतः । अगस्त्यशब्दात् ऋष्यण् । कुण्डमस्यास्तीति कुण्डिनी नाम काचित् गर्गादौ पठ्यते । कौण्डिन्यः । कौण्डिन्यौ । कुण्डिनाः । आगस्त्यः । आगस्त्यौ । अगस्त्यः । यगपि “यजजोः” [१।४।१३५] इति यज उप् सिद्धस्तथापि कुण्डिन्यशब्दोऽकारान्त आदेशो विधीयमानो बाधकः स्यादिति पुनर्वचनम् । अगस्तीनां छाया आगस्तीया इत्यत्र अगस्तिरादेशो भवति । प्राग्द्रवीविषये “वृद्धेऽप्यनुप्” [३।१।७३] इति अनुपि सति “दोरद्धः” [३।२।१६०] इति छः सिद्धः । कौण्डिन्यशब्दात् स्य बाधकः “शकटादिभ्यो वृद्धे” [३।२।८७] इति अण् भवति । कौण्डिनाशब्दात् ।

सुपो धुमृदोः ॥११४१४२॥ धुमृदोरन्तस्यावयवस्य सुप उन्भवति । पुत्रमिच्छत्यात्मनः पुत्रीयति । पटीयति । मृदः—राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः । धर्मं श्रितो धर्मश्रितः । “तदन्ता धवः” [२११२६] इति धुस-  
ज्ञाया “कृद्घृत्साः” [१११६] मृत्सज्ञाया च सुप उप् । एवं तस्मात्ततः । तस्मिन् तत्र । धुमृदोरिति किम् ?  
वृत्तः । अत्र “कृद्घृत्साः” इति नियमात् विभक्त्या मृत्सञ्ज्ञा नास्ति ।

शपोऽदादिभ्यः ॥११४१४३॥ अदादिभ्यो धुभ्यः परस्य शप उन्भवति । अन्ति । हन्ति । दोग्धि ।

यङोऽचि ॥११४१४४॥ यङ उन्भवति अचि परतः । लोलूय पोपूय मरीमृज्य इत्येतेभ्यः पचाग्रचि  
लोलुवः पोपुवः मरीमृजः । “न धुखेजो” [११११८] इति एवैवोः प्रतिषेधः । “यङो वा” [५१२१२]  
इत्यत्र वक्ष्यत्यविशेषेण यङ उन् भवति । तेन वावदीति इत्येवमादि सिध्यति ।

उज्जुहोत्यादिभ्यः ॥११४१४५॥ शप इति वर्तते । जुहोत्यादिभ्यः परस्य शप उन्भवति ।  
जुहोति । नेनेक्ति । विभर्ति । उन्निति वर्तमाने उज्ग्रहणं द्वित्वाद्यर्थम् ।

स्थेण्विभुभूभ्यः सेमे ॥११४१४६॥ स्या इण् पित्र भुसंज्ञक भू इत्येवमादिभ्यः परस्य से  
उन्भवति मे परतः । अस्यात् । अस्याताम् । अस्थुः । “जातः” [२१४१६०] इति भेजुंस् । अगात् । इ इणिति  
प्रश्लेषनिर्देशात् इकोऽपि ग्रहणम् । अध्यगात् । अपात् । पित्र इति विकृतनिर्देशात् शोषणार्थस्य निवृत्तिः ।  
प्रतिपदोक्तपरिभाषा चानित्या । तेन “गामादाग्रहणेऽत्रविशेषः” [५०] इतीदं लब्धम् । भु इति सग-  
निर्देशः “दाधा भवपित्” [१११२७] इति । अदात् । अदाताम् । अडुः । भु इति भवतेरस्यादेशस्य च  
ग्रहणम् । अभूत् । “सूभवत्योमिडि” [५१२१८६] इत्येऽप्रतिषेधः । म इति किम् ? उपास्थिषाताम् । उपा  
स्थिषत् । “उपान्मन्त्रकरणे” [११२१२०] “धेः” [११२१२१] इति दविधिः । “सुस्पोरिः” [१११११]  
इत्याकारस्येत्वं सेः किलम् ।

वा घ्राघेट्छाशासः ॥११४१४७॥ घ्रा घेट् छा शा सा इत्येतेभ्यः परस्य सेवा उन्भवति मे परतः ।  
अघ्रात् । अनुप् पदे “यमरमनमातः सकृ च [५१११३२] इति सगिदौ भवतः । “हल्यस्ते” [५१२१३]  
इतीट् । “इटीटः” [४१४२०] इति सेः खम् । अघ्रात् । अघ्रासीत् । अघात् । अघासीत् । अघात् ।  
अच्छात् । अच्छासीत् । न्यशात् । न्यशासीत् । असात् । असासीत् । घेटो भुसजात्वात् पूर्वण प्रातं  
इतरेपामप्राते विकल्पः । म इत्येव । अघ्रासताम् । अघ्रासत् । “स्तुसुधूजो मे” [२१११३१] इत्यधिकारादे  
सगिदौ न भवतः ।

तनादिभ्यस्तथासोः ॥११४१४८॥ तनादिभ्य उत्तरस्य सेवा उन्भवति तथासोः परतः । तना  
सहचरितो दसंशस्तो गृह्यते । अतत । अतनिष्ट । उपपदे “अनुदात्तोपदेश” [४१४३७] इत्यादिना उगम् ।  
अतथाः । अतनिष्ठाः । पण् । असात् । असनिष्ट । उपपदे “जनमनसनाम्” [४१४४३] इत्याम् ।  
असायाः । असनिष्ठाः ।

आमः ॥११४१४९॥ आम उत्तरस्य सभवाल्ङ्कारस्योन् भवति । ईहाचके । ईताचके । लफाग्न  
कृत्वात् मृत्वे सति स्वाद्युत्पत्तिः । “सुपो केः” [११४१५०] इति सुप उप् । आमन्तस्य पदान्ता । “ता  
पदान्तस्य” [२१४१३३] इत्येतत् प्रयोजनम् ।

सुपो केः ॥११४१५०॥ मिश्रजादुत्तरस्य सुप उन्भवति । च वा अत्र कृत्वा कर्तुम् । उद्देशो ग-  
कम् । असंख्यादपि सुपो भवन्ति । यदि वा “कर्मणीप्” [११४२] इत्येवमादिषु अर्थनियमपक्षे निमित्ताणां  
नियतत्वात् मिश्रज्ञेभ्योऽप्युत्पत्तिः ।

हात् ॥११४१५१॥ हस्यदुत्तरस्य सुप उन्भवति । अविन्नि । अविस्मार्ति । हस्यत् । हस्यत् ।  
त्युक्त्वा तेनायमारम्भः ।

नानोऽम् त्वज्ञाया ॥११४१५२॥ हस्यत् स्मृतायाः कर्मादिभ्योऽप्युत्पत्तिः ।

हादकारान्तात् परस्य सुप उन्न भवति । अमादेशस्तु भवति सुपः कां विभक्तौ वर्जयित्वा । उपकुम्भं तिष्ठति । उपकुम्भ पश्य । उपकुम्भ देहि । अत इति किम् ? उपाग्नि । अकाया इति किम् । उपकुम्भादानय ।

ईभयोर्विभाषा ॥११४१५३॥ ईप् आ इत्येतयोर्विभाषा अमादेशो भवति । उपकुम्भं कृतम् । उपकुम्भेन कृतम् । उपकुम्भं कृतम् । उपकुम्भाया कृतम् । उपकुम्भ निधेहि । उपकुम्भे निधेहि । व्यवस्थितविभाषेयम् । तेन ऋद्धिनदीसंख्यावयवेभ्यो नित्यममादेशः । ऋद्धौ । सुमद्रं कृतम् । सुमगध कृतम् । नदीसे—“नदीभिश्च” [११३१७] इति हसः । उन्मत्तगङ्गम् । द्वियमुनम् । संख्यावयवः—“संख्या तंश्येन” [११३१६] इति हसः । द्विकौशलम् । त्रिकौशलम् । एकविंशति भारद्वाजम् ।

लुटोऽन्यस्य डारौरसः ॥११४१५४॥ लुटोऽन्यसंज्ञस्य त्रिकस्य डा रौ रस् इत्येते आदेशा भवन्ति । अर्थद्वारकमत्र यथासंख्यम् । श्रोता । श्रोतारौ । श्रोतारः । अध्येता । अध्येतारौ । अध्येतारः । डा इत्यन्तादेशः । डा आ इति प्रश्लेषनिर्देशाद्वानेकाल् सर्वादेशः । डित्यभस्यापि डित्करणसामर्थ्याद्विखम् । रौरसोः परतः “रि” [५१२१५३] इति सखम् ।

इत्यभयनन्दिमुनिविरचितायां जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

अध्यायश्च समाप्तः ।

## द्वितीयोऽध्यायः

त्यः ॥२१११॥ अधिकारेण संज्ञेयमा कपः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः अपूर्व शब्दोपजननं प्रकृतिविविशेषणविकारागमवर्जं यत् त्यसञ्च तद वेदितव्यम् । प्रकृतिगुणादिः । वाक् “कर्मण्यण्” [२१२११] इत्येवमादावीपा निर्दिष्टम् । विशेषणं “दृतिनाथयोः पञ्चौ हजः” [२१२३०] इत्येवमादौ पश्वादि । विकारः सतो भावान्तरावाप्तिः । “दुहो घश्च” [२१२१६] इत्येवमादिषु घकारादिः । आगमः परतन्त्रः । “त्रपुजतुनोः पुक्” [३३१०६] इत्येवमादिः । युक्तिरुच्यते निर्मिति कार्यञ्च निमित्तित्येति प्रकृतिवागुपाधीनामग्रहणम् । अथवा भाव्यमानविभक्तीनिर्दिष्ट सनादि प्रधान भूतविभक्तीनिर्दिष्ट प्रकृत्याद्यप्रधान प्रधाने च कार्यसम्प्रत्ययः । विकारागमयोस्तु “परः” [२११२] इत्यनेन निरासः ; नहि तयोः परत्वसम्भवः । वक्ष्यति त्वयानीयौ । कर्तव्यः । करणीयः । प्रतियन्ति तेनार्थमिति प्रत्ययः । “पु खौघः प्रायेण” [२१३१००] इति घः । एव यद्यन्वर्था सश क्रियेत तदा प्रकृतेः सविभक्तिकस्य वा पदस्य त्यसञ्च स्यात् । त्यप्रदेशाः “यस्ये तदादि गुः” [११२१०२] इत्येवमादयः ।

परः ॥२११२॥ परिभाषेय नियमार्था । पर एव भवति धोमृदो वा यस्त्यसञ्चः । कर्तव्यः । करणीयः । ओपगवः । धोस्त्येवमादौ दिग्योगलक्षणकानिर्देशेऽपि पूर्वशब्दस्याध्याहारः स्यादिति परत्वं न लभ्यते ‘ईष्केत्यव्यवाये पूर्वपरयोः’ [१११६०] इत्यत्र यदि कार्य परमुच्यते तत्तानिर्दिष्टस्येति । न च सनादयस्तानिर्दिष्टाः । अत्रागतः प्रादुर्भावः पर उच्यते एव सति नियमार्थमिदं त्यपरैव प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न केवला ।

गुप्तिज्किदभ्यः सन् ॥२११३॥ त्य इति वर्तते । गुप् तिज् कित् इत्येतेभ्यः परः सन् भवति । गुगुप्सने । तितिक्षते । चिकित्सति । धुवंशब्दनेनाविधानात् अग्रसञ्ज्ञा नास्ति । तेन<sup>२</sup> नेडागमः । “निन्दाक्षमारोपापनयेषु यथाश्रमं सन्निष्यते” [ वा० ] । गोपननिशाननिवासादिषु न भवति । गोपन गोपायति । तेज न तेज्यति । निवेतनं निवेत्तयति । सुवादिषु पाठः किमर्थः ? “अस्त्यात्” [२१३१८५] इत्यकारो यथा स्यात्<sup>३</sup> ।

१. न्दिविर-स०, य०, स० । २.-स्तीति ने-स० । ३. गुगुप्स तितिक्ष चिकित्सेत्यादीनां भ्वादिषु पृषत् पाठाकारम् अस्त्यादित्यर्थमित्याशयः कथञ्चिदुल्लेखः ।

जुगुप्सा । तितित्ता । चिकित्सा । सनोऽकारोपदेशः प्रतीपिपतीत्यादौ श्रवणार्थः ।

“एकदेशकृतं लिङ्गं समुदायविशेषणम् । अनुदात्तेच्चमाद्याभ्यां तेनायं दो विधीयते ॥”

मान्धदान्शान्भ्यो दीश्चस्य ॥२।१।४॥ मान् वध दान शान् इत्येनेभ्यः सन् भवति दीश्च चन्ने-  
कारस्य । मीमासते । वीभत्सते । दीदासते । शीशासति । शीशासते । आद्यावनुदात्तेतौ । परो स्वरितेतौ ।  
“चविकारेष्वपवादा उत्सर्गाच्च वाधन्ते” [५०] इति कृतेकारस्य चस्य दीलम् । अत्रापि “जिज्ञासापैरुप्यार्जं  
निशानेषु यथाक्रमं सन्निष्यते” [वा०] । पूजावधनावखण्डनतेजनेषु न भवति । मानयति । वाधयति । दानयति ।  
निशानयति । दान उत्तरत्र वेति व्यवस्थितविभाषा । तदवलोकनादय विभागः ।

तुमीच्छायां धोर्वोप् ॥२।१।५॥ इच्छाया तुमि यो धुस्तस्मात् सन् वा भवति तुमश्चोभनति यदा  
सन् । कर्तुमिच्छति चिकीर्षति । वुमुक्षते । अयं ‘हीच्छाया तुम् विहितः । हेतुफलयोरित्यधिकृत्य “इच्छार्थं  
लिङ्गोऽयं” [२।३।१३३] “तुमेकर्तृके” [२।३।१३४] इति वचनात् । इहापि सामान्यविशेषभावेन हेतुफल  
भावोऽस्ति । एपितुमिच्छति एपिषिपति । तुमिति किम् ? इच्छायामित्युच्यमाने इच्छार्थानामिपिवाञ्छादीना  
ग्रहणं स्यात् । तुमग्रहणे सति इच्छायामित्येतत्तुमो विशेषणम् । इच्छायामुपलक्षिते तुमीति । तेन या तुमो  
निमित्त हेतुफलभावो नास्ति तत्र न भवति । इच्छति कटं करोति चैनम् । मिन्नकर्तृकत्वे च न भवति । इच्छति  
देवदत्तः कटं कुर्याजिनदत्तः । यत्र तुम् नास्ति तत्र च न भवति । इच्छायामिति किम् ? कर्तुं गच्छति । अत्र  
“वृणतुमौ क्रियायां वदर्थायाम्” [२।३।८] इति तुम् । धोरिति किम् ? प्रकर्तुमेच्छत् प्राचिकीर्षत् । सगेकस्य  
त्तिर्मा भूत् । अगसंजार्थं च धुमग्रहणम् । वाग्रहणाद्वाक्यस्यापि साधुत्वम् । इहोपचारात् सिद्धम् । पिपतिपती  
पिपतिपति कूलम् । मुमूर्षतीव मुमूर्षति श्वा । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेनेच्छासन्नन्तात् सन्न भवति । चिकी  
र्षितुमिच्छति । अनिच्छासन्नन्ताद्भवति । जुजुगुप्सिते ।

“मत्वर्थान्छैषिकाच्चापि सत्वर्थः जैपिकस्तथा । सरूपत्यविधिर्नेष्टः सन्नन्तान्न सन्निष्यते ॥”

स्वेपः क्यच् ॥२।१।६॥ स्वस्य यदिवन्त तस्मादिच्छाया वा क्यञ् भवति । आत्मनः पुत्रमिच्छति  
पुत्रीयति । पटीयति । ककारो “नः क्ये” [१।२।१०४] इत्यत्र सामान्यग्रहणार्थः । चकारः सामान्यग्रहणाया  
तार्थः । तेन “एकानुबन्धग्रहणे न द्वयनुबन्धकस्य” [५०] इत्यय विधातो नास्ति । स्वग्रहण किम् ? पुत्रमिच्छति  
ब्रह्मचारी मरणमिच्छति दुर्जनः । अत्र परस्वेति गम्यते । इति किम् ? पुत्र इच्छति । पुत्राय इच्छति ।  
वाक्यात् कस्मान्न भवति । महान्तं पुत्रमिच्छति वाक्यस्यानिवन्तत्वात् । अवयवादसामर्थ्यान्न भवति । कर्माह-  
मत्र क्यचा तेन कर्त्तरि भावे च प्रयोगः । पुत्रीयति । पुत्रीयते अनेन । वेत्यनुवृत्तेर्भिन्नान्यो न भवति ।  
उच्चैरेच्छति । इदमिच्छति । किमिच्छति ।

काम्यः ॥२।१।७॥ स्वस्य यदिवन्त तस्माद्वा काम्यो भवतीच्छायाम् । पुत्रमिच्छत्यात्मनः पुत्रकाम्यः ।  
पटकाम्यति । ककारस्य प्रयोगार्हत्वादित्यत्र नास्ति । योगविभागादुत्तरत्र क्यच एवानुवृत्तिर्न काम्यस्य ।

गौणादाचारे ॥२।१।८॥ गौणमुख्यमाचरणक्रियायामुपमानमित्यर्थः । गौणादिवन्तादाचारोऽयं ॥  
क्यञ् भवति । पुत्रमिवाचरति पुत्रीयति ह्यत्रम् । प्राचारीयति कम्बनम् । व्यवस्थितविभाषा विभागार्थः  
भवति । प्रासादीयति कुट्ये ।

कर्तुः क्यङ् सख विभाषा ॥२।१।९॥ कर्तुं गौणादाचारेऽर्थं वा क्यङ् भवति यदन्ते मन्त्र  
सस्य च खं विभाषा । इत् कर्तुं गौणादिभ्यः सम्भवति मुञ्जान् क्यङ् । श्वेन इत् आचरति क्यङ् श्वेन  
यते । कुमुदं पुष्करावने । व्यवस्थितविभाषा ॥ ‘बोकेऽप्यग्नौर्निधं पयसस्तु विनाशया गन्धम्’ [ वा० ] ।

१. यदीच्छा-अ० । २. पा० भाष्ये-‘जैपिकान्तनुबन्धार्थाच्चाच्चापि सत्वर्थः जैपिकस्तथा । सन्नन्तान्न सन्निष्यते ॥’ इत्येवंकृतः ।

ओजस्वीवाचरति ओजायते । वृत्तिविषये मत्वर्थीयः क्यङोक्तः । अप्सरायते । मथित पयायते पयस्यते । अस्त  
खपते “नः क्ये” [१।२।१०४] इति नियमात् पदलाभावे रिखादिनिर्धनं भवति । कर्तुरिति सखापेक्षया  
तथा विपरिणाम्यते तेनान्यस्य खम् । इह न भवति । सारसायते । “आचारे सर्वमृद्भ्यः क्तिञ्चा भवतीत्येके”  
[वा०] अध इवाचरति अधति । अधायते ।

भृशदेष्ट्वौ हलो भुवि ॥२।१।१०॥ कर्तुरिति वर्तते । भृश इत्येवमादिभ्यः क्यर्थे वर्तमा-  
नेभ्यो भवत्यर्थे वा क्यङ् भवति यत्रन्ते हल् तस्य<sup>१</sup> च नित्यं खम् । च्विर्विकल्पेन विधीयते । यत्र नोत्पद्यते  
तत्रापि क्यङ् । अभृशो भृशो भवति भृशायते । भृश शीघ्र चपल परिडत उत्सुक । नान् गेर्वहिर्भावः । उन्म-  
नन् सुमनस् दुर्मनस् अभिमनस् । संग्राम युद्ध इति जापकादुदादीनामडागमादिषु बहिर्भावः । रेहत् वेहत्  
शधत् तृप्त् वर्चस् त्वोजस् आण्डर शुचि मन्द नील मद्र फेन हरित ।

डाज्जलोहितात् क्यष् ॥२।१।११॥ डाजन्तालोहितशब्दाच्च क्यर्थान्नवत्यर्थे वा क्यष् भवति ।  
क्यर्थग्रहणं लोहितस्य विशेषणं न डाजन्तस्याव्यभिचारात् । पटपटायति । पटपटायते । यदा न क्यष् तदा  
पटपटामकतीति प्रयोगः । चलोहितो लोहितो भवति लोहितायति । लोहितायते । एवं हि “न क्ये”  
[१।२।१०४] इत्यत्र सामान्याहणार्थः ककारः शोभेत यदि चर्मादिभ्योऽपि स्यात् । चर्मायति । चर्मायते ।  
निद्रायति । निद्रायते । कल्यायति । कल्यायते । कृपायति । कृपायते । वृत्तिविषये मत्वर्थीयः क्यषाऽभिहितः ।

कष्टाय ॥२।१।१२॥ क्यङ् अनुवर्तते । कष्टयेति तादर्थ्ये अप् । कष्टाय ये शब्दा वर्तन्ते तेभ्यः क्यङ्  
भवति । कष्टार्थादिति वक्तव्यम् । अत्रन्तनिर्देशः समर्थविभक्त्युपादानार्थः । अभिधानवशात् क्रमणेऽनार्जवे  
क्यङ् द्रष्टव्यः । यथा “नमोवरिवक्षित्रहः क्यच्” [२।१।१६] इत्यत्र पूजावर्धनियमः । कष्टाय कर्मणे क्रामति  
कष्टायते । अनार्जव पाप करोतीत्यर्थः । सत्राय कर्मणे क्रामति सत्रायते । कक्षायते । गहनायते । अनार्जव इति  
किम् ? अजः कष्ट क्रामति । नात्र पाप गम्यते ।

वापोष्मफेनादुद्धमे ॥२।१।१३॥ इप इति वर्तते । वाष्प ऊष्मन् फेन इत्येतेभ्यः उद्धम इत्यर्थे क्यङ्  
भवति । वाष्पमुद्धमति वाष्पायते । ऊष्माणमुद्धमति ऊष्मायते । फेनायते ।

रोमन्थतपःशब्दैरकलहाभ्रकण्वमेधात् कृञि ॥२।१।१४॥ रोमन्थ तपस् शब्द वैर कलह  
अभ्र कण्व मेघ इत्येतेभ्यः करोत्यर्थे क्यङ् भवति । रोमन्थं करोति रोमन्थायते गौः । अत्र करोतिः क्रिया-  
सामान्ये वर्तमानोऽपि अभ्यवहृतचर्चणक्रियाया गृह्यते । तेनेह न भवति । कीटको रोमन्थं वर्तयति । “तपसो  
मज्जेति षक्तव्यम्” [वा०] तपः करोति तपस्यति । तपश्चरतीत्यर्थः । शब्द करोति शब्दायते । वैरायते । कल-  
हायते । अभायते । कैवायते । पाप करोतीत्यर्थः । मेघायते । तत्करोतीत्यस्मिन्नर्थे णिजपि भवति । शब्दयति ।  
पैरयति । “सुदिनसुदिननीदरेभ्यश्चेति वक्तव्यम्” [वा०] सुि नायते । दुर्दिनायते । नीदारायते । “अटाट्टाशी-  
काकोटापोटासोटाप्रुष्टाभ्योऽपीति केचिद् ।” [वा०] अट्टायते । अट्टायते । शीकायते । कोटायते । पोटायते ।  
सोटायते । प्रुष्टायते ।

सुखादेः स्वभोगे ॥२।१।१५॥ भोगोऽनुभवो वेदना वा । सुख इत्येवमादिभ्यः इवन्तेभ्यः स्वभोगे  
क्यङ् भवति । सुखमात्मनः करोति सुखायते । सुख भुङ्क्ते अनुभवति वेदयतीत्यनर्थान्तरम् । एव दुःखायते ।  
सुख दुःख तृप्त रुच्य सत् चलीक कल्या कृपण स्रोत प्रतीप । स्वभोग इति किम् ? सुख करोति प्रसाधको  
देयस्तत् ।

१. तस्य नित्यं खम् घ०, ल०, सु० । २. इण्ठ ल०, घ०, स० । ३. कण्ठ झ०, घ०, स० ।  
४. षट्पायते ल०, घ०, स० ।

नमोवरिवश्चित्रङः क्यच् ॥२१११६॥ कृञीति वर्तते । नमस् वरिवस् चित्रङ् इत्येतेभ्यः क्यच् भवति करोत्यर्थे । पूजापरिचर्याश्चर्यविशेषे । नमः करोति नमस्यति देवान् । अत्र नमःशब्दस्यानर्थक्यत्वात्तोगे नाव् भवति । वरिवः करोति वरिवस्यति गुरुन् । चित्रङ् करोति चित्रीयते । डित्त्वाहः । पूजादिभ्योऽन्या नमः करोतीति भवति ।

पुच्छभाण्डचीवराण्णिङ् ॥२१११७॥ पुच्छ भाण्ड चीवर इत्येतेभ्य इवन्तेभ्यो णिङ् भवति करोत्यर्थविशेषे । कोऽसौ विशेषः । “पुच्छादुदसने पथंसने वा” [वा०] उत्पुच्छयते । परिपुच्छयते । “भाण्डात्सञ्चयने परिचयने वा” [वा०] सभाण्डयते परिभाण्डयते । “चीवरादर्जने परिधाने वा” [वा०] सचीवरयते मिक्षुः । णकारः “णाविष्टवन्मृदः” [११११४४] इत्यत्र सामान्यग्रहणाविधातार्थः । अर्थविशेषादन्यत्र णिजेव भवति ।

मुण्डमिश्रश्लक्ष्णलवणव्रतवस्त्रहलकलकृततूस्तेभ्यो णिच् ॥२१११८॥ मुण्ड इत्येवमादिभ्य इवन्तेभ्यो णिज् भवति करोत्यर्थे । चुरादिषु “मृदो ध्वर्थे” इति णिचि सिद्धे अर्थविशेषपरिग्रहार्थमिदम् । क्यर्थे वायमिति केचित् । अमुण्डं मुण्ड करोति मुण्डयति । मिश्रयति । श्लक्ष्णयति । लवणयति । “व्रताञ्जो जने तन्निवृत्तौ च” [वा०] पयो व्रतयति । पयो भुङ्क्ते इत्यर्थः । सावयं व्रतयति । सावय न भुङ्क्ते इत्यर्थः । “वस्त्रात् समाच्छादने” [वा०] वस्त्रेण सच्छादयति सवस्त्रयति । हलि गृह्णाति हलयति । कलि गृह्णाति कलयति । “हलिकल्योरकारान्तता णिचा योगे निपात्यते” [वा०] “धौ कच्यनस्तो सन्तात्” [११२१८६] इति सन्वद्धावप्रतिषेधार्थम् । कलि गृहीतवानचकलत् । अजहलत् । अन्यथा परत्वादिनि कृते टिख स्यात् ततः सन्वद्धावः प्रसज्येत । यथा अलीलघत् अपीपटत् इति । कृत गृह्णाति कृतयति । तूस्तानि केशजटाः विहन्ति वितूस्तयति ।

धोर्यङ् क्रियासमभिहारे ॥२१११९॥ पौनःपुन्य भृशार्थं वा क्रियासमभिहारे । धोर्यङ् भाति क्रियासमभिहारे । पुनः पुनः पचति भृशं वा पापच्यते । बोभुज्यते । क्रियान्तरेख्यवहितायाः प्रधानभूतानि दनक्रियायाः पुनः पुनरारम्भः पौनःपुन्यम् । गुणभूताविश्रयणादिक्रियाणां क्रियान्तरेख्यवहितानां साफल्येन करण भृशार्थता । सूचिसूत्रिमूच्यव्यत्यर्थशृङ्गातीनां ग्रहण नियमार्थं कर्तव्यम् । सोसूच्यते । सोसूच्यते । मामूच्यते । अनेकाज्य एव नान्यस्मात् । अत्यर्थं जागर्ताति । अराध्यते । अरार्यते । “यटि” [१२१३३] इत्येप् । अत्यर्थमश्नुते अशाश्यते । प्रोक्षोत्सृज्यते । अट्यादिग्रहण किमर्थम् ? अन्यस्मादादेर्मां गर । भृशमीक्षते । पुनः पुनरीहते । क्रियासमभिहारे सर्वस्य द्वित्वे वेति विभाषानुवर्तते । तेन यदन्त्य द्विग्न भवति । तत एव क्रियासमभिहारे यो लोट् तदन्तस्य भवति । लोलूयस्व लोलूयस्व इत्येताव लोट् । धोरिति किम् ? सगेरुत्पत्तिर्मा भृत् । अग्रमज्ञार्थं च धुग्रहणम् । पेपीयते । “शुभिरचिभ्यां प्रतिषेधो वक्ष्य” [वा०] । अत्यर्थं शोभने । अत्यर्थं रोचते ।

नित्यं गतिविशेषे ॥२११२०॥ नित्य यट् भवति गतिविशेषे गम्यमाने । चट्कम्यते । दन्तः । आवनीच्यते । गतिविशेषो हि यदन्तवाच्यः । तेनास्वपदेनार्थमात्रकथनामद कुटिल क्रामतीति । नित्यं तु विषयनियमार्थम् । एतयोर्गोमयोर्गतिविशेष एव गह्वं व च यट् यथा ह्यात् क्रियासमभिहारे ना गति । भृशं क्रामति । भृशं लुम्भति ।

लुपसदचरजपजभदहगृदशो गह्वं ॥२११२१॥ लुपादिभ्यो गर् गम्यमाने नित्यं यट् । प्रत्यासत्तेर्व्यर्थस्य गर्हं गृह्यते न साधनम् । अनर्थं लुम्भति लोभयते । सन्त्यते । चन्त्यते । व्रज्यते । दन्त्यते । निवेगित्यते । दन्त्यते । दशे, कृत्यन्त्य निर्दशाप्रदुष्यापि न चन्त्यते । दन्त्यते । दन्त्यते । तदयुक्तं सौम्यन्निर्दश्यते । गर्हं इति किम् ? लुप सीदति स्वर्गम् ।



पाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिर्णिञ् ॥२१।२२॥ पाशरूपवीणा-  
तूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यश्च णिञ् भवति । चुरादो “मृदो धर्म” इति गित्ठेऽपि अर्थ-  
विशेषपरिग्रहार्थं पाशादेः पृथग्ग्रहणम् । “पाशाद्विमोचने” [वा०] पाश विमोचयति विपश्यति । “रूपाद्वर्णने  
[वा०] रूपं दर्शयति रूपयति । वीण्या उपगायति उपवीणयति । तूलैरनुकुप्याति अनुतूलयति । श्लोके  
रुपस्तौति उपश्लोकयति । सेनया अभियाति अभिषेणयति । लोमान्यनुमार्ष्टि अनुलोमयति । त्वच गृह्णाति  
त्वचयति । त्वच इति अकारान्तनिपातनात् “परेऽचः पूर्वविधौ” [१।१।२७] इत्यखस्य स्थानिवद्भावात्  
“उहोऽतः” [१।२।४] इत्यैम्न भवति । वर्मणा सन्नहति सवर्मयति । वर्णान् गृह्णाति वर्णयति । चूर्णैर्व-  
किरति अवध्वसयति वा अवध्वचूर्णयति । चुरादिभ्यः चोरयति । मन्त्रयते ।

आ चार्थवेदसत्यानाम् ॥२१।२३॥ अर्थ वेद सत्य इत्येतेषा आकारश्चान्तादेशो भवति णिञ् ।  
अर्थमाचष्टे अर्थापयति । वेदापयति । सत्यापयति ।

हेतुमति ॥२१।२४॥ हेतुस्तयोजकः । हेतुमति ध्वर्थेऽभिधेये णिञ् भवति अन्येषा दर्शनं प्रयोज-  
कव्यापारः प्रेषणाध्वेषणरूपो हेतुमान् तस्मिन्मभिधेये णिञ् भवति । कटे कारयति । ओदन पाचयति ।  
अत्र वाग्विसर्गो हेतुव्यापारः । क्वचित् समर्थाच्चरणम् । यथा भिक्षा वासयति । कारीषोऽग्निरध्यापयति ।  
“आख्यानात् कृतस्तदाचष्टे इति कृदुपप्रत्यापत्तिः प्रकृतिवच्च कारकमिति” [वा०] आख्यायते यत्तदाख्यातं  
तस्मात् कृदन्तात् आचष्टे इत्यस्मिन्नर्थे णिञ् वक्तव्यः कृदुपप्रकृतिप्रत्यापत्तिः, प्रकृतिवच्च कारकं भवतीति वक्त-  
व्यम् । कसवधमाचष्टे कस घातयति । बलिबन्धमाचष्टे बलि बन्धयति । राजागममाचष्टे राजानमागमयति ।  
“आख्यानशब्दात्प्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] आख्यानमाचष्टे इति वाक्यमेव भवति । मृगरमणमाचष्टे मृगान्  
रमयति । यदा ग्रामे मृगरमणमाचष्टे तदा नेष्यते । “आङ्निवृत्तिश्च कालात्यन्तसंयोगो मर्यादायाम्” [वा०]  
कृदन्तात् णिञ् तदाचष्टे इति कृदुपप्रकृतिप्रत्यापत्तिः प्रकृतिवच्च कारकमिति वर्तते । आरात्रिविवासमाचष्टे रात्रि-  
विवासयति । “चित्रीकरणे च प्राप्स्यर्थे णिञ् वक्तव्य” [वा०] उज्जयिन्याः प्रस्थितो माहिष्मत्या सूर्योद्गमनं  
सम्भावयति सूर्यमुद्गमयति । “नक्षत्रयोगे ज्ञार्थे” [वा०] पुष्येण योग जानाति पुष्येण योजयति । चन्द्रमसा  
मवाभियोगं जानाति मवाभिर्याजयति । नेद बहु वक्तव्यमत्रापि कथञ्चिद्धेतुव्यापारोऽस्ति बहुलग्रहणाद्वा सिद्धम् ।

कण्ड्वादेर्यक् ॥२१।२५॥ कण्डूज् इत्येवमादिभ्यो यक् भवति । यकः कित्करण एप्प्रतिषेधार्थं  
शापकमिह कण्ड्वादयो धवो गृह्णन्ते न मृदरूपाणि (मृद्रूपाः) । कण्डूज्दृणीडादिषु दीप्तोच्चारणं शापक विकल्पेन  
धुरुरतैवामन्यथा “दोरकृद् ने” [१।२।१३] इति दीप्तेनाप्येतत्सिद्धयेत । तेन मृत्युहे कण्डुः मन्तुः वल्गुः  
हत्यादिप्रयोगा ज्ञातव्याः । कण्डूयति । कण्डूयते । कण्डूतिः । मन्तूयति । कण्डूज् मन्तु वल्गु असङ्कृणीड-  
मरीच् वेङ्लीच् । डकारो दावध्यर्थः । इयस् इरस् तिरस् मगधस् पम्पस् कुपुभ उपस् तन्तस् सुख दुःख  
मिपज् मिपुज् अरर चुरण् तुरण् तरण् सरण् (चरण्) सपर इपुध इषुभ गद्गद एला बेला कैला खेला  
लेट् लोट् उरस् । अकारान्तानाम् अतः खम् ।

गुपूधूपविच्छिपणपनेरायः ॥२१।२६॥ गुपू धूप विच्छि पणि पनि इत्येतेभ्यो धुम्य आयो भवति ।  
गोपायति । धूपायति । विच्छेन्तरङ्गत्वाच्चुकि कृते आयः । विच्छायति । अनुदात्तेष्व केवले चरितार्थमिति दो-  
न भवति । गुपादिभभावादिक् । साहचर्यान्तरोर्भावादिकस्य ग्रहणं न तौदादिकस्य । शतस्य पण्यते । “व्यवहृपण्योः  
सामर्थ्ये” [१।४।६४] इति कर्मणि ता । पनिरिहैव पणिना समानार्थः उपदिश्यते । पनायति ।

वाज्ये ॥२१।२७॥ अगविपये गुपादिभ्यो वा प्रायो भवति । गोपायिता । गोप्ता । गोपायाचकार ।  
गुपोप । गोपाया । गुतिः । इत्येवमादि योज्यम् ।



कमृत्योर्णिङोयङ् ॥२।१।२८॥ सूत्रत्वात्काया. स्थाने ता कृता । कम् ऋति इत्येतान्या लिट् ईयङ् इत्येतौ ल्यौ भवतः । कामयते । एकारः ऐवर्थः । “न कम्यमिचमाम्” इत्यत्र कमेर्मित्स्त्रजाप्रतिषेधः किमर्थः ? “जिणमोर्दीमिताम्” [४।४।८६] इति वा प्रादेशो मा भूदित्येवमर्थः । अकामि । काम कामम् । “वाजो” [२।१।२७] इति णिङोऽनुत्पत्तौ णिङ्निमित्तस्यैषः प्रादेशनिवृत्त्यर्थश्च । ङकारो दविध्यर्थः । किट्तीत्येवप्रतिषेधो न भवति इकस्तत्रानुवृत्तेः । ऋतिरिहैव घृणार्थमुपदिश्यते ऋतीयते । वाऽग इति च वर्तते । तेन कमिता । कामयिता । अर्तिता । ऋतीयिता ।

तदन्ता धवः ॥२।१।२९॥ येऽनुक्रान्ताः सनादयस्ते अन्ता येषां ते धुसञ्जका भवन्ति । तथा चेतो- दाहृतम् । पदसंज्ञायामन्तग्रहणं नियमार्थमुक्तम् । अन्यत्र “संज्ञाविधौ त्यग्रहणे तदन्तविधिर्नास्ति” [५०] इति एष प्रतिषेधो मा भूदित्यन्तग्रहणम् ।

स्यतासी लृलुटोः ॥२।१।३०॥ लृ इति लृङ्लृटोः सामान्येन ग्रहणम् । धोः स्यतासी इत्येतौ ल्यौ भवतः लृलुटोः परतः । शब्दपेक्षमत्र यथासख्यम् । धोरधिकारात् पूर्वमकृतानिवृत्तिः । अगा सञा च । भावकर्मकर्तृषु लो विहितः । तत्र यक्षपावुत्सगौ स्यादयस्तदपवादाः । करिष्यति । अकरिष्यत् । कर्ता । तामे रिदित्करणं किम् ? “हलुङः क्ङित्यनिदितः” [४।४।२३] इति नखप्रतिषेधार्थम् । हन्ता । मन्ता ।

काश्यनेकाञ्चाल्लित्याम् ॥२।१।३१॥ कासेरनेकाचस्त्यान्ताच्च लिटि परतः आम्भवति । कासाञ्चके । अनेकाञ्चयः-चकासाञ्चकार । चुलुम्प इति सौत्रो धुः । चुलुम्पाञ्चकार । दरिद्राञ्चकार । त्यान्तात्-लोल्याञ्चके । कारयाञ्चके । गवाञ्चकार । “आचारार्थे सर्वमृदभ्यः” इति क्रिप् । अनेकाञ्चग्रहणमत्यान्तार्थम् । आमिति नाय मागमः । कासेर्विधानात् ।

सरोरिजादेः ॥२।१।३२॥ सह रुणा वर्तते इति सहः । सरोरिजादेर्धोः लिट्याम्भवति । ईशाञ्चकार । इन्दाञ्चकार । उपदेशावस्थायां नुम् । ऊहाञ्चके । उञ्छाञ्चकार । उदम्भाञ्चकार । सरोरिति किम् ? इथेप । उवोप । एपि कृते सवरिति चेत् ; “सन्निपातलक्षणो विधिरनिमिरां तद्विधातस्य” [५०] इति न भाति । इजा देरिति किम् ? ततश्च । “अच्छत्युताम्” [५।२।१२३] इति लिट्येवचनं ज्ञापकं अच्छेराग्न भवति । आनर्च्छुः । आनर्च्छुः । कथं प्रोक्तुं नाव ? “वाच्य ऊर्णोर्णवद्भाधो यङ्प्रसिद्धिः प्रयोजनम् । आमश्च प्रतिषेधार्थमेकाचश्चेष्टितवृत्त्ये” । प्रोक्तुं नृपति । “सनिग्रहरच” [५।१।११८] इतीदृप्रतिषेधः ।

दयायास्तः ॥२।१।३३॥ दय अय आस इत्येतेभ्यश्च लिटि आम्भवति । दयाञ्चके । पलायाञ्चकार । “नेरयतौ” [५।३।३७] इति लत्वम् । आसाञ्चके ।

वोपजागृविदात् ॥२।१।३४॥ उप जागृ विद् इत्येतेभ्यश्च लिटि परतो वा आम् भवति । ओपाञ्चकार । उवोप । जागराञ्चकार । जजागार । विदाञ्चकार । विपेद । विदेगाभ्यकारान्तत्वनिपातनात् एभ्य भवति । जागृसाहचर्यादादिकस्य ग्रहणम् ।

भोहोभृहुवामुज्वत् ॥२।१।३५॥ भौ ही भृ हु इत्येतेभ्यो लिटि आम् भवति । उचोप काय न । पाम्, उचि कार्यं द्वित्वमिच्येव । तदतिदिश्यते । लिङपेक्षं द्वित्वमामा व्यवधानात् प्राप्नोति । विभापञ्चकार । विभाप । जिह्याञ्चकार । जिह्याप । विभराञ्चकार । विभार । “भृर्नां त्रयाणां” [५।२।१७५] इति ए । ल्वम् । जुहवाञ्चकार । जुहाव ।

लिङ्वन् कृञि ॥२।१।३६॥ कृञिति प्रचाहारेण कृञ्जनीनां वगणां ग्रहणम् । मरुङ् ॥ १ ॥ विभापाऽपेक्षणीया । तेन सन्त्यो र्हिभावः । य उक्तं आम् स लिङ्कृञि प्रमुक्तं साहचर्यम् । ॥ १ ॥ कृञीतीन्निर्देशात् आमन्त्यव्ययमित्येव पूर्वप्रयोगः । निदञ्चके । “आम्बन् तन्वृत्” [१।१।१०] इति दः । इहान्वन् । इहान्वम् । “अन्तिवृत्तेर्भृञ्च” [१।१।१०४] इत्येतादृशान्तरप्रयोगात् एभातो न ॥ १ ॥ इति प्रचाहारेण ग्रहणमर्थम् ।

विदाङ्कुर्वन्तु वा ॥२।१।३७॥ विदाङ्कुर्वन्त्विति एतद्वा निपात्यते । किमत्र निपात्यते ? लोटि वा  
आम् एवभावो लोडन्तस्य करोतेरनुप्रयोगश्च निपात्यते । विदाङ्कुर्वन्तु । विदन्तु । सर्वेषु लोड्वचनेषु निपातनमिदं  
प्रायेण । त्यन्तस्य प्रयोगान्ते निर्देशः । विदाङ्गवाणि । वेदानि । विदाङ्गवाव । वेदाव । विदाङ्गवाम । वेदाम ।  
विदाङ्गुरु । विद्धि । विदाङ्गुरुतम् । वित्तम् । विदाङ्गुरुत । वित्त । विदाङ्गुरोतु । वेत्तु । विदाङ्गुरुताम् । वित्ताम् ।  
(विदाङ्कुर्वन्तु । विदन्तु ।)

सिर्लुडि ॥२।१।३८॥ धोः सिर्भवति लुडि परतः । अकार्षीत् । अभैत्सीत् । अकृपाता कटौ देव-  
दत्तेन । इदिकरणं किम् ? अमस्त । “अनिदितः” [ ४।४।२३ ] इति प्रतिषेधात् नोडः ख न भवति ।

स्पृशमृशकृषतृपटपो वा ॥२।१।३९॥ स्पृश मृश कृष तृप टप इत्येतेभ्यो लुडि वा सिर्भवति ।  
तृपिट्ठयोः पुषादित्वात्तित्यमङ् प्राप्तः । अन्यत्र “शलः” [ २।१।४० ] इति कसः । अस्पाक्षीत् । अस्पा-  
क्षीत् । “वाऽनुदात्तस्यदुङ्” [ ४।३।२२ ] इति वामागमः । यणादेशे कृते “वषट्प्रजहल” [ ५।१।७६ ]  
इत्यैप् । पक्षे-अत्तुक्षत् । अमाक्षीत् । अमाक्षीत् । अमृक्षत् । अक्राक्षीत् । अक्राक्षीत् । अकृक्षत् । अत्राक्षीत् ।  
अत्राक्षीत् । अतृषत् । अत्राप्सीत् । अत्राप्सीत् । अटपत् ।

इगुडः शलोऽनिटोऽदृशः कसः ॥२।१।४०॥ इगुड् शलन्तो यो धुः अनिट् तस्माद् दृशिर्वर्जितात्  
मे क्तो भवति । दिह—अधिक्षत् । दुह—अधुक्षत् । लिह—अलिक्षत् । इगुड इति किम् ? दह—अधाक्षीत् ।  
शल इति किम् ? अभैत्सीत् । अनिट इति किम् ? अक्रोषीत् । “नेटि” [ १।१।८० ] इत्यैप्रतिषेधः । अदृश  
इति किम् ? अदर्शत् । अद्राक्षीत् । “वेरितः” [ २।१।४६ ] इत्यङ् ।

श्लिषः ॥२।१।४१॥ अनिट इत्यधिकारात् श्लिष दाहे इत्यस्य ग्रहणं न भवति । श्लिषः क्तो भवति  
लुडि परतः । आश्लिषत् । पूर्वेण प्राप्तस्य बाधके पुषादित्वादडि प्राप्ते अयमारम्भः । “पुरस्तादपवादा अन-  
न्तराम् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्” [ ५० ] इत्यङ एव बाधा न ज्ञेयः । आश्लेषि ।

स्वार्थे ॥२।१।४२॥ स्वार्थः आलिङ्गनम् । श्लिषः स्वार्थ एव क्तो भवति । आश्लिषत् कन्या देवदत्तः ।  
स्वार्थ इति किम् ? समाश्लिषत् जतु च काठ च ( जतुकाष्ठम् ) । दविष्ये सिखे समाश्लिषत्स्वं धवखदिरेण ।  
“भल्लो भल्लि” [ ५।३।४४ ] इति सेः खम् ।

णिश्चिद्रुश्रुकमेः कर्त्तरि कच् ॥२।१।४३॥ णिजन्तेभ्यः शि द्रु श्रु कर्म इत्येतेभ्यः कर्तृवाचिनि  
लुडि कम्भवति । ककार क्-कार्यार्थः । चकारः “लुडि कचि धोः” [ लिडुक्कचि धोः ] [ ४।३।७ ] इति  
विशेषणार्थः । अचीकथत् । अपीपचत् । “शोनयत्यादेः कच्प्रतिषेधो वक्तव्यः” [ वा० ] औनयीत् । अशिश्चि-  
यत् । अद्रुद्रुयत् । कर्मिग्रहणं “वाऽने” [ २।१।२७ ] इति यदा णिङ् न भवति तदा प्रयोजयति । अचकमत् ।  
अक ख यस्मिन् णाविति तत्र विग्रहात् सन्वद्भावो न भवति । णिङ्पक्षे सन्वद्भावः । अचीकमत् । आत्मक-  
र्मण्यपि चङ् भवति । अचीकस्त् कटः स्वयमेव । “णिश्चिद्रुश्रुप्रतिषेधार्थं दविष्ये धीनाञ्च” [ वा० ] इति  
लिपिर्बोः प्रतिषेधं वक्ष्यति ।

वा घेट्श्रुज्योः ॥२।१।४४॥ घेट् शिव इत्येताभ्यां वा कम्भवति कर्त्तरि लुडि परतः । अदधत् ।  
“ह्रित्तेष्वि” [ १।१।२६ ] इत्यात्वस्य सानिवद्भावाद् द्वित्वं यदा सिस्तदा “वा घाघेट्च्छाशासः” [ १।४।१४७ ]  
इति वा सेत् । अधत् । अधाक्षीत् । अनुपि “यमरमनमावः सक्च” [ १।१।१३२ ] इति सगिटौ । अशिश्चि-  
यत् । “न जौ जिः” [ ४।३।२१ ] इत्यनेकार्प्रश्लोपात् जिप्रतिषेधः । कचा मुक्ते पक्षे “जृशिव” [ २।१।२० ]  
इत्यादिना विकल्पेनात् । अश्वत् । अश्वदीत् । “ख यज्ञय” [ १।१।८१ ] इत्यादिना सावैप्रतिषेधः ।  
कर्त्तरिचैव । अधिपता वञ्चेन ।



ने यक् ॥२१॥६१॥ हाविते वर्तते । डिञ्चिनि ने यक् भवति । आख्यातवाच्यस्य भावत्वैकत्वात्

असद्भूमत्सञ्ज्ञाऽभावाच्च अन्यसञ्ज्ञक एक एव च भवति । आस्यते भवता । सुप्यते भवता । कर्मणि—क्रियते कटः । भुज्यते ओदनः । ऋकारस्य दीप्ते प्राप्ते “रिड्यग्लिङ्गे” [१।२।१३७] इति रिङ् । कर्मणामान्यान् आत्मकर्मण्यपि यन् भवति । क्रियते कटः स्वयमेव । भिज्यते कुरग्लः स्वयमेव । कथं भिज्यते कुरग्लेन स्वयमेवेत्यत्र कर्तरि भा । अत्राकर्मकत्वविवक्षा । तेन भावे लकारः । लान्तस्यो (तस्यो) भयविवक्षा । व्यक्तप्रायेष्णाम् कविवत्तैव (क्षयैव) । भेत्तव्यं कुरग्लेन स्वयमेव । भिन्न कुरग्लेन स्वयमेव । ईषद्धे दं कुरग्लेन स्वयमेव ।

कर्तरि शप् ॥२।१।६४॥ कर्तृवाचिनि गे परतो धोः शच् भवति । जयति । मयति । तरति । शकारः “मिहृशिद्गः” [२।४।६३] इति विशेषणार्थः । पकारः “गोऽपित्” [१।१।७८] इति विशेषणार्थः ।

दिवादेः श्यः ॥२।१।६५॥ दिव इत्येवमादिभ्यः श्यो भवति गे परतः । दीव्यति । सीव्यति । शीव्यति । “हल्यभकुच्छुरः” [५।३।८६] इति उडो दीलम् । इमे श्यादय शपोऽपवादाः ।

वा आशभ्लाशभ्रमुक्रमुत्रसिनुटिलपः ॥२।१।६६॥ आश भ्लाश भ्रम् क्रम् त्रमि नुटि लप इत्येतेभ्यो धुभ्यो वा श्यो भवति । उभयत्र विभाषेयम् । आशते । आश्यते । भ्लाशते । भ्लाश्यते । भ्रमति । भ्रम्यति । श्ये (शिति) भौवादिकस्याशमादित्वाद्दीप्तं नास्ति । दैवादिकस्य दीलम् । भ्रमति । भ्राम्यति । क्रमति । क्राम्यति । “क्रमो मे” [१।२।७४] इति दीत्वम् । त्रसति । त्रस्यति । त्रुयति । त्रुय्यति । लपति । लप्यति । ह्रमिमात्रं न कर्तव्यम् । दिवादिपाठात् श्ये सति “शमित्यामदो दीः” [१।२।७२] इति दीत्व सिद्धम् । “ष्ठितुकल्पा-मां शिति” [१।२।७३] पुनर्दीत्ववचन ज्ञापक शचपि भवतीति ।

यसः ॥२।१।६७॥ यसु प्रयल इत्यस्माद्वा श्यो भवति । यसति । यस्यति ।

समः ॥२।१।६८॥ सपूर्वाच्च यसः वः श्यो भवति । सयस्यति । सयसति । नियमोऽयं सम एव न गेर्विकल्पो नान्यस्मात् । आयस्यति । प्रयस्यति । दिवादिपाठान्नित्यः श्यः ।

स्वादेः श्नुः ॥२।१।६९॥ पुन् इत्येवमादिभ्यो शुभ्यः श्नुरित्ययं त्यो भवति । मुनोति । गिनोति ।

श्रूचः शृ ॥२।१।७०॥ शृ इत्येतस्मात् श्रुर्भवति श्रु इत्ययं चादेशः । श्रु इति सुवादो स्वादौ न पठ्यो । शृणुतः । शृण्वन्ति ।

चाऽक्षः ॥२।१।७१॥ अक्ष इत्येतस्मादोः वा क्षुर्भवति । अक्ष्णोति । अक्षति । भौवादिकोऽयम् ।

तक्षः स्वार्थं ॥२।१।७२॥ स्वार्थस्तनूकरणम् । तक्षु इत्यस्मात् स्वार्थं वा क्षुर्भवति । तक्ष्णोति काष्ठम् । तक्षति काष्ठम् । स्वार्थं इति किम् ? सन्तक्षति वाग्मिर्दुर्जनः ।

रुधितुदादिभ्यां शनम्शौ ॥२।१।७३॥ रुधादिभ्यस्तुदादिभ्यः शनम्शौ त्यो भवतः । शकारः “श्याश्रखम्” [४।४।२] इति विशेषणार्थः । मकारः “परोऽत्रो मिन्” [१।१।१५] इति विशेषणार्थः । रुधादि भिनति । तुदादिभ्यः शः । तुदति । क्षिपति ।

कृत्वतनादेरुः ॥ २।१।७४ ॥ कृन् इत्येवमननादिभ्यश्च उगित्वं त्यो भवति । करोति । तुदति । कुर्वन्ति । तनादिभ्यः—तनोति । सनोति । क्ष्णोति । तनादिनाम मिदं पृथक् कृषो प्रत्यय स्ति ? कृष्य नादिकार्यं करोतेर्मा भूत् । “तनादिभ्यस्तनासो.” [ १।३।१४८ ] इति निष्ठाप्य सनन भवति । अत्रय अकृष्याः । न चानुपसरे ‘प्राङ् गोः’ [ ५।३।४५ ] इति न्य भवति । तस्मिन् प्राप्ते ‘य प्राङ्ग’ भवति प्रचक्षते ।

धिविक्लृण्वोर च ॥२११७५॥ 'धिवि प्रीणने', 'कृवि हिसाकरणयोः' इत्येतान्गा उरित्यं ल्यो भवति अकारश्चान्तदेशः । धिनोति । कृणोति । अतः खम् । "न धुखेऽञो" [११११८] इति प्रतिषेधात् "परेऽच पूर्वविधौ" [११११७] इति स्थानिवद्भावाद्वा (एप्) न भवति । सनुम्कोच्चारणं शापकं ल्योत्पत्तेः प्रागेव नुम्भ-वतीति । तेन कुरडा हुण्डेति सिद्धम् ।

क्र्यादेः श्ना ॥२११७६॥ क्री इत्येवमादिभ्यो धुभ्यः श्रा इत्ययं ल्यो भवति । क्रीणाति । प्रीणाति । स्तरभुस्तुम्भुस्जम्भुस्कुम्भुस्कुज्भ्यः श्नुश्च ॥२११७७॥ स्तम्भादिभ्यः श्रुर्भवति आ च ।

स्तभोति । स्तभाति । स्तुभोति । स्तुभाति । स्तभोति । स्तभाति । स्कुभोति । स्कुभाति । स्कुनोति । स्कुनाति । स्कुज्भ्यादिषु पठ्यते । इतरेषामिहैवोपदेशः । उदित्करणादन्यत्रापि प्रयोगः ।

हो हलः श्नः शानः ॥२११७८॥ हल उत्तरस्य श्रा इत्येतस्य शान इत्ययमादेशो भवति हो परतः । अशान । पुषाण । हाविति किम् ? अश्नाति । हल इति किम् ? क्रीणीहि । अ इति स्थानिनिर्देशः किमर्थः ? स्तम्भादीना यदा भुस्तदा मा भूत् । स्तम्भुहि । त्वान्तरं वा सर्वेभ्यः सभाव्यते । शानस्य शित्करणं जापकम् अनित्योऽनुबन्धस्य स्थानिवद्भाव इति । तेन लडादीना मित्रादिषु स्थानिवद्भावाद्द्विचं द्विचं च न भवति । पचमाना लो । अचिनवम् । असुनवम् ।

ईपाऽत्र वाक् ॥२११७९॥ धोरिति वर्तते । अत्र धोरधिकारे ईपा निर्दिष्ट वाक्सज भवति । गम्यमानक्रियापेक्षया ईपेत्यस्य करणलम् । वक्ष्यति "कर्त्तव्यम्" [२११११] कुम्भकारः । शरलावः । मृदूपस्येय वाक्सजा तेन "कर्त्तव्यम्" इति कर्मणि ता भवति । तासां वाक्सः परत्वेन । अत्र ग्राहणं विस्पष्टार्थम् । वागितीयमन्वर्थं संज्ञा । व्रूतेऽर्थं वागिति तेनासामर्थ्यं वाक्संज्ञा नास्ति । पश्य कुम्भ करोति पठम् । मृत्पिण्डं कुम्भ करोति । महान्तं कुम्भ करोति । सविशेषणानां च न भवति । हरतेः "द्वितीयाधयोः पशौ" [२१११०] इति पशुशब्दस्य न भवति । यत्र वाचकत्वं तत्र भवति । काशकटकारः ।

कुदमिड् ॥२११८०॥ अत्र धोरधिकारे मिड्वर्जितास्त्याः कृत्सज्ञा भवन्ति । अत ऊर्ध्वं ये वक्ष्यन्ते तेषामधिकारेणैव संज्ञा । वक्ष्यति "तव्यानीयो" [२११८३] । कर्तव्यः । करणीयः । अत्र मृत्संज्ञाप्रयोजनम् । इत्यः । स्तुत्यः । "विति कृति" [४१३१६] इति तुक् । अमिडिति किम् ? चीयात् । सूयात् । अकृयकाराहीत्व सिद्धम् ।

प्राप्तेर्वाऽसमः ॥२११८१॥ त्विया किरिति वक्ष्यते । प्रागेतस्मादसमो यस्त्यः कृत् स वा भवतीत्येवोऽधिकारो वेदितव्यः । सरूपस्त्वपवादो बाधक एवेति भावः । विक्षेपकः । धिक्षेप्ता । विक्षिपः । इगुडलक्ष्ण-कविरप्ये एधुन्वावपि भवतः । प्राक्तेरिति किम् ? चिकीर्षा । "अस्त्यात्" [२१३८४] इत्यकारः ह्येर्वाधकः । व्याक्रोशी । व्याक्रुष्टिरित्येवमादिषु यतो विधेयः । असम इति किम् ? गोदः । कम्बलदः । "आतः कः" [२१२१३] इति को भवति । अणोऽपवादः । अनुबन्धापाये रूपगत समत्वमत्र ।

ण्वोर्व्याः ॥२११८२॥ प्रागिति वर्तते "ण्वुचौ" [२१११०६] इति वक्ष्यति । प्रागेतस्माद्यं तास्ते व्यसज्ञा वेदितव्याः । देवदत्तस्य कर्तव्यम् । देवदत्तेन कर्तव्यम् । व्यप्रदेशाः "व्यस्य वा कर्तरि" [११४७५] इत्येवमादयः ।

तव्यानीयो ॥२११८३॥ तव्य अनीय इत्येतौ ल्यो भवतः । कर्तव्यः । करणीयः । कथं वास्तव्यः ? पात्सु क्षेत्रं तस्मात्प्रवापयं दिगादित्वायः । एव वस्तुनि भवो वस्तव्यः ।

योऽचोऽरास्तुयुचः ॥२११८४॥ य इत्ययं ल्यो भवत्यजन्ताद्धोः ऋवर्णान्त आसु यु इत्येतान् पूर्वविला । देयम् । नेयम् । "ईये" [४१४६४] इति ईत्वम् । "गागयोः" [२१२८१] इति पुनरेप् । "देयमृणे" [११३२२] इति निर्देशादन्ते गुकार्ये निहृते पुनरेप् । दित्य धित्यमित्यत्र अग्रे ये परतोऽतः खम् । अच

पोरदुडोऽत्रपिवपिरपिलपिचमः ॥२।१।८५॥ पवर्गान्ताद्धोरदुडो य इत्यय ल्यो भवति नपिवपि  
रपिलपिचमीन् वर्जयित्वा । रभ्यम् । लभ्यम् । समत्वेन यथापवादोऽयम् । पोरिति किम् ? वाच्यम् । अदुड इति  
किम् ? डेप्यम् । कुटादित्वादेष्ट स्यात् । तपरकरणमसन्देहार्थम् । अत्रपिवपिरपिलपिचम इति किम् ? चाप्यम् ।  
वाप्यम् । राप्यम् । लाप्यम् । आचाम्यम् ।

शकिसहस्र ॥२।१।८६॥ शकि सह इत्येतस्या यो भवति । शक्यम् । सक्षम् । चकारोऽनुक्तमनुच  
यार्थः । तेन ससितकिचित्तियतियजिजनीना सग्रहः । सस्यम् । तक्ष्यम् । चत्यम् । यत्यम् । यज्यम् । जन्यम् ।  
“हनो वा वध इति च वक्तव्यम्” [वा०] वध्यम् । धत्यम् ।

गदमदचरयमोऽगे ॥२।१।८७॥ गद मद चर यम इत्येतेभ्योऽगिपूर्वेभ्यः यस्त्यो भवति । गप् ।  
मद्यम् । चर्यम् । यध्यम् । अगेरिति किम् ? निगाद्यम् । प्रमाद्यम् । अमिचार्थम् । प्रयाभ्यम् । यम, “पोर-  
दुडः” [२।१।८५] इति सिद्धे नियमार्थमिदम् । अगेरेव यथा स्यात् । इतरेषामप्राप्ते विधिः । “चरेरादि चाणु-  
राविति वक्तव्यम्” [वा०] आचर्थ व्रतम् । अगुराविति किम् ? आचार्यो गुरुः ।

पण्याऽवद्यवर्यावह्याऽर्योपसर्याऽजर्याणि ॥२।१।८८॥ पण्य अवद्य वर्या वह्य अर्य उपसर्या अजरी  
इत्येतानि शब्दरूपाणि निपात्यन्ते । पण्यमिति निपात्यते व्यवहर्तव्य चेद्भवति । पण्यः कम्बलः । पण्या गोः ।  
पाण्यमित्यन्यत्र । अवद्य भवति गह्वं चेत् । अवद्यं द्यूतम् । अवद्य पापम् । न उच्यते इत्यनुग्रमनात् । वर्याति  
वृडो यो भवत्यनिरोधोऽर्थे । शतेन वर्या । सहस्रेण वर्या । स्त्रीलिङ्गादन्यत्र एव एव भवति । वर्या ऋणः धन  
सविभागरूपोऽत्राप्यनिरोधोऽस्ति । अनिरोध इति किम् ? वर्या गोः शस्येणु । वह्यमिति निपात्यते करण चेद्  
वति । वहति तेन वह्य शक्यम् । बाह्यमन्यत् । अर्य इति निपात्यते स्वामिनि वैश्ये च । अर्यः स्वामी । अर्यो  
वैश्यः । अन्यत्र एव एव । आर्य साधु । उपसर्यति निपात्यते काल्या प्रजने चेत् । प्रजनो गर्भप्रदणाल  
प्राप्तोऽस्याः काल्या । “वदस्य प्राप्तम्” [३।४।१७] इति वर्तमाने “कालाद्यः” [३।४।१००] इति यः ।  
उपसर्या गौः । उपसर्या वडवा । उपसर्या शरदि मथुरा अन्यत्र । अजर्यमिति नञ्पूर्वाङ्कृपः कर्तरि यो निपात्यते  
सङ्गतेऽर्थे । न जीर्यत इत्यर्ज्यमर्थसङ्गतम् । अजरिता कम्बल इत्यन्यत्र ।

वदः सुपि क्यप् च ॥२।१।८९॥ अगेरिति वर्तते । वदतेः क्यप्भवति यश्च गिर्वर्जितो सुपि वाणि ।  
सत्यमुद्यत इति सत्योद्यम् । सत्यवद्यम् । मिथ्योद्यम् । मिथ्या वद्यम् । “वागमिह” [१।३।८२] इति पसः । सुपीति  
किम् ? वाच्यम् । अगेरित्येव । अनुवाद्यम् ।

भूयहस्ये ॥२।१।९०॥ सुप्यगेरिति वर्तते । भूय इत्य इत्येते शब्दरूपे निपात्यते गिर्वर्जितो सुपि वाणि ।  
देवभूय गतः । देवत्व गत इत्यर्थः । साधुभूय गतः । क्यप्त्र निपात्यते । दरिद्रहनन दरिद्रत्या । चोदयता ।  
हन्तेः स्त्रीलिङ्ग भावे क्यप्निपात्यते । सुपीत्येव । भव्यम् । घातो वर्तते । अगेरित्येव । प्रमथ्यमुपागत ।

स्तुशास्तिण्वृद्धजुपः क्यप् ॥२।१।९१॥ सुप्यगेरिति निवृत्तम् । सामान्येनात्र सिद्धिः । स्तु शास्ति  
वृणोति वृ जुप इत्येतेभ्यः क्यप्भवति । स्तुत्यः । शिष्यः । इत्यः । आवृत्यः । आदृत्यः । पुनः क । ११॥  
किमर्थम् ? “ओरावश्यके” [२।१।१००] इत्यन्यापि बाधनार्थम् । अवश्यन्तुयः । “गमिदुर्गिगुदित्यो  
वक्तव्यम्” [वा०] शन्यम् । दुयम् । शन्यम् । दंयम् । गुयम् । गीयम् । “आदृष्टान्ते, सत्तायां एव  
वक्तव्यः” [वा०] आच्यम् । न वक्तव्यम् । पुनः क्यप्प्रत्ययायोगविभागाद्विवक्षित । उपसर्याः ॥२।१।९१॥

ऋदुडाऽकलपिचृते ॥२।१।९२॥ ऋदुगोटो यो ऋदुभवति कृपिचृती इति वाच्यम् । ॥२।१।९२॥  
वृद्धपम् । रथपवादोऽयम् । अकृपिचृतेरिति किम् ? कल्यम् । चयम् । “पार्णा समवशब्द च मृ”  
वक्तव्यम्” [वा०] पाणिक्वर्ग रज्जु । समवशब्द च मृ ।

भृजोऽखौ ॥२।१।६३॥ भृजः क्यम्भवति अखुविषये । भृत्याः कर्मकराः । भृत्याः शिशवः । भर्तव्या इत्यर्थः । अखाविति किम् ? भार्या नाम क्षत्रियाः केचित् । देवदत्तस्य भार्या । स्त्रिया “समजनिपद” [२।१।८१] इत्यादिना भावे क्यप् । कर्मणि चायं भार्याशब्दः । ‘संपूर्वाद्धेति वक्तव्यम्’ [वा०] सम्भृत्या सभार्याः कर्मकराः ।

खेयराजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्यव्यध्याः ॥२।१।६४॥ खेयादयः शब्दा निपात्यन्ते । खेयमिति खनतेर्यो निपात्यते इकारश्चान्तादेशः । आदेप् । ‘ये षा’ [४।४।४५] इत्यात्व नाशङ्कनीय निपातनादेव । राजसूयमिति राजशब्दे वान्ते भान्ते सुनोतेः क्यप् दीत्व च निपात्यते । राजा सूयते राजा वा अस्मिन् सूयते इति राजसूयम् । सरति कर्माणि सुवतीति वा सूर्यः । सत्तेरुत्वं सूवतेर्वा रुडागमः क्यच्च निपात्यते । मृषापूर्वस्य वदतेर्मित्य क्यग्निपात्यते । मृषोद्यम् । रुच्यमिति कर्तरि क्यप् निपात्यते । कुप्यमिति सज्ञाया गुपेरादौ कत्व क्यच्च निपात्यते । कुप्य फल्गु भाण्डमित्यर्थः । गोप्यमन्यत् । कृष्टे पच्यन्ते स्वयमेव कृष्टपच्य ब्रीहयः । घ्रातम-कर्मणि क्यप् । न व्यथतेऽसावव्यध्यः । नञ्पूर्वाद्व्यथतेः कर्तरि क्यप् निपात्यते ।

भिद्योद्ध्यौ नदे ॥२।१।६५॥ भिद्य उद्धय इत्येतौ निपात्येते नदेऽभिधेये । भिनत्ति कूलानि भिद्यः । उद्धृत्युदकमिति उद्धयः । कर्तरि कारके क्यप् उज्ज्वेधत्व च निपात्यते । नद इति किम् ? भिदः । उज्ज्व । इगुल्लङ्घणः कः पचाद्यच्च यथाक्रमम् ।

पुष्यसिद्ध्यौ भे ॥२।१।६६॥ पुष्य सिध्य इत्येतौ निपात्येते भेऽभिधेये । पुष्यन्त्यस्मिन्नर्था आरम्भमा-णानामिति पुष्यः । सिध्यन्त्यस्मिन्नर्था इति सिद्धयः । अधिकरणे क्यग्निपात्यते नक्षत्रे वाच्ये । अन्यत्र पोषणः सेधन इति च भवति ।

विपूयविनीयजित्या मुञ्जकल्कहलिषु ॥२।१।६७॥ विपूय विनीय जित्या इत्येते शब्दा निपा-त्यन्ते यथासंख्य मुञ्ज कल्क हलि इत्येतेषु वाच्येषु । विपूयते इति विपूयो मुञ्जः । पवतेः क्यग्निपात्यते । विपव्यम-न्यत् । विनीयतेऽसौ पृतादिना विनीयः । त्रिफलादिकल्कः । विनेयमन्यत् । जित्यो हलिः । जेयमन्यत् ।

पदास्वैरिवाद्यापद्येषु ग्रहः ॥२।१।६८॥ पदे अस्वैरिणि बाह्याया पद्ये चार्थे ग्रहेधोः क्यम्भवति । प्रगृह्यते इति प्रगृह्य पदम् । अग्रगृह्य पदम् । अस्वैरी परवशः । गृह्यका इमे । अनुकम्पाया कः । परतन्त्रा इत्यर्थः । बहिर्भवा बाह्या । गृह्यते इति गृह्या, ग्रामस्य गृह्या ग्रामगृह्या नगरगृह्या सेना । ताभ्या बहिर्भूता इत्यर्थः । स्त्रीलिङ्गादन्यत्र न भवति । पद्ये भवः पद्यः । भरतगृह्याः । भुजबलिगृह्याः । तत्पद्य इत्यर्थः ।

कृवृषिमृजां यशोभद्रस्य ॥२।१।६९॥ कार्ये ता । कृ वृषि मृज् इत्येतेभ्यः क्यञ् भवति यशो-भद्रस्याचार्यस्य मतेन । कृत्यम् । कार्यम् । नित्यं ययः प्राप्तः । वृष्यम् । वर्ण्यम् । परिमृज्यम् । परिमार्ग्यम् । “कृदुट” [२।१।६२] इति नित्य क्यप् प्राप्तः ।

युग्यं पत्रे ॥२।१।१००॥ पतति अनेनेति पत्र वाहनम्, तस्मिन्नर्थे युग्यमिति निपात्यते । युज्यते इति युपोऽङ्गवः । युग्यो गौ । क्यप् कुत्व च निपात्यते । पत्रादन्यत्र योग्यमिति ।

प्यः ॥२।१।१०१॥ एय इत्यर्थं त्यो भवति धोः । अयमुत्सर्गः । अजन्ताद्यः क्यप् चास्यापवादौ । कार्यम् । रार्यम् । पाक्यम् । पाठ्यम् ।

ओरावश्यके ॥२।१।१०२॥ उवाणान्ताद्धोऽर्थो भवत्यावश्यके द्योत्ये । अवश्यमित्यस्य भावः आवाश्य-यम् । ननोशादिनाद् एज् । लाव्यम् । पाव्यम् । यथावश्यकेऽर्थेऽवश्यलाव्यमिति कथं सविधिः ? मयूर-व्यसकादित्वादिभाष्या । आवश्यक इति किम् ? लव्यम् । पव्यम् ।

अमावस्या वा ॥२।१।१०३॥ अमावत्य इति वा प्रादेशो निपात्यते । अमा वसतः सूर्याचन्द्रमसावस्या



अमावस्या । अमावास्या । अमाशब्दे सहार्थे वाचि वसेरधिकरणेऽर्थे स्यो विभाषया उङः प्रादेशश्च निपात्यते । प्रदेशेषु एकदेशविकृतस्य ग्रहणार्थम् ।

पाय्यसान्नाय्यनिकाय्यधाय्याऽऽनाय्यप्रणाय्या मानहविर्निवाससामिधेन्यनित्याऽसम्भ-  
तिषु ॥२।१।१०४॥ पाय्य सान्नाय्य निकाय्य धाय्य आनाय्य प्रणाय्य इत्येते शब्दा निपात्यन्ते यथासंख्यं  
मान हविर्निवास सामिधेनी अनित्य असम्भति इत्येतेष्वर्थेषु । मीयतेऽनेनेति पाय्य मानम् । माङः ऋणे एतः ।  
आदिपत्वञ्च निपात्यते । मानमन्यत् । सन्नीयते इति सान्नाय्य हविः । सम्पूर्वात्रयते, स्य, आयादेशो गेर्लुक् च  
निपात्यते । सन्नेयमन्यत् । निचीयते इति निकाय्यो निवासश्चेत् । निपूर्वाच्चिञः स्यावादेशाच्चादिकृत् च निपा-  
त्यते । निचेयमन्यत् । धीयते इति धाय्या सामिधेनी । दवातेर्यो निपात्यते । विशिष्टा ऋत्न, सामिनेनः ।  
तत्र रुदिवशात्काचिदेवोच्यते । धेयमन्यत् । आनाय्य इति नयतेराङ्पूर्वाएण्यायादेशौ निपात्यानन्तिलेऽर्थः ।  
आनाय्यो दक्षिणाग्निः । रुदरेषा दक्षिणाग्निविशेषस्य । आनेयोऽन्वः । अविगमानसम्भतिरसम्भतिः प्रपूर्वा-  
त्रयतेर्यायादेशौ निपात्यो । प्रणाय्यश्चोरः । प्रणेयोऽन्वः ।

कुण्डपाय्यसन्नाय्यपरिचाय्योपचाय्यचित्याग्निचित्याः ॥२।१।१०५॥ कुण्डपाय्य सन्नाय्य  
परिचाय्य उपचाय्य चित्य अग्निचित्या इत्येतानि शब्दरूपाणि निपात्यन्ते । कुण्डेन पीयतेऽस्मिन्मोम इति  
कुण्डपाय्य, क्रतुः । कुण्डशब्दे भान्ते स्योऽधिकरणे निपात्यते । कुण्डपानमन्यत् । सन्नीयते इति सन्नाय्य  
क्रतुः । सञ्चेयमन्यत् । परिचाय्योपचाय्यौ निपात्येते अग्नावभिषेये । परिचेय उपचेय इत्यन्यत् । चित्याग्नि-  
चित्याशब्दौ निपात्येते अग्नावभिषेये । चीयतेऽसौ चित्योऽग्निः । अग्निघनमग्निचित्या । अन्त्ये स्त्रीलिङ्ग-  
भावे क्यञ्निपात्यः ।

ण्वुत्तचौ ॥२।१।१०६॥ एवु तृच इत्येतौ त्वौ भवतः । कारक । कर्ता । भोजकः । भोक्ता ।

नन्दिग्रहिपचिभ्यो ल्युणिन्यञः ॥२।१।१०७॥ नन्त्यादिभ्यो ग्रहादिभ्यः पचादिभ्यश्च यथागत्य  
ल्यु णिन् अच् इत्येते त्वा भवन्ति । नन्दयतीति नन्दनः । लकारः “युवोरनाकौ” [५।१।१] इति सामान्य-  
ग्रहणाविधातार्थः । नन्दिवाशिमदिनर्दिभूषिसाविशोभिवाङ्भिभ्यो स्यन्तेभ्यः मञ्जाया सहितपिदमिजालिगनिर्जलि-  
हपिरसिखट्क्रन्दिसङ्कर्षिभ्यः सजायामस्यन्तेभ्यः । जनार्दनः । मधुसूदनः । लवण इति निपातनागणनाम् ।  
विभीषणः । पवनः । वितनाशनः । कुलदमन एतावणोऽपवादौ इति नन्त्यादिः । ग्रह उग्रह उग्रस्य  
उद्भास मघ समर्द निरक्षी निश्रावी निवापी निवेशी एतेभ्यः निपूर्वभ्यः । अयाची अयाहारी ग्रह सागरी  
अवादी अवाजी अवासी एतेभ्यः प्रतिपिद्वेभ्यः । अचामचित्कर्तृगण्य प्रतिपिद्वानामिति वर्तते । अफावी अफा-  
अविनायी विशयी विषयीशब्दो देशे निपतनात् अद्रिभावी प्रविभावी गूले भवतः । अगग गी उपगगी  
परिभवी परिभावी इति ग्रहादिः । पच पठ वष वद चल पत तथा चरिचलिपतिनदीनामच्चात्चरति चरति ।  
नदट् स्रवट् तरट् चरट् चारट् चेलट् गा हट् देवट् दित्करणं च्रिया उपर्यम् । जग मर क्षर मच मेघ सप्तर्षी ग-  
नर्त प्रण डर । अर्णि विपरेऽपि । अपच चक्रवर । पचादिराकृतगणः ।

ज्ञाकृप्रीगुडः कः ॥२।१।१०८॥ ज्ञा कृ प्री इत्येतस्य इगुञ्च नो. हो भवति । ज्ञानातीति ज-  
आकारान्तलक्षणो ए. प्रातः । इह अर्थ जानातीति अर्थजः । परचादाय इति नित्यं भवति । चिन्ता  
उत्किरः । विक्रिः । प्रीणातीति प्रियः । इगुडः । विज्ञिप । विज्ञिप । विज्ञिप । इह सप्तर्षी इति प-  
आतो गा ॥२।१।१०९॥ आकारान्तादीं को भवति गो वाचि । आकारान्तादयः । प्रातः ।  
इह वट्वासन्दाय इति परव्यदणः ।

पात्राध्माधेदृशः शः ॥२।१।११०॥ पात्राध्माधेदृशः शः भवति । पात्राध्माधेदृशः  
वलात्किञ्चाच भवतेर्ग्रहणम् । उच्चिच । विचिच । उच्चिच । विचिच । उच्चिच । विचिच । उच्चिच । विचिच ।

[१।३।११] इति निर्देशात् कः । व्याघ्रः । उरुमः । विधमः । उदयः । विधपः । उत्पश्यः । विपश्यः । गाविति केचिदिह नाभिसम्पन्नन्ति । तेन पश्यतीति पश्यः । जिपः ।

लिम्पविन्दधारिपारिवेद्युदेजिचेतिसातिसाहिभ्योऽङ्गे ॥२।१।१११॥ लिम्प विन्द धारि पारि वेदि उदेजि चेति साहि इत्येतेभ्यः ण्यगिपृद्धेभ्यः शो भवति । लिम्पतीति लिम्पः । कथं कुञ्जलोप इति ? “मध्येऽपवादाः पूर्वान्विधीन् वाधन्ते नोत्तरान्” [५०] इति इयुङ् । कल्याण शो वाधको नाणः । विन्दतीति विन्दः । लिम्पविन्द इति सानुपदान्निर्देशादन्यत्ताण्य निधिर्भवति । सज्ञाया गावपि । निलिम्पा नाम देवाः । अरविन्द गोविन्द इत्याण्यविषयेऽपि शः सिद्धः । धारयतीति धारयः । पारयः । वेदाः । उदेजयः । निर्देशादेव गिपूर्वस्य गृहणम् । चेतयः । सात करोतीति णिच् । सातयः । साहयः । आयाग्ना के इतरेभ्योऽञ्चि प्राप्ते वचनम् ।

दान्धाजोर्वा ॥२।१।११२॥ कार्धे ताविभक्ती । दान् धाज् इत्येताभ्या अगिपूर्वाभ्या षा शो भवति । ददः । दधः । दायः । धायः । अगावित्येव । प्रदः । प्रधः । अनुवन्धनिदेशो यङुान्तयोः शो मा भूदित्येवमर्थः ।

ज्वलितिकसन्ताणूयः ॥२।१।११३॥ इतिः आचर्थे अविभक्तिकश्च निर्देशः । ज्वलादिभ्यः कस गतो इत्येवमन्तेभ्यो वा शो भवति । ज्वालः । ज्वलः । कासः । कसः । चालः । चलः । अगावित्येव । प्रज्वलः ।

श्याद्व्यधास्तुसल्लुलिहश्लिपश्वसतीणः ॥२।१।११४॥ श्यैङ् आकारान्त व्यध आस्तु सल्लु लिह श्लिप श्वस्तीण् इत्येतेभ्यो शो भवति । वेति निवृत्त अगाविति च । अवश्यायः । आदिति सिद्धे पुनः श्यागृहणम् “आतो गौ” [ २।१।१०६ ] इत्यस्य बाधनार्थः । आत् । दायः । धायः । व्याधः । आसावः । ससावः । लेहः । श्लेषः । धासः । अत्यायः । “अवादिभ्यस्तनेरिति वक्तव्यम्” [वा०] अवतनोतीत्यवतानः ।

हृसोऽवे ॥२।१।११५॥ हृ सा इत्येताभ्यामवपूर्वाभ्या शो भवति । अवहारः । अवसायः ।

दुन्योरगौ ॥२।१।११६॥ दुनी इत्येताभ्या शो भवति । दुनोतीति दावः । नायः । अगाविति किम् ? प्रदवः । प्रणयः ।

विभाषा ग्रहः ॥२।१।११७॥ ग्रहेर्विभाषया शो भवति । ग्राहः । ग्रहः । व्यवस्थितविभाषेयम् । जलचरे ग्राह एव । ज्योतिषि ग्राह एव । विभाषेति योगविभागाद् भवतीति भावः ।

गेहे कः ॥२।१।११८॥ ग्रहेर्गेहेऽभिधेये को भवति । गेह सज्ञ । तात्स्थ्याद्वारा अपि । गृह गृहाः ।

शिल्पिनि द्युः ॥२।१।११९॥ शिल्पिन्यभिधेये द्युर्भवति धोः । नर्त्तकः । खनकः । रजकः । रजक-रत्नरत्ना नत्त वक्ष्यति । एत एव धवः प्रयोजयन्तीति केचित् ।

गौ ण्युधकौ ॥२।१।१२०॥ गायतेऽयुं थक इत्येतौ त्र्यौ भवतः । शिल्पिनीति वर्तते । गायनः । गायकः ।

हायनः ॥२।१।१२१॥ हायन इति निपात्यते ग्रीष्मकालयोः कर्त्तव्यः । जहात्युदकमिति हायना नाम गौरम् । पश्यति रश्मिता किनाः हायनः सवत्सर ।

श्रुत्त्वः साधुकारिणि वुन् ॥२।१।१२२॥ पु स लू इत्येतेभ्यः वुभ्यः साधुकारिणि कर्त्तरि वुन् भवति । पश्य प्रोक्ता स प्रवक्तुः । एव सर्वः । सवक्तुः । साधुकारिणीति किम् ? प्रवः ।

आणिषि ॥२।१।१२३॥ आणिषि चार्थ उन् भवति धोः । जीवतादिति य उच्यते स जीवकः । एव नन्वः । नर्त्तकः ।

स्तनपर्णान्दिरचित्ताया जेनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ द्वितीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ।

कर्मण्यण् ॥२।२।१॥ कर्मणि कारके वाचि धोरणित्ययं ल्यो भवति । कुम्भकारः । शग्लवः । चर्चापारः । कुम्भादिशब्दात् “कर्तृकर्मणोः कृति” [ १।४।६८ ] इति ता । “वागमिङ्” [ १।३।८० ] इति पसः । “शीलिकामिभक्ष्याचरीक्षिष्यमिभ्यो णो वक्तव्यः” [ वा० ] धर्मशीलः । धर्मशीला । धर्मसमः । वायुभक्तः । धर्माचारः । धर्मापेक्षः । क्लेशक्षमः । नेद वक्तव्यम् । घञन्तेन वसे सति सिद्धम् । धर्मे शीलमन् धर्मशीलः । धर्मे कामोऽस्य धर्मकामः । धर्मे शीलयतीत्येवमादिविग्रहे अनभिधानादण् न भवति यथा आदित्य पश्यति हिमवन्तं शृणोतीत्येवमादौ न भवति । कुम्भकारादिष्वण् घञन्तेन च वम इत्युभय भाति ।

ह्लाचामः ॥२।२।२॥ हा वा मा इत्येतैन्यश्वाण् भवति कर्मणि वाचि । के प्राप्ते इद वचनम् । स्वर्गहायः । तन्तुवायः । वातिवायत्योर्मातेश्चाकर्मकत्वादग्रहणम् । धान्य मिमीते मयते वा धान्यमा । मीनातिमिनोत्योः कप्राप्तेरभावात् पूर्वैणैवाण् ।

आतः कः ॥२।२।३॥ आकारान्ताद्धोः कर्मणि वाचि क इत्यय ल्यो भवति । गोदः । अर्थजः । पार्ष्णित्रम् । अङ्गुलित्रम् । ज्या वयोहानावित्यस्य ब्रह्म जिनातीति ब्रह्मज्यः । के कृते परत्वादातः स पश्चाजि । “असिद्धवदत्राभात्” [ १।४।२१ ] इत्यात्वस्यासिद्धत्वादियादेशो न भवति । यणादेशः सिद्धः । जुहुयुः जुहु-बुरित्यत्र ह्वञ् आत्ममकृत्वा जिः क्रियते इत्यात्वं नास्तीत्युवादेशः सिद्धः । आहः । प्रहः । इत्याकारान्तात् “आतो गौ” [ २।३।८८ ] इति कः । प्रागात् पश्चाजिः ।

प्रे ॥२।२।४॥ प्रपूर्वादातः को भवति कर्मणि वाचि । तत्त्वप्रज्ञः । मोक्षप्रज्ञः । नियमाथोऽयमारम्भः । प्र एव गो नान्यस्मिन्नातः को भवति । गोसंदायः । वडवासदायः ।

दाज्ञः ॥२।२।५॥ अयमपि नियमः । दा जा इत्येताभ्यामेव प्रपूर्वाभ्या कर्मणि को भवति । पम-प्रदः । धर्मप्रज्ञः । नियमादिह न भवति । पार्ष्णिप्रत्रायः । अङ्गुलिप्रत्रायः । कथ भाष्ये प्रयोगः “अभिज्ञा पुनरेकत्वादीनामर्थानाम्” इति । अत्राभिधानवशात् “आतो गौ” [ २।३।८८ ] इति को भविष्यति ।

सख्यः ॥२।२।६॥ प्र इति नियमेन निवर्तिते के पुनरारम्भः । सम्पूर्वात् ख्या इत्येतस्मात्कर्मणि गति को भवति । पशून् सञ्चयं पशुसंख्यः । अश्वसंख्यः ।

सुपि ॥२।२।७॥ सुवन्ते वाचि धोरतः को भवति । पादः । पिबति पादपः । कच्छेन पिबति क-लुपः । द्वाभ्या पिबति द्वीपः । समस्यः । विपमस्यः । धर्माय प्रददाति धर्मप्रदः । शास्त्रेण प्रज्ञानाति शान्तपनः । अकर्मण्यपि वाचि यथा स्यादिति सुवग्रहणम् । इह केचिदात इति नानुवर्तयन्ति । तेन मूलान् विभुजति धनं नवशात् वः सिद्धः । मूलान् विभुजति मूलविभुजो रथः । जलरुहम् । नवमुचानि धनृपि । कास्फुगान्निनाः ।

स्थः ॥२।२।८॥ सुपि वाचि तिष्ठतेः को भवति । कर्तारि पूर्वा योगः । अनिर्दिष्टार्थान् भांऽपी १ १ स्यादित्यारम्भः । आख्नामुत्थानमावृत्यः । शलभोत्थः । “स्थास्तभोः पूर्वव्योदः” [ २।४।१३५ ] इति स्यात् स्त्वं पूर्वस्त्वल्म् ।

दुहो वरच ॥२।२।९॥ इतः प्रभृति कर्मणीति सुपीति च द्वयमनुवर्तते । र्मणि वाचि दुहो भवति वरचश्चादेशः । कामान्दोग्धि कामदुहो धर्मः । कामदुहा वेनु ।

तुन्दशोकयोः परिमृज्यापनुदोः ॥२।२।१०॥ तुन्द शोक इत्येतयो र्मणोर्भातो परिमृज्या इत्येतान्या को भवति । अविशेषेण “सुपि” [ २।२।७ ] इत्येतैरेव क निङ्गे आलम्बनमुत्पादयति तर्हि तर्हि स्यादित्यारम्भः । तुन्दपरिमृज्य अलम्बयन्त्वेत् । शोकापनुद पुत्रो जनः । पुत्र “निफुप्रादयः” [ १।३।८१ ] इति पम. पश्चाद्वाक्स । आलम्बनमुत्पादयन्नेति किम् ? तुन्दपरिमृज्य आलम्बनमुत्पादयन्नेति ।

गष्टक् ॥२।२।११॥ गा इत्येतस्माद्धोः कर्मणि वाचि टगित्ययं त्यो भवति । वक्त्रगः । वक्त्रगी । “प्रे” [२।२।४] “दाज्ञः” [२।२।५] इति नि”मादगिपूर्वादातः कर्मणि को विहितस्तस्मिन्नेव विषये टक् । अन्यत्राण्येव भवति । वक्त्रसंगायः ।

सुराशीध्वोः पिवः ॥२।२।१२॥ सुरा शीधु इत्येतयोः कर्मणोः पिवतैः टग्भवति । सुरापः । सुरापी । शीधुपः । शीधुपी । अयमपि कापवादः । सुराशीध्वोरिति किम् ? क्षीर पिवतीति क्षीरपा कन्या । पिव इति विकृतनिर्देशः किम् ? सुरा पातीति सुरापा ।

ग्रहेरः ॥२।२।१३॥ ग्रहेर्धोः कर्मणि वाचि अ इत्ययं त्यो भवति । शक्तिलाङ्गलाङ्कुशयष्टितोमरघटघटी धनुःषु बाहु प्रायेणाभिधानम् । शक्तिग्रहः । लाङ्गलग्रहः । अङ्कुशग्रहः । यष्टिग्रहः । तोमरग्रहः । घटग्रहः । घटीग्रहः । धनुर्ग्रहः । सूत्रग्रहो भवति धारयति चेत् । सूत्रग्रहोऽन्यः ।

हजोऽनुत्सेधे ॥२।२।१४॥ उत्सेध उत्तेषणम् । हजोऽनुत्सेधे वर्तमानात् कर्मणि वाचि अत्यो भवति । अश हरति अंशहरः । भागहरः । रिक्थहरः । अनुत्सेधे इति किम् ? भारहारः । न केवलमुच्छ्राये उत्तेषणेऽप्युत्सेध इति शब्दो वर्तते तद्यथा नानाजातीया अनियता ( तवृत्तयः ) उत्सेधजीविन इति ।

वयसि ॥२।२।१५॥ शरीरिणा कालकृतावस्था वयः, तत्र अत्यो भवति वयसि गम्ये । अयमुत्सेधार्थं आरम्भः । कवचहरः क्षत्रियकुमारः । अस्थिहरः श्वशिशुः । दृशोर ( दृश्यमानेन ) संभाव्यमानेन वा भारोत्तेषणेन वयो गम्यते ।

आडि शीले ॥२।२।१६॥ शील स्वाभाविकी प्रवृत्तिः । आडि च वाचि हजोऽत्यो भवति शीले गम्यमाने । पुष्पाहरः । फलाहरः । सुखाहरः । उत्सेधानुत्सेधयोरयं विधिरिष्यते । अनुत्सेधे पूर्वेण कस्मान्न भवति ? शीले परत्वात्तृन् स्यात् । शील इति किम् ? भारमाहरति भाराहारः ।

अर्हः ॥२।२।१७॥ अर्हतेः कर्मणि वाचि अत्यो भवति । पूनार्हा प्रतिमा ।

स्तम्बेरमकर्णेजपौ ॥२।२।१८॥ स्तम्बेरम कर्णेजा इत्येतौ शब्दौ हस्तिशूचकयोरर्थयोर्निपात्येते । स्तम्बेरमो हस्ती । कर्णेजपः सूचकः । स्तम्बकर्णयो रमिजपोरिति सूत्र कर्त्तव्यं सुपीति वर्तते । “पे कृति बहुलम्” [४।३।१३२] इत्यनुपा सिद्धम् । अयंविशेषपरिग्रहार्थं निपातनम् । इह मा भूत् । स्तम्बे तृणस्तवके रन्ता गौ । कर्णे जपिता वैद्यः ।

शमि धोः खौ ॥२।२।१९॥ शमि वाचि धोः खुविपये अत्यो भवति । शम्भवः । शवदः । शङ्करः । धुमद्वयेऽनुवर्तमाने पुनर्धुग्रहण बाधकबाधनार्थम् । शङ्करा नाम परित्राजिका । खुविपये कृजो हेत्वादिषु परत्वाद्भो मा भूत् । खाविति किम् ? शङ्करी जिनविद्या ।

शोडोऽधिकरणे ॥२।२।२०॥ शोतेरधिकरणे सुबन्ते वाचि अत्यो भवति । खे शोते खशयः । येशयः । गर्तशयः । गतेशयः । “पे कृति बहुलम्” [४।३।१३२] इति पत्वेऽनुप् । शीढ इति योगविभागात् पार्श्वदिष्टु सुबन्तेषु बाहु अत्यो भवति । पार्श्वाम्या शोते पार्श्वशयः । पृष्ठशयः । उदरशयः । “उत्तानादिषु च कर्त्तव्य” [वा०] उत्तानः शोते उत्तानशयः । अवमूर्द्धशयः । “दिग्धसहपूर्वाच्च अत्यो भवति” [वा०] दिग्धेन नर शोते दिग्धसदृशयः । पथ गिरिशः लोमादिपाटान्मत्वर्थीयः शः । यो हि गिरौ शोते गिरिस्तस्यास्ति ।

चरेष्ट ॥२।२।२१॥ चरेष्टोऽधिकरणे वाचि टो भवति । कुरुषु चरति कुरुचरः । मद्रचरः । मद्रचरी । क्षत्रिचर इत्येव । कुरुक्षरति कुरुचारः ।

मिक्षासेनादाये ॥२१२२॥ अनधिकरणार्थमेतत् । मिक्षा सेना आदाय इत्येतेषु वाचु नरो भवति । मिक्षाचरः । सेनाचरः । आदायशब्दः पान्तः । आदाय चरति आदायचरः ।

पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सुः ॥२१२३॥ पुरम् अग्रतस् अग्रे इत्येतेषु सुवन्तेषु वाचु सरतो भवति । पुरःसरः । “अग्रतस् आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्” [ वा० ] इत्येवन्तात्तमिः । अग्रतःसरः । अग्रेसरः । अग्रेसरी । अनीवन्तत्वेऽप्येकारो निपातनात् ।

पूर्वं कर्त्तरि ॥२१२४॥ कर्तृग्रहण कर्मनिवृत्त्यर्थं पूर्वशब्दे कर्तृवाचिनि सुवन्ते वाचि सरतो भवति । पूर्वः सरति पूर्वसरः । क्रियायां विशेषणोऽपीष्यते । पूर्व प्रथम सरति पूर्वसरः । कर्तृगीति किम् ? देश सरति पूर्वसरः ।

कृजो हेतुशीलानुलोम्येऽशब्दश्लोककलहगाथावैरचाटुसूत्रमन्त्रपदे ॥२१२५॥ शब्दश्लोकादिर्वर्जिते कर्मणि वाचि कृजः ट इत्ययं ल्यो भवति हेतौ शीले आनुलोम्ये च गम्यमाने । हेतुगच्छोपाशनात् इह हेतुः प्रकृष्ट कारणम् । विद्या यशस्करी । धन कुलकरम् । शील स्वभावः । समामकरः । यथागः । आनुलोम्यमनुकूलता । प्रेपकरः । वचनकरः । एतेष्विति किम् ? कुम्भकरः । अशब्दादिष्विति किम् ? शब्दकारः । श्लोककारः । कलहकारः । गाथाकारः । वैरकारः । चाटुकारः । सूत्रकारः । मन्त्रकारः । पदकारः ।

दिवाविभानिशाप्रभाभास्करान्तानन्तादिनान्दीलिपिलिविगलिभक्षिकर्तृचित्रक्षेत्रगण्यजङ्घावाहहर्षनुररुःपु ॥२१२६॥ अहेत्वाद्यर्थं आरम्भः । दिवाशब्दे सुवन्ते वाचि विभादिषु कर्मसु वाचु करोतेष्ट इत्ययं ल्यो भवति । दिवेति भिन्नञ् पठम् । दिवा करोतीति दिवाकरः । विभा करोतीति विभाकरः । निशाकरः । प्रभाकरः । भासन भाः । भास करोति भास्करः । सूत्रे भास्करान्तेति मन्त्रस्य निपातनात् निशा मूलीयविसर्जनीयौ न भवतः । कार करोतीति कारकरः । अन्तकरः । अन्तन्तकरः । अन्तङ्गन्त नञ् अन्तङ्गप्रतीयते इत्यनन्तग्रहणम् । आदिकरः । नान्दीकरः । लिपिकरः । लिपिकरः । बलिकरः । भक्षिकरः । चित्रकरः । क्षेत्रकरः । सख्या एकत्रद्विवादिका । एककरः । बहुशब्दोऽपि नानाधिकरण्याची सप्ताशयः । बहुकरः । जघाकरः । बाहुकरः । हृत्स्करः । “रोऽसुपि” [ १३।७८ ] इति रेफः । तन् “कुरुमि” [ १।४।३४ ] आदि सूत्रेण सन्धम् । धनुःकरः । अरुकरः । “मम्सेऽद्युस्थस्य” [ १।४।३३ ] इति म म । “इणः प.” [ १।४।२७ ] इति पत्वम् ।

कर्मणि भृतौ ॥२१२७॥ कर्मशब्दे वाचि कृजो भवति भृतौ गम्यमानायाम् । भृतौ भवति कर्ममूल्यम् । कर्म करोति कर्मकरः । भृताविति किम् ? कर्मकरः ।

कियत्तद्बहुष्वः ॥२१२८॥ किम् यद् तद् बहु इत्येतेषु वाचु कृजः अ इत्यं ल्यो भवति । कियत्तद्बहुष्वः । यत्करः । यत्करः । तत्करः । तत्करः । चाप तत्करः । बहुष्वः । इह बहुष्वोऽपि बहुष्वोऽपि । त एव भवति । कियत्तद्बहुष्वः ।

एजेः खश् ॥२।२।३२॥ एजेतेर्यन्तात्खशित्यय त्यो भवति कर्मणि वाचि । खकारः “खित्यक्तेः” [४।३।१७६] इति विशेषणार्थः । शकारो गमसार्थः । अङ्गान्येजयति अङ्गमेजयः । जनमेजयः । “वाततिल-  
सार्धेषु अजतुदजहातिभ्यः खश्चक्तव्यः” [ वा० ] वातमजाः मृगाः । तिलन्तुदः काकः । सार्धज्जहा मृगाः ।

नासिकादौ घेट्धमः ॥२।२।३३॥ नासिकादिषु कर्मसु घेट् ध्मा इत्येताभ्यां खश् भवति । नासि-  
कान्धयति नासिकन्धयः । नासिकान्धमः । स्वरिन्धयः । स्वरिन्धमः । नाडिन्धयः । नाडिन्धमः । मुष्टिन्धयः ।  
मुष्टिन्धमः । घटिन्धयः । घटिन्धमः । वातन्धयः । वातन्धमः । शुनीस्तनयोर्घेट एव । शुनिन्धयः । स्तनन्धयः ।  
आदिशब्दः प्रकारवाची ।

उदि कूले रुजिवहोः ॥२।२।३४॥ उदीति कास्थाने ईप् । उत्पूर्वाभ्यां रुजि वहि इत्येताभ्यां कूले  
कर्मणि खश् । कूलमुद्रुजः । कूलमुद्रहः ।

वह्राभ्रे लिहः ॥२।२।३५॥ वह अत्र इत्येतयोः कर्मणोः लिहेर्धोः खश् भवति । वहं लेडि वहंलिहो  
गौः । अत्र लिहः प्रासादः ।

मितनखपरिमाणे पचः ॥२।२।३६॥ मितशब्दस्य पृथग्निर्देशात् परिमाण प्रस्थादि गृह्यते । मित  
नख परिमाण इत्येतेषु कर्मसु पचेर्धोः खश् भवति । मित पचते मितम्पचा कन्या । नखम्पचा यवागूः । प्रस्थ-  
म्पचा । आढकम्पचा । द्रोणम्पचा ।

विध्वरुपोस्तुदः सखम् ॥२।२।३७॥ विधु अरुष् इत्येतयोः कर्मणोः तुदेर्धोः खश् भवति ।  
सकारस्य च खम् । विधुन्तुदः । अरुन्तुदः ।

वाचंयमासूर्यं पश्योग्रस्पश्यललाटन्तपपरन्तपद्विषन्तपेरम्मदपुरन्दरस्व सहाः ॥२।२।३८॥  
एते शब्दा निपात्यन्ते । वाक्छन्दे कर्मणि यमेर्धोः खो निपात्यते व्रते । वाच यच्छति वाचंयमस्तपस्वी । वाग्या-  
मोऽन्यः । सूर्ये न पश्यति असूर्यपश्य मुखम् । असूर्य पश्या राजदाराः । निपातनादसामर्थ्येऽपि नञ्सः दृशोः  
खश् । उग्रं पश्यति उग्रम्पश्यः । उग्रे कर्मणि दृशे खश् निपात्यते । ललाटन्तपति ललाटन्तपो भास्वान् ।  
खश् निपात्यः । परास्तापयति परन्तपः । द्विषतस्तापयति द्विषन्तपः । परद्विषतोः कर्मणोस्तापेः खन्निपात्यते ।  
तकारस्य च खम् । “खचि” [४।४।८८] इति प्रादेशः । स्त्रियामनभिधानम् । द्विषतीतापः । इरया माद्यति  
इरम्मदम् । खन्निपात्यः । पुरो दारयति पुरन्दरः । खच् वाचो मन्तता च निपात्यते । सर्व सहते इति  
सर्व सहः । खश् निपात्यः । कथ पाणयो ध्यायन्ते एषु पाणिन्धमा पन्थान इति ? नासिकादौ पाणिशब्दः; तत्र  
पाणिन्धमा. पथिकाः तात्त्वात्पन्थानोऽपीत्यधिकरणे खश् न वक्तव्यः ।

प्रियवशे वदः खच् ॥२।२।३९॥ प्रिय वश् इत्येतयोः कर्मणोः वदतेः खजित्यय त्यो भवति ।  
प्रियवदः । वशवदः । खकारो वागर्थः ( नुमर्थः ) । चकारः “खचि” [४।४।८८] इति विशेषणार्थः ।  
त्वान्तरकरण किमर्थम् ? खशि वति उत्तरत्र करोतेर्विभर्तेश्च विकरणः स्यात् । धोरिहोडः प्रादेशश्च  
न स्यात् ।

सर्वकृलाभ्रकरीपेषु कष ॥२।२।४०॥ सर्व कूल अत्र करीष इत्येतेषु वाचु कषतेः खज् भवति ।  
सर्व कषो विप्र । कूलङ्गपा नदी । अत्रङ्गपो वायुः । करीषङ्गपा वात्या । “भगे दारे. खज् वक्तव्यः” [ वा० ]  
भगन्दरः ।

मेघतिभयेषु हज ॥२।२।४१॥ मेघ ऋति भय इत्येतेषु कर्मसु करोते. खज् भवति । मेघङ्करः ।  
हृदिहय । भगन्दरः । “जनराज्येति वक्तव्यम्” [ वा० ] नभयङ्गरो जिनः । नज्से अन्योऽर्थः प्रतीयते ।  
खरोऽपराजोऽपः । परत्वेन त्वादित्य च वाधकः ।

क्षेमप्रियमद्रेऽण् च ॥२।२।४२॥ क्षेम प्रिय मद्र इत्येतेषु कर्मसु करोतेरणित्ययं लो भवति सच ।  
वेति सिद्धे कृजो हेत्वादिष्वपि द्यप्रतिषेधार्थमणग्रहणम् । क्षेमकारः । क्षेमङ्करः । प्रियकारः । प्रियङ्करः । मा-  
कारः । मद्रङ्करः ।

आशितम्भवः ॥२।२।४३॥ आशितम्भव इति निपात्यते । आशितशब्दे मुनन्ते वाचि भवतेर्भा-  
करणयोः खजू निपात्यते । आसित इति कर्त्तरि क्लो दीत्वं चात एव निपातनात् । आशितस्य भवनमाशितम्भो  
वर्त्तते । आशितो भवत्यनेनालमयमाशितम्भव ओदनः । प्रकरणान्तरविहितो युडपि भवति । भावे घञ् समान-  
दयं बाधकः ।

भृतवृजिधारिसहितपिदमः खौ ॥२।२।४४॥ भृ तृ वृ जि धारि सहि तपि दमि इत्येतेभ्य गुणितो  
खजू भवति । कर्मणि सुपि वाचि यथासम्भवमयं विधिः । चित्रम्भरा । वसुन्धरा । रयन्तगे नाम राजा ।  
वृडावृजोः-पतिंवरा कन्या । अरिञ्जयः । युग धारयति इति युगन्धरः । “खचि” [४।४।८८] इत्युः प्रायेणः ।  
शत्रुंसहः । शत्रुन्तपः । दमिरन्तर्गतस्यर्थः । अरिन्दमः । खाविति किम् ? कुटुम्भभारः ।

गमः ॥२।२।४५॥ खाविति वर्त्तते । सुवन्तवाचि गमेर्धो खजू भवति । सुतङ्गमो नाम कश्चित् ।  
क्वचिदखावपीष्यते । मितंगमोऽश्वः । अमितङ्गमा हस्तिनी । ‘विहायसो विहादेश राच्य वा डिङ्कन्य’  
[ वा० ] विहायसा गच्छति विहङ्गः । विहङ्गमः । ‘तुरसुजयोश्च’ [ वा० ] तुरङ्गः । तुरङ्गमः । सुजङ्गमः ।  
सुजङ्गमः ।

ङः ॥२।२।४६॥ खाविति निवृत्तं गम इति वर्त्तते । गमेर्धो भवति सुवन्ते वाचि । अन्तादिषु नातु प्राये-  
णाभिधानम् । अन्तगः । अत्यन्तगः । अवगः । दूरगः । पारगः । अनन्तगः । सुन्तल्पगः । स्नापारगः ।  
ग्रामगः । सर्वत्र गच्छति सर्वत्रगः । पन्न गच्छति पन्नगः । ‘उरसः ससञ्चोति वक्तव्यम्’ [ वा० ] ‘विहायसा  
विहं च’ [ वा० ] उरसा गच्छति उरगः । विहायसा गच्छति विहगः । ‘सुदुरोगधिक्कणे ङो वक्तव्यम्’ [ वा० ]  
सुखेन गच्छति अस्मिन् सुगः । दुर्गः । ‘निसो देशे’ [ वा० ] निर्गा देशः । इत्यभस्यापि डिङ्करणसामर्थ्या-  
खम् ।

आशिपि हनः ॥२।२।४७॥ आशिष्ये ण्तेर्ङो भवति कर्मणि वाचि । तिमि हन्ति तिमिम् ।  
शापहः ।

अपे फ्लेशतमसोः ॥२।२।४८॥ अप इति कास्थाने टप् । अपपृचात् ह्नोः क्लृप्तमगो, कर्मागो-  
र्वाचोर्ङो भवति । अनाशीरर्थोऽयमारम्भः । क्लेशापहः । तमापहः ।

कुमारशीर्षयोर्णिन् ॥२।२।४९॥ कुमार शीर्ष इत्येतयो, कर्मणोर्णिन् भवति । अगो मार्ग-  
यमारम्भः । कुमारवाती । शीर्षवाती । शीर्षशब्दोऽकारान्तः गिरः पूर्वोऽस्ति ।

पाणिघताडघराजघाः ॥२।२।५३॥ एते शब्दा निपात्यन्ते । पाणिघताडयौ शिल्पिनि निपात्येते ।  
अन्यत्र पाणिघातः । ताडघातः । राजघ इत्यविशेषेण । टम्बत्व टिल च निपात्यम् ।

सुभगाढ्यस्थूलपलितनग्नान्धप्रियेऽन्वो स्तुखुकजौ भुवः ॥२।२।५४॥ अच्चाविति च्यन्त-  
प्रतिषेधात् नञिवयुक्त्यायेन च्यर्थविज्ञानम् । अच्यन्तेषु च्यर्थे वर्तमानेषु सुभगादिषु वाच्य भवतेः स्तुख् स्तुख्  
इत्येतौ तौ भवतः । असुभगः सुभगो भवति सुभगम्भविष्णुः । सुभगम्भावुकः । आढ्यम्भविष्णुः । आढ्यम्भा-  
वुकः । स्थूलम्भविष्णुः । स्थूलम्भावुकः । पलितम्भविष्णुः । पलितम्भावुकः । नग्नम्भविष्णुः । नग्नम्भावुकः ।  
अन्धम्भविष्णुः । अन्धम्भावुकः । प्रियम्भविष्णुः । प्रियम्भावुकः । यत्र तदन्विभिषिष्टः । श्रीसुभगम्भविष्णुः ।  
श्रीसुभगम्भावुकः । अच्चाविति हिम् ? सुभगीभविता । आढ्यीभविता । नञ्निर्दिष्टे सदृशसप्रत्ययादिह न  
भवति-सुभगो भविता ।

कृजः करणे स्तुट् ॥२।२।५५॥ कृजः करणे कारके स्तुट् भवति अच्यन्तेषु च्यर्थे वर्तमानेषु  
सुभगादिषु वाच्य । असुभग सुभगं कुर्वन्त्यनेन सुभगङ्करणम् । आढ्यङ्करणम् । स्थूलङ्करणम् । पलितङ्करणम् ।  
नग्नङ्करणम् । अन्धङ्करणम् । प्रियङ्करणम् । सुभगङ्कणी विद्या । अच्यन्तेषु इत्येव । सुभगीकुर्वन्त्यनेन ।  
नन्वत्र स्तुटि पुटि वा नास्ति विशेषः । सत्यम् । अच्यन्तानुवृत्तेस्तु युटोऽप्यन्वार्थः प्रतिषेधः । च्यर्थे वर्तमाने-  
ष्वित्येव । आढ्य कुर्वन्ति तैलेन । अभ्यञ्जयन्तीत्यर्थः ।

स्पृशोऽनुदके किः ॥२।२।५६॥ उदकवर्जिते सुपि वाचि स्पृशोर्धोः किर्भवति । ककारः कित्कार्यार्थः ।  
वकारः सति साम्ये कपो वाधनार्थः । मन्त्रेण स्पृशति मन्त्रस्पृक् । दल स्पृशति दलस्पृक् । “वश्च”  
[५।३।५३] आदि सूत्रेण पत्व जश्च “कित्यस्य कुः” [५।३।७५] इति कुत्वम् । अनुदक इति किम् ? उदक  
स्पृशति उदकस्पर्शः ।

ऋत्विग्दधृग्लृग्दिगुण्णिगञ्चुयुजिक्ञचः ॥२।२।५७॥ ऋत्विक् दधृक् सक् दिक् उष्णिक्  
इत्येते क्यन्ता निपात्यन्ते । अञ्चु युजि कुञ्चि इत्येतेभ्यस्तु किर्भवति । ऋतौ यजते ऋतुप्रयोजनो वा यजते  
ऋत्विक् । ऋतुशब्दे वाचि यजेः किर्निपात्यते । धृणोताति दधृक् । धृपेः किर्द्वित्व च निपात्यते । सृजन्ति  
तामिति सक् । सृजे कर्मणि किरमागमश्च निपात्यः । दिशन्ति तामिति दिक् । दिशेः कर्मणि किः ।  
उत्तिनयतीति उष्णिक् । उत्पूर्वा स्निहः ग्यन्तल पत्व च । उष्णीषेण नहातीति वा उष्णिक् । षनल प्रश्च ।  
अञ्चु । प्राड् । दध् । सुमन्तमाने किर्भवति । युजेः केवलादेव किः । युड् । युजौ । युञ्जः । क्रुड् ।  
क्रुडौ । क्रुञ्च । क्रुञ्चरेपि केवलात् किः । नल न भवति । स एष विशेषो निपातनैः सह निर्देशाल्लभ्यते ।

त्यदादौ दृशोऽनालोके टक् च ॥२।२।५८॥ त्यदादिषु वाच्य दृशोर्धोरनालोकेऽर्थे टक् भवति  
किञ्च । आलोकश्चक्षुर्विषयः पर्युदलो । त्याहक् । त्याहश । “दृशदृक्षवतौ” [४।३।१६५] इति  
निर्देशादपि भवति । त्याहलः । “मासर्वनाम्नः” [४।३।१६७] इत्यात्मम् । एव ताहक् । ताहशः ।  
ताहलः । याहक् । याहशः । याहलः । रटिशब्दा एते तेन नैतेष्ववयवयोऽस्ति । तमिव पश्यति अथवा  
स ह्य दृश्ये इति यथा कञ्चित्कृतम् । ‘समानान्ययोश्चेति वचन्यम्’ [वा०] सदृशः । सदहक् । सदहलः ।  
अन्त्याहक् । अन्त्याहशः । अन्त्याहलः । “दृशदृक्षवतौ” [४।३।१६५] इति समानस्य सभावः । अनालोक  
इति किम् ? य पश्यति यदृशः । तदर्शः ।

स्तत्सद्विषदुरद्रह्युजविदभिदन्विज्जदजिनोराजो नावपि किप् ॥२।२।५९॥ सदादिभ्यो धुभ्य  
किन् भवति नौ वाचि अविज्ञानार्थं सुमन्तेऽपि । प्रवर् । दिवि सीदतीति युपर् । अन्तरिक्षवर् । सू इति



द्विषा सहचरितः आदादिकः । प्रसूते प्रसूः । 'अण्डं सूते अण्डस्' । शतसः । गर्भम् । विद्रेष्टीति विद्रिप् । मित्रद्विप् । प्रद्रुह्यतीति प्रद्रुक् । मित्राय द्रुह्यति मित्रद्रुक् । प्रदोग्धि प्रद्रुक् । युजिर् योगे गुज समावाकिति चाविशेषेण ग्रहणम् । प्रयुनक्ति प्रयुक् । अश्वयुक् । युजेर्यन्तस्याऽपि युज इति निपातनात् णेप् । प्रयोजतीति प्रयुक् । 'अश्वान् योजयति-अश्वयुक् । विदेरविशेषेण ग्रहणम् । प्रवित् । धर्मवित् । प्रभिर् । बलभिर् । प्रच्छिप् । रज्जुच्छिप् । प्रजित् । कर्मजित् । प्रणीः । ग्रामणीः । विराजते विराट् । सम्राट् । 'मन्वन्कनि-द्विचः कचिच्' [२।२।६२] 'किप्' [२।२।६३] इति किपि सिद्धे नियोगार्थमिदम् । सुपीति वर्तमाने गिग्रहणं किमर्थम् ? अन्यत्र सुग्रहणे गिग्रहणं नास्तीति जापनार्थम् । तेन 'वद. सुपि क्यप् च' [२।१।८३] इति गे क्यप् भवति । प्रवाच्यमनुवाच्यम् ।

अदोऽनन्ने ॥२।२।६०॥ अदेर्धोः किञ्भवति अनन्ने सुवन्ते वाचि । आममस्ति आमात् । वृत्ता । अनन्न इति किम् ? अन्नाद ।

क्रव्ये ॥२।२।६१॥ क्रव्यमाममासम् । क्रव्यशब्दे वाचि अदेः किञ्भवति । क्रव्यमस्ति क्रव्यात् । पूर्णं सौव सिद्धे पुनरारम्भः असत्पस्याणो वाचकः । कथं तर्हि क्रव्यादः ? पृषोदरादिषु कृत्तनिकृतादः क्रव्याः इति द्रष्टव्यम् ।

मन्वन्कनिद्विचः कचिच् ॥२।२।६२॥ मन् वन् कनिप् विच् इत्येते त्याः कचिद् दृश्यन्ते । गावपीत्यनुवर्तते । सुशर्मा । सुवर्मा । कचिदिति वचनात् केवलादपि । दामा । पामा । वामा । हेमा । त्व । विजावा । अग्रेगावा । 'वन्त्याः' [४।४।४२] इत्यात्वम् । कनिप् । प्रातरिल्वा । प्रातरिल्लानो । केलादपि । कृत्वा । कृत्वानौ । धीवा । पोवा । विच् । विशतीति वेट् । रेट् । वकारः कृत्कार्यार्थः । इकार उच्चारणार्थः । चकारः एवर्थः । जागर्ति जागः । विरित्युच्यमाने 'जागुरविजिण्विडिति' [५।२।८२] इति एप्रतिषेधः शट्क्येत ।

किप् ॥२।२।६३॥ किप् धोः कचिद् दृश्यते गावपि । उखेन ( उखाया. ) स सते 'उताभ्र' । वाहात् भ्रश्यति वाहाभ्रट् । 'अन्यस्यापि' [४।३।२३२] इति दीत्वम् । कचिदधिकारात्केवलादपि । वाति याः । वाति वाः ।

स्थः कः ॥२।२।६४॥ गावपीति वर्तने । तिष्ठते को भवति । शन्तिष्ठति शस्थः । सुस्थः । ननु 'सुपि' [२।२।७] 'स्थः' [२।२।८] इत्यनेनैव कः सिद्धः । न मिव्यति । 'शमि धोः स्यो' [२।२।१३] इत्यत्र धुग्रहणस्य प्रयोजनमुक्तं समत्वेन पूर्वस्य कस्य वाचनमिति । यथा शङ्करा परित्राजिहेत्यत्र हेत्यादिलक्षणम् य । वाधात्कस्याकारस्य वाचनार्थं पुनः कविधानं किपोऽसमत्वादस्त्यो न वाचक इति पर्वणं किमिदं । शन्त्याः ।

इत्येवशीलः उष्णभोजी । उदासारिण्यः । प्रत्यासारिण्यः । अजाताविति किम् ? शालीन् भुङ्क्ते इत्येव शीलः शालिभोजः । साधूनामन्यिता । शीन इति किम् ? उष्णभोजः आतुरः । कचिदित्यनुवृत्तेः साधुकारिण्य-  
प्यर्थे णिन् । साधुकारी । साधुदायी । “ब्रह्मणि वदेहिन् वक्तव्यः” [ वा० ] असमस्याणो बाधकः । ब्रह्म-  
वादिनो वदन्ति ।

कर्त्तरीवे ॥२।२।६७॥ कर्त्तरि वाचि इवार्थे धोरिण् भवति । उपमानभूते कर्त्तरीत्यर्थः । जात्यर्थम-  
शीलार्थं चेदम् । उग्र इव क्रोशते उग्रक्रोशी । धाङ्गरावी । खरनादी । सिंहनर्दी । वृत्त्यैवार्थस्योक्तत्वादिवशब्द-  
स्याप्रयोगः । कर्त्तरीति किम् ? तिलानिव भुङ्क्ते कोद्वान् । इव इति किम् ? उग्रः क्रोशति ।

व्रते ॥२।२।६८॥ सुव्रते वाचि धोरिण् भवति समुदायेन चेद् व्रत गम्यते । शास्त्रपूर्वको नियमो  
व्रतम् । पार्श्वशायी । स्थण्डिलशायी । वृद्धमूलवासी । श्राद्धं न भुङ्क्ते व्रतमस्य अश्राद्धभोजी । अलवण-  
भोजी । सापेक्षस्यास्यापि नञो वृत्तिर्व्याख्याता । व्रत इति किम् ? स्थण्डिले शेते कामचारेण ।

प्रायो (य आ) ऽभोक्ष्ये ॥२।२।६९॥ सुव्रते वाचि धोराभोक्ष्ये गम्ये प्रायो णिन् भवति । शील  
गुणान्तरे द्वेषः । ततोऽन्यन्मुहुर्मुहुः सेवनमाभोक्ष्यम् । कषायपायिणो गान्धारयः । सौवीरपायिणो इपिलाः<sup>१</sup> ।  
तक्रपायिणो अन्ध्राः । क्षीरपायिण उशीनराः । “मृदन्तनुम्बिभक्त्याम्” [२।४।६५] इति शत्वम् । प्रायो-  
गहणादिह न भवति । कुल्माषलादाश्चोलाः ।

मनः ॥२।२।७०॥ मन्यतेः सुपि वाचि णिन् भवति । अशीलाद्यर्थमेतत् । शोभन मन्यते पर शोभ-  
नमानी । दर्शनीयमानी । मन इति श्यविकरणस्य ग्रहणं व्याख्यानत् । उत्तरत्र खशि विशेषो भविष्यति ।

खश्चात्मनः ॥२।२।७१॥ आत्मनो यत्सुवन्त तस्मिन् वाचि मन्यतेः खश् भवति णिश्च । शोभ-  
नमात्मानं मन्यते शोभनम्भन्यः । शोभनमानी । पण्डितम्भन्यः । पण्डितमानी ।

भूते ॥२।२।७२॥ भूत इत्यधिकारो वेदितव्यः । धोरिति वर्तते । अर्थवशाद् भूते ध्वर्थे वक्ष्यमाणा  
विधयो भवन्तीत्यर्थः । वक्ष्यति दृशेः कनिप् । मेरु दृष्टवान् मेरुदृष्टा । भूत इति किम् ? मेरु द्रक्ष्यति । न  
च भूतशब्दस्ते तरेतराभयत्वेनासिद्धिः, अनादित्वाञ्छब्दव्यवहारस्य । भूत इति निसृजको वा शब्दः । “इयन्त  
इति संख्यान निसंज्ञानां न विद्यते । प्रयोजनवशादेते निपात्यन्ते पदे पदे ॥”

करणे यजः ॥२।२।७३॥ णिन्निति वर्तते । करणे सुव्रते वाचि यजेधोर्भूते णिन् भवति । अग्नि-  
ष्टोमेनेष्टवान् अग्निष्टोमयाजी । वाजपेययाजी । विशेषस्य करणत्वम् । यजनसामान्यं यजेरर्थः ।

कर्मणि हनः ॥२।२।७४॥ कर्मणि वाचि हन्तेर्णिन् भवति भूते । पितृव्य हतवान् पितृव्यघाती ।  
मातुलघाती । कुत्साविशेष इति वक्तव्यमिह मा भूत् । देवदत्तं हतवान् देवदत्तघातः ।

ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्तिप् ॥२।२।७५॥ ब्रह्म भ्रूण वृत्र इत्येतेषु कर्मसु हन्तेः क्तिर्भवति । ब्रह्माणं  
हतवान् । ब्रह्मरा । भ्रूणरा । वृत्ररा । सामान्येन क्तिपि सिद्धे नियमार्थमिदम् । ब्रह्मादिष्वेव कर्मसु हन्तेः  
क्तिम्भान्त्वसिन् । भिन्न हतवान् मित्रघातः । उभयथा नियमश्चायम् । ब्रह्मादिषु कर्मसु भूते क्तिवेव नान्यस्यः ।  
उभयथा शिष्य प्रतिस्नत्वात् उभयथा नियमो लभ्यते । कथं मधुहा ? चिन्त्यमेतत् । हन इत्येव । ब्रह्माण  
हतवान् । भूत इत्येव । ब्रह्माण हन्ति हनिष्यति वा ।

सुकर्मपापमन्त्रपुण्ये कृजः ॥२।२।७६॥ क्तिन्निति वर्तते । सुशब्दे वाचि कर्मादिषु च करोतेः  
क्तिर्भवति । सु । सुष्टु कृतवान् सुहृत् । कर्महृत् । पापहृत् । मन्त्रहृत् । पुण्यहृत् । एषोऽप्युभयथा नियमः ।

स्वादिष्वेव वाचु कृञः क्तिब्भवति नान्यस्मिन् । सूत्रं कृतवान् सूत्रकारः । स्वादिषु च भूते क्तिवेव नान्यस्य । कृञ इति किम् ? पाप चित्तवान् । भूत इत्येव । कर्म करोतीति कर्मकारः । स्वादिष्वेव भूते क्तिब्भवतीति नायमिह नियम इत्येके । तेन भाष्यकृत् शास्त्रकृत् तीर्थकृदित्येवमादि सिद्धम् । वर्तमानकालविज्ञा ता तेनानियमः ।

**सोमे सुञः ॥२।२।७७॥** सोमे कर्मणि सुनोतेः क्तिब्भवति भूते । सोम सुतवान् सोमसुत् । सोम-सुतौ । सोमसुतः । एषोऽप्युभयथा नियमः । सोम एव वाचि सुनोतेः क्तिब्भान्यस्मिन् । सुरा सुतवान् सुरासनः । सोमे वाचि भूते क्तिवेव नान्यस्यः । सुञ इति किम् ? सोमं कृतवान् । भूत इत्येव । सोम सुनोति सोमसार ।

**अग्नौ चेः ॥२।२।७८॥** अग्नौ कर्मणि चिनोतेः क्तिब्भवति भूते । अग्नि चित्तवान् अग्निचिन् । अग्निचित्तौ । अग्निचितः । अयमप्युभयथा नियमः । अग्नावेव वाचि नान्यस्मिन् । कुड्य चित्तवान् कुड्यचाय । अग्नौ वाचि भूते क्तिवेव नान्यस्यः । चेरिति किम् ? अग्नि कृतवान् । भूत इत्येव । अग्नि चिनोति अग्निचायः ।

**कर्मण्यग्न्याख्यायाम् ॥२।२।७९॥** कर्मणीति प्रकृतं वर्त्तते । कर्मणि वाचि चिनोतेः कर्मणि कारके क्तिब्भवति समुदायेन चेदग्न्याख्या गम्यते । श्येन इव चितः श्येनचित् । काक इव चितः काकचित् । रथचक्रचित् । आख्याग्रहणं किमर्थम् ? रुढेः परिग्रहार्थम् । अग्न्यर्थं इष्टकाचयः श्येनचित्तुच्यते ।

**कर्मणीन्विक्रियः ॥२।२।८०॥** कर्मणि वाचि इन्नित्यं त्यो भवति । विपूर्वात् क्रीणते । कर्मणीति वर्तमाने पुनः कर्मग्रहणमभिधेयनिवृत्त्यर्थम् । कर्मणि वाचि कर्त्तरि कारके यथा स्यात् । तेल विहीतयाग तैलविक्रयी । घृतविक्रयी । “कुसायामिति वक्तव्यम्” [चा०] इह न भवति । धान्यान्विक्रयः ।

**दृशेः कनिप् ॥२।२।८१॥** भूते कर्मणीति च वर्त्तते । कर्मणि वाचि दृशेर्धा, कनिब्भवाति । भृक् दृष्टवान् मेरुदृश्वा । विश्वदृश्वा । पितृकरणमुत्तरार्थम् । सामान्येन कनिपि सिद्धे पुनर्वचन भूते मन्त्रिणा निवर्तकम् ।

**राक्षि युचिकृञः ॥२।२।८२॥** राजशब्दे कर्मणि युधि कृञ् इत्येताभ्या कनिब्भवति । युधिना भवितव्यार्थः सकर्मकः । राजयुध्वा । राजकृत्वा । अयमपि योग, मन्वन्विचा निवृत्त्यर्थः । कर्मणीत्ये । राजा युद्धवान् ।

**सहे ॥२।२।८३॥** सद्शब्दे वाचि युचिकृजित्येताभ्या कनिब्भवति भूते । सह युद्धवान् सहयुगौ । सहकृत्वा । “वा नोच.” [४।३।११०] इत्यत्र न्यगवयवस्य वसस्य ग्रहणात् सद्ग्रन्थस्य समाप्ते न भावि । योगविभागो यथावद्व्यनिवृत्त्यर्थः ।

**जनेर्ङः ॥२।२।८४॥** सुपि शील इत्यतः सुपीति मन्त्र्यने । जनयोः सुपि वाचि ङ इत्ययं त्यो भावि । उपसरे जातः उपसरजः । मन्दुरात्ता जातः मन्दुरजः । “त्वे दयापो कचिन् गौ च” [४।३।११३] २।

तः ॥२।२।८५॥ तस्यस्त्यो भवति धोर्भते । इह वाग्विशेषपरिग्रहो नास्ति । कृतः । कृतवान् । मुक्तः । मुक्तवान् । कृतवत्वोर्भाविनोः तस्यश्रिता तेन सशया ल्यविधाने इतरेतराश्रय नास्ति । आदिकर्मण्यपि कथञ्चित् भूतत्वमस्ति । प्रकृतः षट् देवदत्तः । प्रकृतवान् कटं देवदत्तः ।

सुयजोर्वनिप् ॥२।२।८६॥ सुपीति निवृत्तम् । सु यञि इत्येताभ्या वनिप् भवति भूते । सुतवान् । सुत्वा । इष्टवानिति यञ्वा ।

जृपोऽत् ॥२।२।८७॥ जीर्यतेरत् इत्यय ल्यो भवति भूते । जरन् । जरन्तो । जरन्तः । कृतवत्वो-  
रसमत्वादवाधकोऽयम् ।

चस्सदिणो वसुर्लिङ्गम् ॥२।२।८८॥ वस् सद् इण् इत्येतेभ्यः भूते वसुर्भवति लिङ्गन्मसजश्च । अन्नूपिवान् श्रीदत्त धान्यसिंहः । उपसेदिवान् उपाध्याय शिष्यः । ईयिवान् उपेयिवान् उपाध्याय शिष्यः । इणः क्रादिनियमादिटि द्वित्वम् । धुरूपस्य “यणेत्योः” [ ४।४।७७ ] इति यणादेशः । चस्य “कित्तिणो दीः” [ ५।२।१६६ ] इति दीत्वम् । अथ क्रादिनियमलक्षणस्येष्टः “वशि” [ ५।१।११४ ] इति प्रतिषेधः कस्मान्न भवति ? उत्तरत्र “श्रुवोऽनिट्” [ २।२।८६ ] इत्यनिट्त्वचन शपक “वशि” [ ५।१।११४ ] इति प्रतिषेधो न भवति । उदात्तस्य वा स प्रतिषेधः । लिङ्गवदतिदेशाद्द्वित्वम् । “न क्तिलोक” [ १।४।७२ ] इत्यादिना कर्मणि ताप्रतिषेधश्च भवति । मसंज्ञायाः किं प्रयोजन कर्मव्यतिहारे मा भूत् । व्यत्यये जनपद इति । “प्राक्पूर्वाऽसम्” [ २।१।८१ ] इति लुङादयोऽपि भवन्ति । अन्वात्सीत् । अन्ववसत् । अन्वावस । उपासदत् । उपासीदत् । उपससाद । उपागात् । उपैत् । उपेयाय । कसुकानौ लिङादेशौ सर्वधुम्य इत्येके । “कसुर्लो मम्” इति मसशकः । कानस्य “इङानं दः” [ १।२।१५१ ] इति दसज्ञा । भावकर्मकर्तृषु च सम्भवः । लिङ् देशत्वादेव कित्त्वे सिद्धे स्फान्तार्थे कित्करणमनयोः । अङ्गेः आनिवान् । स्वज्जेः सस्वज्वान् इति कित्त्वान्नख सिद्धम् । ऋकारान्तस्यैप्रतिषेधार्थं च कित्करणं तृतीर्वानः । “ऋच्छत्युताम्” [ ५।२।१२३ ] इत्येभ्यः भवति । कर्मणि ततिराणः । “षट् इङो” [ ५।१।७४ ] इति इत्वस्य “द्विस्वेऽचि” [ १।१।५६ ] इति स्थानिवद्भावे तृ इति द्वित्वम् । “उर” [ ५।२।१६६ ] इति अत्वम् । तैरेवाचार्यैः “वस्वेकाजाद्घसामिङ्” इति वसौ परतः एकाचामाकारान्तानां घसेश्चेङ्ग्विरितः । पेचिवान् । पपिवान् । जक्षिवान् । इह कस्मान्न भवति ? त्रिभिर्द्वान् चिञ्छिद्वान् । “हल्मध्ये लिट्यतः” इत्यनेन एत्वचखयोः कृतयोर्वसौ य एकाच तत्रैवेङ् भवति । यद्येवं ययिवानित्यत्रापि “इटि चात् खम्” [ ४।४।६३ ] इति खे कृते एकाच्त्वमस्तीति आद्यग्रहणमनर्थकम् । नियमार्थं मेतत् । यथा इस्मिन्मत्तमेकाच्व तेषामाकारान्तानामेव [ इङ्भवति ] नान्येषां चखन्वानिति । अत्रापीटि कृते उङ् । ऐ क्रियमाणे एकाच्त्वसम्भवोऽस्ति । अत एव गियमात् घसेरिट्यप्राप्ते ग्रहणम् । तथा वा दृशिगमहन-  
पिदविराम् । दृशिवान् । दृष्टवान् । जग्मिवान् । जगन्वान् । जघ्निवान् । जघन्वान् । “मो नः” [ ५।३।८३ ] “श्वो” [ ५।३।८४ ] इति मकारस्य नत्वम् । दशोर्नेकाच्वात् गमहनोरात् इति नियमात् इत्यप्राप्ते विभाषा । वसौ परतो विदेः शयिकरणस्य ग्रहणम् । विविदिवान् । विविद्वान् । गानार्थस्य ग्रहणे ते “यस्य वा” [ ५।१।१२१ ] इति प्रतिषेधः स्यात् । विविशिवान् । विविश्वान् ।

श्रुवोऽनिट् ॥२।२।८९॥ श्रु इत्येतस्मादशुर्भवत्यनिट् । उपशुश्रुवान् श्रीदत्त धान्यसिंहः । असमत्वा-  
लुङादयोऽपि । उपाश्रुणोत् । उपशुश्राव ।

अनाश्वाननृचानौ ॥२।२।९०॥ अनाश्वान् अनृचान् इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । नञ्पूर्वादभातेः पुल्लिङ्गद्विभवाच्च निपात्येते । अनाश्वान् अश्वकार । असमत्वात् नाश्वान् नाश इत्यपि भवति । वचेरनुपूर्वात् पारिवानो निपात्येते । अनृचानो मत्तोपपन्न । असमत्वात् अनृक्तवान् अन्ववोचत् अनृचाच्च इति च भवति ।

लुङ् ॥२।२।९१॥ लुङ् इत्यय ल्यो भवति भूते धोः । अक्रापात् । अक्रापात् । क भवानुपितः । अनुवा-  
पत्समिति । अत्र भूतमानस्य विवक्षा, अतएव लङ् न भवति ।

अनद्यतने लट् ॥२।२।९२॥ भूत इति वर्तते । अविद्यमानाद्यतने भूते धोर्लट् भवति । अतीतास्य रात्रेः आ पश्चिमयामात् आगामिन्याश्च रात्रेराप्रथमयामात् अद्यतनकालः । तत्प्रतिषेधादनयतनः । परोक्षे । अहरत् । अनद्यतनभूतविवक्षायाः समत्वानुलोको वाधको लट् । अनद्यतन इति वसतिर्देशात्वाद्यतनगन्धोऽयमिति तत्र लट् न भवति । अद्य ह्यश्रामुञ्जमहि । यदि वसः अद्यतनेऽप्यद्यतनो नास्तीति लट् प्राप्नोति । नाय दोषः । विशेषाद्यतने सामान्याद्यतनस्य विद्यमानत्वात् । इह भूतमात्रं विवक्षितम् । आगच्छाम घोषात् प्रविशाम पा इति । 'परोक्षे लोकविज्ञाते प्रयोक्तुः शक्यदर्शनत्वेन दर्शनविषये लट् वक्तव्य' [वा०] अरुणमन्त्रेण मरुगम् । अरुणद्यवनः सक्तेतम् । परोक्षे इति किम् ? उदगादादेत्यः । लोकविज्ञात इति किम् ? जगाम प्राप्तं देवत् । प्रयोक्तुः दर्शनविषय इति किम् ? जघान कंस किल वासुदेवः ।

अद्यद्यभिज्ञोक्तौ लट् ॥२।२।९३॥ अभिज्ञोक्तिः स्मृतिवचनम् । अविद्यमाने यच्छब्दे अभिज्ञातो वाचि अनद्यतने लट् भवति । अभिज्ञानासि देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्यामः । मरेषु वत्स्यामः । उक्तिगदण पां यार्थम् । स्मरसि बुध्यसे चेतयसे वा कश्मीरेषु वत्स्यामः । लटोऽपवादोऽयम् । अद्यदोति किम् ? अभिज्ञानाभि देवदत्त यत् कश्मीरेष्ववसामः ।

न वा साकाङ्क्षे ॥२।२।९४॥ आकाङ्क्षा सम्बन्धः । अनद्यतन इत्येव । साकाङ्क्षे अभिज्ञातो वाचि धोर्न वा लट् भवति । अद्यद्यभिज्ञावचने पूर्वेण प्राप्तो लट् नेति प्रतिपिध्यते । ततः केनलो यच्छब्दगदण । चाभिज्ञावचने साकाक्षे वाचि । वेति सर्वत्र विभाषा । अभिज्ञानासि देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्यामः कश्मीरेष्व वसाम तत्रौदनान् भोक्ष्यामहे तत्रौदनान्भुञ्जमहि । यच्छब्दसहिते अभिज्ञानासि देवदत्त यत् कश्मीरेषु तत्प्रापः यत्तत्रौदनान् भोक्ष्यामहे यत्तत्रौदनान्भुञ्जमहि ।

परोक्षे लिट् ॥२।२।९५॥ भूते अनद्यतने इति च वर्तते । परावृत्तोऽक्षेभ्यः परोक्षः इन्द्रियागोचर इत्यर्थः । परोक्षशब्दस्य चेदमेव निपातनम् । भूतानद्यतनपरोक्षे ध्वये लिट् भवति । यद्यपि सर्वो नयः गाय त्वेनानुमेयत्वेन वा परोक्षस्तथापि यत्राश्रयद्वारेण प्रत्यक्षाभिमानो नास्ति लोकस्य स परोक्ष उक्तः । पण । चकार । आत्मनानुष्ठिता हि क्रिया सर्वस्य प्रत्यात्म प्रत्यक्षेति मुत्तमत्तयोरस्मदः प्रयोगः । मुतोऽहं मित्र विललाप । मत्तोऽहं किल जघान । "अत्यन्तापह्नवे लिट् वक्तव्यः" [वा०] नाह कलिङ्ग जगाम । कर्त्त । जगमनस्य प्रत्यक्षलालिङ्गप्राप्तः ।

ह्रस्वत्वतोर्लट् च ॥२।२।९६॥ ह्रस्वदित्येतयोर्वाचोर्लट् भवति लिट् च भूतानद्यतनपरोक्षे । इति हाकरोत् । इति ह्र चकार । शब्ददक्रोत् । शब्दचकार ।

प्रश्ने चान्त्युगे ॥२।२।९७॥ प्रष्टव्य इति प्रश्नः । पञ्चवर्षे युगम् । युगात्यन्तरे प्रश्ने भूतानद्यतन परोक्षे लट् लिट्यौ भवतः । चकारः किमर्थः ? पूर्वमूत्रे चानुष्ठितस्य लिट्योऽनुकर्षणार्थः । हिमगच्छन् पा । पुत्रम् । अददादसौ दानम् । ददादसौ दानम् । प्रश्न इति किम् ? देवदत्तो जगाम । अन्त्युगे र्त्ति । इति । अहं त्वां पृच्छामि । जघान कंस किल वासुदेवः ।

पुरि लुङ् वा ॥२।२।९८॥ पुराशब्दो भूतानद्यतने वर्तते न भूतमात्रं । पुराशब्दे वाचि भूतानद्यतन वा लुङ् भवति पक्षे यथाप्राप्तं च । अत्रानुगेह पुरा छान्वा । अत्रसन्नि पुरा छान्वाः ।

लट् ॥२।२।९९॥ वेति निवृत्तम् । लट् भवति पुराशब्दे वाचि भूतानद्यतने । अस्तीति पुरा क । योगविभाग उत्तरत्र लट् एवमुपवर्णनार्थः ।

स्मे ॥२।२।१००॥ स्मशब्दोऽन्यनद्यतने वर्तते च वर्तते न भूतमात्रं । स्मशब्दे वर्तते अत्र भवति । इति स्मोत्पद्यते इत्यर्थे स्मशब्दप्रयोगे लुङ् भवति न लिट् । स्मिन्नेति स्मशब्दप्रयोगे लुङ् भवति न लिट् । स्मिन्नेति स्मशब्दप्रयोगे लुङ् भवति न लिट् । स्मिन्नेति स्मशब्दप्रयोगे लुङ् भवति न लिट् । स्मिन्नेति स्मशब्दप्रयोगे लुङ् भवति न लिट् ।

परत्वेन स्मलक्षणः । इति हाधीयते स्म । शश्वदधीयते स्म । तथा हशश्वलक्षणान् परत्वेन पुरालक्षणो विधिः । इति ह पुरा अध्यगीषत । शश्वत्पुरा अध्यगीषत । “ननौ पृष्टप्रतिवचने भूतमात्रे लट् वक्तव्यः” [ वा० ] अकार्षीः कट देवदत्त । ननु करोमि भोः । तथा “नशब्दे शुशब्दे च चाचि पृष्टप्रतिवचने भूते वा लट् वक्तव्यः” [ वा० ] अकार्षीः कट देवदत्त । न करोमि भोः नाकार्षे भोः । अह नु करोमि अह न्वकार्षम् । नेदं द्वयं वक्तव्यम् । पूर्वत्र क्रियाया अपरिसमाप्तेर्वर्तमानत्वम् । उत्तरत्रासमाप्तिः समाप्तिश्च क्रियाया विवक्षिता ।

सम्प्रति ॥२।२।१०१॥ सम्प्रति ध्वर्थे लट् भवति । आरम्भात्प्रभृत्याऽनुपरमाद्वर्तमानः कालः सम्प्रति इत्युच्यते । उक्तं च—“आरम्भाय प्रसृता यस्मिन् काले भवन्ति कर्तारः । कार्यस्यानिष्ठातस्तन्मध्यं कालमिच्छन्ति ॥” तरति । नयति । याति ।

तस्य शतृशानावचैकार्थे ॥२।२।१०२॥ तस्य सम्प्रतिकाले विहितस्य लटः स्थाने शतृ शान इत्येतावादेशौ भवतः न चेद्वान्तेनैकार्थ्यं भवति । पचन्त पश्य । पचता कृतम् । पचमानेन कृतम् । तस्य ग्रहणं किम् ? असम्प्रतिकाले विहितस्य लटः स्थाने मा भूत् । उच्यते इह पुरा छात्रैः । अधीयते स्म नटैः । अवैकार्थ इति किम् ? पचति देवदत्तः । अत्र तस्य शतृशानाविति योगविभागः कर्त्तव्यः । “न वा साकाङ्क्षे” [२।२।१०३] इत्यतो मण्डूकपुल्या नवाग्रहणं चाभिसम्बन्धनीयम् । ततो नेत्यनेन इतिशब्दयोगे प्रतिषेध एव भवति । वर्षतीति धावति । हन्तीति पलायते । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेन इवादिभिर्योगे औ भिन्नाधिकरणेषु च हस्तु नित्यो विधिः । कुर्वती भक्तिः । कुर्वद्भक्तिः । कौर्वतः । पाचमानः । भक्तिशब्दः प्रियादौ पठ्यते । तेन ‘पुंवद्यजातीयदेशीये’ [१।३।१५४] इति पुवद्भावः । समानाधिकरणेषु हस्तु विकल्पः । कुर्वत्तरः । कुर्वद्रूपः । कुर्वाणरूपः । करोतितराम् । करोतिरूपम् । तस्मात् द्युत्ययोरुपसख्यानं न कर्त्तव्यम् । पुनरवैकार्थ इति द्वितीयो योगः । अत्रापि नवेत्यधिकारात् कचिद्वान्तेन सामानाधिकरण्येऽपि शतृशानौ भवतः । सन् घटः । अस्ति घटः । विद्यमानो घटः । विद्यते घटः । जुहन् जुहोति वा देवदत्तः । अधीयानो मुनिः । अधीते मुनिः । व्यवस्थितविभाषाबलात् माडयाक्रोशे लुडपि । मा पचन् । मा पचमानः । मा पाचतीत् ।

संवोधने ॥२।२।१०३॥ सम्बोधनमभिमुखीकरणम् । तद्विषये लटः शतृशानौ भवतः वैकार्थत्वे । नित्यार्थमिदम् । हे पचमान । उभयोर्द्यौत्यं सम्बोधनमिति वाविभक्त्यपि भवति ।

लक्षणहेत्वोः क्रियायाः ॥२।२।१०४॥ लक्षणं शापकं चिह्नम् । हेतुर्जनकः । लक्षणं च या क्रिया क्रियाया हेतुश्च या क्रिया तत्र वर्तमानादोः परस्य लटः शतृशानौ भवतः । शयाना भुञ्जते यवनाः । तिष्ठन्तोऽनुशासति गणकाः । व्यभिचार्यपि लक्षणं दृश्यते यथा यत्रासौ काकस्तद्देवदत्तग्रहमिति । अन्यथेहैव स्यात् शयाना वर्द्धते दूर्वा । आसीन वर्द्धते विसम् । हेतौ । अधीयान आस्ते । अर्जयन् वसति । नवेत्यनुवृत्तेरिह न भवति । वर्षतीति धावति । हन्तीति पलायते । लक्षणहेत्वोरिति किम् ? यो वेपते सोऽश्वत्थः । यदुत्सवते तल्लघु । द्रव्यस्य गुणस्य च लक्षणे न भवतः । इह शास्त्रे अन्यत्र हेतुग्रहणे कारकग्रहणमिति लक्षणग्रहणे च शापकग्रहणमिति अन्यतरनिर्देशेनोभयप्रतिपत्तेर्द्वयोरुपादानं द्वन्द्वेषु अल्पान्तरमिति पूर्वनिपातव्यभिचारार्थं [ च ] ।

तौ सत् ॥२।२।१०५॥ तौ शतृशानौ सत्सज्ञौ भवतः । शतृशानयोः प्रकृतत्वात् तौग्रहणं शतृशानरूपपरिग्रहार्थम् । तेन लृडादेशयोरपि सत्तज्ञा सिद्धा । देवदत्तस्य कुर्वन् करिष्यन् । “डडग्रहण” [१।३।७५] इत्यादिना तावत्प्रतिषेधः ।

पृष्ट्यज्ञोः शानः ॥२।२।१०६॥ सम्प्रतीति वर्तते । पृष्ट् यञ् इत्येताभ्यां शानत्त्यो भवति । अनादेशोऽप्यर्त्तार्थे भवति । मन्त्राभ्योऽपि धुम्यो विधात्यते । सोम पचमानः । यजमानः । “न क्तिव” [१।३।७२] आदिदिने शतृ इत्यतः प्रवृत्तिं ह्य हृन्ते नकारात् वृत्तिं प्रत्याहार उक्तः । तेन कर्मणि तावत्प्रतिषेधः ।

वयःशक्तिशीले ॥२।२।१०७॥ वयम् शक्ति शील इत्येतेषु गम्यमानेषु धोः शानो भवति । शरीरावस्था वयः । कतीह शिखण्डं वहमानाः । कतीह कवचं पर्यस्यमानाः । शक्तिः सामर्थ्यम् । कतीह भिन्धानाः । कतीह भुञ्जानाः । शीलं गुणान्तरद्वेषः । कतीह मण्डयमानाः । कतीह मण्डयमानाः ।

धारीडः शत्रुकृच्छ्रिणि ॥२।२।१०८॥ अकृच्छ्रमनायासो यस्यास्ति सोऽकृच्छ्री । धाणि इड इत्येतान् शत्रुत्यो भवति अकृच्छ्रिणि कर्त्तरि । धारयन् धर्मशास्त्रम् । अधीयन् जैनेन्द्रम् । अकृच्छ्रिर्गति हिन् । कृच्छ्रेण धारयति । कृच्छ्रेणाधीते ।

द्विपोऽरौ ॥२।२।१०९॥ द्विषः शत्रुत्यो भवत्यरौ कर्त्तरि । चौरस्य द्विषन् । चौर द्विषन् । 'द्विषः शत्रुं वचनम्' [वा०] इति कर्मणि वा ता । अराविति किम् । द्वेष्टि पति भार्या । असमा एते त्या लट् न ज्ञाने ।

सुजो यज्ञसंयोगे ॥२।२।११०॥ सयुज्यते इति संयोगः सयुक्त इत्यर्थः । सुनोतेऽयं संयोगे कर्त्तरि शत्रुत्यो भवति । सर्वे सुचिन्तः । यज्ञस्वामिन इत्यर्थः । यज्ञसंयोग इति किम् ? सुनोति सुगम् ।

प्रशंसेऽर्हः ॥२।२।१११॥ अर्हतेः प्रशंसेऽर्थे शत्रुत्यो भवति । अर्हन्निह भवान् पूडाम् । प्रशंसि भवान् विद्याम् । प्रशंस इति किम् ? अर्हति चोरो वधम् ।

आक्रेः शीलधर्मसाधुत्वे ॥२।२।११२॥ आडभिविधौ द्रष्टव्यः । वक्ष्यति प्रावस्तुवः ऋप् । या एतस्मात् क्षिप्संशब्दनात् यानित ऊर्ध्वं वक्ष्यामः शीलधर्मसाधुत्वेपु वेदितव्याः । शील व्याख्यातम् । धर्म आचारः । धर्मस्य साधु करणं साधुत्वम् ।

तृन् ॥२।२।११३॥ तृन्नित्ययं त्यो भवति सर्वधुम्यः शीलादिषु । शीले-कर्ता कटान । वदिता जनाया वादान् । धर्मे-मण्डयितारः श्राविष्टायना भवन्ति । वधूमूढाम् अन्नमपहर्तार आहारका भवन्ति श्रद्धे गिर । साधुत्वे । कर्त्ता कटम् । गन्ताऽखेटम् । गमेकज्वक्ष्यते । अधिकारात्तृन्पि भवति ।

अलङ्कृन्निराकृञ्प्रजनोत्पचोत्पतोन्मदरुच्य-पत्रपवृत्तवृध्सहचर इष्णुः ॥२।२।११४॥ अलङ्कृजित्वेवमादिभ्य इष्णुर्भवति शीलादिषु । अलङ्कृरिष्णुः । मण्डनार्थं पूर्वविप्रतिषेधेन युक्तोऽत्र ना । निराकरिष्णुः । प्रजनिष्णुः । उत्पचिष्णुः । उत्पतिष्णुः । उन्मदिष्णुः । रोचिष्णुः । अपत्रपिष्णुः । त्रिष्णुः । सहिष्णुः । चरिष्णुः ।

ग्लभूजिस्थः क्स्तुः ॥२।२।११५॥ ग्ल भू जि स्या इत्येतेभ्यो धुम्यः क्स्तुर्भवति शीलादिषु । ग्लान्तुः । भूष्णुः । जिष्णुः । स्थास्तुः । "क्स्तोर्गित्वाञ्च स्थ ईकारः सिट्त्वोरीत्वस्य शासनात् । एवमात्रस्त्रिपु स्मार्थः श्रुकोऽनिट्त्वङ्कोरितोः ॥"

प्रसिगृध्रिधृपिन्निपः क्तुः ॥२।२।११६॥ प्रसिगृध्रि धृपिन्निप इत्येतेभ्यः क्तुर्भवति शीलादिषु । प्रस्तुः । गृन्तुः । धृष्णुः । निप्तिः । ल्युट् । एतन्निपवार्थं सिक्कणमिदं ज्ञापकं व्याप्तिरनेनैवा दम्यमानम् । "ल्युट्" [ १।१।८३ ] एवभवतीति । वेत्ता । वेत्ता ।

परेः सृदेविक्षिपरटवददहसुहः ॥२।२।११६॥ परिपूर्वेभ्यः सृप्रभृतिभ्यो धुभ्यः धिनिष् भवति ।  
परिसारी । देव देवन इत्यस्य परिदेवी । क्षिपेर्विशेषेण ग्रहणम् । परिक्षेपी । परिपाटी । परिवादी । परिदाही ।  
परिमोही ।

वो कपविचलसक्तथस्त्रम्भः ॥२।२।१२०॥ विपूर्वेभ्यः कषादिभ्यो धुभ्यो धिनिष् भवति । विकाषी ।  
विवेकी । विलाही । विकृती । वितम्भी ।

अपे च लषः ॥२।२।१२१॥ अपे च वौ वाचि लषेर्धिनिष् भवति । अपलाषी । विलाषी ।

चरेः ॥२।२।१२२॥ अप इति वर्तते । अपपूर्वाचरेः धिनिष् भवति । अपचारी ।

अतेः ॥२।२।१२३॥ अतिपूर्वाचरेर्धिनिष् भवति । अतिचारी ।

समि पृचिसृजिज्वर ॥२।२।१२४॥ सम्पूर्वेभ्यः पृचि सृजि ज्वरि इत्येतेभ्यो धिनिष् भवति ।  
सम्पर्क । ससर्ग । सज्वरी । अकर्मकाणामित्येव । संपृणक्ति साकम् ।

आडि यमियसिक्रीडिमुपः ॥२।२।१२५॥ आड् पूर्वेभ्यः यमि यसि क्रीडि मुषि इत्येतेभ्यो धिनिष्  
भवति । आयामी । ताताव'निड्भावादप्रेतिषेधो न भवति । आयासी । आक्रोडी । आमोषी ।

प्रे लपसृद्रु मथवदवसः ॥२।२।१२६॥ प्रशब्दे वाचि लप सृद्रु मथ वद वस इत्येतेभ्यो धिनिष्  
भवति । प्रलापी । प्रसारी । प्रद्रावी । प्रमाथी । प्रवादी । वसेरनुविकरणस्य प्रवासी ।

निन्दाहिसक्लिशखादविनाशव्याभाषासूयो वुज् ॥२।२।१२७॥ निन्दादिभ्यो वुज् भवति शीला-  
दिषु । निन्दकः । हिंसकः । क्लिशोरविशेषेण ग्रहणे युचोऽपि बाधा । क्लेशकः । खादकः । विनाशेर्यन्तस्य  
विनाशक । अस्य इति कण्ठ्वादिर्यगन्तः । असूयकः । एवुना सिद्धे वुज्ग्रहणं शापकमन्येभ्यः शीलादिषु  
शब्दादयो न भवन्तीति ।

परौ वादिक्षिपरटः ॥२।२।१२८॥ परिपूर्वेभ्यः वादि क्षिप रट् इत्येतेभ्यो वुज् भवति । परिवादक ।  
परिक्षेपक । परिशटक ।

देविकुशो गौ ॥२।२।१२९॥ देवि कुश इत्येताभ्यां गौ वाचि वुज् भवति । देवीति देवतेर्यन्तस्य ।  
परिदेवकः । आदेवकः । परिक्रोशकः । आक्रोशकः । गाविति किम् ? देवयिता ।

रचलार्धाद्धेर्युच् ॥२।२।१३०॥ रौत्यर्थेभ्यश्चलत्यर्थेभ्यश्च धिसञ्ज्ञकेभ्यो युज् भवति । रवणः ।  
शब्दनः । कथनः । चलत्यर्थेभ्यः-चलनः । चोपनः । कम्पनः । धेरिति किम् ? पठिता शास्त्रम् ।

अनुदात्ते तोऽयसूददीपदीप्तो हलादे ॥२।२।१३१॥ अनुदात्तेतो हलादेर्धोयुज्भवति यकारान्त-सूद-  
दीप दीप्त इत्येतान्वर्जयित्वा । योतनः । रोतनः । अनुदात्तेत इति किम् ? यथा । अयसूददीपदीप्त इति किम् ?  
न्यायिता । दमायिता । सूदे । सकर्मकस्यापि सदिता । कथं मधुनूदनः । नन्यादिपाठाण्ययुः । दीपिता । दीपेर्वि-  
शेषेण रो विधास्यते युचः प्राप्तिर्नास्ति । इदं प्रतिषेधवचनं शापक शीलादिकेषु असमविधिर्न भवतीत्यनित्यमेतत् ।  
तेन कम्पनः । कम्पनः । कम्पनः । कम्पनः । विरुथी विरुथनः इति च भवति । दीक्षिता । हलादेरिति किम् ?  
एषो इत्येव शील एधिता । आदिग्रहणं किम् ? हला तदन्तविधिर्मा भूत् । इह न स्यात् । जुगुप्सनः ।  
भीमासनः । धेरेव । वसिता वसन् ।

सृजुज्वलगृधुचलपपतपद् ॥२।२।१३२॥ सृप्रभृतिभ्यो युज्भवति । शरणः । जवनः ।  
पतनः । गडनः । शोचनः । लपणः । पतनः । पदनः । चलयार्थानां पदेशं ग्रहणं सकर्मकार्थम् । पदिग्रहणं



ज्ञापनार्थमित्यन्ये । शीलादिकेषु चासमविधिर्न भवतीति । पटेरुक्का विशेषविहितेन सामान्यविहितस्य युचो वापि-  
तत्वात् पुनरनेन प्रत्यापत्तिः ।

क्रुधमण्डार्थात् ॥२।२।१३३॥ क्रुध्यर्थेभ्यो मण्डार्थेभ्यश्च धुभ्यो युज्भवति । क्रोधनः । कोपनः ।  
रोषणः । मण्डार्थेभ्यः-मण्डनः । रचनः । भूषणः ।

कमिद्रमो यङः ॥२।२।१३४॥ कमिद्रमिभ्या यङन्ताभ्या युज्भवति । चङ्क्रमणः । दन्त्रमणः ।

यजिज्रपिवददशामूकः ॥२।२।१३५॥ यङ इति वर्तते । यज्यादिभ्यो यङन्तेभ्य ऊङो भवति ।  
यायजूकः । जञ्जपूकः । वावदूकः । दन्दशूकः । जपिदशिभ्या “लुपसवचरजपजभवहृदशो गङ्”  
[ २।१।२१ ] इति यङ् । “जपजभदहृदशमञ्जपशाम्” [ २।२।१८४ ] इति चस्य नुमागमः ।

जागुः ॥२।२।१३६॥ जागुरुको भवति । जागरूकः ।

लपपतपदस्थाभूवृपहनशूकमगम उकञ् ॥२।२।१३७॥ लषादिभ्यः उकञ् भवति । अपलापुः  
नीचसङ्गतम् । “अपे च लपः” [ २।२।१२१ ] इति वचनात् घिनिणपि भवति । प्रपातुका गर्भाः । उपपातुकाः  
देवाः । उपस्थायुको गुरुन् । प्रभावुकः । प्रवर्णुकः । आघातुकः । शृणोतेः शासकः । कामुका वन्यस्य विभो  
भवन्ति । “न क्तिन्” [ १।४।७२ ] इत्यादिना कर्मणि तायाः प्रतिषेधे प्राप्ते उकप्रतिषेधे कमेरप्रतिषेध इत्यु-  
क्तम् । आगामुकः स्वग्रहम् ।

जल्पभिक्षकुट्टलुण्टवृड्ग्राकः ॥२।२।१३८॥ जल्पादिभ्यो धुभ्यष्टाको भवति । जल्पाकः । जल्पाकी ।  
अकर्मकविवक्षाया “रुचलार्थाद्धेयुञ्” [ २।२।१३० ] इति युञ् प्राप्तः । भिक्षाकः । अनुदात्तेतो युञ् प्राप्तः ।  
कुट्टाकः । लुण्टाकः । वराकः ।

प्रे सूजोरिन् ॥२।२।१३९॥ प्रपूर्वाभ्या सूजुभ्या इन् भवति । प्रसवी । प्रजनी ।

परिभूजिद्वित्विध्रीण्वमाव्यथाभ्यमः ॥२।२।१४०॥ इन्निति वर्तते । परिभू जि द् द्वि नि श्रो इण  
वम अव्यथ अभ्यम इत्येतेभ्य इन् भवति । परिभावी । जयी । आदरी । क्षयी । विश्रयी । अगयी । यमी ।  
अव्यथी । अभ्यमी ।

स्पृहिगृहिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुः ॥२।२।१४१॥ स्पृहिप्रभृतिभ्यो युभ्यः आलुर्भा ।  
स्पृह्यालुः । गृह्यालुः । पत्यालुः । एते चुरादिप्रदन्ताः । दयालुः । निद्रालुः । तन्द्रालुः । तन्निति निपातनात् ।  
विषये भवति । श्रद्धालुः । इह शीटो ग्रहण कर्तव्यम् । शयालुः ।

दाघेद्रसिशदसदो रुः ॥२।२।१४२॥ दा घेद्रमि शद सद इत्येभ्यो रुर्भवति । दा इत्यादिना  
ग्रहणम् । दाहः । घाहः वसो मातरम् । “न क्तिन्” [ १।४।७० ] इत्यत्र उकारप्रश्लेषात् तदन्तर्निविता वा  
प्रतिषेधः । सेहः । शत्रुः । सट्टः । यत्त्वात्मकर्मणि घनेर्दाह काष्ठ तदुणादिषु द्रष्टव्यम् ।

सुघस्यद् कमरः ॥२।२।१४३॥ सु घमि अद् इत्येभ्यः कमरो भवति । सुमरः । वमरः ।  
अदमरः । अनेनैवादेः घञ्भावो निषान्विते ।

गत्वरः ॥२।२।१४७॥ गत्वर इति निपात्यते गमेः कर्प्, मकारस्य ख निपात्यते । गत्वरः । गत्वरः ।

नमिकम्पिस्म्यजस्कमहिंसदीपो रः ॥२।२।१४८॥ नमि कम्पि स्मि अजस कम हिंस दीप इत्ये-  
तेभ्यो रो भवति । नमेरात्मकर्मण्यपि । नम्र काष्ठम् । नम्रो देवदत्तः । कम्पा शाखा । स्मेरं मुखम् । जस्यतेर्नञ्  
पूर्वात् अजसं शान भावयामः । कम्पा युवतिः । हिंसः पापमेति । दीपो मणिः । कम्पेक्ष शयर्थत्वात्  
कमदीप्योरनुदात्तेलादयुच् प्राप्तः ।

सनाशंसभिन्न उः ॥२।२।१४९॥ सन्नन्त आशंस भिन्न इत्येतेभ्य उत्यो भवति । चिकीर्षुः । आडः  
शसि इच्छायामित्यस्य आशसुः । भिन्नः ।

विन्दिच्छ २।२।१५०॥ विन्दु इच्छु इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । वेत्तेरुकारः नुमागमश्च निपात्यते ।  
विन्दुः । इच्छतीत्येवशील इच्छुः । उच्छ्रित्व च निपात्यते ।

स्वपितृषोर्नजिङ् ॥२।२।१५१॥ स्वपितृषिभ्या नजिङ् भवति शीलादिषु । स्वप्नक् । स्वप्नजौ ।  
तृष्णक् । तृष्णजौ ।

शृवन्द्योराहः ॥२।२।१५२॥ शृ वन्दि इत्येताभ्यामारु इत्यय त्यो भवति । शराहः । वन्दाहः  
जिनाहः ।

भियः क्रुक्लुक् ॥२।२।१५३॥ भिमेतेः क्रु क्लुक इत्येतौ भवतः । भीहः । भीलुकः । क्रुकोऽपि  
वक्तव्यः । भीरुकः ।

स्थेशभासपित्तकसो वरः ॥२।२।१५४॥ स्था ईश भास पित्त कस इत्येतेभ्यो वरो भवति ।  
स्थावरः । ईश्वरः । भास्वरः । पेस्वरः । कस्वरः ।

यो यडः ॥२।२।१५५॥ यातेर्यडन्ताद्वरो भवति । यायावरः । वरे अतः खम्, तस्य यखविधि प्रति न  
स्थानिवद्भाव इति “वलि व्योः खम्” [४।३।१५] इति यखम् । यखे कृते अतः खस्य स्थानिवद्भावात् “इटि  
चात्खम्” [४।४।६३] इति आत्ख प्राप्तम् । वरे पूर्वादेशस्य न स्थानिवद्भाव इति न भवति । “शीलादि-  
प्रकरणे धाक्कृत्जननिभ्य इलिट् वक्तव्यः” [वा०] धानशीलो दधिः । करणशीलः चक्रिः । सरणशीलः  
सत्तिः । जननशीलः जशिः । नमनशीलः नेमिः । “हल्मध्ये लिट्यतः” इति एत्वचले ।

ग्रावस्तुवः क्तिप् ॥२।२।१५६॥ ग्रावपूर्वात् स्तौतेः क्तिप् भवति शीलादिषु । ग्रावाणं स्तौतीत्येवशीलः  
ग्रावस्तुन् । शीलादिषु वाऽसमविधिर्नास्तीति सामान्यलक्षणः क्तिप् न प्राप्नोति पुनर्विधीयते ।

अन्येभ्योऽपि ॥२।२।१५७॥ अन्येभ्योऽपि धुम्यः शीलादिषु क्तिब् भवति । अपिग्रहण  
विहृत्यार्थम् । अन्येभ्योऽपि धुम्यः शीलादिष्वपि भवत्यशीलादिष्वपि तत्राभिधानवशात् । भ्राजभासधुर्विद्युतेर्जि-  
पृथुभ्यः शीलादिषु क्तिब् भवति । अन्येभ्योऽन्यत्र । विभ्राजनशीले विभ्राट् । विभ्राजो । भाः । भासौ ।  
धूर्पणाशीलः धूः । धूरौ । विद्युत् । विद्युतौ । ऊर्क् । ऊर्जो । पूः । पुरौ । जः । जुवौ । जुवः । “क्विपिवचिप्र-  
प्रायतस्तुक्प्रहृष्टीणा दीरजिरच” [वा०] इति दीलम् । अन्येभ्योऽशीलादिषु । पक् । पचौ । भित् ।  
भिदौ । तित् । तिदौ । वाक् । प्रच्छे । प्राट् । आयतस्तुः । कटप्रः ।

भुवः खन्तरे ॥२।२।१५८॥ भवतेः क्तिन् भवति खान्तरे च गम्यमाने । भिन्नभूः । भिन्नभुवौ ।  
मिन्नुप । सन्तरे । प्रतिदः । प्रतिभुवो । प्रतिभुवः । पूर्वैशैव सिद्धे नियमार्थमेतत् खन्तरयोरेव भुवः शीला-  
दि नान्यत् भवित्वा । भाङ्क ।

विप्रसप्तोऽखो डुः ॥२।२।१५९॥ शीलादिष्विति निवृत्तम् । सम्प्रतीत्यनुवर्तते एव । विप्रसंपूर्वाद्धो-

सुबो दुर्भवत्यखौ । विभुः । प्रभुः । शम्भुः । अखाविति किम् ? विभुर्नाम कश्चित् । “दुप्रकरणे मितद्रुप्रभृतीना-  
मुपसंख्यानम्” [ वा० ] मितं द्रवति मितद्रुः । शम्भुः ।

दाम्नीशसयुयुजस्तुतुदसिसिचमिहपतदशनहः करणे ञट् ॥२।२।१६०॥ दाप् लवन इत्ते  
वमादिभ्यः करणे कारके ञट् भवति । दान्ति तेन दात्रम् । नेत्रम् । शस्त्रम् । योत्रम् । योक्त्रम् । स्तोत्रम् ।  
तोत्रम् । सेत्रम् । सेक्त्रम् । मेद्वम् । पत्रम् । दंष्ट्रा । अजादिषु पाठाष्टाप् । नत्री । दशेः कृतनखस्य निर्देशो  
जापकः कचिदन्यत्रापि नखम् । दशनः ।

धात्रपोत्रे ॥२।२।१६१॥ धात्र पोत्र इत्येते शब्दरूपे निपात्येते । घेटः कर्मणि ञट् निपात्यते । धान्ति  
तामिति धात्री । पोत्रमिति पुनातेः पवतेर्वा करणे ञट् निपात्यते । हलस्य सूकरस्य वा मुखं चेद्वति हनस्य  
पोत्रम् । सूकरस्य पोत्रम् ।

लूध्रसूखनर्तिसहचर इत्रः ॥२।२।१६२॥ करण इति वर्तते । ल्वादिभ्यो धुभ्यः करणे इत्रो भाति ।  
लुनाति तेन लवित्रम् । धुवति तेन धवित्रम् । सुवति तेन सवित्रम् । खनित्रम् । अरित्रम् । सहित्रम् । चित्रम् ।

पुवः खौ ॥२।२।१६३॥ करण इति वर्तते । पवनेः पुनातेर्वा करणे इत्रो भवति खुविपये । पूयोऽनेन  
पवित्रम् । पवित्रा नाम नदी ।

कर्तरि चर्षिदेवतयोः ॥२।२।१६४॥ पुव इत्रो भवति कर्तरि करणे च कारके ऋषिदेवतयोरभि-  
योः । भिन्नयोगनिर्दिष्टत्वाद्यथासख्यं न भवति । पूयतेऽनेन पुनाति वा पवित्रोऽयमृषिः । देवताया पवित्रोऽर्हन्  
स मां पुनातु ।

जोतः क्लः ॥२।२।१६५॥ संप्रतीति वर्तते । जिशब्देतो धोः सप्रति क्लो भवति । जिमिदा मित्रः ।  
जिधृषा । धृष्टः । जिद्विदा । द्विगणः ।

मतिबुद्धिपूजार्थाच्च ॥२।२।१६६॥ मतिरनुमतिः । बुद्धिर्ज्ञानम् । पूजा अर्चा । मत्पूजार्था  
बुद्धयर्थेभ्यः पूजार्थेभ्यश्च धुभ्यः सप्रति क्लो भवति । राज्ञा मतः । राज्ञामिष्टः । राज्ञा बुद्धः । राज्ञा ज्ञातः । राज्ञा  
पूजितः । राज्ञामर्चितः । क्लयोगे कर्तरि ता प्राप्ता “न क्ति” [ १।४।७२ ] इत्यादिना प्रतिपिद्धा भाती एतेन  
पुनर्विधीयते । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः ।

ज्ञात्स्वो रक्षितः क्षान्त आक्रुष्टो जुष्ट इत्यपि । रष्टश्च रक्षितश्चोभौ अभिव्याहृत इत्यपि ॥

हृष्टनुष्टौ तथा कान्तः दयितोऽन्यः संयतोद्यतौ । कष्टं भविष्यतीत्याहुरमृताः पृथक्कमृताः ॥

अमृतशब्द सप्रति बहुत्वनिर्देशान् । मुत्र शयितः स्थितः आशित इत्येवमादयोऽपि मर्त्या योदः ।

“क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव ।  
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥”

तथा अनुक्ताभ्योऽपि प्रकृतिभ्यस्तथा भवन्ति । अण्डः । जृकुस्तृडः—जरण्डः । करण्डः । सरण्डः । वरण्डः ।  
आण्ड ईतैरपीष्यते । एरण्डः । अनुक्ता अपि त्या भवन्ति ऋण्डः ऋण्डः इत्येवमादिषु । तथा सप्रतिकाले  
उणादयो विहिताः क्वचिद्भूतेऽपि दृश्यन्ते । कषितोऽसौ कषिः । ततोऽसौ तन्तिः । भक्षित भस्म । चरितं चर्म ।  
वृत्तं तदिति वर्त्म । तदुक्तं “बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टे प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम् । कार्यसशेषावधेश्च तदुक्तं  
नैगमरूढभवं हि सुसाधु ॥” जात्यपेक्षयैकत्वं तनुदृष्टेरिति प्यखे कमणि का । तनुदृष्ट वीक्ष्य तनुदृष्टः प्रकृतेस्त-  
नोर्गुणस्य दर्शनादित्यर्थः । तद्बाहुलकमुक्तम् । एव हि नैगमाः गौरित्येवमादयः रुढिभवाः पलाश इत्येवमादयः  
शब्दा सुसाधवो भवन्ति ।

इत्यभयनन्दिविरचिताया जैनेन्द्रमहावृत्तौ द्वितीयस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ।

गम्यादिवर्त्त्यति ॥२।३।१॥ उणादयो अन्यत्र च ये साधिता गम्यादयः शब्दास्ते च वर्त्त्यति काले  
साधवो भवन्ति । वर्त्त्यतीत्यनागतस्य कालस्य सामान्येन ग्रहणम् । सप्रत्यादिकाले तेषा साधुत्वव्यवच्छेदार्थं  
आरम्भः । गमिष्यति गमी ग्रामम् । आगमिष्यति आगमी नगरम् । “आध्वमर्थं चेनः” ; [१।४।७४] इति  
कर्मणि तायाः प्रतिषेधात् “कर्मर्णाप्” [१।४।२] इतीवेव भवति । एव भविष्यति भावो । प्रस्थास्यते प्रस्थायी ।  
प्रतिभोत्स्यते प्रतिबोधी । प्रतियोक्ष्यते प्रतियोगी । प्रयास्यति प्रयायी । “गमेरिन्” इति इन् । स एव “आडि  
णिव” इति णित् । “मुवश्च” इति भवतेरपि णिन् । अन्येभ्यः “सुपि शीलेऽज्ञातौ णिन्” [२।२।६६]  
इति णिन् । कथं श्वो गमी ग्रामम् । “अनद्यतने लुट्” इति लुट्प्राप्तेः । तदसत् । यतो वर्त्त्यतीत्यनेन सामान्य  
शब्देनानद्यतनविशेषोऽप्यत्र गृहीतो यथा गौरित्यनेन खण्डमुण्डोऽपि । अतो वर्त्त्यतीत्यविशेषेण वृत्तावप्यर्थकरणा-  
देर्विशेषप्रतिपत्तिः । अथवा “अनद्यतने लुट्” [२।३।१४] इत्यत्र “गम्यादिवर्त्त्यति” इत्येतदनुवर्तिष्यते । तेनान-  
द्यतनविषयेऽपि गम्यादयः सिद्धा भवन्ति । असमाद्धा अनद्यतने भवन्ति । लुट्प्राप्तावपि भवतो गमिष्यति  
गन्तेति ।

पुरायावतीर्लट् ॥२।३।२॥ पुरा च यावच्च पुरायावतो । तयोः पुराया-च्छब्दयोर्वाचोवर्त्त्यति धोर्लट्  
भवति । पुरा भुङ्क्ते । पुराधीते । यावद्भुङ्क्ते । यावदधीते । भविष्यदनद्यतने लृटोऽयमपवादो लट् । लुङ्पि  
लृट्पवादः, तत्रापवादयोः स्पर्द्धे परत्वाल्लुट् प्रातः पूर्वनिर्णयेन लङ् भवति । श्वः पुराऽधीते । श्वो यावदधीते ।  
लक्षणाप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणं न तु लाक्षणिकस्येत्यभिधानात् । तेनेह न भवति । यावदास्यति  
तावन्नोक्ष्यते । महत्त्वा पुरा जेष्यति ।

वा कदाकथ्योः ॥२।३।३॥ कदा कर्हि इत्येतयोर्वाचोवर्त्त्यति धोर्वा लङ् भवति । कदा भुङ्क्ते । कदा  
भोक्ष्यते । कदा भोक्ता । कर्हि भुङ्क्ते । कर्हि भोक्ता ।

फिक्वृत्ते लिप्सायाम् ॥२।३।४॥ किमो वर्तनं किंवृत्तं तस्मिन् वाचि लिप्साया गम्यमानाया वर्त्त्यते  
वा लङ् भवति । लुटि लृटि च प्राप्ते अयमारम्भः । लट्पुमिच्छा लिप्सा प्रार्थनाभिलाषः । को भवद्भ्यो भिक्षा  
ददाति । को भवद्भ्यो भिक्षा दास्यति । को भवद्भ्यो भिक्षा दाता । इह कस्मान्न भवति । कदा भोजयिष्यसि  
भोजयिष्यासि वा । भिमो हि विभक्तयन्तस्य उत्तरउत्तमान्तस्य च वर्तनं किंवृत्तमिति वैयाकरणानामभिप्रायः । तच्चेह  
नास्ति ततोऽत्र लटोऽभावान् लृट्प्राप्तेव भवतः । लिप्सायामिति किम् ? कः पाटलिपुत्रं यास्यति ?

लिप्स्यसिद्धौ ॥२१३।५॥ वत्स्यतीत्यनुवर्तते । लिप्सति हि लिप्स्यो दाता ओदनादिरच । ता दातरी तासः । लिप्स्यस्य सिद्धिः लिप्स्यसिद्धिः । याचकेन हि यो लिप्स्यते दाता तस्य सिद्धौ स्वर्गादिफलप्राप्ती । ओदनादी तु भासः । याचकेन हि यो लिप्स्यते ओदनादिना करणभूतेन सिद्धिः दातुः स्वर्गादिफलप्राप्तिः तस्या गन्तमानाया वत्स्यति वा लङ् भवति । यो भवद्भयो भिक्षा ददाति दास्यति दाता वा स स्वर्गलोकं गच्छति गमिष्यति गन्ता वा । दानादातुः स्वर्गसिद्धिं ब्रुवाणो दातारमेवमुत्साहयति । ननु चात्र उभयत्रापि लिप्साया गन्तमानत्वात् “किंवृत्ते लिप्सायाम्” [२१३।४] इत्येव लङ्विकल्पसिद्धेर्व्यर्थोऽयमारम्भः । न व्यर्थोऽकिंवृत्तार्थत्वादेतदशङ्कम् । पूर्वेषु हि किंवृत्ते वाचि लङ्विकल्पो विहितः ।

लोडर्थलक्षणम् ॥२१३।६॥ वत्स्यतीति वेति च वर्तते । लोडर्थः प्रैषादिः, स लक्ष्यतेऽनेन लोडार्थं लक्षणम्, तस्मिन् लोडर्थलक्षणे ध्वये वर्तमानात् धोर्वत्स्यति वा लङ् भवति । उपाध्यायश्चेदागच्छति । उपाध्यायश्चेदागमिष्यति । उपाध्यायश्चेदागन्ता । अथ त्व तर्कमधीष्व अथ गणितमधीष्व । अत्रोपाध्यायागमनेन प्रैषो लक्ष्यते ।

लिङ् चोर्ध्वमौहर्तिके ॥२१३।७॥ वेति वर्तते । लोडर्थलक्षण इति । ऊर्ध्वं मुहूर्तादत्रा कालो ऊर्ध्वमौहर्तिकः । निपातनात्सविधिस्तत्पदस्यैप् । ऊर्ध्वमौहर्तिके वत्स्यति काले लोडर्थलक्षणे वर्तमानादोर्ध्वं भवति लङ् वा । ऊर्ध्वं मुहूर्तादुपाध्यायश्चेदागच्छेत् उपाध्यायश्चेदागच्छति उपाध्यायश्चेदागमिष्यति उपाध्यायश्चेदागन्ता अथ त्व तर्कमधीष्व अथ त्व गणितमधीष्व ।

बुण्णुमौ क्रियायां तदर्थायाम् ॥२१३।८॥ वत्स्यतीत्येव वर्तते । यस्मादोस्त्योत्पत्तिः प्रार्थनो तस्या क्रिया तच्छब्देनाभिप्रेता सा क्रिया अर्थः प्रयोजनं यस्या प्रजनादिक्रियायाः सा तदर्था, तस्या वाचि वर्तते काले बुण्णुमौ भवतः । वारको प्रजति । कर्तुं प्रजति । भोजको प्रजति । भोक्तुं प्रजति । क्रियायामिति विना । भिक्षिष्ये इत्यस्य जडाः । अन्वेष्ये इत्यस्य कमण्डलुः । द्रव्यमत्र तदर्थम् । तदर्थायामिति किम् ? धातत्वेन गच्छति दण्डः । नात्र धादनं दण्डपनार्थम् । ननु सामान्यविहितेन एवुना सिद्धं किमर्थं बुणिषीयते किमर्थं भावे भवन्तीति भिन्नविषयत्वात्तुमपि न बाधकः । क्रियायां तदर्थाया वाचि लृट् वक्ष्यते न बाधकः स्यात् । वाऽसमविधिना एवुर्भविष्यतीति चेत्, पव तर्हि नियमार्थं बुण्वचनम् । वत्स्यति क्रियायां तदर्थाया वाचि । यथा स्यात् तृणादयो मा भूवन् इति । कर्ता प्रजति विक्रिरो प्रजति इत्येवमादि न भवति ।

भाववाचिनः ॥२१३।९॥ भाववाचिनो घनादयस्ते वत्स्यति काले क्रियायां तदर्थाया वाचि भावना । यद्यपि सामान्येन विहिता घनादयस्तथापि बुण्णुग्रहणं जापकमुक्तम् सामान्यविहितत्वात् वत्स्यति काले तदर्थाया न भवन्तीति तुमा च व्येयम् । तेनायं यत्नः । पात्राय प्रजति । न्यायाय प्रजति । मनो प्रजति । प्रजति । “तुमर्थाद् भावे” [ १।४।२५ ] इत्यम् । भाव इति विशेषणम् । वाचि ग्रहणं किमर्थम् ? यथा त्वं प्रकृतिभ्यो येन विशेषणेन त्या विहितान्त्वान्यः प्रकृतिभ्यस्तेन विशेषणेन क्रियायां तदर्थाया वाचि ।

शेषे ॥२।३।१२॥ उक्तादन्यः शेषः, शुद्ध वत्स्यत् कालमात्रम्. शेषे वत्स्यति लृट् भवति ।  
करिष्यति । हरिष्यति ।

विभाषा लृटः सत् ॥२।३।१३॥ वत्स्यति लृट् तस्य, स्थाने सत्सजौ शतृशानौ विभाषया भवतः ।  
पक्ष्यन्त पश्य । पक्ष्यमाणं पश्य । पक्ष्यता कृतम् । पक्ष्यमाणेन कृतम् । हे पक्ष्यन् । हे पक्ष्यमाण । अर्जयिष्यन्  
वत्ति । अर्जयिष्यमाण आस्ते । देवदत्तः पक्ष्यन् पक्ष्यति वा पक्ष्यमाणः पक्ष्यते वा । व्यवस्थितविभाषेयम् । तेन  
इत्यादिभिर्योगे सम्प्रोधने लक्षणहेत्वोः क्रियायामित्यत्र नित्यो विधिः । वान्तैकार्थत्वे विकल्पः । इतिशब्दयोगे  
तु न भवति । करिष्यामीति व्रजति । हरिष्यामीति व्रजति । लङ्ग्रहणं किम् ? त्यान्तरत्वं मा विशायि ।

अनद्यतने लृट् ॥२।३।१४॥ वत्स्यतीति वर्तते । वत्स्यत्यनद्यतने चर्त्तं वर्तमानाद्धोलुङ् भवति । धः  
कर्ता । श्रोद्ध्येता । अनद्यतन इति वसनिर्देशादय इवो भोक्त्यामहे इत्यत्र न भवति । विभाषानुवर्तनात् परिदेवने  
लृट् विरुद्धेऽपि लुङ् भवति । इत्यन्तु कदा गन्ता एव निदधती पादो । अयं तु कदाध्येता एवमनभियुक्तः ।

पदरुजविशस्पृशो घञ् ॥२।३।१५॥ पद रुज विश स्पृश इत्येतेभ्यो घञ् भवति । पद्यतेऽसौ पादः ।  
एवचोचोरयमपवादो न पचाग्रचः "सुस्मिदन्तं पदम्" [१।२।१०३] इति पदनिर्देशात् । रुजत्यसौ रोगः ।  
विशत्यसौ वेशः । इगुङ्लक्षणापवादः । स्पृश उपतापेऽभिधातम् । स्पृशतीति स्पर्शो रोगः । उपतापादन्यत्र  
स्पृष्टा । तर्शकः ।

सु स्थिरे ॥२।३।१६॥ सरतेः स्थिरे कर्तरि घञ् भवति । कालान्तरं सरतीति सारः । मधूकसारः ।  
विभाषानुवर्तनात् स्थिरव्याधिमत्स्यन्लोष्वभिधानम् । अतीसारो व्याधिः । विसारो मत्स्यः । सारो बलम् ।  
एतेष्विति किम् ? सर्ता । सारकः ।

भावे ॥२।३।१७॥ भावे धोर्घञ् भवति । भाव इति क्रियासामान्यं चर्त्तः । तद्यद्यपि पूर्वापरीभूतम्-  
परिनिष्पन्नमलिङ्गस्वरूपं प्रकृत्यैवोच्यते, तथापि यत्स्वत्तासिद्धताधर्मः स लिङ्गसख्यावानिति तत्र घञादयः ।  
पाकः । त्यागः । रागः ।

अकर्तरि ॥२।३।१८॥ कर्तुरन्यस्मिन् कारके घञ् भवति ।

'नट्युक्तमिवयुक्तं वा यत्कार्यं संप्रतीयते । तुल्याधिकरणेऽन्यस्मिन् लोकेऽप्यर्थगत्यस्तथा ॥'

प्राप्त्यन्ति त प्राप्ताः । प्रसीव्यन्ति त प्रसेवः । आहरन्ति तस्मादाहारः । सज्ञायामसंज्ञायामपि दृश्यते ।  
को भवता दातो दत्तः । को भवता लाभो लब्धः । वर्तन्तः कटः इत्येवमादिषु अनभिधानात् भवति ।

परिमाणाख्यायां सर्वेभ्यः ॥२।३।१९॥ आख्याग्रहणात्परिमाणमिह सख्यादिकं गृह्यते । परिमाण-  
सख्यायां स यमानायां सर्वेभ्यो घञ् भवति । एकत्तएङ्लनिचायः । एकत्तएङ्लावचायः । द्वौ कैदारलावौ । द्वौ  
लोहकारौ । "यद्ग्रहणमोञ्" [२।३।१९] इति प्रचि प्राप्ते इदम् । परिमाणाख्यायामिति किम् ? निश्चयः ।  
उपपत्त्यस्य यथावदर्थार्थम् । एकत्तएङ्लनिचायः । अन्यथा पुरस्तादपवादोऽयमिति अनन्तरमेवाच बाध्येत न  
व्यस्यताम् । नौ रसचेति रसः । पञ्च पञ्चभावाः सिद्धाः । इत्यर्करोत्येवाभिसन्ध्यते । स्त्रीलिङ्गे भावे घञमा  
नोत् । एषा त्रिलोमिति । द्वे पुंती । सर्वग्रहणं बाधकमर्थार्थान्तरं क्लिरपि बाध्येत ।

इङ् ॥२।३।२०॥ इत उक्तर भावे चर्त्तरोति च वर्तते । इङ् इच धोर्घञ् भवति । अधीयते  
इत्यपवादः । उपेयार्थान्तेऽस्मिन्नुपधापवादः । अपाशने यो घञ् तदन्ताद्वा टीवृत्तव्यः । उपाध्यायी । उपा-

ध्याया । वृद्धकुमारीवरवाक्यन्यायेनास्मिन्विषये क्तिमपि घञ् वाघते । “शृणातेर्वाशुवर्णयोर्वञ् वक्तव्यः” [पा०] शारो वायुः । शारो वर्णः ।

गौ रुवः ॥२१३१२१॥ गिमजे वाङ्नि रौतेर्वञ् भवति । विरावः । सरावः । अचोऽपवागेऽन् । गाविति किम् ? रवः ।

समि युद् दुवः ॥२१३१२२॥ सपूर्वेभ्य यु ड् दु इत्येतेभ्यो वञ् भवति । संयाव । सद्रावः । मद्रावः । समीति किम् ? यवः ।

यजे स्तुवः ॥२१३१२३॥ समीति वर्तते । सम्पूर्वात् स्तौतेर्वञ् भवति यजनिषये । समेलः स्तुतिः । अस्मिन्निति सस्तावः छन्दोगानम् । यज इति किम् ? सता सस्तवः ।

श्रिणोभुवोऽगौ ॥२१३१२४॥ अगिपूर्वेभ्यः श्री णी भू इत्येतेभ्यो वञ् भवति । भाय । नाय । भावः । अगाविति किम् ? प्रश्रयः । प्रभवः । कथ प्रभावो धर्मस्य । प्रकृष्टो भानः प्रभावः इति प्राप्तिः । कथ पादगुणस्य यथावत्प्रयोगो यथावत्प्रयोगो नयः “पुंस्त्रौवः प्रायेण” [२१३११००] इति कसणे षो ऽष्टम ।

नियोऽवोदोः ॥२१३१२५॥ अव उद् इत्येतयोर्वाचोर्नयतेर्वञ् भवति । अवनायः । उतायः । कथमुन्नयः । शब्दानां पूर्ववत्करणे षो विवेयः ।

निरभ्योः पूत्योः ॥२१३१२६॥ निस् अमि इत्येवपूर्वाभ्यां पू लू इत्येताभ्यां यभापत्त्य ११ भवति । पू इति सामान्येन ग्रहणम् । निष्पान । अभिलावः । निरभ्योरिति किम् ? पनः । लनः ।

उन्न्योर्ग्रः ॥२१३१२७॥ उद् नि इत्येवपूर्वात् गृ इत्येतस्मात् वञ् भवति । गृ इति सामान्येन ग्रहणम् । उद्गारः । निगारः ।

कृ धान्ये ॥२१३१२८॥ उन्न्योरिति वर्तते । कृ इत्येतस्माद्वोरुद्निपूर्वात् वञ् भवति धान्याति । उत्कारो धान्यस्य । निनारो धान्यत्तः । धान्य इति किम् ? पुणोत्करः । पुणनिकरः ।

प्रे द्रुस्तुध्रुवः ॥२१३१२९॥ प्रशब्दे वाचि ड् स्तु शु इत्येतेभ्यो वञ् भवति । प्रद्रावः । प्रगावः । प्रभावः । प्र इति किम् ? द्रवः ।

स्त्रोऽयजे ॥२१३१३०॥ प्र इति वर्तते । प्रपूर्वात् स्त्र इत्येतस्मात् वञ् भवति अयजति । यत् प्रन्तारः । मणिप्रन्तारः । ऋषायन्न्वादिभि (चि) प्राप्ते इदम् । अयज इति किम् ? वक्षिप्रन्तारः । “इदुः प्रत्युम्मुदुसः” [११३१२८] इति पञ्चम् ।

न्यायपरिणायपर्यायः ॥२१३३६॥ न्यायादयः शब्दाः निपात्यन्ते । निपूर्वादिणः अभ्येते घञ् निपात्यते । अभ्येते गुरुकरणमुक्त्वा वा । एषोऽन न्यायः । अभ्येति किम् ? न्याय गतश्चोरः । परिपूर्वात् नयेतर्तविषये घञ् निपात्यते । परिणयेन सारान् हन्ति । भूतविषयादन्यत्र परिणयः परिपूर्वादिणः अनुपात्यो गम्यमाने घञ् निपात्यते । अनुपात्ययः क्रमप्राप्तस्यानतिवृत्तिः । तत्र पर्यायो भोक्तुम् । मम पर्यायो भोक्तुम् । अनुपात्य इति किम् ? स्वाध्यायकालस्य पर्यायः । अतिक्रम इत्यर्थः ।

व्युपे शीङोऽन्त्ये ॥२१३३७॥ अन्त्य इति पूर्वसूत्रे विन्यासापेक्षया पर्यायोऽग्निप्रेतः । वि उप इत्येतयोर्वाचोः शीङो घञ् भवति पर्याये गम्ये । तत्र विशागो मम विशायः । तत्र राजोपशायः । मम राजोपशायः । राजाननुपशाययितुमवसर इत्यर्थः । अन्त्य इति किम् ? विशयः । उपशयः ।

हस्तादाने चेरस्तेये ॥२१३३८॥ हस्तादाने गम्यमाने चिनोतेर्घञ् भवति न चेत्येते भवति । पुष्पप्रचयः । फलप्रचयः । हस्तादानशब्देन निकटस्य गुच्छादेर्ग्रहणं लक्ष्यते । हस्तादान इति किम् ? पुष्पप्रचयः । अस्तेय इति किम् ? पुष्पप्रचयं करोति चौर्येण ।

निवासचितिशरीरोपसमाधाने चः कः ॥२१३३९॥ चेरिति वर्तते । निवास चिति शरीर उपसमाधान इत्येतेष्वर्थेषु चिनोतेर्घञ् भवति चकारस्य च ककारः । निवासे-साधुनिकायः । उत्कृष्टनिकायः । अधिकरणे घञ् । चीयतेऽस्ते चितिः । यत्र अग्निविशेषः । अकायमग्निं चिन्वीत । शरीरे-चीयते इति कायः । उपसमाधानमुपर्युपरि राशीकरणम् । महान् गोमयनिकायः । उपर्युपरीति विशेषणादिह न भवति । महान् काष्ठनिचयः । एतेष्विति किम् ? चयः ।

संघेऽनूर्ध्वे ॥२१३४०॥ संघः प्राणिविशेषसमुदायः । अनूर्ध्वं संघे वाच्ये चिनोतेर्घञ् भवति चकारस्य च कवम् । निचीयते इति निकायः । साधुनिकायः । पण्डितनिकायः । प्राणिविशेषस्य सङ्घस्य ग्रहणादिह न भवति । काष्ठचयः । पदसमुच्चयः । विशेषग्रहणं किम् ? प्राणिसमुच्चयः । सामान्येन समुदायोऽयम् । अनूर्ध्वं इति किम् ? उपर्युपरि सूकरनिचयः ।

आक्रोशेऽवन्योर्महः ॥२१३४१॥ आक्रोशः शपनम् । अत्र नि इत्येतयोर्वाचोर्महर्घञ् भवति आक्रोशे गम्ये । अत्रग्राहो ह ते वृषल भूयात् । निग्राहो ह ते वृषल भूयात् । आक्रोश इति किम् ? अत्रग्राहः पदस्य । निग्राहो दुष्टस्य ।

प्रे लिप्तायाम् ॥२१३४२॥ प्रशब्दे वाचि लिप्तायां गम्यमानायां ग्रहणं भवति । प्रगाहेण चरति भिक्षुः । पात्रं प्रक्षालयन् लिप्सुर्भ्रमतीत्यर्थः । लिप्तायामिति किम् ? प्रगाहो देवदत्तस्य राज्ञः ।

परो यज्ञे ॥२१३४३॥ परिपूर्वाद्ग्रहणं भवति यज्ञविषये । उत्तरः परिग्राहः । यज्ञ इति किम् ? परिग्राहो देवदत्तस्य ।

नो वुर्धन्ये ॥२१३४४॥ निशब्दे वाचि वृ इत्येतस्मात् घञ् भवति धान्यविशेषे वाच्ये । वृ इति वृक्षलोकाणाम् । नीवारा नाम ग्रीवयो भवन्ति । धान्य इति किम् ? निमित्त इति निवारा कन्या ।

उदि पृष्ट्वा योतिध्वजः ॥२१३४५॥ उत्पूर्वम्यः पू ङ यौति ध्वज इत्येतेभ्यो घञ् भवति । उदाव । उद्ग्राव । उपाव । उच्छ्रावः ।

घाटि रण्णुवो ॥२१३४६॥ आहपूर्वाभ्यां ण गु इत्येताभ्यां वा घञ् भवति । आरावः । आरावः । “नोरवः” [ २१३४६ ] इति निल घञ् प्राप्तः । आरावः । आरावः ।

प्रतोऽयं वर्षप्रतिवन्द्ये ॥२१३४७॥ वेति यत्तते । अत्रशब्दे वाचि ग्रहणं घञ् भवति वर्षप्रतिवन्द्ये लक्ष्ये । अत्रग्राहो देवदत्तः । अत्रग्राहो देवदत्तः । वर्षप्रतिवन्द्य इति किम् ? अत्रग्राहः पदस्य ।



**प्रे वणिजाम् ॥२।३।४८॥** वेति वर्तते । प्रशब्दे वाचि ग्रहेर्वा घञ् भवति समुदायेनाभिधेय वणिजा सम्बन्धि चेद्भवति । तुलाप्रग्राहेण चरति । तुलाप्रग्राहेण चरति । तुलास्य गृहीत्वा वणिक् चेष्टते इत्यर्थः । वणिजामिति किम् ? प्रग्रहो देवदत्तस्य ।

**रश्मौ ॥२।३।४९॥** प्र इति वेति च वर्तते । इह रश्मिशब्देन अश्वादिसंयमनरञ्जुरेव गृह्यते । प्रग्राहे वाचि ग्रहेर्वा घञ् भवति समुदायेन रश्मावभिधेयायाम् । प्रगृह्यते इति प्रग्राहः । प्रग्रहः ।

**आच्छादने वृजः ॥२।३।५०॥** वेति वर्तते प्र इति च । प्रपूर्वाद्धृणोतेर्वा घञ् भवति आच्छादन-विशेषे वाच्ये । प्रवृणोति त प्रावारः । प्रवरः । आच्छादन इति किम् ? प्रवरः ।

**परौ भुवोऽवज्ञाने ॥२।३।५१॥** वेति वर्तते । अवज्ञानमवज्ञेयः परिपूर्वाद्ध्रु इत्येतस्माद्वा घञ् भवति अवज्ञाने वाच्ये । परिभावः । परिभवः । अवज्ञान इति किम् ? सर्वतो भवः परिभवः ।

**वृहवृहगमोऽच् ॥२।३।५२॥** भावे अकर्तरीत्येवानुवर्तते । इवर्णान्तात् उवर्णान्तात् ऋवर्णान्तात् वृह वृ ह गभि इत्येतेभ्यः वानित्यय ल्यो भवति । घञोऽपवादोऽयम् । चयः । जयः । रयः । रनः । लवः । करः । गरः । शरः । ग्रहः । वरः । आदरः । गमः । चकार । “व्यजोऽघञचोः [१।४।१०८] इत्या विशेषणार्थः । “अज्विधौ भयादीनामुपसख्यानं नपुंसके क्तादिनिवृत्त्यर्थम्” [वा०] भयम् । वर्धम् । “रग्वि-शिभ्यामज्वक्तव्यः” [वा०] रणः । वशः । “वज्रधे कविधानं स्थास्नापाव्यधिहिनियुध्यर्थं कर्तव्यम्” [वा०] प्रतिष्ठतेऽस्मिन् प्रस्थः । प्रस्तात्यस्मिन् प्रस्तनः । प्रपिबन्त्यस्या प्रपा । आविष्यन्त्यनेन आविषम् । विह्वयोऽनेनास्मिन्वा विव्नः । आयुध्यन्तेऽनेनेति आयुधम् ।

**गावदः ॥२।३।५३॥** गिपूर्वाद् अदेरञ् भवति । प्रादन प्रघसः । विघसः । सघस । “घस्त्वुत्सृज्य-सनक्षु” [१।४।१११] इति अर्धस्लादेशः । गाविति किम् ? वासः । अस्मिन् प्रकरणे यत्रेपा गिनिर्दिश्यते तत्र वाग्लक्षणः प्रादिलक्षणो वा सविधिः ।

**नौ राश्च ॥२।३।५४॥** निपूर्वाददेशो भवति अच । न्यादः । निघसः ।

**पणः परिमाणे ॥२।३।५५॥** पणोर्वाजि णे वा नास्ति विशेषः इत्यारम्भसामर्थ्यादच एवानुवृत्तिः । पणः परिमाणे गम्यमाने अच् भवति । पण्यत इति पणः मूलकपणः । शाकपण । ‘परिमाणाख्यायां रावंभ्य’ [२।३।१६] इति घञ् प्रातः । परिमाण इति किम् ? पाणः ।

**पशुप्वजः समुदोः ॥२।३।५६॥** सम उद् इत्येतयोर्वाचोरजेर्वांरज भवति पशुविषये । समजः । पशुना समुदाय इत्यर्थः । उदजः । पशुनाममुच्चालनमित्यर्थः । पशुग्विति किम् ? समाज साधूनाम् । उपा-शकुनीनाम् । “चजोः कुविण्यतोस्तेऽनिटः” [५।२।१६] कुत्व विधीयते अजेस्तु वीभावेन भवितव्यमि-त्यसत्वाद् विशेषण नास्तीति कुत्व न भवति ।

**ग्लहोऽस्ते ॥२।३।५७॥** ग्लह ग्रहणे इत्यस्मादञ् भवति अन्नविषये । अन्नेषु ग्लहः । अन्न इति किम् ? ग्लहः ।

**प्रजने सुः ॥२।३।५८॥** प्रजनो गर्भाधानम् । प्रजनविषये सृ इत्येतस्मादञ् भवति । गान्पमरः । गर्भाधानाय त्रीगवीषु वृषाणां नृपसरणमित्यर्थः । एव पशूनां नृपमरः । प्रजन इति किम् ? उपमाया नै

ग्राह्याजौ ॥२१३६०॥ आशिः सगामः । आर्षर्षन् इत्यो ग्राह्याभिधानम् । नमः ।  
आह्वयन्तेऽस्मिन्निति आहवः । आजाविति किम् ? आहायः ।

निपानमाहावः ॥२१३६१॥ निपात्यस्मिन्निति निपानं जलप्रदानम् । प्राप्य नित निपात्यते  
निपान चेन्नवति । आर्षर्षस्य ह्यथोरधिकरणे यज् निपात्यते । आह्वयन्तेऽस्मिन्निति आहावः । गृह्णीनाम् ।  
निपानमिति किम् ? आहायः ।

भावेऽगौ ॥२१३६२॥ अग्निपूर्वस्य ह्यतेर्भावे जिर्मवत्यच् । तान ह्य । प्रगाविति किम् ? प्राजागे  
वर्तते । कर्तरीत्यस्यानुप्रवेशो मा भूदिति पुनर्भावात्प्रणम् ।

हनश्च वधः ॥२१३६३॥ हन्तेरग्निपूर्वस्य भावे वधादेशो भवत्यच् । हनन वधः । चतस्रो यज् न  
चयार्थः । घातो वर्तते ।

व्यधमदजपोऽगौ ॥२१३६४॥ अगाविति वर्तमाने पुनरग्निगट्ठ भावनिकुत्तर्यम् । तेन भावे  
अकर्तरीति द्वय सव्यते । अग्निपूर्वभ्यो व्यध मद् जप् इत्येभ्यः प्रज् भवति । व्यधः । मद् । प्रगाविति  
किम् ? प्रव्याधः । उन्मादः । उपजापः ।

स्वनहसोर्वा ॥२१३६५॥ अगाविति वर्तते । अग्निपूर्वाग्या स्वन हस इत्येताभ्यामज् भवति ता ।  
स्वनः । स्वनः । हसः । हासः । प्रगावित्वेव । पस्वानः । प्रहासः ।

यमः सन्निव्युपे च ॥२१३६६॥ यमेधोः सम् नि वि उप इत्येतेषु वान्तु अगो च प्रज् भवति ।  
वेति वर्तते । सयमः । सयामः । नियमः । नियामः । वियमः । विव्यामः । उपयमः । उपयामः । अगो-  
यमः । यामः ।

नौ गदनदपठस्वनः ॥२१३६७॥ वेति वर्तते । निपूर्वभ्यः गद नद पठ स्वन इत्येतेभ्यो वा अज्  
भवति । निगदः । निगादः । निनदः । निनादः । निपठः । निषाठः । निस्वनः । निस्वानः ।

कणो वीणायां च ॥२१३६८॥ नौ वा अगाविति त्रय वर्तते । कणेष्वोः निपूर्वादग्निपूर्वाच्च अधीणाया  
वीणाया च विषये अज् भवति । निकणः । निकाणः । अगौ-कणः । काणः । वीणादृष्ट्वा गावपि  
प्रापणार्थम् । कल्याणप्रकणा वीणा । कल्याणप्रकणा वीणा । एतेष्विति किम् ? अतिक्राणः ।

घनान्तर्घणप्रघणप्रघाणोद्धनापघनायोघनविघनद्रुघणस्तम्बघनस्तम्बघनपरिघोपघनसंघो-  
द्धनिघप्रमदस्तम्भदाः ॥२१३६९॥ घनादयः शब्दा निपात्यन्ते । हन्तेरच् घनभावश्च मूर्तावभिधेयाया  
निपात्यते । मूर्तिः । काठिन्यम् । अभ्रघनः । दधिघनः । कर्मणि घन दधीति भवति । अन्तःशब्दपूर्वस्य  
हन्तेरधिकरणे घनभावोऽच्च निपात्यते देशाभिधाने । अन्तर्हन्त्येतेऽस्मिन्निति अन्तर्घणो वाहीकेषु देशविशेषः ।  
केचिन्कार पठन्ति । अन्तर्घातोऽन्य । प्रपूर्वस्य हन्तेः प्रचि घञि च घनभावो निपात्यते अगारैकदेशेऽभिधेये ।  
प्रघणः । प्रघाणः । गृहद्वारदेश इत्यर्थः । प्रघातोऽन्यः । उत्पूर्वस्य हन्तेरधिकरणे घनभावोऽच्च निपात्यते  
अत्याधान चेन्नवति । अत्याधीयतेऽस्मिन्नित्याधानम् । यत्र काष्ठानि लोहानि चाह्वयन्ते तदुच्यते । ऊर्ध्व  
हन्त्येतेऽस्मिन्नुद्यनः । उद्घातोऽन्यः । अपघन इति निपात्यते अङ्गं चेन्नवति । अपघातोऽन्यः । अयोघनः ।  
उपघनः । सम्भ्रघनः । सम्भ्रघनः । परिघ इत्येते करणे कारके अजन्ता निपात्यन्ते । द्रुघणे केचिन्कार पठन्ति ।  
नम्भन्ते कमान निपात्यते । परिपूर्वस्य हन्तेर्घभावश्च निपात्यः । उपपूर्वात् हन्तेराश्रयेऽभिधेये को निपात्यते ।  
गुरुपघनः । परतोपघनः । उपघातोऽन्यः । सम्पूर्वस्य हन्तेर्घभावोऽच्च निपात्यते गणश्चेन्नवति । गणः प्राणि-  
समुदाय एव । पराज्ञा सवः । अन्यत्र सघातः । उत्पूर्वस्य हन्तेर्घादेशोऽच्च निपात्यते प्रशसायाम् । उडो  
भनुष्य । उद्धातोऽन्यः । निघ इति निपात्यते निमित्तार्थे । समतादारोहपरिणाहाया मिततुल्यनिमित्तम् ।  
निघाः । शालयः । निघातोऽन्यः । प्रमदनमदो ह्येऽभिधेय । अन्यत्र प्रमादः । सम्मादः ।

ज्योतिषि । तार्क्षिरन्या । एषि कृते दीत्वमनयोनिपातनात् । वषा मेदोविशेषे । उत्तिरन्या । वशा शरीरगतस्नेहे ।  
उष्टिरन्या । मृजा शरीरसस्कारे । मृष्टिरन्या । धारा वर्षप्रपाते । वृतिरन्या । निपातनादात्वम् । “ऋषेज्जिच”  
[ वा० ] कृपा । गोधा । हारा । रेखा । लेखा । निपातनादेप् । चूडा । पीडा ।

चिन्तिपूजिकथिकुम्भिर्भर्चर्चः ॥२।३।८७॥ चित्त्वादिभ्यो धुभ्यः स्त्रियामङ् भवति । युचोऽपवा  
दोऽयम् । चिन्ता । पूजा । कथा । कुम्भा । चर्चा ।

आतो गौ ॥२।३।८८॥ आकारान्तेभ्यो धुभ्यो गौवाचि अङ् भवति । क्लोरपवाद । प्रदा । प्रता ।  
प्रपिबन्त्यस्या प्रपा । पिबतेर्भावे क्तिर्विहितः । “प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तिभ्यो ण्” [ ४।१।२८ ] “तिरोऽन्तर्द्धा”  
[ १।२।१४० ] इति प्रयोगात् श्रदन्तरोर्गिवद्वृत्तिः । श्रद्धा । अन्तर्धा ।

ण्यासश्रन्थिघट्टिचन्दिविद्रो युच् ॥२।३।८९॥ एयन्तेभ्यः आस श्रन्थि घट्टि चन्दि विद् इत्येतेभ्यो  
धुभ्यः स्त्रिया युज् भवति । एयन्तात् “अस्त्यात्” [ २।३।८४ ] इति इतरेभ्यः “सरोर्हल्” [ २।३।८५ ]  
इत्यकारः प्रातः । विदेः क्तिः प्रातः । कारणा । गणना । कामना । आसना । श्रन्थना । घट्टना । चन्दिना ।  
वेदना । अनुभवे वेदनद्रष्टव्या । “इपोऽनिच्छायां युज् वक्तव्यः” [ वा० ] अन्वेपणा । “परेर्वा” [ वा० ]  
पर्येपणा । परीष्टिः । “युङ्ख्या बहुलम्” [ २।३।९४ ] इति वा भविष्यति । व्याना स्त्रोत्याः अत्रावत्  
इत्युक्तम् । तेन आस्या उपास्या ।

खौ विभाषा वुण् ॥२।३।९०॥ खुविषये विभाषया वुण् भवति धोः । क्यादीनामपवादाः । प्ररुन्दिमा ।  
प्रच्छुर्दिका । प्रवाहिका । विचर्चिका । एता रोगसजाः । उद्दालकपुष्पभञ्जिका । वारणपुष्पप्रचायिका । श्रम्यो  
पलादिका । शालभञ्जिका । एताः क्रीडासजाकाः । कृल्लक्षणा कर्मणि ता । “क्रीडाजीविक्योर्नित्यम्”  
[ १।३।८० ] इति नित्यः सविधिः । उद्दालकपुष्पाणि भज्यन्ते यस्या क्रीडाया इत्येवमादिरस्वपदविग्रहो बोद्धव्यः ।  
विभाषाग्रहणादिह न भवति शीर्षसिं. शीर्षाभिततिः । शिरोऽर्तिः । “धावृत्ति गे” [ ४।३।७६ ] इत्येषा  
भवितव्यमिति चेत् , न, अर्दं हिंसायामित्यस्य प्रयोगः । चन्दनतक्षिका । क्रीडेयम् । विभाषाग्रहणादुत्पत्तिर्  
शेऽपि वुण् भवति । आसिका । शायिका वर्तते ।

वेज्ञ प्रश्नाख्याने ॥२।३।९१॥ प्रश्ने आख्याने च गम्यमाने धोरिज् भवति वुण् च वा । का त  
कारिमकार्यः का कारिका वा । वचनाद्यथाप्राप्त च भवति । का क्रिया का कृत्या का कृतिम् । आख्याने सां  
कारिमकार्यं सर्वा कारिका सर्वा क्रिया सर्वा कृत्या सर्वा कृतिम् । का त्व गणिमजीगणः का गणिका वा  
गणनाम् । सर्वा गणिमया गणिता । सर्वा गणिका सर्वा गणना । का त्व पाठिमपाठी का पाठिका वा  
पाठितम् । सर्वा मया पाठि. पठिता सर्वा पाठिका सर्वा पठितिः । प्रश्नाख्याने इति किम् ? कृतिः ।

पर्यायाहणोत्पत्तो वुण् ॥२।३।९२॥ पर्याय अर्हः शृणु उत्पत्ति इत्यने वयमु गम्यमानेनु बोधिम्  
भवति त्रियाम् । पर्यायोऽनुक्रमः तस्मिन् । भवत शायिका । भवतोऽप्यामिका । “कर्तृकर्मणो कृति”  
[ १।४।६८ ] इति त्वरि ता । “वृज्जकाम्याम्” [ १।३।७८ ] इति तापप्रातेऽयम् । “प्रणिम”  
योग्यता । तत्र अर्हति भवानिच्छुभञ्जिकाम् । आदनभोजिकाम् । पयःपायिकाम् । “वृज्जकाम्याम्” [ १।३।७८ ]  
इत्यत्र कर्तृरीत्यनुवर्तनात् कर्मण या ता तत्र “कृति” [ १।३।७९ ] इत्यनेन ताम् । शृणु य गम्य वा ।  
तत्र इच्छुभञ्जिका मे धारयसि । आदनभोजिकाम् । पयःपायिकाम् । उपतो-इच्छुभञ्जिका मे उपपादि ।  
आदनभोजिका । पयःपायिका । विभाषानुवर्तनात् क्वचित् भवति । अर्दचर्चार्था मे उत्पत्तिः । आनाम्भुना  
मे उपपादि ।

आक्रोशे नञ्यतिः ॥२।३।६३॥ आक्रोशे गम्यमाने नञि वाचि धोरनिस्त्यो भवति । क्त्वादीनाम पवादः । अकरणिस्ते वृषल भूयात् । अप्रयाणिस्ते वृषल भूयात् । आक्रोश इति किम् ? अकृतिस्तस्य पटल्य । नञीति किम् ? मृतिस्ते वृषल भूयात् ।

युड्व्या बहुलम् ॥२।३।५४॥ भावे अकर्तरि स्त्रियामिति च निवृत्तम् । युड्व्यसञ्ज्ञश्च बहुल भवन्ति । भावकरणाधिकरणेषु युड् विहितोऽन्यत्रापि भवति । निरदन्ति तदिति निरदनम् । अवसेचनम् । अवतावणम् । राजा भुज्यन्ते राजभोजनाः शालयः । क्षत्रियपानं मधु । राजाच्छादनानि क्त्वाणि । प्रयतते तस्मात् प्रयतनम् । प्रस्कन्दनम् । प्रच्छर्दनम् । भावकर्मणोर्व्या उक्तास्ततोऽन्यत्रापि भवन्ति । स्नान्ति तेन स्नानीयं नूर्यम् । दीयतेऽस्मै दानीयोऽतिथिः । ज्ञानमावृणोति आव्रियते बानेन ज्ञानावरणीयम् । दर्शनावरणीयम् । वेदनीयम् । मोहनीयम् । बहुलवचनादन्येऽपि कृतः उक्तादन्यत्र भवन्ति । गले चोप्यते गलचोपकः । पादाभ्यां हियते पादहारकः ।

नप् भावे क्तः ॥२।३।६५॥ नञिति ङिख कृत्वा निर्देशः । नपि नपुसकलिङ्गे भावे क्तो भवति । घञचोरपवादः । हसित छात्रस्य शोभनम् । जल्पितम् । आसितम् । शयितम् । नपुसकलिङ्गे भावे क्तादि-निवृत्त्यर्थं भयादीनामञ् वक्तव्य इत्युक्तम् । तेन भय वर्षमित्यादौ क्तो युर्न भवति । येषां घञजन्तानां नपुसक-त्वमिष्ट तेऽर्द्धचादिषु द्रष्टव्याः ।

जिन्नमिविधौ ॥२।३।६६॥ नव्भावे इति वर्तते । अभिविधिः क्रियागुणाभ्यां काल्प्येन व्याप्तिः । नपि भावे धोर्जिन् भवति अभिविधौ गम्यमाने । कृत्वायमपवादः । साङ्कौटिन सामार्जिन साराविण सान्द्रा-विण वर्तते । “जिनोऽण्” [ ४।२।२१ ] इति स्वार्थिकोऽण् “नो पुंसोऽट्ति” [ ४।४।१३० ] इति टिख प्राप्तं “प्रायोऽनपत्येऽण्निनः” [ ४।४।१५५ ] इति न भवति । मध्येऽपवादोऽयं युटं न बाधते । संकुटनं समार्जनम् । अभिविधाविति किम् ? सरावः ।

युट् ॥२।३।५७॥ नव्भाव इति वर्तते । नपि भावे युड् भवति धोः । हसनं छात्रस्य शोभनम् । जल्पनम् । आसनम् । शयनम् ।

कर्मणि यत्स्पर्शात्कर्त्रङ्गसुखम् ॥२।३।६८॥ युड् नव्भाव इति च वर्तते । येन सत्स्पर्शात् कर्त्रङ्गस्य सुखं भवति तस्मिन् कर्मणि वाचि नपुसकलिङ्गे भावे युड् भवति । ओदनभोजनं सुखम् । पयः पानम् । चन्दनानुलेपनम् । पूर्वेण सिद्धेऽपि नित्यसर्वविध्यर्थं आरम्भः । कर्मणीति किम् ? तूलाकाया उत्थानम् । युड्त्र पूर्वेण सिद्धः । सर्वविधस्तु न भवति । यत्स्पर्शादिति किम् ? अग्निकुण्डस्योपासनं सुखम् । युट् पूर्वेण । पान्तिः । सर्वविधिः । कर्तरीति किम् ? गुरोः स्नापनं सुखम् । नात्र स्नापयतेः कर्तुः शरीरसुखं किं तर्हि गुरोः कर्मणः । अङ्गग्रहणं किम् ? पुत्रस्य परिष्वजनं सुखम् । मानसमिदम् । अन्यथा परपुत्रपरिष्वजनेऽपि स्यात् । सुखमिति किम् ? कण्टकानां मर्दनम् ।

करणाधिकरणयोः ॥२।३।६९॥ करणेऽधिकरणे च कारकेऽभिधेये युड् भवति । घञाद्यपवादः । करणे-इधमश्चनः । पलाशशातनः । अविलवनः । कर्मणि ता । कृतीति तासः । अधिकरणे गोदोहनी । शक्नुधानी । तिलपीडनी । परत्वात् तयादिक स्त्रीत्व बाधते ।

पुंस्त्रौ घः प्रायेण ॥२।३।१००॥ करणाधिकरणयोरिति वर्तते । पुल्लिङ्गसंज्ञायां गम्यमानायां धोर्घो भवति प्रायेण । घकारः “छादेर्घ” [ ४।४।६० ] इत्यत्र विशेषणार्थः । प्रच्छदः । उरच्छदः । लवः । आलवनः । अधिकरणे-एत्य कुर्वन्त्यस्मिन्नाकरः । आलवः । आपवः । पुंग्रहणं किम् ? प्रधानम् । विचयनी ।

नपुंसकलिगा स्त्रीलिङ्गा चेयं संज्ञा । खाविति किम् ? हरणो दण्डः । प्रायेणेति किम् ? कचिन्न भवति । प्रसाधनः । दोहनः ।

तृस्रोऽवे घञ् ॥२।३।१०१॥ तृ स्तृ इत्येताभ्यामवशब्दे वाचि घञ् भवति करणाधिकरणयोः पुलौ । अवतारः । अवस्तारः । कथमसंज्ञायामवतारो नद्या इति ? चिन्त्यमेतत् ।

हलः ॥२।३।१०२॥ हलन्ताद्धोर्घञ् भवति करणाधिकरणयोः पुलौ । घापवादोऽयम् । वेदः । नेगः । वेशः<sup>१</sup> । गन्धः । सङ्गः । विपङ्गः । तैलोदकम् । घृतोदकम् । नास्त्यत्र घञि घे वा विशेषः । इमानि तर्ह्युदाहरणानि । खेलः । निमार्गः । अपामार्गः । प्रासादः । आखानः । प्रायेणेत्यनुवर्तनात् हलन्तेभ्यः केन्यश्चित् घञ् न भवति घ एव भवति । अधिकरणे-कपः । निकपः । निगमः । गोचरः । आपणः । करणे-सचरः । वहः । वजः । इह व्यजन्त्यस्मिन्निति व्यजः । घे कृते “बहुलं खौ” [१।४।१२१] इति बहुलवचनादर्ज्याभावो न भवति । इह उदकोदध्नः । दोहनः । प्रसाधन इति घञौ न भवतः । आखन, आपान, इत्यत्रोभयं भवति ।

संहारोद्यावानायावहारावायाः ॥२।३।१०३॥ सहारादयः शब्दा घञि निपात्यन्ते पुलौ । अहलन्तात् पूर्वैणाप्राप्तिः । संहरति तेन संहारः । करणेऽधिकरणे वा उच्चावः । आनयन्ति तेन आनायो जाल चेत् । अवहरन्ति तेन अवहारः । एत्य तस्मिन् वयन्ति आवायः । “अध्यायानुवाकयोर्वोप्” [४।१।६४] “आहारोऽधिकरणः” [१।२।११६] इति जापकात् उज्झादिषु न्यायशब्दस्य निर्देशात् अधीयते अनेनाध्यायः । आध्रियते अस्मिन् आधारः । नीयतेऽनेन न्यायः । एतेऽपि शब्दाः साधवः ।

स्वीपद्दुसि कृच्छ्राकृच्छ्रे खः ॥२।३।१०४॥ सु ईषत् दुष् इत्येतेषु वास्तु कृच्छ्रे अकृच्छ्रे चार्थे खो भवति धोः । कृच्छ्राकृच्छ्रग्रहणं स्वादिविशेषणम् । सुकरः कटो भवता । ईषत्करः कटो भवता । दुष्करः कटो भवता । “तयोर्व्यक्तार्थाः” [२।४।१५] इति कर्मणि खः । “न क्ति” [१।४।७२] इत्यादिना ताप्रतिषेधः । भित्वात्पूर्वपदस्य मुम्न भवति । कृच्छ्राकृच्छ्र इति किम् ? ईषत्कार्यः । मनाकार्य इत्यर्थः ।

कर्तृकर्मणोर्भूकृज्भ्याम् ॥२।३।१०५॥ स्वीपद्दुसि कृच्छ्राकृच्छ्रे ख इति वर्तते । कृज्ग्रहणात् मर्यात् कर्तृकर्मग्रहणं वाग्विशेषणम् । कर्तरि कर्मणि च वाचि भू कृज् इत्येताभ्या यथासंख्य खो भवति सु ईषत् दुष् इत्येतेषु वास्तु कृच्छ्रे अकृच्छ्रे चार्थे । तस्य स्त्रिकरणं समर्थमिति पूर्वं कर्तृकर्मभ्या योगः पश्चात्स्वादिभिः । प्रायेणेत्यनुवर्तनात् कर्तृकर्मणोश्चर्ययोर्ग्रहणम् । अनाद्येन सुखमाद्येन भूयते स्वाद्यं भव भाता । ईषदाद्यं भवं भवता । दुराद्यं भव भवता । सुखमनाद्यमाद्यङ्क्रियते । स्वाद्यकरो देवदत्तो भवता । ईषदा व्यङ्करः । सूत्रन्यासे परत्वात्कर्तृकर्मणो वाक्स कृत्वा पश्चात्पूर्वस्य क्रियते । चर्ययोरिति किम् ? स्वाद्येन भूयते । स्वाद्येन क्रियते । यदा करोतिर्विकारार्थः तदा मुकटकराणि वीरणानि । यदा निपत्तिरचना तदा सुकरः कटो वीरणैरिति ।

युजातः ॥२।३।१०६॥ स्वीपद्दुसि कृच्छ्राकृच्छ्रे इति वर्तते । आकारान्तेभ्यो युञ्जो युज्मार्तात् स्वादिषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु वास्तु । युजानं पयो भवता । ईषपानम् । दुष्पानम् । दुर्लानम् । ईषपानम् । दुर्लानम् । खावादोऽयम् । प्रायेणेति वर्तते । तेन “दुःशब्दे वाचि शासियुविदि-धृषिसृषिम्य, युज् भवति” [वा०] । दुःशामन । दुर्याननः । दुर्दर्शनः । दुर्धर्षणः । दुर्धर्षणः । दुर्धर्षणः ।

भवद्गृहा तत्सामीप्ये ॥२।३।१०७॥ भवच्छब्दो वर्तमानपर्यायः । समीपमेव सामीप्यम् । भवतीत्यविधिर्भवति वा तत्समीपे भूते भविष्यति च ध्वर्थे वर्तमानादोः । सप्रतीत्याभ्य आ पादपरिममातेविंतितास्या अतिदिश्यन्ते । कदा देवदत्त आगतोऽसि । एष आगच्छामि । आगच्छन्तमेव मा विद्धि । एष आगामुसोऽसि । वावचनायथाप्राप्तम् । एष आगतोऽसि । कदा देवदत्त गमिष्यसि । एष गच्छामि । गच्छन्तमेव मा विद्धि । गन्तारमेव मा विद्धि । पक्षे एष गमिष्यामि । एषोऽसि गन्ता । वत्करण किमर्थम् ? प्रकृतिविशेषादिपरिमहार्थम् । तत्सामीप्यगृहण व्यवहितनिरासार्थम् । कदा ग्राममगच्छन् । श्वः करिष्यति । इह मा भूत् । नन्वन लुटा भवितव्य कथं लृट् ? पदसंस्कारवेलाया श्वःप्रभृतिपदानामसनिधानाददोषः ।

भूतवच्चाशसायाम् ॥२।३।१०८॥ आशसनमाशसा भविष्यत्कालविषया, तस्या गम्यमानाया भूतवक्त्यविधिर्भवति भवद्गृहं वा । भूतग्रहणेन भूतसामान्ये विहितस्य त्यस्य परिग्रहः । उपाध्यायश्चेदागमिष्यति उपाध्यायश्चेदागमत् उपाध्यायश्चेदागतः तदा तर्कमधीमहे अध्येष्यामहे अध्वगीधमहि एषोऽधीतस्तर्कः । आशसायामिति किम् ? उपाध्याय आगमिष्यति ।

क्षिप्रवचने लृट् ॥२।३।१०९॥ आशसायामिति वर्तते । क्षिप्रार्थे शब्दे वाचि लृट् भवत्याशसायां गम्यमानायाम् । भूतवच्चेत्यस्यापवादः । उपाध्यायश्चेदागमिष्यति क्षिप्रमध्येष्यामहे क्षीप्रमध्येष्यामहे । नेति वक्तव्ये लृट्ग्रहण लृट्विषयेऽपि यथा स्यात् इत्येवमर्थम् । श्वः क्षिप्रमध्येष्यामहे ।

लिङाशंसोक्तौ ॥२।३।११०॥ आशसा उच्यते येन शब्देन तस्मिन् वाचि लिङ् भवत्याशसायां गम्यमानायाम् । अयमपि भूतवच्चेत्यस्यापवादः । उपाध्यायश्चेदागच्छेत् आशसे युक्तोऽधीयीय । अवकल्पये युक्तोऽधीयीय । परत्वात्लृटो बाधकोऽयम् । आशसे क्षिप्रमधीयीय ।

न लङ्लुट् सामीप्याव्युच्छित्योः ॥२।३।१११॥ सामीप्यं तुल्यजातीयेनाव्यवधानम् । अव्युच्छित्तिः क्रियाप्रबन्धः । लङ्लुटौ न भवतः सामीप्याव्युच्छित्यो गम्यमानयोः । अनद्यतनविहितयोरलङ्लुटोरय प्रतिषेधः । सामीप्ये-येय पौर्णमास्यतिक्रान्ता एतस्या देवानपूजामः । अतिथीनवभुजामः । येयममावास्यागामिनी एतस्या देवान् पूजयिष्यामः अतिथीन् भोजयिष्यामः । अव्युच्छित्तौ-यावदजीवीत् भृशमन्नमदात् । यावज्जीविष्यति भृशमन्नं दास्यति ।

वर्त्यत्यवरेऽवधेः ॥२।३।११२॥ यद्यपि लङ्लुडिति प्रकृतम्; तथापीह वर्त्यद्रहणात्लुट एव प्रतिषेधः । वर्त्यतिकाले अवरस्मिन् भागे लुण् न भवति । असामीप्याव्युच्छित्यर्थोऽयमारम्भः । कालविभाग उत्तरत्र वक्ष्यते । देशविभागेऽपि प्रतिषेधः । योऽयमध्वा गन्तव्य आ चित्रकूटात् तस्य यदवरं मथुरायाः तत्र द्विरोदनं भोक्ष्यामहे द्वि सक्तृन्त्यास्यामः । वर्त्यतीति किम् ? योऽयमध्वागत आ चित्रकूटात् तस्य यदवरं मथुरायास्तत्र युक्ता द्विरध्वेयमहि । अवर इति किम् ? योऽयमध्वा गन्तव्य आ चित्रकूटात् तस्य यस्मिन् मथुरायास्तत्र युक्ता द्विरध्वेयास्महे । अवधेरिति किम् ? योऽयमध्वा गन्तव्यो निरवधिकः तस्य यदवरं मथुरायास्तत्र युक्ता द्विरध्वेयास्महे ।

कालविभागेऽनहोरात्राणाम् ॥२।३।११३॥ वर्त्यत्यवरेऽवधेरिति वर्तते । वर्त्यतिकाले अवरस्मिन् कालविभागेऽहोरात्रसद्वर्धविजिते लुण् न भवति । पूर्वेण प्रतिषेधे सिद्धेऽप्यहोरात्रसद्वर्धविभागप्रतिषेधार्थं वचनम् । कालविभागग्रहणमिदार्थमुक्तार्थं च । योऽयं सवत्सर आगामी तस्य यदवरमाग्राहयस्यास्तत्रार्हपूजा करिष्यामहे अतिथिभ्यो दानं दास्यामहे । वर्त्यतीत्येव । योऽयं सवत्सरोऽतीतस्तस्य यदवरमाग्राहयस्यास्तत्र युक्ता द्विरध्वेयमहि । अवर इति किम् ? “वा परे” [२।३।११४] इति वक्ष्यति । अवधेरित्येव । योऽयं निरवधिकः फल आगामी तस्य यदवरमाग्राहयस्यास्तत्र युक्ता द्विरध्वेयास्महे । अनहोरात्राणामिति किम् ? योऽयं त्रिशदात्र आगामी तस्य योऽवरः पञ्चदशरात्रस्तत्र युक्ता द्विरध्वेयास्महे । योऽयं त्रिशदात्र अमीत्यागत

योऽवरोऽर्द्धमासस्तत्र द्विरध्येतास्महे । योऽयं मास आगामी तस्य योऽवरः पञ्चदशरात्रस्तत्र द्विरध्येतास्महे । प्रसज्य [ इति ] प्रतिषेधात् त्रिविधमुदाहरणम् ।

वा परे ॥२।३।११४॥ कालविभाग इति वर्तते । परस्मिन्नवधेः कालविभागे वर्त्यति लुण् भवति न चेदहोरात्राणां विभागः । योऽयं सवत्सरः आगामी तस्य यत्परमाग्रहायण्यास्तत्र द्विरध्येयामहे अध्येतास्महे वा । सामीप्याव्युच्छित्तिविवक्षायां पितृत्वादयं विकल्पः । अनहोरात्राणामित्येव । योऽयं त्रिशद्वात्र आगामी तस्य यः परः पञ्चदशरात्रः तत्र द्विरध्येतास्महे । सामीप्याव्युच्छित्योर्लुटः प्रतिषेध एव । वर्त्यतीत्येव । योऽयं सवत्सरोऽतीतः तस्य यत्परमाग्रहायण्यास्तत्र द्विरध्येमहि । अवधेरित्येव । योऽयं निरवधिः काल आगामी तस्य यत्परमाग्रहायण्यास्तत्र द्विरध्येतास्महे । कालविभाग इत्येव । योऽयमध्वा गन्तव्यः आ चित्रकूटात् तस्य यत्परमथुरायास्तत्र द्विरध्येतास्महे । सर्वत्र लुङ् भवति न चेदव्युच्छित्तिविवक्षा ।

लिङ्हेतौ लृङ् क्रियाऽवृत्तौ ॥२।३।११५॥ वर्त्यतीति वर्तते । हेतुर्निमित्तम् । लिङ्हेतौ वर्त्यति काले लृङ् भवति क्रियाया अवृत्तौ सत्याम् “हेतुफल्योर्लिङ्” [२।३।१३२] इत्येवमादि लिङ्निमित्तं वक्ष्यति । अतिथीश्चेदलिप्स्यत भृशमन्नमदास्यत् । अन्नान्नदानं फलं तद्धेतुभूतोऽतिथिलाभः तदनभिनिवृत्तिं प्रमाणादवगम्येद वाक्यं प्रयुक्तम् । एवमुपाध्याय चेदुपासिष्यत शास्त्रान्तमगमिष्यत् । अभोक्ष्यत भवान् दध्ना यदि मत्समीपे आसिष्यत । इह दक्षिणेन चेदयास्यत् न पर्याभविष्यदिति यानमनिष्यन्न पर्याभवन तु निष्पन्नमिति कथमवृत्तिः क्रियायाः । एवं तदि प्रत्यासत्तेर्हेतुभूतायाः क्रियाया अवृत्ताविति द्रष्टव्यम् । क्रियायाः अवृत्तावपि शक्तिरूपेण क्रियामध्यारोप्य कर्तृत्वेनाभिसंबन्धः क्रियते यथा भूतभविष्यत्कालविषयायाः कर्तृत्वेनाभिसंबन्धः ।

भूते ॥२।३।११६॥ भूते च काले लिङ्हेतौ क्रियाया अवृत्तौ सत्या लृङ् भवति । “उताप्योऽष्टोक्तो लिङ्” [२।३।१२८] इत्यतः प्रभृति कालसामान्ये यल्लिङ्निमित्तं विधानं तत्रानेन भूते लृङ् । ततः पूर्वं तु “वाऽशेषात्” [२।३।११७] इत्येनेनैव विकल्पः सिद्धः । दृष्टो मया भवतः पुत्रोऽन्नार्थं चङ्कर्म्यमाणः । इतरश्चातिथ्यर्थं यदि तेन दृष्टोऽभविष्यत् उताभोक्ष्यत । अप्यभोक्ष्यत अन्येन यथा स गतः नापि भुक्तवान् । इदं सर्वं प्रतिवचनम् ।

वाऽशेषात् २।३।११७॥ वक्ष्यति “शेषेऽयदौ लृट्” [२।३।१२७] इति आ एतस्मात्पूर्वावधेः यदिति कर्त्तव्यमनुक्रमिष्यामः भूते काले लिङ्हेतौ क्रियायाः अवृत्तौ लृङ् वा भवतीत्येतदधिकृतं वेदितव्यम् । परस्तु लृट् विधिर्नित्य इति तत्रैवोदाहरिष्यामः ।

लङ् गर्होऽपिजातवोः ॥२।३।११८॥ अपि जातु इत्येतयोर्वाचोः लङ् भवति गर्हं गन्धमाने । अपि कालसामान्ये विहितो लट् कालविरोधे विहितान् लकारान् परत्वाद्वाधने । अपि तत्रभवान् प्राणिनो हन्ति । जातु तत्रभवान् प्राणिनो हन्ति । गर्हामहे । अन्याय्यमेतत् । लिङ्हेत्वभावात् भूते क्रियाऽवृत्तौ लृट् न भवति ।

वा कथमि लिङ् च ॥२।३।११९॥ गर्ह इति वर्तते । कथशब्दे वाचि लिङ् भवति लट् वा । कथं नाम तत्र भवान् मासं भक्षयेत् । मासं भक्षयति । गर्हामहे । अन्याय्यमेतत् । वाच्यवचना यथाप्राप्तम् । अवभक्षत् । अभक्षयत् । भक्षयाश्चकार । भक्षयिष्यति । भक्षयिता । अत्र लिङ्हेतुस्मृतीति भूते क्रियाऽवृत्तौ लृट् वा लृट् भवति । अभक्षयिष्यत् । वर्त्यति नित्यं लृट् ।

किंवृत्ते लिङ् लृटौ ॥२।३।१२०॥ गर्ह इति वर्तते । वेति नाविकृतम् । विभक्त्यन्तस्य उत्तरादात्मिकत्वं च किमो वर्तनं किंवृत्तम् । किंवृत्ते वाचि गर्हं गन्धमाने लिङ् लृटौ भवतः । सर्वलकाराणामनवप्राप्तः । लिङ् तत्रभवान् अरुतं वक्ष्यत् । अरुतं वक्षयति । लिङ्हेतुस्मृतीति भूते वा लृट् भवति । वर्त्यति तु लिङ् ।

अनवक्लृप्त्यमर्षे ॥२।३।१२१॥ गर्ह इति निवृत्तम् । लिङ्लृटाविति वर्तने । अनवक्लृप्त्यर्षे न च गम्यमाने लिङ्लृट् इत्येतौ त्रौ भवतः । अयमपि सर्वलकाराणामपवादः । अनवक्लृप्तौ नावक्लृप्त्यामि न सभावयामि न वा श्रद्धे किं तत्र भवानदत्त गृहीयात् अदत्त गृहीष्यति । अमर्षे । धिङ् मिथ्या नेतदस्त्वमर्षो मे किं तत्र भवानदत्त गृहीयात् अदत्त गृहीष्यति । किञ्चिदस्ति क्वचिद्वा च वाचि सामान्येनाय विधिः । लिङ्हेतु-  
रस्तीति भूते क्रियावृत्तौ वा लृङ् । वर्त्यति तु नित्यः ।

किंकिलास्त्यर्थे लृट् ॥२।३।१२२॥ अनवक्लृप्त्यमर्ष इति वर्तते । किंकिलशब्दे अस्त्यर्थेषु च शब्देषु वाञ्छु अनवक्लृप्त्यमर्षयोर्लिङ् भवति । लिङोऽपवादः । नावक्लृप्त्यामि किंकिल तत्र भवान् परदारान् प्रकरिष्यते । गधनादिसूत्रेणान्यार्थे दः । अस्त्यर्था अस्ति भवति विग्रहः । अस्ति नाम भवति नाम विद्यते नाम तत्र भवान् परदारान् प्रकरिष्यते ।

जातुयद्यदायदौ लिङ् ॥२।३।१२३॥ अनवक्लृप्त्यमर्ष इति वर्तने । जातुयद्यदायदीत्येतेषु वाञ्छु अनवक्लृप्त्यमर्षयोर्लिङ् भवति । लृटोऽपवादः । नावक्लृप्त्यामि जातु तत्र भवान् सुरा पिबेत्, यत्तत्र भवान् सुरा पिबेत्, यदा तत्र भवान् सुरा पिबेत्, यदि तत्र भवान् सुरा पिबेत् । न मृष्यामि जातु तत्र भवान् सुरा पिबेत् इत्येवमादि योज्यम् । लिङ्हेतुरस्तीति भूते वा लृङ् । वर्त्यति तु नित्यः ।

यच्च यत्रयोः ॥२।३।१२४॥ अनवक्लृप्त्यमर्ष इति वर्तते । यच्च यत्र इत्येतयोर्वाचोरनवक्लृप्त्यमर्ष-  
योर्लिङ् भवति । लृटोऽपवादः । उत्तरार्थो योगविभागः । न सभावयामि यच्च तत्र भवान् परिवादं कथ-  
येत् । न मृष्यामि यच्च तत्र भवान् परिवादं कथयेत् । यत्र तत्र भवान् परिवादं कथयेत् । क्रियाऽवृत्तौ भूते  
वा लृङ् । वर्त्यति तु नित्यः ।

गर्हे ॥२।३।१२५॥ अनवक्लृप्त्यमर्ष इति निवृत्तम् । अर्थान्तररोपादानात् । यच्च यत्र इत्येतयोर्वाचो-  
गर्हे गम्यमाने लिङ् भवति । सर्वलकाराणामपवादः । यच्च तत्र भवान् अस्मानाक्रोशेत् विद्वान् वृद्धः सन्तु-  
त्कृष्टः । गर्हामहे । अन्यायमेतत् । लिङ्हेतुरस्तीति यथासंभव लृङ् वेदितव्यः ।

चित्रार्थे ॥२।३।१२६॥ चित्रशब्दस्यार्थे गम्यमाने यच्च यत्रयोर्वाचोर्लिङ् भवति । सर्वलकारापवादः ।  
यच्च तत्र भवान् लोभं कुर्यात् यत्र तत्र भवान् लोभं कुर्यात् विद्वान् वृद्धः सन्तुत्कृष्टः । चित्रमाश्चर्यमद्भुत  
विस्मयमित्येषामन्यतमप्रयोगः । लिङ्हेतुरस्तीति भूते क्रियाऽवृत्तौ वा । वर्त्यति तु नित्यः ।

शेषेऽयदौ लृट् ॥२।३।१२७॥ यच्च यत्राभ्यामन्यश्चित्रार्थः शेषः । शेषे चित्रार्थे गम्यमाने लृट्  
भवति यदशब्दश्चेद्वाङ् न भवति । अयमपि सर्वलकारापवादः । चित्रमाश्चर्यमद्भुत विस्मयमित्ययमन्धो  
नाम पुस्तकं वाचयिष्यति मूको नाम जैनेन्द्रमध्येष्यते । लिङ्हेत्वभावात् लृङ् वा न भवति । अयदाविति  
किम् ? आश्चर्यं यदि स भुञ्जीत । अत्रानवक्लृप्तिश्चित्रार्थश्च प्रतीयते । “जातुयद्यदायदौ लिङ्”  
[२।३।१२३] इति लिङ्भूते “वाञ्छोपाद्” [२।३।११७] इति लृङ्धिकारो निवृत्तः ।

उताप्योः पृष्ठोक्तौ लिङ् ॥२।३।१२८॥ उत अपि इत्येतयोर्वाचोः पृष्ठस्योक्तौ गम्यमानाया लिङ्  
भवति । सर्वलकारापवादः । किमकार्षीं कटं देवदत्त । इति पृष्ठः प्रत्याह उत कुर्यात् । अपि कुर्यात् । कटं  
कृतवानित्यर्थः । इतः प्रभृति यत्र लिङ्हेतुरस्ति तत्र वर्त्यति भूते च नित्यो लृङ् । उताकरिष्यत् । अप्याकरि-  
ष्यत् । पृष्ठोक्तौ कुर्यात् किम् ? उत दण्डः पतिष्यति । अपि धास्यति द्वारम् । अत्र प्रश्नोद्घटनं च प्रतीयते ।

इच्छोद्बोधेऽकचिति ॥२।३।१२९॥ इच्छोद्बोधः स्वाभिप्रायनिवेदनम् । इच्छोद्बोधे गम्यमाने लिङ्  
भवति वञ्छिद्वाप्रयोगे । सर्वलकारापवादः । कामो मे अघीयीत भवान् । अभिलाषो मे भुञ्जीत भवान् ।



अकच्चितीति किम् ? कच्चिजीवति मे माता । कच्चिजीवति मे पिता । माराविद त्वा पृच्छामि कच्चिजीवति पार्वती ।

**संभावनेऽलमि स्थानिनि ॥१३१३०॥** लिङित वर्तते । सभावन क्रियाया सामर्थ्यश्रद्धानम् । अलशब्दश्चेह पर्याप्तिवचनः । यस्य यत्रागो गम्यते न चासौ प्रयुज्यते स तत्र स्थानीशब्दः । अलमर्थविशिष्टे संभावने लिङ् भवति अलंशब्दे स्थानिनि । सर्वलकारापवादः । शम्भयसंभावने-अपि हस्तिन हन्यात् । अपि स्तुयाद्राजानम् । अशक्यसंभावने - अपि पर्वत शिरसा भिन्वात् । अपि श्वारीयक भुञ्जीत । अपि समुद्र दोर्म्या तरेत् । अलमीति किम् ? विदेशस्थायी मे देवदत्तो मन्ये गमिष्यति ग्रामम् । अत्राहमिति स्थानी । स्थानिनीति किम् ? वसति चेत् सुराष्ट्रेषु वन्दिष्यते अलमूर्जयन्तम् । क्रियाऽवृत्तौ वर्त्यति भूते लृङ् भवति ।

**तद्वाचि धौ वाऽयदि ॥१३१३१॥** अलमीति वर्तते । तच्छब्देन सभावनं परामृश्यते अलमर्थं विशिष्टे सम्भावनवाचिनि धौ वाचि वा लिङ् भवति । यच्छब्दाप्रयोगे पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विस्फोऽयम् । सम्भावयामि भुञ्जीत भवान् । श्रद्धे भुञ्जीत भवान् । पक्षे यो यत् प्राप्नोति स ततो भवति । अलमीति किम् ? सम्भावयामि यत्स भुञ्जीत । अत्रालमर्थे पूर्वेण नित्यो लिङ् ।

**हेतुफलयोर्लिङ् ॥१३१३२॥** हेतुः कारणम्, फल कार्यम् । हेतौ तत्कार्ये च ध्वये वर्तमानाद्धो लिङ् भवति । अतिथीश्चेत्तमेत भृशमन्न ददौन । यदि गुरुपूजा कुर्वीत स्वर्गमारोहेत् । धैत्यनुवर्तनात्पक्षे लृङ् । अतिथीश्चेत्तस्यते भृशमन्नं दास्यते । लिङिति वर्तमाने पुनर्लिङ्ग्रहणं वर्त्यति यथा स्यादिह मा भूत् । वर्पतीति धावति । हन्तीति पलायते । क्रियाऽवृत्तौ वर्त्यति भूते च नित्यो लृङ् ।

**इच्छार्थे लिङ् लोटौ ॥१३१३३॥** इच्छार्थे धौ वाचि लिङ् लोटौ ल्यौ भवतः । सर्वलकारापवादो । वेति व्यवस्थितविभाषानुवर्तते । तेन कामप्रकाशने इदं विधानम् । इच्छामि भुञ्जीत भवान् । भुङ्क्ता भवान् । प्रार्थये अधीयीत भवान् । अधीता भवान् । कामप्रकाशन इति किम् ? इह मा भूत् । इच्छन् करोति । नात्र प्रयोक्तुः कामप्रवेदनम् । “उत्ताप्योः पृष्ठोक्तौ” [१३१३२] इत्यत आरभ्य यत्र केवलो लिङ्गो शिष्यते तत्र क्रियाऽवृत्तौ लृङ् नान्यत्रेति केचित् ।

**तुमेककर्तृके ॥१३१३४॥** इच्छार्थे एककर्तृके धौ वाचि तुम्भवति यस्मात्तुम् विधीयते प्रत्यागच्छेन-दपेक्षयैककर्तृकत्वम् । लिङ् लोटोरपवादोऽयम् । इच्छति भोक्तुम् । वाञ्छति कर्तुम् । कामयो कर्तुम् । एककर्तृक इति किम् ? देवदत्त भुञ्जानमिच्छति परः । इह कस्मान्न भवति । इच्छति कटं करोति चैनम् । नात्र करोति प्रतीच्छते. सामर्थ्यं किन्तु कटं प्रति तेनान्वयवाक्सजाविरहात्तुम् न भवति ।

**लिङ् ॥१३१३५॥** इच्छार्थे एककर्तृके धा वाचि लिङ् भवति । पूर्वं तुमा लिङ् लोटौ गीयते पुनर्लिङ्प्रसवार्थमेतत् । यागविभाग उत्तरार्थः । अवीयीयेति इच्छति । भुञ्जीयेति वाञ्छति । शतमञ्ज क्रियाशब्दसवन्वयातनार्थः ।

**तेभ्यो भवति वा ॥१३१३६॥** तेभ्य इच्छार्थस्यो लुभ्यः भवति काले वा लिङ् भवति । इच्छति । कामयेत । कामयते । उश्यात् । वष्टि ।

शयीत । अधीष्टे-अधीच्छामो भवान् व्रत रक्षेत् । तत्त्वं भवान् गृहीयान् । मप्रश्ने—किन्तु खलु भोः जैनेन्द्रमधीयीय । प्रार्थने—भवति मे प्रार्थना व्याकरणमधीयीय । तर्कशास्त्रमधीयीय । यदि विद्यादिषु प्रकृत्युपाधिषु लिङ् विधीयेत, इह विदध्यात् निमन्त्रयेत आमन्त्रयेत अधीच्छेत् । प्रकृत्येव विद्यादयोऽभिधीयन्ते इति (इहैव) लिङ् प्राप्नोति । तस्माद्विध्यादयः कर्तृकर्मभावानां विशेषणानि । तदभावादिह लिङ् न भवति । विदधाति । निमन्त्रयते । आमन्त्रयते । अधीच्छति । अत्र क्रियाया अवृत्तौ परतल्लटा लृट् बाध्यते ।

लोट् ॥२।३।१३८॥ लोट् भवति विद्यादिविशिष्टेषु कर्त्तादिषु विधौ । गाम भवान्नागच्छतु । प्राणिनो भवान् हिनस्तु । निमन्त्रणे-सध्यासु भवानावश्यक करोतु । आचारमधीताम् । आमन्त्रणे-इह भक्षनास्ताम् । इह शेताम् । अधीष्टे-अधीच्छामो भवान् व्रत रक्षतु । तत्त्वं भवान् गृह्णातु । सप्रश्ने-किन्तु खलु भो काव्यमध्ययै । प्रार्थने-भवति मे प्रार्थना धर्मशास्त्रमध्ययै । योगविभाग उत्तरार्थः ।

प्रेषातिसर्गप्राप्तकाले व्याश्च ॥२।३।१३९॥ प्रेषण प्रैषः । अतिसर्गः कामचारानुगा । प्रातःकालः प्रातःकालता, विशिष्टस्य कालस्यावसर इत्यर्थः । प्रैषादिष्वर्थेषु कर्त्तादिविशेषणत्वेन गम्यमानेषु व्यसशकास्त्या भवन्ति लोट् च । भवता खलु दान दातव्य दानीय देयम् । करोतु कटो भवानिह प्रेषितः । भवानतिसृष्टः । भवतो हि प्राप्तः कालः । यद्यपि व्यसशा सामान्येन भावकर्मणोर्विहितास्तथापि सर्वापवादेषु प्रैषादिषु लोटा बाध्येरन्निति पुनर्विधीयन्ते ।

लिङ् चोर्ध्वमौहूर्तिके ॥२।३।१४०॥ प्रैषादयोऽनुवर्तन्ते । ऊर्ध्वं सुहूर्ताद्भवः ऊर्ध्वमौहूर्तिकः । निपातात्सविधिरुत्तरपदस्यैवैष । ऊर्ध्वमौहूर्तिकेऽर्थे वर्तमानाद्धोः प्रैषादौ गम्यमाने लिङ् भवति चकाराद्व्याश्च । उपरि सुहूर्तस्य भवान् खलु दान दद्यात् । भवता खलु दान दातव्य दानीय देयम् । केचिच्चकारेण यथाप्राप्त समुच्चिन्वन्ति । तेषां लोटपि भवति । भवान् खलु दान ददातु । भवान् हि प्रेषितः । भवानतिसृष्टः । भवतो हि प्राप्तः कालः ।

स्मे लोट् ॥२।३।१४१॥ प्रैषादयोऽनुवर्तन्ते । ऊर्ध्वमौहूर्तिक इति च । स्मशब्दे वाचि प्रैषादिषु गम्यमानेषु ऊर्ध्वमौहूर्तिकेऽर्थे लोट् भवति । व्याना लिङश्चापवादः । ऊर्ध्वं सुहूर्ताद्भवान् दानं ददातु स्म । भवान् हि प्रेषितः । भवानतिसृष्टः । भवतो हि प्राप्तः कालः ।

अधीष्टे ॥२।३।१४२॥ ऊर्ध्वमौहूर्तिक इति निवृत्तम् । अधीष्टे गम्यमाने स्मशब्दे वाचि लोट् भवति । लिटो बाधकः । अङ्गं स्म राजन् दान देहि व्रत रक्ष ।

कालसमयवेलासु तुम् वा ॥२।३।१४३॥ काल समय वेला इत्येतेषु वान्तु धोः तुम् भवति वा । कालो भोक्तुम् । समयो भोक्तुम् । वेला भोक्तुम् वा । वाच्यनायथाप्राप्त च भवति । कालो भोक्तव्यस्य । प्रैषादिग्रहणमनुवर्तते । तेनेह न भवति ।

“कालः पचति भूतानि कालः संहरति प्रजाः । कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥”

लिङ् यदि ॥२।३।१४४॥ यच्छब्दप्रयोगे कालादिषु वान्तु धोर्लिङ् भवति । तुमोऽपवादः । कालो यत्प्रजा कुर्वीत भवान् । समयो यद्भुञ्जीत भवान् । वेला यच्छयीत भवान् । केचिद्वेत्यनुवर्तयन्ति तेषां यथाप्राप्तमपि ।

तृज्याश्चाहं ॥२।३।१४५॥ अर्हतीत्यर्थः । अर्हं कर्तरि गम्यमाने तृज्याश्च भवन्ति लिङ् च । भवान् खलु कन्यायाः वोटा । भवता कन्या वोढव्या वहनीया वाह्या । भवान् खलु कन्या वहेत् । भवान् योग्य इत्यर्थः । अर्हंऽर्थे लिङ् विधीयमानेन तृचो व्याना च बाधा मा भूत् इति पुनर्विधानम् ।

आवश्यकमधमर्णयोर्णिन् ॥२।३।१४६॥ अवश्य भाव आवश्यकम् । मनोज्ञादिपाठादुञ् । अधमम् ऋणमस्य अधमर्णः, तद्भावाद् आधमर्णम् । आवश्यकमधमर्णविशिष्टे त्वार्थे कर्तरि णिन् भवति । अवश्यंहागे मयूरव्यकादित्वात्सविधिः । शतदायी । सहस्रंदायी । निष्कदायी “आधमर्ण्ये चेनः” [१।४।७४] इति कर्मणि तायाः प्रतिषेधः ।

व्याः ॥२।३।१४७॥ आवश्यकमधमर्णयोरिति वर्तते । आवश्यकमधमर्णयोर्व्यासज्ञा भवन्ति । सर्वं त्यापवादेन णिना व्यसज्ञा बाधिता इति पुनर्विधीयन्ते । भवता खलु अवश्यं धर्मः कर्तव्यः । करणीयः । कृत्यः । कार्यः । आधमर्ण्ये भवता खलु निष्को दातव्यः । देयः । योगविभाग उत्तरार्थः ।

शक्लिङ् च ॥२।३।१४८॥ शक्तीत्यर्थनिर्देशः । शक्तीत्यर्थविशिष्टे ध्वये लिङ् भवति चकाराद् व्याश्च । भवता खलु विद्या अध्येतव्या । अध्ययनीया । अध्येया । भवान् खलु विद्यामधीयीत । भवान् हि समर्थः । लिङ्-सर्वापवाद इति ( चकारेण ) व्यानामनुकर्षणं क्रियते । यदि शक्तीति प्रकृत्यर्थविशेषणम् । शक्नुयादित्यत्र लिङ् न प्राप्नोति प्रकृत्यैवाभिहितत्वात् शक्यत्वस्य । नैष दोषः । सामान्यविशेषभावेन भेदाभ्युपगमात् । यथा एषितुमिच्छति एषिषिषति ।

आशिषि लिङ् लोटौ ॥२।३।१४९॥ इष्टस्याशंसनमाशीः । अतएव निपातनादिह इकारः । आशीर्विशिष्टेऽर्थे वर्तमानाद्धोल्लिङ्लोटौ भवतः । जीव्यात् । जीव्यास्ताम् । जीव्यासुः । जीवतु । आशिषीति किम् ? जीवति यदि पश्याशी ।

क्लिच्क्लौ खौ ॥२।३।१५०॥ आशिषीति वर्तते । आशिष्यर्थे क्लिच्क्लौ ल्यौ भवतः लुविषये । चकारः “न क्तिचि दोश्च” [४।४।४०] इति विशेषणार्थः । तनुतात् तन्तिः । सनुतात् सातिः । भवताद्भूतिः । कृतः क्लिच्चा विशेषत्रिहितेन बाधेरन्निति पुनर्विधीयन्ते । देवा एन देवासुरिति देवदत्तः । देवा एन-शृण्वन्तु देवश्रुतः ।

माडि लुङ् ॥२।३।१५१॥ माडि वाचि लुङ् भवति । सर्वलकारापवादः । मा कार्पोरधर्मम् । मा हार्पोत्परस्वम् । डकारः प्रतिषेधवाचिनो माङ्-शब्दस्य ग्रहणं यथा स्यादित्येवमर्थः ।

सस्मे लङ् च ॥२।३।१५२॥ सह स्मशब्देन वर्तते सस्मः । तस्मिन् माडि वाचि लङ् भवति लुङ् च । मा स्म ऋध्यत् । मा स्म हरत् । मा स्म हार्पोत् ।

इत्यभयनन्दिविरचिताया जैनेन्द्रमहावृत्तौ द्वितीयस्याव्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ।

धुयोगे त्याः ॥२१४१॥ धुशब्देन ध्वयौऽत्र निर्दिष्टः । अभिधेये अभिधानस्योपचारात् । धूनां योगे सति अथवाकालोक्ता अपि त्याः साधवो भवन्ति । विश्वदृश्याऽस्य पुत्रो जनिता । कृत कटः श्यो भाविता । भाविकृत्यमासीत् । विश्वदृश्वेति भूतकालः जनितेत्यनेन भवि यत्कालेन ( अभिसम्प्रथमानः ) साधुर्भवति । इहोपसर्जनभूत सुप्रन्त प्रधानभूतस्य मिडन्तस्य कालमनुवर्तते । धोरिति वर्तमाने पुनर्धुग्रहणं अस्तिभूजनिपरिग्रहार्थम् । त्य इति वर्तमाने पुनस्त्यग्रहणं त्यमात्रपरिग्रहार्थम् । गोमान् भवितेति मत्वन्तस्य वर्तमानकालस्य अथवाकालत्वेन साधुत्वम् ।

क्रियासमभिहारे लोट् तस्य हिस्वौ वा तध्वमोः ॥२१४१॥ क्रियासमभिहारविशिष्टे ध्वये वर्तमानाद्धोलोङ् भवति । सर्वलकारापवादः । तस्य लोटो हि स्व इत्येतावादेशौ भवतस्तध्वमोस्तु वा भवतः । क्रियासमभिहारे लोटिति योगविभागः कर्तव्यः । ततस्तस्य हिस्वो भवतः । किमेव सति लब्धम् ? अन्यत्र यौ लोडादेशौ हिस्वौ प्रसिद्धौ ताविह भवतः । तेन मविधिदविधिव्यतिकरो न भवति । वा तध्वमोरित्यत्र ध्वमा सह निर्देशात्तशब्दस्य थादेशस्य बहोर्ग्रहणम् । लुनीहि लुनीहि इत्येवाह लुनामि । आवा लुनीवः । वय लुनीमः । लुनीहि लुनीहि इत्येव त्वं लुनासि । युवा लुनीयः । यूय लुनीथ । तशब्दस्य तु वा भवति । लुनीत लुनीत इत्येव यूय लुनीथ । लुनीहि लुनीहि इत्येवाय लुनाति । इमौ लुनीतः । इमे लुनन्ति । भूते लुनीहि लुनीहि इत्येवाहमलाविषम् । आवामलाविष्व । वयमलाविष्व । एवं युष्मदन्ययोरपि । वत्स्यति-लुनीहि लुनीहीत्येवाह लविष्यामि । आवा लविष्यावः । वय लविष्यामः । एव युष्मदन्ययोरपि । अधीष्व अधीष्व इत्येवाहमधीये । आवामधीवहे । वयमधीमहे । एव युष्मदन्ययोरपि योज्यम् । ध्वमस्तु पठे श्रवणम् । अधीध्वमधीध्वमित्येव यूयमधीध्वे । भूते-अधीष्व अधीष्व इत्येवाहमध्यगीपि । आवामध्यगीष्वहि । वयमध्यगीष्वहि । एव सर्वत्र । वत्स्यति-अधीष्व अधीष्व इत्येवाहमध्येष्ये । आवामध्येष्यावहे । वयमध्येष्यामहे । एवं युष्मदन्ययोरपि । एव शेषेष्वपि लकारेषु योज्यम् । द्वित्वमपेक्ष्य लोट् क्रियासमभिहारस्य द्योतकः । धुयोग इति वर्तते । प्रत्यासत्तेर्यत एव लोट् विधीयते तस्यैवानुप्रयोगः कालात्मदाद्येकत्वादीनामभिव्यक्तये क्रियते ।

\* प्रचये वा ॥२१४२॥ प्रचयः समुच्चयः । स चैकस्मिन् द्विप्रभृतेरध्यावायः । प्रचये उपाधौ वा लोट् भवति तस्य हिस्वावादेशौ भवतस्तध्वमोस्तु वा । अयं सर्वलकारप्राप्तौ विकल्पः । कर्मप्रचयो ग्राममट नगरमट गिरिमट इत्येवाहमटामि । आवामटावः । वयमटामः । ग्राममट नगरमट गिरिमट इत्येवं त्वमटसि । युवामटथः । यूयमटथ । तशब्दस्य तु वा-ग्राममटत नगरमटत गिरिमटत इत्येव यूयमटथ । ग्राममट नगरमट गिरिमट इत्येवायमटति । इमौ अटत । इमे अटन्ति । वाचनात् ग्राममटामि नगरमटामि गिरिमटामि इत्येवाहमटामि । आवामटावः । वयमटामः । एव युष्मदन्ययोरपि । एव भूते वत्स्यति सर्वलकारेषु योज्यम् । दभाग्न्यः । जैनेन्द्रमधीष्व तर्कमधीष्व गणितमधीष्व इत्येवाहमधीये । आवामधीवहे । वयमधीमहे । जैनेन्द्रमधीष्व तर्कमधीष्व गणितमधीष्व इत्येव त्वमधीये । युवामधीयाथे । यूयमधीध्वे ध्वमस्तु वा-जैनेन्द्रमधीष्व तर्कमधीष्व गणितमधीष्व इत्येव यूयमधीध्वे । जैनेन्द्रमधीष्व तर्कमधीष्व गणितमधीष्व इत्येवायमधीति । इमौ अधीयाते । इमे अधीयते । वाचनात् जैनेन्द्रमधीये गणितमधीये तर्कमधीये इत्येवाहमधीये । आवामधीवहे । वयमधीमहे । एव भूते वत्स्यति सर्वलकारेषु योज्यम् । कर्तृसमुच्चये देवदत्तोऽद्धि जिनदत्तोऽद्धि गुरुदत्तोऽद्धि इत्येव वयमोदनमदाः । देवदत्तोऽद्धि जिनदत्तोऽद्धि गुरुदत्तोऽद्धि इत्येव यूयमोदनमत्थ । देवदत्तोऽद्धि जिनदत्तोऽद्धि गुरुदत्तोऽद्धि इत्येव इमे ओदनमदन्ति । कर्तृसमुच्चये द्विर्वचन बहुवचन वा भवति एकस्य समुच्चयाभावात् । क्रियासमुच्चये । आदन भुङ्क्ष्व सकृन् पितृ धानाः खाद इत्येवाहमभ्यवहरामि । आवामभ्यवहरावः । वयमभ्यवहरामः । बहूना क्रियाणां समुच्चये सामान्यप्रयोगोऽभिधानवशात् । एव सङ्करसमुच्चयोऽप्युक्तः ।

**निषेधेऽलंखत्वोः त्वा ॥२।४।४॥** वेति वर्तते । अलं खलु इत्येतयोर्निषेधवाचिनेर्वाचोवोः त्वात्यो भवति । अलं कृत्वा । अलं चाले रुदित्वा । “क्लिनाऽमैव” [१।३।८३] इति नियमात् वाक्सो न भवति । निषेध इति किम् ? अलंकारः । अलंखत्वोरिति किम् ? मा कार्षीः । वेत्येव । अल रोदनेन । “प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्” [ वा० ] इति मा ।

**माडो व्यतिहारे ॥२।४।५॥** माडो व्यतिहारेऽर्थे त्वा भवति वा । परकालत्वादप्राप्तः त्वा विभाष्यते । अप्रमित्य याचते । अवमित्य हरति । “वेर्मेडः” [ ४।४।६६ ] इतीत्वम् । वेत्यविकारात् याचित्वा अपमयते । हृत्वा अपमयते । मेडः कृतात्वस्य निर्देशो ज्ञापकः—“नानुबन्धकृतं हलन्तत्वम्” [ परि० ] ।

**परावरयोगे ॥२।४।६॥** परावरण्या योगे गम्यमाने घोः त्वा भवति । वेति वर्तते । मन्विगन्धत्वात् परेण पूर्वस्य योगे । अप्राप्य नदीं पर्वतः । परया नद्या युक्तः पर्वतः प्रतीयते । अवरेण योगे परस्य त्वा । अतिक्रम्य पर्वत नदी । अवरपर्वतयोगविशिष्टा परा नदी प्रतीयते । वावचनाल्लङ्घादयो भवन्ति । न प्राप्नोति नदीं पर्वतः । अतिक्रामति पर्वत नदी ।

**परकालैककर्तृकात् ॥२।४।७॥** परः कालो यस्याः सेय परकाला क्रिया, तथा एकरुता यन् सामर्थ्यात् पूर्वकालक्रियाभिधायिनः स तथोक्तः । तस्माद्धोः त्वा भवति । स्नात्वा भुङ्क्ते । स्नात्वा भुज्जा पीत्वा व्रजति । एककर्तृकादिति किम् ? भुङ्क्तेति देवदत्त गच्छति जिनदत्तः । परकालग्रहणं किम् ? सामर्थ्यात् पूर्वकालक्रियाभिधायिनो यथा स्यादिह मा भूत् । भुङ्क्ते च पिबति च आस्ते च जल्पति च इहापि कथञ्चित् पूर्वकालत्वविवक्षास्ति । व्यादाय स्वपिति । समील्य हसति इति । वेत्यधिकरात् । भुङ्क्ते शेते च ।

**णम् चाभीक्ष्ण्ये ॥२।४।८॥** परकालैककर्तृकादिति वर्तते । मुहुर्मुहुर्तृप्तिराभीक्ष्ण्यम् । एतच्च प्रकृत्यर्थविशेषणम् । परकालैककर्तृकात् णमित्ययं ल्यो भवति त्वात्यश्च । आभीक्ष्ण्ये-भोजभोज व्रजति । भुक्त्वा भुक्त्वा व्रजति । पाय पाय गच्छति । पीत्वा पीत्वा गच्छति । त्वाण्यमो द्वित्वमपेक्ष्याभीक्ष्ण्य द्योतयत । पूर्वण त्वात्ये सिद्धे णमर्थे वचनम् । इह वेति निवृत्तम् । उत्तरत्र वाग्रहणात् ।

**न यदनाकाङ्क्षे ॥२।४।९॥** यच्छब्दे वाचि त्वाण्यमो न भवतोऽनाकाङ्क्षे सति वाक्ये । अनन्तरव्यवहितमेदाभावात् पूर्वसूत्रविहितो अनन्तरश्च त्वा निषिध्यते णम् च । यदयं भुङ्क्ते ततो गच्छति । यदयं शेते ततोऽधीते । अनाकाङ्क्ष इति किम् ? यदयं भुङ्क्ता व्रजति । अधीत एव ततः परम् । अत्र पूर्वान्तरक्रियाभ्यां अतिरिक्तमध्ययनं काङ्क्षते ।

**वाऽग्रे प्रथमपूर्वे ॥२।४।१०॥** आभीक्ष्ण्य इति निवृत्तम् । “परकालैककर्तृकात्” [१।४।७] इत्यनेन त्वात्ये प्राप्ते विभाष्यम् । अग्रे प्रथम पूर्वं इत्येतेषु वाच्ये त्वाण्यमो वा भवतः । अग्रे भोजता ददाति । अग्रे भुक्त्वा ततो ददाति । प्रथम भोज ततो ददाति । प्रथम भुङ्क्ता ततो ददाति । पर भोजता ददाति । पूर्वं भुक्त्वा ततो ददाति । “क्लिनामैव” [१।३।८३] इत्यत्रैव आरोपादानात् केवलेनेनामा सिद्धौ वाक्सो भवति नान्यसहितेन । वावचनाल्लङ्घादयोऽपि भवन्ति । अग्रं भुङ्क्ते ततो ददाति । प्रथमं भुङ्क्ते ततो ददाति । पूर्वं भुङ्क्ते ततो ददाति ।

**कर्मण्याक्रोशे कृञ् खमुञ् ॥२।४।११॥** कर्मणि वाचि आक्रोशे गम्यमाने कृञः खमुञ् भवति । चोरोऽसौ देवमाक्रोशति चोरद्वारमाक्रोशति । दन्त्यद्वारमाक्रोशति । क्वाऽप्यनादोऽयम् । आक्रोश इति ६१ ।

मकारान्तता निपात्यते । खमुजि प्रकृते । “खित्यक्तेः” [४।३।१७६] “मुमच.” [४।३।१७७] इति नृमा सिद्धमिति चेत् च्यन्तविवक्षाया अक्षेरिति प्रतिषेधः प्रसज्येत । खमुज्येव मान्तनिपातन कर्तव्यमिति चेन्न च्यन्तार्थमेव तसमाख्येत । णमि पुननिपातन ङीनिवृत्त्यर्थं “च्चौ” [५।२।१३५] दीत्वनिवृत्त्यर्थं च । स्वादीकृत्वा यवागू भुङ्क्ते । स्वादुङ्कार भुङ्क्ते । च्विविवक्षायामस्वादु स्वादु कृत्वा भुङ्क्ते स्वादुकार भुङ्क्ते । “च्चौ” [५।२।१३५] इति दीत्व प्रसज्येत । उत्तरार्थं च इह णमग्रहणम् । विभाषाधिकारात् क्त्वापि भवति । क्त्वादय आतुमो विधीयमाना भावे भवन्ति । ननु स्वादुकार भुङ्क्ते देवदत्त इति णमा कर्तुरनुक्तत्वात् कर्तरि ता प्राप्ता “न क्तित” [१।४।७२] इत्यादिना ता कर्तरि न भवति ।

अन्यथैव कथमित्यन्वयार्थात् ॥२।४।१३॥ अन्यथा एव कथमित्यमित्येतेषु वाञ्छु धुभ्यो णम् भवति अनर्थात् । येन विनापि यदर्थः प्रतीयते स तनानर्थस्तस्मिन्प्रयुज्यमाने त्यो भवति । तथाहि यावानेवार्थोऽन्यथा भुङ्क्ते इति तावानेव कृज्प्रयोगेऽपि अन्यथाकार भुङ्क्ते । एवकार भुङ्क्ते । कथकार भुङ्क्ते । इत्यङ्कार भुङ्क्ते । अनर्थादिति किम् ? अन्यथा कृत्वा शिरो भुङ्क्ते ।

यथातथयोरसूयाप्रत्युक्तौ ॥२।४।१४॥ कृजोऽनर्थादिति वर्तते । यथा तथा इत्येतयोर्वाचोः कृजोऽनर्थात् णम् भवति असूयाकृताया प्रत्युक्तौ गम्यमानायाम् । कथ कृत्वा भवान् भुङ्क्ते इत्येव पृष्ठोऽसूयकत्त प्रत्याह यथाकारमह भोक्ष्ये तथाकारमह भोक्ष्ये किं तवानेन । अनर्थादिति किम् ? यथा कृत्वाह बलि भोक्ष्ये किं तवानेन । असूयाप्रत्युक्ताविति किम् ? यथाकृत्वाह भोक्ष्ये तथा द्रक्ष्यासि त्वम् । तथाकृत्वाऽह भोक्ष्ये यदा द्रष्टव्य भवता ।

कर्मण्यशेषे दृशिचिदः ॥२।४।१५॥ अशेषः कः ? साकल्यम् । इदं कर्मणोः विशेषणम् । अशेषविशिष्टे कर्मणि वाचि दृशिचिदोर्ध्वोर्णम् भवति । साधुदर्शं प्रणमति । सर्वं साधुं प्रणमतीत्यर्थः । अतिथिवेदं भोजयति । यं यं विन्दति विन्दते वा त सर्वं भोजयतीत्यर्थः । अशेष इति किम् ? अतिथिं दृष्ट्वा भोजयति ।

यावति विन्दजीवः ॥२।४।१६॥ यावच्छब्दे वाचि विन्दतिजीवत्योर्णम् भवति । यत्र पूर्वकालत्वं सम्भवति तत्र त्वाऽपवादः । यत्र न सम्भवति तत्रापूर्वं एव विधिः । धुयोग इति वर्तते । यावद्वेद भुङ्क्ते । यावल्लभते तावद्भुङ्क्ते इत्यर्थः । यावज्जीवमधीते । यावज्जीवति तावदधीते इत्यर्थः ।

चर्मोदरयोः पूरेः ॥२।४।१७॥ कर्मणीति वर्तते । चर्म उदर इत्येतयोः कर्मणोर्वाचोः पूरयतेर्णम् भवति । चर्मपूरं शेते । उदरपूरं भुङ्क्ते ।

वर्षप्रमाणे ॥२।४।१८॥ कर्मणीति वर्तते । कर्मणि वाचि पूरयतेर्णम् भवति समुदायेन वर्षप्रमाणे गम्यमाने । गोष्पदपूरं वृष्टो देवः । सीतापूरं वृष्टो देवः । कथं गोष्पदपूरं वृष्टो देवः ? प्रातेरातः के कृते क्रियाविशेषणत्वेन नपुंसकलिङ्गम् । एतस्य कान्तस्यैव विभक्त्यन्तस्त्रयादिषु च प्रयोगः साधुः । गोष्पदप्रेण गोष्पदप्री भवति । गोष्पदप्रतरम् गोष्पदपूरं वृष्टो देव इत्येवमादाबुभयथा प्रयोग इष्यते । णमन्तस्य घञन्तस्य च क्रियाविशेषणभावेन दृति विभक्त्यन्तरे च विशेषः । णमन्तस्य हि देश्यादिषु गोष्पदपूरं भवति गोष्पदपूर-देश्यम् गोष्पदपूरदेशीयम् गोष्पदपूरकल्प गोष्पदपूरतराम् । घञन्तस्य गोष्पदपूरीभवति गोष्पदपूरदेश्य गोष्पदपूरदेशीयम् गोष्पदपूरकल्पम् । गोष्पदपूरतराम् ।

चेलेषु क्लोपेः ॥२।४।१९॥ कर्मणीति वर्तते । चेलार्थेषु कर्मसु वाञ्छु क्लोपयतेर्णम् भवति वर्षप्रमाणे गन्ते । चेलानीपं वृष्टो देवः । एव वत्तन्तोपं वसनन्तोपम् ।

**शुष्कचूर्णभक्षेण पिबः ॥२१४१२०॥** कर्मणीति वर्तते । शुष्क चूर्णं भक्ष इत्येतेषु कर्मसु वास्तु पिबेर्धोर्णम् भवति । शुष्कपेषं पिनष्टि तगरम् । शुष्क पिनष्टीत्यर्थः । एव चूर्णपेष पिनष्टि । भक्षणेपि पिनष्टि । घञि सति क्रियाविशेषणे शुष्कस्य पेषं पिनष्टि इत्येवमादयः प्रयोगाः साधवः । इतः प्रभृति “उपदंशो भायाम्” [२१४१३३] इत्यतः प्राक् यत एव धोर्णम् भवति तस्यैवानुप्रयोगोऽपि भवत्यभिवानवशात् ।

**जीवाकृते ग्रहिकृत्वः ॥२१४१२१॥** कर्मणीति वर्तते । जीव अकृत इत्येतयोः कर्मवाचिनो वाचोर्थथासंख्य ग्रहि कृन् इत्येताभ्यां णम् भवति । जीवग्राह गृहीतः । अकृतकार करोति ।

**निमूले कपः ॥२१४१२२॥** कर्मणीति वर्तते । निमूले कर्मणि वाचि कपेर्णम् भवति । निमूलकाय कषति । घञि सति क्रियाविशेषणे निमूलस्य कापं कषति इत्यपि भवति ।

**समूले हनश्च ॥२१४१२३॥** कर्मणीति वर्तते । समूले कर्मणि वाचि हन्तेः कपेश्च णम् भवति । समूलघातं हन्ति । समूलकापं कषति ।

**करणे ॥२१४१२४॥** हन इति वर्तते । करणे वाचि हन्तेर्णम् भवति । पाणिघात कुडयं हन्ति । पाणिना हन्तीत्यर्थः । पादघातं शिला हन्ति । यदा हिंसार्थं हन्तेर्विवक्षितः तदा “हिंसार्थादेककर्मकात्” [२१४१३४] इतीममपि विधिं पूर्वविप्रतिषेधेन बाधित्वाऽयमेव णम् । असिघात हन्ति चोरान् । कोऽऽ विशेषः । अनेन नित्यः सविधिः तस्यैव धोरनुप्रयोगश्च भवति ।

**हस्ते वर्तिग्रहः ॥२१४१२५॥** करण इति वर्तते । हस्त इति अर्थनिर्देशः । हस्तवाचिनि करणे वाचि वर्तयतिगृह्णातिभ्यां णम् भवति । हस्तवर्त वर्तयति । हस्तेन वर्तयतीत्यर्थः । एव पाणिनार्णम् । करवर्तम् । हस्तग्राहं गृह्णाति । हस्तेन गृह्णातीत्यर्थः । एवं पाणिग्राह करग्राहम् ।

**स्वेषु पुपः ॥२१४१२६॥** करण इति वर्तते । स्व इति स्वरूपस्य तद्विशेषाणां च ग्रहणम् । बहुल निर्देशात् । स्ववाचिकरणवाचिनि पुपेर्धोर्णम् भवति । आत्मात्मीयज्ञातिधनानि स्वराब्देनेष्यन्ते । स्वपोप पुष्टः । वियापोपं गोपोपं मातृपोप पितृपोप रेपोप पुष्णाति । सर्वत्र घञन्तेन णमन्तस्यार्थकथनं द्रष्टव्यम् । स्वेन पोपं पुष्ट इति स एव पुपिः कालसावनभेदादन्यत्र गतः पुपिणा युज्यते । यथा एपि शुभिमिच्छति एपि गिपति । इपिरिपिणा युज्यते ।

**स्नेहने पिबः ॥२१४१२७॥** करण इति वर्तते । स्निह्यतेऽनेनेति स्नेहनम् । स्नेहनाचिनि करणे वाचि पिबेर्धोर्णम् भवति । घृतपेप पिनष्टि । घृतेन पिनष्टीत्यर्थः । एव तेलपेपम् । उदपेपम् । “पेपमि” [४१३११६१] इत्युदकस्योदादेशः ।

**बन्धोऽधिकरणे ॥२१४१२८॥** अधिकरणे वाचि वत्रातेर्णम् भवति । चक्रबन्धं वद्धः । चक्रं वद्ध इत्यर्थः । एव चारकबन्धम् । दृष्टिबन्धम् । गुतिबन्धम् । बध्यमानाधारे वाचि णम् भवति न बन्धाधार । हस्ते वत्रातीति वेत्यधिकाराद्वा न भवति ।

**खौ ॥२१४१२९॥** खुविषे च वत्रातेर्णम् भवति । चण्डालिकाबन्धं वद्धः । अट्टालिकाबन्धं वद्धः । महिषिकाबन्धं मयूरिकाबन्धं क्रौञ्चबन्धं वद्धाः । णमन्ताः बन्धविशेषाणां सजा एताः । अर्थप्रदर्शनं तु यथाकृपावक्रत्येन वाचा अन्यथा वा दर्शनीयम् । अन्य तु व्याचक्षते खुभूता वा बन्धः तस्मिन् काण्डाणि वाचि वत्रातेर्णम् भवति ।

**कर्त्राजावपुष्टययानश्चिबद्धो ॥२१४१३०॥** जीव पुष्टय इत्येतयोः कर्तृवाचिनार्त्ताचार्याभ्याम् ।

वहिभ्यां णम् भवति । जीवनाशं नश्यति । जीवो नश्यतीत्यर्थः । पुरुषवाचं वहति । पुरुषो भूत्वा वहतीत्यर्थः ।  
कर्त्रोरिति किम् ? जीवेन नष्टः । पुरुषं वहन्ति । अत्र करणं कर्म च वाक् ।

ऊर्ध्वं शुपिपुरोः ॥२।४।३१॥ कर्त्रोरिति वर्तते । ऊर्ध्वशब्दे कर्तृवाचिनि वाचि शुपि पूरि इत्ये-  
ताभ्यां णम् भवति । ऊर्ध्वशेष शुष्कः । ऊर्ध्वः इत्यर्थः । ऊर्ध्वपूर पूर्यते । ऊर्ध्व पूर्यत इत्यर्थः ।

कर्मणि चेवे ॥२।४।३२॥ शब्दे कार्यस्यासम्भवादिवार्थ उपमानं गृह्यते । इवशब्दार्थे वर्तमाने कर्मणि  
कर्तरि भूवादिघोर्णम् भवति कर्मणि । घृतनिधाय निहितः । घृतमिव निहित इत्यर्थः । एवं जीवितरक्त  
रक्षितः । कर्तरि—अक्रूरनाश नष्टः । अक्रूर इव नष्ट इत्यर्थः । एवमजकनाश नष्टः । चूडकनाश नष्टः ।  
पिपादिषु यथाविध्यनुप्रयोगो न वक्तव्यः । धुयोग इति वर्तते तत्र प्रत्यासत्तेरभिधानवशाद्वा यत एव घोर्णम्  
तस्यैवानुप्रयोगः ।

उपदंशो भायाम् ॥२।४।३३॥ उपपूर्वाद् शेर्भान्ते वाचि णम् भवति । धुयोग इति च वर्तते । एक-  
कर्तृकादिति च पूर्वकालत्वं सम्भवतः सन्बन्धीयम् । मूलकोपदशं भुङ्क्ते । मूलकेनोपदशं भुङ्क्ते । “वा भादि”  
[१।३।८४] इति विभाषया वाक्सः । इत ऊर्ध्वं यानि वाक्सज्ञकानि वक्ष्यन्ते तानि भादिग्रहणेन गृह्यन्ते ।  
सर्वत्रास्मिन् प्रकरणे वेत्यनुवर्तते । तेन त्वाऽपि भवति । मूलकेनोपदश्य भुङ्क्ते । कर्मणः साधकतमत्व-  
विवक्षाया भा भवति । अथवा उपदशिगुणस्य भुञ्जेरेतत्करणम् ।

हिंसार्थादेककर्मकात् ॥२।४।३४॥ भायामिति वर्तते । हिंसार्थेभ्यो धुभ्योऽनुप्रयोगेणैककर्मकेभ्यो  
भान्ते वाचि णम् भवति । दण्डाघात गाः सादयति । दण्डेनाघातम् । “करणे” [२।४।२४] इत्यनेन हन्तेर्यः  
पूर्वनिर्णयेन णम् विहितस्तस्यैवानुप्रयोगो द्रष्टव्यः । हन्तेरन्यदपीहोदाहरणम् । दण्डाताड गाः कालयति ।  
दण्डेनाताडम् । खड्गप्रहार शत्रून् विजयते । खड्गेन प्रहारम् । एककर्मकादिति किम् ? दण्डेनाहत्य भूमिं  
गोपालको गाः सादयति ।

ईपि चोपपोडरुधकर्षः ॥२।४।३५॥ उपपूर्वेभ्यः पीडरुधकर्षेभ्य ईपि वाचि चकाराद्भान्ते वाचि-  
णम् भवति । उपशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । व्रजोपरोधम् । व्रजे उपरोधम् । व्रजेनोपरोधम् । पार्श्वो-  
पपीडं शेते । पार्श्वभ्यामुपपीडम् । पार्श्वयोरुपपीडम् । पाण्युपकर्ष धानाः पिनष्टि । पाण्युपकर्षम् ।  
पाणिनोपकर्षम् ।

प्रमाणासत्त्योः ॥२।४।३६॥ ईपि भाया चेति वर्तते । प्रमाणमायाममानम् । आसत्तिः सन्निकर्षः ।  
ईवन्ते भान्ते वाचि घोर्णम् भवति प्रमाणासत्त्योर्गम्यमानयोः । द्व्यङ्गुलौत्कर्षं गण्डकाश्छिनत्ति । त्र्यङ्गुलो-  
त्कर्षम् । त्र्यङ्गुलेनोत्कर्षम् । त्र्यङ्गुले उत्कर्षम् । आसत्तौ । केशग्राह युध्यन्ते । केशेषु ग्राह केशैर्ग्राहम् । सन्निकृष्टं  
युध्यन्ते इत्यर्थः । एवमस्यपनोद युध्यन्ते । असिष्वपनोदम् । असिभिरपनोदम् । हस्तग्राहम् । हस्तेषु ग्राहम् ।  
हस्तैर्ग्राहम् ।

त्वर्यपादाने ॥२।४।३७॥ त्वरणं त्वरा त्वरीति सौत्रमात्रम् । त्वराया गम्यमानायामपादाने  
वाचि घोर्णम् भवति । शय्योत्थायं धावति । शय्याया उत्थाय । मुखप्रक्षालनाद्यवश्यकार्यमकृत्वा त्वरत  
इत्यर्थः । एव स्तनरन्ध्रापकर्षं पयः पिबति । स्तनरन्ध्रादपकर्षम् । भ्राष्टापकर्षमपूपान् भक्षयति । भ्राष्टादप-  
कर्षम् । वेत्यनुवर्तनात् शय्याया उत्थाय धावति । त्वरीति किम् ? आसनादुत्थाय गच्छति ।

इपि ॥२।४।३८॥ त्वरीति वर्तते । इवन्ते वाचि त्वराया गम्यमानाया घोर्णम् भवति । यष्टिग्राहं  
युध्यन्ते । यष्टि ग्राहम् । त्वराया युद्धप्रहरणमनपेक्ष्य यष्टिमादाय युध्यते इत्यर्थः । एव पटापकर्षं धावन्ति  
पटमपकर्षम् । त्वरीत्येव । खड्गं गृहीत्वा युध्यन्ते ।



स्वाङ्गेऽध्रुवे ॥२१४३९॥ इपीति वर्तते । यस्मिन्निवन्तेऽपि प्राणिना मरणं न भवति तदध्रुवं स्वाङ्गम् । तस्मिन्निवन्ते वाचि धोर्यम् भवति । अक्षिणिकोच जल्पति । अक्षणी निकोचम् । भ्रूक्षेप जल्पति । भ्रुवक्षेपम् । अंगुलिनिकोट जल्पति । अंगुलि निकोटं जल्पति । अध्रुव इति किम् ? शिर उल्लिख्य जल्पति ।

अद्रवं मूतिमत्स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारकम् । अतत्स्थं तत्र दृष्टं च तेन चेतत्तथायुतम् ।

आद्यैश्चतुर्भिर्विशेषणैर्जालाबुद्धिफलशोफादिरहितप्राणिस्थ वस्तु स्वाङ्गमुक्तम् । अतत्स्थं तत्र दृष्टं चेतनेन भूमिपतितकेशादिपरिग्रहः । तेन चेतत्तथायुतमित्यनेन काष्ठादिप्रतिमाया स्थित पाण्यादि सृष्टोक्तम् ।

सक्लेशे ॥२१४४०॥ इपीति वर्तते स्वाङ्ग इति वा । सह क्लेशेन दुःखेन वर्तते इति सक्लेशं क्लिश्यमानमित्यर्थः । इवन्ते सक्लेशे स्वाङ्गे वाचि धोर्यम् भवति । ध्रुवार्थोऽयमारम्भः । उरःप्रतिपेप युध्यन्ते । उरासि प्रतिपेपम् । उरासि पीडयन्तो युध्यन्ते इत्यर्थः । एव शिरःप्रतिपेपम् । शिरासि प्रतिपेपम् ।

विशिपतिपदिस्कन्दो व्याप्यासेव्ययोः ॥२१४४१॥ इपीति वर्तते । विश्यादिभिः काल्पेन व्यापनीयद्रव्यं व्याप्यम् । किरारूप तात्पर्येण आसेवनीयमासेव्यम् । क्रियाधारभूतमुपचाराद्द्रव्यमप्यासेव्यम् । विशिपति पदि पदि स्कन्द इत्येतेभ्यो बुभ्यः व्याप्य आसेव्ये च वाचि णम् भवति । गेहानुप्रवेशमास्ते । घृता व्यापनस्यासेवनस्य चोक्तत्वात् द्वित्वं न भवति । वाक्यपक्षे व्याप्यमानस्य द्रव्यस्य द्वित्वम् । आसेव्यविवक्षायां तु मुख्यस्यासेव्यस्य किरारूपस्य द्वित्वम् । गेहगेहमनुप्रवेशमास्ते । गेहमनुप्रवेशमनुप्रवेशमास्ते । गेहानुप्रपातमास्ते । गेहगेहमनुप्रपातम् । गेहमनुप्रपातमनुप्रपातमास्ते । गेहमनुप्रपादमास्ते । गेहगेहमनुप्रपादम् । गेहमनुप्रपादमनुप्रपादम् । गेहावस्कन्दमास्ते । गेह गेहमवस्कन्दम् । गेहमवस्कन्दमवस्कन्दम् । केषाधिकारात् गेह गेहमनुप्रपादमनुप्रपादम् । गेहावस्कन्दमास्ते । गेह गेहमवस्कन्दम् । गेहमवस्कन्दमवस्कन्दम् । केषाधिकारात् गेह गेहमनुप्रविश्य गेहमनुप्रविश्यानुप्रविश्यास्ते । वीप्सायामाभीक्ष्ण्ये च द्वित्वम् । व्याप्यासेव्ययोरिति किम् ? गेहमनुप्रविश्य भुङ्क्ते । “णम् चाभीक्ष्ण्ये” [२१४४८] इति यत्र व्यासेव्ये णम् सिद्धः, तथापि वाक्सविकल्पार्थमिदम् ।

तृप्यस्वोः क्रियान्तरे काले ॥२१४४२॥ इपीति वर्तते । इवन्ते कालवाचिनि वाचि तृपि अमु इत्येताभ्यां णम् भवति क्रियान्तरार्थे यत्रानुप्रयुज्यमानक्रियापेक्षया क्रियान्तरे वृत्तिरित्यर्थः । द्वयहापतर्प गाः पाययति । द्वयहमपतर्पम् । त्रयहापतर्पम् । त्रयहमपतर्पम् । द्वयहात्यान गाः पाययति । द्वयहमत्यासम् । त्रयहात्यासम् । त्रयहमत्यासम् । कालावन्यविच्छेद इतीप् । तृ यस्वरिति किम् ? द्वयहमुपोष्य भुङ्क्ते । क्रियान्तर इति किम् ? अहरत्यस्य गत । अत्रास्यतिर्न क्रियान्तरे वर्तते किन्तु गतावेय । काल इति किम् ? पञ्च पूलान् अत्यस्य तिलान् भक्षयति ।

नाम्न्यादिशिग्रहः ॥२१४४३॥ इपीति वर्तते । इवन्ते नामशब्दे वाचि आदिशिग्रहादिभ्यां णम् भवति । नामादेशमाचष्टे । नामान्यादेशम् । नामग्राहमाकारयति । नामानि ग्राहम् ।

भावनिश्रोतौ कृजः क्त्वाणमौ ॥२१४४४॥ क्लिप्तशब्दे वाचि अनिश्रोतौ गम्यमानाया कृजः क्त्वाणमौ भवतः । वेद्यविकारान् क्त्वाये सिद्धे पुनः क्त्वाग्रहणं क्त्वा इत्यनेन वृत्तिविकल्पार्थम् । मादंति तत्र वर्तते तेनोत्सर्गं क्त्वाये सविस्मयो न स्यात् । ब्राह्मणं पुत्रं ज्ञातं किं तर्हि ? वृत्तं नीचैः क्त्वायच्छे । नीचैः क्त्वा । नीचैः कारम् । उच्चं नाम प्रयमाद्येयम् । नीचैः गम्यमानमनिष्टं भवति । ब्राह्मणं क्त्वा ते गमिणी । तदि वृत्तं उच्चैः क्त्वाऽचष्टे । उच्चैः क्त्वा । उच्चः कारम् । क्त्वायाम् उच्चगम्यमानमनिष्टं । अनिश्रोताविति किम् ? उच्चैः क्त्वायच्छे पुत्रं ज्ञातं ।

तिरश्चयपवर्गे ॥२१४४५॥ अत्रवर्गः समर्पितः । तिरश्चयश्चे वाचि अपवर्गं गम्यमानो वृत्तः तिरश्चयः ।

भवतः । तिर्यक्कृत्य गतः । तिर्यक्कृत्वा । तिर्यक्कारम् । समाप्य गत इत्यर्थः । अप्रवर्ग इति स्मि ? तिर्यक् कृत्वा काष्ठ गतः । तिर्यक्चीति तिर्यक्छन्दानुकरणनिर्देशः । “प्रकृतिवदनुकरणं भवति” [ परि० ] अनिरूपसिद्धिः ।

स्वाङ्गे तस्त्ये कृभुवः ॥२१४४६॥ तस्त्यो यस्मात्तत्तथोक्तम् । तस्त्ये स्वाङ्गे वाचि कृ भू इत्येतान्या क्त्वाणमौ भवतः । भिन्नयोगनिर्दिष्टत्वात्प्रासख्यमत्र न भवति । मुखतःकृत्य गतः । मुपत कृत्वा । मुपतः-कारम् । पृष्ठतःकृत्य । पृष्ठतः कृत्वा । पृष्ठतःकारम् । मुखतोभूय । मुखतोभूत्वा । मुखतोभावम् । पृष्ठतोभूय । पृष्ठतोभूत्वा । पृष्ठतोभावम् । “सपादानेऽहीयरुहोः” [४१२।१०] इति “वादिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] इति वा तसिः । स्वाङ्ग इति किम् ? सर्वतःकृत्वा । तस्त्यग्रहण किम् ? मुखीकृत्य गतः । त्यग्रहणं किम् ? मुखे तस्यति मुखतः । अमुखतसं मुखतस कृत्वा मुखतःकृत्य ।

नाधार्यत्ये ऋयर्थे ॥२१४४७॥ नार्थो धार्यश्च त्यो यस्मात्तत्तथोक्तः । नार्थत्ये धार्यत्ये च शब्दे ऋयर्थे वाचि कृ भू इत्येतान्या क्त्वाणमौ भवतः । नार्थत्ये-विनाकृत्य गतः । विनाकृत्वा । विनाकारम् । विनाभूय । विनाभूत्वा । विनाभावम् । अनाना नाना कृत्य गतः । नानाकृत्वा । नानाकारम् । नानाभूय । नानाभूत्वा । नानाभावम् । “विनञ्भ्यां नानाञौ न सह” [३।१।१४७] इति नानाञौ भवतः । धार्ये त्ये-अद्विधा द्विधा कृत्य गतः । द्विधाकृत्वा । द्विधाकारम् । द्विधाभूय । द्विधाभूत्वा । द्विधाभावम् । अद्वैध द्वैध कृत्य गतः । द्वैधं कृत्वा । द्वैधंकारम् । द्वैध भूय । द्वैध भूत्वा । द्वैध भावम् । अद्वेधा द्वेधा कृत्य गतः । द्वेधाकृत्वा । द्वेधाकारम् । द्वेधाभूय । द्वेधाभूत्वा । द्वेधाभावम् । “संख्याया विधार्थे धा” [४।१।१०६] “द्वित्रैर्धमुञ्” [४।१।१०८] एकधा । ऐक्यम् । “वैकाद्वयमुञ्” [४।१।१०७] । अर्थग्रहण स्वरूपमात्रनिरासार्थम् । त्यग्रहण किम् ? नाधार्ये वाचीत्युच्यमाने इहापि स्यात् । अहिरुक् हिरुक्कृत्वा पृथक्कृत्वा चिर्विकल्पेन विधास्यते । व्यर्थमात्रमत्र विवक्षितं न च्चिः । अर्थ इति किम् ? नाना कृत्वा काष्ठानि गतः ।

तूष्णीमि भुवः ॥२१४४८॥ तूष्णीमशब्दे वाचि भू इत्येतस्मात् क्त्वाणमौ भवतः । तूष्णींभूयास्ते । तूष्णीं भूत्वा । तूष्णींभावम् ।

अन्वच्यानुलोम्ये ॥२१४४९॥ आनुलोम्यमनुकूलता । अन्वच्छब्दे वाचि आनुलोम्ये गम्यमाने भुवः क्त्वाणमौ भवतः । अन्वग्भूत्वा । अन्वग्भावम् । आनुलोम्य इति किम् ? अन्वग्भूत्वा आस्ते । पश्चाद्भूत्वैत्यर्थः । अन्वक्चीति निर्देशः प्रकृतिवदनुकरणमिति न्यायात् ।

शकधृपक्षाग्लाघटरभलभक्रमसहार्हार्यर्थे तुम् ॥२१४५०॥ शकादिषु अस्यर्थेषु च धृषु वाञ्छु धोक्तुम् भवति । शक्नोति भोक्तुम् । धृष्णोति भोक्तुम् । जानाति भोक्तुम् । ग्लायति भोक्तुम् । घटते भोक्तुम् । आरभते भोक्तुम् । लाभते भोक्तुम् । प्रक्रमते भोक्तुम् । सहते भोक्तुम् । अर्हति भोक्तुम् । अस्त्वर्थेषु-अस्ति भोक्तुम् । भवति भोक्तुम् । विद्यते भोक्तुम् । क्रियाया तदर्याया वाचि तुम् विहितः । अतदर्यायामपि यथा स्यादित्यारम्भः ।

पर्याप्तिवचनेऽलमर्थे ॥२१४५१॥ पर्याप्ति प्रभूतत्वं सामर्थ्यं च अलमर्थेन विशेष्यमाणत्वात्सा-मर्थमेवावतिष्ठते । पर्याप्तिवचनेऽलमर्थविशिष्टेषु वाञ्छु धोक्तुम् भवति । पर्याप्तो भोक्तुम् । समर्थो भोक्तुम् । प्रभुर्भोक्तुम् । अल भोक्तुम् । पारयति भोक्तुम् । इदमप्यस्योदाहरणम् । युक्तं पुनरिदं विचारयितुम् । “वा भादि” [१।३।८४] इति पक्षो न भवति । अमेवेति तत्र वर्तते । पर्याप्तिवचन इति किम् ? अलङ्कृते कन्याम् । अल रदित्वा । समर्थंष्विति वक्तव्ये गुरुकरण किम् ? सामर्थ्यमात्रे मा भूत् । शक्त्या भुङ्क्ते । दत्तेन भुङ्क्ते । अलमर्थे इति किम् ? पर्याप्तं भुङ्क्ते । प्रभूतं भुङ्क्ते । अन्यूनं भुङ्क्ते । पूर्वसूत्रे शक्तिः लौक्ये वर्तते नालमर्थे ।

कर्तरि कृत् ॥२।४।१२॥ कर्तरि कारके कृत्संज्ञास्त्या भवन्ति । अनिर्दिष्टार्थास्त्याः स्वार्थे भावे प्राप्ताः । कारकः । कर्ता । ये कृतः कर्तरि नेष्टाः तेषां करणाधिकरणयोर्युडित्वेवमादिरपवाद उक्तः ।

भव्यगेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वा ॥२।४।१३॥ भव्य इत्येवमादयः शब्दाः कर्तरि वा निपात्यन्ते । “तयोर्व्यक्तस्वार्थः” [२।४।५१] इत्यस्मिन् प्राप्ते पक्षे कर्तरि विधानम् । भवत्यसौ भव्यः । भव्यमनेनेति वा । गेयो माणवकः पटङ्गस्य । गेयो माणवकेन पटङ्गः । प्रवचनीयो गुरुः शास्त्रस्य । प्रवचनीय शास्त्रं गुरुणा । उपस्थानीयः शिष्यो गुरोः । उपस्थानीयो गुरुः शिष्येण । जायते असौ जन्यः । जन्यमनेन । “जनिवध्योः” [१।२।४०] इत्यैप्प्रतिषेधः । अथवा “शकिसहरच” [२।१।८६] इति चकारेण जनैर्यः । आस्रवतेऽसौ आस्राव्यः । आस्राव्यमनेन । आपततीत्यापात्यः । आपात्यमनेन ।

लः कर्मणि च भावे च धेः ॥२।४।१४॥ ल इति लडादीना नवानामुत्सृष्टानुवन्धाना सामान्येन ग्रहणं जसा च निर्देशः । लकाराः सकर्मकेभ्यो धुभ्यः कर्मणि कर्तरि च कारके भवन्ति, भावे कर्तरि च धिसंज्ञेभ्यः । कर्मणि—क्रियते कटः । गम्यते ग्रामः । कर्तरि—करोति कटम् । गच्छति ग्रामम् । धेर्भावे—आस्यते भवता । सुप्यते । कर्तरि—आस्ते भवान् । स्वपिति भवान् । लो डौ चेति वक्तव्ये प्रपञ्चेन निर्देशः किमर्थः ? सकर्मकेभ्यो लो भावे मा भूवन् ।

तयोर्व्यक्तस्वार्थः ॥२।४।१५॥ तयोर्भावकर्मणोः व्यसञ्ज्ञश्च कृश्च लौर्थाश्च भवन्ति । “कर्तरि कृत्” [२।४।१२] इत्यस्यायमपवादः । कर्मणि—कर्तव्यः कटो भवता । भोक्तव्य ओदनो भवता । भावे—आसितव्य भवता । शयितव्यं भवता । कृतः कर्मणि । कृतः कटो भवता । भुक्त ओदनो भवता । भावे—आसित भवता । शयितं भवता । लौर्थाः कर्मणि—ईषत्करः कटो भवता । सुकर कटो भवता । सुपानं पयो भवता । दुपानं पयो भवता । भावे—स्वासं भवता । दुरास भवता । सुरलान भवता । दुर्लान भवता । आत्मकर्मविवक्षायां व्यक्तस्वार्थप्रयोगविषये सकर्मका अप्यविवक्षितकर्मकत्वेनाकर्मकाः । तेन भावे व्यादयः । भेत्तव्य कुशलेन स्वयमेव । भावकर्मग्रहणे तु वर्तमाने तयोरिति ग्रहणं यथाविधिप्रतिपादनार्थं सकर्मकेभ्यः कर्मण्यकर्मकेभ्यो भाव इति ।

कर्तरि चारम्भे क्तः ॥२।४।१६॥ आरम्भः आद्यः क्रियान्ताः । आरम्भे यो धुर्वर्तते तस्मात् क्तः स कर्तरि भवति यथाप्राप्तं च भावकर्मणोः । प्रकृतो भवान् कटम् । प्रकृतः कटो भवता । प्रकृतं भाता । प्रभुक्तो भवानोदनम् । प्रभुक्तः ओदनो भवता । प्रभुक्तं भवता । धिभ्यस्तु “धिगत्यर्थाच्च” [२।४।१८] इति वक्ष्यति । आद्यक्रियान्तकाले । कटो नाभिनिर्वृतः तस्योपचारात् भूतकालेन प्रकृतशब्देन सामानाधिकरण्यम् ।

श्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजृपरच ॥२।४।१७॥ श्लिषादिभ्यः कर्तरि क्तो भवति यथाप्राप्तं च भावकर्मणोः । “धिगत्यर्थाच्च” [२।४।१८] इति सिद्धे इह सकर्मकार्यमुपादानम् । इदमेव शापकन । अकर्मका (सकर्मका) अपि भवन्ति । आश्लिष्टः कन्या देवदत्तः । आश्लिष्टा कन्या देवदत्तेन । आश्लिष्ट देवदत्तस्य । अतिशयितो गुरु भवान् । अतिशयितो भवता गुरुः । अतिशयितं भवतः । उपस्थितो गुरु भवान् । उपस्थितो भवता गुरुः । उपस्थितं भवतः । उपासितो गुरु भवान् । उपासितो भवता गुरुः । उपासितं भवतः । अनृषितो गुरुं भवान् । अनृषितो भवता गुरुः । अनृषितं भवतः । अनुज्ञातो माणवको माणविकम् । अनुज्ञाता माणविका माणवकेण । अनुज्ञात माणवकस्य । आरूढो वृत्त देवदत्तः । आरूढ वृत्तो

१. पटङ्गस्य व०, स० । २. पटङ्गः व०, स० । ३. चाधेः सु० । ४. लौर्थाश्च अ०, व०, स० ।

५. लौर्थाश्च अ०, व०, स० ।

देवदत्तेन । आरुढं देवदत्तस्य । अनुजीर्णो वृषलीं देवदत्तः । अनुजीर्णा वृषली देवदत्तेन । अनुजीर्णा देवदत्तस्य । रुहेरगत्यर्थत्वादपि गत्यर्थकार्यं न भवति । आरोहयति वृद्धं देवदत्तेन । कर्मसंज्ञा न भवति ।

धिगत्यर्थाच्च ॥२।४।५८॥ धिगत्रेभ्यः गत्यर्थेभ्यश्च धुभ्यः क्तृभ्यः कर्तरि भवति यथाप्राप्तं च । आसितो भवान् । आसितं भवता । शयितो भवान् । शयितं भवता । गत्यर्थेभ्यः-गतो भवान् ग्रामम् । गतो भवता ग्रामः । गतं भवता । यातो भवान् । यातो भवता ग्रामः । यातं भवता । “कालभावाध्वभिः कर्मभिः सकर्मकवद्भवति” [ वा० ] वत्करणत्वात् स्वाश्रयमपि भवति । अतस्त्रेरुप्यम् । सुप्तो भवान् मासम् । सुप्तो भवता मासः । सुप्तं भवता । ओदनपाकं सुप्तो भवान् । ओदनपाकः सुप्तो भवता । ओदनपाकं सुप्तं भवता । क्रोशं सुप्तो भवान् । क्रोशः सुप्तो भवता । क्रोशं सुप्तं भवता ।

अधिकरणे चाद्यर्थाच्च ॥२।४।५९॥ क्त इति वर्तते । अद्यर्था अभ्यवहारार्थाः । अद्यर्थेभ्यो धिगत्यर्थेभ्यश्च क्तोऽधिकरणे भवति कर्तरि भावे कर्मणि च । यथाप्राप्तं कर्तृकर्मभावेषु । अद्यर्थेभ्यः अधिकरणकर्मभावेषु क्तः । अधिकरणे आस्मिन्निमे भुजते स्म इदमेषा भुक्तम् । इदमेषा पीतम् । “क्तस्याधिकरणे” [ १।४।७० ] इति कर्तरि ता । कर्मणि-एभिर्भुक्तं ओदनः । एभिः पीतं मधु । भावे-भुक्तमेभिः । पीतमेभिः । धिभ्योऽधिकरणकर्तृभावेषु क्तः । अधिकरणे-इदमेषा मासितम् । आसितो भवान् । आसितं भवता । गत्यर्थेभ्यः अधिकरणकर्तृकर्मभावेषु क्तः । अधिकरणे-इदमेषा यातम् । यातो देवदत्तो ग्रामम् । यातो देवदत्तेन ग्रामः । यातं देवदत्तेन । इह विभुक्ताः भ्रातरः पीता गावः इति मत्वर्थोऽकारः ।

दासगोघ्नौ संप्रदाने ॥२।४।६०॥ दास गोघ्न इत्येतौ शब्दौ निपात्येते संप्रदाने कारके । दासतेऽस्मै पचाद्यच्च दासः । गा हन्ति अस्मै आगताय गोघ्नोऽतिथिः । यगत्र निपात्यः । स्त्रिया गोघ्नी देवदत्ता ।

भीमादयोऽपादाने ॥२।४।६१॥ भीमादयः शब्दा अपादाने कारके ज्ञातव्याः । भीमादयः शब्दा अन्यत्र साधिताः कारकनियमार्थमिह तेषां पाठः । विभेत्यस्मादिति भीमः । भीष्मः । भयानकः । चरुः । प्रस्कन्दनम् । प्रयतनम् । समुद्रवन्त्यस्मात् समुद्रः । सुवः । सुक् । भृष्टिः । रक्षा । संकसन्ति तस्मात् सकसुकः । खलिनः ।

उणादयोऽन्यत्राभ्याम् ॥२।४।६२॥ उणादयस्त्या आभ्या संप्रदानापादानाभ्यामन्येषु कारकेषु भवन्ति । करोतीति कारः । वृश्चति त वृत्तः । कषितोऽसौ कषिः । ततोऽसौ तन्तुः । वृत्तं तत्र वर्तम् । चरितं तत्रेति चर्म । भसितं तत्रेति भरम् । ऋचन्ति तया ऋक् ।

लस्य ॥२।४।६३॥ अकार उच्चारणार्थः । लस्येत्ययमधिकारः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामो लस्य स्थाने तद्वेदितव्यम् । नव लकाराः पञ्च टितश्चत्वारो ङितः-लट् लिट् लुट् लृट् लोट् लङ् लिङ् लुङ् लृङ् । एषामनुवन्धापायेन लकारमानं स्थानित्वेनाधिक्रियते । त्य इति वर्तते धोरिति च । धोर्विहितस्य त्यस्य लकारस्य ग्रहणात् लभते चूडाल इत्येवमादि परिहृतम् ।

मिच्चरमस्त्विप्थत्थितिसस्मोड्वहिमहिथासाथाध्वंतातांभङ् ॥२।४।६४॥ लस्य स्थाने मिजादयः आदेशा भवन्ति । पकारः “गोऽपि” [ १।१।७८ ] इति विशेषणार्थः । इष्टकारो “रत्नज्जेट्” [ १।४।८६ ] इति विशेषणार्थः । भङ्गो डकारः प्रत्याहारार्थः । पचामि । पचावः । पचामः । पचसि । पचय । पचय । पचति । पचतः । पचन्ति । टिता दविषये आदेशान्तराणि वक्ष्यन्ते । लियो माना उणादयः आदेशाः वक्ष्यन्ते । लुट् । पक्तासि । पक्तास्वः । पक्तासः । इत्येवमादि शेषम् । लृट् । पक्षामि । पक्षायः । पक्ष्यामः । लोट् आदेशाः वक्ष्यन्ते । ङिता लकाराणां मविषये च इह तानुदाहरिष्यामः ।

लङ् । अपचे । अपचावहि । अपचामहि । वक्ष्यते लिङ् । लुङ् । अपन्ति । अपन्वहि । अपन्महि । लृट् । अपक्ष्ये । अपक्ष्यावहि । अपक्ष्यामहि ।

टिड्ढेटरे ॥२।४।६५॥ टिता लकाराणां ये दास्तेषा ढेरेत्व भवति । यत्र एक एवाच् तत्र व्यपदेशिवद्भावादन्तत्वमुक्तम् । यत्र च तदादिरन्यो नास्ति तत्रापि व्यपदेशिवद्भावात्तदादित्वम् । पचे । पचावरे । पचामहे । “धासः से” [ २।४।६६ ] इति वक्ष्यति । पचसे । पचेथे । पचध्वे । पचते । पचेते । पचन्ते । लिट् । पेचे । पेचिवहे । पेचिमहे । लुट् । पक्ताहे । पक्तास्वहे । पक्तास्महे । लृट् । पक्ष्ये । पक्ष्यावहे । पक्ष्यामहे । लोटो वक्ष्यति । प्रकृतानां मिडां दस्य ढेरेत्वम् । तेनेह न भवति । पचमान इति ।

थासः से ॥२।४।६६॥ टिड्ढग्रहणमनुवर्तते । टितो लकारस्य थासः स इत्ययमादेशो भवति । पचमे । पेचिपे । पक्तासे । पक्ष्यसे ।

“एश्विरेसेविषानेषु किं स्यादेत्वे प्रयोजनम् । आदेशे तु कृते मा भूत् ज्ञापकं भवितादिषु ।”

लिट्स्तभ्योरेश्विरे ॥२।४।६७॥ लिङादेशयोस्त भ इत्येतयोः एश् इरे इत्येतावादेशौ भात । शकारः सर्वादेशार्थः । परस्यादिर्मा भूत् । पेचे । पेचिरे । नेमे । नेमिरे ।

मानां णत्वमथाथुसणलतुसुसः ॥२।४।६८॥ लिट् इति वर्तते । लियो माना स्थाने यथामस्य णलादयो नव आदेशा भवन्ति । णकारः ऐवर्थः । लकारः सर्वादेशार्थः । अ इति द्वयोरकारयोः प्ररलोप निर्देशः सर्वादेशार्थः । अन्त्यस्याकारस्याकारवचने प्रयोजनाभावात् सर्वादेश इति चेत् समसख्यत्व प्रयोजन संभाव्येत । अथवा धोरिति कानिर्देशात् परस्यादेस्यकारस्याकारः । पपाच । पेचिव । पेचिम । पपमथ । पेचिथ । पेचथुः । पेच । पपाच । पेचतुः । पेचुः । “वोपदेशे” [ ५।१।१०८ ] इत्यादिना वेट् । “सेदि” [ ४।४।१११ ] इति एत्व च । वमयोः क्रादिनियमादिट् ।

विदो लटो वा ॥२।४।६९॥ मानामिति वर्तते । वेत्तेरुत्तरेषा लटो माना स्थाने वा णलादयो भवन्ति । वेद् । विद् । विद्म । वेत्थ । विदथुः । विद् । वेद् । विदतुः । विदुः । न च भवन्ति । वेद्मि । विद्मः । विद्मः । वेत्ति । वित्यः । वित्थ । वेत्ति । वित्तः । विदन्ति । विद् इति कानिर्देशात् ज्ञानार्थस्य ग्रहणम् । लाम्भा र्थस्य शेन व्यवधानात् ।

ब्रुव आहश्च ॥२।४।७०॥ मानामिति वर्तते । लटो वेति वर्तते । ब्रुव उत्तरस्य लटो माना वा णलादयो भवन्ति । तत्सन्निधौ ब्रुव आहदेशः । अकार उच्चारणार्थः । “न थास्मद्” [ २।४।७१ ] इत्युत्तरत्र प्रतिषेधादत्र पञ्चग्रहणम् । आत्थ । आहथुः । आह । आहतुः । आहुः । सिपस्थे कृते “आहम्पः” [ ५।३।५२ ] इति हकारस्य यकारः । “स्वरि” [ २।४।१३० ] इति चत्वम् । यत्र स्थानिवद्भावात् “ब्रुव ईट्” [ ५।२।६१ ] इति ईट् स्यात् भूनादिप्रकरणे “आहस्थः” [ २।३।२२ ] इति वचनमनर्थकं स्यात् । न न भवति । ब्रवीपि । ब्रूथः । ब्रवीति । ब्रूतः । ब्रुवन्ति ।

न थास्मद् ॥२।४।७१॥ ब्रूजः परस्य थस्यास्मदश्च पूर्वोक्ता आदेशा न भवन्ति । ब्रूय । ब्रूयिनि । ब्रूवः । ब्रूमः ।

लोटो लङ् वृत् ॥२।४।७२॥ लोटो लङ् इव कार्यं भवति । लोटोऽपानाति नानि नानि मतिर्विश्वे इत्यर्थः । पचाव । पचाम । दित् । सव लिङ्म । पचतम् । पचत । पचतान् । “तिङ्प्रत्यये उभूतंत्वाम्” [ २।४।८२ ] हयेत् लिङ्म । ‘एम्’ [ २।४।७३ ] इति उकारः पुनरादयस्य लोटो ‘एम्’ [ २।४।८३ ] इति इत्यनेव अक्षरे न हुमादेशम् । एव च यथा अनुः अनुगिति नानि तथा अनुः पान्तु इत्यत्रानि हुमादेशः प्राप्नोति । नैष दोषः । वक्ष्यते “आत्” [ २।४।१० ] “हट्” वा”

[ २।४।६१ ] इत्यत्र लङ् ग्रहणस्य प्रयोजनं लडेव यो लङ् तस्य जुष् भवति अतिदेशेन यो लङ् तस्य मा भूत् । लङ् वदिति तातादत् ( अमृतताम्बत् ) तेनाडागमो न भवति ।

एरुः ॥२।४।७३॥ लोट इति वर्तते मानामिति च । लोये मानामिकारस्य उकारादेशो भवति । इहस्यापवादः । पचतु । पचन्तु । करोतु । कुर्वन्तु । मिप्सिपोरादेशान्तरमुत्वस्य बाधक वक्ष्यते ।

सेर्हपिच्च ॥२।४।७४॥ लोट इति वर्तते । सेर्हारादेशो भवति अपिच्च । लुनीहि । पुनीहि । आनुहि । राघुहि ।

मेर्निः ॥२।४।७५॥ लोये मेर्निरित्ययमादेशो भवति । पचानि । करवाणि ।

आमेतः ॥२।४।७६॥ लोट इति वर्तते । लोडादेशस्य य एकारस्तस्य आमित्ययमादेशो भवति । निर्दिश्यमानस्यादेशो भवति । पचेथाम् । पचताम् । पचेताम् । पचन्ताम् ।

स्वो वामौ ॥२।४।७७॥ लोट इति वर्तते एत इति च । सकारवकाराभ्या परस्य एतो व अम् इत्येता वादेशौ भवतः । पचस्व । पचध्वम् । वयस्व । वयध्वम् ।

पिच्चाडस्मदः ॥२।४।७८॥ लोट इति वर्तते । लोयेऽस्मदः आडागमो भवति पिच्च । करवाणि । करवाव । करवाम । करवै । करवावहै । करवामहै ।

एत ऐ ॥२।४।७९॥ लोयेऽस्मद इति वर्तते । लोयेऽस्मदः एकारस्यैकारादेशो भवति । निर्दिश्य-मानस्यादेशोऽयमामोऽपवादः । करवै । करवावहै । करवामहै । चिनवै । चिनवावहै । चिनवामहै ।

डितः सखम् ॥२।४।८०॥ अस्मद इत्येव । डितो लकारस्य योऽस्मत्तस्य सख भवति । लङ्-अपचाव । अपचाम । लिङ्-पचेव । लुङ्-अपाक्ष् । अपाक्ष्म । लृङ्-अपक्ष्याव । अपक्ष्याम ।

एर्मे ॥२।४।८१॥ डित इति वर्तते । डिल्लकारसम्बन्धिन इकारस्य ख भवति मविषये । लङ्-अपचः । अपचत् । अपचन् । लिङ्-पचेरन् । पचेत् । लुङ्-अपाक्षीः । अपाक्षीत् । लृङ्-अपक्ष्यः । अपक्ष्यत् । अपक्ष्यन् । म इति किम् ? अपचावहि । अपचामहि ।

मिप्यस्थतसोऽमृतंतताम् ॥२।४।८२॥ डिता लकाराणा मिप् थस् थ तस् इत्येतेषा यथासख्य अम् त त ताम् इत्येते आदेशा भवन्ति । अपचम् । अपचतम् । अपचत । अपचताम् । लिङ्-पचेयम् । पचेतम् । पचेत । पचेताम् । लुङ्-अपाक्ष्म् । अपाक्ष्म् । अपाक्ष् । अपाक्ष्ताम् । “वदन्नज ( वज्रवद )” [२।१।७६] इत्यादिनैप । “क्ल्लो क्ल्लि” [ ५।३।४४ ] इति सखम् । लृङ्-अपक्ष्यम् । अपक्ष्यतम् । अपक्ष्यत । अपक्ष्यताम् ।

लिङः सीयुट् ॥२।४।८३॥ लिडादेशाना सीयुडागमो भवति । मे यासुयो विधानाद्दे सीयुङ् द्रष्टव्यः । टकार “टिदादिः” [१।१।५३] इति विशेषणार्थः । उकार उच्चारणार्थः । पचेय । पचेवहि । पचेमहि । पचेथाः । पचेयाथाम् । पचेध्वम् । पचेत । पचेयाताम् । पचेरन् । “रुदादेर्गे” [२।१।१३५] इति वर्तमाने “लिटोऽनन्त्यसखम्” [२।१।१३८] इति सीयुट्सकारस्य “सुट्तथोः” [ २।४।८७ ] इति सुट्सकारस्य च खन् । आशिषि लिङ्-पक्षीय । पक्षीवहि । पक्षीमहि । पक्षीष्ठाः । पक्षीयास्थाम् । पक्षीध्वम् । पक्षीष्ट । पक्षीयात्ताम् । पक्षीरन् ।

यासुण् मो डित् ॥२।४।८४॥ लिङ इति वर्तते । लिङो मविषयस्य यासुडागमो भवति डिच्च । सीयुयोऽपवादोऽप्यम् । अत्र “किदाशिषि” [२।४।८४] इति वचनात् विध्यादिलक्षणस्य लिङ इहोदाहरणम् ।

१. -वति । अपचाव । अपचाम । लिङ् । पचेः । पचेत । अ०, व०, स० ।

कुर्याम् । कुर्याव । कुर्याम । कुर्याः । कुर्यातम् । कुर्यात । कुर्यात् । कुर्याताम् । कुर्युः । “कृजो ये च” [४।४।१६] इति विकरणस्य खम् । “भेजुस्” [२।४।८८] इति जुम् । “उसि” [४।३।८३] इति परस्मैपुंसस्य । स्यानिषद्भावादेव लिङादेशस्य ङित्वे सिद्धे यासुटो ङित्वचन जापक लकाराश्रयमादेशानां ङित्वं च न भवति । तेन अचिनवमित्येप् सिद्धः । पचमाना स्त्री । टित इति ङीत्यो न भवति ।

किदाशिषि ॥२।४।८५॥ आशिषि लिङो यासुट् किङ्कति । ङित्वे प्राप्ते कित्त्वं विधीयते । ज्यय जागतैरेवर्थं च । उह्यासम् । उह्यास्व । उह्यास्म । उह्याः । उह्यास्तम् । उह्यास्त । उह्यात् । उह्यास्ताम् । उह्यासुः । जागर्यासम् । जागर्यास्व । जागर्यास्म । “जागुराविजिणलङिति” [१।२।८२] इत्येप् ।

रन्नज्भेदः ॥२।४।८६॥ लिङादेशयोर्झ इट् इत्येतयोर्थथासंख्य रन् अत् इत्येतावादेशौ भवतः । पचेरन् । पत्नीरन् । “सोऽन्तः” [१।१।३] इत्यस्यापवादोऽयम् । पचेय । पत्नीय । “क्षीयाशीः प्रैपेडु मिडाकाङ्क्षम्” [१।३।१०२] इत्येवमादिना प्राप्तस्य पस्य निवृत्त्यर्थं तपरकरणम् ।

सुट् तथोः ॥२।४।८७॥ लिङो यौ तकारथकारौ तयोः सुडागमो भवति । अगविषये लिट् प्रयोजयति । गे सत्वेन भवितव्यम् । पत्नीष्ठाः । पत्नीयास्याम् । पत्नीष्ट । पत्नीयास्ताम् ।

भेजुस् ॥२।४।८८॥ लिङादेशस्य भेजुसित्ययमादेशो भवति । अन्तादेशापवादः । कुर्युः । क्रियासुः । निर्दिश्यमानस्यादेशो न यासुटः ।

थवित्सेः ॥२।४।८९॥ थसंज्ञक वेत्ति सि इत्येतेभ्यः परस्य भेजुसादेशो भवति । टित इति वर्तते । तत्र लिङ आदेश उक्तः । लृङः स्येन व्यवधानमस्ति । लुङोऽपि सेरिति भविष्यति । पारिशेष्यात्थविद् ग्रहण लङर्थम् । अविभक्तः । अजागरः । “उसि” (जुसि) [५।२।८०] इत्येप् । विदे । अविदुः । अकार्षुः । अहार्षुः ।

आतः ॥२।४।९०॥ सेरिति वर्तते । आकारान्तास्तेः परस्य भेजुस् भवति । श्रुतिवृत्त भेरातः परस्य सेरपि कृते त्याश्रयलक्षणेन सेः परत्वम् । अत उभयगतमानन्तर्यं भेरस्ति । अरधुः । अगुः । अयुः । अदुः । अधुः । त्याश्रयलक्षणेन भेरिति पूर्वैर्णैव सिद्धे नियमार्थमेतत् । आत एव संरुपि कृते नाप्यस्मात् अभूवन्निति ।

लङो वा ॥२।४।९१॥ आत इति वर्तते । आकारान्तात्परस्य लङादेशस्य भेजा जुम् भवति । अयुः । अयान् । अधुः । अधान् । ननु लङ्ग्रहणमनर्थकम् । टित इति वर्तते । पारिशेष्यात् लङ एव संप्रत्ययः । नानर्थकम् । इह लङेव यो लङ् तस्य भेजुस् भवति । अतिदेशो मा भूत् । यानु । वानु । “थवित्सेः” [२।४।८९] इत्यनेनापि मुख्यस्य लङो ग्रहणादिह न भवति । विन्यतु । जाग्रतु । विदन्तु ।

द्विपः ॥२।४।९२॥ लटो वेति वर्तते । द्विपः परस्य लटो भेजा जुम् भवति । अदिपुः । अद्विपत । अनिगन्तत्वात् ‘जुसि’ [५।२।८०] इत्येभ्यो भवति ।

मिट्शिद्रः ॥२।४।९३॥ मिटः शितश्च त्या धोर्विहिताः गमजा भवन्ति । भूयो । नति । शीर्षी । शित् । पचमानः । यजमानः । गवशाश्रयो विकरण एव भवति ।

शेषोऽग एव ॥२।४।९४॥ मिट्शिद्रव्यामन्यः शेषः । वारिन्नेवं मिट्शिद्रः शेषोऽग एव भवति । लङिता । लङितम् । लङितवन् । अगमजाश्रयमागम एव च । धोर्विति शेषः । लङुप्ये । श्रीकान्वति । लङ्म्यान् । अङित्वम् । एवकार उदाहरणम् । अगमप्रत्या – ‘वङ्प्रत्ययम्’ [५।१।८१] “गागयो” [५।२।८१] इत्येवमादनः ।

लिट् ॥२।४।६५॥ एवशब्दोऽनुवर्तते । लिङादेशो मिट् अगसज एव भवति । पेचिथ । शेकिथ ।  
 “घोषदेश” [५।१।१०८] इत्यादिनेट् । “सेटि” [४।४।१११] इत्येत्वचखे । गसजासमावेशनिवृत्त्यर्थ-  
 मेवकारोऽभिसंबध्यते । तेरिम इत्यत्र गसजायामसत्या तदाश्रयः शम्न भवति ।

लिङाशिषि ॥२।४।६६॥ एवेति वर्तते । आशिषि यो लिङ् तदादेशश्चागसज एव भवति ।  
 भावे—जागरिषीष्ट । कर्मणि—लविषीष्ट । अगसजाया गाश्रय “लिङोऽनन्त्यसस्त्वम्” [१।१।१३८] इति  
 सस्व न भवति । एवकाराधिकारात् गसंज्ञासमावेशो न भवति । यदि स्याद्यक् प्रसज्येत । आशिषीति किम् ?  
 जागृयात् । जागृयाताम् । जागृयुः ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ द्वितीयस्याध्यायस्य चतुर्थः

पादः समाप्तः । समाप्तश्च द्वितीयोऽध्यायः ।

—:०:—

यत्किञ्चिद्वाङ्मयं लोके सान्त्वयं संप्रतीयते ।

तत् सर्वं भ्रातुर्भिर्याप्तं शरीरमिव भ्रातुभिः ॥

## तृतीयोऽध्यायः

ङ-यान्मृदः ॥३।१।१॥ ङी इति स्वरूपग्रहणम् । आविति ङब्ङापोः सामान्येन ग्रहणम् । मृदिति-  
 सज्ञानिर्देशः “अधु मृत्” [ १।१।५ ] “कृद्धत्साः” [ १।१।६ ] इति । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः आ  
 कपो विधानात् ङयन्तादाबन्तान्मृद्रूपाच्च तद्भवतीत्येव वेदितव्यम् । ननु वक्ष्यमाणास्त्याः “परः” [ २।१।२ ]  
 इति नियमेन परे प्रयुज्यन्ते । धोः परत्वञ्च तव्यादिभिराक्रान्तम् । मिडन्तं च क्रियावाचि सुब्रन्तमपि पद  
 क्रियासापेक्षं क्रियात्वभूतमित्यतः पारिशेष्यान्ङयान्मृद एव भविष्यन्ति । एव तर्हि वाक्यान्मा भूवन् । वृद्धस्य  
 उपगोरपत्यमिति । गुपदभसशाश्च प्रयोजनम् । द्वद्वकारद्वयजादिग्रहणानि च ङ्याम्मृदो विशेषणानि न  
 समर्थव्यभक्त्यन्तस्येत्यधिकारः क्रियते । दु इति मृद्रूपम् । दु—ज्ञानामपत्यमित्यत्र मृद्रूपापेक्षया “वाङ्मृद्वादोः”  
 [ ३।१।१४४ ] इति दुलक्षणः फिज् न भवति । अदुलक्षण एव “फिरदोः” [ ३।१।१४७ ] इति फिर्भवति ।  
 दक्ष्यामपत्यमिति मृद्रूपापेक्षया अदन्तलक्षणः इज् भवति । घटेन तरतीत्यत्र मृदपेक्षया “नौद्व्यचक्षः”  
 [ ३।३।१३१ ] इति “द्व्यजलक्षणः सिद्धः” वाचा तरतीत्यत्र न भवति । मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि  
 ग्रहणमिति सिद्धे ङ्याग्रहणे किम् ? कालितरा । मालितरा । एनिका । हरणिका । परमपि हृत  
 वाधित्वा स्त्रीत्यो यथा स्यात् । अथ “ऋरूपकल्पचेलङ्मुवगोम्रमतहते प्रोऽनेकाचः” [ ४।३।१५५ ] [ करणे ]  
 इति प्रादेशवचनसामर्थ्यादेतल्लभ्यते । एव तर्हि मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि परिभाषेयमनित्येति ज्ञाप्यते ।  
 तेन गोमतीति उगिल्लक्षणो नुम्न भवति । युवतीः पश्येति जिर्न्म भवति । सख्यौ । सख्यः । इति च णिन्  
 भवति । हे भवति भगवति अघवति इत्यत्र “भघद्भगवदघवतो वा रि. काववस्यौः” [ ५।४।३ ] इत्येष विधिर्न  
 भवति । इह त्यग्रहणं न कर्तव्यम् । कथं युवतितरा वामोरुतरा ? हृदन्तत्वाद्युवतिशब्दस्य मृत्सज्ञा, वामोरु-  
 शब्दस्यापि मृदमृदोरुकादेशो मृद्ग्रहणेन गृह्यते । अजादिषु हलन्ताद्याप विधास्यति डापि च टिलेन भवित-  
 व्यमिति एकादेशो नास्ति तस्मात् ङ्याग्रहणं कर्तव्यम् ।

स्वौजसमौट्ठ्ठाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप् ॥ ३।१।२ ॥ ङया-  
 मृदः स्वादपो भवन्ति । उकाराद्यनुबन्धनाशः । अनेन विहिताना स्वादीना “कर्मणीप्” [ १।४।२ ] इत्येव-  
 मादिना विभक्तिनियमः “साधने स्वार्थे” [ १।२।१५३ ] इति वचननियमश्च शतव्य । ङ्यन्तात् कुमारौ ।



कुमार्यौ । कुमार्यः । कुमारीम् । कुमार्यौ । कुमारीः । कुमार्या । कुमारीभ्याम् । कुमारीभिः । कुमार्यै ।  
 कुमारीभ्याम् । कुमारीभ्यः । कुमार्याः । कुमारीभ्याम् । कुमारीभ्यः । कुमार्याः । कुमार्योः । कुमारीणाम् ।  
 कुमार्याम् । कुमार्योः । कुमारीषु । आवन्तात्—माला । माले । मालाः । मालाम् । माले । मालाः ।  
 मालया । मालाभ्याम् । मालाभिः । मालायै । मालाभ्याम् । मालाभ्यः । मालायाः । मालाभ्याम् । मालाभ्यः ।  
 मालायाः । मालयोः । मालानाम् । मालायाम् । मालयोः । मालासु । एवं डावन्तात् । दामावहुराजदधे  
 नेयाः । मृदः—दृपद् । दृपदौ । दृपदः । दृपदम् । दृपदौ । दृषदः । दृषदा । दृषद्भ्याम् । दृषद्भिः ।  
 दृपदे । दृषद्भ्याम् । दृपद्भ्यः । दृषदः । दृषद्भ्याम् । दृषद्भ्यः । दृषदः । दृपदोः । दृपदाम् । दृपदि ।  
 दृषदोः । दृषत्सु ।

स्त्रियाम् ॥३११३॥ स्त्रियामिति प्रकृतिविशेषणम् । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः स्त्रिया वर्तमानान्मृद-  
 स्वार्यै तद्वेदितव्यम् । यदि स्त्रियामभिधेयायामिति स्यात् द्विवहू न स्याताम् । कुमार्यौ कुमार्य इति । एकत्वात्  
 स्त्रीत्वस्य अनेकत्वोत्पत्तिश्च न स्यात् । कालितरा । भावप्रधानत्वात् स्त्रियामिति निर्देशस्य कुमारी देवदेति  
 सामानाधिकरण्यं च न स्यात् । अथापि स्त्रीसमानाधिकरणान्मृद इत्यभ्युपगम्येत एवमपि भूतमिय नारी ।  
 कारणमियं कन्या । आवपनमियमुर्द्ध्वैति । भूतशब्दादिषु स्त्रीत्याः प्रसज्येरन् । तस्मात् स्त्रिया वर्तमानान् मृद  
 इत्येवाधिकृतम् । वक्ष्यति “अजाद्यतष्टाप्” । अजा । देवदत्ता । स्त्रियामिति किम् ? अजो देवदत्तः । शब्दजनित  
 प्रत्ययवर्गाः स्त्रीत्वादय इहाभिप्रेता न वस्तुवर्गाः । अव्याप्तेः । शब्दो हि श्रोत्रपथ गतो लिङ्गसंख्यावन्त सप्रत्यय  
 जनयति स प्रत्ययः । खट्वादिषु रसादिषु अभावादिषु च शब्देषु संभवति ।

अजाद्यतष्टाप् ॥३११४॥ अजादिभ्यः अकारान्तेभ्यश्च मृदः स्त्रिया वर्तमानेभ्यः प्रत्यय ल्यो भवति ।  
 पकारः टाण्डापोः सामान्यग्रहणार्थः । टकारः सामान्यग्रहणविधातार्थः । अन्यथा एकानुबन्धकग्रहणे न  
 द्वयानुबन्धकस्येति विधातः स्यात् । बाधकवाधनार्थमनकारान्तार्थं चाजादिग्रहणम् । अजा । एडका । अशरा ।  
 चटका । मूपिका । “जातेरयोडः” [३११५३] इत्यस्यापवादः । बाला । होढा । पाफा । नत्ता । मन्दा ।  
 विलाता । “वयस्यनन्त्ये” [३११२४] इत्यस्य प्राप्तिः । पूर्वापहाणा । अपरापहाणा । टिह्णक्षणास्वापवादः ।  
 निपातनाण्यत्वम् । “संभस्त्राजिनशणपिण्डेभ्यः फलाट्ठाप्” [वा०] सफला । भस्त्राफला । अजिनफला ।  
 शणफला । पिण्डफला । “सत्प्राक्काण्डप्रान्तशतैकेभ्यः पुष्पाट्ठाप्” [वा०] सत्पुष्पा । प्राक्पुष्पा । काण्डपुष्पा ।  
 प्रान्तपुष्पा । शतपुष्पा । एकपुष्पा । “पाकरुण्यपण्यपुष्कफलमूलवालद्यो” [३११५४] इत्यस्यापवादः ।  
 “शृङ्गाचामहत्पूर्वात् जातिश्चेत्” [वा०] शृङ्गा नाम जातिः । अमहत्पूर्वादिति किम् ? महाशङ्गी । आभीर-  
 जातिरियम् । अमहत्पूर्वादिति शब्दपरस्य महतः आत्वं न भवति । जातिरिति किम् ? शृङ्गस्य भाग्यो शङ्गी ।  
 पुयोगादीकारः । अमहत्पूर्वादिति प्रतिषेधवचनं शपक भवत्यत्र प्रकरणे तदन्तविधिरिति । तेन मृगा ।  
 धीवानमतिक्रान्ता अतिधीवरी । अतिभवती । अतिमहतीति सिद्धम् । कुड्वा । उम्पिहा । देवविशा । “हन्दा-  
 ट्ठाप्” [वा०] ज्येष्ठा । कनिष्ठा । मध्यमा । पुयोगलक्षणा प्राप्तिः । कोकिला जातिः । “मूलान्ताच्च टाप्” [वा०]  
 अमूला । पकारायज्जाप् । शार्कराक्ष्या । पातिमाय्या । गोरुक्ष्या । अतः खल्वपि खट्वा । देवदत्ता । तपस्व्या  
 किम् ? क्षीरपाः स्त्री ।

आवट्यान् ॥३११५॥ आवट्यशब्दादाप् भवति । आवट्यापय न्नी आवट्या । यन इति टीका ।  
 धेरपवादः । पुरन्तादपवादोऽप फट् न बाधकः । आवट्यावन्ती ।

उगिहत्तान्दो ॥३११६॥ टम् इत् इत्येतस्य मृदो वर्गान् वा तस्मात् अट्यान्तेनो नह  
 रान्तेभ्यश्च मृदः स्त्रिया वर्तमानेभ्यो ङी ङो भवति । टमगे “टल्ड्याप्” [३११५६] इत्यस्य प्राप्तिः ।

गोमती । तत्रभवती । पचन्ती । उगिदिति यदीदं त्यग्रहणमेव स्यात् त्यग्रहणे यस्मात् तदादेरिति इह न स्यात् । अतिभवती । निर्गोमती । अथ मृद्विशेषणमेव स्यात् मृद्ग्रहणेन तदन्तविधिरिति तथापीह न स्यात् । अतिमहतीति । तस्मान्नेदं त्यग्रहणमेव; नापि मृद्ग्रहणमेव; अपि त्प्रेकदेशग्रहणमिदम् । उक् इत् यस्यैकदेशस्य तदन्तान्मृद इति । स चैकदेशः त्यो मृद्वर्णश्च सभवति । त्यः । श्रेयसीत्यादि । मृद्-तत्रभवतीत्यादि । वर्णः । पुमासमतिक्राता अतिपुसीति । “पुनातेमुग्मुकौ प्रश्च” इति सकारो वर्ण उगित् । यथागमेपु वर्ण उगिदिति ङीविधिर्विधीयते तुक्यपि प्राप्नोति अग्निचित् कन्येति । उभयोरुकारयोगग्रहणसामान्यदिहैव भवति नान्यत्र । अञ्चतेरूपसंख्यान नियमार्थं कर्तव्यम् । प्राची । प्रतीची । उदीची । धोरुगितः नान्यस्मात् । उखास्तकन्या । ऋकारान्तात् कर्त्री । हर्त्री । नकारान्तात् । दण्डिनी । छत्रिणी ।

वनोऽहशो रश्च ॥३१।७॥ वन इति वनः कनिपश्च ग्रहणम् । अहशान्ताद्यो विहितो वन् तदन्तात् स्त्रिया वर्तमानान्मृदो रेफश्चान्तादेशो भवति ङीश्च । पूर्वेण सिद्धे रेफार्थमिदम् । धयतिपिब्रतिभ्या कनिप् । धीवरी । पीवरी । मेरुद्वरी । कथ शर्वरी ? शृणातेरजन्ताद् वन् । कथमवावरी ? अत्र ओण-तेरगविषय आत्वे कृते वन् । “अनीचः” [३।१।१७] इत्यत्र वक्ष्यति । पूर्वं विधिर्नोऽपि भवति । बहु-धीवरी । अतिधीवरी । अथवा अमहत्पूर्वादित्यत्र तदन्तविधिर्गणितः । अहश इति किम् ? सहयुद्ध्वा स्ती “रञ्जि युधि कुजः” [२।२।८२] “सहे” [२।२।८३] इति कनिप् । “सन्नियोगशिष्टानामन्यतराभावे उभयोरप्यभावः” [परि०] इति रेफादेशाभावे पूर्वेणाप्यत्र ङीत्यो न भवति । एवमर्थश्चकारः क्रियते ।

नेल्स्वस्त्रादेः ॥३१।८॥ स्त्रियामिति वर्तते । इल्सञ्ज्ञेभ्यः स्वस्त्रादिभ्यश्च मृद्भ्यः स्त्रिया यदुक्तं तत्र भवति । पञ्च कुमार्यः । सप्त रोहिण्यः । अथात्रानेन ङीप्रतिषेधे कृते नखे सति अत इति टाप् कस्मान्न भवति । सुबिधौ नखस्यासिद्धत्वात्तदन्तत्वाभावान्न टाप् । कथमय सुबिधिः ? तत्र टापः पकारेण सुपो ग्रहणात् । यद्येव बहुचर्मिकेत्यत्र नखस्यासिद्धत्वात् “त्यस्थे कयापी” [२।१।२०] इति कात्पूर्वस्यात् इत् न स्यात् । एवं तर्हि इहोभौ ङीटापौ प्रतिषिध्येते । उक्तं च—

“इल्संज्ञानामन्ते नष्टे टाबुत्पत्तिः कस्मान्न स्यात् ? प्रत्याहारादापा सिद्धं दोषस्त्वित्त्वे तस्मान्नोभौ ।” स्वस्त्रादिभ्यः-स्वस्त्रा । दुहिता । स्वष्ट दुहितृ ननान्द यात् मात् तिसृ चतसृ ।

मनो डाप् च ॥३१।९॥ ङी इति वर्तते नेति च । मन्तान्मृदः स्त्रिया वर्तमानाङ्गात् भवति ङी-प्रतिषेधश्च । डकारः टिलार्थः । पकारः सामान्यग्रहणार्थः । पामे । पामाः । पामानौ । पामानः । “अनि-नस्मन्ग्रहणवर्धवता चानर्धकेन च तदन्तविधिः” [परि०] सीमे । सीमानौ । सुप्रथिमे । सुप्रथिमानौ । अतिमहिमे । अतिमहिमानौ ।

अनश्च यात् ॥३१।१०॥ अन्नान्ताद् वसात् स्त्रिया वर्तमानाङ्गात् भवति ङीप्रतिषेधश्च । चकारो ङीप्रतिषेधानुर्कर्षणार्थः । अर्थवतोऽनर्थकस्य चानो ग्रहणम् । अनुद्धवतो वसत्येहोदाहरणम् । उद्धवतस्त्रैरूप्य वक्ष्यति । सुपर्वे । सुपर्वाः । सुपर्वाणौ । सुपर्वाणः । नकारान्तत्वाङ्गी प्रसज्येत । वादिति किम् ? अतिक्रान्ता पर्वाणि अतिपर्वणी ।

घोह्ने ॥३१।११॥ अन्नान्ताद्वसात् उहः खे वर्तमानात् डाङ्गीप्रतिषेधो वा भवतः । वावचनाद्यथा-प्राप्ताः । नकारान्तान्ङीविधिः “वनोऽहशो रश्च” [३।१।७] इत्यभ्यनुज्ञायते । बहुराजे । बहुराजाः । बहु-राजानौ । बहुराजानः । बहुराज्यौ । बहुराज्यः । बहुतत्त्वे । बहुतत्ताः । बहुतत्ताणौ । बहुतत्ताण्यः । बहुतत्ताणौ ।

१. उगिदृर्चा धेऽङोः [२।१।४६] इति सूत्र इति शेषः ।

बहुतदणः । बहुधीवे । बहुधीवाः । बहुधीवानौ । बहुधीवानः । बहुधीवर्यौ । बहुधीवर्यः । उक्त इति किम् ? सुपर्वा । सुपर्वाणौ । पूर्वेण द्वैरूप्यम् । अन इत्येव सुमत्स्या नदी ।

डी खौ ॥३१११२॥ खुविपयेऽन्नताद् वसान्डी भवति । अधिराजी नाम ग्रामः । पुनर्डी-ग्रहणं नित्यार्थम् ।

ऊधसः ॥३१११३॥ वादिति वर्तते । ऊधःशब्दान्ताद् वसान्डी भवति । कुण्डमिवोषो यत्ता कुण्डोष्णी । द्वे ऊधसी यस्या द्यूष्मी । निर्गतमूषोऽस्या निरुष्मी “ऊधसोऽनङ्” [३१११३२] इति श्रुतः सान्तः । “वोद्धे” [३११११] इति त्रैरूप्यं प्राप्तम् । स्त्रियामेवानङ् । सान्त इत्येव । इह मा भूत् । मशेषाः । पर्जन्यः । वादित्येव । प्राप्ता ऊधः प्रातोषा गौः । “इषा च प्राप्तापन्ने” [११३१२०] इति षसः । तोः पूर्ववस्तिङ्गं व्याख्यातम् ।

दामहायनात्संख्यादेः ॥३१११४॥ संख्यादेर्वसात् दामान्तात् हायनान्ताच्च डी भवति । द्विदाम्नी । त्रिदाम्नी । “वोद्धे” [३११११] इति त्रैरूप्यं प्राप्तम् । “हायनाद्वयसि स्मृतः” [वा०] द्विहायनी । त्रिहायणी । चतुर्हायणी वत्सा । “त्रिचतुर्भ्यां हायनस्य शत्वमपि वयसीभ्यते” [वा०] तेनेह डीविधिर्ना च न भवति । द्विहायना । त्रिहायना । चतुर्हायना शाला । संख्यादेरिति किम् ? उद्दामा वडवा । “वोद्धे” [३११११] इत्यनेन त्रैरूप्यं भवति ।

पादो वा ॥३१११५॥ पाच्छब्दान्तान्मृदः स्त्रियां वर्तमानाद्वा डी भवति । द्विपात् । द्विपरी । त्रिपात् । त्रिपदी । “सुसंख्यादेः” [३१११४०] इति पादशब्दस्य खम् । पादयतेः क्तिनाम् प्रयोगो नास्ति ।

टावृचि ॥३१११६॥ पाद इति वर्तते । पाच्छब्दान्तान् मृदष्टाच् भवति ऋच्यभिधेयायाम् । द्विपदा ऋक् । त्रिपदा ऋक् । ऋचीति किम् ? द्विपदी देवदत्ता ।

अनीचः ॥३१११७॥ न्यक्छब्दोऽत्राप्रधानवचनो नञ्पूर्वः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामोऽनीच इत्येवं तद्वेदितव्यम् । नीचो ऽद्यादयो न भवन्तीत्यर्थः । वक्ष्यति “टिङ्गाण्यञ्” [३१११८] इति । कुचरी । मद्रचरी । “जातेरयोडः” [३१११३] । कुक्कुटी । शूकरी । अनीच इति किम् ? बहुकुचरा । बहुकुचरा मधुरा । ननु पूर्वत्र समुदायः स्त्रिया वर्तते नावयवः । अवयव एव च टिङ्ग समुदायः । द्वितीयेऽपि वगे न समुदायः जातिवाचीः किं त्ववयवः, तत्कथं प्राप्तिः ? इदमेव त्रापक भवत्यत्र प्रकरणे तदन्तविधिरिति । तत्रादि प्रधानभूतेन तदन्तविधिः कुम्भकारी देवदत्तकुक्कुटी । यद्येव पूर्वमेवेदं सूत्रं वक्तव्यम् । इह करणात् पूर्वा विधिर्नीचोऽपि भवतीति ज्ञाप्यते । बहुधीवरी बहुधीवरीति ।

टिङ्गाण्यञ्ठण्वक्करपः ॥३१११८॥ अत इति वर्तते । टित् ट अण् अञ् ठण् ठञ् क्ता इत्येवमन्तेभ्यः स्त्रिया डी भवति । टापोपवादः । “अनीचः” [३१११७] इत्यधिकारात् प्रधानेन तदन्तविधिः कृतः । कुचरी । मद्रचरी । “कृद्ग्रहण तिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्” [परि०] न मन्तव्यम् । इह ट्ठण्ठण् ग्रहणात् । ट-सौपर्य्यौ । वनतेयी । “शिष्टाया ट्” [३१११३६] इत्यस्य निरनुक्तव्यस्य स्त्रियामभिधानं नास्ति । अण्-कुम्भकारी । औभगवी । कय चुयशीला चैरी । तय-शीला तापयी । गेऽण्यण्ठण्ठण् नास्ति । वक्ष्यति । अञ्-औसी । वरी । ठण्-लाङ्गिनी । गेचनिमी । ठञ्-पागण्य वर्त्यति पागण्यमी । प्राक्वतेष्टञ् । कण्-द्वयी । नक्षरी । अनीच इति । बहुकुचरा । मृदुप्रभृतीनां कृद्ग्रहणम् । टिङ्गण्यण्यञ्ठण्वक्करपः । तत्रादि प्रधानभूतेन तदन्तविधिः कुम्भकारी देवदत्तकुक्कुटी । यद्येव पूर्वमेवेदं सूत्रं वक्तव्यम् । इह करणात् पूर्वा विधिर्नीचोऽपि भवतीति ज्ञाप्यते । बहुधीवरी बहुधीवरीति ।

यजः ॥३१११६॥ यजन्तान्मृदः स्त्रिया ङी भवति । गार्गी । वात्सी । “हलो हतो ङ्याम्” [४।४।१४०] इति यज्ञस्य खम् । “द्वीपादनुसमुद्देश्यज्” [३।२।१३०] इति अयज् । द्वयनुबन्धकः । तस्येहामहणम् । द्वीवे भवा द्वेया । योगविभाग उत्तरार्थः ।

फट् ॥३११२०॥ यज इति वर्तते । यजन्तान्मृदः स्त्रिया फडित्य त्यो भवति । टकारो ङ्यर्थः । अथ गार्ग्यायणी इति स्थिते फटो ह्रस्वश्च विरहात् “कृद्धृत्साः” [१।१।१६] इति मृत्संज्ञा नास्ति । कथं ङीविधिः ? टित्करणसामर्थ्यात् भविष्यति । गार्ग्यायणी । वात्स्यायनी । आबट्यायनी । वचनात्पूर्वाऽपि विधि- भवति । गार्गी । वात्सी ।

लोहितादिसकलान्तात् ॥३११२१॥ यज इति वर्तते । लोहितादिर्गार्गादिष्वन्तर्गणः । लोहितादिभ्यः सकलशब्दपर्यन्तेभ्यो यजन्तेभ्यः स्त्रियां फट् त्यो भवति । पुनरारम्भो नित्यार्थः । तेन फडेव भवति । “यजः” [३।१।१६] इत्यनेन ङीः प्राप्ते निवर्त्यते । लौहित्यायनी । सास्त्रियायनी । बाभ्रव्यायणी । सौक्ष्म्यायणी । साचव्यायनी । लान्तव्यायनी । जैगीषव्यायणी । मानव्यायनी । मातव्यायनी । मनायीशब्दस्य पाठसामर्थ्यात् “भस्य ह्रस्वदे” [ वा० ] इति पुक्क्यावो न भवति । मानाव्यायनी । काव्यव्यायनी । रौक्ष्यायणी । तारुक्ष्यायणी । तालुक्ष्यायणी । तारुक्ष्यायनी । वातरुक्ष्यायनी । आङ्गिरसे तु वतरुक्ष्यायणी भवति । काप्यायनी । शाकत्यायनी । शाकत्यायनी ।

कौरव्यासुरिमारुकात् ॥३११२२॥ कौरव्य आसुरि मारुक् इत्येतेभ्यः फट् भवति । कौरव्यायणी । यप्राप्त । अ आसुरीति प्रश्लेषनिर्देशात् अकारश्चान्तादेश आयनादेशो ( शे ) न स्वेको दीर्घार्थः । अट्त्वाद् “यस्य ङ्यां च” [४।४।१३६] इति ह्रस्व प्राप्नोति । आसुरायणी । “इतो मनुष्यजातेः” [३।१।५५] इति ङीत्य प्राप्ते । मारुक्कल्यापत्य स्त्री मारुक्कायनी । “ढञ्च मण्डकात्” [३।१।१०८] इत्यण् ङी प्रसज्येत । “तस्येदम्” [३।३।८८] इत्यणि विवक्षिते कौरवीति भवति । शैषिकार्थविवक्षाया “इजः” [३।२।८८] इत्यणि प्राप्ते “दोश्च” [३।२।६०] इत्येते । आसुरिणा प्रोक्ता आसुरीया शिद्धा ।

गौरादेः ॥३११२३॥ गौरादिभ्यः स्त्रिया ङी भवति । गौरी । वर्णत्वे बहुल ङीप्राप्तेः संज्ञायामप्राप्तेः । गौर मत्स्य मनुष्य शृङ्ग गवय इय मुक्य ऋष्य ‘शयोढः’ [३।१।५३] इति ङीप्रतिषेधः प्राप्तेः । शृङ्गाष्टाप् प्राप्तेः । एवमुत्तरत्राप्युदात्तम् । पुट पट् डण् द्रोण हरिण ककण अरीहण वट उर्कण आमलक कुवल चदर वित्त्व ( वल्लक ) दिग्ध कर्कर तर्कार शर्कार शष्कण्ड शयल सुपव पाण्डशो केषाञ्चित् । सालन्द ( सलद ) गडुल पडुश आटक आनन्द सपाट शप्कुल सूर्य पूष मूष धातक सल्लक मालक मालत साल्वक वेतस वृत् ( वृस ) हतस उमा ( उमय ) भृङ्ग मह मठ छेद स्वन तदन् अनडुही अनड्वाही । एषणात्कारणे कारके । देहमेथकाका- दनगवादिनादय । यान मेघ गौतम ( गोतम ) अयत्यूण भौरिकि भौलिकि भौलिङ्गि औद्गाहमानि आलम्बि आंयामक आलन्धि आपाव्याङ्ग ( आपन्चिक ) ऊपस्तर्च ( ? ) आरट टोट नट मूलाट आसुरण ( आस्तरण ) अधिकार प्रत्यवारोहिणी आग्रहायणी । अग्रहायनस्य स्वार्थे अण् णत्व च निपात्यते । सेचनी । सुमगलात्कशायाम् । सुन्दर मण्डल मन्यर मन्दुल पेट ( पट, पिट ( विट ) पिण्ड ऊर्द गूर्द सूर्द । केषाञ्चित् रेफा- त्तरे मकार । सुर्म हर्द भाण्ड लोहाण्ड कदर कन्दर वदल कन्दल तरुण तलुन सौधर्म । रोहिणी रेवती च नक्षत्रे । विकल निष्कल पुष्कल । कट्यङ्गोण्याम् । पिप्पल्यादयश्च । पिप्पली हरीतकी कोशातकी शमी करीरी

१. सांक्षिप्यायनी सु० । २. ऋष्य अ० । ३. त्राऽप्यभ्यूहम् अ०, व०, स० । ४. पद सु० । ५. उदात्त सु० । ६. ण्डुश अ० । पटुस द० । ७. शपामक व० । आपामक स० । ८. ऊपस्तर्च व० । ९. प्रत्यवारोहिन् सु० । १०. आग्रहायण सु० ।

पृथिवी क्रोष्टु मातामह पितामही एही पर्येही आश्मरथ्यात्फट् प्राप्तः । काव्या शैव्या एतौ व्याप्तौ । आरोह चण्ड । “नृनरयोरैप् च” [ वा० ] नारी । येऽत्रानहुहीप्रभृतय ईकारान्ताः पठ्यन्ते तेषां से पुवद्भावनो न भवति । अनहुहीभार्यः । प्रत्यवरोहिणीभार्यः । आग्रहायणीभार्यः । इति ।

वयस्यनन्त्ये ॥३१।२४॥ प्राणिनां कालकृता शरीरावस्था वयः । वयस्यनन्त्ये वर्तमानान्मृदः त्रिधा डीत्यो भवति । कुमारी । किशोरी । वर्करी । वधूटी । चिरण्डी । तरुणी । तलुनी । अनन्त्य इति किम् ? स्थविरा । वृद्धा । “कन्यायाक्कनीन च” [३।१।१०५] इति निपातनात् कन्या । अत इत्येव । शिशुः । उत्तन-शया । लोहितपादिका । द्विवर्षा । नैते साक्षाद्वयोवाचिनः शब्दाः । अथवा द्विवर्षादिषु “परिमाणाद्दृष्टुपि” [३।१।२६] इत्येतस्मान्नियमान्न भविष्यतीति ।

रात् ॥३१।२५॥ रसञ्जकान्मृदः स्त्रिया डीत्यो भवति । अकारान्तोत्तरपदो रः स्त्रियां भाष्यते । पञ्चाना पूलाना समाहारः पञ्चपूली । दशपूली । अन्नन्तस्य रसस्य खं स्त्रिया चेति पञ्चपत्नी दशतत्नी । पञ्चाजी । अजादिष्वजशब्दो जातिवचनोऽभिप्रेतः । कथं त्रिफला ? अजादिषु पाठात् ।

परिमाणाद्दृष्टुपि ॥३१।२६॥ सर्वतो मानं परिमाणम् । परिमाणान्ताद् रात् ह्रदुपि सति डीत्यो भवति । द्वाम्या कुडवाम्या क्रीता आर्होयस्य त्यस्य “रादुबलौ” [३।४।२६] इत्युप् । द्विकुडवी । द्वयादकी । “रात्” [३।१।२५] इति सिद्धे नियमार्थोऽयम् । यतः परिमाणादेव ह्रदुपि नान्यतः । पञ्चभिरश्वैः क्रीता पञ्चाश्वा । दशाश्वा । तुल्यजातीयस्य नियमान्नवृत्तिः । समाहारे भवत्येव । पञ्चाश्वी । परिमाणादिति योगवियोगः कर्तव्यः । तत इष्टतोऽवधारणं लभ्यते परिमाणशब्देनेह रुदिवशात् प्रस्थादिर्गृह्यते । कालसंख्ययोरग्रहणम् । तेन द्विवर्षा । त्रिवर्षा । द्विशता । त्रिशता । द्वे वर्षे प्रमाणमस्याः “प्रमाणे ध्वंसनं राच्च” इति द्वयसडादीनामुप् । उक्तं च- “ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः । आयाजस्तु प्रमाणं स्यात् सख्या बाह्या तु सर्वतः” ।

न विस्ताचितकम्बल्यात् ॥३१।२७॥ विस्त आचित कम्बल्य इत्येवमन्ताद् रात् ह्रदुपि डीत्यो न भवति । विस्तादीना परिमाणत्वात् सर्वेण प्राप्तिः-द्वाम्या विस्ताम्या क्रीता द्विविस्ता । त्रिविस्ता । द्व्याचिता । त्र्याचिता । द्विकम्बल्या । त्रिकम्बल्या ।

काण्डात् क्षेत्रे ॥३१।२८॥ काण्डशब्दान्तात् रात् ह्रदुपि सति क्षेत्रेऽभिधेये डीत्यो न भवति । द्वे काण्डे प्रमाणमस्या द्विकाण्डा त्रिकाण्डा क्षेत्रभक्तिः । “प्रमाणेण्द्वयसङ्घन मात्रटः” [३।४।५८] इत्यागताना द्वयसडादीना प्रमाणे ध्वंसनं राच्चेति वक्ष्यमाणथा इष्टया उप् । काण्ड धनु । तस्य परिमाणशब्देनाग्रहीतमतः “परिमाणाद्दृष्टुपि” [३।१।२६] इत्यनेन नियमेन प्रतिषेधे सिद्धे नियमार्थमिदम् । क्षेत्र एव प्रतिषेधो भवति नान्यत्र । द्विकाण्डो । त्रिकाण्डो रज्जुः । “रात्” [३।१।०५] इति डीविधिः ।

पुरुषात्प्रमाणे वा ॥३१।२९॥ ह्रदुपीति वर्तते । प्रमाणे यो वर्तते पुरुषशब्दस्तदन्ताद्वा ह्रदुपि वा डीत्यो भवति । द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्या खातायाः द्वयसडादीना “प्रमाणे ध्वंसनं राच्च” इति उप् । द्विपुरुषा । त्रिपुरुषा । अपरिमाणत्वात्पुरुषस्य “परिमाणाद्दृष्टुपि” [३।१।२६] इति नियमो निवर्तितो ऽपीत्यो विकल्पते । प्रमाण इति किम् ? द्वाम्या पुरुषाम्या क्रीता द्विपुरुषा । ह्रदुपीति । समा-हारे पञ्चपुरुषा ।

गुणोक्तेस्तोऽखरस्फोटः ॥३१।३०॥ वेति वर्तते । गुणोक्तेर्मृद उकारान्ताद् वा ङीत्यो मा-खरशब्दं स्तोऽं च वर्जयित्वा । यः शब्दो गुणे वर्तन्ता द्वये वर्तते स गुणोक्तिर्गुण्योः । पटुः । पटी । मृदुः । मृद्वी । गुणोक्तिरिति किम् ? अणुः । स्फटिश्चोऽनम् । उत इति किम् ? गुणित्वं कृता । अखरस्फोट इति किम् ? खरमित्य कन्या । स्फोटमित्य कन्या । “मन्त्रे निविदनेऽपि पृथग्विधिः स्यादेति ।

साधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिगुणः ।” सत्त्वं द्रव्यं तत्र निविशते उत्पद्यते आश्रयति वा स गुण इति सवधः । द्रव्यादपैति अपगच्छति यथाप्रात् हरिता पीततायां उत्पन्नायाम् । पृथग्जातिषु दृश्यते, यथा सेव हरिता तरुणतृणेषु । आधेयः उत्पाद्यः, यथा कुसुमयोगात् गन्धो वस्त्रे, यथा वा घटे रक्तता । अक्रियाजश्च क्रियाजश्च क्रियातो नोत्पद्यते यथाऽऽकाशादिषु महत्त्वादि । चकारात् क्रियाजश्च यथा सयोगो विभागो वा असत्त्वप्रकृतिर्द्रव्यस्वभावरहितो निर्गुण इत्यर्थः ।

वह्नादेः ॥३१॥३१॥ वेति वर्तते । बहु इत्येवमादिभ्यश्च मृद्भ्यः स्त्रिया वा ङीत्यो भवति । बहुः । बह्वी । पद्धतिः । पद्धती । बहु पद्धति अञ्चति अद्भति अहति शकटि शक्ति । केचिच्छस्त्रेऽर्थे शक्ति पठन्ति । सामर्थ्ये शक्तिरेव तेषाम् । शस्ति शारि राति राधि शाधि अहि कपि मुनि यष्टि । किमर्थमिकारान्ताः पठ्यन्ते । यावता कृदिकारादह्नेरित्येव सिद्धे पद्धतिशब्दान्न स्यात् इतरेभ्यश्चाव्युत्पत्तिपत्तः “इतः प्राण्यङ्गात्” [ग०] श्रोणिः श्रोणी । धमनिः । धमनी । इत इति किम् ? ग्रीवा । प्राण्यङ्गादिति किम् ? कौणिः । साणिः । “कृदिकारादह्नेः” [ग०] भूमिः । भूमी । अह्नेरिति किम् ? कृतिः । हृतिः । अत्त्यर्थावि(दि)त्येके । इहापि मा भूत् । अकरणिर्हन्ते ते वृषल । कृदिकारादिति किम् ? सुगन्धिः । सुरभिगधिः । स्त्रीहृतो न भवति । व्युत्पत्तिपदे कृदिकारस्यैव पूर्वः प्रपञ्च । चण्ड अगल कमल कृपण विकट विशाल विशङ्कट भरण । चन्द्रभागानद्याम् । कल्याण उदार पुराण । अहःशब्दस्येह पाठोऽनर्थकः । केवलस्य स्त्रियामवृत्तेः । सविधौ तु उत्तरपदभूतस्य “बोद्ध्वे” [३१॥३१॥] इत्यनेनैव त्रैरूप्य सिद्धम् । बहुशब्दस्य गुणवाचित्वात्पूर्वेष्वैव विकल्पे सिद्धे द्विवदं सुबद्ध भवतीति पुनर्ग्रहणम् । तेन सकृदुक्तो अणन्तान्ङीविधिः । कचिन्न भवति । कामिकेति ।

पतिवत्त्यन्तर्वत्त्यौ ॥३१॥३२॥ पतिवली अन्तर्वली इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । पतिमच्छब्दस्य ङीत्ये परतः मतोर्वत्तनुमागमश्च निपात्यते । जीवति भर्तरि पतिवली । जीवत्यतिरित्यर्थः । अन्यत्र पतिमती पृथिवी । अन्तःशब्दादधिकरणप्रधानात् अस्तिसामानाधिकरण्याभावात् विहितो मतुर्नुक् च निपात्यते गर्भिण्याम् । अन्तर्वली गर्भिणी । अन्यत्र अन्तरस्यामस्ति शालायाम् । उक्तं च—“पतिवत्त्यां नुका वरवमन्तर्वत्त्यां मतु-नुका । जीवत्पत्यां च गर्भिण्यां यथासङ्ख्यं निपात्यते ॥”

पत्नी ॥३१॥३३॥ पत्नीति निपात्यते । पतिशब्दस्य स्त्रिया नकारोऽन्तादेशः पुयोगे निपात्यते ङीत्यो नकारान्तत्वादेव भवति । इयमस्य पत्नी । अस्य पुसः वित्तस्य स्वामिनीत्यर्थः । पुयोगादन्यत्र पतिरियमस्य ग्रामस्य ।

सपत्न्यादौ ॥३१॥३४॥ सपत्न्यादिषु पत्नीशब्दो निपात्यते “वा से” [३१॥३५] इति विभाषया पत्नीशब्दस्य निपातने प्राप्ते नित्यार्थं वचनम् । समानः पतिरस्याः सपत्नी । यद्येव पत्नीति वर्तते समानादिभ्य इति वक्तव्ये सनकारेकारस्य समुदायस्योच्चारणं किमर्थम् ? समानशब्दस्य सभावार्थम् । इकारापायेऽपि नकार-ध्वण्यर्थं च । सपत्न्या. अयं सपत्न्यः । कृतेकारस्योच्चारणं पुवद्भावप्रतिषेधार्थमित्येके । सपत्नीभार्यः । एवं एकपत्नी । वीरपत्नी । पिण्डपत्नी । पुत्रपत्नी । भ्रातृपत्नी ।

घा से ॥३१॥३५॥ से पत्नी वा निपात्यते । पतिशब्दान्तस्य मृदः स्त्रिया वा नकारोऽन्तादेशो निपात्यते । वसे पसे चेद निपातनम् । अनीच इति नाभिसम्बध्यते । गृह्यमाणस्य शब्दस्याभावात् । वसे-दट. पतिरस्या दटपतिः । दटपत्नी । स्थिरपतिः । स्थिरपत्नी । वृद्धपतिः । वृद्धपत्नी । स्थूलपतिः । स्थूलपत्नी । पसे ग्रामस्य पतिः ग्रामपतिः । ग्रामपत्नी । अप्राप्ते विकल्पोऽयम् । पुसा योगे पत्नीति नित्य निपातनम् । तेन पत्नीशब्देन तावे राजगलीत्येव भवति । स इति किम् ? पतिरियमस्य ग्रामस्य ।

घर्णाद्यहुलं तो नस्तु ॥३१॥३६॥ वर्णवाचिनो मृदः स्त्रिया बहुलं ङीत्यो भवति तकारस्य तु नकार-रदेशः । तुशब्दः किमर्थः ? बहुलं ङीविधिर्भवति तकारस्य तु नकारो नित्यं यथा स्यादित्येवमर्थः । एता ।

एनी । स्येता । स्येनी । रोहिता । रोहिणी । हरिता । हरिणी । शवली । पिशङ्गी । कल्माषी । सारङ्गी । काली संज्ञाया वर्णे च । काला अन्या । क्वचिदप्रवृत्तिरेव श्वेता । असिता । पलिता । कृष्णा । कपिला । क्वचिदुभयथा । शोणी । शोणा । वडवा । नीली औषधिः । प्राणिनि च नीली वडवा । नीली गौः । संज्ञायामुभयम् । नीली । नीला । आच्छादने न भवत्येव । नीला शाटी । नीला मेघसहतिः । वर्णादिति किम् । कृता । हृता । अत इत्येव । सितिः कन्या ।

कुण्डगोणस्थलभाजनागकुशकामुककवरादत्रमावपनाकृत्रिमाश्राणास्थौल्यायोविकारमै-  
थुनेच्छाकेशवेशेषु ॥३१॥३७॥ कुण्डादिभ्यः कवरशब्दपर्यन्तेभ्योऽमत्रादिष्वर्थेषु यथामख्य न्न्या डीत्यो  
भवति । कुण्डी भवति अमत्रं चेत् । कुण्डा अन्या । दाह इत्यर्थः । गोणी भवति आवपन चेत् । गोणा  
अन्या । संज्ञैषा । स्थली भवति अकृत्रिमा चेत् । स्थला अन्या । भाजी भवति श्राणा चेत् । भाजा अन्या ।  
भाजयतेः स्त्रिया युचि प्राप्ते अत एव निपातनादकारः । नागी भवति स्थौल्य चेत् । नागा अन्या ।  
तन्वी दीर्घा वा । संज्ञाया वा । नातिविवक्षायां तु नित्यं डो । कुशी भवति अयोविकारश्चेत् । कुशा अन्या ।  
काष्ठादिमयी तदाकृतिः । कामुकी भवति मैथुनेच्छा चेत् । कामुका अन्या । कवरी भवति केशवेशश्चेत् ।  
कवरा अन्या ।

पुंयोगात् खोरगोपालकादेः ॥३१॥३८॥ अत इति वर्तते । पुयोगाद्धेतोर्यः शब्दः स्त्रिया वतो  
खुभूतस्तस्मान्डीत्यो भवति गोपालकादीन् वर्जयित्वा । उपाध्यायस्य स्त्री उपाध्यायी । गणकी । प्रग्री । मरा-  
मात्री । एते संज्ञाशब्दा पुयोगात् स्त्रिया वर्तन्ते । पुयोगादिति किम् ? देवदत्ता । खोरिति किम् ? प्रख्याता ।  
प्रजाता । परिभ्रष्टा । पुयोगादेते शब्दाः स्त्रिया वर्तन्ते, न तु पुंसि सजाभूताः । अगोपालकादेरिति किम् ?  
गोपालिका । पशुपालिका । आदिशब्दः प्रकारवाची । तेन सूर्यादेः ताया डीर्णं भवति । सूर्यस्य भार्या सूर्या ।  
देवतायामिति किम् ? सूर्या नाम मनुष्यः तस्य सूर्येति ।

पूतक्रतोरे च ॥३१॥३९॥ पुंयोगादिति वर्तते । पूतक्रतुशब्दान्डीत्यो भवत्येकारश्चान्तादेशः ।  
पूतक्रतोः स्त्री पूतक्रतायी । पुयोगादित्येव । पूताः क्रतवो यस्याः सा पूतक्रतुः ।

वृषाकप्यग्निकुसितकुसीदात् ॥३१॥४०॥ ऐ चेति वर्तते पुयोगादिति च । वृषाकपि अग्नि  
कुसित कुसीद इत्येतेभ्यः स्त्रिया डीत्यो भवति ऐकारश्चान्तादेशः । वृषाकपयी । अग्नयायी । कुसितायी ।  
कुसीदायी । कुसितकुसीदयोः संज्ञाशब्दत्वात् पूर्वण्येव सिद्धेऽपेकारार्थं वचनम् । पुयोगादित्येव । वृषा  
पिर्नाम काचित् ।

मनोरौ च ॥३१॥४१॥ पुयोगादिति वर्तते । औकारश्चान्तादेश ऐकारश्च । मनोः स्या मनारी ।  
मनायी । केपाञ्चिन्मनुस्त्वपि ।

वरुणभवशर्वरुद्रेन्द्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक् ॥३१॥४२॥ वरुणादिभ्यः  
मृद्वयो स्त्रिया डीत्यो भवति आनुगागमः । अत्र केपाञ्चिच्छब्दानां पुयोगादित् सिद्धेऽप्यनुगार्थं ग्रहणम् । वरु-  
णानी । भवानी । शर्वाणी । रुद्राणी । मृडानी । 'हिमारण्ययोमेद्वन्' [वा०] मरुदिमं हिमानी ।  
महदरण्यमरणानी । 'यवाद्योपे' [वा०] सदापो यवः यवानी । 'यवनादिभ्याम्' [वा०] यवानां स्त्रिया  
यवनानी । उपाध्यायमातुलाभ्यां वा । आनुक एवात्र विकृतः । उपाध्यायी । उपाध्यायानी । मातुनी । मातुनी ।  
'आचार्यादण्यं च' [वा०] आचार्यानी । आचार्या । 'आर्यश्चस्त्रियाभ्यामनुयाते वेति वदध्यम्' [१०]

आर्याणी । आर्या । क्षत्रियाणी । क्षत्रिया । अप्रयोग इति किम् ? आर्यस्य भार्या आर्या । क्षत्रियस्य भार्या क्षत्रियो । आनुगति द्विमानोच्चारणमिष्टिसग्रहार्थम् ।

क्रीतात्करणादेः ॥३१॥४३॥ क्रीतशब्दान्तान्मृदः करणादेः स्त्रिया डीत्यो भवति । वत्सेण क्रीयते या वत्क्रीती । वसनक्रीती । “साधनं कृता बहुलम्” [१।३।२६] इत्यत्र गृहलवचनाल्लब्धम् । “तिवाधारकार्णा कृद्भिः सविधिः प्राप्सुवुत्पत्तेः” [परि०] इति करणवाचिशब्दस्य क्रीतशब्देन सविधिः । पश्चादकारान्तलक्षणो डीविधिः । करणादेरिति किम् ? सुक्रीता । दुष्क्रीता । “इदुदुडोऽय्यपुम्मुसः” [१।४।२८] इति सत्त्वपत्ते । कथं “सा हि तस्य धनक्रीता प्राणेभ्योऽपि गरीयसी” बहुलवचनान्न । सुवन्तेन वृत्तिर्न कृदन्तेन । सुवुत्पत्तिश्च बहिरङ्गा अन्तरङ्गे यपि कृते भवतीति सिद्धम् । क्रीतान्तान्मृद इति विशेषणात् वाक्ये न भवति, व्रत्येन ( वित्तेन ) क्रीता ।

क्तादल्पे ॥३१॥४४॥ करणादेरिति वर्तते । करणादेर्मृदः क्तान्तादल्पे डीत्यो भवति । अत्रापि प्राक् सुवुत्पत्तेः सविधिः । अभ्रविलिप्ती द्यौः । अल्पान्यस्यामभ्राणीत्यर्थः । रूपविलिप्ती पात्री । अल्प इति किम् ? चन्दनानुलिप्ता ।

जातेर्वात् ॥३१॥४५॥ क्तादिति वर्तते । जातिशब्दपूर्वः क्तान्तो यो वसस्तस्मान्डीत्यो भवति । अस्वाङ्गादेस्तत्तरत्र विकल्पो वक्ष्यते । स्वाङ्गे पूर्वपदमिहोदाहरणम् । शङ्खौ भिन्नौ यस्याः सा शङ्खभिन्नी । उरुच्छिन्नो । गलकोत्कृत्ती । केशलूनी । जातेरिति किम् ? मासजाता । बहुजाता । अजाता । सुखजाता । दुःखजाता । वादिति किम् ? सव्यजानुप्रतिष्ठिता । “जातान्तात्प्रतिपेधो वक्तव्यः” [वा०] दन्तजाता । स्तनजाता । “पाणिगृहीत्यादीनां गुर्वनुज्ञातेन ङी वक्तव्यः” [वा०] पाणिगृहीती भार्या । यस्यास्तु यथाकथाञ्चत् पाणिगृहीतः सा पाणिगृहीता । त इति दतोक्त ( त इत्यत्रोक्त ) जातिकालमुखादिभ्यः परनिपातस्तान्तस्यैव जातिरत्र सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या ।

वाऽस्वाङ्गादेः ॥३१॥४६॥ क्तादिति वर्तते वादिति च । अस्वाङ्गादेः क्तान्ताद्वसाद् वा डीत्यो भवति । सारङ्ग जग्धमनया सारङ्गजग्धी । सारङ्गजग्धा । पलाण्डुभञ्जिती । पलाण्डुभञ्जिता । सुरापीती । सुरापीता । अस्वाङ्गादेरिति किम् ? शङ्खभिन्नी । स्वाङ्गादेः पूर्वेण नित्यो विधिः । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेनेह न भवति । वल्ल लक्ष्मस्याः वल्लच्छन्ना । वसनच्छन्ना । पथेऽपि सञ्जाया विकल्पः । प्रवद्धविलूनी । प्रवद्धविलूना ।

स्वाङ्गान्नोचोऽस्फोडः ॥३१॥४७॥ वेति वर्तते । स्वाङ्ग न्यक् अस्फोड् यत् तदन्तान्मृदो वा डीत्यो भवति । दीर्घकेशी । दीर्घकेशा । गौरमुखी । गौरमुखा । स्वाङ्गादिति किम् ? बहुयवा । अस्फोड इति किम् ? कल्याणगुल्फा । कल्याणपाशर्वा । वेति व्यवस्थितविभाषा व्याख्याता । तेन ‘अङ्गगान्नकण्ठेभ्यो वा प्रतिपेधः’ [वा०] मृदङ्गी । मृदङ्गा । मृदुगात्री । मृदुगात्रा । स्निग्धकण्ठी । स्निग्धकण्ठा । वसाधिकारे पुनर्न्यगप्र-  
हण पाथम् । अतिकेशी । अतिकेशा । निष्केशी । निष्केशा माला । इह कस्मान्न भवति ? कल्याण पाणिपा-  
दमस्याः कल्याणपाणिपादा । स्वाङ्गसमुदायः स्वाङ्गग्रहणेन न गृह्यते । किं स्वाङ्गम् ? “अद्रवं मूर्तिमस्त्वाङ्ग  
प्राणिस्थमविकारजम् । अतस्थ तत्र दृष्ट चेत् तस्य चेत् तत् तथायुतम् ।” स्वाङ्ग मुखादि । अद्रवामिति किम् ?  
बहुकषा । मूर्तिमदिति किम् ? बहुजाना । प्राणिस्थमिति किम् ? श्लक्ष्णमुखा शाला । अविकारजमिति किम् ?  
बहुशोफा । अतस्थ तत्र दृष्ट च प्राक् प्राणिनि दृष्ट सप्रत्यप्राणिस्थमपि स्वाङ्गम् । दीर्घकेशी । दीर्घकेशा  
रस्या । तस्य चेत् तत् तथायुतम् येन प्रकारेण प्राणिनो युतं दृष्ट तस्याप्राणिनोऽपि यदि तत्तथायुत दृश्यते  
एवमपि स्वाङ्गम् । दीर्घमुखी दीर्घमुखा अर्चा ।



नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गात् ॥३१।४८॥ स्वाङ्गान्नीच इति वर्तते वेति च । नासिका  
दयो ये न्यञ्चस्तदन्तान्मृदो वा ङीत्यो भवति । दीर्घनासिका । दीर्घनासिका । तनूदरी । तनूदरा । विम्बोष्ठी ।  
विम्बोष्ठा । “ओत्वोष्ठयोर्वा से पररूपमुपसंख्यास्यते” [वा०] समजङ्घी । समजङ्घा । समदन्तो । समदन्ता ।  
चारुकर्णा । चारुकर्णा । तीक्ष्णशृङ्गी । तीक्ष्णशृङ्गा । नासिकोदरयोः “बह्वचः” [३१।४९] इत्यनन्तरे  
प्रतिषेधे प्राप्ते ग्रहणम् । सहनञ्चिद्यमानलक्षणस्तु प्रतिषेधो भवत्येव । शोषाणामस्कोड इति पूर्वस्मिन् प्रतिषेधे  
प्राप्ते उपादानम् । सहादिप्रतिषेधस्तु भवत्येव । “पुच्छाच्चेति वक्तव्यम्” [वा०] दीर्घपुच्छी । दीर्घपुच्छा ।  
“कवरमणिशरविषेभ्यो नित्यमिति वक्तव्यम्” [वा०] कवर पुच्छमस्याः कवरपुच्छी । मणिः पुच्छेऽस्याः  
मणिपुच्छी । विषं पुच्छेऽस्याः विषपुच्छी । “ईद्विशेषणे वे” [१।३।१०१] इत्यत्र खङ्गादिभ्यः ईद्वन्तस्य  
परवचनमुक्तम् । “उपमानात् पक्षपुच्छाभ्यामिति वक्तव्यम्” [वा०] उलूक इव पक्षावस्याः उलूकपक्षी शाला ।  
उलूक इव पुच्छमस्या उलूकपुच्छी सेना ।

न क्रोडादिवह्वचः ॥३१।४९॥ क्रोडादिर्गणः । क्रोडाद्यन्तात् बहुजन्ताच्च मृदो ङीत्यो न भाति ।  
“स्वाङ्गान्नीचः” [३१।४७] इति प्राप्तिः । क्रोडाशब्दः स्त्रीलिङ्गः । कल्याणी क्रोडा अस्याः कल्याणक्रोडा ।  
कल्याणगोला । कल्याणवाला । कल्याणखुरा । कल्याणशफा । कल्याणगुदा । क्रोडादिराकृतिगणः । सुभगा ।  
सुगला । बह्वचः खल्वपि । पृथुजघना । दृढहृदया । महललाटा ।

सहनञ्चिद्यमानात् ॥३१।५०॥ सह नञ् विद्यमान इत्येतेभ्य उत्तरं यत्स्याङ्गं तदन्तात्  
ङीत्यो न भवति । सकेशा । अकेशा । विद्यमानकेशा । सनासिका । अनासिका । विद्यमाननासिका । सुदन्ता ।  
अदन्ता । विद्यमानदन्ता ।

नखमुखात्खौ ॥३१।५१॥ नख मुख इत्येवमन्तान्मृद खुविषये ङीत्यो न भवति । शूर्पण्णा ।  
ध्याघणखा । वज्रणखा । “पूर्वपदात् खावगः” [३१।५२] इति णत्वम् । गौरमुखा । श्लक्ष्णमुखा ।  
कालमुखा । संज्ञाशब्दा एते । खाविति किम् ? शूर्पमिव नखा अस्या शूर्पण्णखी । शूर्पण्णा ।  
चन्द्रमुखी । चन्द्रमुखा ।

सख्यशिश्वी ॥३१।५२॥ सखी अशिश्वी इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । डीविधिर्निपात्येते । समीप  
कुमारी । नात्याः शिशुरस्ति अशिश्वी ।

जातेरयोऽहः ॥३१।५३॥ अत इति वर्तते । जातिवाचिनः अयकारोऽङो मृदः स्त्रिया ङीत्यो भाति ।  
“आकृतिग्रहणा जातिलिङ्गानां च न सर्वभाक् । सङ्कटादप्राप्तनिर्ग्राह्या गोत्र च चरणौ सह ।” आकृतिः  
संस्थानम् । आकृतिग्रहणमस्याः आकृतिग्रहणा । ब्राह्मणत्वादीनां जातिविशेषाणां संस्थानविशेषाभावात् कथं  
संग्रहः ? लिङ्गानां च न सर्वभाक् । एकलिङ्गो द्विलिङ्गो वा भावो जातिः । ब्राह्मणत्वादियु केनमुपदर्शयाम  
जातिव्यवहारस्य निर्वन्धनम् । जात्यभावेऽपि द्विलिङ्गतास्ति देवदत्तः देवदत्ता इति । अथ कथं त्रिलिङ्गत्वं तद्वन्धनं  
तद्वन्धनमादिषु जातिवाचित्वम् ? सङ्कटादप्राप्तनिर्ग्राह्या । अभिधानप्रत्यययोगान्कर्म कृतान्निमित्तं आर्था  
ति । एव सङ्कटादप्राप्ता निश्चयेन प्राप्या । ननु सर्वे शब्दा जातिवाचिनः इत्यन्मिन् दर्शने यदप्यत्र दृश्यते  
किदागुणशब्दानां च जातिशब्दश्च देवदत्तद्वयोऽपि सङ्गाशब्दा वल्लभैमारपीवनादिभ्यर्न्नास्तीति भाति ।  
भवन्ते । एव च देवदत्त काला शुक्लेत्यत्र ङीतिवि प्रत्ययेन ? यदीदं दर्शनेमात्रेणैव व्याप्ये नास्तीति  
ग्रहणमनर्थकं स्यात् । तत्र येन जातिरेव प्रकृतनिर्भवेन न दृष्टं जातिशब्दा । गोत्र च अङ्गिद्वयस्य ।

जातिः । नात्राकृतिः प्रतीयते नापि किञ्चिद्विज्ञमस्ति येन सकृदाख्यायेत । लिङ्गानां च न सर्वभागित्यस्मिन् दर्शने गोत्र चेति न वक्तव्यम् । चरणैः सहेति चरणमध्ययनवशात् क्रिया तदात्मक<sup>१</sup> जातिः । कुक्कुटी । ब्राह्मणी । तटी । नाडायनी । बहुची । कठी । कठेन प्रोक्तमधीते या “शौनकादिभ्यश्चन्द्रसि णिन्” [३।३।७७] इति णिन् । परस्याणः “उपप्रोक्तात्” [३।२।१४] इत्युप् । शौनकादिभ्येव । “कठचरकात्” इति इन उप । जातेरिति किम् ? मुण्डा । अयोड इति किम् ? आर्या । ज्ञिया ।

पाककर्णपर्णपुष्पफलमूलवालयोः ॥३।१।५४॥ पाकादयो द्युभूता यस्य तस्माजातिवाचिनो मृदः स्त्रिया डीत्यो भवति । ओदनपाकी । क्षणपाकी । मूषिककर्णी । शङ्कुकर्णी । पृष्टिपर्णी । शालिपर्णी । शङ्खपुष्पी । हिरण्यपुष्पी । दासीफली । पूगफली । दर्भमूली । शीर्यमूली । गोवाली । अश्ववाली । पुष्पफलमूलोत्तरपदाद्यतो ङीविधिर्नैष्यते तदजादिषु पठनीयम् । पूर्वेण सिद्धे नियमार्थमेतत् । स्त्रियामेव ये जातिवाचिनः शब्दास्तेषु एतेभ्य एव ङीविधिर्नान्यस्मात् । बलाका । मक्षिका ।

इतो मनुष्यजातेः ॥३।१।५५॥ इकारान्तात्मनुष्यजातिवाचिनो मृदः स्त्रिया डीत्यो भवति । कुन्ती । अप्रवन्ती । अप्रत्यर्थं “द्वित्कुरुनाद्यजादकौशलञ्च्यः” [३।१।१५३] इति ङ्यः । तस्य “कुन्त्यवन्तिकुरुभ्यः स्त्रियाम्” [३।१।१५७] इत्युप् । एव दाक्षी । ह्याक्षी । इत इति किम् ? विट् । दरत् । यथासंख्यमजयोः “अतोऽप्राच्यभगादेः” [३।१।१५८] इत्युप् । मनुष्यग्रहणं किम् ? तित्तिरिः । जातेरिति वर्तमाने पुनर्जातिग्रहणं योडोऽपि यथा स्यात् । औदमेयी । “अयोडः” [३।१।५३] इति प्रतिषेधः उत्तरत्र त्रिसूत्र्या च वर्तते । “हज उपसंख्यानमजात्यर्थं कर्तव्यम्” [वा०] सुतङ्गमेन निवृत्ता नगरी सौतङ्गमी । “बुच्छण्कठे” [३।२।६०] इत्यादिना सुतङ्गमादिभ्य इञ् ।

ऊरुतः ॥३।१।५६॥ मनुष्यजातेरिति वर्तते । उकारान्तात्मनुष्यजातिवाचिनो मृदः स्त्रिया उकार-  
त्त्यो भवति । कुरुः । इक्ष्वाकूः । पर्यः । अस्य “कुन्त्यवन्तिकुरुभ्यः स्त्रियाम्” [३।१।१५७] इति अजणोः  
“अतोऽप्राच्यभगादेः” [३।१।१५८] इत्युप् । द्विमात्रोच्चारणं “शेषाद्वा” [३।२।१५४] इति परस्यापि कपो  
वाधनार्थम् । तथाहि ब्रह्मा बन्धुर्यस्याः सा ब्रह्मबन्धूः । वीरबन्धूः । अत्र च समुदायो ब्राह्मणविशेषजातिः ।  
यद्भावेन मृदमृदोरेकादेशो मृद्वद्भवतीति मृत्सज्ञाया स्वाद्युत्पत्तिः । मनुष्यजातेरित्येव । रुदः । कृकवाकुः ।  
आबुः । अयोड इत्येव । अघ्वयुः स्त्री । अलावूः । कर्कन्धूरित्येवमादय औणादिकाः । कथं अलावुकर्कन्धु-  
न्मुकलमिति ? “हकः प्रोड्याः” [३।१।१७२] इति प्रादेशेन सिद्धम् ।

पङ्गोः ॥३।१।५७॥ पङ्गुशब्दात् स्त्रियामूत्यो भवति । पङ्गूः । श्वशुरशब्दस्योकाराकारयोः खमूश्च ल्यो  
वक्तव्यः । श्वभूः ।

ऊरुद्योरिवे ॥३।१।५८॥ ऊरुशब्दो द्युर्यस्य तस्मान्मृद इवार्थे गम्ये स्त्रियामूत्यो भवति । करभोरुः ।  
कदलीस्तम्भोरुः । नागनासोरुः । इव इति किम् ? वृत्तोरुः कन्या ।

संहितशफलक्षणवामादेः ॥३।१।५९॥ संहिताद्यादेर्मृदः ऊरुद्योः स्त्रियामूत्यो भवति । अनिवाधोः  
ऽयमारम्भः । संहितोरुः । शफोरुः । लक्ष्णोरुः । वामोरुः । “संहितसहाभ्यां चेति वक्तव्यम्” [वा०]  
संहितोरुः । सहोरुः ।

वाहन्तकद्रुक्रमण्डलुभ्यः ॥३।१।६०॥ वाहुशब्दान्तान्मृदः कद्रुक्रमण्डलुशब्दाभ्यां खुविषये कृत्यो  
भवति । मद्रवाहुः । मद्रवाहू । कद्रुः । क्रमण्डलुः । कासाञ्चिदेताः सज्ञाः । खाविति किम् ? वृत्तौ वाहू अस्याः  
वृत्तवाहूः । कडुः । क्रमण्डलुः ।

हृतः ॥३११६१॥ अधिकारेणैवं संज्ञा । यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिध्याम आकपो हृत्संज्ञास्ते वेदितव्याः । वक्ष्यति । “यूनस्तिः” [३११६२] युवतिः । “कूट्-रुत्साः” [१११६] इति मृत्मगाया स्वाद्युत्पत्तिः । बहुलनिर्देशोऽनुक्तपरिग्रहार्थः । मध्यान्म उक्तोऽन्यतोऽपि भवति । अन्तमः । आदिमः । धर्मादणू विहितः । अधर्मादपि । आधर्मिकः । हृतमिह बहुत्वेन निर्देशे किं प्रयोजनम् ? अनुक्ताच्च हृदुत्पत्तिर्यथा स्यादन्तमादिषु । तथा अनुक्ता अपि हृतो भवन्ति “अग्रपश्चाद्विमः” [ चा० ] इत्येवमादयः ।

यूनस्तिः ॥३११६२॥ युवन्नित्येतस्मात्तिर्भवति स्त्रियाम् । युवतिः । यूनः स्त्रीविवक्षाया कुत्सार्य-विवक्षाया च परत्वात् कादयः प्राप्नुवन्ति तस्माद्यून इति योगविभागः । यूनो हृत्पसङ्गे स्त्रीत्य एव भवति ततः कादयः । युवतिकाः ।

व्योऽञ्च रूपान्त्ययोर्वृद्धेऽनार्षेऽणिनो ॥३११६३॥ स्त्रियामिति वर्तते । अणिनो यो वृद्धेऽनार्षे विहितावञ्च रूपान्त्यौ तदन्तस्य मृदः प्य इत्ययमादेशो भवति । निर्देश्यमानयोरणिनोरेव व्यादेशः । “पौत्रादि वृद्धम्” [३११७८] इति अपत्यविशेषस्य वृद्धसंज्ञा । ऋपेरिदमार्षे तद्वहिते वृद्ध इति । “रुः रुः” [११२८१] “दोः” [११२८२] इति अचा रुसञ्ज्ञा । रुः उगन्त्य सन्निहित ययोरणिनोस्तयोः प्यादेशः । पकारः “पे प्यस्य पुत्रयत्योजि,” [४१३६] इत्यत्र विशेषणार्थः । करीपत्येव गन्धोऽस्य करीपगन्धिः । “उपमानात्” [४१२१३८] इति वा इकारः सान्तः । करीषगन्धेरपत्य स्त्री करीषगन्ध्या । कोमुदगन्ध्या । वराह्यापरा स्त्री वाराह्या । बालाक्या । जातिलक्ष्णस्य “अयोडः” [३११५३] इति प्रतिषेधः । अनल्लिधाविति स्थानिवद्भावप्रतिषेधादणिलक्ष्णोऽपि डीत्यो न भवति । ततः प्यान्तादृष्टाप् । अदिवति हलामिववक्षार्यमचा निर्देशणं क्रियतेऽञ्च रूपान्त्ययोरिति । अन्यथा येन नाव्यवधाने तेन व्यवहितेऽपीति एकेन वर्णनं व्यवधाने वाराह्यादिषु स्यात् । वर्णसङ्घाते व्यवधाने करीषगन्ध्यादिषु न स्यात् । अदिवति बहुलनिर्देशः प्रधानग्नौ यथाचा बहुत्वमस्ति तत्रादेशः । तेनेह न भवति । दाक्षी । प्लाक्षी । रूपान्त्ययोरिति किम् ? ओपगती । ट्ट इति किम् ? अहिच्छत्रे जाता अहिच्छत्री । अनार्ष इति किम् ? वाशिष्ठी । वैश्वामित्री । अणिनोरिति किम् ? आर्तभागी । ऋतभागाद्विदादिलक्ष्णोऽञ् । इह उडुलोम्नोऽपत्य स्त्री ओडुलोम्या । बाह्यादित्वादिनू दिने ह्यो रूपान्त्यत्वं ततः प्यादेश इति आनुपूर्व्यम्<sup>१</sup> ।

गोत्रावयवात् ॥३११६४॥ अणिनोरिति वर्तते । गोत्रमिति पूर्वाचार्याणां वृद्धस्य मगा । गोत्रायप्य गोत्राभिमतताः कुलाख्याः । गोत्रावयवाचिनो मृदः वृद्धे विहितयोरणिनोः स्त्रिया ष्यो भवति । अन्त्यान्त्यार्थोऽयमारम्भः । पुंलिङ्गापत्य स्त्री पौलिङ्ग्या । मुलिङ्गस्य मौलिङ्ग्या । मुखस्य मोख्या । ययानन्त्यापत्येऽपि ष्यो दृश्यते क्रौड्यादिषु तत्पठनीयम् । यथा अन्तकाभ्या देवन्ता ।

क्रौड्यादेः ॥३११६५॥ क्रौडीत्येवमादिभ्यश्च स्त्रिया ष्यो भवति ययामभ्य टीयापो प्राप्तयो. क्रौडि-दनन्तरापत्यार्थः । कचिद्वदुत्तर्य । कचिदन्त्यान्त्यार्थः आरम्भः । कचिदणिनोरणिलोपि । न तन्त्यार्थो दृश्यते । क्रौडि । क्रौड्या । “इतो मनुष्यजनेः” [३११५४] इति टीयावि- प्राप्तः । क्रौडि नाडि आडि आपिशलि आपहिति एते दजन्ता । चौपयन चैयन भवय एते तस्मात्ता अणन्ता । सौधातकिरिजन्तः । “सूतदद्यायुक्तर्य ष्य” [ ग० सू० ] सूया । गुता अन्यय । “मोत्रान् दक्षिणयती” [ ग० सू० ] मोत्र्या । मोत्रा अन्या । मोरिदि गन्तव्यति कारिदि एते दजन्ता । मोरिदस्य । दक्षिणयती विचित्रित्वर्थम् । गोकचमपुत्रः ।

दैवयज्ञिशौचिवृत्तिसात्यमुग्रिकाण्डेविद्धिभ्यो वा ॥३१॥६६॥ दैवयज्ञि शौचवृत्ति सात्यमुग्रि  
काण्डेविद्धि इत्येतेभ्यः वा ष्यो भवति । उभयत्र विभाषेयम् । वृद्धे प्राप्तेऽनन्तरापत्ये चाप्राप्ते । दैवयज्ञ्या ।  
दैवयज्ञी । शौचिवृत्त्या । शौचिवृत्ती । सात्यमुग्र्या । सात्यमुग्री । काण्डेविद्ध्या । काण्डेविद्धी । अनन्तरापत्ये  
“इज उपसंख्यानमजात्यर्थम्” [ वा० ] इति डी । वृद्धापत्ये “इतो मनुष्यजातेः” [ ३१॥६६ ] इति ।

समर्थात्प्रथमाद्वा ॥३१॥६७॥ समर्थादिति प्रथमादिति वेति च पदत्रितयमधिकृत वेदितव्यम् ।  
“किंवहुसर्वनाम्नोऽद्वादे.” [ ४१॥६८ ] इत्यतः प्राग् वक्ष्यति “तस्यापत्यम्” [ ३१॥७७ ] उपगोरपत्य  
श्रौपगवः । तस्येत्येतत् तान्त सूत्रे प्रथम सन्निविष्टम् तस्मादपत्याभिधाने त्यः । समर्थादित्युच्यते सामर्थ्यं च  
सुबन्तस्येति सुबन्तात्त्योत्पत्तिः । द्वद्ववर्णादिति विशेषणार्थं तु ड्यामृद्ग्रहणमधिक्रियते । वृद्धस्य उपगोरपत्य-  
मिति वाक्यस्यासुबन्तत्वात् वाक्यावयवस्य चासामर्थ्यात् त्यानुत्पत्तिः । समर्थादिति किम् ? कम्बल उपगोरपत्यं  
देवदत्तस्य । यद्येव समर्थः पदविधिरिति समर्थादेव भविष्यति किमनेन ? कृतवर्णानुपूर्वकात् पदात् त्यो यथा  
स्यादित्येवमर्थम् । सूत्रितस्यापत्य सौत्थितिः । वैक्ष्माणिरिति । “नेन्द्रस्य” [ ५१॥२७ ] इत्यत्र वक्ष्यति समु-  
दायकार्यं तावद्भवति पञ्चदेकादेशः । एव वा (चा) सहितात्योत्त, वनिष्ट रूप स्यात् । प्रथमादिति किम् ?  
तान्ताद्यथा स्यादपत्यशब्दान्मा भूत् । वाग्रहण किम् ? उपगोरपत्यमिति वाक्यमपि साधु यथा स्यात् । अनन्त-  
राद्वाग्रहणात् सविधिरपि । उपग्वपत्यम् ।

प्राग्द्रोरण् ॥३१॥६८॥ “द्रोः” [ ३१॥११६ ] “माने वयः” [ ३१॥१२० ] इति वक्ष्यति । प्रागे-  
तस्माद्येऽर्था वक्ष्यन्ते तेष्वण भवतीति वेदितव्यम् । अधिकारो विधिर्वाऽयम् । अधिकारपक्षे “पीळाया वा”  
[ ३१॥१०७ ], “वोदश्चितः” [ ३१॥११४ ] इत्येवमादौ वावचनादपवादविषये नास्ति वृत्तिः । विधिपक्षेऽपि “परि-  
हृत्यापवादविषय तत उत्सर्गोऽभिविधिशते । वक्ष्यति तस्यापत्यम् श्रौपगवः । कापटवः । अपवादेन बाधितोऽप्युत्तर-  
त्रानुवर्ततामिति प्राग्वचनम् ।

अश्वपत्यादेः ॥३१॥६९॥ अश्वपति इत्येवमादिभ्यः समर्थविभक्त्यन्तेभ्यः अण् भवति प्राग् द्रो-  
र्येषु । “पतिद्योः” [ ३१॥७० ] इति एयो वक्ष्यते । तस्यायमपवादः । अश्वपतेरपत्यं आश्वपतः । अश्व-  
पति गणपति वनपति गजपति राष्ट्रपति कुलपति पशुपति धान्यपति बन्धुपति सभापति प्राणपति क्षेत्रपति  
येऽत्र दुःशस्तेभ्यो “दोश्छ” [ ३१॥६० ] इतिच्छ बाधित्वा पूर्वनिर्णयेनायमेवाण् ।

दित्यदित्यादित्यपतिद्योर्ण्यः ॥३१॥७०॥ प्राग् द्रोःरिति वर्तते । दिति अदिति आदित्य पतिद्यु  
इत्येतेभ्यः समर्थविभक्त्यन्तेभ्यः प्राग् द्रोःर्येषु एयो भवति । अणोऽपवादः । दितेरपत्यं दैत्यः । “द्वयचः”, “इतो-  
निज ” [ ३१॥११०, १११ ] इतीमं द्वयं पूर्वनिर्णयेनाय बाधते । सर्वतो “अक्यर्थात्” [ ३१॥३१ ग०सू० ]  
इति टीविधौ कृते परत्वाद्गण् च भवति । दैतेयः । लिङ्गविशिष्टपरिभाषा वा नित्या अदितेरपत्यं आदित्यः । आदि-  
त्यस्यापत्यमादित्यः । प्राक्तनस्य यकारस्य “क्यच्यनादृष्ट्यापत्यस्य” [ ४१॥१४१ ] इति “हलो यमां यमि  
खम्” [ ५१॥१३८ ] इति वा खम् । पतिद्योः खत्वपि । बार्हस्पत्यः । सैनापत्यः । प्राजापत्यः । एयादयोऽ-  
र्थविशेषलक्षणादण् (शोऽ) पवादात् पूर्वनिर्णयेन (इति) एय एव भवति । वनस्पतीना समूहः वानस्पत्यम् ।  
“यमाच्चेति वक्तव्यम्” [ वा० ] यमस्यापत्यं याम्यः । “पृथिव्या जाजौ” [ वा० ] । पार्थिवः । पार्थिवी ।  
“देवस्य यजजौ” [ वा० ] । दैव्यम् । दैवम् । “बहिपटिखं यज्ज” [ वा० ] । बाह्यम् । “ईकण् च” [ वा० ]  
बाहीकः । भेर्ममात्रेखमनित्यमागतीत्य हत्यादौ । स्याम्नोऽकारः । अश्वत्थाम्नोऽपत्यम् अश्वत्थामः । “लोम-  
श्चापत्येषु घहुषु” [ वा० ] उडुलोमाः । शरलोमाः । बहुष्विति किम् ? औडुलोमिः । शारलोमिः । “सर्वत्र  
गोरजादिप्रसङ्गे यः” [ वा० ] गव्यः । अजादिप्रसङ्ग इति किम् ? गोरुप्यम् । गोमयम् ।

उत्सादेरञ् ॥३११७१॥ प्राग्गोरिति वर्तते । उत्स इत्येवमादिभ्यः समर्थविभक्तयन्तेभ्यः प्राग्गोर्येधन् भवति । अणस्तदपवादानां च वाचकः । अञि सति “यजजोः” [११४१३५] इति बहुत्वे उन्भवति । उत्स-स्यापत्यं औत्सः । उदपानस्यापत्यमौदपानः । उत्स उदपान विकर विनद महानद महानस महाप्राण तरण तलुन । वष्कयशब्दादसे । असमास इत्यर्थः । धेनु पङ्क्ति जगती त्रिष्टुप् अनुष्टुप् जनपद भरत उशीनर पीलु-कुण । उदस्थानशब्दादेशे । पृषदंश भल्लकीय रथन्तर मय्यन्दिन वृहत् महत् । सत्वतशब्दो सत्वन्नुशब्दो मत्स्यः । आगतनुङ्को गृह्यते । कुरुपञ्चाल इन्द्रावधान उष्णिह् ककुम् सुवर्ण । ग्रीष्मादच्छन्दसीति वक्तव्यम् । छन्दरनेः वृत्तजातिः । तरुणशब्दस्य लिङ्गविशिष्टस्य ग्रहणम् । तद्वयया अपत्य तारुणः । ख्यादयोऽर्थविशेषलक्षणदण- (णोऽ)पवादात् पूर्वनिर्णयेन भवन्तीति ।

स्त्रीपुंसान्नुक्त्वात् ॥३११७२॥ वक्ष्यति “ग्रहाणस्त्वः” [११४१३६] एतस्मात्स्वमशब्दनात् प्राग्योऽर्थो वक्ष्यते तेषु स्त्रीशब्दात् पुंशब्दाच्च अञ् भवति नुगागमः । स्त्रीषु भवं स्त्रीणां समूहः स्त्रीभ्यः प्राग तम् स्त्रीभ्यो हितं स्त्रीणां भावो वा स्त्रैणम् । एवं पौंसम् । “नोऽपुंसो हति” [११४१३०] इति प्रतियोगात् पुंसष्टिवं न भवति । स्त्रीशब्दस्य तु नुवचनसामर्थ्यात् । स्त्रैणाः पौस्ना इत्यत्र “यजजोः” [११४१३५] इत्युप् प्राप्नोति । इह च स्त्रैणानां संघ इति “संघाङ्गलक्षण” [३१३१५] इत्यण् प्राप्नोति चेत् नतो दोषो । अपत्याधिकारात् प्रागूर्ध्वं च वृद्धग्रहणेपु लौकिकगोत्रग्रहणमिति वक्ष्यते । न च स्त्रैण पौंसमिति वा लौकिक गोत्रं तस्मादुच्यते न भवतः । “पुंवद्यजातीयदेशीये” [४१३१५४] इति वचन योगापेक्षं शापकम् । वतोऽर्थं नाय विधिरिति । स्त्रीवत् । पुंश्च ।

वृद्धेऽच्यनुप् ॥३११७३॥ प्राग्गोरिति वर्तते । “यस्कादिभ्यो वृद्धे” [११४१३४] इत्या प्रक्रमे वृद्धे यस्य त्यस्य उवृक्तः तस्यानुभवति प्राग्द्रवीयेऽजादावुत्पत्त्यमाने । गर्गाणां छात्राः गर्गायाः । “यजजोः” [११४१३५] इति बहुत्वे उप् प्रातः । ईयविपये प्रतिपिच्यते । “यस्य ह्या च” [११४१३६] इत्याम् “क्ष्यच्यनाद्धत्यापत्यस्य” [११४१३९] इति यत्तम् । त्याश्रयलक्षण एवभवति । यास्कीयाः । शिवादिनक्षत्र-स्याणः “यस्कादिभ्यो वृद्धे” [११४१३४] इत्युप् प्रातः । आत्रेयोयाः । “द्वयचः” [३११११०] “इतोऽ निजः” [३१११११] इति दण् तस्य “भृग्वत्रिकुसवशिष्टगोवमाङ्गिरोभ्यः” [११४१३६] इत्युप्रातः । खारपायणीयाः । “यस्कादिभ्यो वृद्धे” [११४१३४] इत्यनेन नडादिकण उप् प्रातः । वृद्ध इति किम् । कुवलत्पेदं कौवलम् । वादरम् । अवयवार्थे आगतस्याणः “उफले” [३१३१२१] इति अत्र भार्ग । अचीति किम् ? गर्गोभ्यः गर्गरूपम् । गर्गमयम् । प्राग्गोरित्येव गर्गोभ्यो हितं गर्गाम् । वृद्धाऽपि एकस्मिन् यूनि द्वयोर्वा यूनोर्बन्धः तस्मिन्मध्येऽयनुभवति । विद्वानामपत्य युवा वैदः । वैदो । अजन्तान इव । तस्य ‘जिण्णराजापार्थान्नुयस्सिजोः’ [११४१३०] इत्युप् । “त्यगे त्याथयम्” [११११३३] इत्यादि न मन्ति । वर्णाश्रये नास्ति त्याश्रयमिति न मन्तव्यम् । अचीति विधानिर्देशः । एकद्वयन्ताच्च वृद्धा यस्मात् । विवक्षाया उपच वक्तव्यः । वैदस्य वैदयोऽपत्यानि युवानः विदाः ।

रस्योवनपत्ये ॥३११७४॥ प्राग्गोरिति वर्तते । रस्य निमित्तत्वेन सक्नी यो न्न अपत्यार्थां प्राग्गोर्ये विदितवन्त्योभवति । पञ्चसु गुदसु भव पञ्चगुर्नमन्मरः । दशसु वर्मसु भवः दशवर्मः । द्वाप्तुगोपारगोः द्वप्तुगोप । वस्तुनेन । हृदये पञ्च । सप्तदीर्गमृष्ट । मवार्ये आगतस्याण उप् । रस्येति निर्निमित्तस्य किम् । उन्नतं यो हृत् तस्यो ना भूत् । पञ्चगुर्नमन्मरमेव पाञ्चगुपम् । यदि रस्य निमित्तं यो न्न भवति ।

इह तर्हि न प्राप्नोति पञ्चाना कपालाना समाहारः पञ्चकपाली । पञ्चकपाल्या सस्कृतः पञ्चकपालः । नैव दोषः । अव्यविकन्यायेन पञ्चकपालशब्दात् त्योत्पत्तिः । यथा अवेर्मास आविक्रमिति अविकशब्दादेव त्यो नाविशब्दात् । अन्नपत्य इति किम् ? द्वयोर्देवदत्तयोरपत्य द्वैदेवदत्तिः । अजग्रहणमनुवर्तते । तेनेह न भवति । पञ्चभ्यो गर्गेभ्य आगत पञ्चगर्गरूपम् । प्राग्द्रोरित्येव । द्वाभ्यामक्षाभ्या दीव्यति द्वैयक्षिकः । त्रैयक्षिकः ।

यूनि ॥३१॥७५॥ प्राग्द्रोरिति वर्तते अचीति च । यूनि यस्त्यस्तस्योन् भवति प्राग्द्रवीयेऽजादौ त्य उत्पत्त्यमाने । फाण्टाहृतस्यापत्य फाण्टाहृतिः । तस्यापत्य युवा “फाण्टाहृतेर्यः” [३१११३८] इति य । फाण्टाहृतः । तस्य यूनश्छात्रा बुद्धिस्थ एवानुत्पन्नेऽजादौ त्ये णस्योपि कृते इजन्तमिद जातम् । “इजः” [३१२।८८] इत्यण् भवति । फाण्टाहृताः । भगवित्तस्यापत्यं भागवित्तिः । तस्यापत्य युवा “दोष्टण् सौवीरेषु प्रायः” [३१११३६] इति ठण् । भागवित्तिकः । तस्य यूनश्छात्राः ठण् उपि कृते “इजः” [३१२।८८] इत्यण् । भागवित्ताः । तिकस्यापत्य तैकायनिः । तस्यापत्यं युवा “फेरछः” [३१११३७] इति छः । तैकायनीयः । तस्य यूनश्छात्राः छस्योपि कृते “दोश्छः” [३१२।९०] इति छः । तैकायनीयाः । ग्लुचुकस्यापत्यं “फिरदोः” [३१११३७] इति फिः । ग्लुचुकायनिः । तस्यापत्य युवा “प्राग्द्रोरण्” [३११।६८] ग्लौचुकायनः । तस्य यूनश्छात्रा अण् उपि तस्येदमित्यण् । ग्लौचुकायनाः । कपिञ्जलादस्यापत्य कपिञ्जलादि तस्यापत्य युवा “कुवादेण्यः” [३१११३६] इति ण्यः । कपिञ्जलाद्यः । तस्य यूनश्छात्रा ण्यस्योपि कृते “इजः” [३१२।८८] इत्यण् कपिञ्जलादाः । अचीत्येव । फाण्टाहृतरूपम् । फाण्टाहृतमयम् । प्राग्द्रोरित्येव । भागवित्तिकाय हित भागवित्तिकीयम् ।

फण्फिञ्चोर्वा ॥३१॥७६॥ यूनीति वर्तते । यूनि यौ फण्फिञ्चौ तयोर्वा उन्भवति प्राग्द्रवीयेऽजादौ त्ये विवक्षिते । पूर्वेण नित्ये उपि प्राप्ते विभाषेयम् । गार्ग्यस्यापत्य युवा “यञ्चिजोः” [३११।९०] इति फण् । गार्ग्यायणः । तस्य यूनश्छात्राः गार्गीया गार्ग्या वा । फिजः खल्वपि । यस्कस्यापत्यं “शिवादिभ्योऽण्” [३११।१०१] यास्कः । यास्कस्यापत्यं युवा “द्वयचोऽणः” [३१११३३] इति फिज् । यास्कायनिः । तस्य यूनश्छात्राः यास्कीयाः । यास्कायनीयाः ।

तस्यापत्यम् ॥३१॥७७॥ तस्येति तासमर्थात् अपत्यमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहित त्यो भवति । दृढ्यनिर्देशे लिङ्गवचनादिकमविवक्षितमप्राधान्यात् । उपगोरपत्य औपगवः । तान्तादण् । उक्तायस्यापत्यशब्दस्य निवृत्तिः । “सुपो धुमृदोः” [१११।१४२] इति सुप उप् । ऐप् । आश्वपतः । दैत्यः । सैनापत्यः । औत्तः । स्त्रैणः । पौत्नः । वृत्तौ स्वभावत एकार्थीभावः । प्रकृत्यर्थो विशेषणभूतोऽप्रधानम् । त्वार्थस्य सामान्येन प्रवृत्तस्य विशेषेऽवस्थापनात्त्वार्थः प्रधानम् । गुणप्रधानभावेन प्रकृतिस्त्यश्च त्वार्थं सह ब्रूत इति । ननु च तस्येदं विशेषणं (सामान्यम्) एते अपत्यं समूहो निवासो विकार इति । तस्येदमित्येव सिद्धं किमर्थमिदमुच्यते ? बाधकशोधनार्थम् । भानोरपत्य भानवः । श्यामगवः । दुल्लक्षणश्छो बाधितः । “तस्यापत्यम्” “सद्व्यादादेरिज्” [३११।८५] इत्येव वक्तव्ये इह कारण पूर्वैरुत्तरैश्च त्वैरभिप्रेतान्धो यथा स्यादित्येवमर्थम् ।

पौत्रादि वृद्धम् ॥३१॥७८॥ पुत्रस्यापत्य पौत्रः । विशदित्वाद्ज् । प्रथमादिति वर्तमानमर्थवशात्तथा विपरिणम्यते । प्रथमस्य पौत्रादि यदपत्य तद् वृद्धसंज्ञं भवति । सज्ञापित्यस्य प्रथमस्य गर्गस्यापत्य गार्ग्यः । घात्स्य । “वृद्धे वृज्जदिभ्यो ङ्फः” [३११।८७] इति वर्तमाने “गर्गादेर्यज्” [३११।९४] इति यज् । पौत्रादीति किम् ? गर्गिः । अन्नन्तरमपत्य वृद्ध मा भूत् ।

एकः ॥३१॥७९॥ वृद्धमिति वर्तते । वृद्धेऽपत्ये विवक्षिते एक एव त्यो भवति । स्वस्याः स्वस्याः प्रकृतेरपत्यभेदविवक्षापामनेकं त्व बुद्ध्या समुदायोक्त्य नियमः क्रियते । यदिदं गर्गादिपितृकमपत्यजातं वृद्धं



न्तार्थ बाधवबाधनार्थं च बाहादिग्रहणम् । बाहविः । औपवाकविः । बाहु उपवाकु निषाकु वराकु उपविन्दु  
एभ्योऽण् प्रातः । बला “द्वयचः” [३।१।११०] इति ढण् प्रातः । वृकला बलाका मूषिका भगला लगहा  
ध्रुवका सुमित्रा दुर्मित्रा एभ्यः “स्त्रीभ्यो ढण्” [३।१।१०६] इति ढण् । मानुषीलक्ष्णो वा ढण् स्यात् ।  
पुष्करसत् अनुरदत्<sup>१</sup> अनुशक्तिकादित्वादनयोः पदद्वयस्यैप् । देवशर्मन् अग्निशर्मन् इन्द्रशर्मन् कुनामन्  
पञ्चन् सप्तन् । “अमितौजसः सख च” [वा०] सुधावत् उदञ्च अञ्जेनिपातनात् नखाभावः । शिरस्-शिरोमात्र-  
स्यापत्य नास्ति इति तदन्तविधिः । हातिशीर्षिः । पैलुशीर्षिः । शिरसः शीर्षादेशो वक्ष्यते । माषशराविन्  
क्षेमवृत्विन् शृङ्खलतोदिन् खरनादिन् निपातनादणत्वम् । नगरमर्दिन् प्राकारमर्दिन् लोमन् लोम्ना तदन्तविधिः  
इत् उत्तर प्रागुदङ्कशब्दात् “कुर्वण्यन्धक” [३।१।१०३] आदिनाऽण् प्रातः । अजीगर्तं कृष्ण युधिष्ठिर  
अर्जुनं साम्भ गद प्रद्युम्नं राम सकर्षणं मध्यन्दिनं सत्यक उदक । “संभूयोऽम्भसोः सखं च” [वा०] ख्याताख्या-  
तयोः ख्याते सप्रत्यय इति । तेन बाहादिप्रभृतिषु येषां लौकिकगोत्रभावं प्रति प्रवर्तकत्वमस्ति तेभ्य एव इजादय ।  
इह माभूत् बाहुनामं कश्चित् तस्यापत्य बाहवः । आकृतिगणत्वादस्याजन्धविः । आजवेनविरिति ।

सुधातुरकङ् च ॥३।१।८६॥ सुधातृशब्दादिज् भवति तत्सन्नियोगेन अकडादेशश्च । सुधातुर-  
पत्य सौधातकिः । “व्यासवर्ण्डनिषादचण्डालबिम्बाक्षीनामिति वक्तव्यम्” [ वा० ] । न वक्तव्यम् । अव्यविक-  
न्यायेन कान्तेभ्य एव त्यविधिः । वैयासकिः । वारुण्डकिः । नैषादकिः । चारण्डालकिः । वैम्बकिः । कार्मारकिः ।

वृद्धे कुञ्जादिभ्यो ङफः ॥३।१।८७॥ वृद्धसङ्के अपत्ये विवक्षिते कुञ्ज इत्येवमादिभ्यो ङफो भवति ।  
इजोऽपवादः । आदौ जकारः “घ्रातङ्फादस्त्रियाम्” [४।२।२] इति विशेषणार्थः । कुञ्जस्यापत्यं पौत्रादि  
कौञ्जायन्यः । कौञ्जायन्यौ । कौञ्जायनाः । “घ्रातङ्फादस्त्रियाम्” [४।२।२] इति स्वार्थे ङ्यो भवति द्विसङ्कः ।  
कुञ्जं व्रजं शङ्खं गणं लोमन् लोमशब्देन तदन्तविधिरिति केचित् । भस्मन् शट् । अयं गर्गादिष्वपि । शाक  
शौण्ड शुभ विपात् । अयं शिवादिष्वपि । स्कन्द स्कम्भ । वृद्ध इति किम् ? कुञ्जस्यापत्यमनन्तरं कौञ्जिः ।  
वृद्ध इत्ययमधिकारश्च “शिवादिभ्योऽण्” [३।१।१०१] इत्यतः प्राक् ।

नडादेः फण् ॥३।१।८८॥ नड इत्येवमादिभ्यो वृद्धेऽपत्ये फण् भवति । नडस्यापत्यं वृद्ध नाडायनः ।  
वृद्ध इत्येव । अनन्तरे नाडिः । नड चर वक् मुञ्ज इतिक इतिश उपक लमक शलङ्कु शलङ्कश्चादेशां  
लभते । शालङ्कायनः । कथं शालङ्कायनः ? कथं शलङ्कः पिता शलङ्कः पुत्रः [ शलङ्क ] शलङ्क  
इति प्रकृत्यन्तरमस्ति । अथवा पैलादिषु पाठसामर्थ्यात् इजपि भवति । पञ्चपूलं वाजव्यं तिक अग्निशर्मन्  
वृषगणे । गोत्रे अग्निशर्मण्यणो भवति वार्षगणश्चेत् । अग्निशर्मिरन्यः । प्राणं नर सायक दास मित्र  
द्वीप तगर पित्राल किङ्कर कथनं कतर कतल काश्य काव्य सैव्य अजावाच्य स्तम्भ शिंशपा अमुष्य निपातनात्  
साधु । कृष्णरणौ ब्राह्मणवाशिष्ठयोः । यथाक्रमं ब्राह्मणवाशिष्ठेऽर्थे । अजमित्रं लिङ्गं चित्रं कुमार । क्रोष्टु-  
रपत्य क्रोष्टव च । लोहं दुर्गं अग्नं वृणं शकटं सुमतं मिमतं ब्राह्मणं चटक । ऐरोपीष्यते । घाटकैरं बदरं अश्वल  
अस्वरं कानुकं ब्राह्मणं उदग्गरं अलोहं दण्डया । अन्ये इमानपि पठन्ति वक्ष्यमाणान् । क्वं जत् इत्यत्  
जनलत् हिंसकं दरिद्रं हस्तिन् पञ्चालं चमसिन् । लौकिकगोत्रमात्रं इत्येव । नडो नाम कश्चित्तस्यापत्यं नाडिः ।

हारितायनः ॥३।१।८९॥ हरितादिर्निदाद्यन्तर्गणः । हरितादिभ्योऽजन्तेभ्यः फण् भवति । इजोऽ-  
पवादः । इत् वृद्धग्रहणमुत्तर्मानमञ्जो विशेषणम् । वृद्धे योऽङ् विहितस्तदन्तात् फण् एक इति निय-  
मापन्निं द्रष्टव्यः । हरितस्यापत्यं युवा हरितायनः । कैन्दासायनः ।



यजिजोः ॥३१।६०॥ अत्रापि वृद्धग्रहणं यजिजोर्विशेषणम् । वृद्धे विहितौ यौ यजिजौ तदन्तात्कण् भवति । सामर्थ्याद्यन्तीति शतव्यम् । गार्ग्यायणः । दाक्षायणः । इह गार्ग्या अपत्यं गार्गेय इति लिङ्गविशिष्टस्य ग्रहणेऽपि परत्वादृहण् भवति ।

शरद्धच्छुनकदर्भाद् भृगुवत्साग्रायणेपु ॥३१।६१॥ वृद्ध इति वर्तते । शरद्धत् शुनक दर्भ इत्येतेभ्यः कण् भवति यथासंख्य भार्गवे वात्स्ये आग्रायणे चापत्येऽभिवेये । शारद्धतायनो भवति भार्गवश्चेत् । शारद्धतोऽन्यः । शौनकायनो भवति वात्स्यश्चेत् । शौनकोऽन्यः । दार्भायणो भवति आग्रायणश्चेत् । दार्भिरन्यः । शरद्धत्शुनकशब्दौ विदादिषु पठ्येते ।

द्रोणपर्वतजीवन्ताद्वा ॥३१।६२॥ द्रोण पर्वत जीवन्त इत्येतेभ्यो वृद्धापत्ये कण् च भवति । द्रोणायणः । द्रौणिः । पार्वतायनः । पार्वतिः । जैवन्तायनः । जैवन्तिः । वृद्ध इत्येव । द्रौणिः ।

विदादिभ्योऽनृप्यानन्तर्येऽञ् ॥३१।६३॥ वृद्ध इति वर्तते । विद इत्येवमादिभ्यः अनृपीणामानन्तर्ये अञ् भवति । विदस्यापत्यं वैदः । विद उर्व कश्यप कुशिक भरद्वाज उपमन्यु किलात किन्दर्म विश्वानर ऋष्टिपेण ऋतभाग हर्यश्च प्रियक आपस्तम्ब कूचवार शरद्धत् शुनक धेनु गोपवन शिशु निन्दु भाजन ताम्र अश्ववतान श्यामाक श्यापर्य गोपवनादिप्रतिषेधः प्राग्धरितादेः इत ऊर्ध्वं बहुत्वेऽञ् उत्रेव भवति । हरित किन्दास वह्यस्क अकलूप वध्योग विष्णु वृद्ध प्रतिषेध रथन्तर गविष्ठिर निपाद निपादशब्दस्य “सुचातुरः” [३।१।८६] इत्यत्र नैपादकिङ्कतोऽनन्तरे वृद्धे परत्वादयमञ् । मठर । अयं गोपवनादिष्वपि मठरायणपि । एते हरितादय इत्याचार्यस्मृतिः । पृदाक सुदाक पुनर्भादिष्वनन्तरेऽपत्ये पुनर्भू पुत्र दुहितृ ननान्द परश्वी परशुं च या तु सवर्णा परस्य स्त्री परस्त्री सा कल्याण्यादिषु पठ्यते पारस्त्रियेणः । वृद्ध इत्येव । अनन्तरो वैदिः । बाह्यादेराकृतिगणत्वाद् ऋष्यण् न भवति लौकिकगोत्रमात्र इत्येव । वैदो नाम कश्चित् तस्य वैदिः । अनृप्यानन्तर्य इति किमर्थम् ? पुनर्भूप्रभृतीनामनृपीणामानन्तर्ये अनन्तरेऽपत्ये अन्वेदितव्यः । ये तु ऋष्यपत्याना नैरन्तर्ये प्रतिषेधमाचक्षते । तेषां कौशिको विश्वामित्र इति न स्यात् । ऋष्यानन्तर्ये प्रतिषेधो नास्ति । इन्द्रभूः सप्तमः काश्यपानाम् । भारद्वाजानां कतमोऽसीति “तस्येदम्” [३।३।८८] इत्यग्रा भविष्यतीति ।

गर्गर्दिर्द्यञ् ॥३१।६४॥ वृद्ध इति वर्तते । गर्ग इत्येवमादिभ्यः वृद्धापत्ये यञ् भवति । गर्गम्यागर्ग्यौत्रादि गार्ग्यः । गर्ग वत्स “वाजादसे” [ सू० ग० ] । अस इति किम् ? सीवाजिः । सकृति अत्र व्यापारविदभृत् पुलस्ति प्राचीनयोग पुलस्त्यशब्दात् ऋष्यणि पौलस्त्यः । स्त्रियामणि पौलस्त्यौ । यजि पौलस्त्यापनीति विशेषः । रेम अग्निवेश शङ्ख शट धूम अष्ट मनस् धनञ्जय वृद्ध विश्वावसु जग्माण लोहित गशित मधु मण्डु मङ्कु सङ्कु शङ्कुलि गुगुलु जिगीषु मनु मन्तु तन्तु मनायी टण् प्राप्तः । “भस्य हस्यते” [ वा० ] इति पुंवद्भावः कस्मान्न भवति । कौटिल्यागन्त्री इति निर्देशात् । यदि यजि पुंवद्भावः स्यात्, कृषिपत्नी शब्दस्य पुंवद्भावे टिप्पे च कृते कौण्डिन्य इति न स्यात् । सूनु कथक दन्त तनुत तणु वनपट सपिष्ट सकल कुक्कन । अयमनुशक्तिकारो । अनङ्गुह कण्ट गोकच अगम्य कुण्डनी यजवल्क अभयत्राज तिमिर । कृपगण रहगण शयिडल मुद्गल मुसल पराशर जनुकर्ण मन्त्रिन अशमरथ शर्करातृ गृत्तिगाप हाग अगम्य वामरथ पिट्गल कृष्ण गोतुन्द उल्बक तिनम्भ तितय भिरत्र तिनत्र भगिडन चेतित दण्ड अङ्गु १६१ एकन्तू निपन्तु वृद्धमि तुलाभिन्त कुटीगु टकथ । वृद्ध इत्येव । अनन्तरो गार्ग्यः । कथमनन्तरो गार्ग्यः ? राम पायशर्मे वसत इति ? गोत्रावरोधेण । अनन्तरोऽप्येव ऋष्यण् भवेत्तस्य । लौकिकगोत्रमात्र इति । यो गार्ग्यप्रवर्तको गार्ग्यप्रवर्तक वृद्ध गार्ग्यः ।

वोऽन्यः । वभ्रुशब्दो गर्गादिषु पठ्यते । तस्येह नियमार्थं वचनम् । कौशिक एव यथा स्यात् । गर्गादिषु पाठो लोहितादिकार्यार्थः । बाभ्रव्यायणी । अथ गणो एव कौशिकग्रहणं कर्तव्यम् । इह करणं वृद्धार्थम् । ननु गणोऽपि वृद्धे यञ्विहितः । इदमेव तर्हि शापक गणपाठो क्वचिदनन्तरापत्येऽपि यञ् भवति । जामदग्न्यो रामः । पाराशर्यो व्यास इति ।

कपिवोधादाङ्गिरसे ॥३१।६६॥ वृद्ध इति वर्तते । कपिवोधशब्दाभ्या यञ् भवति आङ्गिरसेऽपत्यविशेषे । काप्यः आङ्गिरसश्चेत् । अन्यत्र “ह्रतोऽनिजः” [३।१।१११] इति दृष्टिं कापेय । बौध्वा आङ्गिरसश्चेत् । बौधिरन्यः । इति कपिशब्दस्य गर्गादिषु पाठः । तस्य नियमार्थं वचनम् । आङ्गिरस एव यञ् । गर्गादिषु पाठो लोहिताद्यर्थः । काप्यायनी । मधुबोधयोस्तु यत्स (यजि) तयोऽभयम् । माधवी माधव्यायनी । बौधी बौध्यायनी ।

वतण्डात् ॥३१।६७॥ आङ्गिरस इति वर्तते । वतण्डशब्दादाङ्गिरसेऽपत्यविशेषे वृद्धे यञ् भवति । वातण्ड्यः । आङ्गिरस इत्येव । अनाङ्गिरसे शिवादिपाठादण् वातण्ड इति । गर्गादिषु पाठादनाङ्गिरसे यञ् लोहितादिकार्यार्थः । वातण्ड्यायनी ।

स्त्रियासुप् ॥३१।६८॥ आङ्गिरस इति वर्तते । वतण्डशब्दादाङ्गिरस्या स्त्रिया यञ् उभभवति । वतण्डस्यापत्यं वृद्धा स्त्री वतण्डी । यञ् उपि “जातेरयोडः” [३।१।५३] इति ङीविधिः । आङ्गिरस इत्येव । वातण्ड्यायनी । शिवाद्यणि वातण्डा । वृद्धादन्यत्र वातण्डी ।

अश्वदेः फञ् ॥३१।६९॥ वृद्ध इति वर्तते । आङ्गिरस इति निवृत्तम् । अश्व इत्येवमादिभ्यो वृद्धे फञ् भवति । अश्वस्यापत्यं आश्वायनः । अश्व अश्वमन् शङ्ख शूद्रक कुञ्जादिषु गर्गादिषु च पठ्यते । विद पुट रोहिण्य खट्वार खञ्जर खञ्जूर वटिल भण्डिल भटल भडित भण्डित प्रहृत रामोद क्षत्र ग्रीवा काश काण वात गोलाह्क् अर्क स्वन ध्वन पत पाद चक्र कुल अविष्ट पविन्द पवित्र गोमिन् श्याम धूमवाग्मिन् विश्वानर स्फुट कुट कुटि शपादात्रेये । शापिरन्यः । जनक सनक सनक ग्रीष्म अर्ह वीज रीक्ष विशम्प विशाल गिरि चपल चुप दासक । येऽत्र वृद्धत्यान्तास्तेभ्यः सामर्थ्यात् यूनि फञ् द्रष्टव्यः । वैश्य वैल्व वाद्य आनहुद्य धाप्य जात शब्दात् पु सि । जातेयोऽन्यः । अर्जुन । अस्य बह्नादिषु पाठोऽनन्तरार्थः । शूद्रक सुमनस् दुर्मनस् । आत्रेयाद्भारद्वाजे । आत्रेयिरन्यः । भारद्वाजादात्रेये । विदाद्यजि भारद्वाजोऽन्यः । उत्स उत्सादिषु पाठोऽनन्तरार्थः । आतव कितव किव शिव खदिर वृद्ध इत्येव । आश्विः । लौकिक गोत्र इत्येव । गोत्रस्या प्रवर्तको योऽश्वः तस्यापत्यमेकान्तरितमाश्विः ।

भर्गात् त्रैगते ॥३१।१००॥ वृद्ध इति वर्तते । भर्गशब्दात् फञ् भवति त्रैगतेऽपत्यविशेषे । भार्गायणो भवति त्रैगर्तक्षेद् । भार्गिरन्यः ।

शिवादिभ्योऽण् ॥३१।१०१॥ वृद्ध इति निवृत्तम् । इत उद्ध्वं सामान्येनापत्ये त्यविधानम् । शिव इत्येवमादिभ्योऽण् भवत्यपत्यमात्रे । इजादीनामपवादः । शिवस्यापत्यं शैवः । शिव प्रोष्ठ प्रोष्ठिक चण्ड जम्भ भूरि । अस्मात् “ह्रतोऽनिजः” [३।१।१११] इति दृष्ट्या प्राप्तः । कुठार अन<sup>३</sup> भिलान सन्धि मुनि ककुत्स्थ कोरुड कलूय रोक्विरल (रोध विरल) वतण्ड । स्त्रिया वातण्ड्या । तृण कर्ण क्षीर हृदय परिपिक गोपिलका फपिलका जटिलका वधिरका मञ्जोरक वृष्णिक खञ्जर खञ्जल रेभ आलेखन विश्रवण रवण । विश्रवणोऽपत्यमिति विरल विश्रवणरवणादेशौ । प्रकृत्यन्तरे वा । अव्ययिकन्यायेन ताम्यामेवाण् । वर्तनात् विकट पिटक रुद्रक विभाग नभाक तयाक ऊर्णनाम जरकारु उक्तोयस्तु रोहितिका आर्यक्षेता । आभ्या ‘स्त्रीभ्यो ङण्’

[३।१।१०३] प्रातः । सुषिष्ट मयूरकर्णं खलुरकर्णं तद्धन् । अत्र कारिलक्षणस्य इजो बाधा । यस्त्विष्यत एव । ताक्षस्य इति । ऋष्टिपेण । विदादिष्वस्य पाठो वृद्धार्थः । गङ्गा । अत्र नदीलक्षणस्यास्यो “द्वयचः” [३।१।११०] इति ढण् बाधकः तमपि बाधित्वा “द्वयचो नद्याः” इत्यण् प्रातः । तस्यापि तिकादिषु पाठात् फिज् बाधकः स्यात् । अयं गङ्गाशब्दः शुभ्रादिषु च पठ्यते । तेन त्रैरूप्यम् । गाङ्गः । गाङ्गायनिः । गाङ्गेयः । विपाश । अत्रापि नदीमानुषीलक्षणस्याणः “द्वयचः” [३।१।११०] इति ढण् बाधकः । तमपि “द्वयचो नद्याः” इत्यण् बाधते । तमपि बाधित्वा कुञ्जादिलक्षणो ञ् एव स्यात् । द्वैरूप्य चेध्वते । वैपाशाः वैपाशायन्य इति । यस्क लह्य दुह्य अयस्थूण भर्लन्दन विरुपाक्ष विरुपा भूमि इला सपत्नी । “द्वयचो नद्याः” इति गणसूत्रम् । अन्यथा “द्वयचः” [३।१।११०] इति ढण् प्रसज्येत । त्रिवेणी त्रिवेणं च ।

**नदीमानुषीभ्योऽदुभ्यस्तदाख्याभ्यः ॥३।१।१०२॥** नदीमानुषीभ्य इत्यर्थनिर्देशः । नदीमानुषीवाचिप्रकृतिभ्योऽदुसंज्ञाभ्यस्तदाख्याभ्योऽण् भवति । ढणोऽपवादः । यमुनाया अपत्यं यामुनः प्रणेता । इरावत्या अपत्यम् ऐरावतः । उद्वयः । वितस्तायाः पलालशिराः वैतस्तः । नर्मदाया नीतो नार्मदः । मानुषीभ्यः चिन्तितायाः चैन्तितः । सुदर्शनायाः सौदर्शनः । स्वयप्रभायाः स्वायंप्रभः । नदीमानुषीभ्य इति किम् ? सौपर्योयः । वैनतेयः । सुपर्णा विनता च देव्यौ । अन्येषा पक्षिण्यौ । अदुभ्य इति किम् ? चान्द्रभाग्याः चान्द्रभागेयः । वायुवेगेयः । तदाख्याभ्य इति किम् ? या ( भ्यः ), काभ्यः । प्रकृतिभ्योऽण् प्रार्थ्यते ता एवाप्या नामधेयानि नदीमानुषीणा यदि भवति । तेनेह न भवति । शोभनाया अपत्यं शोभनेयः । पुरस्तादपारादोऽय मिति अनन्तरमणं बाधते न व्यवहितं “क्षुद्राभ्यो वा” [३।१।१२०] इति ढणम् । पुलिकायाः पौलिहेरः ।

**कुर्वृष्यन्धकवृष्णेः ॥३।१।१०३॥** कुरवः अन्धकाः वृष्णयश्च क्षत्रियवशाख्याः । ऋषयश्च ग्राम्या मठपतयो वशिष्ठाद्या गृह्यन्ते । महर्षीणामहिंसादिब्रतोपपन्नानामपत्यापत्यवत्सङ्गन्धो नास्ति । कुर्वृषि-अन्धकवृष्णिवाचिभ्यो मृद्भ्यः सामान्येनापत्येऽण् भवति । इजोऽपवादः । कुरुभ्यः-नाकुलः । सार्वभौमः । दौर्योधनः । ऋषिभ्यः-वाशिष्ठः । वैश्वामित्रः । अन्धकेभ्यः-श्वाफल्कः । रान्धसः । श्वेत्रकः । वृष्णिभ्यः-अदारः प्रातिवाहः । वासुदेवः । आनिद्वः । इह आत्रेयः इति परत्वाडढण् । यत्रपि भीममेनः कुरुः, तातमान ऋषिः । उग्रसेनोऽन्धकः, विष्वक्सेनो वृष्णिस्तथापि परत्वात्मेनान्तलक्षणो एव इति भवति । मत्सेनापारादोऽय पूर्वं जित्य बाधते ।

**मातृहृत्संख्यासंभद्रादेः ॥३।१।१०४॥** मातृशब्दस्य संख्यासंभद्रादेः उकारश्चान्तादेशो नास्ति । अण् चाधिकारात् । द्वयोर्मात्रोरपत्यं द्वौ मातुरो भरतः । शातमातुरः । सामातुरः । भाद्रमातुरः । अग्निमान-वशात् जननीपर्यायस्य मातृशब्दस्य ग्रहणम् । संख्यासंभद्रादेरिति किम् ? सौमात्रः । वमानेयः । सिताग्रजः । शुभ्रादिषु पठ्यते ।

**कन्यायाः कनीन च ॥३।१।१०५॥** कन्यायाः कनीन इत्ययमादेशो भवति । अण् च तन्मा । तलोऽपवादः । कनीनः कर्णः । कनीनो हि नारकः ।

पीलाया वा ॥३१११०७॥ पीला तदाख्या मानुषी । पीलाया अपत्ये वाऽण् भवति ।  
पैलः । पैलेयः ।

ढण् च मण्डूकात् ॥३१११०८॥ मण्डूकशब्दाड्ढण् भवति चकारादण् च वा । तेन त्रैलप्यम् ।  
माण्डूकेयः । माण्डूकः । मण्डूकिः । स्त्रिया माण्डूकेयी । अणन्तस्य “कौरव्यासुरिमाण्डूकात्” [३१११२२]  
इति फटि कृते माण्डूकायनी । ढञन्तस्य माण्डूक्या ।

स्त्रीभ्यो ढण् ॥३१११०९॥ इह स्त्रीग्रहणेन स्त्रियामित्येवं विहिताष्टादयः स्त्रीत्या गृह्यन्ते । स्त्र्यर्थ-  
ग्रहणं तु न भवति । शुभादिषु मातृशब्दस्य पाठाल्शयते । स्त्रीत्यान्तेभ्यो ढण् भवत्यपत्ये । सौपर्ण्यः ।  
वैनतेयः । वायुवेगेयः । स्त्रीत्यग्रहणमिति विशेषण किम् ? स्त्र्यर्थं मा भूत् । इडविडः स्त्रिया अपत्यम् ; दरदः  
अपत्यम् ऐडविडः, दारदः । “पीलाया वा” [३१११०७] इत्यतो मण्डूकप्लुत्या वेति व्यवस्थितविभाषा वर्तते ।  
तेन वडवायाः वृषे वाच्ये ढण् भवति । वाडवेयो वृषः । अपत्ये वाडव इति । क्रुञ्चकोकिलाभ्यामण् भवति ।  
क्रुञ्चाया अपत्यं क्रौञ्चः । कोकिलाया अपत्यं कौकिलः ।

द्वयचः ॥३११११०॥ द्वयचश्च स्त्रीत्यान्तादपत्ये ढण् भवति । मानुषीलक्षणाख्याणोऽपवादः ।  
दत्ताया दात्तेयः । गुप्ताया गौप्तेयः ।

इतोऽनिजः ॥३१११११॥ स्त्रीभ्य इति निवृत्तम् । अविशेषेण स्त्रियाश्च विधानाद् द्वयच इति  
वर्तते । इकारान्तान्मृदोऽनिजन्ताड्ढण् भवति । वलेरपत्यं वालेयः । नाभेयः । आत्रेयः । दौलेयः । इत इति  
किम् ? दाक्षिः । अनिज इति किम् ? दाक्षायणः । द्वयच इत्येव । मरीचैरपत्यं मारीचः ।

शुभ्रादेः ॥३११११२॥ शुभ्र इत्येवमादिभ्यो ढण् भवति । इजादीनामपवादः । शुभ्रस्यापत्यं शौभ्रेयः ।  
शुभ्र विष्टपुर पिष्टपुर ब्रह्मकृत शतद्वार शतहार शलायल शलाकाभ्रू लेखाभ्रू विधवा कृकसा रोहिणी रुक्मिणी  
विकचा विवसा इलिका टिशा शालूका अजवस्ति शक्न्वि । लक्ष्मणश्यामयोर्वाशिष्टे । लाक्ष्मणिरन्यः ।  
श्यामायनोऽन्यः । “अश्वदेः” [३११११६] इति फञ् । गोधा । कृकलास । प्राणि विकणाचि<sup>१</sup> प्रवाहण  
भस्त भागर<sup>२</sup> मष्ट्र मकुष्ट स्रक्ण्डु मृषण्डु कर्पूर इतर अन्यतर आलीढ सुदत्त सुदत्त सुनामन् सुदामन् कडु तुद  
अकशाप कुमारिका कुवणिका ( किशोरिका ) जिह्माशिन् परिधि वायुदत्त शलाका सवला खड्वर अभ्रिका  
अशोक गन्धपिङ्गला खरोन्मता कुदत्ता कुसुम्भा शुक्र वलीवर्दिन् विल्व बीजधन् अश्व अजिर विमातृ ।  
आकृतिगणक्षायम् । तेन गाङ्गेयः पाण्डवेय इत्यादि सिद्धम् ।

विकर्णकुपीतकात्काश्यपे ॥३११११३॥ विकर्णकुपीतकशब्दाभ्या ढण् भवति काश्यपेऽपत्यवि-  
शेषे । वैकर्ण्यः काश्यपश्चेत् । वैकर्णिरन्यः । कौपीतकेयः काश्यपश्चेत् । कौपीतकिरन्यः ।

भ्रुवो वुक् ॥३११११४॥ भ्रूशब्दादपत्ये ढण् भवति वुक् चागमः । भ्रौवेयः ।

कल्याण्यादीनामिन्ड् ॥३११११५॥ कल्याणी इत्येवमादीना ढण् भवति इन्डादेशश्च । येऽत्र  
स्त्रीत्यान्ताः शब्दास्तेषामदेशार्थं वचनम् । ढण् पूर्वेण सिद्धः । अन्येषामुभयार्थं वचनम् । कल्याण्या अपत्यं  
काल्याणिनेय । सौभागिनेय । कल्याणी सुभगा दुर्भगा बन्धकी अनुकृष्टि जरती वलीवर्दी ज्येष्ठा कनिष्ठा  
मध्यमा परस्त्री जारस्त्री ।

कुलटाया वा ॥३११११६॥ कुलान्यट्यतीति कुलटा । अत एव निपातनात् पररूपम् । कुलटाया  
वा इन्डादेशो भवति । ढण् स्त्रीभ्य इत्येव सिद्धः । कौलटिनेयः । कौलटेयः । अनियतपुंस्त्वविवक्षायां पर-  
त्वात् कुलालक्षणे ढण् । कौलटेयः ।

चटकाण्णैरः ॥३११११७॥ चटकशब्दाण्णैरो भवति । चटकस्यापत्यं चाटकैरः । लिङ्गविशिष्ट-  
स्यापि ग्रहणम् । चटकाया अपत्यं चाटकैरः । स्त्रीढणः परत्वात् णैर । “स्त्रियामपत्ये उन्वक्तव्यः” [ वा० ]  
चटकस्य चटकाया वा अपत्यं स्त्री चटका । “द्वदुप्युप्” [ ११११६ ] इति स्त्रीत्यस्योप् । पुनश्चाप् ।

गोधाया णारः ॥३११११८॥ गोधाशब्दादपत्ये णारो भवति । गौधारः । रणा सिद्धे णारवचन-  
ज्ञापकम्, अन्येभ्योऽपि भवतीति । जटस्यापत्यं जाडारः । पण्डस्यापत्यं पाण्डारः । पत्नस्य पाद्धारः ।

ढण् ॥३११११९॥ ढण् च भवति गोधाशब्दात् । गौघेरः । शुभ्रादिषु पाठात् गौघेय इति  
च भवति ।

क्षुद्राभ्यो वा ॥३१११२०॥ अनियतपुंस्का अङ्गहीना वा क्षुद्राः । क्षुद्राभ्य इत्यर्थनिर्देशः । क्षुद्रा-  
वाचिप्रकृतिभ्यः स्त्रीलिङ्गाभ्यः वा ढण् भवति । दास्या अपत्यं दासेरः । दासेयः । नट्या नाटेरः । नाटेयः ।  
काणायाः काणेयः । काणेयः । “द्वयचः” [ ३११११० ] इत्ययं ढण् मध्येऽपवादः पूर्वस्य नदीमानुषीलक्षणा-  
स्याणो बाधकः ।

ष्वसुश्छणुः ॥३१११२१॥ ष्वसुशब्दाद् ऋकारान्तपूर्वान्तादपत्ये छण् भवति । अणोऽपादः ।  
मातृष्वस्त्रीयः । पैतृष्वस्त्रीयः । स्वसुरिति कृतपत्वग्रहणं किम् ? भ्रातृस्वसुरपत्यं भ्रातृस्वसुः । उरिति ऋम् ?  
मातुःस्वसुरपत्यं मातृष्वश्रः । “वा स्वसुपत्योः” [ ४१३१३७ ] इत्यनुप् ।

ढणि खम् ॥३१११२२॥ ढणि परतः ष्वसुर्ध्ववर्णपूर्वस्य ख भवति । अनेनैव ढण् निपात्यते । मातृ-  
ष्वस्त्रीयः । पैतृष्वस्त्रीयः ।

चतुष्पाद्भ्यो ढञ् ॥३१११२३॥ चत्वारः पादाः यासां ताश्चतुष्पादः । चतुष्पाद्वाचिप्रकृतिभ्यः  
स्त्रीलिङ्गाभ्यो ढञ् भवति । अण्णादीनामपवादः । कामण्डलेयः । सैतवाहेयः । माद्रवाहेयः । जाम्बेयः । दर्श-  
यति तस्मादुत्पन्नस्य युवत्यस्योन्भवति न ढणि ।

गृष्ट्यादेः ॥३१११२४॥ गृष्टि इत्येवमादिभ्यः शब्देभ्यो ढञ् भवति । अण्णादीणामपवादः । गृष्ट-  
पत्यं गार्ष्टेयः । अचतुष्पाद्वचनमिह गृष्टिशब्दो गृह्यते । गृष्टि हृष्टि हलि वालि विद्वकादि विाश्च कुद्रि अत्राणां  
मित्रयु मित्रयोरपत्यं मित्रेयः । “भ्रौणहस्य” [ ४१४१६६ ] आदिना यकारादेः ख निपात्यते । बहुषु “गण-  
दिभ्यो वृद्धे” [ ११४१३४ ] इति उप् । मित्रयवः ।

क्षत्राद् घः ॥३१११२५॥ क्षत्रशब्दादपत्ये वा भवति । क्षत्रस्यापत्यं क्षत्रियः । जातावभिधानम् ।  
अन्यत्र क्षात्रिः ।

राजश्वशुराद्यः ॥३१११२६॥ राजश्वशुरशब्दाभ्यामपत्ये यो भवति । राजोऽपत्यं राजश्वः ।  
इहापि जातावभिधानम् । राजनोऽपत्यः । श्वशुरस्यापत्यं श्वशुर्यः । ख्यातस्य सम्बन्धवचनस्य प्रत्ययाः । म पत्यं  
श्वशुरिः ।

कुलाटुकञ्च ॥३१११२७॥ कुलशब्दादपत्ये ढकञ् भवति यश्च । कुलस्यापत्यं कुलोऽपत्यं ।  
वत्स्य । इहापि भवति ईषदन्तिद्ध कुल बहुकुल “वा सुपो वटुः प्राकु” [ ४१११२७ ] इति वटुः ।

महतोऽग्रखञौ ॥३१११३०॥ महच्छब्दपूर्वात् कुलशब्दात् अग्रखञौ इत्येतौ भवतः । महतः आलविषये अभिधानं माहाकुलः । माहाकुलीनः । केचित्त्वस्यानुवृत्तिमिच्छन्ति । माहाकुलीनः । आलविषये इति किम् ? महतां कुलं महत्कुलं तस्मात् “सादेः” [३१११२६] इति खः । महत्कुलीनः ।

दुसो ढण् ॥३१११३१॥ दुःशब्दपूर्वात् कुलादपत्ये ढण् भवति । पापं कुलं दुष्कुलम् “इहुहुडोऽय्य-पुम्मुहुसः” [५१४१२८] इति सत्वत्वे । दुष्कुलस्यापत्यं दौष्कुलेयः । केचित् खमप्यनुवर्तयन्ति । दुष्कुलीनः ।

स्वसुश्रुः ॥३१११३२॥ स्वसुशब्दादपत्ये श्रुः भवति । अणोऽपवादः । स्वसीयः ।

भ्रातुर्व्यश्च ॥३१११३३॥ भ्रातृशब्दादपत्ये व्यो भवति छश्च । अणोऽपवादः । भ्रातुरपत्यं भ्रातृव्यः । भ्रात्रीयः । कथं लोके भ्रातृव्यशब्देन सप्तलोऽभिधीयते ? उपचारात् । एकद्रव्याभिलाषश्च उपचारनिमित्तम् । सपती इव सपत्नः शक्तः । पृषोदरादिपाठादकारो निपात्यते ।

रेवत्यादेष्ठण् ॥३१११३४॥ रेवती इत्येवमादिभ्योऽपत्ये ठण् भवति । अणादीनामपवादः । रेवत्या अपत्यं रैवतिकः । रेवती अश्वपाली मणिपाली द्वारपाली वृकवञ्चिन् वृकग्राह कर्णग्राह दण्डग्राह कुक्कुटाक्ष ।

वृद्धस्त्रियाः क्षेपे णश्च ॥३१११३५॥ पौत्राद्यपत्यं वृद्धं क्षेपः कुत्सा । वृद्धस्तीवाचिशब्दादपत्ये णो भवति ठण् च क्षेपे गम्यमाने । गार्ग्या अपत्यं युवा गार्गो जाल्मः । गार्गिको जाल्मः । ग्लुचुकायन्या अपत्यं युवा ग्लौचुकायनो जाल्मः । ग्लौचुकायनिको जाल्मः । क्षेपश्चात्र प्रतिषिद्धाचरणेन पितुरज्ञानाद्वा गम्यते । वृद्ध इति किम् ? कारिकेयो जाल्मः । स्त्रिया इति किम् ? औपगविर्जाल्मः । क्षेप इति किम् ? गार्गेयो माणवकः ।

दोष्ठण् सौवीरेषु प्रायः ॥३१११३६॥ वृद्धग्रहणं चानुवर्तते । सौवीरेष्विति वृद्धविशेषणम् । सौवीरेषु यद्वृद्धवाचि दुसश्च तस्मादपत्ये प्रायःष्ठण् भवति क्षेपे गम्यमाने । वेति वक्तव्ये प्रायोग्रहणं परिगणनार्थम् ।

“भागपूर्वपदो वित्तिर्द्वितीयस्तार्णविंदवः । तृतीयस्त्वाकशापेयो वृद्धादृणं बहुलं ततः ।”

भागवित्तेरपत्यं युवा भागवित्तिकः । भागवित्तायनः । तार्णविंदवस्यापत्यं युवा तार्णविन्दविकः । तार्णविन्दविकः । अकशाप इति शुभ्रादिषु । आकशापेयस्यापत्यं युवा आकशापेयिकः । आकशापेयिः । दुग्रहणं स्त्रीनिवृत्त्यर्थमविशेषेणेष्यते । सौवीरेष्विति किम् ? औपगविर्जाल्मः । क्षेप इत्येव । भागवित्तायनो माणवकः ।

फेरुश्च ॥३१११३७॥ वृद्धग्रहणं सौवीरेष्विति च वर्तते । फिजन्तात् सौवीरेषु वृद्धादपत्ये छो भवति ठण् च क्षेपे गम्यमाने । दोरित्यधिकारात् फेरित्यत्र फिज एव सप्रत्ययः । यमुन्द तिकादिः । यामुन्दायनीयः । यामुन्दायनिकः । प्राय इत्यनुवर्तनादणपि भवति । तस्य फिजन्तात्परस्य “जिण्यराजार्षाद्यून्युब-णिजोः” [११४१३०] इत्युप् । यामुन्दायनिर्जाल्मः । सुयामन्—सौयामायनिः । तस्यापत्यं युवा सौयामायनीयः । सौयामायनिकः । अणि । सौयामायनिः । वृषस्य वार्षायणिः । फिजः संनियोगे वृद्धयभावे वक्ष्यते वार्षायणेरपत्यं वार्षायणीयः । वार्षायणिक । अणि वार्षायणिः । क्षेप इत्येव । यामुन्दायनिर्माणवकः । अणोऽपवादः । सौवीरेष्वित्येव । तैकायनेरपत्यं युवा अण् तस्योप् । तैकायनिर्जाल्मः ।

“यमुन्दश्च सुयामा च वार्षायणिः फिजः स्मृताः ।

सौवीरेषु च हुत्सार्या द्वौ योगौ शब्दवित्स्मरेत् ॥”

फाण्टाहतेर्णः ॥३१११३८॥ क्षेप इति निवृत्तम् । वृद्धग्रहणं सौवीरेष्विति च “जिण्यराजार्षात्” [११४१३०] इत्यत्र “अणिजोरुप्यमाहणगोत्रमात्राद्युबत्यस्योपसंरयानम्” [वा०] इति उग्मा भूदिति सित्करणम् । “फिजप्यग्र भवतीति वक्तव्यम् ।” [वा०] फाण्टाहतायनिर्माणवकः । सौवीरेष्वित्येव । फाण्टाहतायनः । “सौवीरेषु निनतशब्दाण्यणफिजौ वक्तव्यौ” [वा०] मैमतः । मैमतायनिः । सौवीरेष्वित्येव । नैनति ।

कुर्वादेर्यः ॥३१११३६॥ सौर्वीरेष्विति निवृत्तम् । कुरु इत्येवमादिभ्योऽपत्ये एयो भवति । आदौ  
 णकारः “जिण्ण्यराजापान्” [ ११४१३० ] इत्यत्र विशेषणार्थः । कुरोरपत्य कौरव्यः । राजापान्  
 कुरुशब्दाज्ज्यो वक्ष्यते । तस्य द्विसंज्ञकत्वाद्बहुपू । तिकादिषु कौरव्यायणिः । कुरु गर्ग सजय अतिमारक ।  
 रथकाराजातौ च । पट्टक । सम्राजः क्षत्रिये । कवि पितृमत् । ऐन्द्रजालि धातुजि पेजि दामोष्णोपि । गणकारि  
 कैशोरि कापिञ्जलादि ऐन्द्रजाल्यादिभ्यः ततो “यूनि” [ ३११७५ ] इति यूनि एयः । क्रोड कुं शलाका  
 मुर खण्डाक पट्टक शुद्धरसी केशिनी । स्त्रीलिङ्गनिर्देशसामर्थ्यात् पुवद्भावो न भवति । शर्पणाय शत्रवान्  
 श्यावरथ श्यावपुत्र सत्यङ्कार वडभीकार पथिकारिन् मूढ सीक्ष भूहेतु शकशालीन इनपिण्डी वामरय ।  
 वामरथस्य सकलादिकार्यं भवति । सकलादयो गर्गाद्यन्तःपातिनः । बहुत्वे उन्भवति वामरथाः । स्त्री  
 वामरथी । वामरथ्यायनी । वामरथ्यायनः । वामरथ्यस्य छात्राः वामरथाः “शकलादिभ्यो वृद्धे” [ ३११८७ ]  
 इत्यण् भवतीति । वामरथानां संघः वामरथः । “संवाङ्क” [ ३११८९ ] आदिनाऽण् ।

सेनान्तलक्षणकारिभ्य इञ्च ॥३१११४०॥ कारिशब्दः कारवाचि । सेनान्तान्मृदो लक्षणशब्दात्  
 कारिवाचिभ्यश्चापत्ये इञ् भवति एयश्च । हारिपेयः । हारिपेणिः । भैमसेन्यः । भैमसेनि । जातगेन्यः ।  
 जातसेनिः । लाक्षण्यः । लाक्षणिः । कारिभ्यः-कौम्भकार्यः । कौम्भकारिः । तान्नुपायः । तान्नुपायि ।  
 तत्तन्शब्दात् शिवादिलक्षणोऽण् । स इजो बाधको न तु एयस्य । तेन द्वैरूप्यम् । ताक्षण्यः ।  
 ताक्षण्यः ।

तिकादेः फिञ् ॥३१११४१॥ तिक इत्येवमादिभ्योऽपत्ये फिजित्ययं त्यो भवति । तिकस्तापत्  
 तैकायनिः । तिक कितव सजा बाल शिखा उरस् शाठ्य सैन्धव यमुन्द रूप्य नाडी<sup>१</sup> सुमित्रा कुरु देवर देवरा  
 तितिलिन् विलालिन् उरस । कौरव्य । द्विसंज्ञस्येदं ग्रहणम् । ओरसशब्देन राष्ट्रसमानशब्देन साहचर्यात् ।  
 कथं कौरव्यः पिता कौरव्यः पुत्रः ? अनु ( अत्र ) एयान्तादिज् तस्योप् । लाङ्कव गोकक्ष भौरिकि चोपयत  
 चैटयत सैकयत दौञ्जयत त्वज्जवत् चन्द्रमस् शुभ गङ्गा वरेण्य बन्ध आरद्ध बाध्यका खल्यका लायका सुयामन्  
 उदन्या यज्ञ । यदिहवृद्ध दुसञ् पश्यते तस्य नित्यार्थं वचनम् ।

कौशल्येभ्यः ॥३१११४२॥ कौशल्यादिभ्योऽपत्ये फिञ् भवति । बहुवचनेन कर्माग्राहणाय  
 गृह्यन्ते । कौशल्यपत्यं कौशल्यायनि । सर्वत्र मूलप्रकृतेः फिञ् । तस्यायनादेशो कृते कौशल्य इति ।  
 विकृतिनिर्देशात् युट् निपात्यते । एव दागव्यायनिः । कार्मार्यायणिः । छाग्यायनिः । वार्यायणिः ।  
 राष्ट्रसमानशब्दात् कौशलात् ज्यो वक्ष्यते । कर्मारशब्दात् कारिलक्षणो एयोऽपि भवति । इज, प्रयोगा  
 नोपलभ्यते ।

द्वयचोऽणः ॥३१११४३॥ अणन्ताद् द्वयचो मृदोऽपत्ये फिञ् भवति । इजोऽपवादः । फि  
 रपत्य कार्यायणिः । पोतुरपत्य पौत्रः; तस्यापत्य पौत्रायणिः । एव शत्रायनिः । द्वयच इति फिञ् ? औपगणिः ।  
 अण इति किम् ? दाक्षिः ।

वा वृद्धाहो ॥३१११४४॥ पौत्रायपत्य वृद्धम् अवृद्ध यद्वृद्धं तन्मादफने वा फिञ् भवति ।  
 वायुरथायनिः । वायुरथिः । आदित्यगतायनिः । आदित्यगति । कारिगुह्यासत्वादेनेन भवति । नार्थि  
 यनिः । एयोऽपि भवति । नायिन् । इजोऽभिवान नायि । अवृद्धादिति फिञ् ? आरम्पनायनः । औपगणिः ।  
 दोरिति किम् ? आश्वनीति ।

गारेविः । वाकिन गारेव कार्कश्य काक लङ्क । वर्मिचर्मिणोर्नख च । यदिहावृद्धं द्रुमंश तस्य कुगर्थं वचनम् ।  
अन्यस्योभयार्थम् ।

पुत्रान्ताद्वा ॥३१११४६॥ वा वृद्धादोरिति वर्तते । पुत्रान्तान्मृदो द्रुमशकाद् वा कुगागमो भवति  
फिजि परतः । प्रकृतेन वामहणेन फिज् विकल्प्यते अनेन कुक् । तेन त्रैरूप्यम् । वासवदत्तापुत्रस्यापत्य वासव-  
दत्तापुत्रकायणिः । वासवदत्तापुत्रायणिः । वासवदत्तापुत्रिः । गार्गीपुत्रकायणिः । गार्गीपुत्रायणिः ।  
गार्गीपुत्रिः ।

फिरदोः ॥३१११४७॥ त्यान्तरोपादानात् फिजि निवृत्ते तत्सबद्धः कुगपि निवृत्तः । वेति वर्तते ।  
अदोर्मृदोऽपत्ये फिर्भवति वा । त्रिपृष्ठायनिः । त्रैपृष्टि । श्रीविजयायनिः । श्रीविजयिः । ग्लुचुकायनिः । ग्लौचुकिः ।  
ग्लौचुकाचनिः । ग्लौचुकिः । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेनेह न भवत्येव । दाक्षिः । प्लाक्षिः । अदोरिति  
किम् ? रामदत्ति ।

मनोजातौ पुक्चाऽज्यौ ॥३१११४८॥ मनुशब्दात् अज य इत्येतौ त्यौ भवतः पुक् चागमः समुदायेन  
जातौ गम्यमानायाम् । मानुषः । मनुष्यः । अपत्यापत्यवत्सबन्धद्वारेण व्युत्पत्तिमात्रं क्रियते । परमार्थतस्तु  
रुद्धिशब्दावेतौ । अत एव “यज्जोः” [११४१३५] इति बहुषून् भवति । मानुषा इति । जाताविति किम् ?  
अपत्यमात्रेऽण् (औत्सर्गिकोऽण्वेव) भवति । लोहितादिपाठात् पौत्रादौ यजि तून्भवति । मानव्यः । मानव्यौ ।  
मनवः । स्त्री मनव्यायनी । [ जाताविति किम् ? अपत्यमात्रे औत्सर्गिकोऽण्वेव भवति । ]

“पुरुदेवस्य पौत्रादा(त्रोऽस्मा)वर्ककीर्तिर्जिता हतः । पाळयामास लक्ष्मीवान् मानवो मानवाः प्रजाः॥”  
वृद्ध पत्यविवक्षाया तु गर्गादित्वाद्यजा भवितव्यम् ।

“क्षपत्ये कुत्सिते मूढे मनोरौत्सर्गिकः स्मृतः । नकारस्य च मूर्द्धन्यस्तेन सिद्ध्यति माणवः ॥”

नेद एत्वार्थं बहु वक्तव्यम् । “माणवचरकात् खज्” [३१४११०] इति निपातनात् सिद्धम् ।

द्विः ॥३१११४९॥ यानित ऊर्ध्वमापादपरिसमाप्तेस्त्यान्वक्ष्यामो द्विसंज्ञास्ते वेदितव्याः । वक्ष्यति  
“राष्ट्रशब्दाद्वाशोऽज्” [३१११५०] पाञ्चालः । पाञ्चालौ । पञ्चालाः । सत्या द्विसंज्ञाया “द्वैर्बहुषु तेनैवा-  
स्त्रियाम्” [११४१३३] इत्युप् सिद्धः ।

राष्ट्रशब्दाद्वाशोऽज् ॥३१११५०॥ राष्ट्र जनपदः । राजशब्दश्चेह क्षत्रियपर्यायः । राष्ट्रशब्दाद्वाजवा-  
चिनोऽपत्येऽज् भवति । स्वभावतः पञ्चालादिशब्देन राष्ट्र राजा चाभिधीयते । अथवा पञ्चालानां निवासो  
जनपद इति निवासार्थं आगतस्याणो “जनपद उस्” [३१२१६१] इति उप् कृते अवरकालेनापि पञ्चालशब्देन  
क्षत्रियशब्दो लक्ष्यते । यथा देवदत्तस्य पितेति । पञ्चालस्यापत्य पाञ्चालः । पाञ्चालौ । पञ्चालाः । ऐक्ष्वाकः ।  
ऐक्ष्वाकौ । इक्ष्वाकवः । इक्ष्वाकुशब्दस्य अजि “औणहत्य” [४१४१६६] इत्यादिना उख निपात्यते । राष्ट्र-  
शब्दादिति किम् ? श्रीविजयिः । द्वयोः द्वौहवः । राज इति किम् ? पञ्चालो नाम ब्राह्मणस्तस्यापत्य पाञ्चालिः ।

साल्वेयगान्धारिभ्याम् ॥३१११५१॥ साल्वा नाम क्षत्रिया तस्माद्वक्ष्यच इति ढणि साल्वेयः ।  
साल्वेय गान्धारि इत्येतोभ्यां राजशब्दाभ्यामज् भवति । अजोऽपवादे “द्विकुरुनाथजादकोशलाञ्ज्य.”  
[३१११५३] इति ज्ये प्राप्ते वचनम् । साल्वेयस्यापत्य साल्वेयः । गान्धारेरपत्यं गान्धारः । गान्धारौ ।  
बहुषुपि गान्धारयः ।

ह्यपञ्चमगधकलिङ्गसूरमसादण् ॥३१११५२॥ राष्ट्रशब्दाद्वाज इति वर्तते । द्वयचो मृदः मगध  
कलिङ्ग सूरमस इत्येतेन्यश्च अण् भवति । अजोऽपवादे । आङ्गः । वाङ्गः । सौलः । पौण्ड्रः । मागधः ।  
कलिङ्गः । सौरमसः । सर्वत्र नुदुप । अजैव सिद्धे किमर्थमण विधीयते ? “द्वयचोऽणः” [३१११५३]



इति फिञ् यथा स्यात् । नास्त्यत्र विशेषः सर्वस्यैव युवत्यस्य द्वेस्तरस्योविष्यते । इह तर्हि विशेषः राजसमान-  
शब्दराष्ट्रात् तस्य राजन्यपत्यवदिति वक्ष्यते । अङ्गानां राजा आङ्ग इति अणि सति आङ्गस्यापत्य आङ्गा-  
यनिः । “द्वयचोऽणः” [३।१।१४३] इति फिञ् । युवत्योऽयं न भवतीति उप नास्ति । अणि च अत्रि सति  
संघाद्यर्थविवक्षायां प्रसज्येत । अणि सति “वृद्धचरणान्जित्” [३।३।१४] इति वुन् भवति । आङ्गकः ।  
वाङ्गकः । मागधकः । कालिङ्गकः । सौरमसकः ।

द्वित्कुरूनाद्यजादकोशलज्ज्यः ॥३।१।१५३॥ दुसंजान्मृद इकारान्तात् कुरुशब्दात् नकारादेः  
अजादकोशलशब्दाभ्यां च ज्यो भवति । अजोपवादः । दोः—आम्बष्ठस्यापत्य आम्बष्ठ्यः । सौवीरस्य सौवीर्यः ।  
काम्बचस्य काम्बच्यः । दार्वस्य दार्व्यः । द्वयजलान्णोऽपि फिञ् परत्वादेतेन बाध्यते । इकारान्तात् अवन्तेराज-  
न्य । कुन्तेः कौन्त्यः । वसन्तेर्वासन्त्यः । तपरकरणं किम् ? कुमारी नाम जनपदः क्षत्रियश्चास्ति । तस्यापत्यं  
कौमारः । कुरोः—कोरव्यः । नादेः—निचकस्य नैचक्यः । निषधस्य नैषध्यः । नोपस्य नैष्यः । अजादस्य  
आजाद्यः । कोशलस्य कौशल्यः । सर्वत्र बहुपू ।

साल्वावयवप्रत्यग्रथकलकूटाश्मकादिब् ॥३।१।१५४॥ साल्वा नाम मानुषी क्षत्रिया तस्या  
अपत्यं “द्वयच.” [३।१।११०] इति ढणि साल्वेय इत्युषि कृते निपातनादणपि भवति । साल्वः क्षत्रियः  
तस्य निवासो जनपदः साल्वः । तदवयवाः ।

“उदुम्बरास्तिष्ठलला मद्रकाया युगन्धराः । सुलिङ्गाः शरदण्डारच साल्वावयवसंज्ञिताः ।”  
साल्वावयवेभ्यो राजवाचिभ्यः प्रत्यग्रथिः । कालकूटिः । आश्मकिः । सर्वत्र बहुपू योज्यः ।

पाण्डोर्द्व्यण् ॥३।१।१५५॥ राष्ट्रशब्दाद्राज इति वर्तते । पाण्डुशब्दाङ्ङ्यण् भवत्यपत्येऽयं । पाण्डो-  
रपत्यं पाण्ड्यः । डकारो टिलार्थः । शकारः “ङ्णिङ्धदरक्तविकारे” [४।३।१५१] इति पुवद्वावप्रतिषेधार्थः ।  
पाण्ड्या भार्या अस्य पाण्ड्यभार्यः । कथमयं प्रयोगः असिद्धितीयो न सप्तार पाण्डवः ? पाण्डवा यस्य दाणाः  
इति ? येन जनपदेन समानशब्दो राजा तस्य जनपदस्य स्वामी यदि विवक्षितस्तदाय विधिवेदितव्यः । अन्य-  
त्रोत्सर्ग एव भवति । “इह प्रकरणे राजसमानशब्दात् राष्ट्रात् तस्य राजन्यपत्यवदिति वक्तव्यम्” [त्रा०]  
राजसमानशब्दात् राष्ट्रात् तत्प्रेति तावमर्थात् राजन्यभिधेये अपत्य इव त्यविधिर्भवति । पाञ्चालानां राजा  
पाञ्चाल । सङ्ख्येयानां राजा सङ्ख्येयः । एव आङ्गः । आम्बष्ठ्यः । औदुम्भरिः । पाण्डवानां राजा पाण्डवः ।  
सर्वत्र बहुपू । अस्मादपत्यविवक्षायां “वा वृद्धाहोः” [३।१।१४४] इति फिञ् । पाञ्चालायनिः ।

उप् चोलादेः ॥३।१।१५६॥ राष्ट्रशब्दाद्राज इति वर्तते । चोलादेः परस्योत्र्भवति । कस्य ? सभायां  
दण्डोः । चोलस्यापत्यं चोलः । केरलः । कम्बोजः । शकः । यवनः । आदिशब्दः प्रकारवाची तस्य राजनीति  
वर्तते । चोलानां राजा चोलः ।

कुन्त्यवन्ति कुरुभ्यः स्त्रियाम् ॥३।१।१५७॥ कुन्ति अवन्ति कुरु इत्येनेभ्यः उत्पन्नान् द्वे क्त्वा मां  
क्षियामभिधेयाम् । कुन्ती । अवन्ती । कुरुः । “द्वित्कुरूनाद्यजादकोशलज्ज्यः” [३।१।१५३] इत्यप्युक्ती  
कृते “इतो मनुष्यजानिः” [३।१।१५५] इति टीविधिः । कुरुशब्दात् “ऊरुत्” [३।१।५६] इति ङयः ।

भर्गादिरिति किम् ? प्राच्या ये राष्ट्राभिधाना राजानस्तेभ्य उप प्रतिषिध्यते । पाञ्चाली । वैदेही । पेषली । आङ्गी । वाङ्गी । सौखी । पौण्ड्री । मागधी । कालिङ्गी । भर्गादिप्राच्यार्थ उप प्रतिषेधः । भर्गस्यापत्यं स्त्री भार्गी । करुषस्य कारुषी । भर्गं करुष केकय कश्मीर सेत्व (सुल्वा) सुस्थाल उरस कौरव्य । वचनाद्यर्थेण उपि कुरुः । अनेनानुपि कौरव्येति । यौधेयः । शौक्तेय शौभ्रेय घातये प्रावाणेय नृगर्त भरत । उशीनर । कस्य पुनरकारस्य यौधेयादिभ्यः द्रुसंशकेभ्यः परस्योप् प्राप्तः प्रतिषिध्यते ? उच्यते । ‘पर्वदिरेण्’ [४।२।६] इति द्विसंज्ञकोऽण् स्वार्थिको वक्ष्यते । तस्याय प्रतिविधिः न तु राष्ट्रसमानशब्दात् । आपत्यस्य उबुच्यमानः कथ स्वार्थिकस्य भिन्नप्रकरणस्य द्वेऽन्भवति । इदमेव यौधेयादिभ्यः प्रतिषेधवचनं शापक भिन्नप्रकरणस्यापि द्वेऽन्भवति । आपत्यग्रहणेन गृह्यते इति किमेतस्य शापने प्रयोजनम् । इह त्रियामुप् । पशुः रक्षाः असुरी इति पशु रक्षश्च असुर इति राष्ट्रशब्दा राजानः एषामपत्य संघः स्त्रीत्वविशिष्टो विवक्षित इति अणञोरागतयोः “उप् चोळादेः” [३।१।१५६] इति उपि कृते पुनः “पर्वदिरेण्” [४।२।६] इति स्वार्थिकोऽण् । तस्यापि त्रिया-मनेनोप् सिद्धः ।

इत्यभयनन्दिविरचिताया जैनेन्द्रमहावृत्तौ तृतीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ।

तेन रक्तं रागात् ॥३।२।१॥ रज्यतेऽनेन शुक्लं वस्त्विति रागः, कुसुम्भादि द्रव्यम् । तेनेति भासमर्थत्वात् रागविशेषवाचिनो मृदो रक्तमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । कषायेण रक्त वस्त्रं काषायम् । हारिद्रम् । कौसुम्भम् । माञ्जिष्ठम् । रागादिति किम् ? देवदत्तेन रक्तम् । “पुंस्त्रौ घः प्रायेण” [२।३।१००] इत्येतद् धञ्विधानेऽपेक्ष्यते । तेन वर्णविशेषस्य रागस्य ग्रहणादिह न भवति । पाणिना रक्तमिति । इहोप-मानाद्भवति । काषायौ गर्दभस्य कर्णौ । हारिद्रौ कुक्कुटस्य पादाविति ।

नीलपीतादकौ ॥३।२।२॥ नील पीत इत्येताभ्या भान्ताभ्या रक्तमित्येतस्मिन्नर्थे यथासंख्यम् अ क इत्येतौ त्यौ भवतः । नीलेन रक्त नीलम् । लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् । नील्या रक्त नीलम् । पीतेन रक्तं पीतकम् ।

लाङ्गारोचनाशकलकर्दमादृण् ॥३।२।३॥ लाङ्गादिभ्यो भासमर्थेभ्यो रक्तमित्येतस्मिन्नर्थे ठञ् भवति । अणोऽपवादः । लाङ्गया रक्त लाङ्गिकम् । शाकलिकम् । शकलकर्दमाभ्यामणपीथ्यते ।

भायुक्तः कालः ॥३।२।४॥ तेनेति वर्तते । भविशेषवाचिनो मृदो भासमर्थत्वाद् युक्त इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । योऽसौ युक्तः कालश्चेत् स भवति । नित्ययुक्तौ हि भकालौ न तयो सन्निकर्षविप्रकर्षौ स्त । तत्कथं पुष्यादिना ‘भेन युक्तः काल’ इत्युच्यते ? व्यभिचाराभावात् । नैष दोषः । इह पुष्यादिसमीपस्थे चन्द्रनसि पुष्यादयः शब्दाः वर्तमाना गृह्यन्ते । पुष्येण युक्तः काल पुष्यसमीपगतः चन्द्रमसा युक्त इत्यर्थः । पौषी रात्रिः । पौषमहः । “तिष्यपुष्ययोर्भाशि” [४।४।१३६] इति यकारस्य लम् । माषी रात्रिः । माषमहः । भादिति किम् ? चन्द्रमसा युक्ता रात्रिः । काल इति किम् ? पुष्येण युक्तश्चन्द्रमाः ।

उसभेदे ॥३।२।५॥ अमेदो नामाविशेषः । पूर्वेण विहितस्योप् भवति न चन्द्रेण युक्तस्य कालस्य भेदो रात्र्यादिविशेषोऽभिधीयते । अय पुष्यः । अय कृत्तिकाः । अय रोहिण्यः । “युक्तवदुसि छिन्नसंख्ये” [१।१।६८] इति युक्तवद्भावः । अत्र यावान् कालः त्रिशन्मुहूर्तमात्रो भेन युक्तो न तस्य भेदोऽभिधीयते अमेद इति किम् ? पौषी रात्रिः । पौषमहः । अमेद इति प्रसज्यप्रतिषेधः । तेनेहापि न भवति । पौषोऽहोरात्रः

पौपः कालः इति । अथेह कथमुस् न भवति अथ दिवा पुष्यः । अथ रात्रौ पुष्य इति । पूर्वमष्टप्रश्नान्मन्त्रस्य समुदायस्याभेद उच्यते विधाय पञ्चादिवारात्रिशब्दयोः प्रयोगः कृतः ।

खो श्रवणाश्वत्थाभ्याम् ॥३१२।६॥ खो भेदेऽपि उच्यते यथा स्यादित्यारम्भः । श्रवणं श्रवत्ये इत्येताभ्यामुत्पन्नस्य त्यस्योस् भवति खुविपये । श्रवणेन युक्ता श्रवणा रात्रिः । श्रवत्येन युक्ता श्रवत्या रात्रिः । श्रवत्यो मुहूर्तः । “कात्पुनीश्रवणाकार्तिकीचैत्रीभ्यः” [ ३१२।१८ ] इति श्रवणाशब्दनिर्देशो जापक इत्यत्र उच्यते युक्तवद्भावो न भवति । खविति किम् ? श्रावणी रात्रिः । आश्वत्थी रात्रिः ।

द्वन्द्वान्छुः ॥३१२।७॥ मद्द्वन्द्वान्छुमर्थ्यात् युक्तः काल इत्येतस्मिन्नर्थे छो भवति भेदे चाभेदे च । अणोऽपवादः । राधानुराधीयम् । राधानुराधीय तिष्यपुनर्वसवीयमहः । अत्र तिष्यपुनर्वसीयम् । अत्र परत्वादुसो बाधकः ।

परिवृतो रथः ॥३१२।८॥ तेनेति वर्तते । तेन परिवृत इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति; यः परिवृतो रथश्चेत् स भवति । वस्त्रेण परिवृतो रथो वास्त्रः । काम्बलः । चाम्बलः । “अन” [ ४।१।१८ ] इति अणि टिक्त्वाभावः । रथ इति किम् ? वस्त्रेण परिवृता शय्या । स इह कस्मान्न भवति छात्रैः परिवृतो रथ इति ? अनभिधानात् । अथवा समन्ताद्वृतः परिवृत इत्याश्रयणात् । रथैकदेशस्त्यमुत्पादयति न छात्रादिः । इह कस्मादण् न भवति । पाण्डुकम्बलैः परिवृतो रथ इति ? अनभिधानात् । कथं पाण्डुकम्बली रथ इति पाण्डुकम्बला अथ संवृत्ता ( सन्ति ग्रीवादि ) पाठात् यस्मै कृते इन्द्रष्टव्यः । ठस्याभिधानं नास्ति । “तीयान्तात् स्वार्थं वा ईकण् वक्तव्यः” [ वा० ] द्वैतीयिकम् । द्वितीयम् । तार्तीयिकम् । तृतीयम् । “विद्याया अभिधाने नेत्यते” [ वा० ] द्वितीया विद्या । तृतीया विद्या । इह कथमण् भवति ? न । वयते पूर्वं पतिर्यस्याः सा अग्र्यां कुमारी । तादृशीं कुमारीमुपपन्नः कोमारः पतिरिति ‘तत्र भवः’ [ ३।१।२८ ] इत्यण् भविष्यति । कुमारो भवः पतिः कोमारः पतिः । पुयोगात् कोमारी भार्या इत्यपि सिद्धम् ।

तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः ॥३१२।९॥ मुक्तावशिष्टमुद्धृतमुच्यते इति केचित् । तत्तु नातिश्लिष्टम् अत्रापि प्रयोगात् । उद्धृतं ब्राह्मणेन लब्धमिति । तत्रेति ईप्समर्थ्यादमनवाचिनो मृदः उद्धृतमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । सरात्रेषु उद्धृतं ओदनः सारात्रः । माह्ववः ( माह्विकः ) । अमनस्य इति किम् ? पाणाबुद्धृतं ओदनः ।

स्थण्डिलः ॥३१२।१०॥ स्थण्डिल इति निपात्यने । स्थण्डिलशब्दादीवन्ताच्छ्रित्यर्थाभिधानेन निपात्यने समुदायेन त्रये गम्ये । स्थण्डिले शंते स्थण्डिला ब्रह्मचारी । तत्रादन्यत्र स्थण्डिलं शो देवदत्त इति ।

संस्कृतं भक्षाः ॥३१२।११॥ सतो गुणान्तराधानं संस्कारः । खरविष (रा) दमन्यरा भक्षाः । तत्रेति ईप्समर्थ्यात् संस्कृतमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति यन्नं संस्कृतं भक्षाश्चेन्नद् भक्षाः । भा संस्कृता भ्राष्ट्राः । एव केनासा. ( कालायाः ) पात्रा । भक्षा इति किम् ? फलके संस्कृतो मानागुणः ।

शूलाखाद्यः ॥३१२।१२॥ शूल उवाच दयेताभ्या ईप्समर्थ्याभ्या संस्कृतं भक्षा इत्येतस्मिन्नर्थे यो न भक्षः । अणोऽपवादः । शूले-संस्कृतं शूलम् । उवाचा संस्कृतमुच्यते । उपमानात् सिद्धम् । पिठे शूले दानं । पिठरशूलम् । मयूरस्य मयूरिणात् मयूरिः ।

ओदश्वितः ॥३१२१४॥ उदश्वित्-शब्दादीप्समर्थात् संस्कृतं भक्षा इत्येतस्मिन्नर्थे ठण् भवति ।  
उदश्विति संस्कृत ओदनः औदश्विकः । औदश्वितः । अतोऽपि वावचनाज्जायते तेन संस्कृतात्तत्र संस्कृत-  
स्यार्थभेदः । अन्यथेवन्तादण् भान्तादण् इत्युभयं सिद्धं स्यात् ।

क्षीराड्ढण् ॥३१२१५॥ क्षीरशब्दादीप्समर्थात् संस्कृतं भक्षा इत्येतस्मिन्नर्थे ढण् भवति ।  
अणोऽपवादः । क्षीरे संस्कृता क्षैरेयो यवागूः ।

सास्मिन् पौर्णमासीति खौ ॥३१२१६॥ सेति वासमर्थादस्मिन्निति ईबर्थे यथाविहितं त्यो  
भवति यत्तद्वानिर्दिष्टं पौर्णमासी सा चेद्भवति । इतिकरणाद्यदि लोके विवक्षा समुदायेन चेत् संज्ञा गम्यते ।  
पूर्णमासा चन्द्रमसा युक्तः कालः पौर्णमासी । इदमेव जापकमन्त्राण् भवतीति । माघी पौर्णमास्यस्मिन्  
मासेऽर्द्धमासे संवत्सरे वा माघो मासोऽर्द्धमासः संवत्सरः । एवं पौषः । स्वाविति किम् ? माघी पौर्णमास्य-  
स्मिन् पञ्चदशरात्रे । इतिशब्दः किमर्थः ? विद्यमानेऽपि लक्षणौ लौकिकप्रयोगानुसारणार्थः । इह मा भूत् ।  
माघी पौर्णमासी अस्मिन् हि भवति संवत्सरपर्वणि ।

अश्वत्याग्रहायणीभ्यां ठञ् ॥३१२१७॥ सास्मिन् पौर्णमासीति वर्तते । अश्वत्थाग्रहायणी  
इत्येताभ्यां पौर्णमासीति वासमर्थाभ्यामस्मिन्निति ईबर्थे ठञ् भवति । अणोऽपवादः । अश्वत्थेन युक्तः कालः  
अश्वत्या पौर्णमासी अस्मिन्मासे अर्द्धमासे संवत्सरे वाऽश्वत्थिकः । अग्रहायणेन युक्तः कालः आग्रहायणी  
आग्रहायणिकः ।

फाल्गुनोधवणाकार्तिकीचैत्रीभ्यो वा ॥३१२१८॥ फाल्गुन्यादिभ्यो वा ठञ् भवति । सास्मिन्  
पौर्णमासीति वर्तते । फाल्गुनी पौर्णमासी अस्मिन् मासे संवत्सरे वा फाल्गुनिकः । फाल्गुनः । एवं श्रावणिकः ।  
श्रावणः । कार्तिकिकः । कार्तिकः । चैत्रिकः । चैत्रः ।

सास्य देवता ॥ ३१२१९ ॥ सेत्यत्र लिङ्गवचने अप्रधानभूते । सेति वासमर्थादस्येति ताऽथ  
यथाविहितं त्यो भवति यत्तद्वानिर्दिष्टं देवता चेत्स भवति । अर्हन् देवता अस्य अर्हतः । भगवती देवता अस्य  
भागवतः । बार्हस्पत्यः । सेति वर्तमाने पुनः साम्रहणं संज्ञाविषयनिवृत्त्यर्थम् । तेन संज्ञाया वायं विधिः ।  
देवतेति किम् ? कन्या देवदत्तस्य ।

कस्येः ॥३१२२०॥ कशब्देन प्रजापतिरभिधीयते । कस्य इकारोऽन्तादेशो भवत्यण् च सास्य  
देवतेत्यस्मिन्विषये । को देवताऽस्य कार्यं हविः । अणि पूर्वेण सिद्धे इत्वार्यं वचनम् । आरम्भसामर्थ्यात्  
“यस्य ह्या च” [ ४।४।१३५ ] इति खं न भवति ।

शुक्राद् घः ॥३१२२१॥ शुक्रशब्दाद् घो भवति । अणोऽपवादः । सास्य देवतेति वर्तते । शुक्रो  
देवतास्य शुक्रियः ।

अपोनप्त्रपान्पृभ्याम् ॥३१२२२॥ घ इति वर्तते । अपोनप्त्र अपान्पृ इत्येताभ्यां घो भवति ।  
अणोऽपवादः । साऽस्य देवतेति वर्तते । अपोनपादेवताऽस्य अपोनप्त्रियः । अपान्पृपादेवता अस्य अपान्-  
प्त्रियः । प्रत्यय (त्य) सन्नियोगेन प्रकृत्योः अपोनप्त्रापान्पृभावो निपात्यते । संप्रेषे अपोनपाते ब्रूहि अपान्पृपाते  
ब्रूहि इति भवति ।

छः ॥३१२२३॥ अपोनप्त्र अपान्पृ इत्येताभ्यां छश्च भवति सास्य देवतेत्यस्मिन् विषये ।  
अपोनप्त्रीयः । अपान्पृपत्रीयः । योगविभाग उत्तरार्थः “पौङ्गीपुत्रादिभ्यश्छो वक्तव्यः” [ वा० ] पौङ्गी-  
पुत्रीयः । तार्णविन्दवीयः । “शतरुद्राद्वश्च” [ वा० ] शतरुद्रीयः । शतरुद्रीयः ।

महेन्द्राद्घाऽणौ च ॥३।२।२४॥ सास्य देवतेति वर्तते । महेन्द्रशब्दाद् घ अण् इत्येतौ भज-  
श्छश्च । महेन्द्रो देवता अस्य महेन्द्रियः । माहेन्द्रः । महेन्द्रीयः ।

सोमाट्ठ्यण् ॥३।२।२५॥ सोमशब्दाट्ठ्यण् भवति सास्य देवतेत्यस्मिन्विपये । अणोऽपवादः ।  
सोमो देवता अस्य सौम्यः । स्त्रियां सौमी । “हलो हतो ङघाम्” [४।४।१४०] इति यत्तम् ।

वाय्वृतुपित्रुपसो यः ॥३।२।२६॥ वायु ऋतु पितृ उषष् इत्येतेभ्यो यो भवति । अणोऽपवादः ।  
साऽस्य देवता इति वर्तते । वायव्यः । ऋतव्यः । पितृव्यः । “रीटृतः” [५।२।१३६] इति  
रीडादेशः । उपस्यः ।

द्यावापृथिवीसुनाशीरमरुत्वदग्नीषोमवास्तोष्पतिगृहमेधाञ्छ्र च ॥ ३।२।२७ ॥ याता  
पृथिवी इत्येवमादिभ्यश्छो भवति यश्च सास्य देवतेत्यस्मिन्विपये । द्योश्च पृथिवी च द्यावापृथिवीयो दो  
अस्य द्यावापृथिवीयः । द्यावापृथिव्यः । सुनो वायुः शीर आदित्यः सुनश्च शीरश्च “देस्ताहन्ते”  
[४।३।१३६] इत्यानङ् । सुनाशीरौ देवते अस्य सुनाशीरीयः । सुनाशीर्यः । मरुत्वान् देवता अस्य मरुतातीयः ।  
मरुत्वत्यः । अग्निश्च सोमश्च देवते अस्य अग्नीषोमीयः । अग्नीषोम्यः । “सोमवरुणेऽग्नेरी” [४।३।१४०]  
इतीत्वम् । “स्तुत्वसोमौ चाग्नेः” [२।४।६५] इति षत्वम् । वास्तोष्पतीयः । वास्तोष्पत्यः । पुष्टिज्ञान तापा  
अनुष्पत्वं च निपातनात् । गृहमेधीयः । गृहमेध्यः ।

सर्वत्राग्निकलिभ्यां ढण् ॥३।२।२८॥ साऽस्य देवतेति वर्तमाने सर्वत्रग्रहणं सर्वार्थग्रहणम् ।  
अग्निकलिशब्दाभ्यां सर्वेध्वर्थेयु ढण् भवति प्राग्द्रोः । अग्निर्देवता अस्य अग्नौ भवः अग्नेरागतो आग्नेयः ।  
एव कालेयः ।

कालेभ्यो भववत् ॥३।२।२९॥ कालविशेषवाचिभ्यो भव इव त्यविधिर्भवति । वत्करणं सर्वांगेण  
परिग्रहार्थम् । येभ्यः कालविशेषवाचिभ्यो मृद्भ्यो भवे ये त्या विहिताः सास्य देवतेत्यस्मिन्विपये तेभ्य एव  
मृद्भ्यस्त एव त्या अतिदिश्यन्ते । यथा माने भगं मासिकं सावसरिकं वासन्त प्रातृपेण्यम् । “कालादन्ता”  
[३।२।१३१] “भसंध्याद्यनुभ्यो वर्षाभ्योऽण्” [३।२।१३७] “प्रातृपेण्यः” [३।२।१३६] एते ।  
भवन्ति । तथा मासो देवता अस्य वसन्तो देवता अस्य प्रातृद् देवता अस्येति अत्रापि भवन्ति ।

महाराजप्रोष्ठपदाभ्यां ठण् ॥३।२।३०॥ महाराजो वैश्रवणः । महाराज प्रोष्ठपदा इत्येतानां ठण्  
भवति सास्य देवतेत्यस्मिन्विपये । महाराजो देवताऽस्य माहाराजिकः । प्रोष्ठपदा देवताऽस्या प्रोष्ठार्थिकः ।  
“ठण्प्रकारेण तदस्मिन्वर्तते इति नवयज्ञादिभ्य उपसर्ग्यानम्” [ वा० ] नवयज्ञोऽस्मिन् वर्तते ना । त ।  
पाकयज्ञिकः । “पूर्णमासादण् वक्तव्यः” [ वा० ] पूर्णमासोऽस्या वर्तते पौर्णमासी तिथिः ।

पितृव्यमातुर्जमातामहृषितामहाः ॥३।२।३१॥ पितृव्यादयः शब्दा निपायन्ते । समर्थोऽस्मिन्  
स्योऽनुबन्धनार्थ इति सर्वमिदं निपायन्ते । पितृमातृव्या ताम्रमर्थान्या अन्तरि वाच्ये व्युत्पत्त्या निपायन्ते ।  
पितृव्यम् । मातृव्यम् । मातृव्यम् । तिस्रस्तिस्रम् । “तान्यामेव पितरि ब्राम्हणः” [ वा० ] मातृव्यं तिस्रं मातृव्यम् ।  
“स एव ब्राम्हणे मातृरि वाच्यवर्ग्यं तिस्रम्” [ वा० ] मातृव्यं तिस्रं मातृव्यम् । पितृव्यं तिस्रं पितृव्यम् ।  
तिस्रस्तिस्रम् ।

पदमुक्तादिभ्योऽपि बुजादिः । काकानां समूहः काकम् । शौकम् । वार्कम् । इह पञ्चानां पूलानां समूहः पञ्चपूला इति प्राप्नोति । समूहार्थेऽण् तस्य “रस्योबनपत्ये” [३।१।७४] इत्युप् “परिमाणाद्घट्टुपि” [३।१।२९] इति नियमात् । असति डीविधौ टापा भवितव्यम् । नार्थं दोषः । समाहारलक्षण एवात्र रसः । हृदुत्यर्त्तिर्न भवत्यनभिधानात् ।

भिन्नादेः ॥३।२।३३॥ तस्य समूह इति वर्तते । भिन्ना इत्येवमादिभ्यः यथाविहितं त्यो भवति । पुनर्विधानं ठणो बाधनार्थम् । भिन्नाणां समूहः भैक्षम् । भिन्ना गर्भिणी क्षेत्र करीष अङ्गार चर्मन् सदस युवति पद्धति अथर्वन् दक्षिणा । इह पाठसामर्थ्यात् गर्भिणी-युवतिशब्दे न पुंवद्भावः ।

वृद्धोत्तोष्टोरभ्रराजराजन्यराजपुत्रवत्समनुष्याजाद्वुब् ॥ ३।२।३४ ॥ वृद्धादिभ्यो वुब् भवति । तस्य समूह इति वर्तते । औपगवानां समूह औपगवकम् । कापटवकम् । औत्तकम् । औष्टकम् । औरभ्रकम् । राजकम् । राजन्यकम् । राजपुत्रकम् । वात्सकम् । मानुष्यकम् । आजकम् । “वृद्धाच्चेति वक्तव्यम्” [वा०] वार्द्धकम् । “प्रकृत्या अके राजन्यमनुष्ययुवानः” इति “क्यच्यनाद्घृत्यापत्यरय” [४।४।१३६] इति यत्वं न भवति । इह वृद्धग्रहणात् सिद्धे राजन्यमनुष्ययोः पृथग्ग्रहणं शापकम् । अपत्याधिकारादन्यत्र वृद्धग्रहणेन लौकिक गोत्रमपत्यमात्रमुच्यते न तु पौत्राद्यपत्य वृद्धमिति । तथाहि लोके किङ्कोत्रो भवान् इति पृष्ठः वात्स्यायनोऽस्मीत्याह । राजन्यमनुष्ययोस्तु जातिशब्दत्वात् लौकिकगोत्रग्रहणम् ।

केदाराचञ्च ॥३।२।३५॥ केदारशब्दाद्यञ् भवति वुब् च तस्य समूह इत्यस्मिन्विषये । ठणोऽपवादः । केदाराणां समूह कैदार्यम् । कैदारकम् । “गणिकायाः यञ्च वक्तव्यः” [वा०] गणिकाणां समूहः गणिक्यम् ।

ठक् कवचिनश्च ॥३।२।३६॥ ठक् भवति कवचिनश्च केदाराच्च तस्य समूह इत्यस्मिन्विषये । कवचिनां समूह कावचिकम् । कैदारिकम् ।

ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल् ॥३।२।३७॥ ग्रामादिभ्यस्तल् भवति तस्य समूह इति वर्तते । ग्रामाणां समूहो ग्रामता । जनता । बन्धुता । सहायता । “गजाच्चेति वक्तव्यम्” [वा०] गजता ।

चरणेभ्यो घर्मवत् ॥३।२।३८॥ चरणादिभ्यश्च तस्य समूह इत्येतस्मिन् धर्म इव त्या भवन्ति । इदमेव शापकम् । अस्त्येत् “चरणाद्धर्माग्नाययो” [वा०] इति “वृद्धचरणाञ्जित्” [३।३।६४] इत्यारभ्य चरणाद्धर्मे त्यविधिर्वक्ष्यते, स इहातिदिश्यते । वत्करणं सर्वविशेषपरिग्रहार्थम् । यथा कठानां धर्मः काठकम् । कालापकम् । मौढकम् । पैपलादकम् । आर्वाभकम् । वाजसनेयकम् । छान्दोग्यम् । औक्थिक्यम् । आथर्वणः । “वृद्धचरणाञ्जित्” इति वुन् “छन्दोगौक्थिकयाञ्जिकवह्लुचनटाञ्ज्यः” [३।३।६७] इति ज्य । “क्षापकेणः” [३।३।१०९] इति च निपात्यते आथर्वणिकानां धर्म इत्यत्र वाक्ये । तथा कठानां समूहः काठकमित्येवमादि योक्तव्यम् ।

अचित्तहस्तिधेनोष्टण् ॥३।२।३९॥ अचित्तमचेतनम् । अचित्तार्थवाचिभ्यो हस्तिधेनुशब्दाभ्यां च ठण् भवति तस्य समूह इत्यस्मिन् विषये । अपूपानां समूहः आपूपिकम् । शङ्कुलीनां समूहः शाङ्कुलिकम् । हस्तिकम् । धेनुकम् । “पर्श्वं णस् वक्तव्यः” [वा०] पर्श्वता स्त्रीणां समूहः पार्श्वम् । सिन्वात्पदसहाया भललक्षणमोरोत्वं न भवति । खण्डिकादिभ्योऽण् वक्तव्य इति चेत् न वक्तव्यः । नास्ति विशेषोऽञि वा सत्यणि वा । खण्डिकादिषु ये चित्तवत्स्तेभ्य औत्सर्गिकोऽण् सिद्धः । ये त्वचित्तास्ते भिन्नादिषु पठनीयाः । खण्डिका एव पञ्चपञ्चकमालवादिशताः क्षत्रिया इत्यर्थः । तेषां समूह वृद्धलक्षणे वुब् प्रातः । ननु च यथा “तद्वाप्योः” [३।२।१०२] इत्यत्र राष्ट्रादुच्यमानो वुब् न राष्ट्रसमुदायान्नवति । काशिकौशलेषु भवा

काशिकोशलीया इति छ एव भवति । तथेह वृद्धादुच्यमानस्त्यः कथं वृद्धसमुदायादिति ? एव तर्हि तदन्तर्निधना भविष्यति । इदमेव जापकं सामूहिके त्वे तदन्तविधिर्भवति । चौद्रकमालवी सेना । चौद्रकमालवरुमन् । भिन्नक शुक्र उलूक । अयं यजन्तः बहुत्वेऽण प्रयोजयति । स्वन् (श्वन्) युग वरत्र हंस इति खण्डिकादिसामूहिके तदन्तविधिर्ज्ञापितः । तेन औपगवकापटवाना समूहः औपगवकापटवकम् । ब्राह्मणराजन्यकम् । दम्पश्मिना समूहः दाम्यहस्तिकम् । गोधेनुकम् । “धेनोर्नजपूर्वाया नेत्यते” [वा०] अघेनूना समूहः आघेनवम् ।

केशाश्वाभ्यां यञ्छो वा ॥३१२।४०॥ केश अश्व इत्येताभ्या यथासंख्य यञ्छ इत्येतौ लो ना भवतः । केशाना समूहः कैश्यम् । कैशिकम् । अश्वाना समूहः अश्वीयम् । आश्वम् ।

पाशादेर्यः ॥३१२।४१॥ पाश इत्येवमादिभ्यो यो भवति । तस्य समूह इति वर्तते । पाशाना सन्ः पाश्या । तृण तृण्या । धूम्या । वात वात्या । लिङ्गं लोकतो जेयम् । पाश तृण धूम वात अङ्गार पालनाल पिटल पिटाक शकल हल नल वन पृख ।

ब्राह्मणमाणववाडवात् ॥३१२।४२॥ य इति वर्तते । ब्राह्मण माणव वाडव इत्येतेभ्यो यो भवति तस्य समूह इत्यस्मिन्विषये । ब्राह्मणाना समूहो ब्राह्मण्यम् । माणव्यम् । वाडव्यम् ।

गोखलरथात् ॥३१२।४३॥ गो खल रथ इत्येतेभ्यस्तान्तेभ्यो यो भवति समूहे । गवा समूहः गव्या । खल्या । रथ्या । योगविभाग उत्तरार्थः ।

त्रेन्कट्याः ॥३१२।४४॥ गो खल रथ इत्येतेभ्यो यथासंख्यं त्र इन् कट्य इत्येते प्रत्यया (ता) भवन्ति । तस्य समूह इति वर्तते । गवा समूहः गोत्रा । खलिनी । रथकट्या । “खळादिभ्य इन् वक्तव्यः” [वा०] डाकिनी । कुटुम्बिनी । लोकतो लिङ्गव्यवस्था ।

राष्ट्रे ॥३१२।४५॥ समूह इति निवृत्तम् ; अर्थान्तरोपादानात् । तस्येति वर्तते । राष्ट्रं जनपदः । तस्येति तासमर्थत् राष्ट्रेऽयं यथाविहितं लो भवति । शिवाना राष्ट्र शैवम् । जनपदापेक्षया पुलिङ्गता प्रयोक्तव्या । शैवः । अयुष्टः (औष्टः) । आभिसारः । “राष्ट्राभिधाने बहुत्वे उस्वक्तव्यः” [वा०] अज्ञाना राष्ट्रम् अज्ञाः । वङ्गाः । मुह्याः । “गान्धार्यादिभ्यो वेति वक्तव्यम्” [वा०] गान्धारीणा राष्ट्रं गान्धार्यः । वासातः । वसातयः । शैवः । शिवाः । “राजन्यादिभ्यो वा वुज उस्वक्तव्यः” [वा०] राजन्याना राष्ट्रं राजन्या । राजन्यकः । दैवयातवः । दैवयातवकाः । “विश्ववनादिभ्यो नित्यमुग् न भवतीति वक्तव्यम्” [वा०] वैश्ववनकः । आम्बरीषपुत्रकः । आत्मकामेयकः । नेद बहु वक्तव्यम् । राष्ट्रविज्ज्ञाया निगर्गिता ज्ञायाश्च प्रतिनियमात्सिद्धम् । बहुत्वविषये जनपदस्य निवासविवक्षयेव तत्र “जनपद उस्” [३१२।११] इति उष् भवति । गान्धार्यादीना राजन्यादीना च उभयी विवक्षा विल्ववनादीना राष्ट्रविषक्षेव ।

राजन्यादेर्बुज् ॥३१२।४६॥ राजन्य इत्येवमादिभ्यस्तान्तेभ्यो बुज् भवति राष्ट्रं । राजन्याना राष्ट्रं राजन्यकः । राजन्यः । आभृति वात्सक (वाभ्रव) शालङ्कायन दैवयातव जालन्धराणा कीर्ति आत्मकामेय आम्बरीषपुत्र वसाति विल्ववन शैलूप उदुम्बर वैश्वल आर्तुनायन मप्रिय दान्ति ऊर्णाना । आतिगणेश्वरम् । मातृवत्रिगर्तविषयादीना ग्रहणम् ।

अलायन ताडायन खाडायन सौवीर ( सौवीरायण ) दासमित्रायण शौद्रायण स (श) यण्ड शौण्ड । वैश्व-  
माणव वैश्वधेनव तुण्डदेव सापिरिण्ड ।

तदस्मिन्पुद्गे योद्धृप्रयोजनात् ॥३१२४८॥ योद्धारश्च प्रयोजनं च योद्धृप्रयोजनम्, तदिति  
वासमर्थाद् अस्मिन्निति ईदृशं यथाविहितं त्यो भवति यत्तद्वानिर्दिष्टं योद्धारश्चेत् तद्भवति । प्रयोजनं चेत्  
तद्भवति । यत्तद्वानिर्दिष्टं युद्धं चेद्भवति । विद्याधराः योद्धारोऽस्मिन् युद्धे वैद्याधर युद्धम् । कौरवम् ।  
भारतम् । प्रयोजनात् खल्वपि । सुलोचना प्रयोजनमस्मिन् युद्धे सौलोचनम् । स्वायम्भुवम् । सौतारम् । संग्रामे  
त्वभिधेये पुलिङ्गता । वैद्याधरः संग्रामः । सौलोचनः संग्रामः । युद्ध इति किम् ? सुभद्रा प्रयोजनमस्मिन्वैरे ।  
योद्धृप्रयोजनादिति किम् ? रथा वाहनमस्मिन् युद्धे ।

प्रहरणमिति क्रीडायां णः ॥३१२४९॥ तदस्मिन्निति वर्तते । तदिति वासमर्थादस्मिन्निति ईदृशं यो  
भवति यत्तद्वानिर्दिष्टं प्रहरणं चेत्तद्भवति यत्तदस्मिन्निति निर्दिष्टं क्रीडा सा चेद्भवति । इतिकरणस्तत्तश्चेद्वि-  
वक्षा । अत्रोद्देशेण यत्र घातः सा क्रीडा । दण्डः प्रहरणमस्या क्रीडाया दण्डा । मौष्टा । पादा । प्रहरणमिति  
किम् ? गन्धोदकसेचनमस्या क्रीडायाम् । क्रीडायामिति किम् ? असिः प्रहरणमस्मिन् युद्धे ।

श्यैनपातातैलपाता ॥३१२५०॥ श्यैनपाता तैलपाता इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । श्येनानामिव पातः  
श्यैनपातोऽस्या क्रीडाया वर्तते श्यैनपाता । तिलानामिव पातस्तिलपातोऽस्या क्रीडाया तैलपाता । अस्मिन्नर्थे  
यो निपात्यते पूर्वपदस्य च सुमागमः । कथं दण्डपातः क्रिया अस्या तिथौ वर्तते दण्डपाता तिथिः । मुश-  
लपातोऽस्या वर्तते मौशलपाता भूमिः । पूर्वपदे इतिकरणादन्यत्रापि यो भवति ।

तद्वेत्यधीते ॥३१२५१॥ तदिति इपसमर्थात् वेत्ति अधीते इत्येतयोरर्थयोर्थाविहितं त्यो भवति ।  
तदिति प्रत्येकं सम्बद्धं धीते । तद्वेत्ति तदधीते इति । यथा “तेन दीव्यति स्नानति जयति जितम्” [३१३१२७]  
इत्यत्र तेनेति । मुहूर्तं वेत्ति मौहूर्तः । औत्पातः । व्याकरणमधीते वैयाकरणः । सैद्धान्तः ।

क्रतूक्यादिसूत्रान्ताट्ठण् ॥३१२५२॥ संपूपा यज्ञाः क्रतवः । क्रतुविशेषवाचिभ्यो मृदुभ्य उक्या-  
दिभ्यः सूत्रान्ताच्च ठण् भवति । तद्वेत्यधीते इति वर्तते । अग्निष्टोम वेत्यधीते वा आग्निष्टोमिकः । राजसूयिकः ।  
वाजपेयिकः । उक्यादिभ्यः उक्यशब्दः केषुचिदेव सामसु रुढः । स च औक्थिक्ये वर्तमानस्त्यविधिं लभते ।  
उक्यमधीते औक्थिक । औक्थिक्यमधीते इत्यर्थः । औक्थिक्यशब्दात् न त्यावधिर्भवत्यनभिधानात् । एवं  
यज्ञशब्दोऽपि याज्ञिक्ये त्यविधिं लभते । याज्ञिकः । लोकायतमधीते लौकायतिकः । सूत्रान्तात् - वार्त्तिसूत्रिकः ।  
साम्रसूत्रिकः । “सूत्रान्तादकल्पादेरिष्यते” [वा०] । तेन काल्पसूत्र इत्यण्येव भवति । सूत्रान्तग्रहणमुक्यादेः  
प्रपञ्चः । उक्य लोकायत न्याय न्यास पुनरुक्तं सज्ञा चर्चा क्रमेतरं श्लक्ष्णं सहिता पद क्रम सघात वृत्ति संग्रह  
गण गुण आयुर्वेद वसन्त । सहचरितेऽध्ययने वसन्तात् । वर्षा शरद् । व्यस्तसमस्तात् । शिशिर हेमन्त  
प्रथमगुण अनुगुण प्रथमगण । अनुगण इति वेचित् । अथर्वन् । “विद्यालक्षणकाल्पसूत्रान्तादकल्पादेः”  
[वा०] । वायसविधिकः । सार्वविधिकः । हास्तिलक्ष्णिकः । आश्वलक्ष्णिकः । मातृकल्पिकः । पैतृकल्पिकः ।  
वार्त्तिसूत्रिक । अकल्पादेरिति किम् ? काल्पसूत्रः । “विद्यामाननक्षत्र ( विद्या च नाङ्गक्षेत्र ) धर्मेतिपूर्वा”  
[वा०] १२ विद्यान्ताट्ठण्कस्तस्याय प्रतिषेधः । अङ्गविद्यामधीते आङ्गविद्य । क्षात्रविद्यः । धार्मविद्यः ।  
अविद्यः । न्ययववा विद्या इति यसेऽय प्रतिषेधः । रसे तु “रस्योबनपत्ये” [३१३१७४] इत्युपा भवितव्यम् ।  
तत्र नास्ति विशेषः । “आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च” [वा०] आख्यानाख्यायिकयोरर्थग्रहण-  
मितिरासपुराणयोः स्वरूपग्रहणम् । आख्यानात्-यावक्रीतिकः । आधिभारिकः । आख्यायिकायाः-वासव-



दत्तिकः । ऐतिहासिकः । पौराणिकः । “सर्वसादेरसाच्चोप्” [वा०] सर्वादे सादेरसाच्चोप् भवति । सर्वदेः । सर्वतन्त्रः । सादेः-सर्वात्तिकः । ससग्रहः । सर्वत्र ठण् उप् । रसात् । पञ्चकृत्यः । त्रितक्षणः । त्रिपू । विद्यालक्षणकल्पसूत्रादणुक्त । पदोत्तरपदादिक । पूर्वपदिकः । उत्तरपदिकः । “शतपष्टिभ्यां पष्टिक” [वा०] शतपथिकः । शतपथिकी । पष्टिपथिकः । पष्टिपथिकी । “अनुमूलक्षयलक्षणेभ्यश्च ठण्” [वा०] अनुसूनाम ग्रन्थः । अनुसमधीते आनुसुकः । लादियकः । लाक्षणिकः । द्विपद ज्योतिष अनुपद अनुत्त । इतिकरण प्रयोगार्थे वर्तते । ततोऽयं विभागो लभ्यते ।

क्रमानुवृत्तम् ॥३॥२॥५३॥ तद्वैचधीते इति वर्तते । क्रम इत्येवमादिभ्यो वुन् भवति । क्रमं गेतापी वा क्रमकः । क्रम पद शिक्षा मीमासा सामन् । “अनुब्राह्मणादिन्वक्तव्यः” [वा०] ब्राह्मणवृत्तयो ग्रन्थो अनुब्राह्मण तदधीते अनुब्राह्मणी । अनुब्राह्मणिनो । अनुब्राह्मणिनः । मत्पर्यायेन सिद्धेऽपि अण्त्वापनार्थमिदं वक्तव्यम् ।

उत्प्रोक्तात् ॥३॥२॥५४॥ प्रोक्तेऽयं विहितः प्रोक्तः । प्रोक्तत्वात्तादध्येतृवेदिनोक्तपत्रस्य लप्ता भवति । गोतमेनं प्रोक्त गोतमं तद्वैचधीने वा गोतमः । भद्रबाहुना प्रोक्तं भाद्रबाहव तद्वैचधीते वा भाद्रबाहवः । परस्याण उपि कृते योऽवस्थितः प्रोक्तार्यविषयोऽण् तस्य न्यत्तत्वात् “अनाचः” [३॥१॥१७] इत्यपि कारात् “टिड्ढाणञ्” [३॥१॥१८] इति डीविधिर्न भवति अतश्चापि गोतमा । भाद्रबाहवा स्त्री ।

सूत्रात्कोटः ॥३॥२॥५५॥ सूत्रार्थाचिनः ककारोऽः अध्येतृवेदिनोक्तपत्रस्य लस्योऽभवति । प्रोक्ता-र्थोऽयमारम्भः । पञ्चाध्यायाः परिमाणमस्य पञ्चक सूत्रम् । एवमष्टकं द्वादशकम् । पञ्चकमधीयो निर्दिष्टं च पञ्चका जैनेन्द्राः । अष्टकाः पाणिनीयाः । द्वादशका आर्द्रताः । “संख्याप्रकृतेरिति वक्तव्यम्” [वा०] इह मा भूत् । तत्त्वार्थार्थातिक्रमधीते तात्त्वार्थार्थात्तकः । कलापकमधीयते कालापकाः ।

यार्थम् । पाराशर्येण प्रोक्तं सूत्रमधीयते पाराशरिणो भिन्नवः । शिलालिना पोक्तमधीयते शैलालिनो नयः । शौनकादिषु “पाराशर्यशिलादिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः” [ ग० सू० ३।३।७७ ] इति णिन् । कर्मन्देन प्रोक्तमधीयते कर्मन्दिनः । कुशाश्वेन प्रोक्तमधीयते कुशाश्विनः । शौनकादिष्वेव “कर्मन्दकुशाश्वभ्यामिन्” [ ग० सू० ३।३।७७ ] इति भिक्षुनटसूत्रयोरिति वर्तते ।

तदस्मिन्नस्तोति देशः खौ ॥३।२।५७॥ तदिति वासमर्थादस्मिन्नितीत्रथे यथाविहितं त्यो भवति । यत्तद्वासमर्थमस्ति चेत् तद्वति । यत्तदस्मिन्निति निर्दिष्ट देशश्चेत्तद् भवति । समुदायेन खुविषये । इति-करणाद् भूमादिविषये विवक्षा । औदुम्बरः । वाल्वजः । पार्वतः । मत्वर्थोऽनेन बाध्यते ।

तेन निर्वृत्तः ॥३।२।५८॥ देशः खाविति वर्तते । तेनेति भासमर्थाद् निर्वृत्त इत्येतस्मिन्नर्थे यथा-विहितं त्यो भवति देशः खौ । ककन्देन निर्वृत्ता काकन्दी । मकन्देन निर्वृत्ता माकन्दी । कुशाम्बेन निर्वृत्ता कौशाम्बी । सस्तेण निर्वृत्ता साहसो परिखा । खावित्येव । वनेन निर्वृत्तम् । इह यदाऽकर्मका अपि घवः सगयः सकर्मका भवन्तीति कर्मणि निर्वृत्तशब्दो व्युत्पाद्यते, तदा तेनेति कर्तरि करणे वा भा । यदा त्वकर्म-कविवक्षया कर्तरि निर्वृत्तशब्दस्तदा हेतौ भा ।

तस्य निवासादूरभवौ ॥३।२।५९॥ देशः खाविति वर्तते । तस्येति तासमर्थात् निवास अदूरभव-इत्येतयोरर्थयोर्यथाविहितं त्यो भवति देशनामिन् गम्यमाने । निवसन्त्यास्मिन्निति निवासः “एळः” [२।३।१०२] इत्यधिकरणे घञ् । भवतीति भवः । पचाद्यच् । अदूरे भवः निपातनात्सविधिः । वसतेर्निवासः वासातम् । औषुष्टम् । शलाकाया निवासः शालाकम् । वाराणस्या अदूरभवा वाराणसी । विदिशाया अदूरभवं वैदिशम् । ग्रीहीमत्या अदूरभवं ग्रीहिमत नगरम् ।

बुद्धिष्णुकठेलसेन्नदण्ययफलिफजिष्कण्ठणोऽरीहणकुशाश्वश्यकुमुदकाशतृणप्रेक्षाश्मस-  
खिसंकाशवलपक्षकर्णसुतङ्गमवराहकुमुदादिभ्यः ॥३।२।६०॥ बुजादयः षोडश त्या यथासंख्यम-  
रीहणादिभ्य षोडशभ्यो गणोभ्यो भवन्ति यथातभव प्रागुक्तेषु चतुरर्थेषु । अरीहणादिभ्यो बुज् । अरीहणेन निर्वृत्तं अरीहणकम् । अरीहण द्रुघण द्रवण खदिर भगल उलुन्द साम्परायण क्रौञ्चायण चैत्रायण त्रैगर्तायन रायस्योप विषय विसाय उद्दण्ड उदञ्जन शालायन खण्डायन खण्डवीरण काशकृत्स्न जाम्बवत शिशपा क्रिण रैवत तैत्व वैमतायन सौमायन शाण्डिल्यायन सुयज्ञ विपाश वायस । कुशाश्वदिभ्यश्छण् भवति । कुशाश्वेन निर्वृत्त काशाधीयम् । कुशाश्व अरिष्ट वेश्मन् वेप्य विशाल रोमक लोमक ववर शवल रोमश वर्वर सुकर पूतर सदृश सुख धूम अजिर विनत अवनत इरस अयस् विकुघास अनस् अवसाय मौद्गल्य । ऋश्यादिभ्य ङो भवति । ऋश्या अस्मिन्देशे सन्ति ऋश्यकः । ऋश्य । न्यग्रोध । सर ( शिरा ) । निलीन । निवास<sup>१</sup> । निवास । वितान । विधान । निवद्ध । विबुद्ध । परिगूढ । उपगूढ । उपगूह । उच्चराश्मन्<sup>२</sup> । स्थूलबाहु । स्थूलबाह । खदिर । शर्करा । अनडुह् । परिवंश । वेणु । वीरण । कुमुदादिभ्यष्टो भवति । कुमुदान्यस्मिन् देशे सन्ति कुमुदिकम् । कुमुद । शक्करा । न्यग्रोध । कर्कट । संकट । इत्कट । मन्दु । वीज । अश्वत्य । बल्वज । ग्रथक । गर्त्त<sup>३</sup> । वरिवाप<sup>४</sup> । अक्ष । पवाश । शिरीष । कूप । विकट । कासादिभ्य इङो भवति । काशा अस्मिन्देशे सन्ति काशिलम् । आश । वास<sup>५</sup> । अश्वत्य । पलाश । पीलूप । विस । तृण । वर्धूल<sup>५</sup> । कार्दम । नड । वन । कर्पूर । कर्कट । गुरा । सा(श)कटिक । दृशादिभ्यः सो भवति । तृणान्यस्या सन्ति तृणसा । तृण । नड ।

१. निवास घ०, ५० । २. उत्तराश्मन् ५० । ३. परिवाय घ०, ५० । ४. वास ५० । ५. वर्धूल घ० ।

पर्यं । वर्णं । मूलं । वराण<sup>१</sup> । जर्जुनं । जनक<sup>२</sup> । फलं । प्रेक्षादिभ्य इञ् भवति । प्रेक्षाऽस्मिन्नस्ति प्रेक्षी ।  
 फलकं । वन्धुकं । ध्रुवक<sup>३</sup> । ध्रुवका । क्षिपका । न्यग्रोध । इत्कट । कण्टक<sup>४</sup> । संकट । कपि । अरमादिभ्यो रो  
 भवति । अस्मानोऽस्मिन् सन्ति, अस्मरम् । अश्मन् । यूथ । ऊथ । मीन । दर्भ । वृन्दा । गुडा । एण्ड ।  
 काण्ड । नग । शिखा । सख्यादिभ्यो ङण् भवति । सख्या निर्वृत्तं साख्यम् । दान्तेयम् । सलि । दन्त<sup>५</sup> ।  
 वासवदत्त । अग्निदत्त । वायुदत्त । गोपिल<sup>६</sup> । भल्ल । पाल । चक्रवाक । छगल । अशोक । सिनध ।  
 सरकापाल । संकाशादिभ्यो ण्यो भवति । संकाशेन निर्वृत्तं सांकाश्यम् । संकाश । कपिल ।  
 काश्मीर । शरसेन । सुपथिन् । सुपथञ्च । मन्मथ । यूथ । अङ्गनाथ<sup>७</sup> । कुल । अश्मन् । कूय । मलिन ।  
 तीर्थ । अगस्ति । सूर । विरत । विरह । विकर । नासिका । सादिन् । शादिन् । मगदिन् । कलिर । सरिर ।  
 गडिर । चूडार । मञ्जार । कोविदार । गोहल । चक्रवाक । अशोक । करवीरक । सीरक । सरक ।  
 मुसल । मुखर । वल्गादिभ्यो यो भवति । वलेन निर्वृत्तं वल्यम् । वल । पूल । मूल । ऊल । तल ।  
 नल । वच । क्रल । पक्षादिभ्यः फण् भवति । पक्षेण निर्वृत्तः पाक्षायणः । पक्ष । तुप<sup>८</sup> । अण्डक ।  
 मुण्ड । कम्बलिक । यका । चित्रा । अस्तिरवन् । पयिन् पन्थ च । कुम्भ । सीरक । सरक । सरस । पङ्ग ।  
 रोमन् । लोमन् । लोमक । हसक । सकर्णक । हस्त । विल । कर्णादिभ्यः फिज् भवति । कर्णेन निर्वृत्तः  
 कार्णायनिः । कर्ण । वशिष्ठ । अर्क । लुस<sup>९</sup> । द्रुपद । आनडुह्य । पाञ्चजन्य । स्किग् । कुलिश । कुम्भ ।  
 भिन्न् । जीवन्त । अण्डीवत् । सुतङ्गमादिभ्य इञ् भवति । सुतङ्गमेन निर्वृत्तः सोतङ्गमिः । सुतङ्गम ।  
 मुतिचित्त । विप्रचित्त । महाचित्त । महापुत्र । श्वेत । अण्डिक । शुक्र । विप्र । वीजवापिन् । अग ।  
 अर्जुन । अजिर । वराहादिभ्यः कण्भभवति । वराहा अस्मिन्देशे सन्ति वाराहकम् । वराह । पजारा ।  
 शिरीष । विनद । स्पल । निचद । निदग्ध । विजग्ध । विभिन्न । विभग्न । बहु । एदिर । शर्वर ।  
 कुमुदादिभ्यः टण् भवति । कुमुदानि अस्मिन्देशे सन्ति कौमुदिकम् । कुमुद । गोमय<sup>१०</sup> । रणार ।  
 दशग्राम । अश्वत्थ । शाल्मली । मुनिस्थल । कूट । शुचिकर्ण । शुचिकर्ण । इति केनित् । अग्नी  
 णादिषु कुमुदादिषु पठितस्य शिरीषशब्दस्य वरणादिषु दर्शनात् तस्य पक्षे उस् भवतीति वेदितव्यम् । उक्त्या  
 भाष्यहृता शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः शिरीषः । तस्य वन शिरीषवनम् ।

जनपद उस् ॥३॥२॥६१॥ चतुर्थ्येषु देशे खौ वन्त्यो विहितः तस्य जनपदे देशविशेषेऽभि नि उग  
 भवति । पञ्चालस्यापत्यानि पञ्चालाः । पञ्चालानां निवासो जनपदः पञ्चाला । कुराः । अज्ञाः ।  
 उस्त्येन यत्र देशः खद्विप्रयो भवति तत्रायट्म् । इह मा भूत् । उदुम्बरा अस्मिन्देशे सन्ति श्रीः ।  
 जनपदः ।

वरणादेः ॥३॥२॥६२॥ वरण इत्येवमादिभ्यन्यन्योन् भवति चतुर्थ्येषु उपसर्ग्य । अत्रापदार्थः  
 यमारम्भः । वरणादामदूरभवं वरणा नगरम् । शृङ्गेर्यान्मलय । शिरीषा ग्रामः । गोदी तदी तदीश्वरी  
 गोदी ग्रामः । एवम् अलिहयवन । पर्ण । सपादी<sup>११</sup> । जलपदी<sup>१२</sup> । मयुग । उज्जनी । गया । तदीश्वरी ।  
 उरस् । आहृदिगलोऽवन् । तेन वदरी । कटुवदनी । काशी । समन्तान्यन्योन्व्याप्य । मालापदः ।  
 इत्येवमदीन परिहृत् ।

शर्कराया वा ॥३।२।६३॥ शर्कराशब्दादुत्पन्नस्य चातुरर्थिकस्य वा उरुभवति । शर्कराशब्दः । कुमुदादिषु वराहादिषु च पाठसामर्थ्यात् पक्षे ठण्कणोः श्रवणं भवति । शर्करागामः । शर्करिकः । शार्करिकः । “केऽणः” [ ५।२।१२५ ] इति प्रादेशः । अन्ते उत्सर्गस्येवं विकल्पमिच्छन्ति । तेषां शार्करेत्यपि भवति । अन्यथा विकल्पोऽनर्थकः स्यात् ।

ठण्छौ ॥३।२।६४॥ ठण्छ इत्येतो लो भवतः शर्कराशब्दात् चतुर्ध्वर्थेषु । शार्करिकम् शर्करीयम् ।

नद्यां मतुः ॥३।२।६५॥ नद्यामभिधेयाया मृदो मतुर्भवति चतुर्ध्वर्थेषु देशे लो । उदुम्बरा अस्या सन्ति, उदुम्बरावती । वीरणावती । पुष्करावती । इक्षुमती । द्रुमती । कथं भागीरथी भेमरथी जाह्नवी ? वेत्यनुवृत्तेर्व्यवस्था ।

मध्वादेः ॥३।२।६६॥ मधु इत्येवमादिभ्यो मतुर्भवति चतुर्ध्वर्थेषु । अनयर्थोऽयमारम्भः । मधु अस्मिन्देशेऽस्ति, मधुमान् । मधु । विश । स्याणु । पृथि । इक्षु । वेणु । कर्कन्धु । शमी । करीर । हिम । विसरा । सार्यण<sup>२</sup> । उरुस् । वा<sup>३</sup>र्दाकी । वल्मीक । इष्टका । शुक्ति । आसुति । आसन्दी । शालाका । वेयवेण ।

कुमुदनडवेतसाङ्गित् ॥३।२।६७॥ कुमुद नड वेतस इत्येतेभ्यश्चतुर्ध्वर्थेषु मतुर्भवति ङिच् । कुमु- दान्यस्मिन्देशे सन्ति, कुमुद्वान् । वेतस्वान् । “महिषाच्चेति वक्तव्यम्” [ वा० ] । महिष्मान् ।

शिखाया वलः ॥३।२।६८॥ शिखाशब्दाद् वलो भवति चातुरर्थिकः । शिखाया निर्वृत्त शिखाया अदूरभव वा शिखावल नाम नगरम् ।

नडशादाङ्गित् ॥३।२।६९॥ नडशादाभ्यां वलो भवति ङिच्चतुर्ध्वर्थेषु । नडा अस्मिन्देशे सन्ति नड्वलः । शाडवलः ।

उत्करादेश्छः ॥३।२।७०॥ उत्कर इत्येवमादिभ्यश्छो भवति चतुर्ध्वर्थेषु यथासम्भवम् । उत्करेण निर्वृत्तम्, उत्करीयम् । उत्कर । सकर । सम्फल । पिप्पल । मूल । अश्मन् । अर्क । पर्य<sup>४</sup> । खण्डाजिन<sup>५</sup> । अग्नि । तिक । कितव । आतप । अशक<sup>६</sup> ।

नडादेः कुक् ॥३।२।७१॥ नड शब्द आदिभ्यस्य नडादि, तस्मात्, नड इत्येवमादिभ्यो यथासम्भव चातुरर्थिकश्छो भवति कुगागामश्च । नडा अस्मिन्देशे सन्ति नडकीयः । नड । लक्ष् । वित्त्व । वेणु । वेत्र । ेतस । वृण । इक्षु । वाष्ट । कपोत । क्रौञ्चः प्रादेशश्च । तक्षन् तखञ्च ।

शेषे ॥३।२।७२॥ अपत्यादयश्चतुर्थपर्यन्ता येऽर्था उक्तास्ततोऽन्यः शेषः, शेषेऽर्थविशेषे यथा- विहित लो भवति । चतुर्भिर्दृश्यते चातुर शकटम् । अत्रैकदृश्यते आश्वो रथः । चतुर्षां दृश्यते चानुष रूपम् । “त्वणः शब्दः । दार्शन स्पर्शन च द्रव्यम् । दृपदि पिष्टाः दार्पदाः सक्तवः । उलूखले क्षुण्णः, औलूखलो यावकः । चतुर्दश्या दृश्यते चातुर्दशं रत्नः । अनुष्टुपादिरस्य प्रगाथस्य, आनुष्टुभः । पाङ्क्तम् । जागतम् । “तेन दृष्टं साम ।” क्रौञ्चेन दृष्टं साम, क्रौञ्चम् । नामिष्टम् । वै गमिष्टम् । मायूरम् । “वामदेवालो वक्तव्यः” [ वा० ] । वामदेवेन दृष्टं वामदेव्यम् । “तच्चिद्दृष्टे सामनि जाते चापं योऽन्योऽण् दिधीयते स च ङिद्भवतीति वक्तव्यम् ।” उशनसा दृष्टं साम शीशानम् । औशनसम् । शतमिपलि जातं शातमिपः शातमिपजः । “कासाट्टजि” [३।२।१३१] प्राप्ते

१. दृष्टि व०, पृ० । २. सार्यण व० । ३. वार्दाका पृ० । ४. पर्य । सुपर्य । ख-३०, पृ० । ५. अजिन । वहाजिन । अग्नि व०, पृ० । ६. अशक पृ० ।

“भसन्त्याद्यृतुभ्योऽवर्षाभ्योऽण्” [३।२।१३७] इत्यण् । “इष्टे सामनि वृद्धादृक्कवद् वक्तव्यम्” [ वा० ] ।  
 औपगवेन दृष्टं साम, औपगवकम् । कापटवकम् । “वृद्धचरणान्जित्” [३।३।६४] इति वुन् ।

“इष्टे सामनि जाते च योऽन्योऽण् वा डिद्विधीयते । तीयादीकण् च विद्यायां वृद्धादृक्कवद्विप्यते ।”

शेष इति लक्षणमधिकारश्चायम् । शेषभूतेषु जातादिष्वर्थेषु घादयो वक्तव्यमाणा वेदितव्याः । तन्नेः  
 विशेषेष्वर्थेषु अपत्यसमूहादिषु मा भूवन्निति ।

राष्ट्राचारपारादघञौ ॥३।२।७३॥ राष्ट्र अवारपार इत्येताभ्या यथासख्य घ ख इत्येतौ लो भातः ।  
 राष्ट्रे जातः राष्ट्रियः । अवारपारीणः । “विगृहीतादपीप्यते” । अवारीणः । पारीणः । “विपरीतादपि”  
 पारावारीणः । अवारस्य पारे ( रम् ) पारावारः समुद्रः, राजदन्तादित्वात् [१।३।६६] परनियम ।

ग्रामाद्यखञौ ॥३।२।७४॥ ग्रामशब्दात् य खञ् इत्येतौ भवतः शेषार्थाऽभिधाने । ग्राम्यः ।  
 ग्रामीणः । खञो जित्करणे “जिण्दृष्टदरकृत्कारे” [४।३।१५१] इत्यत्र पुं वद्भावप्रतिषेधार्थम् ।  
 ग्रामीणभार्यः ।

कत्त्र्यादेर्ढकञ् ॥३।२।७५॥ कत्त्रि इत्येवमादिभ्यो ढकञ् भवति । कुत्सितास्त्रयो यस्या यसा ता  
 अस्त्रौ कत्त्रिः, तत्र जातो भवो वा कत्त्रेयकः । कत्त्रि । उम्भि<sup>१</sup> । पुष्कर । पुष्कल । पोदन<sup>२</sup> । मोदन ।  
 उम्बि । कुण्टिनी<sup>३</sup> । नगरी । माहिष्मती । चर्मण्वती । कुड्या । कुल्या । अनयोर्यरा च “ग्रामान्तेति  
 षकृष्यम्” [ वा० ] ग्रामेयकः । “कुक्कुक्षिग्रीवाम्यो यथासंख्यं शस्यलङ्कारेणिति षकृष्यम्” [ वा० ]  
 कौलेयको भवति ध्वा चेन्, कौलोऽन्यः । कौलेयको भवत्यसिञ्चेत्, कोक्षोऽन्यः । ग्रैवेयको भात्यलङ्कारे  
 रश्चेत्, ग्रैवोऽन्यः ।

नद्यादेर्ढण् ॥३।२।७६॥ नदी इत्येवमादिभ्यो ढण् भवति शेषे । नद्या जातो भवो वा नादेयः ।  
 नदी । मही । वारणसी । आवन्ती । कौशाम्बी<sup>४</sup> । काशफरी<sup>५</sup> । खादिरी । पूर्वनगरी । पावा । मावा ।  
 शील्वा<sup>६</sup> । दावा । सैतन । वडवाया<sup>७</sup> नृपे इति । अत्र केचित् पूर्वनगरीशब्दस्थाने पूर्वनगिरिगन्ध पठन्ति ।  
 छेदेन च त्वमुत्पादयन्ति । पुरि भवं पौरेयम् । वने भव वानेयम् । गिरी भवं गैरेयम् ।

दक्षिणापश्चात्पुस्तस्यण् ॥३।२।७७॥ दक्षिणा पश्चात् पुस्त इत्येतोर्म्यस्यण् भवति शेषे ।  
 दक्षिणस्या दिशि वसति “दक्षिणादा” [४।१।१००] इति आकारे कृते दक्षिणा, तत्र भागो दक्षिणायाः ।  
 पाश्चात्तः । पौरस्त्यः ।

टफण कापिण्याः ॥३।२।७८॥ टफण भवति कापिशीशब्दात् शेषे । कापिण्याभ्यां कापिण्याम् ।

भेस्तुट् ॥३१२।८१॥ भिसंज्ञकाद्यो भवति तुडागमः शेषे । अत्र परिगणनम् । “अमेहकतसि-  
न्नेभ्य” इति । अमात्यः । इहत्यः । कत्यः । ततस्त्यः । तत्रत्यः । परिगणन किम् ? उपरिष्ठात् जातः,  
औपरिष्ठः । भेर्ममात्रे टिलम् । परतो जातः पारतः । उत्तरादि जातः, औत्तराहः । “दोश्छः” [३१२।१०]  
एव भवति । आरातीयः । “नेधु” इति वक्तव्यम्” [वा०] नियत सर्वकाल भवं नित्यम् । “निसो गत इति  
वक्तव्यम्” [ वा० ] निर्गतो वर्णाभ्रमेभ्यो निष्ठ्यः श्वपचादिः ।

वैषमोह्यसंश्वसः ॥३१२।८२॥ ऐषमस् एषस् श्वस इत्येतेभ्यो वा यो भवति । यदा यस्तदा  
तुट् । ऐषमस्त्यः । ऐषमस्तनः । एस्त्यः । एस्तनः । श्वस्त्यः । श्वस्तनः । “श्वसस्तुट् च” [३२।१३५] इति  
पात्तिके ठञि, शौवस्तिकः । “द्वारादेः” [५।२।६] इत्यौच् ।

रूप्यद्योर्ण्यः ॥३१२।८३॥ रूप्यशब्दो द्युर्यस्य तस्मात् णो भवति शौषिकः । वृकरूप्ये जातः  
वार्करूप्यः । दुसंज्ञाया परत्वात् “धन्वयोऽः” [ ३१२।१६ ] इति वुञ् भवति । माणिरूप्ये जातः,  
माणिरूप्यकः ।

दिगादेरखौ ॥३१२।८४॥ दिग्विशेषादेर्मृदः अखौ वर्तमानात् णो भवति । व्यणोऽपवादः । शेषे ।  
पूर्वस्यां शालाया भवः पौर्वशालः । “हृदर्थ” [११३।४६] षसः । एवम् आपरशालः । दाक्षिणशालः ।  
अखाविति किम् ? पूर्वेषुकामसम्या जातः, पूर्वेषुकामसमः । अपरैषुकामसमः । “दिक्संख्यं खौ” [११३।४६]  
इति सः । “प्रार्चा प्रामाण्याम्” [५।२।१६] इति चोरैप् ।

मद्रेभ्योऽण् ॥३१२।५॥ दिगादेरिति वर्तते । दिगादेर्मृदशब्दात् अण् भवति शौषिकः । “बहु-  
त्वेऽदोरपि” [३१२।१०३] इति वुञ् प्राप्तः । तदपवादे “वृजिमद्रात्कः” [३१२।१०६] इति के प्राप्ते  
पुनरनेनाण् । पौर्वमद्रः । आपरमद्रः । “दिशोऽमद्राणाम्” [३१२।१८] इति पय्युदासादादेरैप् । दिगादे-  
रित्येव । मद्रकः । आरम्भसामर्थ्यादेवाणि सिद्धे अण्ग्रहणं राष्ट्रलक्षणस्यापि वुजो बाधनार्थम् ।

पलद्यादेः ॥३१२।८६॥ पलदी इत्येवमादिभ्योऽण् भवति शौषिकः । पलद्या जातः, पालदः  
पारिषदः । “वा नाम्नः” [१११।७१] इति दुसंज्ञाया छः प्रसज्येत । इह वाहीकशब्दश्छवाधार्थमुपात्तः ।  
गौष्ठीनैकेतीशब्दाभ्यां छः प्राप्तः । वाहीकशब्दत्वाच्च ठञिठो प्राप्तौ । गोमतीशब्दात् “रोष्ठीतोः प्राचाम्”  
[३१२।१०१] इति वुञ् प्राप्तः । “ओर्देशे ठञ्” [३१२।१५] इत्यत्र ( इत्यतो ) देशग्रहणमनुवर्तते ।  
गोमती च नदी । “मिन्नलिङ्गो नदीदेश” [११४।८३] इत्यत्र शापित नदीदेशग्रहणेन न गृह्यते । गोमत्या  
भवा मत्या गोमता इति । तस्मादिह पाठोऽनर्थकः । एकीयमतमेतत् । अथवा इदमेव शापकम्, नद्यपि  
देशग्रहणेन गृह्यते । “मिन्नलिङ्गो नदीदेश” [११४।८३] इत्यत्र नदीग्रहणं जलाशयनियमार्थमुक्तम् ।  
भवदुदकानां द्व द्व एकवद् भवति ( न ) स्थिरोदकानां कूपसरस्तडागानाम् । वैश्वामित्र च तडागं जरत्कूपश्च  
वैश्वामित्रजरत्कूपौ । शरसेनशब्दात् “बहुत्वेऽदोरपि” [ ३१२।१०३ ] इति वुञ् प्राप्तः । पलदी । परिषत् ।  
यकृत् । लोमन् । नखश्च । पट्चर । वाहीक । कलकीक । बहुकीट । कमलभिन् । गौष्ठी । नैकेती । परिखा ।  
उदपान । रोमक । शरसेन । गोमती ।

शकलादिभ्यो वृद्धे ॥३१२।८७॥ शकल इत्येवमादिभ्यो वृद्धे यो विहितस्त्यस्तदन्तेभ्योऽण् भवति  
शेषे । शाकल्पस्य छात्राः शाकलाः । “व्यच्यनाद्घृत्यापत्यस्य” [४।४।१४१] इति यलम् । काण्वस्य  
छात्राः काणवाः । गौकल्पस्य गौकल्ः । कौण्डिन्यस्य कौण्डिनः । वृद्ध इति किम् ? शकलो देवताऽस्य शाकलः  
शाकलस्येदम् शाकलीयम् । उत्तरार्थं च वृद्धग्रहणम् ।

१. ननु “रोष्ठीतोः” इत्यत्र देशग्रहणमनुवर्तते । अ०, पृ० ।

इजः ॥३।२।८८॥ वृद्धे यो विहितः इज् तदन्तादण् भवति शेषे । दान्तेरिदं दाक्षम् । प्लाक्षम् ।  
वृद्ध इत्येव । सौतङ्गमेरिदं सौतङ्गमीयम् ।

न द्वयचः प्राच्यभरतेषु ॥३।२।८९॥ द्वयचो मृदः प्राच्यभरतात् वृद्धादिजन्तादण् न भवति ।  
पूर्वेण प्राप्तस्य प्रतिषेधः । प्राच्येषु चैदीयाः<sup>१</sup> । पोषीयाः । भग्तेषु कशीयाः । वासीयाः । द्वयच इति हिम ।  
पानागारेच्छात्राः पानागराः । प्राच्यभरतेषु इति किम् ? दाक्षाः । ज्ञाक्षाः । “काश्यादेष्टञ्जिठौ” [३।२।९२]  
इत्यत्र चेदिशब्देन साहचर्याद्देशवाचिनः काशिशब्दस्य ग्रहणम् । इह वृद्धत्वात्ताच्छ उदाहृतः । ननु भार्या  
प्राच्या एव तेषां किमर्थं पृथगुपादानम् । अन्यत्र प्राच्यग्रहणेन भरतग्रहणं मा भूदित्येवमर्थम् ।

दोश्छः ॥३।२।९०॥ वृद्ध इति निवृत्तम् । सामान्येनोपादानात् । दोर्मृदश्छो भवति शेषे । गोता  
रीयम् । मालीयम् । “रूप्ययोः” [३।२।८३] छं ( छण ) वाचिता परस्तात् “घञ्यगोऽः” [३।२।९१]  
इति जुज् । माणिरूप्ये भवः माणिरूप्यकः । “उदीच्यग्रामात् प्रस्थगोरण् वक्तव्यः” [ पा० ] मापी-  
प्रस्यम् । माह्वीप्रस्यम् ।

भवतष्टण्छसौ ॥३।२।९१॥ दोरिति वर्त्तते । भवच्छब्दात् ठण् छस् इत्येतो लो भातः शेषः ।  
नकारः “सिति” इति पदं सञ्ज्ञार्थः । भावकम् । भवदीयम् । “मृदग्रहणे छिङ्गविशिष्टस्य भवतीशब्द-  
ग्रहणे ठण्छसौः” [ पा० ] इति वक्ष्यमाणेनोपसङ्ख्यातेन पुनर्भागे तदेन रूपम् । यस्यादिति न पठ्यते  
शत्रन्तो भयच्छब्दः, तस्मादणि भावतमिति ।

काश्यादेष्टञ्जिठौ ॥३।२।९२॥ काशि इत्येवमादिभ्यः ठज् जिठ इत्येतो लो भातः शेषः । इमा  
उच्चारणार्थः । काशयो ज्ञनपठः ता जाता काशिकी, काशिका । वेदि स्त्री, वेदिज्ञा । काशि । वेदि । मताति ।  
मवाह । अच्युत । मन्दमान । मकुलाद । दम्भिकर्ण । कुनामन् । द्विरण्य । करण । गोतामन । भौर्गिज्ञ ।  
भोलिङ्गि । अग्निदम । शकमित्र । देवदत्त । दासमित्र । दासग्राम । गोवाहन । तरङ्ग । सौगतामि ।  
पुरराज । उपराज । सिन्धुमित्र । देवराज । “आपदादिपूर्वपदान् कालान्ताद् ठञ्जिठौ वक्तव्यौ” [ पा० ] ।  
आस्तकालिकी । आप्तकालिका । और्वकालिकी । और्वकालिका । आपत् । ऊर्त्त । उप । अत्र । प्र-  
रुपापदादिः । दोरिति वर्त्तते । यत्रादुसज्जानोपा वचनात् प्रदणम् । दोरधिराज्य न प्रयोगः ।  
प्राम्देशे वर्त्तमानस्य दुर्वज्ज न वाहीकग्रामे । दोरेव ठञ्जिठौ । कथं भाष्ये प्रयोगः दण्दवीयाः । ‘दण्’  
इति । “वा नाग्नः” [१।१।७१] इत्यत्र वेति व्यवस्थितविभागा छे कर्त्तव्ये दण्डस्य भावि ठञ्जिठौ  
भवति ।

दोः प्राचाम् ॥३१२।९६॥ उद्देशे (ओर्देशे) इति वर्तते । उवर्णान्ताद्दोः प्राग्देशवाचिनष्टु भवति शेषे । दोरदोश्च पूर्वेषु सिद्धे नियमार्थमेतत् । दोरेव प्राचा नाप्यदोः । आढकनम्बुकः । नापितवास्तुकः । दोरिति किम् ? मल्लवास्तु माल्लवास्तवः ।

कन्थायाः ॥३१२।९७॥ कन्थाशब्दादृञ् भवति शेषे । कन्था प्रावरणम्, उपचाराद् देशोऽपि । कान्थिको गौः ।

वर्णो वुञ् ॥३१२।९८॥ वर्णो या कन्था तस्या वुञ् भवति शेषे । वर्णुर्नाम नदः, तस्य अदूरभवो जनपदो वर्णुः, तद्विषये या कन्थेत्यर्थः । कान्थको गौः । कान्थकोऽश्वः ।

धन्वयोडः ॥३१२।९९॥ दोरिति देश इति च वर्तते । धन्व ( धन्व ) वाचिनो यकारोडश्च देश-वाचिनो दोर्बुञ् भवति शेषे । प्राचामिति निवृत्तम् । पारेबन्ध ( धन्व ) नि जातः, पारेधन्व ( धन्व ) कः । आपारेधन्व ( धन्व ) कः । पारावतकः । योडः । साङ्गास्यकः । काम्पित्यकः । ठञ्जिठाभ्या योडो वुञ् परत्वात् । वाहीकग्रामे । दासरूपे जातः, दासरूप्यकः । “आर्देशे” [३१२।९५] ठञः परत्वाद्योडो वुञ् भवति । आर्वातमायौ जातः, आर्वातमायवकः ।

प्रस्थपुरवहान्तात् ॥३१२।१००॥ दोरिति देश इति च वर्तते । प्रस्थ पुर वह इत्येवमन्ताद्देश-वाचिनो दोर्बुञ् भवति । छस्यापवादः । दोरित्यधिकारात्तदन्तत्वे लब्धे अन्तग्रहणमनर्थकमिति चेत् ; असत्यन्त-ग्रहणे तदर्थवाचि दुसश्च गृह्येत । यथा पूर्वसूत्रे बन्धा ( धन्वा ) र्थवाचि दुसश्च गृहीतम् । मालाप्रस्थे जातः । मालाप्रस्थकः । सौ ( शौ ) याप्रस्थकः । ज्ञान्तिप्रस्थकः<sup>१</sup> । नान्दीपुरकः । कान्धीपुरकः । पैलुवहकः । फाल्गुनी-वहकः । पुरान्ताद् “रोढीतोः प्राचाम्” [३१२।१०१] इति सिद्धेऽप्यप्रागर्थ वचनम् । प्रस्थाद्यन्तात् ठञ्जि-ठाभ्या परत्वेन वुञ् । पानप्रस्थकः । कौत्कुजीवहकः । एतेभ्यो वाहीकग्रामत्वात् ठञ्जिठौ प्रातौ ।

रोढीतोः प्राचाम् ॥३१२।१०१॥ दोरिति देश इति च वर्तते । प्राग्ग्रहण देशविशेषणम् । रेफोड इकारान्ताच्च दोः प्राग्देशवाचिनो वुञ् भवति शेषे । छापवादः । पाटलिपुत्रकः । ऐकचक्रकः । ईतः खल्वपि । काकन्दी, काकन्दकः । माकन्दी, माकन्दकः । प्राचामिति किम् ? दात्तामित्रीय । तपरकरणमसन्देशार्थम् ।

राष्ट्रावधो. ॥३१२।१०२॥ दोरिति देश इति च वर्तते । देशविशेषण राष्ट्राऽवधी । राष्ट्रावाचिनस्तद-वधिवाचिनश्च दोर्बुञ् भवति शेषे । छापवादः । आभिषारे जातः, आभिषारकः । राष्ट्रावधेः, श्रोत्रुमकः । श्यामायनकः । अवधिग्रहणेनापि राष्ट्र गृह्यते । किमर्थं तर्ह्युपादानम् ? बाधकनाधनार्थम् । “गर्तयोः” [३१२।१०३] राष्ट्रावधेः परमणु वाधित्वा वुजेव भवत्युत्तरसूत्रेण । त्रैगर्तकः । इदं च प्रयोजनम्-मौजिर्नाम वाहीकानामवधिग्राम, तत्र भवो मौज्जीय । ग्रामे अवधौ वुञ् भवति ।

चहुत्वेऽदोरपि ॥३१२।१०३॥ राष्ट्रावधोरिति वर्तते । बहुत्वविषयान्मृदः अदोरपि दोरपि राष्ट्रावाचिन-स्तदवधिवाचिनश्च वुञ् भवति शेषे । अणुयोरपवादः । अदो राष्ट्रात्-अङ्गेषु जातः आङ्गकः । वाङ्गकः । अदो राष्ट्रावधेः<sup>२</sup> । अणुकुन्देषु जातः, आणुकुन्दकः । दो राष्ट्रात्, दार्वेषु जातः, दार्वकः । काम्बधकः । दो राष्ट्रावधेः । कालजरेषु जातः, कालजरकः । वैकुलिशेषु जातः, वैकुलिशकः । जहुषु जातः, जाह्वकः । बहुत्वपर्यन्तं किम् ? जनपदैकदेशवहुत्वेन विवक्षिते वुञ् मा भूत् वर्तनीषु भव इति । दोः पूर्वेष्वेव सिद्धे अपि-प्राग् किमर्थम् ? उत्तरत्र द्वयोरनुवर्तनार्थम् वाधावाधि<sup>३</sup> शा(न्या)येत(न)तकदानेनैव दधिदानस्य, तस्मादरीत्युक्तम् “सोऽज. [३१२।९६] परत्वात् राष्ट्रलक्षणे वुञ् । जहुषु जातः, जाह्वकः ।

१. क्षाञ्जिप्रस्थकः घ०, प० । २. कौकुजीवहकः प० । कौकुजीवहकः अ० । कौकुजीवहकः घ० । ३. तर्हि वृष्युपादानम् प०, न०, प० । ४. धे. । अजमीदे (ढे) पु जातः, अजमोद (ढ) कः प० । ५. विज्ञापेत घ० ।



कच्छाग्निवक्त्रवर्त्त<sup>१</sup>(गर्त)द्योः ॥३।२।१०४॥ कच्छ अग्नि वक्त्र वर्त्त ( गर्त ) इत्येवं गोर्त्त वाचिनो मृदो दोरदोश्च वुञ् भवति शेषे । छाणोऽपवादः । भरुकच्छे जातः, भारुकच्छकः । पैमलीकच्छः । काण्डाग्नी जातः काण्डाग्निकः । वैभुजाग्निकः । तैन्दुवक्त्रकः । सैन्धुवक्त्रकः । बाहुवर्त्तकः । चाक्रवर्त्तकः ।

धूमादेः ॥३।२।१०५॥ धूम इत्येवमादिभ्यो वुञ् भवति शेषे । अग्नादीनामपवादः । धूमे जातः धौमकः । धूम । पण्ड । शशादन । अर्जुनवा । दण्डायन । स्यली । माणवस्यली । घोपस्यली । पोपस्यली । माहवस्यली । राजण्ड । सत्रासाह । भक्षास्यली । समुद्रस्यली । मद्रस्यल । अज्जलीकूल । द्याहाप । आशा । सस्तीय । पर्यत । गर्भ । विदेह । आनर्त्त । अनयोरराष्ट्रार्थं ग्रहणम् । पादूर । पाथेय । योगेऽपरेण ग्रहणम् । घोष । सव्य<sup>२</sup> । पल्लि । आराजी । आराजकः । धार्तराजी । धार्तराजकः । इत्येवमादिग्रहणमप्रागर्थे । अभय । तीर्था । तीरकूलात्सौवीरेषु । कोलमन्यत् । समुद्रान्नावि मनुष्ये च । सामुद्रमन्यत् । कुक्षि । पनागी । अरुण । उज्जयिनी । दक्षिणापथ । साकेत ।

नगरात्कुत्सादाद्ययोः ॥३।२।१०६॥ कुत्सा निन्दा, दाद्य नपुण्यम् । एते त्पार्थन्य जाताः विशेपणम् । नगरशब्दाद् वुञ् भवति शेषिकः कुत्सदाद्ययोर्गम्यमानयोः । तत्र कुत्साया केनाऽप भविता । इह नगरे मनुष्येण । सम्भाव्यत एतत्<sup>३</sup> । नागरकाश्चोरा हि जागरुका भवन्ति । केनेय वीणा वाहिता इह नगरे मनुष्येण । उपपन्नत एतन्नागरको ( कैः ) निपुणा हि नागरका भवन्ति । कुत्सादाद्ययोर्गिति हि । नागरः पुरुषः । कृत्सादिषु नगरीशब्दः पठ्यते । तस्माद्दृढकञि नागरेयक इति भवति ।

मनुष्यादिचरण्यात् ॥३।२।१०७॥ अरण्यशब्दान्मनुष्याभिधेये शेषिको वुञ् भवति । “अरण्याणो वचन्यः” [वा०] इत्युक्तम्, तस्यायमपवादः । आरण्यको मनुष्यो वा पन्था वा अण्णायो वा न्णायो वा विणायो वा इन्ती वा । एते मनुष्यादयः । “वा गोमयेति वक्तव्यम्” [वा०] आरण्यका आरण्या गोमया । मनुष्यादिर्गिति किम् ? आरण्येना ओपवयः ।

कुरुयुगन्धरेभ्यो वा ॥३।२।१०८॥ कुरु युगन्धर इत्येतान्या शेषिको वुञ् भवति । “राष्ट्रश शिवा (राष्ट्रावध्याः)” [३।२।१०२] इति “बहुव्येऽदोरपि” [३।२।१०३] इति नित्ये जुनि प्राप्ते विज्ञातम् । कुरुपुत्रः कौरवकः । कच्छादिवाटादण्यपि भवति । कौरवः । वाग्रदण युगन्धरार्थमेव । युगन्धरः । युगन्धरकः । युगन्धरः । नृत्त्ययोरभिधेययोः कुरुगन्धान्नित्यो वुञ् भवति । कौरवको मानुष्य । कौरवः कौरवकः ।

कोडोऽण् ॥३।२।११०॥ देश इति वर्तते । देशवाचिनो मृदः ककारोडोऽण् भवति । “बहुत्वेऽदोरपि” [३।२।१०३] इति वुजोऽपवादः । ऋषिकेषु जातः आर्षिकः । माहिषिकः । आरमकः । कथमिदमा-  
कुषु जात एत्वाक इति ? उच्यते, “ओर्देशे” [३।२।१६५] इति ठञ् प्राप्तः, त बाधित्वा परत्वाद् “बहुत्वेऽदोरपि” इति वुज् प्राप्तः, तमपि परत्वादयमण् बाधते । “औणहत्य” [४।४।१६६] इत्यादिना उलं निपात्यते ।  
देश इति वर्तते ।

कच्छादेः ॥३।२।१११॥ कच्छ इत्येवमादिभ्यो देशवाचिभ्योऽण् भवति शोभे । वुजोऽपवादः ।  
काच्छः । कच्छशब्दादबहुत्वविषयादुत्सर्ग एवाण् सिद्धः । तस्य नृत्तस्थयोर्वुज् यथा स्यादित्येवमर्थः  
पाठः । कच्छ । सिन्धु । वर्षा । गन्धार । मधुर । मधुरात् । अस्यायुनरत्र वुजर्थः पाठः ।  
क्षीप । अनूप । अजावह । विशापक । अस्यापि कोडो वुजर्थः पाठः । कुलूत । रङ्गु ।

नृत्तस्थयोर्वुज् ॥३।२।११२॥ कच्छादेरिति वर्तते । नरि तत्स्थे चाभिधेये कच्छादेर्वुज्  
भवति । अणोऽपवादः । काच्छको ना । काच्छकमस्य हसितं जल्पितम् । काच्छिका चूला । सैन्धवको  
मनुष्यः । सैन्धवकमस्य हसितं जल्पितम् । सैन्धविका चूला । नृत्तस्थयोरिति किम् ? काच्छो गौः ।  
सैन्धवोऽश्वः ।

गोयवाग्वपदातौ सत्त्वात् ॥३।२।११३॥ गवि यवाग्वामपदातौ च जातादौ सत्त्वशब्दाद्  
“बहुत्वेऽदोरपि” [३।२।१०३] इत्येव वुज्सिद्धः । नियमार्थमिदमुच्यते । एतस्मिन्नेव जातादिविशेषे  
वुज् यथा स्यात् । अन्यत्र उत्सर्गापवादोऽण् भवति । तद्विशेषणमपदातिग्रहणम् । कच्छादिष्वस्य पाठोऽ  
नर्थकः । सत्त्वेषु जातः सत्त्वको गौः । सत्त्विका यवागूः । नृत्तस्थयोरित्येतदत्र वर्तमानमपदाति विशेषणम् ।  
सत्त्वको मनुष्यः । सत्त्वकमस्य हसितं जल्पितम् । सत्त्विका चूला । एतेषु वुजो नियमादन्यत्र सत्त्व वत्सम् ।  
सत्त्वाः पदातयः ।

गर्तद्युगहादिभ्यश्छुः ॥३।२।११४॥ गर्त इत्येव द्योर्देशवाचिनो गहादिभ्यश्च छो भवति ।  
अणादेरपवादः । स्वाचिद्गर्तीयः । वाहीकग्रामेभ्य इति ठञ्जिठयोः प्राप्तयोरनेन पुनश्छुः । वृकगर्तीयः ।  
शृगालगर्तीयः । अण् प्राप्तः । देश इत्यधिकारोऽपि गहादीनां सम्भवापेक्षं विशेषणम् । गहे जातः, गहीयः ।  
गह । अन्तस्थ । सम । मध्य मध्यम चाण् चरणेत्यस्यायमर्थः । पृथिवीमध्यशब्दस्य मध्यमादेशः । पृथिवी-  
मध्ये शब्दस्य वा मध्यमादेशो भवति । माध्यमीयः कठः । चरणसम्बन्धे निवासलक्षणे त्वार्थे अण् भवति ।  
माध्यमा इति । उत्तम । अङ्ग । मगध । पूर्वपत् । अपरपत् । अवमसाख । उत्तमसाख । समानशील ।  
एकग्राम । एकवृत्त । इक्ष्वक् । इक्ष्वनीक । अवस्पन्द । कामप्रस्थ । अस्मात् “प्रस्थपुरवहान्तात्” [३।२।१००]  
इति वुज् प्राप्तः । खाडायनिः । काठोरणिः । लावूरणिः । शैशिरि । शौङ्गि । आसुरि । आहिमि । आमित्रि ।  
व्याडि । भौमि । आस्वि । आग्नि । शर्मि । दैवशर्मि । यौगिकतराकि । वाल्मीकि । माल्लकि ।  
सौमवृत्तिन् । उत्तर । मुखपार्वतसोः खञ् । पार्वतीयम् । मुखतीयम् । जनपरयोः कुक्च । जनकीयम् ।  
परकीयम् । देवस्य च (वा) । देवकीयम् । वेणुकायाश्छुण् वक्तव्यः । आकृतिगणोऽयम् । वैष्णुकीयम् । औत्तर-  
पदीयम् । प्रास्थीयम् । माध्यमकीयम् । मातृकीयम् । चैत्रकीयम् । कृष्णवर्णाद् भारद्वाजे देशविशेषे ।  
कृष्णोऽयः । पर्णायः ।

१. -दनुवर्त-पू० । -रित्येव तदनुवर्त-अ० । २. अन्तरपक्ष पू० । ३. लावेरणि अ०, पू० ।  
४. आरिष अ० । ५. उद्योति अ० । ६. धोति ( औति ) पू० । ६. चाराकि पू० । वाटारकि अ० । ७.  
सैनवृत्तिन् अ०, पू० । समवृत्तिन् अ० ।

प्राचां कटादेः ॥३।२।११५॥ देश इति वर्तते । तद्विशेषणं प्राग्ग्रहणम् । कटादेः शब्दा प्राग्ग्रहणं वाचिनश्छो भवति शेषे । अणोऽपवादः । कटनगरीयः । कटग्रामीयः । कटवोपीयः । कटपल्लवीयः ।

राक्षः क च ॥३।२।११६॥ असम्भवाद देश इति नाभिसम्बन्धते । राजशब्दस्य ककारोऽन्त्ये भवति छश्च । आदेशार्थमिदम् । “दोश्छ” [३।२।१०] सिद्ध एव । राज इदम् राजकीयम् । एकरेशादि-स्थानन्यत्वाद् “अनोऽखं” [४।४।१२०] नाशङ्कनीयम् । तानिर्दिष्टस्थानन्यवद् भाव उक्तः । न चोऽन्त्य-निर्देशः; किं तर्हि राजशब्दस्य ।

दोः कखोडः ॥३।२।११७॥ देश इति वर्तते । दोदेशवाचिनः ककारोडः एकरेशो भवति शेषे । आरीहणकीयः । द्रौघणकीयः । आश्वत्थिके जातः, आश्वत्थिकीयः । शाल्मलिके जातः शाल्मलीयः । कोड इत्यणि प्राप्ते कः । सौसुके जातः, सौसुकीयः । वाहीकग्रामलक्षणौ ठञ्जिठौ वाचिता कोट इत्यण् प्राप्ते (आष्टक नाम बन्धः तत्र जातः) आष्टकीयः । बन्धलक्षणं वुज वाचिता कोट इत्यण् प्राप्ते ब्राह्मणको नाम राष्ट्रम्, तत्र जातः, ब्राह्मणकीयः । “राष्ट्र” [३।२।१०२] वुजोऽपवाद “कोट” [३।२।११०] इत्यण् प्राप्ते । खोडः खत्वपि । कौटिशिलीयः । माटिशिलीयः । कौटिशितादौ वाहीकग्रामः ।

कन्यापलदनगरग्रामहृदयोः ॥३।२।११८॥ देश इति वर्तते दोश्छ इति च । यशः प्रत्येकमभिसम्बन्धयते । कन्यादि दोदेशवाचिनो दोश्छो भवति शेषे । वाहीकग्रामादिलक्षणस्य तत्प्राप्ते । दक्षिणकन्याया जातः, दक्षिणकन्यायः । माहकिण्ठयः । यदोशीनरेषु ग्रामस्तदा नपराक्षितत्वात् । “योशीनरेषु” [३।२।११४] ठञ्जिठयोः प्राप्तिः । यदा तु वाहीकग्रामः, तदा स्त्रीलिङ्गतम् । “वाहीक-ग्रामेभ्यः” [३।२।११३] इति प्राप्तिः । दक्षिणपलदीयः । माहकिपलदीयः । दक्षिणगरीयः । माहकिगरीयः । दक्षिणग्रामीयः । माहकिग्रामीयः । दक्षिणदीयः । गोमयहृदीयः ।

पर्वतान् ॥३।२।११९॥ पर्वतगण्यश्छो भवति शेषे । अणोऽपवादः । उत्तरनाम-विभागा १।१। मर्त्ये इहोदाहरणम् । पर्वतीयो मनुष्यः ।

चाऽमर्त्ये ॥३।२।१२०॥ मर्त्यादन्वग्निरभिधेये पर्वताः वा ह्यो भवति । पूर्णिमि । चा विहृत्योऽयम् । पर्वतीय कचम् । पर्वतीयमुद्रकम् । अमर्त्य इति किम् ? पर्वतीयो वा ।

गुप्तमदस्मदोऽकङ् खञ् ॥३।२।१२१॥ देश इति निगूतम् । ननि वर्तते । गुप्तमदस्या गुप्ता भवति, यदा खञ् तदाऽमददेशः । यामाकीयः । आम्माकीयः । “मि” [१।१।२०] अहोऽहम् । कटादेशः, अकङ्खोऽहम् अकङ्खन् “म्वेऽको दीवम्” [४।३।२२] । ययानिहायत्वात् ननि । अमर्त्य-अमर्त्यदीयः ।

योऽर्द्धात् ॥३१२।१२४॥ वेति निवृत्तम् । अर्धशब्दान्छैषिको यो भवति । अणोऽपवादः । अर्धं भवः, अर्थः ।

परावराधमोत्तमादेः ॥३१२।१२५॥ परं अवरं अधमं उत्तमं ह्येवमादेरर्धशब्दाद्यो भवति शैषिकः । परार्धः । अवरार्धः । अधमार्धः । उत्तमार्धः । “हृदर्थेषु समाहारे” [१।३।४६] इति पसः । परमर्द्धपरार्द्धमिति “विशेषणं विशेष्येत्येति” [१।३।५२] यस्ते कृते परार्धे जातः परार्धः । यदा पराऽवरादिशब्दौ दिग्वाचिनौ तदोत्तरसूत्रेण यथौ प्रातौ । तदवाचित्वे त्वण् प्रातः । अधमोत्तमादेरण् प्रातः । प्रकृतित्वमेतेषा मा विनायीति आदिग्रहणम् ।

दिगादेष्टुण् च ॥३१२।१२६॥ अर्धादिति वर्त्तते । दिगादेरर्धान्छैषिकष्टुण् भवति चकाराद्यश्च । पूर्वार्द्धे जातः, पौर्वाद्धिकः । पूर्वार्द्धः । दाक्षिणाद्धिकः । दाक्षिणाद्धः । अपरमर्द्धं पश्चार्द्धम् “उपस्युर्परिष्ठा-त्पश्चाद्” [४।१।६७] इत्यत्रार्द्धं परतोऽपरस्य पश्चभावो वक्ष्यते । पश्चार्द्धे जातः, पाश्चाद्धिकः । पश्चार्द्धः । “सन्धादेष्टुण् वक्तव्यः” [ वा० ] दिक्छब्दादन्यो यदाऽर्धस्यादिर्भवति तदा ठण् भवति । पौष्काराद्धिकः । वैज-याद्धिकः । बालेयाद्धिकः । जैत्राद्धिकः । पराऽवरादेस्तु पूर्वैण य एव भवति ।

ग्रामराष्ट्रयोरण्ठञौ ॥३१२।१२७॥ दिगादेरर्धादण् ठञ् इत्येतौ तौ भवतः शोपेऽर्थे ग्रामराष्ट्रयो-श्चेदर्थं भवति । ग्रामैकदेशवाची राष्ट्रैकदेशवाची चेदर्थशब्दो भवतीत्यर्थः । ग्रामस्य राष्ट्रस्य वा पूर्वार्द्धं भवः, पौर्वाद्धः । पौर्वाद्धिकः । दाक्षिणाद्धः । दाक्षिणाद्धिकः । पाश्चाद्धः । पाश्चाद्धिकः ।

मध्यान्मः ॥३१२।१२८॥ मध्यशब्दान्छैषिको म इत्ययं त्यो भवति । अणोऽपवादः । मध्यमः । “आदेशचेति वक्तव्यम्” [ वा० ] आदिमः । “अवाधयोः ( अवोऽधसोः ) सखं चेति वक्तव्यम्” । अवमः । अधमः ।

सम्प्रत्यः ॥३१२।१२९॥ सम्प्रत्यर्थं जातादौ मध्यशब्दाद् इत्ययं त्यो भवति । क पुन इवार्थः स्वार्थः । सम्प्रतिकालो वर्त्तमानः, सोऽतीताऽनागतयोर्द्वयोरन्तराले वर्त्तते । एवमन्यदपि द्वयोरन्तराले वर्त्तमानं सम्प्रतीत्युच्यते । यन्नातिदीर्घं नातिह्रस्वं मध्यं काष्ठम् । नात्युत्कृष्टो नाप्यपक्वो मध्यो वैयाकरणः । मध्या स्त्री ।

द्वीपादनुसमुद्रे यञ् ॥३१२।१३०॥ समुद्रसमीपे यो द्वीपशब्दस्तस्मान्छैषिको यञ् भवति । कच्छादिपाठादणो नृत्वस्थयोर्बुजश्चापवादः । द्वैष्यम् । द्वैष्या स्त्री । अनुसमुद्र इति किम् ? अनुनदि यो द्वीपः तस्माद्यमुनादिसम्बन्धे द्वीपे भवम्, द्वैपं तृणम् । “कच्छादि” [३।२।११२] पाठादण् । द्वैपको व्यासः । “नृत्वस्थयोः” [३।२।११३] इति बुज् ।

कालाट्ठञ् ॥३१२।१३१॥ कालविशेषवाचिनो मृदः शैषिकष्टुण् भवति । अणोऽपवादः । वृद्धत्वं परत्वाद् बाधते । मासिकः । सावसरिकः । यथा ( दा ) कदम्बपुष्पयोगात्कालोऽपि कदम्बपुष्प-वाच्यः, तत्राऽनेन टञ् । कदम्बपुष्पे देयमृणां कादम्बपुष्पिकम् । ब्रैह्मिणालालिकम् । “तत्र जातः” [३।३।१] प्रागितः<sup>२</sup> कालोऽधिकारः ।

आद्धे शरदः ॥३१२।१३२॥ शरच्छब्दात्कालवाचिनः आद्धेऽभिधेये शैषिकष्टुण् भवति । शरदिति रि ऋतुविशेषः । तत्र “भसन्ध्याष्टुभ्योऽवर्षाभ्योऽण्” [३।२।१३८] प्रातः, तदपवादोऽयम् । शरदि जातः<sup>३</sup> शारदिक आद्धम् । आद्ध इति किम् ? शारदं दधि । शारदं सस्यम् । श्रद्धाशब्देन चात्र रुद्धिवशा-त्तितृकार्यमेवोच्यते, न तु अद्वावान् । तेनेह न भवति शारदः आद्धः । श्रद्धावानित्यर्थः ।

वा रोगात्तपयोः ॥३१२१३३॥ रोगे आतपे चाभिधेये शरच्छब्दाच्चैषिको वा ठञ् भवति । शरदिकः । शरदो रोग आतपो वा ।

निशाप्रदोषाभ्याम् ॥३१२१३४॥ वेति वर्तते । निशाप्रदोषशब्दाभ्यां वा ठञ् भवति शेषे । नित्ये कालाद्यणि प्राप्ते विकल्पोऽयम् । निशा सोढाऽस्य, नैशिकः । नैशः । प्रादोषिकः । प्रादोषः । निशाप्रदो सहचरितमध्ययनमुपचारात्तथोच्यते ।

श्वसस्तुट् च ॥३१२१३५॥ श्वसशब्दादञ् भवति । तस्य च ठञ् इकादेशे कृते तुङागमः । ठञोऽपवादो मिलच्छणस्तुट् प्राप्तः, तं बाधित्वा “वैषमोहसुश्वसः” [३१२।८३] इति निभाषता ये प्राप्ते अनेन ठञ् विमाष्यते । श्वो जातो भवो वा शौवस्तिकः, श्वस्त्यः । आभ्या मुक्ते तनप् श्वस्तनः ।

प्रावृष परयः ॥३१२१३६॥ प्रावृष<sup>१</sup>शब्दात् परयो भवति शेषे । ऋतुणोऽपवादः । प्रावृषणो बलादिकः । यत्वं किमर्थम् ? प्रावृषेण्यमाचष्टे णिचि किपि अतः रो च कृते णकारस्य आणार्थम् ।

भसन्ध्याद्युतभ्योऽवर्षाभ्योऽण ॥३१२१३७॥ कालादिति वर्तते । “भाद्युक्तः कालः” [३१२।५] इत्यागतस्याणः “वसमेते” [३१२।१] इत्युसि कृते कालवाचिभ्यो भेभ्यः सन्ध्यादिभ्य ऋतुभ्यो वार्षाभ्यो भ्योऽण भवति शेषे । ठञोऽपवादः । भेभ्यः—तैषः । पौषः । “तिष्यपुष्ययोर्भाणि” [४।४।१३०] इति यत्तम् । सन्ध्यादिभ्यः—सन्ध्यायां भवो जातो वा सान्ध्यः । सन्ध्या सविखला ( सन्धिखेला ) । अमागम्या । एषदेशविकृतस्य अभावत्याशब्दस्यापि ग्रहणम् । त्रयोदशी चतुर्दशी पञ्चदशी पौर्णमासी प्रतिपद् । “संग रात्फलपर्वणोः” [१०००] सांवत्सरं फलम् । सावत्सरं पर्व । अन्यत्र सांवत्सरिको रोगः । ऋतुभ्यः—शरद् मन्त शिशिरवसन्त ग्रैष्मः । अन्वर्षाभ्य इति किम् ? वर्षासु साधु वार्षिकं वासः । अणुग्रहणं लुबाधनार्थम् । स्वातो तदं ( भवं ) सौवातम् “पदे खोरेयोव्” [५।२।८] इत्यौव् ।

हेमन्तात्तत्तम् ॥३१२१३८॥ हेमन्तशब्दादण् भवति तत्तन्नियोगेन चास्य तत्तम् । हेमन्तो ऋतुः हेमनम् । हेमन्तः । ( हेमनमनुत्पन्नम् । हेमनं वासः । ठञ्णीयते । ) हेमन्तिकमिति । हेमन्तात्तत्तमिति तत्तम् । यानिर्देश किमर्थः ? केवलेऽप्यऽण् ( हेमन्तात् ) यथा स्यात् । तेन सिद्धम् । हेमन्ती पठ्यति ।

सायञ्चिरप्रगृह्णेत्येभ्यस्तन्तत् ॥३१२१३९॥ कालादिति वर्तते । साय चिर प्रागृह्णेत्येभ्यो भिभ्यः कालवाचिभ्यस्तन्तत् भवति शेषे । सायचिरशब्दयोरभिगृह्णेत्येभ्योऽप्यभिगृह्णेत्येभ्यो नित्यता निपादनैः । सायन्तन्तम् । चिरन्तन्तम् । प्राहप्रगृह्णेत्येभ्योऽप्यभिगृह्णेत्येभ्यो निपातयोः । प्राहः सायन्तन्तम् । प्राहोतनः । प्रागः सोढोऽस्य प्रगेतनम् । ईवन्तान्तन्ति “अकालतनेहान्तेभ्यो या” [ ४।३।१३३ ] इत्यनुषा सिद्धम् । प्रागन्तन्तम् । दिवन्तन्तम् । दीपान्तन्तम् । “चिरपृथ्वरारिर्यन्तो वरार्य” [ १० ] चिरन्तम् । पृथ्वन्तम् । परारिन्तम् । “अन्तादिभ्यो वरन्तय” [ वा० ] अन्तिमम् ।

तत्र जातः ॥३॥३॥१॥ अणादयः परमोत्सर्गाद्यादयश्च शेषिकाः प्रकृताः, तेषामितः प्रभृति प्रकृत्यर्थाः समर्थविभक्त्युपादानं च वेदितव्यम् । तत्रेति ईप्समर्थाज्जात इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । सुप्ते जातः सौप्तेः । श्रौत्सेः । राष्ट्रियः । शाकलिकी । शाकलिका । सौत्रेयकः ।

प्रावृषष्ठः ॥३॥३॥२॥ प्रावृट्छब्दादीप्समर्थाज्जात इत्येतस्मिन्नर्थे ठो भवति । एण्यस्यापवादः । प्रावृषिकः । प्रावृषिका स्त्री ।

खौ शरदो बुब् ॥३॥३॥३॥ शरच्छब्दाद् बुञ् भवति खुविष्ये । तत्र जात इति वर्तते । शारदिका सुदगा । सशशब्दाना व्युत्पत्तिमान्नमिदम् । खाविति किम् । शारदं सत्यम् ।

सिन्ध्वपकरादण् ॥३॥३॥४॥ सिन्धु अपकर इत्येताभ्यामण् भवति तत्र जात इत्यसिन्धिष्ये । सिन्धुषु जातः सैन्धवः । आपकरः । सिन्धुशब्दात् “कच्छादेः” [३॥२॥११२] इत्यण् । “नृतस्थयोः” [३॥२॥११३] इति बुञ् च प्रातः । तयोरपवादे के अपकरशब्दादणोऽपवादे उत्तरसूत्रेण के प्राप्तेऽनेनाणपि विधीयते ।

पूर्वाहापरहाद्रामूलप्रदोषावस्कराच्च कः ॥३॥३॥५॥ पूर्वाह्न अपराह्न आर्द्रा मूल प्रदोष अवस्कर इत्येतेभ्यः सिन्ध्वपकराभ्याञ्च को भवति । तत्र जात इति वर्तते । पूर्वाह्ने जातः पूर्वाह्नकः । अपराह्नकः । “वा पूर्वापरादह्नात्” [३॥२॥१४०] इत्यस्यापवादः । आर्द्रकः । “केऽणः” [५॥२॥१२५] इति प्रादेशः । मूलकः । कालवाचित्वे सति भलक्षणस्याऽणोऽपवादः । प्रदोषकः । “निशाप्रदोषाभ्याम्” [३॥२॥१३५] इत्यस्य बाधा । अवस्करकः । अणोऽपवादः । सिन्धुकः । अपकरकः । आभ्या पूर्वेणाणपि भवति ।

पथः पन्थः ॥३॥३॥६॥ पथिशब्दात्को भवति तत्खल्लियोगेन पथिशब्दस्य पन्थ इत्ययच्चादेशः । तत्र जात इति वर्तते । पथि जातः, पन्थकः । अणोऽपवादः ।

वाष्मावास्यायाः ॥३॥३॥७॥ अमावास्याशब्दाद् वा को भवति तत्र जात इत्यसिन् विष्ये । “भसन्ध्यादिना” [३॥२॥१३०] नित्येऽणि प्राप्ते को विभाष्यते । अमावास्याकः । एकदेशविकृतादमावास्याशब्दादपि । अमावस्यकः । पठेऽण् । अमावास्यः । अमावस्यः ।

अषाढाच्च ॥३॥३॥८॥ अ इत्ययं त्यो भवति अषाढशब्दात् चकारादमावास्यायाश्च । तत्र जात इति वर्तते । अषाढाया इति प्राप्ते अषाढादिति सौत्रो निर्देशः । अषाढाया जातः, अषाढः । अषाढा स्त्री । अमावास्यः । अमावस्यः । “आवृष्टाषाढाभ्यां छ्राजित<sup>२</sup> वक्तव्यम्” [वा०] । आविष्टायः । आषाढीयः ।

फल्गुन्याष्टः ॥३॥३॥९॥ फल्गुनीशब्दादो भवति तत्र जात इत्यसिन्विष्ये । नाणोऽपवादः । फल्गुन्या जातः फल्गुनः । फल्गुनी स्त्री ।

स्थानान्तादुप ॥३॥३॥१०॥ स्थानान्तादुत्तरस्य जातार्थ आगतस्याण<sup>३</sup> उन्भवति । गोस्थाने जातः गोस्थानः । अश्वस्थानः ।

शालाद् गोखरात् ॥३॥३॥११॥ गो खर इत्येवपूर्वाञ्छालात्परस्य जातार्थे आगतस्य त्यस्योन्भवति । गवा शाला गाशालम् । खराणां शाला खरशालम् । “सनासुराच्छायाशालानशा वा” [१॥४॥१०१] इति नप् । गोशाले जातः, गोशालः । खरशालः । लिङ्गविशिष्टस्य स्त्रीलिङ्गस्याऽपि “ह्रदुप्युप” [१॥३॥१६] इति टाप उपि सति तदेवादाहरणम् ।

वत्सदाद् वा ॥४॥३॥१२॥ वत्सपूर्वात् शालात्परस्य जातार्थे आगतस्य त्यस्योन्भवात् वा । वत्सशाले जातः, वत्सशालः । वत्सशालः ।

१. धान्यम् अ०, घ०, पू० । २. छण् चेति अ०, ब०, पू० । ३. त्यस्य त्यस्यो-अ०, ब०, पू० ।

भेभ्यो बहुलम् ॥३१३१३॥ भशब्देभ्यः परस्य जातार्यं आगतस्य त्यस्य बहुलमुच् भवति ।  
 “अविष्टाऽनुराधास्वातिपुनर्वसुतिष्यहस्तविशाखाबहुलाभ्य उत्रेव भवति” । अविष्टासु जातः भवति ।  
 भलक्षणाख्याण उप् । “हृदुप्युप्” [१११६] इति स्त्रीत्यत्योऽभवति । अनुराधः । स्वाति । पुनर्वसुः ।  
 तिष्यः । तिष्यग्रहणे पर्यायग्रहणम् । पुष्यः । हस्तः । विशाखः । बहुलः । तथा “चित्रारेवतीरोहिणीभ्यः  
 स्त्रियामुत्रेव भवति” । चित्राया जाता स्त्री अण उप् । हृदुप्युविति उप् । पुनश्चाप् । डीप् । चित्रा । रेवती ।  
 रोहिणी । पुषि न भवत्येव । चैत्रः । रेवतः । रोहिण्यः । “अन्येभ्यो विभाषा” । अभिजित् । अभिजित् ।  
 अश्वयुक् । आश्वयुजः । ( शतभिषक् ) । शतभिषज् । कृत्तिकः । कार्तिकः । मृगशिरा । मार्गशीर्षः ।  
 शिरसः शीर्षादेशो वक्ष्यते । बहुलवचनादन्यदपि, अणो वा ङिच्च्म् । शतभिषः । शतभिषजः ।

कृतलब्धक्रीतसम्भूताः ॥३१३१४॥ तत्रेति वर्त्तते । जात इति निवृत्तम् । अर्थान्तरापागतत्वात् ।  
 तत्रेतीप्समर्थात् कृत लब्ध क्रीत सम्भूत इत्येतेष्वर्थेषु यथाविहित लो भवति । सुध्ने कृतो वा लब्धो वा  
 क्रीतो वा सम्भूतो वा स्तौनः । राष्ट्रियः । जातस्यैव विशेषोऽपेक्षितपरव्यापारः स्वभावनिष्पत्तो भाव इत्य-  
 शब्दस्यार्थः । सामान्येन प्राप्त लब्धशब्दाऽर्थः । मूल्येन प्राप्त क्रीतशब्दार्थः । निगमान्तस्य गुणान्तरापागः  
 सम्भूतशब्दार्थः । उपचारेणैव स्वयमुत्पादः सम्भूतत्वं जन्मेति चेत्, एव तर्हि जापकमिदम् जन्मोपपत्तौ ता-  
 जात इत्येव विविधं भवति । “प्रावृष ण्यः” [३१३१३६] इति एण्यो भवति । प्रावृषि सम्भूतं हिरण्यम् ।  
 प्रावृषेण्यम् । “प्रावृषष्ठः” [३१३१२] इति षोऽन न भवति । पथि सम्भूतं हिरण्यम् इत्यत्र “पथ, ण्य”  
 [३१३१६] इत्येव विविधं भवति ।

कुशलः ॥३१३१५॥ तत्रेतीप्समर्थात् कुशल इत्येतस्मिन्नर्थं यथाविहित लो भवति । सुध्ने कुशल-  
 स्तौनः । राष्ट्रियः । उन्नगऽपत्तादविधिः । कुशलेऽर्थं यथा म्यादिति योगविभागः ।

पथो बुन् ॥३१३१६॥ पथिगच्छाद् बुन् भवति तत्र कुशल इत्यस्मिन्विषये । पथि कुशलः  
 पथकः ।

आकर्षादेः कः ॥३१३१७॥ तत्र कुशल इति वर्त्तते । आकर्ष इत्यादिभ्यः को भवति ।  
 आकर्ष कुशलः आकर्षकः । आकर्ष । लब्ध । विगाच । पिचण्ड । अग्नि । अस्मान् । निचय । जाः ।

कालात्साधुपुण्यदन्पच्यमाने ॥३१३१८॥ कालात्साधुपुण्यदन्पच्यमाने इत्यमरस्य-य- साधुपुण्य-  
 यथाविहित लो भवति । हेमन्ते मृदु, मन्त वन्नम । गंगिर भाज्यम् । वग्ने पुण्यन्ति, नाम्ना यत् ।  
 ईन्दो लता । शरदि पच्यन्ते शारदा गान्धर्वा नमा यथाः । ऋतुनतगाऽण् स्यात् ।

कलाप्यश्वत्थयववुसाद् बुन् ॥३१३२३॥ कालाद् देयमृण इति च वर्त्तते । कलापिन् अश्वत्थ यववुस इत्येतेभ्य ईप्समर्थेभ्यो बुज् भवति देयमृणमित्येतस्मिन्नर्थे । ठञोऽपवादः । यस्मिन्काले मयूरा इक्ष्वो वा कलापिनो भवन्ति स कालः तत्साहचर्यात्कलापी । यस्मिन्नश्वत्थाना फल सोऽश्वत्थः । यस्मिन्यववुसं भवति, सः यववुसम् ( सः ) । कलापिनि काले देयमृणम्, कलापकम् । अश्वत्थकम् । यववुसकम् ।

ग्रीष्मावरसमाद् बुन् ॥३१३२४॥ ग्रीष्म अवरसम इत्येताभ्या बुज् भवति । तत्र देयमृणमिति वर्त्तते । ग्रीष्मे देयमृणम् ; ग्रीष्मकम् । श्रृल्लणोऽपवादः । आवरसमकम् । ठञोऽपवादः । अवरसमा, अवरसमम् । “तिष्ठद्वादि” [१३११४] इति हस इत्येके ।

सवत्सराऽग्राग्रहायणीभ्यां ठञ् च ॥३१३२५॥ सवत्सर-आग्रहायणीशब्दाभ्या ठञ् भवति बुञ् च । तत्र देयमृणमिति वर्त्तते । सवत्सरे देयमृण सावत्सरिकम् । सावत्सरकम् । आग्रहायणिकम् । आग्रहायणकम् । वेति वक्तव्ये ठञ्ग्रहण सन्धादिषु “संवत्सरात्फलपर्वणोः” [ ग० सू० ३।२।११७ ] इत्यस्याणो बाधनार्थम् ।

रौति मृगः ॥३१३२६॥ तत्रेति वर्त्तते कालादिति च । कालविशेषवाचिन ईप्समर्थाद् रौति मृग इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहित ल्यो भवति । निशाया रौति मृगः, नैशिकः । नैशः । प्रादोषिकः । प्रादोषः । “निशाप्रदोषाभ्याम्” [३।२।१३४] इति ठञ्णौ । मृग इति किम् ? निशाया रौति उत्लूकः ।

तदस्य सोढम् ॥३१३२७॥ सोढमभ्यस्तम् । कालादिति वर्त्तमानमर्थाद् वान्त सम्पद्यते । तदिति वासमर्थात्कालविशेषवाचिनो मृदोऽस्येति तार्थे यथाविहित ल्यो भवति । यत्तद्वासमर्थं सोढं चेत्तद् भवति । निशा सोढाऽस्य, नैशिकः । नैश । प्रादोषिकः । प्रादोषः । साहचर्यान्निशादिशब्देनाध्ययन-मन्त्रेणम् ।

तत्र भवः ॥३१३२८॥ लब्धात्मलाभ उपलभ्यमानो भवः । तत्रेतीप्समर्थाद् भव इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहित ल्यो भवति । सौधः । राष्ट्रियः । अनुवर्तते तत्रग्रहण कालसम्बन्धम् ( सम्बद्धम् ), पुनस्तत्रग्रहण कालनिवृत्त्यर्थम् । इह प्रायभवग्रहणं च कर्त्तव्यम् । अनित्यभवः प्रायभवः । स्तुध्ने प्रायभवः सौधो मनुष्यः । निर्यतो भवस्तत्र भवः । यथा सौधः प्राकारः । न कर्त्तव्यम् । तत्र भव इति प्रकृत्य “जिह्वामूला-द्भुले.” [१।३।३८] लो विधीयते । स यथैव तस्मिन्ष्टापचारे अङ्गुलीयमित्यादौ भवति, एवं प्रायभवेऽपि भविष्यति ।

दिगादेर्यः ॥३१३२९॥ दिश् इत्येवमादिभ्यो यो भवति । तत्र भव इति वर्त्तते । अणश्छस्य चा-यमपवादः । दिशि भवो दिश्यः । दिश् । वर्ग । पूग । गण । पक्ष । वाप<sup>१</sup> । मित्र । मेघा । अन्तर । पथिन् । रहस् । अलीक । उला । साक्षिन् । आदि । अन्त । मुखजघनग्रहणमदेहाङ्गार्थम् । सेना-मुग्रम् । सेनाजघनमिति । मेघ । यूथ । “उदकात्मज्ञायाम्” [ ग० सू० ] उदक्या स्त्री । औदकोऽन्यः । न्याय । वश । अनुवश । वेश । आकाश ।

देहाङ्गात् ॥३१३३०॥ अङ्गमवयवः । देहाङ्गवाचिनो यो भवति तत्र भव इत्यस्मिन् विषये । अणोऽपवादः । तस्य तु परत्वादेव बाधकः । दन्तेषु भव, दन्त्यः । ओष्ठ्यम् । मुख्यम् । तालव्यम् । इह तदन्तविधिर्धृतव्य<sup>२</sup> । कण्ठतालव्यम् । दन्तोष्ठ्यम् ।

दतिशुक्तिफलसिधत्त्यस्यहेर्ढञ् ॥३१३३१॥ हत्यादिभ्यो ढञ् भवति । तत्र भव इति वर्त्तते । एतो भ । दात्तयम् । अणोऽपवादः । देहाङ्गत्वे यस्यापवाद । कलस्या भवम् कालसेयम् । अणोऽपवादः ।



वात्तेयम् । यस्यापवादः । असृजस्त्यसृजियोगेऽस्तिभावो निपात्यते । असृजि भवम्, आत्तेयम् । प्रकृत्यन्त-  
रमस्तिराब्धः । आदेय विभम् । अणोऽपवादः ।

ग्रीवाभ्योऽण् च ॥३१३३॥ ग्रीवाः शिरोधमन्य । ग्रीवाशब्दादण् भवति दञ्च तत्र भा  
इत्यस्मिन् विषये । यस्यापवादः । ग्रीवासु भव ग्रैवम् । ग्रैवेयम् ।

गम्भीराब्धयः ॥३१३३॥ गम्भीरशब्दाब्धयो भवति । गम्भीरे भवम्, गाम्भीर्यम् । अतस्त  
मिदम् । “गम्भीरवहिर्देवपञ्चजनेभ्य इति वक्तव्यम्” [वा०] बाह्यम् । देव्यम् । पाञ्चजन्यम् ।

हात् ॥३१३४॥ तत्र भव इति वर्तते । हसंजकान्मृदो ज्यो भवति । अणोऽपवादः । हसंजकेभ्यः  
परिमुक्तादिभ्य एवेप्यने । परिमुखे भवम्, पाणिमुख्यम् । परिमुख परिहन् पर्योष्ठ पर्युलूखल परिशाल परिशील  
अनुशीर उपशीर उपस्थूण उपचाल उपकपाल अनुपथ अनुरथ परिरथ अनुगङ्ग अनुतिल अनुमाप अनुपा  
अनुयूथ अनुवंशो वेपु परिपूर्वेपु वर्जनार्थप्रतीतिः, तेषा “पर्यपाद्व्यहिरन्वय कया” [११३१०] इति  
हसः । अन्वत्र “क्वि” [३११५] इति योगविभागात् । परिमुक्तादेरिति किम् ? ओपहूलम् । हादिणि  
किम् ? परिगतं मुक्त्वं पमे य एव भवति । परिमुख्यम् ।

अन्तरादेष्टञ् ॥३१३५॥ हादिति वर्तते । अन्तःशब्दादेर्हादञ् भाति । अणोऽपवादः । अन्त  
शब्दे भिन्नजको विभक्त्यर्थः । अन्तर्गदे भवम्, आन्तर्गहिकम् । आन्तरगारिकम् । “पुरान्ताप्रतिपेधो  
वक्तव्यः” [वा०] अन्तःपुरे भवम्, आन्तःपुरम् । अनेष्ट्य ।

“समानान्ध, सदादेष्टञ्, अन्यात्मादपु चेप्यते । ऊर्ध्वाद्दमाञ्च देहाच्च लोकोत्तरपदादपि ॥” [११०]  
समानं भवम्, सामानिकम् । “सदादेश” सामानग्रामिकम् । सामानदेशिकम् । “अप्याप्यापि” ।  
आप्यापिकम् । आभिर्देशिकम् । आन्त्यामादिराकृतिगणः । ऊर्ध्वदमात्, और्ध्वदमिकम् । केनिरूपागतेन  
समानार्थमूर्ध्व शब्द मन्त पठान् । तेषाम् और्ध्वदमिकम् । और्ध्वदेशिकम् । “लोकोत्तरपदादपि” ।  
ऐरलीकिकम् । पारलीकिकम् ।

“मुखपदवत्सोरायः कुग्जनस्य परस्य च । ईयः कार्योऽथ मध्यस्य मग्मीयो च हतो मतो ॥” [११०]  
मुखसार्धान्या वदन्ताग्रामीयो वक्तव्यः । मुपतीयम् । पार्श्वतीयम् । भेर्भमात्रे टितम् इति टितम् ।  
कुग्जनस्य परस्य च । जनकीयम् । परकीयम् । “मध्यादायो वक्तव्यः” । मध्यीयः । “मग्मीयो च हतो मतो  
मध्यादेश” । माध्यमः । म-पनीयः ।

“मध्यो मध्यन्दिनश्चान्मादृप् स्यान्तो कृजिनात्तथा” [वा०] । म-यशब्दो मय्य रूपमा  
पठने । दिनश्चात्स्यः । मध्ये भवम् मध्यन्दिनम् । उप स्यामान्तादृजिनान्ताञ्च वक्तव्यः । अन्तर्गामिन

यखौ वाऽशब्दे ॥३१३४०॥ तत्र भव इति वर्तते । वर्गान्तात् य ख इत्येतौ त्यो वा भवतः शब्दा-  
दन्यस्मिन्त्यर्थे । पूर्वेण नित्ये छे प्राप्ते विभाषेयम् । भरतवर्गे भवः, भरतवर्ग्यः । भरतवर्गीणः । भरत-  
वर्गीयः । बाहुबलिवर्ग्यः । बाहुबलिवर्गीणः । बाहुबलिवर्गीयः ।

कर्णललाटभूषणे कः ॥३१३४१॥ तत्र भव इत्यस्मिन्विषये कर्णललाटशब्दाभ्यां को भवति  
समुदायेन भूषणेऽभिधेये । कर्णिका । ललाटिका । स्वभावतः स्त्रीलिङ्गः । भूषण इति किम् ? कर्णम् ।  
ललाटम् ।

तस्य व्याख्यान इति च व्याख्येयाख्यायाः ॥३१३४२॥ व्याख्यायतेऽनेनेति व्याख्यानम् ।  
व्याख्यातव्य व्याख्येयम् । तस्याख्या नाम व्याख्येयाख्या । तस्येति तासमर्थाद् व्याख्येयाख्यारूपाद् मृदो  
व्याख्यानेऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति चकारात्तत्र भव इत्यस्मिन् वाक्यार्थे । इतिशब्दः पूर्ववाक्यपरि-  
समाप्त्यर्थः । सुषा व्याख्यानं सुप्सु भव वा सौपम् । मिडा व्याख्यानं मिङ्क्तु भव वा मैडम् । एव  
कार्तम् । हार्तम् । व्याख्येयाख्याया इति किम् ? पाटलिपुत्रस्य व्याख्यानं सुकौशला । पाटलिपुत्रं सुकौशलया  
व्याख्यायते सन्निवेशहारेण । न पुनर्लोके तद्व्याख्येयस्य ग्रन्थस्याख्याभूतम् । ननु च तस्य व्याख्याने  
अर्थे "तस्येदम्" [३१३४२] इत्यनेनैव त्यविधिः सिद्धः । चकारानुकृष्टेऽपि तत्र भवेऽर्थे पूर्वमेव  
त्यविधिरुक्तः । तत्किमनयोर्युगपदुपादानम् ? वक्ष्यमाणोऽपवादविधिः । व्याख्येयाख्याया अनयोरर्थयोर्यथा  
स्यादित्येवमर्थम् ।

बहुचो बहुलं ठञ् ॥३१३४३॥ बहुचो व्याख्येयाख्याभूतान्मृदो बहुलं ठञ् भवति तस्य व्याख्याने  
तत्र भवे चार्थे । अणादेरपवादः । बहुलग्रहणं बहुप्रपञ्चार्थम् । सविधौ ये बहुचः तेभ्यः ऋकारान्तब्राह्मण-  
प्रथमाध्वरपुरश्चरणनामाख्यातपौरोडाशेभ्यः ऋतुभ्यश्च गौणमुख्येभ्यश्च भवति । सविधौ - प्लवणत्वस्य  
व्याख्यानम्, प्लवणत्वे भव पालणत्विकम् । ऋकारान्तात् - चातुर्हातृकम् । पाञ्चहोतृकम् । ब्राह्मणिकम् ।  
प्राथमिकम् । आध्वरिकम् । पौरश्चरणिकम् । नामाख्यातिकम् । विष्टहीतादपि । नामिकम् । आख्यातिकम् ।  
पौरोडाशिकम् । मुख्येभ्यः ऋतुभ्यः - आग्निष्टोमिकम् । राजसूयिकम् । वाजपेयिकम् । पाकयज्ञिकम् । भाव-  
यज्ञिकम् । गौणेभ्यः - पाञ्चौदनिकम् । दाशौदनिकम् । ऋषिभ्योऽध्यायैर्भवति । वार्शिष्टिकोऽध्यायः । वैश्व-  
मित्रिकोऽध्यायः । अन्यत्र वाशिष्टी ऋक् । तिषेष् न भवति । सहिताया व्याख्यानं तत्र भव वा  
साहितम् । बहुच इति किम् ? कार्तम् । हार्तम् । व्याख्येयाख्याया इत्येव । मथुराया भवः, माथुर ।

द्वयजृचः ॥३१३४४॥ द्वयचो मृद ऋक्छब्दाच्च ठञ् भवति तस्य व्याख्याने तत्र भवे चार्थे ।  
अणादेरपवादः । अङ्गस्य व्याख्यानम्, अङ्गे भव वा आङ्गिकम् । पौर्विकम् । तार्किकम् । नामिकम् । ऋचा  
व्याख्यानं ऋक्तु भव वा आर्चिकम् ।

पुरोडाशाष्टद् ॥३१३४५॥ पुरोडाशशब्दाष्टद् भवति तस्य व्याख्याने तत्र भवे चार्थे । पुरो-  
डाशाः षष्ठपिण्डा । साहचर्यात्तेषां संस्कारको मन्त्रोऽपि तथोक्तः । पौरोडाशिकी ।

छन्दसो यः ॥३१३४६॥ छन्दःशब्दाद्यो भवति तस्य व्याख्यानं इत्येवासिन्विषये । द्वयजृच-  
ठञोऽपवादः । छन्दसो व्याख्यानं छन्दसि भवं वा छन्दस्यम् ।

ऋगयनादेष्वाण् ॥३१३४७॥ ऋगयन इत्येवमादिभ्यो मृदस्यश्छन्दःशब्दाच्चाण् भवति तस्य  
व्याख्याने तत्र भवे चार्थे । ऋगयनस्य व्याख्यानः, ऋगयने भवो वा, आर्गयणः । अणि परत ऋगयनस्य

गत्वमिष्यते । ऋगयन । पदव्याख्यान । छन्दोव्याख्यान । छन्दोमान । छन्दोभाषा । छन्दोविज्ञान । छन्दो  
विचिति । न्याय । पुनरुक्त । निरुक्त । व्याकरण । नियम । निगम । वास्तुविद्या । अन्नविद्या । कृतिविद्या ।  
उत्पात । उत्पाद । संवत्सर । मुहूर्त । निमित्त । उपनिषत् । भिद्य । इति ऋगयनादिः । छन्दः । छन्दः  
पृथग्ग्रहणं पूर्वेणार्थम् । पुनरङ्गग्रहणं बाधकस्य टजः छस्य च बाधनार्थम् ।

तत आगतः ॥३१॥४८॥ तत इति कायाम् अर्थात् आगत इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितो भावः ।  
सुध्नादागतः सौधः । राष्ट्रियः । मुख्यस्याऽपादानस्य सम्प्रत्ययः । सुध्नादागच्छन् वृक्षगलागता इति  
इत्तमूलशब्दाद्यो न भवति ।

आयस्यानेभ्यष्टण् ॥३१॥४९॥ द्रव्यागमनमायः । स यस्मिंस्तिष्ठत्युत्पत्तिद्वारेण तत्रागमान् ।  
तद्वाचिभ्यष्टण् भवति तत आगत इत्यस्मिन्निषये । अणोऽपवादः । छस्य तु परत्वादेन बाधकः । शुक्ल  
शालाया आगतं शौल्कशालिकम् । आतरिकम् । आपणिकम् । गौहिकम् । दौतारिकम् । प्रदुर्गम् ।  
स्वरूपनिराधारं ।

शुण्डिकादिभ्योऽण् ॥३१॥५०॥ शुण्डाशब्दो मयवचनः, तन्मान्मन्तर्यार्थे ते (त्ये) कृते शुण्डिक  
इति भवति । शुण्डिक इत्येवमादिभ्योऽण् भवति तत आगत इत्येतस्मिन्निषये । शुण्डिकादागतः शोणिकः ।  
शुण्डिकः । कृकण् । खण्डिलः । उदकः । उदपानः । उपलः । तीर्थः । विष्वलः । भूमिः । तुणः । पणः ।  
पुनरङ्गग्रहणं किम् ? आयस्याने टणः, “गेडादियुक्तकणाद् भागद्वाज” इति को विहितमाणा  
पि बाधनार्थम् ।

योनमोलाद्वुञ् ॥३१॥५१॥ जन्मसम्भवेन योनेरिमे, योनेरागतः वा, योना रा रा  
मातुलादयः । निद्रासम्भवेन मुक्त्वेरिमे, मुक्त्वादागता वा मौत्वा उपाध्यायादयः, ऋत्विगादयश्च । योने  
मौलेभ्यः शब्देभ्यष्टण् भवति तत आगतेऽर्थे । अणोऽपवादः । छस्य तु परत्वादेन बाधकः । मातुला  
दागतः मातुलकम् । मानमहकम् । पैतामहकम् । मौलेभ्यः — उपाध्यायादागतम् । ग्रीवायादागतम् ।  
आचानिकम् । शैष्यकम् । आर्विकम् ।

हेतुमनुष्याद् वा रूप्यः ॥३॥५५॥ तत आगत इति वर्तते । हेतुभ्यो मनुष्येभ्य वा रूप्य इत्यय त्वो भवति । हेतुभ्यः कारणाद्, धेनोरागतं धेनुरूप्यम् । विश्वरूप्यम् । कररूप्यम् । पक्षे गोहादिलक्षण-  
शब्दः । समीयम् । विपमीयम् । पापीयम् । मनुष्येभ्यः-देवदत्तादागतं देवदत्तरूप्यम् । जिनदत्तरूप्यम् । पक्षे  
देवदत्तकम् । जिनदत्तकम् । देवदत्तकल्पकम् । हेतौ का भवतीति मनुष्येभ्योऽपादानलक्षणा का ।

मयट् ॥३॥५६॥ हेतुभ्यो मनुष्येभ्यश्च मयड् भवति तत् आगतेऽर्थे । समाद्धेतोरागतं सममयम् ।  
पापमयम् । मनुष्येभ्यः-देवदत्तादागतम् , देवदत्तमयम् । जिनदत्तमयम् । जिनदत्तमयी । योगविभागो यथा-  
सख्यनिवृत्त्यर्थः ।

प्रभवति ॥३॥१५७॥ तत इत्येव वर्त्तते । तत इति कासामर्थ्यान्डयाम्मृदो यथाविहितं त्यो  
भवति । प्रथम भवति प्रभवति । भवतिरिहोपलब्धिक्रियः, अनेकार्थत्वाद् धूनाम् । लुध्नात् प्रभवति, सौघ्नः ।  
राष्ट्रियः । हिमवतः प्रभवति, हैमवती गङ्गा । दारदी सिन्धुः ।

विदूराज्यः ॥३१॥५८॥ ततः प्रभवतीति अनुवर्त्तते । विदूरशब्दाज्यो भवति । अणोऽपवादः । विदूरात्प्रभवति, वैदूर्यो मणिः । यदि प्रथमं भवति प्रभवतीत्युच्यते बालवायादगिरेरसौ प्रभवति न विदूराजग-  
रात् । कथं ततस्त्योत्पत्तिः ? एव तर्हि “बालवायो विदूरञ्च प्रकृत्यन्तरमेव वा । नैवं तत्रेति चेद्ब्रूयात् जित्वरी-  
वदुपाचरेत् ॥” बालवायस्त्यं लभते विदूरमादेशञ्च । यथा शिवादिषु विश्रवःशब्दो विश्रवणरवणादेशौ  
अण च लभते । प्रकृत्यन्तरमेव वा बालवायस्य विदूरशब्दः । अव्यविकन्यायेन विदूरादेव त्य । नैवं तत्रेति  
चेद्ब्रूयात् जित्वरीवदुपाचरेत् । यथा वारिणाः वाराणसी जित्वरीति मङ्गलार्थमुपाचरन्ति । एवं बालवायोऽप्यु-  
पचाराद् विदूरशब्देनोक्तः । अथवा विदूरादेव मणित्वेन प्रभवति ।

तद्गच्छति पथिदूतयोः ॥३॥३॥५६॥ तदितीप्समर्थाद्गच्छतीत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति योऽसौ गच्छति पन्था दूतो वा चेद् भवति । स्नुघ्न गच्छति, सौघ्नः । राध्द्वयः । पन्था दूतो वा । पथिस्थेषु गच्छत्सु पन्था गच्छतीत्युच्यते । पथिदूतयोरिति किम् ? स्नुघ्नं गच्छति सार्थः ।

अभिनिष्क्रामति द्वारम् ॥३॥६०॥ तदिति वर्तते । तदित्यसमर्थादभिनिष्क्रामतीत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । अनभिनिष्क्रमणक्रियाया द्वार करणं स्वातन्त्र्येण विवक्षितम् । यथा, अशिशिङ्गन्ति । धनुर्विध्यति । द्वारस्थेषु च निष्क्रामत्सु द्वार निष्क्रामतीत्युच्यते । लुध्नमभिनिष्क्रामति पाटलिपुत्रस्य द्वारम्, सौधम् । राष्ट्रियम् । द्वारमिति किम् ? 'मधुरामभिनिष्क्रामति वैदिस (श) स्य ग्राम । लुध्नमभिनिष्क्रामति पुरुष ।

अधिकृत्य कृते ग्रन्थे ॥३३६१॥ तदितौषमर्यादधिकृत्य कृतेऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति यत्तत्कृतं ग्रन्थश्चेत्त भवति । सुलोचनामधिकृत्य कृते ग्रन्थः सौलोचन । औदयनः । ग्रन्थ इति किम् ? सुलोचनामधिकृत्य कृतः प्रासाद । “उसाऽख्यायिकासु बहुलमिति वक्तव्यम्” [वा०] वासवदत्तामधिकृत्य कृताऽख्यायिका, वासवदत्ता । । दोष्य ( श्ल ) स्योष् । उर्वशी । सुमनोत्तरा । अथ उष् । न च भवति भैरमरथी ।

शिशुकन्दयमसमहन्तेन्द्रजननादिभ्यश्छुः ॥३१३६२॥ तदधिकृत्य कृते ग्रन्थ इति वर्तते । शिशुकन्द यमसम इत्येतस्या इन्द्रादिन्द्रजननादिभ्यश्छो भवति । अणोऽपवादः । शिशुकन्दमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः, शिशुकन्दीयः । यमस्य सभा, यमसभम् । “सभाऽराजाऽमनुष्यात्” [१।४।१३] इति नप् । यमसभीयः । इन्द्रात्, त्रिष्टुप्विजयीयः । भरतवाङ्मुवलीयः । वाक्यपदीयम् । “इन्द्रे देवाऽसुरादिभ्यः प्रति-पेक्षो वत्तभ्यः” [ पा० ] टैषात्तुरम् । राक्षोऽसुरम् । गौणमुख्यम् । इन्द्रजननादिभ्यः-इन्द्रजननीयम् ।

प्रद्युम्नोदयनीयम् । प्रद्युम्नागमनीयम् । शी (सी) तान्वेपणीयम् । इन्द्रजननादिराकृतिगण । शिशुकन्दानोऽपि तत्रैव द्रष्टव्याः । देवासुरादिषु ह्यस्यादर्शनात् प्रतिषेधश्च न वक्तव्यः । प्रपञ्चो बालावबोधनार्थः ।

सोऽस्य निवासः ॥३१३६३॥ स इति वासमर्थादस्येति ताऽर्थे यथाविहित लो भवति यत्तु वा-  
समर्थ निवासश्चेत्स भवति । निवसन्त्यस्मिन्निति निवासः । सुप्नं निवासोऽस्य सोऽनः । राष्ट्रियः ।

अभिजनः ॥३१३६४॥ अभिजनः पूर्वं बान्धवाः । साहचर्यात्तैरुपितो देशोऽपि तथोक्तः ।  
निवासो यत्र साम्प्रतमुच्यते । स इति वासमर्थादभिजन इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहित लो भवति ।  
सुप्नमभिजनोऽस्य, सोऽनः । राष्ट्रियः ।

गिरेश्लः शस्त्रजीविषु ॥३१३६५॥ सोऽस्याभिजन इति वर्तते । गिरिवाचिनो वासमर्थाद-  
भिजनविशिष्टादस्येति ताऽर्थे ह्यो भवति शस्त्रजीविष्वभिधेयेषु । हृद्गोलोऽभिजन एषा शस्त्रजीविताम्,  
हृद्गोलीयाः । अत्वर्म । अत्वर्मायाः । वेल । वेलीयाः । रोहितगिरि । रोहितगिरीयाः । गिरेश्ल इति किम् ।  
साक्षात्सोऽभिजन एषा शस्त्रजीविना साक्षात्स्यकाः शस्त्रजीविनः । “यन्त्र ( धन्व ) योऽः” [३१३६६]  
इति उक्तम् । शस्त्रजीविष्विति किम् । अन्तोदो गिरिरभिजन एषा ब्राह्मणानामन्येषा वा, आर्त्ताशः । पृथु ।  
पार्थवाः ।

शरिडकादेर्ज्यः ॥३१३६६॥ सोऽस्याभिजन इति वर्तते । शरिडक इत्येवमादिभ्योऽणो भवति ।  
अणोऽपवादः । शरिडकोऽभिजनोऽस्य, शरिडक्यः [ शरिडकः ] । सर्वमन । सर्वकश । शक । शः ।  
नृणः । शरः । शोष । गोघ । अत्र कोट्यस्यः “कोटोऽणू” [३१३६७] इत्यणू प्रातः । इतरेणः  
“यदुत्पञ्चोऽपि” [३१३६८] इति बुभू प्रातः ।

सिन्धुवादेरण् ॥३१३६९॥ सोऽस्याभिजन इति वर्तते । सिन्धु इत्येवमादिभ्योऽणू भवति ।  
सिन्धुसिन्धुनोऽस्य, सिन्धवः । सिन्धु । वर्ण । मधुमत् । कम्बोज । कश्मीर । सहज । एतेभ्यः कब्ध्वादिनाम् ।  
“नृत्तस्थयोः” [३१३७०] इति बुभू प्रातः । गन्वार । पञ्चाल । किष्किन्ध । गन्धिक । उग्न ।  
दरद् । एतेभ्यः “यदुत्पञ्चोऽपि” [३१३७१] इति बुभू प्रातः । कैमेदुर । काण्डकार । प्रागणी ।  
एतेभ्यश्छः प्रातः ।

तृदोवर्मतोभ्यां ङ् ॥३१३७२॥ सोऽस्याभिजन इति वर्तते । तृदीवर्मतोभ्यां ङ् इति वर्तते ।  
अणोऽपवादः । तृदो अभिजनोऽस्य, तोदयः । वार्मतेयः ।

शालातुरकृचवाराङ् ॥३१३७३॥ सोऽस्याभिजन इति वर्तते । शालातुरकृचवाराङ् इति वर्तते ।  
शब्दान्ता ह्यस्य इत्येता लो भवन्तः । अणोऽपवादः । शालातुराभिजनोऽस्य, शालातुराभिजनः ।  
शालातुराभिजनः ।

महाराजात् ॥३१३७२॥ सोऽस्य भक्तिरिति वर्तते । महाराजशब्दादण् भवति । महाराजो भक्ति-  
रस्य, माहारानिकः ।

अर्जुनाद् वुन् ॥३१३७३॥ सोऽस्य भक्तिरिति वर्तते । अर्जुनशब्दाद् वुन् भवति । अर्जुनो-  
भक्तिरस्य, अर्जुनकः । उत्तरसूत्रेण राजाख्याद् वुञ् प्राप्तः ।

वृद्धराजाख्येभ्यो वुञ् प्रायः ॥३१३७४॥ सोऽस्य भक्तिरिति वर्तते । वृद्धाऽख्येभ्यो राजा  
ख्येभ्यश्च प्रायो वुञ् भवति । अणोऽपवादः । छुत्य तु परत्वाद्वाचकः । वृद्धराजाख्येभ्य इत्यत्र “अ”  
[३१३७] इति नियमात्कर्मणि “आतः कः” [३१३७] न प्राप्नोति । मूलविभुजादित्वात् “सुपि”  
[३१३७] इति [ वा ] भविष्यति । वृद्धाख्येभ्यः, ग्लुचुकायनिर्मक्तिरस्य ग्लौचुकायनः । औपगवो भक्तिरस्य,  
औपगवकः । कापटवकः । राजाख्येभ्यः नकुलो भक्तिरस्य, नाकुलकः । साहदेवकः । वासुदेवो भक्तिरस्य,  
वासुदेवकः । आख्याग्रहणं किमर्थम् ? अङ्गवङ्गकलिङ्गादिग्रहणार्थम् । दुर्योधननकुलसहदेवग्रहणार्थं  
च । यत्र सामान्येन विशेषेण वा प्रसिद्धा राजसंज्ञाऽस्ति तस्य सर्वस्य सङ्ग्रहार्थमित्यर्थः । प्रायोग्रहणात्क-  
चित्त भवति । पाणिनो भक्तिरस्य, पाणिनीयः । पौरवीयः ।

राष्ट्रवत्तद्वतां सर्वं बहुत्वे सरूपाणाम् ॥३१३७५॥ सोऽस्य भक्तिरिति वर्तते । राष्ट्रस्येव  
राष्ट्रवत् । बहुत्वे राष्ट्रेण समानशब्दानां तद्वता राष्ट्रवत्सर्वं प्रकृतिरूपश्च भवति । “राष्ट्राऽवधयोः”  
[३१३१०२] इत्यादिप्रकरणे विहितानामिहाऽतिदेशः । यथा, अङ्गा जनपदो भक्तिरस्य, आङ्गकः । वाङ्गकः ।  
सौलकः । एवमङ्गाः त्रिण्या भक्तिरस्य, आङ्गकः । सौलकः । तद्वतामिति किम् ? पञ्चाला ब्राह्मणो भक्ति-  
रस्य पाञ्चालः । सर्वग्रहणं किम् ? प्रकृतेरप्यतिदेशो यथा स्यात् । स च द्व्येकयोः प्रकृत्यतिदेशः (श)  
प्रयोजयति । यत्रैभिनामत्तभूतो हृदतिदेशो नास्ति । वृजेरपत्यं वाज्यं । “द्विक्कुर्नाद्यजादकुर्कोऽशलाज्यः”  
[३१११५३] इति व्यः । भद्रस्याऽपत्यं माद्रः । “द्वयञ्मगध” [३१११५२] इत्यादिनाऽण् । वाज्यो भक्ति-  
रस्य, माद्रो भक्तिरस्य, अत्र “वृजि [म] द्राक्कः” [३१२१०६] इति कोऽतिदिश्यते । प्रकृतिरप्यदुसंज्ञाऽ  
(रप्यत्रा) तिदिश्यते । वृजिकः । माद्रकः । वाज्यं (र्य) को माद्रक इति मा भूत् । सरूपाणामिति किम् ? असंशयो  
जनपदः, तस्य पौरवो राजा, स भक्तिरस्य पौरवीयः । बहुत्वग्रहणं सारूप्योपलक्षणार्थम् । यद्यपि द्वित्वैकत्वयोः  
सारूप्यं नास्ति तथाप्यतिदेशः सिद्धः । वाङ्गो वाङ्गो वा भक्तिरस्य, वाङ्गकः ।

तेन प्रोक्तम् ॥३१३७६॥ तेनेति भासमर्थोक्तमित्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । व्याख्यादिना  
प्रकर्षणोक्तं प्रोक्तमिति गृह्यते, न तु कृतं यदन्येन कृतम् । गीतमेन प्रोक्तम्, गीतमम् । श्रीदत्तीयम् ।  
सामन्तभद्रम् । आपिशलम् । “हजः” [३१२१८८] इत्यण् ।

शौनकादिभ्यश्छन्दसि णिन् ॥३१३७७॥ शौनक इत्येवमादिभ्यश्छन्दस्यभिधेये णिन् भवति तेन  
प्रोक्तमित्यस्मिन्निषेधे । दुभ्यश्छस्य इतरस्येवाणोऽपवादः । “छन्दोब्राह्मणानि चान्नैव” [३१२१६६]  
इति नियमादेकवाक्यम् । शौनकेन प्रोक्तं छन्दोऽधीयते शौनकिनः । “तद्वेत्त्यधीते” [३१२१६१]  
इत्यागतस्याण “उपप्रोक्ता” [३१२१६४] इत्युप् । शौनकः । वाजसनेयः । साङ्गरवः । सापेयः । सा(शा)ष्येयः ।  
‘स्वादायनः । स्वभः । स्वभः । स्वभः । देवदर्शः । रज्जुमारः । रज्जुकण्ठः । कठः । साठः । कौसायनः । तल-  
वकालः (२) । ‘पुरुषासकः । “कारयपकौशिकाम्यामृषिर्मा कल्पस्थाभ्यां प्रोक्तः स्मर्यते” । तस्योपचारा-

१. स्वादायनं पू० । वोदायनं अ० । २. स्वभं अ०, पू० । ३. पुरुषासक इति गण्यरत्न-  
महोदधौ ।

वृन्दस्त्वम् । तेन तद्विषयतानियमः । काश्यपेन प्रोक्तं कल्पं विदन्ति, काश्यपिनः । कौशिकिनः । कृत्स्नित्वा मिति किम् ? इदानीन्तनेन काश्यपेन प्रोक्तम्, काश्यपीयम् । “कलापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्यः” । कलाप्यन्तेवासिनश्चत्वारः ।

“हरिदुरेषां प्रथमस्ततरछगलितुम्बुरु । उल्लपेन चतुर्थेन कालापकमिहोच्यते ।”

हरिदुणा प्रोक्त छन्दोऽधीयते, हरिदुविणः । तौम्बुरविणः । औलपिनः । छगलिनो द्विनिष्णं वदन्ति । वैशम्पायनान्तेवासिनो नव ।

“आलम्बिः प्रथमः प्राची पलिङ्गकमलाबुधौ । ऋचभागरूपी ताण्ड्यो मध्यमीयास्ततोऽपरे ॥ श्यामायन उदीच्येपु तथा कठकलापिनौ ।”

आलम्बिना प्रोक्तमधीयते, आलम्बिनः । पालिङ्गिनः । कामलिनः । आर्चभागिनः । आरुणिनः । तारिडनः । श्यामायनिन । कठादत्रैवोप वक्ष्यते । उत्तरतः कलापिनोऽपि वक्ष्यति । अन्तेवासिप्रदयेन प्रारम्भ-  
यिष्यग्रहणम् । न तु व्यवहितानां शिष्यशिष्याणां ग्रहणं व्याख्यानात् । “पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु” [ग०सू०] यत्तद्व्योक्तं ( यद्योक्तं तत् ) पुराणप्रोक्ताश्चेद् ब्राह्मणकल्पा भवन्ति । पुराणेन पुरातनेन ऋषिणा प्रोक्ताः, पुराणप्रोक्ताः, ब्राह्मणानि च कल्पाश्च ब्राह्मणकल्पाः । भाल्लनेन प्रोक्तं ब्राह्मणमधीयते भाल्लजिनः । ‘वासायनिनः । ऐतरेयिणः । विज्ञेन प्रोक्तः कल्पः पैङ्गी । आरुणपराजी । कल्पस्य तद्विषयतानियमो नास्ति । पुराणप्रोक्तेष्विति किम् ? याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि । आश्मरथः कल्पः । “शकलादिभ्यो वृद्धे” [३।१।८७] इत्यप् । याज्ञवल्क्यद्वयोऽवरकाज्ञा इत्याख्यानेषु श्रुतिः । तद्विषयतानियमोऽपि प्रतिपदं ब्राह्मणे भवति इति इह सोऽपि नान्ति । “कठचरकादुप्” [ग०सू०] । कठेन प्रोक्तं छन्दोऽधीयते, कठाः । वैशम्पायनान्ते-  
वासित्वाणि, तदनोप् । चरक इति वैशम्पायनस्याख्या । चरकाद्वृन्दस्येनेष्यते । चरकण प्रोक्ताश्चरक-  
श्लोकाः । अथ उप । सर्वप्रवचनामिदानीं ‘वृद्धचरणाज्जितम्’ [३।३।१७] इति वृत् भवत्येव । शौनकादिभि-  
दिन्, शौनककम्, इत्येवमादि योजनम् । “पाराशर्यशकलादिभ्यो भिद्युनट्गुणयोः” । पाराशर्यण प्रोक्तं भिद्यु-  
नट्गुणमधीयते, पाराशरियो भिद्युवः । शिलालिनो नयः । गुणकल्पनया चात्र वृन्दस्यापि तेन तद्विषयतान-  
( भवति । भिद्युनट्गुणद्वयेति किम् ? पारा ) शरम् । शिलालिनः । “शकलादिभ्यो वृद्धे” [ग०सू०] इत्यप् उत्सर्गश्च “कर्मन्दृशरवाभ्यामिन्” । अत्रापि तद्विषयता, कर्मन्दो भिद्युवः । कुर्मादिभ्यो नयः । भिद्युनट्गुणद्वयेत्येव । कर्मन्दम् । पारा ( कार्णाशरम् ) । वृन्दमीति किम् ? योऽ-  
नौना शिदा ।

छगलिनो ढिनिण् ॥३१३८०॥ छन्दसीति वर्त्तते, तेन प्रोक्तमिति च । छगलिन्शब्दाङ्गिनिण् भवति । नेरिकार उच्चारणार्थः । छगलिना प्रोक्तं छन्दोऽधीयते, छागलेयिनः । कलाप्यन्तेवासिलक्षणस्य णिनोऽपवादः ।

एकदिक् ॥३१३८१॥ छन्दसीति निवृत्तम् । तेन प्रोक्तमिति च निवृत्तमर्थान्तरग्रहणात् । एका दिग् यस्य तदेकदिक्, त्य (स) मानदिगित्यर्थः । भासमर्थादेकदिगित्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । सुदाम्ना पर्वतेन एकदिक्, सौदामनी विद्यत् । “मनः” [११४१५८] इति टिक्ताऽभावः । एवं हिमवतो । त्रैकुदी ।

तस् ॥३१३८२॥ तसित्ययं त्यो भवति मृद । तेनैकदिगित्यनुवर्त्तते । पूर्वसूत्रेणाणादयो घादयश्च भवन्ति । अयं च वचनाद् भवति । न तु बाध्यबाधकभावः । सुदाम्ना एकदिक् सुदामतः । हिमवतः । निकुत्तः । तस्यान्तस्य स्वभावतो भिसंज्ञा ।

यश्चोरसः ॥३१३८३॥ तेनैकदिगिति वर्त्तते । उरःशब्दात् य इत्ययं त्यो भवति तश्च । अणोऽपवादः । उरसा एक दिक्, उरस्य, उरस्तः ।

उपशते ॥३१३८४॥ तेनेति वर्त्तते । तेनेति भासमर्थादुपशतेऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति । विनोपदेशेन प्रथमं ज्ञातमुपज्ञातम् । स्वायम्भुवेनोपज्ञातं स्वायम्भुवीयमाकालिकाऽचाराऽध्ययनम् । दैवन्दिनमनेकशेष व्याकरणम् ।

कृते ग्रन्थे ॥३१३८५॥ तेनेति भासमर्थात्कृतेऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति यत्कृतं ग्रन्थश्चेद् भवति । बलदेवेन कृताः, बालदेवाः श्लोकाः । वाररुचाः । सिंहनदीयाः । ग्रन्थ इति किम् ? तद्व्याकृतः प्रासादः ।

खौ ॥३१३८६॥ तेनेति भासमर्थात्कृतेऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति समुदायेन खुविषये । अग्रग्रन्थेऽपि विधिरयम् । मल्लिकाभिः कृतं माल्लिकं मधु । एव गर्भुत्, गर्भुतम् । पुत्तिका, पौत्तिकम् । क्षुद्रा, क्षौद्रम् । सरषा, सारषम् । नर्मुक, नार्मुकम् । भ्रमर, भ्रामरम् । वटर, वाटरम् । वातप, वातपम् । छः कस्मान्न भवति । संज्ञाशब्दानां व्युत्पत्तिरियम् । न च छे कृते संज्ञा गम्यते ।

कुलालादेर्वुच् ॥३१३८७॥ खाविति वर्त्तते । कुलाल इत्येवमादिभ्यो वुञ् भवति तेन कृतेऽर्थे । अणोऽपवादः । कुलालेन कृतम्, कौलालकम् । घटादिसमुदायस्येय संज्ञा । कुलाल । वरुट । कर्मार । चरुडाल । निषाद । सेना । सिलिच् । देवराजी । परिषत् । वधू । रुद्र । अस्य स्थाने रुद्रशब्दं केचित् पठन्ति । अनडुह् । ब्रह्मन् । कर्मार । कुलाल । कुम्भकार । श्वपाक ।

तस्येदम् ॥३१३८८॥ तस्येति तासमर्थादिदमित्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । तस्येति सामान्येन ताऽर्थमात्रं इदमिति ताऽर्थसम्बन्धिमन्त्रं विवक्षितम् । उभयत्र लिङ्गसंख्याप्रत्यक्षपरोक्षत्वादिकमविवक्षितम् । उपगोस्तिदम्, औपगवम् । औत्सम् । राष्ट्रियम् । आङ्गकम् । अनन्तरादिष्वभिधानं नास्ति । देवदत्तत्वान्तरम्, देवदत्तस्य समीपम् । विंशतेरवयव एकः, शतस्य द्वौ, सहस्रस्य पञ्चेति । “संवोदुः संवर्त्तुभावश्च स्ये पञ्चतन्त्रः” [वा०] । संवोदुः स्वं सावहितम् । “अरमीचः शरणे वाच्ये रण्य

१. लिङ्गिम् ल० । लिङ्गिम् पू० । सिरिध इति काशिकायाम् । २. केचित् काशिका-  
कारा इत्यर्थः ।



वक्त्र्यो मसंज्ञा च" [वा०] अग्नीध इदम्, आग्नीध्रम् । 'समिधामाधाने ढेन्यण् वक्तव्यः' [वा०] ।  
सामिधेनी ऋक् ।

रथायः ॥३३।८६॥ तस्येदमिति वर्तते । रथशब्दाद्यो भवति । अणोरपवादः । रथाङ्ग पथेभ्यो ।  
रथस्येदं चक्रं युगं वा रथ्यम् । 'रथसीताहलेभ्यो यविचौ सवन्तविधिरुपसंख्यातः' [वा०] । परमरथम् ।  
रथाङ्ग इति किम् ? रथस्य स्थानम् ।

पत्रादण् ॥३३।९०॥ पतन्ति तेनेति पत्रं वाहनम् । तत्पूर्वाद्रथशब्दादण् भवति । पूर्वस्य यत्प्राजापतः ।  
अश्वरथस्येदं चक्रं युगं वाऽऽश्वरथम् । औष्ट्ररथम् । पुनरण्ग्रहणं छात्राधनार्यम् । रासभरथम् । युगम् ।  
रथाङ्ग इत्येव । अश्वरथस्य स्वामी ।

पत्रात् ॥३३।९१॥ पत्रं वाहनम् । तद्वाचिशब्दादण् भवति, तस्येदमित्यस्मिन्निर्णयो । "पत्राद्  
धाढ्य एवेत्यते" [वा०] । अश्वस्येदं वाह्यम्, आश्वम् । उत्तरेण भिद्यमिति चेद्दुर्मंजुगु न सिद्ध्यति ।  
रासभस्येदं वहनीयम्, रासभम् ।

हलसोराट्ठण् ॥३३।९२॥ तस्येदमिति वर्तते । हलसोरशब्दाभ्या ठण् भक्त्यणि प्राप्ते । हलसोरे  
हलिकम् । भैरवम् ।

द्वन्द्वाद्वुन् चैस्मैथुनिकयोः ॥३३।९३॥ तस्येदमिति वर्तते । मैथुनिका विवाहनादिका क्रिया ।  
द्वन्द्वाद्वुन् भवति धरे मैथुनिकाया च । अणोरपवादः । दुस्य तु पत्न्यादेव बाधकः । अहिनमुनिका ।  
काकौलुङ्गिका । वद्रवशात्तद्वापनिका । वुनन्तस्य राभावतः स्त्रीलिङ्गम् । मैथुनिकाया च । कुम्भकविशिका ।  
सुसृष्टिका । अत्रिभरुद्धाविका । भरुद्धाजशब्दादन्, तस्य वृद्ध बहुत्वे "यज्यो." [१।४।१३५] इत्यु  
कृतः । "दृष्टेऽच्यनुप्" [३।१।७३] इति अनुप् कस्मात् भवति । प्रथमादित्यधिकाराद् द्वितीया न  
भवति । अथ प्रथमस्यान्विशब्दस्य यो हण् तन्नाऽनुप् कस्मात् भवति । अज्ञानान्नान्तोऽपु (नु) ।  
भवति । भरुद्धाजशब्देन चात्र व्यवधानम् । अत्रष्टिः । गर्गभृगूणामिय मैथुनिका गर्गभार्गा । अत्र  
लोकादेशे कृते भृगुशब्दाद् योऽप् तस्य बहुत्वे "भृग्वत्रिकृत्स" [१।४।१३६] इत्यनन्तात् प्रातः । "प्रथमा  
ऽधिकारे द्वितीयास्यापि वृद्धेऽच्यनुव्भवत्य." [वा०] । "देवासुरादिभ्यो वुनः प्रतिपक्षो यत्राप्य" [वा०] ।  
[वा०] । दैवन्तरम् । यत्तोदुम् ।

घोषो वा, वैदम् । यजन्तात् । गर्गाणां सङ्घः, अङ्को लक्षणं घोषो वा, गर्गम् । “क्यच्च्यनादृष्ट्यापत्यस्य” [४।४।१४१] इति यत्नम् । इजन्तात् । दाक्षम् । प्लाक्षम् । अणो णित्करणं स्त्रिया ङवर्थम् । “ङ्गिदृष्टदर-  
स्तविकारे” [४।३।१५१] इत्यत्र पुंवद्भावप्रतिषेधार्थं च । वैदी स्थूणा अस्य, वैदीस्थूणः । लक्ष्म्या(ज्य)गतं-  
चिह्नं लक्षणं यथोपशमो मुनीनाम् । बाह्यसम्बन्धि गतं चिह्नमङ्कः, यथा गवां रेखा ।

शाकलाद् वा ॥३।३।९६॥ शाकलशब्दात्सङ्घादिषु इदमर्थविशिष्टेषु वाऽण् भवति चरणलक्षणे  
नित्ये बुनि प्राप्ते विभाषेयम् । कथं चरणात्वम् ? शाकल्येन प्रोक्तमधीयते शाकलाः । प्रोक्ताऽर्थे “शकलादिभ्यो  
वृद्धे” [३।१।८७] इत्यण् । “क्यच्च्यनादृष्ट्यापत्यस्य” [४।४।१४१] इति यत्नम् । “तद्वेत्त्यधीते”  
[३।२।२१] इत्यागतस्याण् “उप्प्रोक्तात्” [३।२।५४] इत्युप् । शाकलानां सङ्घः, अङ्कः, लक्षणं,  
घोषो वा, शाकलम् ।

छन्दोगौक्थिकयाक्षिकबहुचनटाञ्ज्यः ॥३।३।९७॥ सङ्घादयो निवृत्ताः । सामान्येन तस्ये-  
दमिति वर्तते । छन्दोग औक्थिक याक्षिक बहुच नट इत्येभ्यो ञो भवति । बुनोऽपवादः । नटशब्दादणोऽ-  
पवादः । छन्दोगानां धर्मं आम्नायो वा छान्दोग्यम् । औक्थिकानां धर्मं आम्नायो वा, औक्थिक्यम् ।  
याक्षिक्यम् । बह्वीः ऋचोऽधीयते, बहुचाः । अः सान्तः । “तद्वेत्त्यधीते” [४।२।२१] इत्यागतस्याणो  
“रस्योबनपत्ये” [३।१।७४] इत्युप् । तेषां धर्मं आम्नायो वा, बाहुच्यम् । चरणसाहचर्यान्नटशब्दादपि  
धर्माभायोरेव ल्य । नाट्यम् ।

न दण्डमाणवान्तेवासिषु ॥३।३।९८॥ दण्डप्रधाना माणवाः दण्डमाणवा । आश्रमिणा  
रक्षापरिचरणविधायिन इत्यर्थः । अन्तेवासिनो विनेयाः । वृद्धग्रहणमनुवर्तते । दण्डमाणवेषु अन्तेवासिषु  
इदमर्थविशेषेषु तस्येदमित्यस्मिन्निषये वृद्धाद्यदुक्तं तन्न भवति । काण्ड्यस्येमे काण्डा । गौक्यस्येमे, गौक्या ।  
दण्डमाणवा अन्तेवासिनो वा । बुनि प्रतिषिद्धे “शकलादिभ्यो वृद्धे” [३।२।८७] इत्यण् । दाक्षेरिमे  
दाक्षाः । प्लाक्षा । “इजः” [३।२।८८] इत्यण् ।

रैवतिकादेश्छुः ॥३।३।९९॥ तस्येदमिति वर्तते । वृद्धादिति च । रैवतिक इत्येवमादिभ्यो वृद्धेभ्यश्छो  
भवति । बुनादेरपवादः । रैवतिकस्येदं रैवतिकीयम् । बुनः प्रकृते प्रतिषेधे कृते सामर्थ्याद् दोश्छः सिद्धः । नैव  
शक्यम् इजतात् “इजः” [३।२।८८] इति अण् प्रानोति सङ्घादिषु चाणः प्रतिषेधे बुन् प्रसज्येत ।  
रैवतिक । गौरग्रीवि । स्वापिशि । क्षैमवृत्ति । क्षैमवृद्धि इति केचित् । औदमेधि । औदवाहि । औद-  
वापि । वैजवापि ।

कौपिञ्जलहास्तिपदादण् ॥३।३।१००॥ कौपिञ्जलहास्तिपदशब्दाभ्यामण् भवति तस्येदमित्य-  
स्मिन्निषये । वृद्धलक्षणस्य बुनोऽपवादः । कुपिञ्जल हास्तिपादशब्दाभ्यामपत्येऽर्थे त एव निपातनादण् । पादस्य  
पदभावश्च । कौपिञ्जलस्येदं कौपिञ्जल शकटम् । हास्तिपद शकटम् । आरम्भसामर्थ्यादेवाणि सिद्धे पुनरण्-  
ग्रहणं “न दण्डमाणवान्तेवासिषु” [३।३।९८] इति बुनि प्रतिषिद्धे “दोः” [३।२।९०] इति छे प्राप्ते अण्  
यथा स्यात् । कौपिञ्जला अन्तेवासिनो दण्डमाणवा अन्तेवासिनो वा ।

आथर्वणः ॥३।३।१०१॥ तस्येदमिति वर्तते । आथर्वण इति निपात्यते । आथर्वणिशब्दादण्  
निपात्यते इकस्य च खम् । चरणवाचिशब्दादस्माद् बुञ् प्रातः । अथर्वणा प्रोक्तं छन्दोऽधीयते,  
आथर्वणिकाः । प्रोक्तार्थेऽणि “नोऽपुंसो हति” [४।४।१३०] इति टिल प्रातम् ? “अनः”

[३।३।१५८] इति प्रतिषिद्धम् । आथर्वण इति स्थिते “छन्दोब्राह्मणानि चात्रैव” [३।२।२३] इति नियमात् “तद्वेत्त्यधीते” [३।२।२१] इत्यपि प्राप्ते उक्त्यादिध्वार्यवृणशब्दस्य पाठात् ठण् । ता पाठसामर्थ्यादेव “उपप्रोक्तात्” [३।२।२४] इत्युक्तं भवति । आथर्वणिकानां धर्म आम्नायो वा आर्गणः । यत्कथादिध्वार्यवृणशब्दः पठ्यते स उपचाराच्छास्त्रवचनः अथर्वणं वेत्त्यधीते वा आथर्वणिकः । शिक्षाभा-  
वश्चात्र वक्तव्यः । अस्याप्याथर्वणिकशब्दस्येदं निपातनमिष्यते ।

तस्य विकारः ॥३।३।१०२॥ प्रकृतेरवस्थान्तरं विकारः । तस्येति तासमर्थ्याद् विकार इत्यस्मिन्सर्वे यथाविहितं ल्यो भवति । अदु यस्य च नाम्पत्(न्यत्र) प्रतिपदं ग्रहणं तदिहोदाहरणम् । अश्मनो विकारः आश्मः । “श्वाश्मचर्मण्यं सङ्कोचविकारकौशेषु” [३।३।१३२] इति टितम् । भस्मनो विकारः, मात्मनः । मार्तिकः । तार्कवः । दैवदारवः । तैत्तिडीकः । वैल्वः । कापित्यः । पालाशः । प्रकृत्याप (म) देन चो विकारस्तत्रायं विधिः । तेनेह न भवति, आत्मं पक्वमिति । भवति पक्वमात्मस्य कल्पस्य विकारे न तु प्रकृत्युपमार्दं । तस्येति वर्तमाने पुनस्तस्य ग्रहणं शौषिकाणां घादीनां निवृत्त्यर्थम् । एतः परमोत्तर्ग एव भवति । अत्र वेपाञ्चिद्युक्तिः पूर्वसूत्रादणीति वर्तते स इह निषीयमानः परतोऽपि शौषिकाणां वाचकः ।

प्राणयोपधिवृद्धेभ्योऽवयवे च ॥३।३।१०३॥ प्राणिनश्चेतनावन्तः । फलपाकान्ता श्रोत्राणः । पुष्पवन्तः फलवन्तश्च वृक्षाः । वृक्षविशेषत्वाद्वनस्पतिवीरुधामपि वृक्षग्रहणेन ग्रहणम् । प्राणयोपधिवृद्धता चिन्त्यत्तासमर्थेभ्योऽवयवे विद्यारे च यथाविहितं ल्यो भवति । अवयव एकदेशः । प्राणिभ्य उत्तरा तदापो । ओपधिभ्यः, मूर्त्यानां अवयवो विकारो वा मोर्वे काण्डम् । मोर्वे भस्म । वृद्धेभ्य - कारीरं काण्डम् । कारीरं भस्म । पैप्पल काण्डम् । शान्तविकरं काण्डं भस्म च । इह ओपधिवृद्धाग्रहणां शापकम् । “अगौ धेः प्राणिनश्चेतुः” [१।२।८५] इत्येवमादिषु प्राणिग्रहणे वृक्षादीनां प्राणित्वेऽपि ग्रहणं न भवति । तस्य विकारः प्राण्योपधिवृद्धेभ्योऽवयवे चेति द्वयमविदितम् । अयं तु विभागः । प्राणयोपधिवृद्धेभ्यः, अवयवविकारयोः विधिः । अन्येभ्यस्तु विकारमात्रं एष्टव्यम् ।

रोहीतक । विभीतक । पीतदारु । त्रिकण्टक । कण्टकार । काण्ड । गवेधुक<sup>१</sup> । पाटली । येऽत्रादयः, तेभ्यः  
“मयङ्वैतयोरभक्ष्याच्छादनयोः” [३।३।१०८] इति विकल्पेन मयटि प्राप्तेऽपवादः ।

त्रपुजतुनोः पुक् ॥३।३।१०६॥ त्रपुजतुशब्दाभ्या यथाविहितमण् भवति तत्सन्नियोगेन च पुगा-  
गमः । त्रपुणो विकारः, त्रपुषम् । जातुषम् ।

शम्याः घृलज् ॥३।३।१०७॥ शमीशब्दादघृलज् भवति विकारावयवयोरर्थयोः । अणोऽपवादः ।  
शामीलं भस्म । शामीली सुक् ।

मयङ्वैतयोरभक्षाच्छादनयोः ॥३।३।१०८॥ भक्ष्यमभ्यवहार्यम् । आच्छादनं वसनम् । तासमर्थ-  
न्मुदो वा मयङ् भवति भक्ष्याच्छादनवर्जितयोर्विकारावयवयोरर्थयोः । अश्मनो विकारोऽश्ममयम् । आश्मम् ।  
सिक्तामयम् । सैकतम् । दूर्वामयम् । दौर्वम् । विकाराऽवयवौ प्रकृतावेव तत्किमर्थमेतयोरिति ग्रहणम् ? अनन्त-  
रयोरपि योगयोरपवादवाधनार्थम् । त्रपुमयम् । जतुमयम् । शमीमयमिति । अन्ये<sup>२</sup> कपोतमयम्, रजतमयम्,  
लोहमयमित्यादि इच्छन्ति । तत्तेषां “प्राणिरजतादिसूत्रोऽज्” [४।३।५४ पा० सू० ] इत्यस्य सूत्रस्य  
व्याख्यानं विरुध्यते । तस्मात्कपोतमयमिति चिन्त्यम् । अभक्ष्याच्छादनयोरिति किम् ? मौद्गः सूपः ।  
कार्पासः प्रावारः ।

नित्यं दुशरादेः ॥३।३।१०९॥ अभक्ष्याच्छादनयोरिति वर्तते । दुभ्यः शरादिभ्यश्च तासमर्थेभ्यो  
भक्ष्याच्छादनवर्जितयोर्विकारावयवयोरनित्यं मयङ् भवति । दुभ्यः, आम्रस्य विकारोऽवयवो वा आम्रमयम् ।  
शालमयम् । शरादिभ्यः, शरमयम् । शर । दर्भ । मृदु । कुटी । तृण । सोम । बल्वज । आरम्भान्नित्यत्वे  
लब्धे नित्यग्रहणं किम् ? एकाचो नित्यं मयट् यथा स्यात् । वाङ्मयम् । त्वङ्मयम् । ते नित्यं परङ्सज्ञादेशः ।  
अथ विकारावयवयोर्यस्यस्तदन्ताद्विकारावयवान्तरविवक्षाया मयट् कस्मान्न भवति । दैवदारवस्य विकारोऽवयवो  
वा दैवदारवम् । दावित्यस्य, दावित्यम् । पालाशस्य, पालाशम् । शामीलस्य, शामीलम् । कापोतस्य, कापो-  
तम् । औष्ट्रकस्य, औष्ट्रकम् । ऐण्यस्य, ऐण्यम् । कासस्य, कांस्यम् । पारशवस्य, पारशवमिति । नैष दोषः,  
समुदायशब्दोऽवयवेऽपि दृष्टः । इति विकारान्तरे अवयवान्तरे च विवक्षिते मूलप्रकृतेरेव त्वः । तेन त्यान्तान्म-  
यण भवति । अनभिधानाद्वा । यत्राभिधानमस्ति तत्र विकारान्तरेऽवयवान्तरे च त्यो भवत्येव । गोमयस्य  
विकारः, गौमय भस्म । द्रुवयस्य विकारः, द्रौवयम् । कपित्थस्य फलस्य विकारः, कापित्थम् । आमलकस्य  
फलस्य विकारः, आमलकमयम् । सर्वमय मयट् दुसशब्देभ्य शरादिभ्यश्च नित्यं भवति । अन्येभ्योऽभक्ष्याच्छा-  
दनयोर्वा भवति । द्वातरूपेभ्यः, प्राणितालादिभ्यश्चाण् भवति ।

पिष्टात् ॥३।३।११०॥ पिष्टशब्दाद् विकारेऽर्थे नित्यं मयङ् भवति । पिष्टस्य विकारः, पिष्टमयम् ।  
भक्ष्यत्वादण्येव प्राप्तः, तदपवादोऽयम् ।

कः खो ॥३।३।१११॥ पिष्टशब्दात्को भवति खुविपये । अनन्तरस्य मयटोऽपवादः । पिष्टस्य विकारः  
पिष्टिका ।

१ गवेधुका ज०, पृ० । २ अन्ये काशिकाकाराः । चिन्त्यमिदम्—कपोतमयम्, लोहमयमित्या-  
दीनां प्राणिरजतादिसूत्रव्याख्यानविरोधाभावात् । रजतादिपठितस्यानुदात्तादिशब्दस्यैव मयङ्वाचकत्वम् ।  
उदात्तादेस्तु भ्रज्मयटोरुभयोरपि विधानस्य तत्रत्यन्यासग्रन्थे निर्णयितत्वात् । रजतमयमिति काशिकायां  
नास्ति । विस्तरस्तु काशिकान्यासे द्रष्टव्यः ।

तिलयवावसौ ॥३।३।११२॥ तिलयवराब्दान्यामखुविषये नित्यं मयङ् भवति विकाराणां यो-  
रर्थयोः । तिलानामवयवो विकारो वा, तिलमयम् । यवमयम् । अखाविति किम् ? तैलम् । यावकः । “कोर्जा  
यावादेः [३।३।११५] इति स्वार्थिकः कः ।

गोत्रीहेः शकृत्पुरोडाशे ॥३।३।११३॥ गोत्रीहिशब्दान्यां ययासख्य शकृति पुरोडाशे च निष्-  
रेऽभिधेये नित्यं मयङ् भवति । गोमयं शकृत् । ब्रीहिमयः पुरोडाशः । शकृत्पुरोडाश इति किम् ? गो-  
मयः । ब्रैह श्रोदनः ।

क्रीतवत्परिमाणात् ॥३।३।११४॥ क्रीत इव परिमाणवाचिनः त्वविधिर्भवति विकारे । परिमीयोऽ-  
नेनेति परिमाण परिच्छेदहेतुः न तु रुदिपरिमाणमेव । तेन सख्याया प्रस्थादीना च ग्रहणम् । क्रीतार्थं ये ता-  
यस्मात्परिमाणाद्विहिताः, ते विकारेऽप्यर्थे तस्मादेव परिमाणादतिदिश्यन्ते । यथा भवति “तेन क्रीतम्”  
[३।४।३५] इत्यत्र । शतेन क्रीतः शतिकः, शत्यः । “शतावस्वार्थेऽस्ते ठयौ” [३।४।१८] इति । सशतेन  
क्रीतः, सहस्रम् “शतमानविंशतिसहस्रवसनादण्” [३।४।२४] इति ठयाणः । एवमिहापि शतस्य निष्कार-  
शत्यः, शतिकः, सहस्रः । यथा परिमाणाक्रीतार्थे “आर्हाद्वण्” [३।४।१७] भवति । प्रस्थेन तोतः,  
प्रास्थिकः । क्रीडविकः । खार्या क्रीतः सारोक्तः । “सारोक्तकणीभ्यां कप्” [३।४।३०] इति कप् । एव परा-  
स्य विकारः प्रास्थिकः । क्रीडविकः । सारोक्तः ।

कोशण्या ढञ् ॥३।३।११५॥ कोश एणी इत्येताभ्या ढञ् भवति विकारावयवयोरर्थयोः । कोशाद्-  
दन्ते प्रयोगः । कोशस्य निष्कारः, कौशेय वज्रम्, आच्छादनम् । मयङ् नास्ति । अणोऽपवादः । एणा  
विकारोऽनयो वा, ऐणेय मासम् । ऐणेय सन्धि । एणीति स्त्रीलिङ्गनिर्देशात्पुस्तकं वा भवति । एणं पुमा  
( मासम् ) ।

उष्ट्राद् वुञ् ॥३।३।११६॥ उष्ट्रशब्दाद् वुञ् भवति विकारावयवयोरर्थयोः । प्राणिनामण्योऽणोऽ-  
पवादः । उष्ट्रस्य विकारोऽवन्तो व, औष्ट्रकम् ।

उमाऊर्णात् ॥३।३।११७॥ उमा अतमी । उमाऊर्णाशब्दान्या वा वुञ् भवति विकारावयवयोरर्थयोः ।  
उमाना विकारोऽवन्तो व औमकम् । पत्ते अणमयस्यो । औमम् । उमामयम् । ऊर्णाया निष्कारः, और्णकम् ।

नैयग्रोधम् । “न्यग्रोधस्य केवलस्य” [५।२।१०] इत्यैप् । ज्ञत् । न्यग्रोध । अश्वत्थ । इज्जुदी । शिग्रु । किततन्तु<sup>१</sup> । वृहती ।

जम्बवा वोश्च ॥३।३।१२३॥ फल इति वर्त्तते । जम्बूशब्दादवयवविशेषे फलेऽभिधेये वा उस् भवति अण् च । पत्ते उन्मभवति । जम्बवा अवयवः फलम्, मयट उप्ति, जम्बूः फलम् । अणो वचनादुस् न भवति । जाम्बव फलम् । उपि जम्बु फलम् ।

हरीतक्यादेः ॥३।३।१२४॥ उप्ति वर्त्तते फले इति च । हरीतक्यादिभ्यः फले अवयवे उस् भवति त्यस्य । हरीतक्या अवयवः फलम्, हरीतकी फलम् । हरीतकी । पिप्पली । कोशातकी । नखरजनी । चण्डी । दोडी । श्वेतपाकी । अर्जुनपाकी । शाला । काला । द्राक्षा । ऋक्षा । गङ्गाडिका । कण्टकारिका । शेफालिका । “येषां च पाकनिमित्तः शोषः, तेभ्यश्च उस् फले” [ ४।० ] ग्रीहयः । यवाः । माषाः । मुद्गाः । “पुष्पमूलेषु बहुलम्” [ ४।० ] । मल्लिकायाः पुष्पम्, अवयवः, मल्लिका । नवमल्लिकाः । जाती । वृहत्या मूलमवयवः, वृहती । विदारी । अशुमती । न च भवति उस् उवेव भवति । पाटलानि पुष्पाणि । शाल्वानि मूलानि । करवीर पुष्पम् । कदम्बम् । अशोकम् । कञ्चिदुभयोरभावः । वैष्णवानि फलानि । “जम्बवा हरीतक्यादिषु च उप्ति लिङ्गमेव उक्तवद् भवति न वचनम्” [ ४।० ] । जम्बूः फलम् । जम्बौ फले । जम्ब्व फलानि । हरीतकी फलम् । हरीतक्यौ फले । हरीतक्यः फलानि ।

कांस्यपारशवौ ॥३।३।१२५॥ कास्य पारशव इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । कंसीय-परशव्यशब्दयो र्यजिणोः परतश्छययोस्त् निपात्यते विकारेऽर्थे । यजणोरणोरनेनैव विधानम् । कासार्यम्, कंसीयम् । परश्वर्थं परशव्यम् । “तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ” [ ३।४।११ ] इत्यनेन प्राक्ठणश्छः । “उगवादेर्यः” [ ३।४।२ ] इति छयौ भवतः । कंसीयस्य विकारः, कास्यम् । परशव्यस्य विकारः, पारशवम् ।

प्राग्यादृण् ॥३।३।१२६॥ “सद्वहति रथयुगप्रासङ्गाद्यः” [ ३।३।१४१ ] इति यो वक्ष्यते । प्रागेतस्मात्संशब्दनाद्येऽग्रे वक्ष्यन्ते तेषु ठण्धिक्रियते । वक्ष्यति “तेन दीव्यति खनति जयति जितम्” [ ३।३।१२७ ] इति । अक्षैर्दीव्यति आक्षिक् । शालाक्षिकः । प्राग्वचनं किम् ? अर्थविशेषे त्यान्तरेण निवर्त्तितस्य उत्तरत्रोपस्थानं यथा स्यादित्येवमर्थम् ।

तेन दीव्यति खनति जयति जितम् ॥३।३।१२७॥ तेनेति भासमर्थात् दीव्यति खनति जयति जितमित्येतेष्वर्थेषु ठण् भवति । अक्षैर्दीव्यति आक्षिक् । शालाक्षिक । अभ्रया खनति, आभ्रिकः । कौहालिकः । अक्षैर्जयति, आक्षिक् । शालाक्षिकः । अक्षैर्जितम्, आक्षिक् । शालाक्षिकम् । सर्वत्र करणे भा द्रष्टव्या । तेनेह न भवति देवदत्तेन जितमिति । दीव्यत्यादिषु त्रिषु सख्याकालावविवक्षितौ । जितशब्दे कालो विवक्षितः । क्रियाप्रधानत्वेऽप्याख्यातस्य ह्रस्वभावादेव कारकाभिधायी । आक्षिको दीव्यतीत्यनुप्रयोग सन्देहनिवृत्त्यर्थः ।

संस्कृतम् ॥३।३।१२८॥ तेनेति वर्त्तते । भासमर्थान्मृदः संस्कृतमित्येतस्मिन्नर्थे ठण् भवति । वक्ष्यमाणत्सिद्धात्संस्कृतस्य को भेदः । सतो गुणामिधानं संस्कारः । मिश्रणमात्रं संसर्गः । दध्ना संस्कृतं दाधिकम् । शाङ्गवेरिकम् । मारीचिकम् । “संस्कृतं भक्षः” [ ३।२।११ ] इत्येतदाधारविवक्षायामुक्तम् ।

कुलत्थकोडोऽण् ॥३।३।१२९॥ तेनेति संस्कृतमिति च वर्त्तते । कुलत्थशब्दात्कारोडश्च मृदोऽण् भवति । ठणोऽपवादः । कुलत्थैः संस्कृतं कौलत्थम् । कोडः, तैत्तिडीकम् । दार्दूलकम् ।

तरति ॥ ३।३।१३० ॥ तेनेति वर्तते । मासमर्थ्यत्तरतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । उज्जेन तर्ग  
श्रीडुपिकः । काण्डलविकः । सारल्लविकः । गौपुच्छिकः ।

नौद्वयचष्टः ॥ ३।३।१३१ ॥ तेनेति तरतीति च वर्तते । नौशब्दाद्द्वयचक्ष मृदुलो भाति ।  
ठणोऽपवादः । नावा तरति नाविकः । नाविका स्त्री । द्वयचः, घटेन तरति घटिकः । ज्विकः । बाटुकः ।

चरति ॥ ३।३।१३२ ॥ तेनेति वर्तते । चरतिरिह भक्षणार्थो गत्यर्थश्चेष्टः । तेनेति भागमर्थान्तरं  
इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । इह तु करणे भा । शकटेन चरति, शाकटिकः । हारितकः ।

पर्पादेष्टट् ॥ ३।३।१३३ ॥ तेनेति चरतीति च वर्तते । पर्प इत्येवमादिभ्यष्ट भवति । ठणोऽपवादः ।  
पर्पेण चरति, पर्पिकः । पर्पिकी । अश्विकः । अश्विकी । पर्प । अश्व । ऊपर । अभत्य इति केषां ।  
रथ । झाल । व्यास । पादः पच्च । पदिकः । पदिकी ।

श्रगणाद्या ॥ ३।३।१३४ ॥ तेनेति चरतीति वर्तते । श्रगणशब्दाद् वा ठण् भवति । पत्रो ठण ।  
श्रगणेन चरति, श्रगणिकः । श्रगणिकी । श्रगणिकः । श्रगणिकी । ठणि श्रशब्दस्य द्वाराग्लितशोभेन  
प्राप्तः “स्वादेशवतः” [ ४।३।१३ ] इति प्रतिषेधः ।

चेतनादेर्जावति ॥ ३।३।१३५ ॥ तेनेति वर्तते । चेतनादिभ्यो भान्तेभ्यो जीवतीत्यस्मिन्नर्थे यथा  
विहितं त्यो भवति । चेतनेन जीवति, चेतनिकः । चेतन । बाहु । आर्द्धबाहु । उग्न । दण्ड । धनुर्गण्ड ।  
पनुर्दण्डप्रदस्य सङ्घातविग्रहीनार्थम् । वेश । उपवेश । प्रेषण । श्रुति । जाल । उपस्थ । गुण । शण ।  
शक्ति । उपनिषत् । भिक्त ( खन् ) । पाठ । उपस्थान ।

वस्नक्रयविक्रयादृः ॥ ३।३।१३६ ॥ तेनेति जीवतीति च वर्तते । वस्न-क्रयविक्रयशब्दाणां ठा  
भवति । वस्नं गृह्णन्, वस्नेन जीवति, वस्निकः । क्रयविक्रयेण जीवति क्रयविक्रयिकः । उभयथा वाप्यपणा  
त्क्रयविक्रयेण जीवति, क्रयिकः । विक्रयिकः ।

हृश्चायुधात् ॥ ३।३।१३७ ॥ आयुष्यनेऽनेनत्यायुधम् । अय्यर्थ ( वज्रम् ) कविधानं स्थापनाया  
व्यवहितियुष्मन्भवति । आयुष्यशब्दाद् मासमर्थान्तरं भवति ठण् जीवतीत्यर्थः । आयुज जीव  
मावधीयः । आयुविकः । आयुविक स्त्री ।

निर्वृत्तेऽक्षयतादेः ॥३१३१४२॥ हरतीति निवृत्तम् । तेनेति वर्तते । अक्षयूतादिभ्यो भासमर्थेभ्यो निर्वृत्तेऽर्थे ठण् भवति अक्षयूतेन निर्वृत्तम्, आक्षयूतिकम् । अक्षयूत । जङ्घाप्रहत । जङ्घाप्रहत । पादस्वेदन । कण्टकमर्दन । शर्करामर्दन । गतागत । यातोपयात । अनुगत ।

भावादिमः ॥३१३१४३॥ तेनेति निर्वृत्त इति च वर्तते । भाववाचिनो मृदो भासमर्थान्निर्वृत्तेऽर्थे ह्रस्व इत्ययं त्यो भवति । कुटेन निर्वृत्ता, कुट्टिमा भूमिः । सेकिमोऽसिः । पाकिम ओदनः ।

त्रेः ॥३१३१४४॥ न्यन्ताच्च ह्रस्वो भवति तेनेति निर्वृत्तेऽर्थे । पूर्वेण सिद्धे पुनरारम्भो वाक्यनिवृत्त्यर्थः । अस्वपदेनार्थः प्रदर्श्यते । पाकेन निर्वृत्तम्, पक्वमम् । वापेन निर्वृत्तम्, उष्णिमम् । करणेन निर्वृत्तम्, कृत्रिमम् । भावे “द्वितः द्वित्रः” [ २।३।७० ] इति द्वित्रः ।

नित्यम् ॥३१३१४५॥ न्यन्त नित्यमिमविषय वेदितव्यम् । यथाऽन्ये भाववाचिनो निर्वृत्तार्थादन्यत्रापि प्रयुज्यन्ते । पाको वर्तते । सेको वर्तते, इति निर्वृत्तार्थे वाक्यं वृत्तिश्च भवति, तथा न्यन्तस्य त्रैरूप्यं मा भूत् इत्येवमर्थमिदमुच्यते । पूर्वेण वाक्यनिवृत्तिः कृताऽनेनेमविषयादन्यत्र प्रयोगो निषिध्यते ।

याचिताऽपमित्यात्कण् ॥३१३१४६॥ तेनेति निवृत्तमिति च वर्तते । याचित-अपमित्यशब्दाभ्या कण् भवति । याचितेन निर्वृत्त याचितकम् । आपमित्यकम् । “माडो व्यतिहारे” [ २।४।५ ] इति त्वात्यः । “वेमेकः” [ ४।४।६६ ] इत्वम् । अभान्तादपि वचनाच्चः । अपमित्य इत्यनेन निर्वृत्तम् इत्येवं विग्रहे शब्दान्तरेण करणत्वं व्यज्यते ।

संसृष्टे ॥३१३१४७॥ तेनेति वर्तते । भासमर्थान्मृदः संसृष्टेऽर्थे ठण् भवति । संसृष्ट मिश्रितम् । दध्ना संसृष्टम्, दाधिकम् । मारीचिकम् । “चूर्णादिन् वक्तव्यः” [ वा० ] । चूर्णेन संसृष्टाः, चूर्णिनो धानाः । चूर्णिनोऽपूपाः । इह कस्मान्न भवति लवणेन सैन्धवादिना संसृष्टमिति ? अनभिधानात् । कथं लवणः सूपः, लवण शाकम्, लवणा यवागूरिति ? गुणवाचिनो लवणशब्दस्य तद्योगात् द्रव्ये वृत्तिरियम् । यथा कषायमुदकम् । कटुकमुदकमिति ।

मुद्गादण् ॥३१३१४८॥ मुद्गाशब्दाद् भान्तादण् भवति संसृष्टेऽर्थे । ठणोऽपवादः । मौद्ग ओदनः ।

व्यञ्जनैरुपसिक्ते ॥३१३१४९॥ तेनेति वर्तते । समर्थविभक्त्युपादान तस्यैव व्यङ्ग्ये । व्यञ्जन-वाचिभ्यो भासमर्थेभ्य उपसिक्तेऽर्थे ठण् भवति । दध्ना उपसिक्तं दाधिकं भक्तम् । घातिकः सूपः । व्यञ्जनैरिति किम् ? उदकेन उपसिक्त ओदनः । बहुत्वनिर्देशः स्वरूपनिरासार्थः ।

ओजः सहोऽभसा वर्तते ॥३१३१५०॥ तेनेति वर्तते । निर्देशाद् वासमर्थविभक्त्युपादानम् । ओजःप्रभृतिभ्यो भासमर्थेभ्यो वर्तते इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । ओजसा वर्तते, औजसिकः । साहसिकः । आम्भसिक ।

तत्प्रत्यनुपूर्वमीपलोमकूलात् ॥३१३१५१॥ तदिति ह्रस्वमर्थेभ्यः प्रति अनु इत्येवपूर्वेभ्यः ईपलोमकूलशब्देभ्यो वर्तते इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । वृत्तिः क्रियावामान्ये वर्तमानः सकर्मकः । वर्तते आचरतीत्यर्थः । अपः प्रति, प्रतीपम् । “वीप्सेत्थंभुतलक्षणेऽभिनेप्” [ १।४।११ ] । “भागे चानुप्रति-परिष्ठा” [ १।४।१२ ] इति लक्षणेऽर्थे ईप् ‘लक्षणेनाभिमुख्येऽभिप्रेती [ १।३।११ ] इति ह्रस्वः । “द्वयन-गेरीदप” [ ४।३।२०२ ] इति ईत्वम् । भावप्रधाना चेय वृत्तिः । समुदायात्कर्मणीप् । प्रतीप वर्तते प्राती-पिकः । अनुर्थयार्थे वर्तमानः अप्रशब्देन सह ह्रस्वो भवति । आन्वीपिकः । प्रतिलोम वर्तते, प्रातिलोमिकः ।



तरति ॥ ३।३।१३० ॥ तेनेति वर्तते । भासमर्थान्तरतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । उडुपेन तरति औडुपिकः । काण्डस्रविक । सारस्रविकः । गौपुच्छिकः ।

नौद्वयचष्टः ॥ ३।३।१३१ ॥ तेनेति तरतीति च वर्तते । नौशब्दाद्द्वयचश्च मृदग्रो भवति । ठणोऽपवादः । नावा तरति नाविकः । नाविका स्त्री । द्वयचः, घटेन तरति-घटिकः । स्रविकः । बाहुकः ।

चरति ॥ ३।३।१३२ ॥ तेनेति वर्तते । चरतिरिह भक्षणाथो गत्यर्थश्चेष्टः । तेनेति भासमर्थान्चरति इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । इह तु करणे भा । शकटेन चरति, शाकटिकः । हारितकः ।

पर्पादेष्टट् ॥ ३।३।१३३ ॥ तेनेति चरतीति च वर्तते । पर्प इत्येवमादिभ्यष्टट् भवति । ठणोऽपवादः । पर्पेण चरति, पर्पिकः । पर्पिकी । अश्विकः । अश्विकी । पर्प । अश्व । ऊपर । अश्वस्य इति केचित् । रथ । जाल । व्यास । पादः पच्च । पदिकः । पदिकी ।

श्वगणाद्वा ॥ ३।३।१३४ ॥ तेनेति चरतीति वर्तते । श्वगणशब्दाद् वा ठङ्भवति । पक्षे ठण् । श्वगणेन चरति, श्वगणिकः । श्वगणिकी । श्वागणिकः । श्वागणिकी । ठणि श्वशब्दस्य द्वारादित्वादीवादेशः प्राप्तः “श्वादेशवतः” [ १।२।१३ ] इति प्रतिषेधः ।

वेतनादेर्जीवति ॥ ३।३।१३५ ॥ तेनेति वर्तते । वेतनादिभ्यो भान्तेभ्यो जीवतीत्यस्मिन्नर्थे यथा विहितं ल्यो भवति । वेतनेन जीवति, वैतनिकः । वेतन । बाहु । अर्द्धबाहु । उस् । दण्ड । धनुर्दण्ड । धनुर्दण्डग्रहणं सङ्घातविग्रहीतार्थम् । वेश । उपवेश । प्रेषण । भृति । जाल । उपस्थ । सुप्त । शण्य । शक्ति । उपनिषत् । षिक् ( स्तक् ) । पाठ । उपस्थान ।

वस्नक्रयविक्रयाद्वा ॥ ३।३।१३६ ॥ तेनेति जीवतीति च वर्तते । वस्न-क्रयविक्रयशब्दाभ्यां ठो भवति । वस्नं मूल्यम्, वस्नेन जीवति, वस्निकः । क्रयविक्रयेण जीवति, क्रयविक्रयिकः । उभयथा वाक्याश्रयणात् क्रयविक्रयेण जीवति, क्रयिकः । विक्रयिकः ।

छशचायुधात् ॥ ३।३।१३७ ॥ आयुध्यतेऽनेनेत्यायुधम् । प्यव्यर्थ ( वजर्थे ) कविज्ञान स्थासनापा-  
व्यभिहिनियुध्यर्थमिति । आयुधशब्दाद् भासमर्थान्छश्च भवति ठश्च जीवतीत्यर्थे । आयुधेन जीवति आयुधीयः । आयुधिकः । आयुधिका स्त्री ।

हरत्युत्सङ्गादेः ॥ ३।३।१३८ ॥ तेनेति वर्तते । उत्सङ्ग इत्येवमादिभ्यो भासमर्थेभ्यो हरतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । उत्सङ्गेन हरति, ओत्सङ्गिकः । उत्सङ्ग । उडुप । उत्तुप । उत्पुत । उत्पुत । पिटक । पिडाक ।

ठङ्भस्त्रादेः ॥ ३।३।१३९ ॥ भस्त्रा इत्येवमादिभ्यो भासमर्थेभ्यष्टट् भवति । मत्त्रया हरति, भस्त्रिकः । भस्त्रिकी । भस्त्रा । भरट् । भरण । शीर्षभार । असभार । असेभार ।

वा विवधवीवधात् ॥ ३।३।१४० ॥ तेनेति हरतीति वर्तते । विवधवीवधशब्दाभ्यां वा ठट् भवति, तेन मुक्ते ठण् भवति । विवधेन हरति, विवधिकः । वीवधिकः । ठणि । वैवधिक । स्वदेशान्वाधति ( मित्रा धते ) वीवधः पर्याहार इत्यर्थः । तद्योगात्पथा अपि तथोच्यते । विवधशब्दस्य पृषोदरादित्वाद्वा दीतम् ।

अण् कुटिलिकायाः ॥ ३।३।१४१ ॥ कर्मारणामन्नापकर्पणी, मृद्गता ( त ) पलातोल्लापणा दण्डः, परिव्राजकानां त्रिदण्डधारणम् । कुटिलिका । कुटिलिकाशब्दाद् भासमर्थोदण् भवति हरन्मिनित्यर्थः । कुटिलिकया हरति, कौटिलिकः कर्मारः कर्पकः, परिव्राजको वा । अन्यत्राऽपि प्रयोगोऽभ्युपगम्यः ।

निर्वृत्तेऽक्षयूतादेः ॥३॥३॥१४२॥ हरतीति निवृत्तम् । तेनेति वर्त्तते । अक्षयूतादिभ्यो भासमर्थेभ्यो निर्वृत्तेऽर्थे ठण् भवति अक्षयूतेन निर्वृत्तम्, आक्षयूतिकम् । अक्षयूत । जङ्घाप्रहत । जङ्घाप्रहत । पादस्वेदन । कण्टकमर्दन । शर्करामर्दन । गतागत । यातोपयात । अनुगत ।

भावादिसः ॥३॥३॥१४३॥ तेनेति निर्वृत्त इति च वर्त्तते । भाववाचिनो मृदो भासमर्थानिर्वृत्तेऽर्थे ह्रस्व इत्ययं त्यो भवति । कुट्टेन निर्वृत्ता, कुट्टिमा भूमिः । सेकिमोऽसिः । पाकिम ओदनः ।

त्रेः ॥३॥३॥१४४॥ ज्यन्ताच्च इमो भवति तेनेति निर्वृत्तेऽर्थे । पूर्वेषु सिद्धे पुनरारम्भो वाक्यनिवृत्त्यर्थः । अस्वपदेनार्थः प्रदर्श्यते । पाकेन निर्वृत्तम्, पक्वमम् । वापेन निर्वृत्तम्, उष्णमम् । करणेन निर्वृत्तम्, कृत्रिमम् । भावे “द्वितः क्त्रिः” [ २।३।७० ] इति क्त्रिः ।

नित्यम् ॥३॥३॥१४५॥ ज्यन्त नित्यमिमविषय वेदितव्यम् । यथाऽन्ये भाववाचिनो निर्वृत्तार्थादन्यत्रापि प्रयुज्यन्ते । पाको वर्त्तते । सेको वर्त्तते, इति निर्वृत्तार्थे वाक्यं वृत्तिश्च भवति, तथा ज्यन्तस्य त्रैल्यं मा भूत् इत्येवमर्थमिदमुच्यते । पूर्वेषु वाक्यनिवृत्तिः कृताऽनेनेमविषयादन्यत्र प्रयोगो निषिध्यते ।

याचिताऽपमित्यात्कण् ॥३॥३॥१४६॥ तेनेति निवृत्तमिति च वर्त्तते । याचित-अपमित्यशब्दाभ्यां कण् भवति । याचितेन निर्वृत्त याचितकम् । आपमित्यकम् । “माडो व्यतिहारे” [ २।३।५ ] इति त्त्वात्यः । “वेर्मेहः” [ ४।३।६६ ] इत्वम् । अभ्रान्तादपि वचनात्यः । अपमित्य इत्यनेन निर्वृत्तम् इत्येवं विग्रहे शब्दान्तरेण करणत्व व्यज्यते ।

संसृष्टे ॥३॥३॥१४७॥ तेनेति वर्त्तते । भासमर्थान्मृदः संसृष्टेऽर्थे ठण् भवति । संसृष्ट मिश्रितम् । दध्ना संसृष्टम्, दाधिकम् । मारीचिकम् । “चूर्णादिन् वक्तव्यः” [ वा० ] । चूर्णेन संसृष्टाः, चूर्णेनो घानाः । चूर्णेनोऽपूपाः । इह कस्मान्न भवति लवणेन सैन्धवादिना संसृष्टमिति ? अनभिधानात् । कथं लवणः सूपः, लवणं शाकम्, लवणा यवागूरिति ? गुणवाचिनो लवणशब्दस्य तद्योगात् द्रव्ये वृत्तिरियम् । यथा कषायमुदकम् । कटुकमुदकमिति ।

मुद्गादण् ॥३॥३॥१४८॥ मुद्गशब्दाद् भ्रान्तादण् भवति संसृष्टेऽर्थे । ठणोऽपवादः । मौद्ग ओदनः ।

व्यञ्जनैरुपसिक्ते ॥३॥३॥१४९॥ तेनेति वर्त्तते । समर्थविभक्त्युपादानं तस्यैव व्यक्तये । व्यञ्जन-वाचिभ्यो भासमर्थेभ्य उपसिक्तेऽर्थे ठण् भवति । दध्ना उपसिक्तं दाधिकं भक्तम् । घातिकः सूपः । व्यञ्जनैरिति किम् ? उदकेन उपसिक्तं ओदनः । बहुत्वनिर्देशः स्वरूपनिरासार्थः ।

ओजः सहोऽभ्रसा वर्त्तते ॥३॥३॥१५०॥ तेनेति वर्त्तते । निर्देशाद् वासमर्थविभक्त्युपादानम् । ओजः प्रभृतिभ्यो भासमर्थेभ्यो वर्त्तते इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । ओजसा वर्त्तते, ओजसिकः । साहसिकः । आग्नेयिकः ।

तत्प्रत्ययपूर्वमीपलोमकूलात् ॥३॥३॥१५१॥ तदिति ह्रस्वमर्थेभ्यः प्रति अनु इत्येवपूर्वेषुः ईपलोमकूलशब्देभ्यो वर्त्तते इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । वृत्तिः क्रियासामान्ये वर्त्तमानः सकर्मकः । वर्त्तते आचरतीत्यर्थः । अयः प्रति, प्रतीपम् । “वीप्सेत्थंभुतलक्षणेऽभिनेप्” [ १।३।११ ] । “भागे चानुप्रति-परिष्ठा” [ १।३।१२ ] इति लक्षणेऽर्थे ईप् ‘लक्षणेनाभिमुखेऽभिप्रक्षी’ [ १।३।११ ] इति ह्रस्वः । “द्वयन-नेरीदप” [ ४।३।२०२ ] इति ईत्वम् । भावप्रधाना चेय वृत्तिः । समुदायात्कर्मणीप् । प्रतीप वर्त्तते प्राती-पिकः । अनुर्वाधार्थे वर्त्तमानः अप्रशब्देन सह ह्रस्वो भवति । आन्वीपिकः । प्रतिलोम वर्त्तते, प्रातिलोमिकः ।

आनुलोमिकः । ह्ये कृते “प्रत्यन्ववात्सामद्योगेन” [ ४१२।७१ ] इति अ. सान्तः । प्रातिकूलिकः ।  
आनुकूलिकः । अथवा प्रतिगता आपोऽस्मिन्निति प्रतीपम् इति । एव सर्वत्र वसः कर्तव्यः ।

**परिमुखम् ॥३।३।१५२॥** तदिति वर्तते । परिमुखशब्दात् इप्समर्याद् वर्तते इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । मुखोत्परि परिमुखम् । “वर्जनेऽपपरिभ्याम्” [ १।४।२१ ] इति का । “पर्यपाद्बहिरञ्चवः कया [ १।३।१० ] इति हसः । परिमुखं वर्तते पारिमुखिकश्चौरः । सर्वतो मुखं वा परिमुखम् । प्रादिलक्षण सः पारिमुखिकः । “परिपाश्वाच्चेति वक्तव्यम्” [ वा० ] । पारिपार्श्विकः ।

**प्रयच्छति गर्ह्यम् ॥३।३।१५३॥** तदिति वर्तते । तदिति इप्समर्यात्प्रयच्छति इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति यत्तदिप्समर्थे चेत्तद् भवति । द्विगुण प्रयच्छति, द्वैगुणिकः । त्रैगुणिकः । “( वृ ) द्वेष्टणि वृष्टि भावो वक्तव्यः” [ वा० ] । वृद्धिं प्रयच्छति वार्षिकः । यदि प्रकृत्यन्तरमस्ति, अव्यविकन्यायेन तस्मादेव त्यः । गर्ह्यमिति किम् ? द्विगुण प्रयच्छत्यधमर्णः ।

**कुसीददशैकादशादृष्टौ ॥३।३।१५४॥** तत्प्रयच्छति गर्ह्यम् इति च वर्तते । कुसीद-दशैकादश शब्दाभ्यां प्रयच्छतीत्यस्मिन्नर्थे यथासख्यं ठट्ठ इत्येतौ ल्यौ भवतः ठणोऽपवादो । कुसीदम् ऋण वृद्धिर्वा । कुसीद प्रयच्छति, कुसीदिका । कुसीदिकी । एकादशार्था दश दशैकादश निपातनात्सः । तान् प्रयच्छति, दशैकादशिकी । दशैकादशिका ।

**रक्षत्युच्छति ॥३।३।१५५॥** तदिति इप्समर्याद् रक्षति उच्छति इत्येतयोरर्थयोश्च ठण् भवति । समाज रक्षति, सामाजिकः । नागरिकः । वदराण्युच्छति वादरिक । नैवारिकः ।

**शब्ददुर्दुरं करोति ॥३।३।१५६॥** इप्समर्याभ्यां शब्ददुर्दुरशब्दाभ्यां करोत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । शब्द करोति, शाब्दिकः । वैयाकरण इत्यर्थः । दार्दुरिकः कुम्भकारः । तदित्यधिकारे पुनः समर्थविभक्त्युपादानं लौकिकप्रयोगाऽनुसरणार्थम् । तेनेह न भवति । शब्दं करोति वायसः । “अस्मिन्प्रकरणे तदाहेति माशब्दादिभ्य उपसंख्यानम्” [ वा० ] माशब्द इत्याह माशब्दिकः । नैत्यशब्दिकः । कार्यशब्दिकः । वाक्यादि विधानम् । “प्रभूतादिभ्यश्च” [ वा० ] तदाहेति वर्तते । प्रभूतमाह प्रामूतिकः । पार्याप्तिक । “पृच्छती सुस्नातादिभ्य इप्समर्थेभ्यः” [ वा० ] । सुस्नातं पृच्छति, सौस्नातिकः । सौखरात्रिक । सौखशायनिकः । “गच्छती परदारादिभ्य इप्समर्थेभ्यः” [ वा० ] । परदार गच्छति, पारदारिकः । गौरवतल्पिकः ।

**पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति ॥३।३।१५७॥** तदिति इप्समर्थेभ्यः पक्षिमत्स्यमृगेभ्यो हन्तीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । स्वरूपस्य पर्यायाणां तद्विशेषाणाञ्च ग्रहणम् । पक्षिणो हन्ति, पक्षिकः । नात्यस्यामिधानमित्यर्थः । पर्यायशब्दस्य शकुनेरेव ग्रहणम् । शाकुनिकः । तैत्तिरिकः । मायूरिकः । मत्स्य, मात्स्यिकः । पर्यायस्य मौनशब्दस्यैव अनिमिषादियु न भवति । शाकरिकः । रौद्रितिकः । मृग, मार्गिक । हारिणिकः । सौरिकः । सारङ्गिकः ।

**परिपन्थं तिष्ठति ॥३।३।१५८॥** परिपन्थशब्दादिप्समर्यान् तिष्ठतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति “काष्ठभावाऽध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ल्यकमेणात्” [ वा० ] इति कर्मभावोपादिप् । परिपन्थं तिष्ठति पारिपन्थिकश्चौरः । पन्थानं वर्जयित्वा व्याप्य वा तिष्ठतीत्यर्थः । “हन्तृत्व्यापि वक्तव्यम्” [ वा० ] । परिपन्थं हन्ति, पारिपन्थिकः । परिपथपन्थः । परिपन्थशब्दोऽस्ति तस्यायं प्रयोगः ।

**माथद्युपद्वयनुपदाकन्दं धावति ॥३।३।१५९॥** तदिति वर्तते । माथयु पदयो अनुपद आत्त इत्येतेन इप्समर्थेभ्यो वाक्त्रयस्मिन्नर्थे ठण् भवति । माथशब्दो मार्गपर्यायः । दण्डशाय पार्श्वः, पन्थः ।

मायिकः । मौलमायिकः । पदस्य वी पदवी । “वेजो ङित्” इति इकारो ङित् । “सर्वतोऽवत्यर्थादित्येके” [३।१।३१ ग० सू० ] इति ङीविधिः । ता धावति, पादविकः । पदस्य पश्चाद्धावतीति, अनुपदिकः । आक्रन्दिकः ।

पदघोर्गृह्णाति ॥३।३।१६०॥ तदिति वर्तते । पदयुशब्दाद् इप्समर्थाद् गृह्णातीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । आदिपद गृह्णाति, आदिपदिकः । पौर्वपदिकः । ओत्तरपदिकः ।

प्रतिकण्ठललामार्थात् ॥३।३।१६१॥ तदिति गृह्णातीति च वर्तते । प्रतिकण्ठ ललाम् अर्थ इत्येतेभ्य इप्समर्थेभ्यो गृह्णातीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । कण्ठ प्रति, प्रतिकण्ठम् । “लक्षणेनाभिमुख्येऽभिप्रती” [१।३।११] इति ह्रस्वः । प्रतिकण्ठ गृह्णाति, प्रातिकण्ठक । प्रतिगतः कण्ठः, प्रतिकण्ठः इत्यत्राभिधानं नास्ति । “पुरुषध्वजशृङ्गेषु हविभूषणकक्षसु । वामश्रेष्ठावनीन्द्रेषु ललाम् नवसु स्मृतम् ॥” लालामिकः । आर्थिकः ।

धर्मं चरति ॥३।३।१६२॥ धर्मशब्दादिप्समर्थाच्चरतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । तदिति वर्तमाने पुनः समर्थविभक्त्युपादानं किम् ? आसेवाया यथा स्यात् । मुहुर्मुहुर्धर्मं चरति, धार्मिकः । “अधर्माच्चेति वक्तव्यम्” [वा०] । आधार्मिकः ।

प्रतिपथमेति ठञ्च ॥३।३।१६३॥ प्रतिपथशब्दादिप्समर्थादेतीत्यस्मिन्नर्थे ठो भवति ठण् च । प्रतिपथमेति, प्रतिपथिक । प्रातिपथिकः ।

समवायात्समवैति ॥३।३।१६४॥ समवायवाचिभ्य इप्समर्थेभ्यः समवैतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । बहुलनिर्देशात्तस्य तत्पर्यायाणां च ग्रहणम् । समवाय समवैति, सामवायिकः । सामूहिकः । सामाजिकः । सासदिकः ।

परिपदो ण्यः ॥३।३।१६५॥ तदिति वर्तते । परिषच्छब्दादिप्समर्थात् समवैतीत्यस्मिन्नर्थे ण्यो भवति । ठणोऽपवादः । परिपदं समवैति, पारिषद्यः ।

सेनाया वा ॥३।३।१६६॥ सेनाशब्दादिप्समर्थाद्वा ण्यो भवति समवैतीत्यस्मिन्नर्थे । पक्षे ठण् भवति । सेना समवैति सैन्यः । सैनिकः ।

लालाटिककौक्कुटिकौ ॥३।३।१६७॥ लालाटिककौक्कुटिकशब्दौ निपात्येते । लालाटकुक्कुटीशब्दाभ्यामिप्समर्थाभ्यां पश्यतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् निपात्येते । लालाट पश्यति, लालाटिकः सेवकः । कुक्कुटीशब्देन कुक्कुटीपातमात्रो देशो लक्ष्यते । कुक्कुटी पश्यति, कौक्कुटिको भिक्षुः । पुरो युगमात्रदेशप्रेक्षीत्यर्थः ।

तस्य धर्म्यम् ॥३।३।१६८॥ धर्म्यं न्याय्यम् । तस्येति तासमर्थाद् धर्म्यमित्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । शुल्कशालाया धर्म्यम्, शौल्कशालिकम् । आतरिकम् । आपणिकम् ।

ऋन्महिष्यादेरण् ॥३।३।१६९॥ तस्य धर्म्यमिति वर्तते । ऋकारान्तान्मृदः महिषी इत्येवमादिभ्यश्चाण् भवति । ठणोऽपवादः । मातुर्धर्म्यं मात्रम् । पैत्रम् । हौत्रम् । शास्त्रम् । महिष्यादिभ्यः । महिष्या धर्म्यम्, माहिपम् । महिषी । प्रजावती । केपाञ्चित् प्रजापतीति पाठः । प्रलेपिका । विलेपिका । अनुलेपिका । वर्णकपेपिका । “भस्य हृत्ये” [४।३।१७७ वा०] इति पुवद्भावः प्राप्तः “न बुद्धत्कोटः” [४।३।१७९] इति प्रतिषिध्यते । “विशसितुरिष्ट ख च” [वा०] । विशसितुर्धर्म्यं वैशस्त्रम् । “विभाजयितुर्गिस्त्र” [वा०] । विभाजयितुर्धर्म्यं वैभाजित्रम् ।

अवक्रयः ॥ ३।३।१७० ॥ तस्येति वर्तते । तस्येति तासमर्थान्मृदोऽवक्रय इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । अवक्रीयतेऽनेनेत्यवक्रयः । अन्याय्यमपि स्वेच्छया परिकल्पितपरिमाणम् । द्रव्यमेकत्र पिण्डितमित्यर्थः । शुल्कशालायामवक्रयः शौल्कशालिकः । आतरिकः । आपणिकः । गौल्मिकः ।

तदस्य पण्यम् ॥ ३।३।१७१ ॥ तदिति वासमर्थात् पण्यविशिष्टादस्येति तार्थे ठण् भवति । अप्पाः पण्यमस्य, आपूपिकः । शाकुलिकः ।

किसरादेष्ठट् ॥ ३।३।१७२ ॥ तदस्य पण्यमिति वर्तते । किसर इत्येवमादिभ्यष्ठट् भवति । ठणोऽपवादः । कसरं पण्यमस्य, कसरिको गन्धिकः । किसर । नलद । स्थगर । तगर । उसी(शी)र । गुगुलु । हरिद्रा । हरिद्रुपर्णी ।

शलालुनो वा ॥ ३।३।१७३ ॥ तदस्य पण्यमिति वर्तते । शलालुशब्दाद्वा ठट् भवति । पठे ठण् भवति । शलालु पण्यमस्य, शलालुकः । शलालुकः ।

शिल्पम् ॥ ३।३।१७४ ॥ तदस्येति वर्तते । शिल्प क्रियाविशेषे नैपुण्यम् । तदिति वासमर्थादस्येति तार्थे ठण् भवति, यत्तद्वानिर्दिष्टं शिल्पं चेत्तद् भवति । (मृदङ्गवादन शिल्पमस्य, मार्दङ्गिकः ।) मृदङ्गवादेन मृदङ्गशब्द उपचर्यते, तस्मादेव त्यः । एवं पाणविकः । वैणविकः ।

मडुकभर्कराद् वाऽण् ॥ ३।३।१७५ ॥ तदस्य शिल्पमिति वर्तते । मडुकभर्करशब्दाभ्या वाऽण् भवति । अणाऽनुक्ते ठण् भवति । मडुकवादनं शिल्पमस्य, माडुकः । माडुकिकः । भार्करः । भार्करिकः ।

प्रहरणम् ॥ ३।३।१७६ ॥ तदस्येति वर्तते । वासमर्थात्प्रहरणोपाधिविशिष्टान्मृदः अस्येति तार्थे ठण् भवति । असिः प्रहरणमस्य, आसिकः । तसारुकः । धानुकः ।

शक्तियष्टेष्टोकण् ॥ ३।३।१७७ ॥ शक्तियष्टिशब्दाभ्या टीकरण भवति तदस्य प्रहरणमित्यस्मिन्निपये । ठणोऽपवादः । शक्तिः प्रहरणमस्य, शाक्तीकः । याष्टीकः । इकारोच्चारणसामर्थ्यात् 'यस्य दशान्' [३।३।१३६] इति ख न भविष्यति (इति) दीलोच्चारण किम् ? अन्यत्रापि यथा स्यात् । अन्तः (आम्भः) प्रहरणमस्य, आन्तसीकः (आम्भसीकः) । इष प्रहरणमस्य ऐपीकः । बहिर्भवः बाहीक इति ।

नास्तिकास्तिकदैष्टिकाः ॥ ३।३।१७८ ॥ नास्तिकादयः शब्दा निपात्यन्ते । नास्ति अस्ति दिष्ट इत्येतेभ्यः शब्देभ्यो मतिविशिष्टेभ्योऽस्येति तार्थे ठण् निपात्यते । परलोको नास्तीति मतिरस्य, नास्तिकः । परलोकोऽस्तीति मतिरस्य, आस्तिकः । दिष्ट दैवत तत्प्रमाणमस्य, दैष्टिकः । निपातनाद्वाक्यादपि त्वविधानम् ।

शीलम् ॥ ३।३।१७९ ॥ तदस्येति वर्तते । वासमर्थादस्येति तार्थे ठण् भवति वासमर्थं शीलं चेद् भवति । अपूपमक्षणं शीलमस्य, आपूपिकः । तात्स्थ्यात्ताच्छ्रयमिति अपूपशब्दात्त्यः । एवं शाकुलिकः । मौदकिकः ।

छत्रादेराः ॥ ३।३।१८० ॥ तस्य शीलमिति वर्तते । छत्र इत्येवमादिभ्यो णो भवति । ठणोऽपवादः । छत्रमावरणं तद्वद्गुणकार्येध्ववहितम् । छत्र शीलमस्य, छात्रः । शिष्य शीलमस्य शिष्यः । छात्र । शिष्यः । मुद्रा<sup>३</sup> । भिक्षा । विनिज्ञा । चुरा । उदस्थान । कृषि । कर्मन् । तपस् । पुरोड । आत्मा । सत्या । अवस्था । विज्ञा । सत्य । अस्त । पिसिक ( शिविका ) ।

१. शिक्षा ( क्षा ) ग्रीकमस्य ज्ञेयः. अ०, पृ० । २ शिक्ष ( क्षा ) अ०, पृ० । ३. मुद्रा ( बुद्ध्या )

कर्माध्ययने वृत्तम् ॥३।३।१८१॥ तदस्येति वर्तते । तदिति वासमर्थादस्येति तार्थं ठण् भवति यत्तद् वासमर्थं कर्म चेद्वृत्तमध्ययनविषय तदभवति । एकमन्यदध्ययने कर्म वृत्तमस्य, ऐकान्यिकः । किम्पुनस्तदेकमन्यदध्ययने कर्म ? अपगाठः । एवं द्वैयन्यिकः । त्रैयन्यिकः । सर्वत्र हृदये रसाः । ततष्ठण् ।

वहज्जादेष्टुः ॥३।३।१८२॥ वृत्तन् पदमादिर्यस्य तस्मान्मृदुष्ठो भवति । ठणोऽपवादः । तदस्य कर्माध्ययने वृत्तमिति वर्तते । द्वादश अन्यानि अपपाठलक्षणानि आध्ययने कर्माणि दत्तान्यस्य, द्वादशान्यिकः ।

हितमस्मै भक्ष्यः ( जाः ॥३।३।१८३॥ तदिति वर्तते । तदिति वासमर्थादस्मै इत्येतदर्थे ठण् भवति यत्तद् वासमर्थं हित भक्षाश्चेत्तद् भवन्ति । अपपभक्ष्य हितमस्मै, आपृषिकः । शाङ्कुलिकः । इदमेव शापक हितयोगेऽप्यु भवति ।

तद्दीयते नियुक्तम् ॥३।३।१८४॥ अस्मै इति वर्तते । तदिति वासमर्थादस्मै इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति यत्तद् वासमर्थं तच्चेद्वदीयते । नियुक्त नियमेन युक्त नियुक्तमित्यर्थः । अग्रभोजनमस्मै दीयते नियुक्तम्, अग्रभोजनिकः । आपृषिकः । आणाऽस्मै दीयते नियुक्तम्, आणिकः । शाणो( कौ )दनिकः । “ओदनशब्दाद् वक्तव्यः” [ वा० ] ओदनिकः । ओदनिकी ।

भक्ताद् वाऽण् ॥३।३।१८५॥ तदस्मै दीयते नियुक्तमिति वर्तते । भक्तशब्दाद् वाऽण् भवति । पठे ठण् भवति । भक्तमस्मै दीयते नियुक्तम्, भाक्तः । भाक्तिकः ।

तत्र नियुक्तः ॥३।३।१८६॥ अधिकृतो नियुक्तः । तत्रेतीप्समर्थाद् नियुक्त इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । शुल्कशालाया नियुक्तः, शौल्कशालिकः । आक्षपटलिकः । दौवारिकः ।

ठोऽगारान्तात् ॥३।३।१८७॥ तत्र नियुक्त इति वर्तते । अगारान्तान्मृदुष्ठो भवति । ठणोऽपवादः । भाण्डागारे नियुक्तः, भाण्डागारिकः । कोष्ठागारे नियुक्तः, कोष्ठागारिकः ।

अध्यायिन्यदेशकालात् ॥३।३।१८८॥ अध्येतु शीलमस्येति, अध्यायी । ईप्समर्थाद्देशवाचिनोऽकालवाचिनश्च मृदोऽध्यायिन्यभिधेये ठण् भवति । अध्यायिनीत्युक्तम्, तत्सम्बन्धात् अध्ययनस्य देशकालौ पर्युदस्येते । अशुभावधीते, आशुचिकः । सान्ध्यावेलिकः । आनध्यायिकः । अदेशकालाविति किम् ? चैत्यालयेऽधीते । पूर्वार्हेऽधीते ।

कठनान्तप्रस्तारसंस्थानेषु व्यवहरति ॥३।३।१८९॥ व्यवहरति, अनुतिष्ठति । तत्रेत्यनुवृत्तेर्निर्देशाद् वासमर्थविभक्त्युपादानम् । कठनशब्दान्तान्मृदः प्रस्तार-संस्थानशब्दाभ्यां च व्यवहरतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । वशकठिने व्यवहरति, वाशकठिनिकः । वार्द्धकठिनिकः । प्रास्तारिकः । सास्थानिकः । अन्तग्रहण मध्ये कृतमपि केचिदुत्तरयोः सम्बन्धन्ति ।

निकटावसथे वसति ॥३।३।१९०॥ तत्रेति वर्तते । निकट-अवसथशब्दाभ्यामीप्समर्थाभ्यां वसतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । निकटमविदूरम् । निकटे वसति, नैकटिकः । आवसथिकः ।

तद् वहति रथयुगप्रसङ्गाद्यः ॥३।३।१९१॥ दम्प्याना स्तब्धकाष्ठं प्रसङ्गः । तदितीप्समर्थेभ्यो रथयुग-प्रसङ्गशब्देभ्यो वहतीत्यस्मिन्नर्थे यो भवति । य इत्ययं चाऽधिकार आपादपरिसमातेर्वेदितव्यः ।

रथं वहति, रथ्यः । युग्यः । प्रासङ्ग्यः । इहानभिधानान्न भवति । कालसंज्ञिन युगं वहति राजा । युग वहति मनुष्यः । “शकटादण् वक्तव्यः” [ वा० ] शकटं वहति शाकटो गौः । “हलसीराट्ठण् वक्तव्यः” [ वा० ] हल वहति हालिकः । सैरिः । नेदं वक्तव्यम्, शकटस्य वोढा हलस्य वोढा इत्येव विग्रहे शैपि-  
केणाणा “हलसीराट्ठण्” [ ३।३।१२ ] इति ठणा च सिद्धम् । तर्हि रथग्रहणमायनर्थकम् । “रथाद्यः” [ ३।३।८६ ] इत्यनेन सिद्धत्वात् । तदन्तार्थमिह रथग्रहणम् । द्वौ रथौ वहति, द्विरथः । अत्र प्राग्द्रवीयस्य “रस्योवनपत्ये” [ ३।१।७४ ] इत्युप् प्रसज्यते ।

धुरो ढण् वा ॥३।३।१६२॥ धूःशब्दाद् वहतीत्यस्मिन्नर्थे ढण् भवति यश्च । प्रकृतिविशेषादणो विधीयमानेन यस्य बाधने प्राप्तेऽनेन समुच्चयः क्रियते । न त्वनुकर्षः । उत्तरत्राऽयनुवृत्तेः । धुर वहति, धौरेयः । धुर्यः ।

सर्वैकाभ्यां खः ॥३।३।१९३॥ तद्वहतीति वर्तते । सर्व एकशब्दाभ्या परस्या धुरः खो भवति । सर्वा धूः, सर्वधुरा । “पूर्वकालैकसच” [ १।३।४४ ] इत्यादिना षसः । सर्वधुरा वहति, सर्वधुरीणः । एक धुरीणः । “एकधुराशब्दात्सस्योस् वक्तव्यः” [ वा० ] एकधुरं वहति, एकधुरः । न वक्तव्यः । एकस्या धुरो वोढेभ्या ( त्या ) गतस्याणः “रस्योवनपत्ये” [ ३।१।७४ ] इत्युपा सिद्धम् । इष्टसङ्ग्रहार्थश्चकारोऽनुवर्त्यः । उत्तरधुरीणः ।

विध्यत्यकरणेन ॥३।३।१९४॥ तदिति वर्तते । इप्समर्थान्मृदः विध्यतीत्यस्मिन्नर्थं यो भवति न चेत्करणेन विध्यति तदिति । पादं विध्यति पद्याः शर्कराः । “पद्ये” [ ४।३।१६४ ] इति पादस्य पदादेशः । ऊख्याः कण्टकाः । अकरणेनेति किम् ? पादं विध्यति धनुषा । प्रतीयमानेऽपि धनुषः करणत्वेनानभिधानान्न भवति । शक्रं विध्यति । चोरं विध्यति राजा ।

जन्यधेनुष्यान्नवश्यवन्त्यगण्यपद्यमूल्यहृद्यसतीर्थ्यगार्हप-याः ॥३।३।१९५॥ जन्यादय शब्दा निपात्यन्ते । जनी वधूः, ता वहतीत्यत्रार्थे यः । जन्याः परिणेतृसहायानामिय सज्ञा । “धेनुष्येति सज्ञार्या धेनुशब्दाद्यः पुक्चागमः” प्रकृष्टा धेनुर्धेनुष्या । या गोपालाय दोहार्थं दीयते । अन्यत्र धेनुतरेति भवति । अन्न लब्धेत्यस्मिन्वाक्ये अज्ञाणो निपात्यते । अन्नः । वश गत इत्यस्मिन्वाक्ये वशशब्दाद्यः । वश्यः । विनेय इत्यर्थः । धनगण्यशब्दाभ्यामिवन्ताभ्यां कृद्धरि यः । वनं लब्धा वन्यः । गण लब्धा गण्यः । पदमस्मिन् दृश्यते अस्मिन्वाक्ये पादशब्दाद्यः । पद्य हिमम् । पद्यः कर्दमः । पदमस्मिन्द्रष्टु शस्यमित्यर्थः । ‘मूलमस्यावर्हि’ इत्यस्मिन्वाक्ये मूलशब्दाद्यः । मूल्या मुद्गाः । मूल्या मापाः । मूलोत्पाटेन सङ्ग्राह्या इत्यर्थः । अथवा मूलेन सम मूल्य वस्त्रम् । मूलानाम्य वा मूल्यम् । हृदयस्य प्रिय इत्यस्मिन् वाक्ये हृदयशब्दाद्यः । “हृदयस्य हृदलेखयाण्लासेपु” [ ४।३।१६१ ] इति हृदादेशः । हृयो देशः । हृयमन्नम् । हृदयस्य वन्न-  
मृपिः हृयः । वशीकरणभृत इत्यर्थः । समाने तीर्थे वसतीत्यस्मिन्वाक्ये समानतीर्थशब्दाद्यः । समानस्य च सभाव । सतीर्थ्यः । गृहपतिना सयुक्त इत्यस्मिन्वाक्ये गृहपतिशब्दात् रजायां व्या निपात्यते । गार्ह-  
पत्योऽग्निः ।

वयस्तुलाभ्यां सम्मिते ॥३।३।१९६॥ निर्देशादेव भाषा उपादानम् । वयस्तुला इयेतान्ना भा समर्थान्वा सम्मितेऽर्थे यो भवति । वयसा सम्मितः, वयस्यः । सज्ञायामभिधानम् । अन्यत्र वयसा सम्मितः सङ्-  
रित्वेव । तुलया सम्मित तुल्यम् । सदृशमित्यर्थः ।

नोधर्मविषयोनाभ्यस्तार्थप्राप्तवध्यसमितेषु ॥३।३।१९७॥ तार्थसामान्यमर्थानिति ज्ञाने । नात्रादिन्यधनुष्यो भवत्यर्थस्यो यथासत्त्वं तार्थादिषु या भवति । नात्र ताव नान्यमुदकरम् । “यि रते” [ ४।३।६७ ] इत्यादिदेशः । प्रकृतेन धर्मेण प्राप्त धर्मम् । वदन्तं तु वदन्तमेव धर्मं न्याययुक्तम् ।

विशेषेण वध्यः, विध्यः। वध इति प्रकृत्यन्तरम्। वधमर्हति, वध्यः। सीतया समित सङ्गत सीत्य क्षेत्रम्। “रथसीता-हलेभ्यो यविधौ तदन्तविधिरपीष्यते” [अ०] परमसीत्यम्। द्विसीत्यम्।

धर्मपथ्यर्थ-यायादनपेते ॥३१३१६८॥ निर्देशादेव समर्थविभक्त्युपादानम्। धर्म पथिन् अर्थं न्याय इत्येतेभ्यः कासमर्थेभ्योऽनपेतेऽर्थे यो भवति। धर्मादनपेते धर्म्यम्। पथ्यम्। अर्थ्यम्। न्याय्यम्।

छन्दसा निमित्ते ॥३१३१६९॥ छन्द इच्छा। निर्मितमुत्पादितम्। निर्देशादेव भासमर्थान्निमित्तेऽर्थेऽण् निर्मितेऽर्थे यो भवति। छन्दसा निर्मितः, छन्दस्यः।

उरसाऽण् च ॥३१३१७०॥ निर्देशाद् भाया उपादानम्। उरःशब्दाद् भासमर्थान्निमित्तेऽर्थेऽण् भवति यश्च। उरसा निर्मितः, औरसः। उरस्यः।

मदजनहलात्करणजल्पकर्षेण ॥३१३१७१॥ मद जन हल इत्येतेभ्यो यथासख्यं करण जल्प कर्ष इत्येतेष्वर्थेषु यो भवति। करणादयः शब्दा भावे करणे वा व्युत्पादयितव्याः। तेन सामर्थ्यात्त्योत्पत्तिः। मदकस्य करण मद्यम्। मदस्याने केचिन्मतशब्द पठन्ति, तेषा मत्यमिति भवति। जनस्य जल्पः, जन्यः। हलस्य कर्षः, हल्पः। द्विहल्यः। परमहल्पः।

तत्र साधुः ॥३१३१७२॥ तत्रेतीप्समर्थात्साधुरित्येतस्मिन्नर्थे यो भवति। सामनि साधुः, सामन्यः। कर्मण्यः। सभ्यः। शरण्यः। साधुरिह योग्यो निपुणो वा न तु हितः, तत्र हि प्राक्ठणीय एव तः।

प्रतिजनादेः खञ् ॥३१३१७३॥ तत्र साधुरिह वर्तते। प्रतिजन इत्येवमादिभ्यः खञ् भवति। यस्याऽपवादः। जन जन प्रति प्रतिजनम्। यथार्थे हसः। प्रतिजने साधुः, प्रातिजनीनः। प्रतिजन। इदंयुग। त्रयुग। परयुग। परकुल। परस्यकुल। अमुष्यकुल। निपातनात्ताया अनुप्। सर्वजन। विश्वजन। पञ्चजन। महाजन। योऽत्र हितार्थः साध्वर्थः, तत्र वचनात्प्राक्ठणीयस्य बाधा।

भक्ताणः ॥३१३१७४॥ तत्र साधुरिह वर्तते। भक्तशब्दाण्यो भवति। यस्याऽपवादः। भक्ते साधुर्भाक्त्वान्तुलः।

परिषदो रयः ॥३१३१७५॥ तत्र साधुरिति वर्तते। परिषच्छब्दाण्यो भवति। यस्याऽपवादः। परिषदि साधुः, पारिषद्यः। योऽप्यत्राऽनुवृत्तिरिष्यते। परिषदि साधुः, पारिषदः।

कथादेष्टण् ॥३१३१७६॥ तत्र साधुरिति<sup>१</sup> वर्तते। कथा इत्येवमादिभ्यष्टण् भवति। यस्याऽपवादः। कथाया साधुः, वाचिकः। कथा। विकथा। विश्वकथा। सकथा। वितन्त्रा। कुष्टिदा (कुष्टचित्)। जनवाद। जनेवाद। चित्र। वृत्ति। सङ्ग्रह। गण। गुण। आयुर्वेद। गुड। कुल्यास (कुल्माष)। सक्तु। श्रूष। मासौदन। इक्षु। वैष्णु। सत्राम। सघात। प्रवास। निवास। उपवास।

पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ् ॥३१३१७७॥ तत्र साधुरिति वर्तते। पथ्यादिभ्यो ढञ् भवति। यस्यापवादः। पथि साधु पाथेयम्। आतिथेयम्। वासतेयम्। स्वापतेयम्।

समानोदरे शयितः ॥३१३१७८॥ तत्रेति वर्तते। निर्देशाद् वा (ईप्समर्थात्) समानोदरशब्दात् शयित इत्यस्मिन्नर्थे यो भवति। समानोदर्यः। सोन्दर्यः। “वोदर्थे” [३१३१६४] इति समानस्य लदेशः। कप र्हि सोदरशब्दस्य सिद्धिः? “समानस्य” [३१३१६२] इति योगविभागात्।

इत्यनयनन्दिविरचिताया जैनेन्द्रमहावृत्तो तृतीयस्याऽध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः।



प्राकटणश्चुः ॥३॥४॥१॥ वक्ष्यन्ति (ति) “आर्हाट्टण्” [३॥४॥१७] प्रागेतस्मादृण् संशब्दनाद्वयेऽर्था वक्ष्यते (न्ते) तेषु ह्योऽधिकृतो वेदितव्यः । वक्ष्यति “तस्मै हितम्” [३॥४॥२] । वत्सेभ्यो हितः, वत्सीयः । अवत्सीयः । करभीयः । प्राग्वचनं किम् ? अर्थविशेषेऽपवादो न निवर्त्त (ति) ते पुनरर्थान्तर उपस्थान यथा स्यात् । नन्ववि (धि) कारादेवापवादविषयेत्युपस्थान प्राप्नोति । नैतदेवम् । तत्र तत्र वाग्रहणाच्चकारकरणाच्चापवादविषयपरिहारो गम्यते ।

उगवादेर्यः ॥३॥४॥२॥ प्राकटण इति वर्तते । उवर्णान्तान्मृदो गवादिभ्यश्च यो भवति प्राकटणोऽर्थेषु । छाऽपवादः । शङ्खव्य दारु । परशव्यमयः । पिचव्यः कार्पासः । गवादिभ्यः । गव्यम् । हविष्यम् । गो । हविष् । इह हविरिति स्वरूपग्रहणम् । अष्टका । वर्हिष् । युग । मेघा । लुब् ( सुक् ) । नाभि नभ वा । नभ्योऽक्षः । नभ्यमङ्गनम् । “सु ( शु ) नोजिर्वाचदोत्वम्” [वा०] सू ( शु ) न्यम् । सु ( शु ) न्यम् । ऊवसो नश्च । ऊधन्यः । कूप । अक्षर । दर । खर । दवद । स्त्व ( स्ल ) द । विप ।

हविरूपादेर्वा ॥३॥४॥३॥ हविःशब्दो गवादिषु पठितः । तद्विशेषणमिह ग्रहणम् । हविर्विशेषवाचिभ्योऽपूपादिभ्यश्च प्राकटणोऽर्थेषु वा यो भवति । नित्ये ठे प्राप्ते विभाषेयम् । आमीक्ष्यम् । आमीक्षीय दधि । पुरोडाश्याः । पुरोडाशीयास्तन्दुलाः । अपूपादिभ्यः, अपूप्यम् । अपूपीयम् । अपूप । तन्दुल । पृथुक । अभ्योप । अवोष । किरव । मुसल । कटक । कर्णचैष्टक । द्रुर्गल ( अर्गल ) । स्थूणा । यूप । सूप । दीप । प्रदीप । अश्वपत्र । “विगृहीतादपीप्यते ।” “अन्नचिकारेभ्यश्च ।” उदन्याः । उदनीयाः । सूर्याः, सूर्यास्तान्दुलाः । अन्नचिकारस्वादेव सिद्धे अपूपाऽभ्योपादीना प्रपञ्चार्थं पृथग्रहणम् । अतो विकल्पापूर्वनिर्णयेन उवर्णान्तलक्षणो नित्यो विधिर्भवति । चरुरिति हविर्विशेषः । चरव्यास्तन्दुलाः । शक्कुरन्नचिकारः, शक्कुर्या धानाः । “कम्बलाश्चौप्रा कृणोर्धे ( कम्बलाच्च प्राकटणोऽर्थे ) नित्यं यो वक्तव्यः” [ वा० ] । कम्बल्यमूर्णाशतम् । खुविपयादन्यत्र । कम्बलीया ऊर्णा । नेद वक्तव्यम् । “न विस्ताचितकम्बल्यात्” [ ३॥१॥२७ ] इति निपातनात्सिद्धम् ।

तस्मै हितम् ॥३॥४॥४॥ तस्मै इति अप्समर्थ्याद् हितमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहित त्वो भवति । वत्सेभ्यो हितः, वत्सीयः । करभीयः । पटव्यम् । गव्यम् । हविष्यम् ।

प्राणयङ्गरथखलयवमापवृषब्रह्मतिलाद्यः ॥३॥४॥५॥ प्राणयङ्ग शरीरावयवः, देहदेहिनोः कथञ्चिदभेदात् । प्राणयङ्गवाचिभ्यो रथ खल यव माप वृष ब्राह्मण तिल इत्येतेभ्यश्च यो भवति तस्मै हितमित्यस्मिन्नर्थे । ह्रस्वाऽपवादः । दन्तेभ्यो हित दन्तव्यम् । कर्ण्यम् । चक्षुष्यम् । नाभये हित नाभ्यं तैलम् । “नाभि नभञ्च” [ वा० ] इति नभभावः । गवादिलक्षणो यो विहितः स इह न भवति । गवादिलक्षणो य इह कस्मान्न भवति ? प्राणयङ्गलक्षणो यस्तस्य परत्वाद् ब्राह्मकः । रथाय हिता भूमि, रथा । खलाय हितम्, खल्यम् । यवम् । माष्यम् । वृषाय हितम्, वृष्यम् । ब्राह्मणे हितम्, ब्राह्मण्यम् । तिल्यम् । वृणो हितं ब्राह्मणाय हितमित्यत्रानभिधानाच्चा न भवति ।

अज्जाविभ्यां ध्यः ॥३॥४॥६॥ अज-अविशब्दाभ्यां ध्यो भवति तस्मै हितमित्यन्विन्नर्थः । ह्रस्वाऽपवादः । अजे ( जय ) हितम्, अज्यम् । अविष्यम् । निजविगिष्टन्वावागृह्यन् अर्णोऽपि “तमादौ” [ ४॥१॥१७ ] इति पुवद्भावे कृते तत्रैव न्यम् ।

विश्वज्जनात्मभोगान्तात्त्वः ॥३॥४॥७॥ तन्म द्विमिति वर्तते । विश्वजन आ मन् दर्शनात् भोगान्ताच्च मृदः खो भवति । दृष्टव्यमवद । विश्वज्जनात्म, विश्वज्जनीन, जिनः । अत्र यस्मिन्नेभ्यो ।

तासाद ( द्व ) साच्च छ एव भवति । विध्वजनीयम् । 'पञ्चजनशब्दादुपसंख्यानम्' [ वा० ] पञ्चजनीयम् । अत्र "दिक्संख्यं खौ" [ १।३।४५ ] इत्यनेन विहितात्समानाधिकरणाद् वसादेवेष्ट्यते । पञ्चजनीयमन्यत् । 'सर्वजनादृण खश्च वक्तव्यः' [ वा० ] सार्वजनिकः । सर्वजनीनः । अत्रापि वसादेवेष्ट्यते । सर्वजनीयमन्यत् । "महाजनादृज्वक्तव्यः" [ वा० ] महाजनिकम् । वसादय विधिः । वसाच्छ एव भवति । महाजनीयम् । ईनादेशे कृते "नोऽपुंसो हति" [ ४।४।१३० ] इति टिक् प्राप्तम्, सूत्रे नकारान्तनिपातनान्न भवति । भोगः शरीरम् । तदसा( दन्ता )त् मातृभोगीणः । पितृभोगीणः । मानादिभ्यः केवलेभ्यश्छ एव भवति । मात्रीयः । पित्रीयः । "राजाऽचार्याभ्यां भोगान्ताभ्यां नित्यमिति वक्तव्यम्" [ वा० ] राजभोगीनम् । आचार्यभोगीनम् । आर्यभोगान् ( गीन ) शब्दस्य "क्षुभ्नादित्वात्" [ १।४।११७ ] णत्व ( न ) भवति । नित्यग्रहणं किम् ? केवलाभ्या न भवति । राज्ञे हितम् । आचार्याय हितमिति ।

सर्वाण्यो वा ॥३।४।८॥ तस्मै हितमिति वर्तते । सर्वशब्दाद् वा णो भवति पक्षे छो भवति । सर्वस्मै हितम्, सार्वम् । सर्वोयम् ।

पुरुषादृण् ॥३।४।९॥ पुरुषशब्दादृण् भवति तस्मै हितमित्यस्मिन्विषये । छस्याऽपवादः । पुरुषाय हित पौरुषेयम् । अल्प ( त्य ) त्वमिदम् । "पुरुषाद् वधविकारसमूहतेनकृतेष्विति वक्तव्यम्" । पौरुषेयो वध । "तस्वेदम्" [ ३।३।८८ ] इत्यण् प्राप्तः । पौरुषेयो विकारः । "प्राणिताळादेः" [ ३।३।१०५ ] इत्यण् प्राप्तः । पौरुषेय स्यमागतं ( यः समूहः ) 'तस्य समूहः' इत्यण् प्राप्तः । पौरुषेयः प्राणादः । पौरुषेयो ग्रन्थः । तेन कृते "नि ग्रन्थे ( कृते ग्रन्थे ) [ ३।३।८५ ] "खौ" [ ३।३।८६ ] इत्यण् प्राप्तः ।

माणवचरकात्खञ् ॥३।४।१०॥ तस्मै हितमिति वर्तते । माणव-चरक-शब्दाभ्यां खञ् भवति । छस्याऽपवादः । माणवाय हित माणवीनम् । चारकीणम् ।

तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ ॥३।४।११॥ हितमिति निवृत्तम् । तस्मै इति वर्तते । तस्मै इदं तदर्थं समानजातीयमभिन्नस्तानवर्ति कारणम्, प्रकृतिः । तस्या एवाऽवस्थान्तर विकृतिः । तदर्थमित्येतत्प्रकृतेर्विशेषणम् । तदर्थ्याया प्रकृताविति । यथेव छील्लिङ्गमीप् च प्राप्नोति । "सूत्रेऽस्मिन् सुद्विचरिष्टः" [ ५।२।११४ ] इने पा ( इतीपो ) वाया एवेन च निर्देशः । विकृतिवाचि-ोऽन्तान्मृदस्तदर्थ्याया प्रकृता-वनि(भि)धेयाया यथाविहित त्यो भवति । विकृत्यार्थाया प्रकृतौ त्यो भवतीत्यर्थः । अङ्गारेभ्यः, अङ्गारीयाणि काष्ठानि । प्राकारीया इष्टकाः । शङ्ख्य दार । पिचव्यः कर्पासः । अपूप्याः । अपूपीयास्तन्दुलाः । विग्रहे तादर्थ्यलक्षणाऽपू द्रष्टव्या । तदर्थमिति किम् ? नूत्राय यवागृः । उच्चाराय यवान्नम् । पादरोगाय नड्व-लोदकं कल्पते । योग्यतामात्रेण विकृतिप्रकृत्यभिः सन्धो मा भूत् । अत्र केचित्तस्मै ग्रहणं नानुवर्तयन्ति । तादर्थ्यं तदाऽपि व्यज्यते । यथा गुरोरिदम्, गुर्वर्थम् इति । विकृतिवाचिनस्तान्तात्तदर्थ्याया प्रकृतावभिधेयाया त्वत्त्वादयति । एवमङ्गाराणामिमानि अङ्गारार्थानि काष्ठानि, अङ्गारीयाणि । तदर्थमिति किम् ? यवाना घानाः धानाना शङ्खवः । नात्र प्रकृतेरनन्वार्थ्या गम्यते । अपि तु प्रकृत्यन्तरनिवृत्तिमात्रम् । नान्येषा घाना नान्येषा शङ्खवः । इत एव विकारप्रकृतिसम्बन्धमात्रेऽपि त्यो न भवति । घानाना यवाः, शक्त्वा घानाः इति । विकृतेरिति किम् ? उदकर्थः कूपः । नात्र पार्थिवस्य कूपस्य विकृतिरुदकम् । प्रकृताविति किम् ? अस्यार्था बोधी । स्मृतिरप्येते विकृतिर्भवति । तत्र बोधी तस्य प्रकृतिः ।

छदिरपधिवलेदञ् ॥३।४।१२॥ तदर्थं विकृतेः प्रकृताविति वर्तते । छदिसु उपधि वलि इत्ये-तेभ्यो ण् भवति । छदिरर्थानि छादिपेदाणि कृणानि । इह छदिरर्थं चमेति परत्वात् "वर्तणोऽञ्"

[ ३।४।१४ ] इति अग्निं प्राप्ते पूर्वनिर्णयेन ढञ् भवति । छादिपेय चूर्म । उपवीयत इत्युपधिः, रथाङ् गुणान्तरयोगाद् विकृतिरियम् । उपव्यर्थम्, औपधेय दाह । बालेथास्तन्दुलाः ।

ऋपभोपानहो ज्यः ॥३।४।१३॥ तदर्थं विकृतेः प्रकृताविति वर्तते । ऋपभ उपानह इत्येताभ्यां ज्यो भवति । ठस्यापवादः । गुणान्तरयोगादपि विकारो भवति । तद्यथा वैभीतकोऽपूपः इति । ऋपभायैभ्यो वत्सः ( आपभ्यो वत्सः ) । औपानहो भुञ्जः । “चर्मणोऽञ्” [३।४।१४] इत्यतः पूर्वनिर्णयेनायमेवेत्यने । औपानहं चर्म ।

चर्मणोऽञ् ॥३।४।१४॥ तदर्थं विकृतेः प्रकृताविति वर्तते । चर्मण इति विकारसम्बन्धे ता । चर्मणो या विकृतिस्तद्वाचिनोऽञ् भवति । छस्याऽपवादः । वदर्ध्वर्थं वादर्ध्वम् । वर्त्ता (वरत्रा) र्थं वार्त्ता (वारत्र) चर्म । सनङ्कुर्नाम चर्मविकारः, ततः पूर्वनिर्णयेन उवर्णान्तलक्षणो यो भवति । सनङ्गव्य चर्म ।

तदस्यास्मिन्निति ॥३।४।१५॥ प्रकृतिविकृतिभावस्तादर्थ्यं वेह न विवक्षित योग्यतामात्र विवक्षितम् । तदिति वासमर्थ्यादस्य अस्मिन्नित्येतयोरर्थयोर्यथाविहित तयो भवति । इति ऋणस्ततश्चेद् विवक्षा । अस्य सम्भावनेऽभिधानम् । तेन मत्वर्थ्याद् भेदः । प्रासादोऽस्य स्यात् प्रासादीय दाह । प्राकारीया इष्टकाः । प्रासादोऽस्मिन् देशे स्यात् प्रासादीयो देशः । प्राकारीयो देशः । इह कस्मान्न भवति, प्रासादो देव दत्तस्य स्यात् ? इति करणाद्विवक्षाऽत्र ।

परिखाया ढञ् ॥३।४।१६॥ तदस्याऽस्मिन्नात वर्तते । परिखाशब्दाद्ढञ् भवति । छस्यापवादः । परिखाऽस्मिन्देशे सम्भाव्यते पारिलेयो दशः । पारिलेयी भूमिः । इत ऊर्ध्वं छयौ नानुवर्तते ।

आर्हाट्टण् ॥३।४।१७॥ तदर्हतीति निवृत्तम् । प्रागेतस्मादर्हं सशब्दनाद्यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः, तेषु ठण्णधिकृतो वेदितव्यः । प्रागिति वर्त्तमाने अभिविव्यर्थमाद्ग्रहणम् । अर्हतीत्यस्मिन्नप्यर्थे ठण् भवति । वक्ष्यति “तेन क्रीतम्” [३।४।३५] । वज्रेण क्रीत वाल्मिकम् । गोपुच्छिकम् ।

शतादस्वार्थेऽसेठयो ॥३।४।१८॥ आर्हादिति वर्तते । स्वार्थे शतमेव । शतशब्दादस्वार्थेऽसेठय इत्येतौ तौ भवत आर्हादिष्वयेषु । कस्यापवादः । शतेन क्रीतम्, शतिकम् । शत्यम् । अस्वार्थ इति किम् ? शतं परिमाणमस्य शतक स्तोत्रम् । नात्र प्रकृत्यर्थादर्थान्तरभूतस्यार्थः समुदायः किन्तु शतमेव । यत्र ल्यार्थान्तर भावस्तत्र विधिरेव न प्रतिषेधः । शतेन क्रीत शतिक पटशतम् । शत्य पटशतम् । वाक्येन ह्यत्र ल्यार्थस्य शतत्व गम्यते न श्रुत्या । अत्र इति किम् ? द्वौ च शत च द्विशतम् । तत्र क्रीत द्विशतकम् । द्वाभ्यां शताभ्यां क्रीतमिति रसे “शतुबलौ” [३।४।२६] इत्युपि नास्ति विशेषः । ननु स-ल्यवद्भौ तदन्तविप्रतिस्तीति असप्रहणमनर्थकम् ? नापुत्तरत्र तदन्तविवेक्षापकम् । “प्राग्वत् सख्यापूर्वपदानां तदन्तप्रहणमनुपीति उप-सख्यानमवश्य कर्तव्यम् ।” पारायणं वर्तयति पारायणि ऋः । द्विपारायणि ऋः । असख्यापूर्वपदस्य न भवति । सदस्तेण क्रीतम्, साहसम् । सुवर्णसदस्तेण क्रीतमत्यत्राण् न भवति । तथा उवन्तायाः प्रकृतेभ्यो । द्वाभ्यां सूर्याभ्यां क्रीतम्, द्विसूर्येण क्रीतम् तदन्तविवेकभावान् “सूर्याद्वा” [३।४।२७] इत्यत्र विनिर्णयः । सामान्येन ठण्, द्विषोपिकम् । “परिमाणमस्याख्यशाणे” [३।४।२८] इति शोरेप् । एव तर्हि पृथग् तदन्त विधिरपि भवतीति ज्ञाप्यते । गव्यम् । अगव्यम् । हवि वन् । प्रमहविष्यम् । अपृष्यम् । यवापृष्यम् । अष्ट-वयम् । एकष्टकम् । राजदन्त्यम् । माप्यम् । तिलम् । कृण्वित्वम् ।

संख्याया कोऽतिशयः ॥३।४।२९॥ आर्हादिति वर्तते । संख्याया अतिशयान्तायाः को भवति । आर्हादयेषु ठणोऽपवादः । संख्यायाः “कति, संख्या” [३।४।३३] इति कतिशब्द प्रयोगः ।

चाऽन्वयसंज्ञाग्रहणाद् यैरेकत्वादिभिः सख्यायते तेषां च ग्रहणे प्राप्तेऽतिशत इति प्रतिषेधः । त्यन्ता शदन्तां च सख्या वर्जयित्वेत्यर्थः । पञ्चभिः क्रीतः पञ्चकः । सप्तकः । “संख्या बाड्डोऽग्रहुगणात्” [४।२।३६] इति पर्युदासाद्ग्रहुगणयोः सख्यात्वम् । बहुकः । गणकः । अतिशत इति किम् ? पाष्टिकः । सप्ततिकः । चत्वारिंशत्कः । पञ्चाशत्कः । अर्थवतस्तिशब्दस्येह ग्रहणाड्डतेर [ति] प्रतिषेधः । कतिभिः क्रीतः, कतिकः ।

वतोर्वेट् ॥३।४।२०॥ वतुरिति त्यः पञ्चप्रकृतिः । “यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुः” [३।४।१६०] “हृदमो घो घः” [३।४।१६१] “किमः” [३।४।१६२] इति वतोः परस्य कस्य च इड्भवति । ननु च अशते यत्तेषु कतिशब्दस्यैव संख्यात्वमुक्तम् । तत्कथं वलन्तात्संख्यालक्षणः कः ? इदमेव वलन्तात्परस्य कस्य वेड्वचनं ज्ञापकं भवति वलन्तस्य सख्या सज्जेति । यावता क्रीतः, यावतिकः, यावत्कः । तावतिकः । तावत्कः ।

विंशतित्रिंशद्भ्यांङ्वुरखौ ॥३।४।२१॥ विंशतित्रिंशच्छब्दाभ्यां ङ्वुर्भवत्यखुविषये । विंशत्या क्रीतः, विशकः । तेः खे कृते “असिद्धवदन्नाभात्” [४।४।२१] इति टिप्पे प्रतिषिद्धे “एष्यतोऽपदे” [४।३।८४] इति पररूपम् । त्रिंशता क्रीतः, त्रिंशकः । अखाविति किम् ? विंशतिः परिमाणमस्य, “परिमाणसंख्यायाः सप्तसूत्राध्ययने” [३।४।५६] “खौ” [३।४।५७] इति कः । विंशतिकं परिमाणनामधेयम् । अनर्थकत्वादस्य त्रिंशदस्य त्यन्तलक्षणः प्रतिषेधो न भवति । द्वयोर्दशतोर्वि (न्) भावः शतिश्चात्र ल्यो निपातयिष्यते । त्रिंशत्परिमाणमेषां त्रिंशत्काः । शदन्तान्तेति प्रतिषेधः कस्मान्न भवति ? विंशति त्रिंशद्भ्यामिति योगविभागात्को भवति ।

कंसादृन् ॥३।४।२२॥ कस्यशब्दादृन् भवति आर्हादर्थेषु । दृणोऽपवादः । कंसेन क्रान्तः ( क्रीतः ) कसिकः । कसिकी । “अर्धाच्चेति वक्तव्यम्” [वा०] आर्द्धिकी ।

कार्पापणाद्वा प्रातश्च ॥३।४।२३॥ आर्हादिति वर्तते । कार्पापणशब्दात् ठङ् भवति तस्य प्रतिरयं वादेशो वा भवति । कार्पापणेन क्रीतः, कार्पापणिकः । कार्पापणिकी । प्रतिकः । प्रतिकी ।

शतमानविंशतः ( क ) सहस्रवसनदण् ॥३।४।२४॥ शतमानादिभ्योऽण् भवति । आर्हादर्थे । ठणोऽपवादः । शतमानेन क्रीतम्, शातमानम् । वैशतिकम् । साहस्रम् । वासनम् ।

सूर्पाद्वा ॥३।४।२५॥ आर्हादिति वर्तते । सूर्पाशब्दाद्वाऽण् भवति । नित्ये ठणि प्राप्ते विकल्पोऽयम् । सूर्पं परिमाणनाम । सूर्पेण क्रीतम्, सौर्पम् । सौर्पिकः ।

रादुवखौ ॥३।४।२६॥ आर्हादिति वर्तते । रादुत्तरस्य आर्हायस्य त्यस्योद्भवत्यखौ । द्वाभ्यां कंसाम्या क्रीतम्, द्विवसम् । त्रिवसम् । हृदर्थे रसे कृते सख्यापूर्वपदानां तदन्तविधिना कसादृट्, तस्योप् । अधिकमर्थमस्मिन्नित्यध्यर्धम्, सख्यासंज्ञाविधानेऽध्यर्धग्रहणं सकविध्यर्थमित्युपसख्यासंज्ञा । अध्यर्धेन कसेन क्रीतं ठट् उपि अध्यर्धवसम् । द्वाभ्यां वसाभ्यां क्रीतम् इत्यागतयोरसंठणोरुभयवति । द्विसूर्पम् । त्रिसूर्पम् । अध्यर्धसूर्पम् । रादिति हेत्वर्थे का । रस्य हेतुनिमित्तं यो हृत् तस्योग्न भवति । द्विसूर्पेण पटेन क्रीतम्, द्विसौर्पिकम् । “अतस्त्रिंशत्तदपि समाहारलक्षणाद्वादुव्वक्तव्यम्” [ वा० ] । द्वयोः सूर्पयोः समाहारः द्विसूर्पा । द्विसूर्पात् क्रीतम् द्विसूर्पमिति । न वक्तव्यं । अमिधानवशात् समाहारे वाक्यमेव भवति । न त्योत्पत्तिः । अखाविति किम् ? पाञ्चलोहितिकम् । पाञ्चकलापिकम् । परिमाणनामधेये इमे । पञ्च लोहितानि परिमाणमस्य पञ्चकपालाः परिमाणमस्येति “परिमाणत्वंख्यायाः सप्तसूत्राध्ययने” [ ३।४।२६ ] “खौ” [ ३।४।२७ ] । इति ठण् । परिमाणस्य चोरादेरपि प्राप्ते “अखुशाणे” इति प्रतिषिद्धे आदेशेऽपि अन्ये पञ्चलोहित्यः परिमाणमस्येति विशया “तस्य हृत्यटे” [ वा० ] इति पुवद्भावं विदधाति ।

कार्पापणसहस्रसुवर्णशतमानाद्वा ॥३१४२७॥ कार्पापण सहस्र सुवर्ण शतमान इत्येवमन्ता  
त्परस्यार्हायस्य त्यस्य वोच् भवति । पूर्वेण नित्य उपि प्राप्ते विभागेयम् । द्वाभ्या कार्पापणाभ्या क्रीत  
द्विकार्पापणं द्विकार्पापणिकम् । त्रिकार्पापण त्रिकार्पापणिकम् । अध्यर्धकार्पापणम् । अध्यर्धकार्पापणिकम् ।  
‘प्राग्वतः संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमनुपीति कार्पापाणाद्वा प्रतिश्च’ [३१४२३] इति ठट् । अनुप्ले  
च प्रतिरादेशो विकल्पितः । द्विप्रतिकम् । त्रिप्रतिकम् । अध्यर्धप्रतिकम् । द्वाभ्या सहस्राभ्या क्रीत द्विसहस्रम् ।  
द्विसहस्रम् । त्रिसहस्रम् । त्रिसहस्रम् । अध्यर्धसहस्रम् । अध्यर्धसहस्रम् । “संख्यायाः संख्यासंवत्सरस्य”  
[ ३१२१७ ] इति घोरैप् । द्वाभ्या सुवर्णाभ्या क्रीतं द्विसुवर्णम् । द्विसौवर्णिकम् । त्रिसुवर्णम् , त्रिसौवर्णिकम् ।  
अध्यर्धसुवर्णम् , अध्यर्धसौवर्णिकम् । “परिमाणस्याखुशाणे” [ ३१२२२ ] इति घोरैप् । सुवर्णमुन्मान  
कथं परिमाणम् ? अशाण इति प्रतिषेधात् । उन्मानस्यापि घोरैवभवति द्वाभ्या शतमानाभ्या क्रीत द्विशत-  
मानम् । द्विशतमानम् । त्रिशतमानम् । त्रिशतमानम् । अध्यर्धशतमानम् ।

द्वित्रिवहोनिष्कविस्तात् ॥३१४२८॥ द्वि त्रि बहु इत्येतेभ्यः परो यौ निष्कविस्तशब्दौ तदन्ताद्वा-  
त्परस्यार्हायस्य त्यस्य वोवभवति । द्विनिष्कम् । द्विनैष्किकम् । त्रिनिष्कम् । त्रिनैष्किकम् । बहुनिष्कम् । बहु-  
नैष्किकम् । द्विविस्तम् । द्विवैस्तिकम् । त्रिविस्तम् । त्रिवैस्तिकम् । बहुविस्तम् । बहुवैस्तिकम् ।

विंशतिकान्तः ॥३१४२९॥ वेति निवृत्तम् । रादिति वर्तते । विंशतिकशब्दान्तात् रात् आर्हाद-  
र्थेण खो भवति । द्वाभ्या विंशतिकाभ्या क्रीतम् , द्विविंशतिकीनम् । त्रिविंशतिकीनम् । अध्यर्धविंशतिकीनम् ।  
वचनात्त्वत्योन्म भवति ।

खारीकाकणीभ्यां कप् ॥३१४३०॥ रादिति वर्तते । खारी-काकणीशब्दान्तात् आर्हादर्थेण कप्  
भवति । द्वाभ्या खारीभ्या क्रीतम् , द्विखारीकम् । त्रिखारीकम् । अध्यर्धखारीकम् । द्विकाकणीकम् । त्रिकाक-  
णीकम् । अध्यर्धकाकणीकम् । “केवलाभ्यां चेति वक्तव्यम्” [ वा० ] । खार्या क्रीत, खारीकम् ।  
काकणीकम् ।

पणपादमापाद्यः ॥३१४३१॥ रादिति वर्तते । पण-पाद-मापशब्दान्ताद् रादार्हादर्थेण यो भवति ।  
द्वाभ्या पणाभ्या क्रीतम् , द्विपण्यम् । त्रिपण्यम् । अध्यर्धपण्यम् । द्विपाद्यम् । त्रिपाद्यम् । अध्यर्धपाद्यम् ।  
“असिद्धवद्वाऽभात् [४१४२९] इत्यत्रस्याऽसिद्धत्वात्पाच्छब्दस्य पद्मावो न भवति । “पद्य” [४१३१६४]  
इति पदादेशोऽपि पादस्य केवलस्योक्तम् ( क्तः ) । द्विमाध्यम् । त्रिमाध्यम् । अध्यर्धमाध्यम् ।

शताद् वा ॥३१४३२॥ रादिति वर्तते । शतशब्दान्ताद् रादार्हादर्थेण वा यो भवति । द्वाभ्या शताभ्या  
क्रीत द्विशत्यम् । त्रिशत्यम् । अध्यर्धशत्यम् । पक्षे ठण् । तस्य “राट्चक्षौ” [ ३१४२६ ] इत्युप् । द्विशत  
त्रिशतम् । अध्यर्धशतम् ।

शाणात् ॥३१४३३॥ रादिति वर्तते वेति च । शाणशब्दान्तादार्हादर्थेण वा यो भवति । पक्षे टण् ।  
तस्य चोप् । पञ्चमि शाणैः क्रीत पञ्चशाण्यम् । पञ्चशाण्यम् । अध्यर्धशाण्यम् । अध्यर्धशाण्यम् । योण  
विभाग उत्तरार्थः ।

द्वित्रिभ्यामण् च ॥३१४३४॥ शाणादिति वर्तते । द्वित्रिशब्दान्ताद् परो यः शाणशब्दान्ताद्  
रादार्हादर्थेण भवति यश्च वा । तेन वक्तव्यम् । द्वाभ्या शाणाभ्या क्रीतम् , द्विशाण्यम् । त्रिशाण्यम् ।  
त्रिशाण्यम् । त्रिशाण्यम् । अत्र परत “अनुशाण” इति प्रतिषेधादर्थम् ।

तेन क्रीतम् ॥३१४३५॥ तेनेति भासमर्थात् क्रीतमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं ठणादयो भवन्ति । निष्केण क्रीतम्, नैष्किकम् । शतिकम् । शत्यम् । साहसम् । द्विकम् । त्रिकम् । इह करणादिति वक्तव्यम् । कर्त्तरि माभूत् । देवदत्तेन क्रीतम् । “मूल्यादिति च वक्तव्यम्” [वा०] । इह मा भूत् पाणिना क्रीतमिति । “द्विवहन्ताच्च करणाप्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] । द्रोणाभ्यां क्रीतम् । द्रोणैः क्रीतम् इति । नेदं बहु वक्तव्यम् । अभिधानतो व्यवस्था भविष्यति । यत्र प्रकृत्यर्थस्य संख्याभेदावगतिरस्ति तत्र द्विवहुत्वविषयेऽपि भवति । द्वाभ्या क्रीतम्, द्विकम् । मुद्गैः क्रीतम्, मौद्गिकम् ।

तस्य वापः ॥३१४३६॥ उप्यतेऽस्मिन्निति वापः क्षेत्रम् । तस्येति तासमर्थात् वाप इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । प्रस्थस्य वापः, प्रास्थिकः । कौद्रविकः । खारीकः । “यस्य प्रकरणे वातपित्तरलेष्म-सन्निपातेभ्यः शमनकोपनयोरुपसंख्यानम्” [वा०] वातस्य शमनं कोपनं वातिकं द्रव्यम् । एवं पैत्तिकम् । श्लैष्मिकम् । सन्निपातिकम् ।

निमित्त संयोगोत्पादौ ॥३१४३७॥ बुद्धिपूर्विका व्याप्तिः संयोगः । शुभाशुभयोः सूचकः उत्पादः । उत्पात इत्यर्थः । तस्येति तासमर्थान्निमित्तमित्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति यत्तन्निमित्तं संयोग उत्पादो वा स चेद् भवति । शतस्य निमित्तमीश्वरेण संयोगः शतिकः, शत्यः । साहस्रः । शतस्य निमित्तं दक्षिणाक्षित्यन्दनमुत्पादः शतिकः । शत्यः । साहस्रः । सोमग्रहणस्य निमित्तमुत्पादो भूमिकम्पः । सोमग्रहणिकः ।

योऽसंख्यापरिमाणश्चादेः ॥३१४३८॥ तस्येति तासमर्थाद्यो भवति संख्यापरिमाणाश्वादीन् वर्जयित्वा निमित्तं संयोगोत्पादावित्यस्मिन् विषये । ठणादीनामपवादः । वनं निमित्तं संयोग उत्पादो वा वन्यः । यशस्यः । स्वर्ग्यः । आयुष्यः । असंख्यापरिमाणाश्वादेरिति किम् ? पञ्चानां निमित्तं संयोग उत्पादो वा, पञ्चकः । सतकः । परिमाणात् । प्रस्थस्य निमित्तं संयोग उत्पादो वा प्रास्थिकः । द्रौणिकः । खारीकः । अश्वदिर्गणः । अश्वस्य निमित्तं संयोग उत्पादो वा आश्विकः । अश्वः । अश्वमन् । गणः । ऊर्णाः । उमाः । भङ्गाः । वर्षाः । वत् । वहुः । संख्यापरिमाणयोरर्थभेदोऽस्ति । “ऊर्ध्वमानं किलोत्मानं परिमाणं तु सर्वतः । धायामं तु प्रमाणं स्यात् संख्या तु गुणनात्मिका ।”

गोब्रह्मवर्चसात् ॥३१४३९॥ तस्य निमित्तं संयोगोत्पादाविति वर्तते । गोब्रह्मवर्चसशब्दाभ्या यो भवति । गोनिमित्तं संयोग उत्पादो वा गव्यः । ब्रह्मणो वर्चः, ब्रह्मवर्चसम्, अत एव निपातनात्सान्तः । ब्रह्मवर्चसस्य निमित्तं संयोग उत्पादो वा ब्रह्मवर्चस्यः । पूर्वेण ये सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय । एकाचो गोशब्दादेव बहुचो ब्रह्मवर्चसशब्दादेव यः । इह न भवति । नावो निमित्तं संयोगः नाविकः । वास्तुयुगिकः । द्व्यच एव पूर्वेण यो वेदितव्यः ।

पुत्राच्छ वा ॥३१४४०॥ तस्य निमित्तं संयोगोत्पादाविति वर्तते । पुत्रशब्दाच्छो यश्च । पुत्रस्य निमित्तं संयोग उत्पादो वा पुत्रीयः । पुत्र्यः ।

सर्वभूमिपृथिवीभ्यामण् ॥३१४४१॥ तस्य निमित्तं संयोगोत्पादाविति वर्तते । सर्वभूमि-पृथिवी-शब्दाभ्यामण् भवति । ठणोऽपवादः । सर्वभूमेर्निमित्तं संयोग उत्पादो वा, सर्वभौमः । अनुशतिकादित्वा-दुभयनैप् । पृथिव्यः निमित्तं संयोग उत्पादो वा, पार्थिवः ।

इश्वर ॥३१४४२॥ तस्येति वर्तते । तासमर्थाभ्या सर्वभूमिपृथिवीशब्दान्यामीश्वर इत्यस्मिन्नर्थे-ऽण् भवति । ठणोऽपवादः । सर्वभूमेरीश्वरः, सर्वभौमः । पार्थिवः ।

तत्र विदित ॥३१४४३॥ तत्रेतीप्समर्थाभ्या सर्वभूमिपृथिवीशब्दाभ्या विदित इत्यस्मिन्नर्थे-ऽण् भवति । सर्वभूमेर्निमित्तं सर्वभौमः । पार्थिवः ।

लोकात् ॥३।४।४४॥ तत्र विदित इति वर्तते । लोकशब्दादीप्समर्थाद्विदित इत्येतस्मिन्नर्थं ठण् भवति । लोके विदितः, लौकिकः ।

सर्वात् ॥३।४।४५॥ सर्वशब्दात्परो यो लोकशब्दः, तदन्तान्मृदण् भवति तत्र विदित इत्यस्मिन्नर्थे । सर्वलोके विदितः, सार्वलौकिकः । अनुशतिकादित्वाद्भुमयैप् ।

तदस्मिन्वृद्धयायलाभशुल्कोपदा दीयते ॥३।४।४६॥ तदिति वासमर्थाद् वृद्ध्यादिविशिष्टा दस्मिन्नितीत्यर्थे यथाविहितं त्यो भवति । यत्तद्वासमर्थे वृद्ध्यादिविशिष्ट दीयते चेत्तद् भवति । वृद्धिः कालान्तरादिवा । नियनिश्चया प्राप्तिराय । पटादीना मूल्यातिरेको लाभ । वा ( व, णिजा रक्षाकारितो राजभागः शुल्कः । उत्क्रोष्टः उपदा । दीयते इत्येकवचनान्तं वृद्ध्यादिभिः प्रत्येकमभिसम्बन्धते । पञ्चास्मिन्वृद्धिर्वा आयो वा लाभो वा शुल्को वा उपदा वा दीयते, पञ्चकः । प्रास्थिकः । कोडविकः । 'इह तदभे दीयते इति वक्तव्यम्' [ वा० ] पञ्चाऽस्मै वृद्ध्यादि दीयते, पञ्चकः । सतकः । न वक्तव्यम् । सम्प्रदानस्याधिकरणविवक्षया सिद्धम् ।

उडर्धाटुः ॥३।४।४७॥ उडिति प्रत्याहारग्रहणम् । 'तस्य पूरणे डट्' [४।१।१] इत्यारम्य आ तमऽष्टकारात् । उडन्तान्मृद. अर्धशब्दाच्च ठो भवति तदस्मिन्वृद्धयायलाभशुल्कोपदा दीयते इत्यस्मिन्नर्थे । ठण् : 'अर्धाच्च' [४।२।१०३ (वा०)] इत्यौपसंख्यानिकस्य च ठटोऽपवादः । पञ्चमः दीयते वृद्धिर्वा आयो वा लाभो वा शुल्को वा उपदा वा, पञ्चमिकः । द्वितीयिकः । अर्थिकः । स्त्रियाम्—अर्थिका ।

भागाद्यश्च ॥३।४।४८॥ भागशब्दोऽर्धवाची । तदस्मिन्वृद्धयायलाभशुल्कोपदा दीयते इति न वर्तते । भागशब्दाद्यो भवति ठश्च । भागो वृद्ध्यादिरस्मिन्दीयते भाग्य शतम् । भागिक शतम् ।

तद्धरति वहत्यावहति भाराद् वंशादेः ॥३।४।४९॥ वशादिभ्यः परो यो भारशब्दः तदन्ता न्मृद ई (इ) प्समर्थाद् हरत्यादिष्वर्थेषु यथाविहितं त्यो भवति । हरति नयतीत्यर्थः । वहति उत्तिपतीत्यर्थः । आवहति उत्पादयतीत्यर्थः । वशाभारं हरति वहति आवहति वा, वाशभारिक । बाल्वज्रभारिकः । भारादिति किम् ? वत्स हरति । वशादेरिति किम् ? भार हरति । केवलान्न भवति । अन्ये पुनरन्यथा सूत्रार्थं प्राप्तिः । वत्सा (वशा) दिभ्यो भारभूतेभ्यस्त्यो भवति । अर्थद्वारेण भारो वशादेर्विशेषणम् । भारभूतात् ( नृ ) हरति, वाशिकः । बाल्वज्रिकः । भारादिति किम् ? एक वश हरति । वत्सा (वशा) देरिति किम् ? भारभूतान् वत्स हरति । सूत्रार्थद्वयमपि प्रमाणम् । वश । वल्बज । कूट । मूल । स्थूल । खट्वा । अश्व । इक्षु ।

वत्सद्रव्याभ्यां ठकौ ॥३।४।५०॥ वत्सद्रव्यशब्दाभ्यामिप्समर्थाभ्या हरत्यादिष्वर्थेषु यथागम्य ठ क इत्येतौ त्यौ भवतः । वत्स हरति वहति आवहति वा, वत्सिकः । द्रव्यकः ।

सम्भवत्यवहरति पचति ॥३।४।५१॥ तदिति वर्तते । इप्समर्थात्तन्मृद. सम्भवत्यादिष्वर्थेषु यथा विहितं त्यो भवति । सम्भवति गृह्णातीत्यर्थः । अवहरति क्षय नयतीत्यर्थः । पचति विहृदय कर्मातीत्यर्थः । प्रथमं सम्भवत्यवहरति पचति वा, प्रादित्यसौ ह्याली । एव कोडविद्धी । त्वारोद्धी । ननु वा प्रथमं सम्भवति पचत्यपि, तत्कथं भेदः ? इदं तर्हि पचनेदशादृशम् । प्रथमं पचति ब्राह्मणे, प्रास्थिके । 'तत्पचति ब्राह्मणे च वक्तव्यम्' [ वा० ] । द्वितीयं पचति द्वितीये, द्वितीयिके ।

वाऽऽटकाचितपात्रान्तः ॥३।४।५२॥ आटक-आचित्रावगच्छेभ्य इप्समर्थात्तन्मृद. 'नमसर्त' ध्वयेषु वा लो भवति । तृतीयं चित्ते टटि प्राप्ते चित्तान्तरम् । आटक-सम्भरति अवहरति पचति वा, आटकीना, आटकीनी । आचित्रान्तरं, आचित्रिकी । पात्रोणा, पात्रिकी । आटकादिनि परिभाषाणि ।

राट्ट् च ॥३१४।५३॥ आहकाचितपानान्तात् रात् इप्समर्थात्सम्भवत्यादिष्वर्थेषु ठट् भवति खश्च वा । तेन नैरूप्य भवति । द्वे आहके सम्भवति अवहरति पचति वा ह्याटकिनी । ह्याटकीना । आभ्या मुक्ते टण् तस्य "राट्टबलौ" [३१४।२६] इत्युप् । ह्याटकी । "परिमाणादुष्टुपि" [३१४।२६] इति डी-विधिः । ठट्त्वर्गोर्वचनाद्वम् ( दुम्न ) भवति । ह्यापचित्तीना, ह्यापचिता । "न विस्ताचितकम्बल्यात्" [३१४।२७] इति डीप्रतिषेधः । द्विपानिकी । द्विपानीणा । द्विपानी ।

कुलिजाच्च ॥३१४।५४॥ चकारस्तिकाऽनुकर्षणार्थः । रादिति वर्तते । कुलिजशब्दान्तात् रात् इप्सम-  
र्थात् सम्भवत्यादिष्वर्थेषु ठट् भवति खश्च वा । तेन नैरूप्यम् । कुलिज परिमाणविशेषः । द्वे कुलिजे सम्भ-  
वत्यवहरति पचति वा द्विकुलिजिकी, द्विकुलिजीना, द्विकुलिजी । केचिदुपोऽपि विकल्पमिच्छन्ति । पक्षे ठणः  
भवणम् । द्वैकुलिजिकीति । त एव "सखुशाणे" [५१४।२२] इत्यत्र कुलिजस्यापि प्रतिषेधमिच्छन्ति ।

तदस्यांशवस्त्वभृतयः ॥३१४।५५॥ तदिति वासमर्थात् अस्येति तार्थं यथाविहित त्यो भवति यत्तद्वा  
समर्थम् अश वस्त्वभृतयश्चेत्तद् भवन्ति । पञ्च अंशा वा वस्नो वा भृतिर्वाऽस्य, पञ्चकः । सप्तकः । शतिकः,  
शत्यः । सारतः । खारीक ।

परिमाणत्सङ्ख्यायाः सङ्घसूत्राऽध्ययने ॥३१४।५६॥ तदस्येति वर्तते । परिमीयते परिच्छिद्यते-  
ऽनेन परिमाणम् । परिच्छेदकमिह तत् पारिभाषिकम् । तदिति वासमर्थात् सख्यावाचिनः परिमाणे वाधिका-  
दत्येति तार्थं यथाविहितं त्यो भवति । यत्तदस्येति सङ्घसूत्राऽध्ययनानि चेद् भवन्ति । सङ्घे पञ्च परिमा-  
णमस्य सङ्घस्य पञ्चकः । सप्तकः । सूत्रे ग्रन्थ इत्यर्थः । पञ्चाऽध्यायाः परिमाणमस्य, पञ्चक जैनेन्द्रम् । अष्टकं  
पाणिनीयम् । शतक स्तोत्रम् । अधोतिरध्ययन तस्मिन् । पञ्च रूपाण्यस्याध्ययनस्य पञ्चकम् । सप्तकम् ।  
कर्मणि यद्यध्ययनशब्दो व्युत्पाद्येत सूत्रान्न भेदः स्यात् । "स्वोमे डो वक्तव्यः" [ घा० ] पञ्चदशाद्यर्थः  
पञ्चदश मन्त्राः परिमाणमस्य स्तोमस्य पञ्चदशः स्तोमः । एव सप्तदशः । एकविंशः । परिमाणादिति योग-  
विभागः कर्तव्यः । तदस्येति वर्तते । पञ्चकलापः परिमाणमस्य, पञ्चकलापिकम् । पाञ्चलोहितिकम् ।  
प्रस्थ. परिमाणमस्य प्रास्थिस्तौ राशिः । कौतिकः । खारीशतिकः । वर्षशत परिमाणमस्य वार्षशतिकः ।  
"जीवितपरिणाम इति च वक्तव्यम्" [ वा० ] षष्ठिः सवत्सरा जीवितपरिमाणमस्य, षाष्टिकः । साप्ततिकः ।  
प्राशीतिकः । नेद वक्तव्यम् । 'तमवी( धी )ष्टो भू ( नृ , तो भूतो भावी' [ ३१४।७६ ] इत्येव  
सिद्धम् । षष्टि भूतो ( तः ) षाष्टिकः । एवञ्चानुवपि सिद्धः । द्वे षष्टी भूतो द्विषाष्टिकः । इह विधानो ( ने )  
"राट्टबलौ" [ ३१४।२६ ] इत्युप् प्रसज्येत ।

खौ ॥३१४।५७॥ खूपिपे च परिमाणविशिष्टाया सख्याया यथाविहितं त्यो भवति । विंशतिः  
परिमाणमस्य विंशतिव परिमाणनामधेयम् । स्वार्थे चाऽन त्यो द्रष्टव्य । पञ्चैव पञ्चकाः शकुनयः । त्रय एव  
त्रिंश सा ( श ) लक्षणा ।

पटिङ्गविंशतिश्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्पष्टिसप्तत्यशीतिनवतिशतम् ॥३१४।५८॥ पङ्क्त्यादय-  
श्चत्वारिंशत्ये । तदन तदशेनानुपपन्न तत्तुर्व निपातनात्सिद्धम् । तदस्य परिमाणमिति वर्तते । पञ्चपादा.  
परिमाणमस्य पटिङ्गस्य पञ्च, नमस्तन्निवेशोऽपि । पञ्चशब्दात्तिरित्ययं त्यष्टिश्च च निपात्यते । द्वौ दश तौ  
परिमाणमस्य वर्गस्य विंशति । द्वौ विंशतः शतित्वे त्वः । त्रयवतुःपञ्चानाम् इमारिमाश्वान्तादेशाः शच्च  
त्व । तयो दशत परिमाणमस्य वर्गस्य विंशत् । चत्वारो दशतः परिमाणमस्य चत्वारिंशत् । पञ्च दशत  
परिमाणमस्य, पञ्चाशत् । षट् दशत परिमाणमस्य षष्टिः । षष्टिस्तिरित्ययं त्योऽपदत्वं च । सप्त दशतः  
परिमाणमस्य सप्तति । सप्ततस्तिरित्ययं त्वः । अष्टौ दशतः परिमाणमस्य अशीतिः । नवतः सप्तौ भावः । तिस्र



त्यः । नव दशतः परिमाणमस्य नवति । नवशब्दात्तिः । दश दशतः परिमाणमस्य शतम् । दशानां शभावः तश्च त्यः । विशत्यादीनां कचित्सख्यान्प्रधानत्वम्, कचित्सख्येयप्रधानत्वम् । लिङ्गवचनं च त्वाभाविक्त्वादेव सिद्धम् । इह यथाकथञ्चिद्व्युत्पत्तिः क्रियते । सहस्रादयोऽप्यनयैव दिशाऽनुगन्तव्याः । दशशतानि परिमाण-मस्य, सहस्रम् । दशसहस्राणि परिमाणमस्य, अयुतम् ।

पञ्चदशतौ वर्गं वा ॥३।४।५९॥ पञ्चन् दशन् इत्येतौ शब्दौ वर्गेऽभिधेये वा निपात्येते । तदस्य परिमाणमित्यस्मिन्विषये नित्ये के प्राप्ते पक्षे षडित्ययं ल्यो निपात्यते । पञ्च परिमाणमस्य पञ्चद्वर्गः । दशद्वर्गः । दशको वर्गः ।

तदर्हति ॥३।४।६०॥ तदितीप्समर्थादर्थतीत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । श्वेतच्छत्रमर्हति श्वेतच्छत्रिकः । आभिपेचनिकः । वास्त्रयुगिकः । दाढ्योदनिकः । शक्तिकः । शल्यः । इह भोजनमर्हतीत्य-नभिधानान्न भवति । “स्त्रीपुंसांनुक्त्वात्” [ ३।४।७२ ] इत्येषोऽपि विधिरनभिधानान्नावतरति । ठणादयं इमं योगं प्राप्य निवृत्ताः ।

प्राग्वतष्ठन् ॥३।४।६१॥ तदर्हे वटिति वक्ष्यते । प्रागेतस्माद्वत्सशब्दनायानित ऊर्ध्वमनुरुमिष्यामः तेषु ठञ्चिद्धतो वेदितव्यः । वक्ष्यति “पारायणतुरायणचान्द्रायणं वर्तयति” [ ३।४।६८ ] पारायणिकः । “प्राग्वतः संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमनुपि” इति द्वैपारायणिकः । इह ( ठणि ) प्रकृते तस्योप् प्रसज्येत तेन ठञ्चिद्धतः ।

छेदादेनित्यम् ॥३।४।६२॥ नित्यग्रहणमर्हतीत्यस्य विशेषणम् । छेदादिभ्यो नित्यमर्हतीत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । छेदं नित्यमर्हति छेदिकः । छेदः । भेदः । होहः । द्रोहः । तस्करः । नर्तः । कर्पः । विकर्पः । विप्रकर्पः । प्रयोगः । संप्रयोगः । विप्रयोगः । सम्प्रश्नः । प्रेषणः । विरागः । विरङ्गः च ।

शीर्षच्छेदाद्यश्च ॥३।४।६३॥ नित्यमिति वर्तते । शीर्षच्छेदशब्दात् इप्समर्थात् नित्यमर्हतीत्यस्मिन्नर्थे यो भवति ठञ् च । शीर्षच्छेदं नित्यमर्हति शीर्षच्छेदिकः । अन्ये शिरश्छेदं नित्यमर्हतीति ल्य-सन्निभोगे शिरसः शीर्षभावः वर्णयन्ति । तदयुक्तं यत्नाभावात् । तस्मान्नियतविषयः शिरःपर्यायः शीर्षशब्दोऽ-स्तीत्यभ्युपगन्तव्यम् ।

दण्डादेः ॥३।४।६४॥ नित्यमिति निवृत्तम् । दण्ड इत्येवमादिभ्योऽर्हतीत्यस्मिन्नर्थे यो भवति । ठञोऽ-पवादः । दण्डमर्हति दण्ड्यः । दण्डः । मुशलः । मुषपकः । कशाः । अर्थः । मेघाः । मेघः । वधः । उदकः । युगः । इव ( भ ) ।

पात्रादघश्च ॥३।४।६५॥ तदर्हतीति वर्तते । पात्रशब्दाद्धो भवति चकागयश्च । ठञोऽपवादः । पात्रमिति परिमाणं च गृह्यते । पात्रमर्हति पात्रियः । पात्र्यः ।

कडङ्गरदक्षिणास्थालीविलाच्छुश्च ॥३।४।६६॥ तदर्हतीति वर्तते । कडङ्गर दक्षिणा स्थाली-विल इत्येतेभ्यश्छो भवति यश्च । ठञोऽपवादः । मुद्गादि काष्ठ कडङ्गरम् । कडङ्गरमर्हति कडङ्गरीयो गो । दक्षिणामर्हति दक्षिणीयः । दक्षिण्यः । स्थालीविलमर्हति स्थालीविलीया स्थालीविन्यान्वाष्टनाः । पाकादा इत्यर्थः ।

यहृत्विग्भ्यां घलत्रो ॥३।४।६७॥ तदर्हतीति वर्तते । यज-अमृ-विक्क-शब्दान्या यथातन्म घलत्रि-त्येनो ल्यो भवति । ठञोऽपवादः । यजमर्हति यज्यः । आचित्रिनीनः । उपनागतं कर्मापि तथोक्तम् । यजमर्हति, यजिनी देहः । अमृ-विक्कमर्हति आचित्रिनीन इत्यन्तः ।

पारायणतुरायणचान्द्रायणं वर्तयति ॥३१४।६८॥ तदिति वर्तते । पारायणतुरायणचान्द्रायणशब्देभ्य इप्समर्थेभ्यो वर्तयतीत्यस्मिन्नर्थे ठञ् भवति । पारायण वर्तयति पारायणिक । शिष्य एवाभिधानं नाभ्यापके । तुरायण यश्च वर्तयति तौरायणिकः । यजमान एव न याजके । चान्द्रायणिकः ।

संशयमापन्नः ॥३१४।६९॥ सशयशब्दादिप्समर्थादापन्न इत्यस्मिन्नर्थे ठञ् भवति । सशीतिः सशयः, तमापन्ने कर्तृकर्मणी भवतः । तत्र कर्तरि पुरुषेऽभिधानं नास्ति । सशय विषयभावेनापन्नः साशयिकः । स्यादिति ।

योजनं याति ॥३१४।७०॥ योजनशब्दादिप्समर्थादातीत्यस्मिन्नर्थे ठञ् भवति । योजन याति यौवनिकः । सख्यापूर्वपदादिपि । द्वैयोजनिकः । 'क्रोशशतयोजनशतयोरुपसंह्यानम्' [वा०] । क्रोशशत याति क्रौशशतिकः । यौजनशतिकः । 'ततोऽभिगमनमर्हति च वक्तव्यम्' [वा०] क्रोशशतादभिगमनमर्हति क्रौशशतिकः । यौजनशतिको गुरुः ।

पथः कट् ॥३१४।७१॥ तदिति वर्तते । पथिशब्दादिप्समर्थादातीत्यस्मिन्नर्थे कट् इत्ययं ल्यो भवति । पन्थानं याति पथिकः, पथिकी । द्वौ पन्थानौ याति, द्विपथिकः, द्विपथिकी । हृदर्थे रसे कृते सान्तात्पूर्वनिर्णये-नायमिष्यते ।

पन्थो ण नित्यम् ॥३१४।७२॥ नित्यगहणं यातीत्यस्य विशेषणम् । पथिशब्दादिप्समर्थान्नित्यं यातीत्यस्मिन्नर्थे ल्यो भवति तत्सन्नियोगे पन्थ इत्ययञ्चादेशः । पन्थानं याति पान्थः । नित्यमिति किम् ? पथिकः ।

उत्तरपथेनाहतं च ॥३१४।७३॥ निर्देशादेव भाया उपादानम् । उत्तरपथशब्दाद् भासमर्थादाहतं यातीति चानयोरर्थयोद्धञ् भवति । उत्तरपथेनाहतम्, औत्तरपथिकम् । उत्तरपथेन याति, औत्तरपथिकः । 'वारिजङ्गलस्थलकान्तराजशङ्खपुर्वपदादिति वक्तव्यम्' [वा०] वारिपथेनाहतं वारिपथिकः वारिपथेन याति वारिपथिकः । एवमर्थद्वयोऽपि । बाङ्गलपथिकः । स्थालपथिकः । कान्तारपथिकः । आजपथिकः । शाङ्खपथिकः । 'मधुकमरिचयोः स्थलपूर्वाद्गन् वक्तव्यः' । स्थलपथेनाहतं स्थालपथ मधुकं मरिच वा ।

कालेभ्यः ॥३१४।७४॥ बहुवनिर्देशः स्वरूपनिरासार्थः । अधिकारोऽयम् । यदित ऊर्ध्वमनु-क्रमिष्यामः । कालवाचिभ्य इत्येव तद्वेदितव्यम् । वक्ष्यति 'तेन निवृत्तः' [३१४।७५] । मासेन निवृत्तम् मासिकम् । आर्द्धमासिकम् ।

तेन निवृत्तः ॥३१४।७५॥ तेनेति भासमर्थेभ्यः । कालवाचिभ्यो निवृत्त इत्यस्मिन्नर्थे ठञ् भवति । मासेन निवृत्तः, मासिकः । सौवत्सरिकः प्रासादः ।

तमवो (धा) णो भूतो भूतो भावी ॥३१४।७६॥ तमितीप्समर्थात् कालवाचिशब्दात् अवी- (धी) णो भूतो भूता भावीति एतेष्वधेयु ठञ् भवते । सकृत् न्युक्तोऽवा (धी) णः । वेतनेन क्रीता भू (ऋ)तः । मासमवा (धी) णो भूता भूतो भावा वा मासिकः । आर्द्धमासिकः । सौवत्सरिकः । 'इहाप्यन्यवित्पेदे' [३१४।७] इतोप् । अवी (धी) ण्, धू (ऋ) तयोरर्थयोर्मासिकदेशे मुहूर्ते प्राशशब्दो दत्तः । तस्याऽप्येदं नमस्क्रियाम्ना व्याप्तिर्विच्छेदः । भूतभाविभ्यां तु रेखुवन्त्या (स्वसन्त्या) कालस्य व्याप्तिर्विच्छेदः विद् एव । इह पाठे भूतः पाठिकः । गततिकः । इति कथं कालवाचित्वम् ? कालस्य एतेष्वप्यत्र कालविषयज्ञात् । तस्मात् काल भूत इत्यत्राऽनभिधानान्न भवति ।

मासाद् वयसि खञ् ॥३१४।७७॥ तमत्री(धी)ष्टो भूतो भूतो भावीति वर्तते । मासशब्दाद् वयस्यभिधेये खञ् भवति । ठञोऽपवादः । वयसीति वचनात् । अवी(धी)ष्टभृतप्रदणं नाभिसम्बध्यते । मास भूतो भावी वा, मासीनः । कथं भावि वयो विगमः इति चेत्, अगिष्टदर्शनात् । जकारः “जिदृष्टदृष्ट-विकारे” [४।३।१५१] इत्यत्र पुनश्चावतिषेधार्थः । मासीनो दुहितृकः । वयसीति किम् ? मासिकः ।

यः ॥३१४।७८॥ मासशब्दाद् वयस्यभिधेये यश्च भवति । मासं भूतो भावी वा मास्यः । योग-विभाग उत्तरार्थः ।

रात् ॥३१४।७९॥ मासाद् वयसीति वर्तते । मासान्ताद् राद् वयस्यभिधेये यो भवति । द्वौ मासौ भूतो भावी वा द्विमास्यः । प्राग्वतः संख्यापूर्वपदानामनुपीति ठञपवादयोर्व्यञ्जोः प्राप्तयोरनेन यो विधीयते ।

परमासाण्यश्च ॥३१४।८०॥ परमासशब्दाद् वयस्यभिधेये एयो भवति यश्च । परमासाद् भूतो भावी वा पाणमास्यः । परमास्यः । अन्ये चशब्देन ठञ समुच्चिन्वन्ति । यस्त्वनुवर्तनादेव भवति तेषां पाणमासिक इत्यपि ।

ठश्चावयसि ॥३१४।८१॥ परमासशब्दाद्वयस्यभिधेये ठो भवति एयश्चानन्तरः । पाणमासिको नायकः । पाणमास्यः ।

समायाः खः ॥३१४।८२॥ अवी(धी)ष्टादयश्चत्वारोऽर्था अनुवर्तन्ते । समाशब्दादिष्वमर्थादधीष्टादिष्वर्थेषु खो भवति । ठञोऽपवादः । सामत्री(धी)ष्टो भूतो भावी वा सगीनः ।

राद् भूतबले ॥३१४।८३॥ समाशब्दान्ताद् निर्वृत्तादिषु पञ्चस्वर्थेषु खो भवति भूतबलेराचार्यस्य मतेन । नान्येषाम् । प्राग्वतः संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमनुपीति पूर्वेण नित्ये खे प्राप्ते विभाष्यम् । द्वे समे भूते भूतो भावी वा द्विसमीनः । द्वैसमिकः । त्रिसमीनः । त्रैसमिकः । कालः परिमाणग्रहणेन न गृह्यते । तेन “परिमाणस्यानुशाणे” [१।२।२२] इति द्योर्भन भवति ।

राज्यहःसंवत्सरात् ॥३१४।८४॥ रादिति वर्तते । अहन् सवत्सर इत्येवमन्ताद्वानिर्वृत्तादिष्वर्थेषु भूतबलेराचार्यस्य मतेन खो भवति । अहन् । द्वयहीनः । द्वैयहिकः । अत्रापि अहरन्तादिति वचनात् “राशाहःसखिभ्यष्ट” [४।२।१३] इति सान्तो न भवति । अन्यथा “एभ्योऽहोऽहः” [४।२।१०] इत्यह्लादेशो सति द्वयहीन इत्यनिष्ट रूप स्यात् । द्वैयहिक इति चेध्यते । तत्कथं सिद्ध्यति ? द्वयोरतोऽपि समाहारः ते सान्ते “न समाहारे” [४।२।११] इत्यह्लादेशप्रतिषेधे च सति सिद्ध्यति । सवत्सर, द्विसवत्सरीयः । द्विसवत्सरिकः । “सरयायाः (सरया) सवत्सरस्य” [१।२।२०] इति द्योरादेरेप् ।

वर्षादुप् च ॥३१४।८५॥ रादिति वर्तते । वर्षशब्दान्तान्निर्वृत्तादिष्वर्थेषु भूतबलेराचार्यस्य मतेन ठञ उद्भवति खश्च । अन्येषां ठञेव । तेन त्रैरूपम् । द्वे वर्षे भूतः, द्विवर्षः, द्विवर्षीयः, द्विवर्षिकः । “वर्ष-स्यानाविनि” [५।२।२१] इति द्योरादेरेप् । भाविनि द्विवर्षिक इति भवति ।

प्राणिन्युप् ॥३१४।८६॥ पुनर्वग्रहणं नित्यार्थम् । वर्षशब्दान्तादुपप्राणिनि त्वार्थेऽभिप्रेते नित्यं त्यस्योद्भवति । पूर्वेण विकल्पेन पक्षे ठञः श्रवणं खश्च न भवति । द्वे वर्षे भूतो भावी वा द्विवर्षा दारकः । भूतभाविनोरैकार्थयोरयं नित्यमुच्यते नान्यत्र । द्वे वर्षे अघोष्टो भू (भू)तो वा कर्म करिष्यति, द्विवर्षिणे मनुष्यः ।

तदस्य ब्रह्मचर्यम् ॥३१४।८७॥ तद्विनीप्समर्थात्कालाचिनो मृशान्तेति त्वार्थं ठञ् भर्त्तन-दिप्समर्थं तस्य व्यापकं त्वार्थस्य च त्वं ब्रह्मचर्यं चेद् भवति । मासं ब्रह्मचर्यमन्य मासिको ब्रह्मचरी । सन्त्या वृत्तवन्तन्त इति पुनरेऽभिप्रेतः । एवम्, आर्वमासिकः । सार्वमासिकः । “सर्वपुर्वपदान्”

द्वादशवार्षिकः । “ब्रह्मचर्यमित्यस्मिन्नर्थे महानाम्नादिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] । महानाम्नो नाम ऋच । महानाम्नीना ब्रह्मचर्यम्, माहागमिकम् । आदित्यव्रतिकम् । गोदानिकम् । “तच्चरतीति च महानाम्ना-  
दिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] । महानाम्नीभ्ररति माहानामिनः । महानाम्नीसहचरितं व्रत चरतीत्यर्थः । एवम्,  
आदित्यव्रतिकः । गोदानिकः । “अवान्तरदीक्षादिभ्यो ङिन् वक्तव्यः” [वा०] । अवान्तरदीक्षां चरति अवान्तर-  
दीक्षी । देवव्रती । तिलव्रती । “अष्टाचत्वारिंशतो ङुडिनी च वक्तव्यौ” [वा०] । अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि व्रतं  
चरति, अष्टाचत्वारिंशत्कः । अष्टाचत्वारिंशी । “चातुर्मास्यानां यत्र च ङुडिनौ च वक्तव्यौ” [वा०] ।  
चातुर्मास्यानि चरति चातुर्मासिकः । चातुर्मासी । अथ किमिदं चातुर्मास्यानीति ? “चतुर्मासाण्यो यज्ञे  
तत्र भवे वक्तव्यः” [वा०] । चतुर्षु मासेषु भवन्ति चातुर्मास्यानि । “संज्ञायामण् वक्तव्य” [वा०] ।  
चतुर्षु मासेषु भवा पौर्णमासी चातुर्मासी । कार्तिकी । फाल्गुनी । आषाढी चेति । अथ मासोऽस्य ब्रह्मचर्यस्य  
मासिकं ब्रह्मचर्यम् । आर्धमासिकम् । सावत्सरिकमित्यस्य सिद्धये यत्नः कर्तव्यः । न कर्तव्यः । मास भूत  
भावि वा ब्रह्मचर्यं मासिकमिति भविष्यति ।

तस्य दक्षिणा यज्ञाख्यात् ॥३१४८८॥ तस्येति तासमर्थात् यज्ञाख्यान्मृदो दक्षिणेत्यस्मिन्नर्थे  
ठञ् भवति । यज्ञमाचष्टे यज्ञाख्यः । कप्रकरणे उषीति ( सुपि [ ३१२७ ] इति ) योगविभागे  
“भूलविमुजादिभ्यः” [वा०] इति ( वा ) कः । अग्निष्टोमस्य दक्षिणा अग्निष्टोमिकी । “तस्येदम्”  
[ ३१३८ ] इत्यस्याऽणोऽपवादः । एव राजसूयिकी । दासौदनिकी । अकालार्थं चाऽख्यग्रहणम् । अन्यथा  
कालाधिकारात् एकाहद्वादशाहप्रभृतिभ्य एव यज्ञेभ्यः स्यात् । प्राग्वतः संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहण-  
मनुपीति कालावि ( धि ) कारेऽपि द्वादशाहादिष्वस्ति प्राप्तिः ।

तत्र दीयते भववत् ॥३१४८९॥ तत्रेतीप्समर्थात् कालवाचिनो मृदो दीयते इत्यस्मिन्नर्थे भव इव  
त्वविधिवेदितव्य । यथा मासे भव मासिकम् । आर्धमासिकम् । “कालाट्टञ्” [ ३१२१३१ ] इत्येवमादि-  
विधिः । एव मासे दीयते मासिकम् । आर्धमासिकम् । प्रावृषेयम् । हैमनम् । शैशिरम् । वदग्रहणं सर्व-  
साहचर्यम् । इह कार्यग्रहणमपि कर्तव्यम् । मासिकम् । वासन्तम् । हैमनम् । कर्तव्यम्, यन्मासे कार्यं  
तन्मासे भवमित्यपि भवति । ततः “तत्र भवः” [ ३१३२८ ] इत्येव सिद्धम् । रादनुवर्थं तर्हीह कार्यग्रहण  
सार्थकम् । द्वयोर्मासयोः कार्यं द्वैमासिकम् । भवार्थलक्षणस्य ठञः “रस्योवनपत्ये” [ ३११७४ ] इत्युप्  
प्रसूते । नैद सुक्तम् । उवेवात्रेप्यते । यदन्यैरप्युक्तम् । कार्यग्रहणमप्यनर्थकम् । तत्र भवेन कृतत्वादिति ।  
अथापि कार्यमनुपः प्रयोगो दृश्यते । एव तर्हि “तेन कार्य” मियत्र स द्रष्टव्यः । द्वाभ्यां मासा-या कार्यं  
द्वैमासिकम् । “जप्यहभ्यकार्यसुकरम्” [ ३१४१२ ] इति ठञ् । तत्र दीयते इति योगविभागः कर्तव्यः ।  
यज्ञाख्यादित्यनुवर्तते । अग्निष्टोमे दीयते अग्निष्टोमिकमन्त्रम् । राजसूयिकम् । वाजपेयिकम् । द्वयोर्वाजपेय-  
यो दीयते द्वैवाजपेयिकम् ।

व्युष्टादेरण् ॥३१४९०॥ इह कलिभ्य इति नापेक्ष्यते । सामान्येन विधानात् । तत्रेति वर्तते । व्युष्ट  
इत्येवमादि य ईप्समर्थे यो दीयते इत्यस्मिन्नर्थेऽण् भवति । उद्धी विवास इत्यस्य क्ले व्युष्टमिति कालवाचि ।  
व्युष्टे दीयते वैष्टम् । नित्यशब्दादीन्वादिषु वचनाद् भवति । तीर्थ । निष्क्रमण । उपसक्रमण । प्रवेशन ।  
उग्राम । संघात । प्रवास । उपवास । अग्निपदी । पोलुनूल । “अण्प्रकरणे अग्निपदादिभ्य उपसंख्यानम्”  
[ वा० ] न कर्तव्यमिह पाठः ।

तेन यथाकथाचहस्ताभ्यां णयौ ॥३१४९१॥ अत्रापि कालेभ्य इति नापेक्ष ( च्य ) ते । दीयते  
इति वर्तते । तेनेति नहमर्था-या यथाकथाचहस्ताभ्यान्ना दीयत इत्यस्मिन्नर्थे यथाकथं णयौ भवतः । यथा-  
कथा दीयते यथाकथाचम् । कनाददत्तमित्यर्थः । हस्तेन दीयते हस्तम् ।

जय्यलभ्यकार्यसुकरम् ॥३१४।६२॥ कालेभ्य इति वर्तते । तेनेति भासमर्यात् कालवाचिनो मृदो जय्य लभ्य कार्य सुकर इत्येतेष्वर्थेषु ठञ् भवति । मासेन जय्यो मासिको हस्ती । मासेन शक्यते जेतुमित्यर्थः । मासेन लभ्यो मासिकः पटः । मासेन कार्य मासिक गृहम् । मासेन सुक्रो मासिकः प्रासादः ।

सम्पादिनि ॥३१४।६३॥ कालेभ्य इति निवृत्तम् । भासमर्यान्मृदः सम्पादिन्यथे ठञ् भवति । कर्ण-वेष्टाभ्याम्पादि शोभते कार्णवेष्टिक मुखम् । वस्त्रयुगेन सम्पद्यते वाल्ययुगिक शरीरम् ।

कर्मवेषाद्यः ॥३१४।६४॥ तेन सम्पादिनीति च वर्तते । कर्मवेषशब्दाभ्यां यो भवति । ठञोऽपवादः । कर्मणा सम्पद्यते कर्मण्यं शौर्यम् । वेषेण सम्पद्यते वेष्या नर्तकी । नेपथ्येन शोभते इत्यर्थः ।

तस्मै प्रभवति सन्तापादेः ॥३१४।६५॥ तस्मै इति अप्समर्थेभ्यः सन्तापादिभ्यः प्रभवतीत्यसि न्नर्थे ठञ् भवति । अलमर्थेऽप् । सन्तापाय प्रभवति सान्तापिकः । सन्ताप । सन्नाह । संयोग । सग्राम । सम्पराय । सपेक्ष । निष्पेक्ष । निसर्ग । उपसर्ग । विसर्ग । प्रवास । उपवास । संघात । संमोहन । शक्तुमा-सौदनाद् विगृहीतादपि । शाक्तुमासौदनिकम् । शाक्तुकम् । मासिकम् । औदनिकम् ।

योगाद्यश्च ॥३१४।६६॥ तस्मै प्रभवतीति वर्तते । योगशब्दाद्यो भवति ठञ् च । योगाय प्रभवति, योग्यः । यौगिकः ।

कर्मण उक्कञ् ॥३१४।६७॥ तस्मै प्रभवतीति वर्तते । कर्मशब्दादुक्कञ् भवति । कर्मणे प्रभवति कार्मुकं धनुः ।

समयस्तदस्य प्राप्तम् ॥३१४।६८॥ तदिति वासमर्यात्समयादस्येति ताऽर्थे ठञ् भवति यत्तद्वागमयो प्राप्त चेत्तद्भवति । समयः प्राप्तोऽस्य सामयिकम् । प्राप्तकालमित्यर्थः ।

ऋतोरण् ॥३१४।६९॥ ऋतुशब्दात् वासमर्यात्प्रातोपाधिकदस्येति ताऽर्थेऽण् भवति । ऋतुः प्रातोऽस्य, आर्त्तव पुष्पम् । “उपवस्त्रादिभ्य उपसंख्यानम्” [ वा० ] । उपवस्त्रा प्रातोऽस्य औपवस्त्रम् । प्राशिता प्रातोऽस्य प्राशितम् । कर्मनामधेयम् ।

कालाद्यः ॥३१४।१००॥ तदस्य प्राप्तमिति वर्तते । कालशब्दाद्यो भवति । कालः प्रातोऽस्य, काल्य शीतम् । रात्रावुपितायामहरादिः कालोऽपि काल्यः ।

प्रकृष्टे ठः ॥३१४।१०१॥ तदस्येति वर्तते कालादिति च । प्रकृष्टे प्रकर्षं वर्तमानादस्येति ताऽर्थं ठो भवति । प्रकृष्टः दीर्घ कालोऽस्य कालिकम् ऋणम् । कालिक सख्यम् । अन्ये प्रकृष्टे ठनिति पठन्ति । कालिका मैत्री ।

प्रयोजनम् ॥३१४।१०२॥ कालादिति निवृत्तम् । तदस्येति वर्तते । प्रयोजयतीति प्रयोजनम् । नन्या-दिपाठाल्ल्युः । बहुलवचनाद्वा कर्त्तरि युट् । तदिति वासमर्यात्प्रयोजनोपाधिकदस्येति ताऽर्थे टा भवति । अर्हत्पूजाप्रयोजनमस्य आर्हत्पूजिकः । ऐन्द्रमहिक ।

वैशाखापाठपाट्टिकैकागारिकडाकालिकट् ॥३१४।१०३॥ वैशाखादयः शब्दा निपायन्ते । यद-लक्षणेनानुपपन्नं तत्सर्वं निपातनात्सिद्धं तदस्य प्रयोजनमित्यन्विनिवचने । “विशाखापाठाभ्यां ययामभ्य मन्प-द्वण्वोरणिपान्यते ।” विशाखा प्रयोजनमस्य वैशाखो मन्थः । आपातो दण्डः । “पट्टिग्रेण पन्थन्ते ह्यन्वि-न्वाक्ये क. । रात्रिशब्दस्य च खम् ।” पट्टिका नाम ब्रीदम् । अमत्राया वाक्यमेव भवति । पट्टिग्रेण पन्थन्ते सुदृगा इति । “एकागारशब्दात्तदस्य प्रयोजनमित्यन्विनिवचने चौरैऽन्विनेषु टा” । एकागार प्रयोजनमस्य एका-गारिकधोरः । चौरादन्यत्र वाक्यमेव । एकागार प्रयोजनमस्य भिन्नान्ति । अथवा “एक मन्थः, एकागारिक-

तुमिति वाक्ये एक शब्दाणामागारिकहित्यं त्यो निपात्यते । ऐकागारिकश्चौरः । ऐकागारिकी चौरी । समानकालशब्दादाद्यन्तोपाधिविशिष्टादस्येति ताऽर्थे इकङ्निपात्यते समानकालस्य च आकाल आदेशः । समानकालावाद्यन्तावस्य आकालिकः स्तनयितुः । आकालिकी विद्युत् । यस्तु प्रादिलक्षणे से आकाल इष्टः । आवृत्तः काल ईषत्कालो वा आकाल इति । तस्मात् ठञ् च ठञ्चेष्यते । आकालिकी आकालिका विद्युत् ।

छोऽनुप्रवचनादेः ॥३४॥१०४॥ तदस्य प्रयोजनमिति वर्तते । अनुप्रवचनादिभ्यश्छो भवति । ठञोऽपवादः । अनुप्रवचन प्रयोजनमस्य, अनुप्रवचनीयम् । अनुप्रवचन । उत्थापन । उपस्थान । संवेशन । प्रवेशन । अनुवाचन । अनुवचन । अनुपान । अनुवादन । अनुवासन । अन्वारोहण । प्रारोहण । प्रारोहण । आभरण । “विशिष्टरिपादिरुहिप्रकृतेरनात्सपूर्वपदादुपसत्थानम्” [ वा० ] । गृहप्रवेशनीयम् । प्रपापूरणीयम् । अधप्रपदनीयम् । प्रासादरोहणीयम् । एतस्मिन् च वक्तव्ये सति यानि गणे विशयादिप्रवृत्ती-  
त्यनान्तानि पठ्यन्ते तेषां पाठोऽनर्थकः प्रपञ्चाऽर्थो वा ।

समापनात्सादेः ॥३४॥१०५॥ तदस्य प्रयोजनमिति वर्तते । समापनशब्दात्सादेशश्छो भवति । ठञोऽपवादः । जैनेन्द्रसमापन प्रयोजनमस्य जैनेन्द्रसमापनीयम् । तर्कसमापनीयम् । “स्वर्गादिभ्यो यो वक्तव्यः” [ वा० ] । स्वर्गः प्रयोजनमस्य स्वर्ग्यम् । वन्यम् । यशस्यम् । आयुष्यम् । काम्यम् । “पुण्याह-  
वाचनादिभ्य ऽवक्तव्यः” [ वा० ] । पुण्याहवाचनं प्रयोजनमस्य पुण्याहवाचनम् । शान्तिवाचनम् । स्वस्ति-  
वाचनम् । अक्षतपात्रम् । नेद वक्तव्यम् । तादर्थ्यात्ताच्छब्द भविष्यति । अनभिधानादृठञ् भवति । “श्रद्धा-  
दिभ्योऽप् वक्तव्यः” [ वा० ] । भद्रा प्रयोजनमस्य भद्रम् । चूडा प्रयोजनमस्य चौडम् ।

तदहं वत् ॥३४॥१०६॥ अर्हतीत्यर्हः, तदितीप्समर्थाद् अर्हतीत्यर्थे वद् भवति । राजानमर्हति  
राजान ( राजवद् ) वृत्तम् । कुलीनवत् । इह कस्मान् भवति शतमर्हति देवदत्तः । राजानमर्हति मणिः ।  
उत्तरन क्रियाग्रहणं गुणभूतमपि सिद्धान्तलोकेन सम्बध्यते तेन क्रिया यत्रार्हतेः कर्तृत्वेन विवक्षिता तत्राऽयं  
विधिः ।

तेन क्रिया तुल्ये ॥३४॥१०७॥ वदिति वर्तते । क्रिया तुल्या अस्य क्रियातुल्यम् । इच्छातो विशेष-  
णविशेष्यभाव इति क्रियाशब्दस्य पूर्वनिपातः । तेनेति भासमर्थ्यात्क्रियातुल्येऽर्थे वद् भवति । क्षत्रियेण  
तुल्यं गुण्यते क्षत्रियवद्युच्यते । “भाऽनुलोपमाभ्यां तुल्यार्थः” [ १।४।७६ ] इति भा । शिष्येण तुल्यं वर्तते,  
शिष्यवद् वर्तते । अश्ववद्भावति । साधुवद् व्रते । इह कस्मान् भवति । तैलपात्रेण तुल्योऽष्टत पाक इति ?  
इह स्नेहं वर्ध ( द्वयार्थ ) क्रिया सा च साध्या पूर्वापरीभूताऽवयवा, असाध्यभूता च । घञाद्यन्तेन पुनर्व-  
( द्वय ) र्थस व ( ध ) र्म सिद्धतालक्षणे द्रव्यभूत उच्यते इति नास्ति प्राप्तिः । यदि घञाद्यन्तेन क्रिया  
नाभिधीयते कथं भोक्तु पाकं भोजकस्य पाकः इति ? नैव दोषः ? “व्रतं यदि ( वृणुमादि )” [ ३।३।८ ]  
स्नेहं घञाद्यन्तायाः प्रकृतेरर्थः क्रियाऽऽधीयते । क्रियाग्रहणं किमर्थम् ? ब्राह्मणेन तुल्यः पिङ्गलः । गुण-  
तुल्ये मा भूत् ।

तत्रैव ॥३४॥१०८॥ तत्रैतीप्समर्थाद् इवार्थे वद् भवति । मधुरायामिव मधुरावत् सुध्ने प्रासादाः ।  
मधुरवद् रमणीयता । मधुरवद् वर्धति ।

तस्य ॥३४॥१०९॥ इवशब्दोऽनुवर्तते । तस्येति तात्पर्यार्थादिवाये वद् भवति । देवदत्तस्य इव  
देवदत्तस्य नाम् । २१ इव राजवद् देवदत्तत्वात् । वदकरणे ‘साधुसानुक्त्वात्’ [ ३।१।७२ ]

१. “कृतावन्तारत्” इत्यपि पाठः । २ अनुसादि पृ० ।

इत्येष विधिर्न भवति । “भादौ वोक्पुंस्कं पुंवत्” [ १११५३ ] इति निर्देशात् । योगापेक्षं चेदं शापकम् । तेन स्त्रीवदित्यपि सिद्धम् । योगविभाग उत्तरार्थः ।

भावे त्वन्तलौ<sup>१</sup> ॥३१४११०॥ तस्येति वर्तते । तासमर्थ्याद् भावेऽर्थे त्वन् तल इत्येतौ लौ भवतः । नकारः “स्त्रीपुंसान्नुक्त्वात्” [ ३११७२ ] इत्यत्राऽस्यावधिरूपेण ग्रहणं मा भूत् इत्येवमर्थः । लकारस्तत्तन्तः स्थित्यामिति विशेषणार्थः । भावः शब्दप्रत्ययप्रवृत्तिकारणम् । तद्यथा भवतोऽस्मान्छब्दप्रत्ययाविति भाव । उक्तं च “यस्य गुणस्य हि भावाद्द्रव्ये शब्दविनिवेशः, तदभिधाने त्वन्तलौ” [ पा० महा० ५।१।११९ ] इति । इह गुण इति विशेषणमात्रम्, द्रव्यमिति विशेष्यमात्रम् इष्टम् । अश्वस्य भावः, अश्वत्वम् । अश्वता । शुक्लत्वम् । शुक्लता । अत्र जातिगुणयोरभिधाने त्वन्तलौ । सम्बन्धस्तु गम्यो नाभिधेयः । इह पाचकत्वमिति क्रियाऽभिधाने । अथवा सम्बन्धप्रधानाः । सम्बन्धे चाभिधेये त्वन्तलौ । कारकत्वम् । औपगवत्वम् । राजपुरुषत्वमिति । एतेऽपि ये जातिगुणशब्दाः, तेभ्यो जातिगुणस्य चाभिधाने । कुम्भकारत्वम् । हस्तित्वम् । राजवृद्धत्वम् । ये गुणमात्रवचना रूपं रसो गन्ध इति, तेभ्यः सामान्याभिधाने रूपत्वम्, रसत्वम् । उपचारशब्देपूपचारनिमित्तेऽभिधेये गोत्व वाहीकस्य । अग्नित्वं माणवकस्य । पृथक्त्व नानात्वमित्येवमादौ असत्त्वभूतत्वेऽपि शब्दान्तरेण तासमर्थता पृथगित्यस्य भाव इति । यदृच्छा-शब्देषु डित्यादिषु संज्ञासम्बन्धाभिधाने सर्वावस्थाव्याप्याकृतिसामान्याभिधाने च डित्यत्वम् । उक्ते-पणादिषु सामान्येऽभिधेये उक्तेपणात्वम् ।

आ च त्वात् ॥३१४१११॥ वक्ष्यति “ब्रह्मणस्त्वः” [ ३१४१२६ ] इति । आ एतस्मात् त संशब्दानादयदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्त्वन्तलौ तत्राऽधिकृतौ वेदितव्यौ । अपवादविषये समावेशार्थं कर्मणि च विधानार्थमेव तावधिक्रियेते । वक्ष्यति “पृथ्वादेर्वेमन्” [ ३१४११२ ] प्रथिमा । पृथुता । ननु वावचनात् त्वन्तलौ स्वयमेव भविष्यतः ? नैतदेवम्, “व्यादेरिकः” [ ३१४१२१ ] इत्येवमादिसमावेशार्थं तद् वावचनम् । चकारकरणं किमर्थम् ? “स्त्रीपुंसान्नुक्त्वात्” [ ३११७२ ] इत्यस्मिन्नापि विषये प्रापणार्थम् । स्त्रीत्वम् । स्त्रीता । पुस्त्वम् । पुस्ता । प्राक्त्वादिति मर्यादाकरणसामर्थ्यादपि सिद्धः । स्त्रिया भावः स्त्रैणम् । पौत्नम् ।

पृथ्वादेर्वेमन् ॥३१४११२॥ पृथु इत्येवमादिभ्यो वा इमन् भवति तस्य भाव इत्यस्मिन्विषये । वावचनं “व्यादेरिकः” [ ३१४१२१ ] इत्यस्याः, गुणवचनेभ्यश्चणः, वयोवाचिभ्यस्तलः समावेशार्थम् । पृथोर्भावः, प्रथिमा, पार्थवम्, पृथुत्वम्, पृथुता । पृथु । मृदु । महि । पटु । तनु । लघु । बहु । आयु । ऊरु । बहुल । दण्ड । खण्ड । चण्ड । अकिञ्चन । बाल । होड । पाक । वत्स । मन्द । स्वादु । शूरा । वृष । ह्रस्व । दीर्घ । क्षिप्र । क्षुद्र । प्रिय ।

घर्णदृढादेष्ट्यण् च ॥३१४११३॥ वर्णशब्देन वर्णविशेषा गुणोपसर्जने द्रव्ये ये वर्तन्ते, तेषामिः ग्रहणम् । तादृशैरेव दृढादिभिर्गुणवचनैः सादृचर्याद् वर्णविशेषवाचिभ्यो दृढादिद्यश्च ट्यण् भाति इमंश्च वा तस्य भाव इत्यस्मिन्विषये । शुक्लस्य भावः शौक्यम्, शुक्लिमा, शुक्लत्वम्, शुक्लता । काशर्यम् । कृष्णिमा । शैत्यम्, शितिमा, शितित्वम् । विमापाऽनुकुर्यादनु(ण)पि भवति । शतम् । दृढादिभ्यः । दृढस्य भावः, दाढ्यम्, द्रढिमा, दृढत्वम्, दृढता । दृढशब्दस्य लुच्चादिषु अनिट्च ट्यण् च निपात्यते । दृढ । वृढ । परिवृढ । दृश । भृश । लुक् । अश्ल । लवण । “वेर्यान्तश्चावरममविमनःशारङ्गानाम्”

१. त्वन्तलौ अ०, पृ० । २. त्वन् अ०, पृ० । ३. -द्वनिवेशः पा० म० । ४. त्वन्तलौ पा० महा० । त्वन्तलौ अ०, पृ० । ५. त्वन्तलौ अ०, पृ० ।

[ग० सू०] वैयात्यम् । वैलात्यम् । वैरस्यम् । । वैशारद्यम् । “समो मतिमनसोः” [ग० सू०] । साम्मत्यम् । साम्मनस्यम् । शीत । उष्ण । जड । बधिर । मूक । मूर्ख । पण्डित । मधुर इति । किमर्थमिदमुच्यते ? एषा गुणोक्तिर्ब्राह्मणादिभ्यः” [३।४।११४] इत्येव दृष्ट्वा सिद्धः इमप्राप्त्यर्थम् । एतत् दृष्ट्वाग्रहणमुत्तरनाऽवश्यकर्तव्यमिहैव कृतम् ।

गुणोक्तिर्ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ॥३।४।११४॥ गुणोक्तिभ्यः शब्देभ्यो ब्राह्मणादिभ्यश्च तासमर्थेभ्यश्च भवति कर्मणि भावे चाभिधेये । उच्यते इत्युक्तिः, गुण उक्तिर्यस्य स गुणोक्तिः । प्राग्गुणमुक्त्वा गुणद्वारेण द्रव्ये यो वर्तते इत्यर्थः । जडस्य कर्म भावो जाड्यम् । मोढ्यम् । ब्राह्मणादिराकृतिगणः । आदिशब्दस्य प्रकारवाचितात् । एव च गुणोक्तिग्रहणं गणे च ब्राह्मणादीनामनुक्रमणं स्वार्थेऽपि भवतीति प्रपञ्चार्थम्, बाधकबाधनार्थं च । ब्राह्मणस्य कर्म भावो वा ब्राह्मण्यम् । वाडव्यम् । ब्राह्मणात् प्राणिजातिलक्षणेऽञ् प्राप्तः । माणव वाडव वृद्धलक्षणे बुञ् प्राप्तः । “अर्हतो नुम्ब” [ घा० ] नुमर्थः पाठः । चोर । धूर्त । मनोहादित्वाद् बुञ् प्राप्तः । आराव(ध)य । विराव(ध)य । उपराव(ध)य । अपराव(ध)य । एते “उपचोलादेः” [३।१।१२६] इत्युवन्ताः । ततो वृद्धलक्षणे बुञ् प्राप्तः । प्राणिजातिलक्षणे वाऽञ् । एकभाव । द्विभाव । त्रिभाव । अन्यभाव । एतेभ्यः स्वार्थे । अद्भेजज्ञनञ् पूर्वार्थे ग्रहणम् । संवादिन् । सवेशिन् । सभाषिन् । बहुभाषिन् । शीर्षघातिन् । समस्य । परस्य । प्रस्थ<sup>१</sup> । आव्यस्य । विषमस्य । विशाल । एवं नञ्पूर्वार्थे ग्रहणम् । अनीधर नञ्पूर्वार्थपाठः । कुशल । चपल । निपुण । पिशुन । एभ्यो युवादित्वादर्ण प्राप्तः । वालित ( श ) बालवयोवाधि ( चि )त्वादञ् प्राप्तः । अलस । वसो<sup>२</sup>यम् । इष । रुष । कापुरुष । अनयोर्नञ्पूर्वार्थम् । राजन्पुरोहितादित्वात्णयः प्राप्तः । गणपति । अधिपति । पत्यन्तलक्षणे ण्यः प्राप्तः । गण्डुल । दायाद । विशालि । विशाप । विधान । निघात । एभ्यस्तत्तलोर्निवृत्त्यर्थम् । “सर्ववेदादिभ्यः स्वाधे” [ वा० ] । सार्ववैद्यम् । सार्वलौक्यम् । धानुर्वैद्यम् । अनुशतिकादित्वादुभयत्रैप् । त्रैलोक्यम् । चातुर्वैद्यम् । “वीरात्तेजसि यः” [ वा० ] । वीरस्य तेजः वीर्यम् । “विरोधेऽण् वक्तव्यः” [ वा० ] । वैरम् । द्युष्टिक्करण इत्यर्थम् । आचिती । समग्री । “हृष्टो हृष्टो ह्याम्” [ ४।४।१४० ] इति यत्नम् ।

नञ्स्तेचतुरसंगततत्त ( व ) एवडबुधकतरत्तलसेभ्यः ॥३।४।११५॥ प्रतिपदोक्ते नञ्स्ते कृते चतुर संगत लक्षण ( लवण ) वड बुध कत रस लस इत्येतेभ्य एव भावकर्माभिधायिनस्त्वा भवन्ति । ननु ग्रहणवद् यो विहिताः कथं तदन्तेभ्यः प्राप्नुवन्ति ? येनाय नियम उच्यते । ब्राह्मणादेराकृतिगणत्वात्तन्पूर्वादपि ण् ( द्युष्ट् ) प्राप्नोति । पत्यन्ताद्विहितो ण्यः, हायनान्तादर्ण, योङो बुञ् पूर्वार्थे प्राप्नोति । न चतुर अचतुरः, तस्य भावः कर्म वा आचतुर्व्यम् । आसगत्यम् । आलवण्यम् । आबर्ह्यम् । आहृष्यम् । आकल्यम् । आरल्यम् । आलस्यम् । एतेभ्य एव नञ्स्ते कृते यथा त्युर्नान्येभ्य इति । अपटुल्यम् । अपटुता । अपतिलम् । अपतिता । ( अ ) हायनल्यम् । ( ल ) चलोर्नियमानिर्गृहीतं भवति, आ चत्वादिति वचनात् । प्रतिपदग्रहण किमर्थम्, नन्पूर्वाद् वसात् भाववचनो यः प्राप्नोति स भवत्येव । न विपते पटुरस्य, अपटुः, अपयोर्भावः आपटवम् । अपतेर्भावः आपत्यम् । आहायनम् । आरम्भीपकम् । अय यत् नञ्स्त्व दृष्ट्वात्तेरैकमेव वाक्यं तत् कथं भवितव्यम् न पयोर्भाव इति ? दृष्ट्वा प्राग्भविष्य पक्षान्तरः । अपटवमिति । न कर्णवेष्टाभ्यासपादिमुखम् अकारणवेष्टिकम् । चत्वादिविधानपक्षान्तरः । पक्षान् भावे त्यः । न चतुरस्य भाव आचतुर्व्यम् ।



स्तेयसख्ये ॥३।४।११६॥ स्तेय सख्य इत्येते शब्दरूपे निपात्येते, स्तेनशब्दात्तासमर्थात् भाव-  
कर्मणोर्यः, नशब्दस्य च ख निपात्यते । स्तेनस्य भावः कर्म वा स्तेयम् । यण् ( ट्यण् ) चात्रेभ्यते ।  
स्तैन्यम् । सखिशब्दाद् भावकर्मणोर्यः । सख्युर्भावः कर्म वा सख्यम् । “दूतवणिग्भ्यां यो वक्तव्यः” [वा०]  
दूतस्य भावः कर्म वा दूत्या । वणिज्या ।

कपिज्ञातेर्दञ् ॥३।४।११७॥ कपि-ज्ञातिशब्दाभ्यां तासमर्थाभ्यां ढञ् भवति भावे कर्मणि  
चाभिधेये । कपेर्भावः कर्म वा कपेयम् । इगन्तत्वाद्दण् प्राप्तः । ज्ञातेर्भावः कर्म वा ज्ञातेयम् । प्राणि-  
जातित्वाद्दञ् प्राप्तः । तत्तलावपि भवतः । कपित्वम् । कपिता । ज्ञातित्वम् । ज्ञातिता ।

पत्यन्तपुरोहितादेश्यः ॥३।४।११८॥ पत्यन्तात्पुरोहितादेश्च णो भवति । तस्य भावे कर्मणि  
चेति वर्तते । बृहस्पतेर्भावः कर्म वा, बार्हस्पत्यम् । सैनापत्यम् । इगन्तत्वाद्दण् प्राप्तः । पुरोहितादिभ्यः ।  
पुरोहितस्य भावः कर्म वा पौरोहित्यम् । राज्यम् । पुरोहित । “राजज्ञसे” [ग० सू०] । अस इति किम् ?  
सौराज्यम् । ब्राह्मणादिवाट्दण् । ग्रामिक । खण्डिक । दण्डिक । कर्मिक । वास्तिक । शिलिक । सूचिक ।  
अञ्जलिक । छत्रिक । वर्षिक । प्रतिक । सारथिक । साजनिक । आजनिक । साराज्ञस्त्वक । ब्राह्मणादे  
राकृतिगणत्वाट्दण्यणि सिद्धे स्त्रिया टात्रर्थे वचनम् ।

वयोवाक्प्राणिजात्युद्गात्रादिभ्योऽञ् ॥ ३।४।११९ ॥ वयसो वाग्भ्यः प्राणिजातिवानिभ्य  
उद्गात्रादिभ्यश्चाञ् भवति । तस्य भावे कर्मणि चेति वर्तते । कुमारस्य भावः कर्म वा, कौमारम् । कैशारम् ।  
कालभम् । प्राणिजातिभ्यः । आश्वम् । औष्ट्रम् । माहिपम् । उद्गातुर्भावः कर्म वा, औद्गात्रम् । उद्गातृ ।  
उन्नेतृ । प्रतिहन्तृ । प्रशास्तृ । होतृ । भर्तृ । रथगणक । पङ्क्तिगणक । सुष्ठु । दुष्ठु । अन्धयु ।  
वधू ।

हायनान्तयुवादिभ्योऽण् ॥३।४।१२०॥ हायनान्तेभ्यो युवादिभ्यश्चाण् भवति । तस्य भा ।  
कर्मणि चेति वर्तते । अवयोवाचित्वे हायनान्ताः प्रयोजयन्ति । द्विहायनस्य युवादेर्भावः कर्म वा, द्वेहायनम् ।  
त्रैहायनम् । युवादिभ्यः—यूनो भावः कर्म वा यौवनम् । मनोज्ञादिवाट् बुञ् प्राप्तः; अनेनाण् । “जन<sup>३</sup>  
अणि” [३।४।१२८] इति टिलप्रतिषेधः । पूर्वे सूत्रे यत्रण्ग्रहणं क्रियेत हस्तिनो भावः कर्म वा हास्त  
मित्यत्र “प्रायोऽनपत्येऽणीनः” [३।४।१५५] इति टिलप्रतिषेधः प्रसज्येत । मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि,  
युवतेर्भावः “भस्य दृष्ट्ये” [वा०] इति पुवद्भावे कृते यौवनम् । युवन् । यजमान । “पुरुषादसे” [ग० सू०]  
अस इति किम् ? राक्षसौषध्यम् । अपुरुषत्वम् । कर्तृ । ऋत्विक् । कन्दुक । श्रवण । कुस्त्री । दुःस्त्री ।  
सुस्त्री । सुहृदय । सुहृत् । दुहृत् । सुभ्रातृ । दुभ्रातृ । वृषल । परिव्राजक । सन्न्याचारिन् । अन्तराश ।  
“हृदयादसे” [ग० सू०] अस इति किम् ? अहृदयत्वम् । चपल । निपुण । पिशुन । कुतूहल । जेत्रज्ञ । भो  
त्रियस्य भावः कर्म वा श्रोत्रम् । उद्गात्रादिरत्रैव पठितव्य इति चेत्, न; अस्याऽनित्यत्वात् । तेनानृशत्वमिति  
सिद्धम् ।

ध्यादेरिकः ॥३।४।१२१॥ ध्यादिग्रहणमिको विशेषणम् । धि आदिर्यन्येक स ध्यादिः, ध्यादिर्  
हक् तदन्तान्मृदोऽण् भवति । तस्य भावकर्मणोरिति वर्तते । शुचेर्भावः कर्म वा शौचम् । नागरज्जि ।  
नाखरज्जनम् । हरीतकी । हरीतकम् । पृथु । पार्थवम् । वधू । वाधनम् । पितृ । पत्रम् । यादिग्रहणं  
मृत्सुदायस्य विशेषणमित्यन्ये । व्यादेर्नृद इगन्तात् । कृशानु । कार्शानवम् । प्रतितृ । प्रतितृति ।

१. वस्तिक अ०, प० । २. प्रमातृ अ० । ३ सूत्रम् “जन.” इत्येव । अणोर्यनुवृत्त्यनिपातेण  
“जनः अणि” इति ।

इह ( विश्व ) ना च विनरौ । चित्रे ( विनु ) भावः कर्म वा परत्वाद्वन्द्वलक्षणो बुज् । चैत्र ( वैत्र )-  
कमिति । कथं काव्यम् ? कविशब्दो ब्राह्मणादिषु पठनीयः । ध्यादेरिति किम् ? पाण्डुत्वम् । पाण्डुता । इह  
इति किम् ? वकुलत्वम् ।

योडो रूपोत्तमाद् बुज् ॥३१४१२२॥ त्रिप्रभृतीनामन्त्यम् उत्तमम्, उत्तमस्य समीपमुत्तमम्,  
रूपोत्तमं यस्य मृदोः, तद्रूपोत्तमम् । योडो मृदो रूपोत्तमाद् बुज् भवति । तस्य भावकर्मणोरिति वर्तते ।  
रमणीयस्य भावः कर्म वा, रमणीयकम् । ओपाध्यायकम् । योड इति किम् ? कापोतम् । रूपोत्तमादिति  
किम् ? क्षानियम् । कुवलयत्वम् । रूपान्त्यादिति वक्तव्ये उत्तमग्रहणं त्रिप्रभृतीनामन्त्या परिग्रहार्थम् ।  
तेनेह न भवति । कायत्वम्, कायता । कथं ज्ञायते तमशब्दोऽयमातिशयिकः । अयमेतेषामतिशयेन  
उद्गततम इति, “सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टम्” [१३१५६] इति निपातनात् । “किमेभिर्भूक्त्यादामद्रव्ये”  
[४१२१२०] इति आन्तं भवति । अव्युत्पन्नं वा मृद्रूपम् । त्रिप्रभृत्यन्तवाचि द्युपोत्तमादिति सिद्धे  
रग्रहणमनेकद्वयवधानेऽपि प्रापणार्थम् । आचार्यकम् इति । “सहायाद्वेति वक्तव्यम्” [वा०] । साहाय-  
कम् । साहाय्यम् ।

द्वन्द्वमनोज्ञादेः ॥३१४१२३॥ द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च बुज् भवति । तस्य भावकर्मणोरिति वर्तते ।  
कुरुकाशीना भावः कर्म वा कौरुकाशिका । भारतवाहुवलिता । श्रैपालवसुपालिका । मनोज्ञादिभ्यः । मनोज्ञस्य  
भावः कर्म वा, मनोज्ञः । प्रियरूप । आदो ( अभि ) रूप । कल्याण । मेधाविन् । आद्य ( द्य ) । सुकुमार ।  
कुलपुत्र । छान्दस । छात्र । श्रोत्रिय । चौर । धूर्त । वैश्वदेव । युवन् । यौवनिका । “प्रकृत्याऽके राजन्य-  
मनुष्ययुवानः” [वा०] इति प्रकृतिभावः । ग्रामपुत्र । ग्रामखण्ड । ग्रामकुमार । अमुष्यपुत्र । अमुष्यकुल ।  
शरपुत्र । गोत्र ।

वृद्धचरणच्छ्लाघाऽत्याकारावेते ॥३१४१२४॥ वृद्धवाचिनश्चरणवाचिनश्च मृदो बुज् भवति  
भावकर्मणोरर्थयोः श्लाघादिषु विषयभूतेषु द्योत्येषु वा । श्लाघो विकत्यन् स्मय इत्यर्थः । अत्याकारः परावि-  
( धि ) क्षेपः । अवेतः अवगतः । गार्गिकया श्लाघते । गार्गिकया अत्याकुरुते । गार्गिकामवेतः । चरणात् ।  
काठिकया श्लाघते । काठिकया अत्याकुरुते । काठिकामवेतः । श्लाघादिष्विति किम् ? काष्ठेन प्रसिद्धः ।  
प्राणिजातिलक्षणेऽज् ।

होत्राभ्यश्लुः ॥३१४१२५॥ होत्राशब्दः ऋत्विजा वाचकः । बहुलनिदेशः स्वरूपनिरासार्थः । होत्राभ्य  
ऋत्विग्विशेषवाचिभ्यः शब्देभ्यश्छो भवति भावकर्मणोरर्थयोः । अच्छ्लावाकस्य भावः कर्म वा, आच्छ्लावाकीयम् ।  
मैत्रावरुणीयम् । ब्राह्मणाच्छ्लसीयम् । अच्छ्लावावत्वम् । अच्छ्लावाकता । अथवा होत्रा कठः । अच्छ्लावाकशब्द-  
सहचरिता ऋक् अच्छ्लावाक् । मैत्रावरुणीशब्दसहचर्याद् मैत्रावरुणी । ब्राह्मणाच्छ्लसिहचरिता ऋक्  
ब्राह्मणाच्छ्लसी । “होत्राशा स्वायें को (छो) वक्तव्यः” [वा०] । होत्रैव होत्रीयः ।

ब्रह्मणस्त्वः ॥३१४१२६॥ ब्रह्मणश्चात् होत्रावाचिनस्त्वो भवति भावकर्मणोरर्थयोः । ब्रह्मणो भावः  
कर्म वा ब्रह्मणः । पुनराश्रमः तलादिनिवृत्त्यर्थः । यस्तु जातिवाची ब्रह्मणश्चः ब्राह्मणपर्यायः, ततस्त्वतलौ  
भवतः । ब्रह्मणम् । ब्रह्मणः ।

धान्यप्ररोहणे खन् ॥३१४१२७॥ भावकर्मग्रहणं निवृत्तम् । तस्येति वर्तते । प्रकर्षेण रोहन्ति  
धान्यान्स्निग्धं प्ररोहणं क्षेममित्यर्थः । धान्यविशेषवाचिभ्यः प्ररोहणेऽभिधेये खन् भवति । प्रियङ्गवा प्ररो-  
हणं देव प्रेङ्गनीयम् । मोद्गीनम् । गोधूमीनम् । धान्यानामिति किम् ? वृणानां प्ररोहणं चत्वरम् । प्रग्रहणं

किम् ? रोहणमित्युच्यमाने मुद्गानां रोहणः कुशूल इत्यत्रापि प्राप्नोति । प्रग्रहणे पुन सति प्रकर्षेण रोहत्-  
स्मिन् प्ररोहणं केदारादि क्षेत्रमित्युक्तं भवति ।

ब्रीहिशालेढञ् ॥३।४।१२८॥ ब्रीहिशालिशब्दाभ्यां तासमर्थाभ्यां प्ररोहणेऽर्थे ढञ् भवति । खञोऽ-  
पवादः । ब्रीहीणां प्ररोहणं क्षेत्रं ब्रैह्यम् । शालेयम् ।

यवयवकषष्टिकाद्यः ॥३।४।१२९॥ यवादिभ्यस्तासमर्थेभ्यः प्ररोहणेऽर्थे खञ् भवति यश्च ।  
उमाभङ्गयोरधान्यत्वेऽपि वचनाद्भवति । धान्यानि लोके प्रसिद्धानि मुद्गादीनि । “यवाश्च मे तिलाश्च” इत्यादौ  
पठितानीत्यपरे । तिलानां प्ररोहणं तैलीनम्, तिल्यम् । माषीणम् । माष्यम् । औमीनम्, उभ्यम् । भाङ्गीनम्,  
भङ्गीयम् । आणवीनम्, आणव्यम् ।

सर्वचर्मणः कृतः खश्च ॥३।४।१३०॥ कृतशब्द कर्मणि । तदपेक्षया तासमर्था प्रकृतिः ।  
सर्वचर्मशब्दात् कृत इत्यस्मिन्नर्थे खो भवति खञ् च । सर्वचर्मणा कृतः सर्वचर्मणः, सार्वचर्मणः ।  
यद्येव सर्वशब्दस्य कृत इति त्वार्थमपेक्षमाणस्य चर्मणा सह सो न प्राप्नोति । अतएव निपातनाद् भवति ।

यथामुखसम्मुखस्य दर्शनः खः ॥३।४।१३१॥ दृश्यतेऽस्मिन्निति दर्शनो दर्पणादिः ।  
यथामुखसम्मुखशब्दाभ्यां तासमर्थाभ्यां दर्शन इत्यस्मिन्नर्थे खो भवति । मुखस्य सदृशोऽर्थो यथामुखम् ।  
अतएव निपातनात् “असादृश्ये” [ १।३।६ ] इति ह्रस्वप्रतिषेधो न भवति । सम मुखस्य प्रतिबिम्बस्य  
सम्मुखम् । सम वा मुखम्, सम्मुखम् । निपातनात्समशब्दान्तखम् । यथामुख दर्शनः, यथामुखीनः ।  
सम्मुखस्य दर्शनः सम्मुखीनः । कर्मणि ता ।

पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रमाप्नोति सर्वादे ॥३।४।१३२॥ निर्देशात्समर्थविभक्त्युपादानम् । पथिन्  
अङ्गं कर्मन् पत्र पात्र इत्येवमन्तात् सर्वशब्दादेर्मृद इप्समर्थादाप्नोतीत्यस्मिन्नर्थे खो भवति । सर्वपथानाप्नोति  
सर्वपथीनमुदकम् । सान्तस्तद्ग्रहणेन गृह्यते । सर्वाङ्गीणः पटः । सर्वकर्माणः पुरुषः । सर्वपत्रीणः सारथिः ।  
सर्वपात्रीणः ओदनः । सर्वादिरिति किम् ? पन्थानमाप्नोति ।

आप्रपदम् ॥३।४।१३३॥ आप्रपदशब्दादाप्नोतीत्यस्मिन्नर्थे खो भवति । प्रवृद्ध पद प्रपदम् ।  
पदस्थोपरि गुल्फ, पदाग्रं वा । आ प्रपदादाप्रपदम् । “पर्यपाड्वहिरिच्छवः कया” [ १।३।१० ] इति  
ह्रस्वः । क्रियाविशेषणमिदं वान्तम् । ततो वचनात्थः । आप्रपदमाप्नोति आप्रपदीनः कम्बलः ।

सर्वाङ्गीनानुपदीनायानयोनागवीनाद्यश्वीनाः ॥३।४।१३४॥ सर्वाङ्गीन, अनुपदीन, अयानयोन  
आगवीन, अश्वीन इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । सर्वाङ्गशब्दादिवन्ताद् भक्षयतीत्यस्मिन्नर्थे खो निपात्यन्ते ।  
सर्वाङ्गानि भक्षयति सर्वाङ्गीनो भिक्षुः । पदसदृशमनुपदम्, यथार्थं ह्रस्वः । अनुपदशब्दाद् वान्ताद्बद्वेभ्य-  
स्मिन्नर्थे खः । अनुपद वद्धा अनुपदीना उपान्त । पदप्रमाणेत्यर्थः । अय. प्रदक्षिणम्, अनय प्रसवम् ।  
प्रदक्षिणसप्रसव्यमागामिना यस्मिन् परे. पदानामसमावेशः सोऽवानयः । अयादप्रवृत्तोऽनयः, अयानयः ।  
मयूरव्यसर्कादत्वात् [ १।३।६६ ] सविधिः । अयानयशब्दादिवन्ताद् नेय इत्यस्मिन्नर्थे खः । अयानय  
नेयः शारोऽयानयीनः । स्वस्वादिधि फलकशिरोगत इत्यर्थः । गारापूर्वादागोः प्रतिदानाकर्म करणीय  
स्मिन्नर्थे खः । आगवीनः कमकरः । यो गवा भूत. कर्म करोति आ तस्य गो. प्रत्यर्पणात् एवमुच्यते ।  
अश्वीन. शब्दादासन्ने । वजनन स्वा निपात्यते । अय श्वो वा विजनिष्ये अयश्वीना गो. । अयश्वीना वज्रा ।  
केचिद् विजनन इति विशेषणं नेच्छन्ति । आसन्मात्रे निपात्यन्ति । अयश्वीनो विजोग । अयश्वीन  
मरणम् ।

परोवरपरम्परपुत्रपौत्रमनुभवति ॥३१४१३५॥ निर्देशादेव समर्थविभक्त्युपादानम् । परोवर-  
परम्पर पुत्रपौत्र इत्येतेभ्य इप्समर्थेभ्योऽनुभवतीत्यस्मिन्नर्थे खो भवति । पराँश्च अवराँश्च अनुभवति परोव-  
रीणः । त्यसन्नियोगे परोवरभावो निपात्यते । पराँश्च परतराँश्च अनुभवति परम्परीणः । त्यसन्नियोगे पर-  
परतरयोः परम्परभावः । कथं मन्त्रिपरम्परा मन्त्र भिनत्तीति प्रयोगः । शब्दान्तरमप्यस्ति । पुत्रपौत्राननु-  
भवति पुत्रपौत्रीणः ।

अवारपारात्यन्तानुकामंगामी ॥३१४१३६॥ अवारपार अत्यन्त अनुकाम इत्येतेभ्य इप्समर्थेभ्यो  
गामीत्यस्मिन्नर्थे खो भवति । गमिष्यतीति गामी । “आवश्यकाऽधमर्थयोगिन्” [ २।३।१४६ ] इति आव-  
श्यकार्थे णिन् । वर्त्यत्कालभावस्य “गम्यादिवर्त्यति” [ २।३।१ ] इति वचनात् । अवारपार गामी  
अवारपारीणः पोतः । विगृहीतादपि भवति । अवारीणः । पारीणः । “विपरीताच्चेति वक्तव्यम्” [ वा० ]  
पारावारीणः । अतएव निपातनात्पारस्य वा पूर्वनिपातः । अन्तस्याभावोऽत्यन्तम् । “म्” [ १।३।५ ] इति  
अर्थाभावे हसः । अथवा अन्तमतिक्रान्तः अत्यन्तः । “तिक्रुपादयः” [ १।३।८१ ] इति षस । हसपक्षे  
वान्तादपि वचनात्कः । अत्यन्त गामी अत्यन्तीनः । कामस्याऽनुरूपमनुकामम् । यथार्थे हसः । अनुगतो  
वा कामः, अनुकाम । अनुकाम गामी अनुकामीन ।

समां समां विजायते ॥३१४१३७॥ समा सवत्सरः । तदेकदेशे समाशब्द उपचरितः । विजनन-  
क्रियायाऽवश्याविच्छेदात् “कालाध्वन्यविच्छेदे” [ १।४।४ ] इतीप् । वीप्साया द्वित्वम् । समा समा शब्दा-  
द्विजायते इत्यस्मिन्नर्थे खो भवति । मृदवि (धि) कारेऽपि सुबन्तसमुदायाद् वचनात्कः । समा समा विजायते  
समासमीना गौः । समासमीना वडवा । ते कृते “सुपो धुमृदोः” [ १।४।१४२ ] इति सुप उप । पूर्वपदे  
सुपोऽनुबन्धव्यः । यदा सवत्सरे समाशब्दः प्रवर्तते तदा समाया समायामिति विग्रहेऽपि समासमीना गौ ।  
त्यविषये पूर्वपदस्य समा भावो निपात्यते, उत्तरपदस्य च पादः खम् । परिशिष्टस्य तु सुपः “सुपो धुमृदोः”  
[ १।४।१४२ ] इत्युप् ।

अनुग्वलंगामी ॥३१४१३८॥ अनुग्विति क्रियाविशेषणम् । अनुगुशब्दात् अलङ्गामी इत्येतस्मि-  
न्नर्थे खो भवति । गवा पश्चात् अनुगु । पश्चादर्थे हसः । अनुगु अलङ्गच्छति अनुगवीन ।

यखावध्वनः ॥३१४१३९॥ इवत्र समर्था सभवति अध्वशब्दादिऽसमर्थादलङ्गामीत्यस्मिन्नर्थे यखौ  
त्यौ भवतः । अध्वानमलङ्गच्छति अध्वन्य, अध्वनीनः यदा यस्तदा “येऽडौ” [ ४।४।१५६ ] इति टिक्प्रति-  
षेधः । अन्यत्र “खेऽध्वनः” [ ४।४।१६० ] इति टिक्भावः ।

लुष्टाऽभ्यमित्रात् ॥३१४१४०॥ अभित्रमभि अभ्यमित्रम् । “वीप्सेत्यभूतलक्षणेऽभिनेप”  
[ १।४।११ ] इतीप् “लुष्टेणेनाभिमुख्येऽभिप्रतो” [ १।३।११ ] इति हसः । क्रियाविशेषणमेतत् । अभ्यमित्र-  
शब्दाद् वासमर्थादलङ्गामीत्यस्मिन्नर्थे खो भवति यखौ च । अभ्यमित्रमलङ्गच्छति, अभ्यमित्रवीयः, अभ्य-  
मित्यः, अभ्यमित्राण ।

गौष्टीनाश्वीनकौपीनशालीनघ्रातीनसाप्तपदीनहैयङ्गवीनम् ॥३१४१४१॥ गौष्टीनादयः शब्दा  
निपात्यन्ते । गावस्तिष्ठन्त्यस्तिजिति गोष्टः । “सुपि” [ २।२।७ ] “स्प. १ कः” [ २।२।८ ] इति क । गोष्ट-  
शब्दाद् भूतपूर्वोपाधिकाद् स्वार्थे खञ् निपात्यते । गोष्टो भूतपूर्वो गौष्टीनो देशः । चरतोऽपवादः । अश्व-

शब्दात् तासमर्थादेकाहगम इत्यस्मिन्नर्थे खञ् । गम्यते गमः । एकमहः, एकाह । एकाहेन गमः, एकाह-  
गमः । “साधनं कृता” [१।३।२६] इति सः । अश्वस्य एकाहगम आश्वीनोऽत्वा । आश्वीनानि पञ्चदश-  
योजनानि । कृपावतरणशब्दादिप्समर्थादर्हतीत्यस्मिन्नर्थे खञ् छुञ् च निपात्यतेऽङ्गायेंऽभिधेये । कृपावतरण-  
महति कौपीन पापम् । करोतिः क्रियासामान्येन वर्तते । तेनाऽद्रष्टव्यमप्यकार्यम् । कौपीनमिन्द्रियम् । तात्प्याद्  
वल्लमपि । शालाप्रवेशशब्दादिप्समर्थादर्हतीत्यस्मिन्नर्थे खञ् निपात्यते छुञ् चाष्टेऽभिधेये । शालाप्रवेश-  
महति शालीनः । अप्रगल्भ इत्यर्थः । व्रातकर्मशब्दाद् भासमर्थाज्जीवतीत्यस्मिन्नर्थे खञ् छुञ् च । नाना-  
जातीया अनियतवृत्तय उत्सेधजीविनः सघा व्राताः । उत्सेधः शरीरम्, तदायासेन ये जीवन्ति ते उत्सेध-  
जीविनः । व्रातकर्मणा जीवति व्रातीनः । तेषामेव व्रातानामन्यतमो यस्त्वन्यो व्रातकर्मणा भारोद्वहनेन  
जीवति स व्रातीन इति नेष्यते । सप्तपदशब्दाद् भासमर्थाज्वाप्यते इत्यस्मिन्नर्थे खञ् निपात्यते सरयेऽभिधेये ।  
सप्तभिः पदैरवाप्यते साप्तपदीन सख्यम् । कथं साप्तपदीन मित्रमिति सामानाधिकरण्यात् ? अर्शआदिपाठाद्  
कारो मत्वर्थयो द्रष्टव्यः । ह्योगोदोहशब्दान्तासमर्थाद्विकार इत्यस्मिन्नर्थे खञ् निपात्यते प्रकृतेरच हियन्तु  
भावः । संजाया ह्योगोदोहस्य विकारः हैयङ्गवीनम् । अभिनववृत्तस्य संज्ञैषा । अन्यत्र ह्योगोदोहस्य विकारः,  
अग्नि, ह्योगोदोहं तक्रम् ।

भूतपूर्वे चरट् ॥३।४।१४२॥ पूर्व भूतो भूतपूर्वः । “कालाः” [१।३।२५] इति क्लान्तेन षः ।  
अतएव निपातनादेवजातीयेषु पूर्वशब्दस्य परनिपातो द्रष्टव्यः । भूतपूर्वे यन्ड्याम्भद्रूप वर्तते तस्मात्स्वार्थे चरट्  
भवति । आढ्यो भूतपूर्व आढ्यचरः । आढ्या भूतपूर्वा आढ्यचरी । “तसादौ” [४।३।१४७] इति पुवद्-  
भावः । यद्यपि भूतशब्दः पूर्वशब्दश्च अतीतकालवाचिनौ तथापि विशेषणविशेष्यभाव उपपद्यते । किञ्चित्काल  
भूतवेनावस्थाय दर्शनविषयता नेदानोमस्तोत्यय विशेषः पूर्वशब्दविशेषणात्प्रतीयते ।

ताया रूप्यश्च ॥३।४।१४३॥ भूतपूर्व इति वर्तते । तान्ताण्ड्याम्भद्रो भूतपूर्वेऽर्थे रूप्यो भवति चरट्  
च । देवदत्तस्य भूतपूर्वो गोः, देवदत्तरूप्यः, देवदत्तचरः । इहासामर्थ्यान्न भवति । कम्बलो देवदत्तस्य गौर्भूत-  
पूर्वो जिनदत्तस्येति । इह ऋद्धस्य देवदत्तस्य भूतपूर्वो गौरिति समुदायस्यातान्तत्वादवयवस्य चासाम-  
र्थ्यान्न भवति ।

पाकमूले पीलुकर्णादिभ्यः कुणजाहो ॥३।४।१४४॥ ताया इति वर्तते । ताममथेभ्यः पीत्वादिभ्यः  
कर्णादिभ्यश्च यथासख्य पाकमूलयोरर्थयोः कुण जाह इत्येता भवत । पीलूना पाक. पीलुकुण. । पीलु । कर्णम् ।  
शमी । करीर । बदर । कुवण । अश्वत्थ । खदिर । कर्णादिभ्यो जाह । कर्णस्य मूल कर्णजाहम् । कर्ण ।  
अक्षि । मुख । नख । पाद । गुल्फ । भ्रू । दन्त । ओष्ठ । केश । शृङ्ग । पुष्प ।

पक्षात्तिः ॥३।४।१४५॥ ताया इति वर्तते । पक्षशब्दान्तान्मूलेऽर्थे तिर्भवति । द्वयोः पीतुपात्थो-  
रनुवर्तनेऽपि पाकस्याऽसम्भवांन्मूलग्रहणमेवाभिसन्ध्यते । पक्षस्य मूल पक्षानिः ।

तेन वित्तश्चुञ्चुचणो ॥३।४।१४६॥ वित्तः प्रतीत इत्यर्थः । तेनेति भासमर्थ्यान्नि इति  
स्मिन्नर्थे चुञ्चु चण इत्येता तौ भवतः । न्यायेन वित्तो न्यायचुञ्चुः । न्यायचणः । केशवित्तः केशचुञ्चुः ।  
केशचणः ।

विनञ्भ्यां नानावो न सह ॥३।४।१४७॥ न सहेति प्रकृतिविशेषणम् । कर्मादिनामा-  
सम्भवाद् वविभज्यत्र समर्था । अश्वस्य वर्तमाना या विनञ् वा यथासख्य नानानो मतः । न्यायं । न सह,  
विना । न सह, नाना ।

वेः शालशङ्कटौ ॥३।४।१४८॥ प्रादयः पुनरेवमात्मका यत्र क्रियावाची शब्दः प्रयुज्यते तत्र क्रियाविशेषमाहुः । यत्र न प्रयुज्यते तत्र ससाधना क्रियामाहुरिति । वेः ससाधनक्रियावचनाच्छालशङ्कट इत्येतौ त्रौ भवतः स्वार्थे । विस्त्रे ( विगते ) शृङ्गे विशाले । विशङ्कटे । तद्योगात्ताच्छब्दो ( च्छब्दयम् ) विशालो गौः । विशङ्कटो गौरिति । अथवा विशालादयः परमार्थतो गुणशब्दाः, ते यथाकथञ्चिद् व्युत्पाद्यन्ते । तेन विशालः पटः, विशालं यशः इत्येवमादि सिद्धम् ।

सम्प्रोदश्च कटः ॥३।४।१४९॥ सम् प्र उद् इत्येतेभ्यो वेश्च कट इत्ययं त्रौ भवति । अत्रापि ससाव( ध )नक्रियावचनेभ्यस्त्यो वेदितव्यः । सङ्कृष्टं सङ्कटम् । प्रकटम् । उक्तटम् । विकटम् । विकट- दन्तयोगाद् विकटो हस्ती । “अलावृत्तिलोमाभङ्गाभ्यो रजस्युपसख्यानम्” [ वा० ] अलावूना रजः अलावूकटम् । तिलकटम् । उमाकटम् । भङ्गाकटम् ।

कुटारश्चावात् ॥३।४।१५०॥ अवात् ससाव( ध )नक्रियावचनात् कुटार इत्ययं त्रौ भवति कटश्च स्वार्थे । अवकृष्टः, अवकुटारः । अवकट । “गोष्ठादयस्त्याः स्थानादिषु पशूनामिति वक्तव्यम्” [ वा० ] गवा स्थान गोगोष्ठम् । महिषोगोष्ठम् । अजागोष्ठम् । “समूहे कटः” [ वा० ] अवीना समूह, अविकटः । पशुकटः । “विस्तारे पटः” [ वा० ] अवीना विस्तार, अविपटः । “द्वित्वे गोयुगः” [ वा० ] उष्ट्रगोयुगम् । अश्व- गोयुगम् । महिषगोयुगम् । “प्रकृत्यर्थस्य षट्त्वे षड्गवः” [ वा० ] इस्तिना षट्त्वं इस्तिषड्गवम् । “संस्कृते शब्दः” [ वा० ] पिठरे संस्कृतं पिठरस्युत्थम् । “विकारे स्नेहे तैलः” [ वा० ] इङ्गुदीना स्नेह इङ्गुदीतैलम् । “प्ररोहणे शाकटशाकिनौ” [ वा० ] इक्षुरा प्ररोहणं क्षेत्रम्, इक्षुशाकटम् । मूलशाकटम् । इक्षुशाकिनम् । मूलशाकिनम् ।

नते नासिकायाः खौ टीटनाटभ्रटाः ॥३।४।१५१॥ अवादिति वर्तते । नमनं नतम् । नासिका नतवाचिनोऽवशब्दाद्यट नाट भ्रट इत्येते त्र्याः स्वार्थे भवन्ति खुविषये । नासिकाया इति सम्बन्धसामान्ये वा । तत्र यदा नासिकायाः कर्तृत्वविवक्षा, तदा सामानाधिकरण्येन विग्रहः । अवनता नासिका अवटीटा । अवनाट । अवभ्रटा । यदा सम्बन्धत्वविवक्षा तदा वैयधिकरण्येन, नासिकाया अवनतम्, अवटीटम् । अवनाटम् । अवभ्रटम् । एवमुत्तरत्रापि विग्रहद्वयं शातव्यम् । तद्योगात्पुरुषेऽपि तथोच्यते । अवटीटः पुरुषः ।

नेर्विडविरीसौ ॥३।४।१५२॥ नते नासिकायाः खाविति वर्तते । निशब्दान्नासिकान्तार्थवचनाद् बिड विरीस इत्येतौ त्रौ भवतः । निनता नासिका निविडा । निविरीसा । निविडम् निविरीसमिति वा । तद्यो- गात्पुरुषोऽपि निविडः । निविरीसः । कथं निविडं वस्त्रं निविडाः केशा इति । उपमानात्सिद्धम् ।

केनौ वि( चि )क् ॥३।४।१५३॥ नते नासिकायाः खाविति वर्तते निरिति च । नासिकान्तार्थ- वाचिनो नेः क इन इत्येतौ त्रौ भवतः वि(चि)क् इत्ययञ्चादेशः प्रकृतेः । निनता नासिका वि(चि)का । वि(चि) किना । तद्योगाद् वि(चि)क्को देवदत्तः । वि(चि)किनः ।

पिटे चिः ॥३।४।१५४॥ नासिकान्तार्थवाचिनो नेः पिटे त्र्ये परवक्षिरित्ययमादेशो भवति । अनेनैव पिटस्य विधानम् । निनता नासिका चिपिटा । तद्योगाच्चिपिटो देवदत्त । “क्लिन्नस्य चिदिपलौ क्षश्च- धुदोषि षड्ठत्पम्” [ वा० ] क्लिन्नं चक्षुः क्लिप्तम्, पिलम् । तद्योगाद्देवदत्तोऽपि चिलः । “चुक्षादेशश्च षट्ठत्पम्” [ वा० ] क्लिन्नं चक्षुः क्लिप्तम् । तद्योगाद्देवदत्तोऽपि चुल्लः ।

उपत्यकाऽधित्यके ॥३।४।१५५॥ उपत्यका अधित्यका इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । उपशब्दात्पर्वता- र्थेने देशे वर्तमानास्तार्थे त्यक् इत्यनं त्रौ निपात्येते इलाभावश्च त्रौलिङ्गे खुविषये । पर्वतमुपासनो देशः ३६

उपत्यका । अधीत्येतस्मात्पर्वतमारुढे देशे वर्तमानात्यक इत्वाभावश्च स्त्रीलिङ्गे खुविषये । पर्वतमध्यारुढो देशोऽधित्यका ।

कर्मठः ॥३॥४॥१५६॥ कर्मठ इति निपात्यते । कर्मशब्दादीप्समर्थाद्धटते इत्यस्मिन्नर्थेऽठो निपात्यते कर्मणि घटते कर्मठः ।

तदस्य सञ्ज्ञातं तारकादिभ्य इतः ॥३॥४॥१५७॥ तदिति वासमर्थेभ्यः सञ्ज्ञातोपादि( धि ) भ्यस्तारकादिभ्योऽस्येति ताऽर्थे इतो भवति । तारकः संज्ञाता अस्य तारकितं नमः । पुष्पिता लता । तारका । पुष्प । कर्णक । ऋणीष । सूत्र । निष्क्रमण । पुरीष । उच्चार । प्रचार । कुङ्मल । मुकुल । कुसुम । स्तवक । किसलय । वेग । वेश । निद्रा । बुभुक्षा । पिपासा । श्रद्धा । स्वप्न ( श्रव ) । अन्न । रोग । अङ्गारक । वर्णक । द्रोह । सुख । दुःख । उत्कण्ठा । भर । व्याधि । “गर्भादिप्राणिनि” [ग० सू०] गर्भिताः शालयः । अप्राणिनीति किम् ? गर्भिणी गौः ।

प्रमाणे द्वयसद्वध्नरमात्रतः ॥३॥४॥१५८॥ तदस्येति वर्तते । तदिति वासमर्थ्यात्प्रमाणेऽर्थे वर्तमानादस्येति ताऽर्थे द्वयसद् दध्नद् मात्रद् इत्येते त्या भवन्ति । प्रमाणस्य प्रमेयापेक्षत्वात्प्रमेयस्यार्थः । ऊहः प्रमाणमस्य ऊहद्वयसम् । ऊहमात्रम् । यद्यप्यायामः प्रमाणत्वेन प्रसिद्धस्तथाप्यभिधानवशाद् द्वयसद् दध्नटावूर्ध्वमाने, मात्रद् पुनरविशेषेण । कर्षमात्रं घृतम् । प्रत्यमात्रं धान्यम् । धनुर्मात्री भूमिः । “प्रमाण शब्दा ये प्रसिद्धास्तेभ्यो द्वयसद्वध्नोर्ना ध्वंसन वक्तव्यम्” [ वा० ] समः प्रमाणमस्य समः । दिष्टि प्रमाणमस्य दिष्टिः । वितस्तिः । “राच्च ध्वसन वक्तव्यम्” [ वा० ] द्वौ समे प्रमाणमस्य द्विसमम् । त्रिसमम् । द्विदिष्टिः । द्विवितस्तिः । तदन्तविध्यभावात्पूर्वेणाप्राप्तिः । चकारः किमर्थः ? सशये स्थायिन मात्रदं वदयति । तत्राऽपि राद्ध्वसनमेव यथा स्यात् । “इदं स्तोमे वक्तव्यः” [ वा० ] पञ्चदशाहानि परिमाणमस्य यज्ञस्य पञ्चदशः स्तोमः । सप्तदशः । पञ्चदशी रात्रिः । छन्दसि पूर्वमेव सिद्धमछन्दोविपर्ययमेतत् । “शन्शतोडिनिर्वक्तव्यः” [ वा० ] पञ्चदशाहोरात्राः परिमाणमेवा पञ्चदशिनोऽर्द्धमाणाः । त्रिंशिनो मासाः । द्वात्रिंशिनो देवेंद्राः । त्रयस्त्रिंश इत्यपीष्यते । “विंशतेश्चेति वक्तव्यम्” [ वा० ] विंशिनो भवनेन्द्राः । विंशिनोऽङ्गिरसः । “प्रमाण परिमाणाभ्यां संख्यायाश्चापि संशये मात्रद् वक्तव्यः” [ वा० ] समः प्रमाणमस्य स्यात् सममात्रम् । वितस्तिमात्रम् । प्रत्यः परिमाणमस्य स्यात् प्रत्यमात्रम् । कुडवमात्रम् । पञ्च सख्याः पथा स्यात् पञ्चमात्राः । पुरुषा दशमात्राः । उक्तं च -

“प्रमाणध्वसनं राच्च इदं स्तोमे शन्शतोडिनिः । प्रमाणपरिमाणाभ्यां संख्यायाश्चापि संशये ॥”

“स्वाधे द्वयसण्माद्वटौ बहुलं वक्तव्यौ” [ वा० ] तावदेव तावद्द्वयसम् । तावन्मात्रम् । यावदय यावद्द्वयसम्, यावन्मात्रम् ।

पुरुषहस्तिनोऽण् च ॥३॥४॥१५९॥ तदस्येति वर्तते प्रमाण इति च । पुरुष-हस्तिशब्दाभ्यामाणा च भवति, द्वयसद्वध्नश्च भवन्ति । पुरुषः प्रमाणमस्य पौरुषम् । पुरुषद्वयसम् । पुरुषद्वयम् । पुरुषमात्रम् । हस्ती प्रमाणमस्य हस्तिनम् । “प्रायोऽनपत्येऽण्निन” [ ४॥४॥१५९ ] इति टिप्पणनिषेधः । हस्तिद्वयसम् । हस्तिदध्नम् । हस्तिमात्रम् । प्रमाणशब्दाच्च प्रसिद्धौ “प्रमाणाद्ध्वसनमिति” च भवति । पुरुषः प्रमाणमस्य पुरुषः । “तत्रादीनां ध्वंसनवचनाच्छब्दोच्चारान्त्वेति ध्वसनं द्वयमहादीनामेव द्रष्टव्यम् ।” अण् तन्मात्रं सम्भवति । द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्य द्विपुरुष जनम् । द्विपुरुषौ द्विपुरुषा वा स्याता । द्विहस्ति जनम् । द्विहस्तिनौ द्विहस्ती । नन्तुचन्तोविधिः ।

यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुः ॥३।४।१६०॥ तदस्येति वर्तते । यद् तद् एतद् एतेभ्यः परिमाणो-  
पाधिभ्योऽस्येति ताऽर्थे वतुर्भवति । यत्परिमाणमस्य यावान् । तावान् । एतावान् । “आ सर्वनाम्नः”  
[४।३।१६७] इति दकारस्यात्वम् । प्रमाणे ग्रहणेऽनुवर्तमाने परिमाणग्रहणं किम् ? प्रमाणे द्वयसडादीना  
भाषा मा भूत् । यद्द्वयसम् । प्रमाणपरिमाणयोर्भेदाद्वत्त्वं तदपि ( ध्वन्तादपि ) द्वयसडादयः सिद्धाः ।  
यावन्मात्रम् ।

इदमो वो घः ॥३।४।१६१॥ इदमित्येतस्मादुत्तरस्य वतोर्वकारस्य घकार आदेशो भवति । इदमेव  
शापकम् । इदमो वतुर्भवतीति । इदम्परिमाणमस्य ह्यान् । घस्य ह्यादेशः । “किमिदमोः क्रीष्” [४।३।१६६]  
इति इदम ईशादेशः । “यस्य ह्याञ्च” [४।४।१६६] इति खः । त्यामात्रमेवावशिष्टम् । तस्य व्यपदेशिषद्-  
भावात् मृत्सशा “परस्यादेः” [ १।१।५१ ] इत्येव सिद्धे व इति स्थानिनिर्देशः किमर्थः ? घस्य त्यान्त-  
स्त्वं मा भूत् ।

किमः ॥३।४।१६२॥ किम इत्येतस्मात्परस्य वतोर्वकारस्य घकार आदेशो भवति । अनेनैव वतो-  
र्विधानम् । किम्परिमाणमस्य क्क्यान् ।

सङ्ख्यापरिमाणे डतिश्च ॥३।४।१६३॥ किम इति वर्तते तदस्येति च । परिमितिः परिमाणम् ।  
सङ्ख्यायाः परिमाण परिच्छिन्तिः । सङ्ख्यापरिमाणे वर्तमानात् किमो वासमर्थ्यादस्येति ताऽर्थे डतीत्ययं त्यो  
भवति वतुश्च । वतोर्वकारस्य च घकारादेशः । का सङ्ख्या एषा कतीमे पुरुषाः । द्वित्वैकत्वयोः सम्परिप्रश्नस्या-  
भावात् । बहुन्तमेवोदाहरणम् । अथवा परिमीयतेऽनेनेति परिमाणम्, सङ्ख्यैव परिमाणं सङ्ख्यापरिमाण-  
मिति यतः । अस्मिन्पक्षे परिमाणग्रहणं सङ्ख्याविशेषणं किमर्थम् ? तथाहि का सङ्ख्या एषाम्, किम्परिमाण-  
मेपामिति एक एवार्थः । एवं तर्हि यत्र सङ्ख्याऽन्नेपविषया तत्र मा भूत् । केयमेषा सङ्ख्या पञ्चानामिति ।  
परिमाणग्रहणेऽत्र वर्तमाने पुन परिमाणग्रहणं विस्पष्टार्थम् ।

सङ्ख्याया अवयवे तयट् ॥३।४।१६४॥ तदस्येति वर्तते । तदिति वासमर्थ्यायाः सङ्ख्यायाः अव-  
यवोपाधिकाया अस्येति तार्थे तयट् भवति । सामर्थ्यादवयविनि तयट् वेदितव्यः । पञ्च अवयवा यस्य पञ्चतयो  
यमः । दशतयो धर्मः । सप्ततयी नयष्टतिः ।

उभात्त्वम् ॥३।४।१६५॥ उभयशब्दादुत्तरस्य तयटः खं भवति । इदमेव शापकं भवत्युभयशब्दात्तयटि ।  
उभावयवावस्य उभयो मणिः । उभये देवमनुष्याः । उभयशब्दः सर्वादिषु पठ्यते ।

द्वित्रिभ्यां वा ॥३।४।१६६॥ द्वित्रिभ्यामुत्तरस्य तयटो वा ख भवति । “परस्यादेः” [ १।१।५१ ]  
इति तकारस्य खम् । द्वयम्, द्वितयम् । त्रयम्, त्रितयम् । द्वये, द्वयाः । खेपनेभ्याः ( त्रये । त्रयाः )  
एकदेशविकृतस्यानन्तत्वात् “प्रथमचरम्” [ १।१।४१ ] इत्यादिना जसि वा सर्वनामसंज्ञा ।

तदस्मिन्नधिकमिति शदशान्ताङ्कः ॥३।४।१६७॥ तदिति वासमर्थ्यात्शदशान्तान्मृदोऽधिकोपाधि-  
विशिष्टादस्मिज्जितीवर्धे डो भवति । इतिकरणस्तत्तच्चेद् विवक्षा । सङ्ख्या इति वर्तते । त्रिंशदधिका  
अस्मिन् शते त्रिंश शतम् । चत्वारिंश शतम् । ननु शदिति त्यग्रहणे “त्यग्रहणे यस्मात्स तदादेर्ग्रहणमित्यन्त-  
ग्रहणमनर्थकम् । एव तर्न्तग्रहणसामर्थ्यादेकत्रिंशदादीनामपि सङ्ख्याशब्दानां ग्रहणम् । एकत्रिंशदधिका  
अस्मिन् शते एकत्रिंश शतम् । द्वात्रिंशम् । त्रयस्त्रिंशम् । दशार्थे वाऽन्तग्रहणम् । एकादश  
मापा अधिका अस्मिन् शते एकादश शतम् । एव द्वादशम्, त्रयोदशम् । इह कस्मान्न भवति । एकादश  
मापा अधिका अस्मिन् कार्पाणशते इति ? यज्ञातीयत्यार्थस्तज्जातीय एव प्रकृत्यर्थे सति



त्य इष्यते । इह तर्हि प्राप्नोति । एकादश कार्षापणा अधिका अस्मिन् कार्षापणशते, गोविश-  
दधिका अस्मिन् गोशत इति सङ्ख्याया इत्यनुवृत्तेर्न भवति । इति करणः किमर्थः ? शतसहस्रयोरेवाभि-  
धानमिति ज्ञापनार्थः । तेनेह न भवति । एकादश अधिका अस्या त्रिशति, एकत्रिशदधिका अस्या षष्टा-  
विति । कथम् एकादशं शतसहस्रमिति ? अत्राऽपि शतसहस्रयोरन्यतरप्राधान्यमस्ति । उक्तञ्च —

“अधिके समानजाताविष्टः शतसहस्रयोः । यस्य सङ्ख्या तदाधिक्ये ङः कर्तव्यो मतो मम ॥”

[ पा० म० ५।२।४४ ] ।

विंशतेश्च ॥३।४।१६८॥ सङ्ख्याया इति वर्तते । विंशतिशब्दाद् वासमर्यादधिकोपाधिविशिष्टा  
दस्मिन्नितीवर्थे ङो भवति । चशब्दात् विशत्यन्तादपि भवति । विशतिरधिका अस्मिन् शते विश शत  
सहस्रम् । तदन्तात् । एकविंशं शतम् । इकविंशं सहस्रम् । “ते विंशतेऽङिति” [ ४।४।१२८ ] इति रो  
कृते “एष्यतोऽपदे” [ ४।३।८४ ] इति पररूपत्वम् । संख्याया इत्येव । गोविशतिरधिका अस्मिन्  
गोशते इति ।

सङ्ख्याया गुणस्य निमाने मयङ् ॥ ३।४।१६९ ॥ “तदस्य सङ्ज्ञातम्” [ ३।४।१५७ ]  
इत्यतः तदस्येत्यनुवर्तते । गुणो भाग इत्यर्थः । गुणो निमीयते परिवर्त्यते विक्रीयते वा येन तन्निमान  
मूल्यमित्यर्थः । तदपि सामर्थ्याद् भाग एव । यतो गुणैरेव गुणो निमीयते । तदिति वा-  
समर्यायाः सङ्ख्याया गुणस्य निमाने वर्तमानाया अस्येति ताऽर्थं निमेयेऽभिधेये मयङ् भवति ।  
गुणस्येति कर्मणि ता । यवाना द्वौ भागौ निमानमस्योदश्विद्ग्रहणस्य द्विमयमुदश्वित् यवानाम् । द्विगुण  
मूल्यमित्यर्थः । एवं त्रिमयं चतुर्मयम् । यथा अणादयः शब्दशक्तिस्वाभाव्यादपत्यापत्यवत्सम्बन्धे विधीयमाना  
अपि प्राधान्येन सम्बन्धमाचक्षते । अपगवोदरक्षि ( औपगवोदाक्षि ) रिति । तथा मयङ्भागो विधीयमानो  
भागवन्तमाचक्षे तेन द्विमयमुदश्वित् इति सामानाधिकरण्यम् । टिक्करण द्वौ गुडस्य एकं शर्करायाः द्विमयी  
शर्करा । गुणनिमान इति वक्तव्ये गुणस्येत्येकत्वं विविदितम् । तेनेह न भवति । यवाना त्रयो भागा निमानमु-  
दश्वितः । द्वयोर्भागयोरिति अधिकायाश्च सङ्ख्यायास्त्य इष्यते । तेनेह न भवति । एको भागो निमानमस्यो-  
दश्विद्भागस्येति । इह तर्हि प्राप्नोति द्वौ यवानामध्यर्ध उदश्वित इति । अत्रापि गुणस्येति समर्थनिर्देशादेव  
न भवति । तदपेक्षया प्रकृतेरपि निरंशसङ्ख्यान द्रष्टव्यम् । तेनेह न भवति अध्यर्धो यवानाम् एकस्योदश्वित  
इति । न च सकविधेरन्यत्र अध्यर्धशब्दस्य संख्यात्वमिष्टम् । गुणस्येति किम् ? द्वौ ब्रीहियवौ निमान  
मस्योदश्वितः । अत्र भागस्येति न प्रयुक्तम् । निमान इति किम् ? द्वौ गुणौ चारस्य एकस्तैलस्य द्विगुण  
क्षीरेण तैलपक्कम् । नात्र वासमर्थे गुण निमाने वर्तते । अन्ये अन्यथा सूत्रार्थं वर्णयन्ति । निमीयते इति  
निमान निमातव्यम् । बहुलवचनात्कर्मणि युट् । गुणस्येति कर्तरि ता । करणस्यापि कर्तृत्वेन विवक्षितत्वात् ।  
“वासमर्यायाः सङ्ख्याया गुणस्य निमेये वर्तमानयो ” [ वा० ] निमानेऽभिधेये मयङ् भवति । उदाहरितो द्वौ  
भागौ निमेयस्य यवभागस्य द्विमया यवा उदश्वितः । त्रिमयाः । चतुर्मया यवाः । अत्र व्याख्यानं समर्थमुदश्वित्,  
यवास्तु त्वार्थः । पूर्वत्र महार्धमुदश्वित्, तदेव च त्वार्थः । मतद्वयमपि प्रमाणम् ।

इत्यभयनन्दिविरचिताया जैनेन्द्रमहावृत्तौ तृतीयस्याध्यायस्य चतुर्थः

पादः । समानश्च तृतीयोऽध्याय ।

## चतुर्थोऽध्यायः

तस्य पूरणो डट् ॥४११॥ सङ्ख्याया इति वर्तते । पूर्यतेऽनेनेति पूरण । तस्येति तासमर्थात्सङ्ख्या-  
वाचिनः पूरण इत्येतस्मिन्नर्थे डट् भवति । एकादशानां पूरण एकादशः । द्वादशः । द्वादशी । द्वितीयमपि  
सङ्ख्याग्रहणमनुवर्तते । तत्सङ्ख्यानप्रधानं सत् त्वार्थविशेषणम् । सङ्ख्याया डट् भवति सङ्ख्यानपूरण  
इति न सङ्ख्येयपूरणे डट् भवति । एकादशानामुष्टिकाणां ( मुष्टिकानां ) पूरणो घट इति । ननु नात्र एका-  
दशम्यः प्रकृत्यर्थभूतेभ्योऽन्यः पूरण इत्यर्थ उपलभ्यते । अतो वृत्तिर्न प्राप्नोति । नैष दोषः । समुदायस्य चाव-  
यवानां च कथञ्चिद् भेद इति । यथा वृत्तान्तभूताऽपि शाखा वृत्तस्येति व्यवहियते । उक्तञ्च—

“बहूनां वाधिका ( वाचिका ) सङ्ख्या पूरणं स्वैक इष्यते । अन्यत्वादुभयोर्वृत्तिर्विर्क्षीं शाखानिदर्शनम् ॥”  
[ पा० म० १।१।४८ ] ।

नोऽसे मट् ॥४११२॥ न इति वर्णनिर्देश । वर्णाग्रहणं सर्वत्र तदन्तविधिं प्रयोजयति ।  
नकारान्तात्सङ्ख्यावाचिनो मृदो मङ्भवत्यसे तस्य पूरण इत्यस्मिन्विषये । डटोऽपवादः । पञ्चानां पूरणः  
पञ्चमः । सप्तमः । सप्तमी । अस इति किम् ? एकादशानां पूरण एकादशः ।

पट्कतिकतिपयचतुरां शुक् ॥४११३॥ मूलसूत्रे विहितो यो डट् तस्येहानुवर्तमानस्यार्थवशादी-  
बन्तात्पट् कति कतिपय चतुर इत्येतेषां डटि परतस्थुगागमो भवति । इदमेव डटि शुग्वचनं ज्ञापकं भवति ।  
कतिपयशब्दादपि डट् । पयसा पूरणः षष्ठः । कतिथः । कतिपयथः । चतुर्थः । शुग्वचनसामर्थ्याद्विषयः न  
भवति । पूर्वान्तकरणं पदकार्यनिवृत्त्यर्थम् । इह कतिपयानां स्त्रीणां पूरणी कतिपयथी । “तस्य हृत्यडे” [ घा० ]  
इति विषयनिर्देशात्प्रागेव शुक्ः पुवद्भावः । “चतुरस्रस्य षाण्मरशु ( रस्य ) खं चेति वक्तव्यम्” चतुराणां  
पूरणः, तुरीयः, तुर्यः ।

बहुपूगगणसङ्घस्य त्रिथुक् ॥४११४॥ डडिति वर्तते । बहु पूग गणः च इत्येतेषां डटि परतस्ति-  
थुगागमो भवति । डडि ( टि ) ति शुग्वचनं ज्ञापकं भवति पूगसङ्घास्या डट् । बहूनां पूरणः बहुतिथः । पूग-  
तिथः । सप्ततिथः । गणतिथः । इह बहूनां पूरणी बहुतिथी । “तस्य हृत्यडे” [ घा० ] पुवद्भावे कृते  
तिथुवेदितव्यः ।

वतोरिथुक् ॥४११५॥ डडिति वर्तते । वत्तन्तस्य डटि परतस्थुगागमो भवति । “वतोरिथुक्”  
[ १।१।२० ] इत्यत्र वत्तन्तस्य सख्यासंज्ञा प्रतिपादिता । यावता पूरणः यावतिथः । तावतिथः । एतावतिथः ।  
इतिथः । कियतिथः ।

द्वेस्तीयः ॥४११६॥ तस्य पूरण इति वर्तते । द्विशब्दाच्चीय इत्ययं त्यो भवति । डटोऽपवादः । द्वयोः  
पूरण द्वितीयः ।

त्रेस्त्व च ॥४११७॥ तस्य पूरण इति वर्तते । त्रिशब्दाच्चीयो भवति तृ इत्ययं चादेशः । अयमपि  
डटोऽपवादः । त्रयाणां पूरण तृतीयः ।

शतादिमासार्धमाससंवत्सरात्तमट् ॥४११८॥ शतादिभ्यो मासार्धमास संवत्सर इत्येतेभ्यश्च  
तमट् भवति तस्य पूरण इत्यस्मिन्विषये । डटोऽपवादः । शतस्य पूरणः शततमः । सहस्रतमः । लक्षतमः ।  
“दिशत्सादेर्वा” [ १।१।१० ] इत्येषा विभाषा शतात् पूर्वां सङ्ख्यामवगाहते । मासार्धमाससंवत्सराणाम-  
सङ्ख्याशब्दात् डटाऽप्राप्ते तमट् । मासस्य पूरणो मासतमो दिवसः । अर्धमासतमः । संवत्सरतमः ।  
एतत्सर्वमीतिभिः ।

तेरसङ्ख्यादेः ॥४११९॥ तस्य पूरण इति वर्तते । “पङ्क्त्यादि” [३१४।५८] सूत्रे तिरिति ल्यो निपातितः । त्यन्तात्सङ्ख्यायाचिनो मृदोऽसङ्ख्यापूर्वात्तमङ् भवति । “विंशत्यादेर्वा” [४११।१०] इति विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थोऽयमारम्भः । षष्ठेः पूरणः षष्ठितमः । सप्ततितमः । अशीतितमः । नवतितमः । असङ्ख्यादेरिति प्रतिषेधः किमर्थः ? यावता तिरिति ल्यः, त्यग्रहणे यस्मात्स तदादेर्ग्रहणमिति षष्ठ्यादीनामेव ग्रहणम्, तदन्तानां ग्रहणं नास्तीत्यसङ्ख्यादेरिति प्रतिषेधोऽनर्थकः । इदमेव जापकं भवति । इह सङ्ख्यापूर्वपदानामपि ग्रहणम् । तेन एकषष्ठेः पूरण एकषष्ठः एकषष्ठितमः इत्येवमादिषु “विंशत्यादेर्वा” [४११।१०] इति वा तमङ् भवति । पूर्वसूत्रेऽपि शतादेरुच्यमानस्तमङ् तदन्तादपि भवति । एकशततमः । एकसहस्रतमः । शतसहस्रतमः ।

विंशत्यादेर्वा ॥४११।१०॥ तस्य पूरण इति वर्तते । विंशत्यादिभ्यो वा तमङ् भवति । तमया मुक्ते ङट् भवति । विंशतेः पूरण विंशतितमः, विंशः । एकविंशतितमः, एकविशः । त्रिशत्तमः, त्रिंशः । सङ्ख्या-पूर्वपदादपि भवतीति ज्ञापितम् । अथवा व्याप्तेर्न्यायात् । विंशत्यादयो लोकप्रसिद्धाः सङ्ख्याशब्दा गृह्यन्ते न “पङ्क्त्यादि” [३१४।५८] सूत्रे व्यवस्थिताः ।

डटो ग्रहणे कः ॥४११।११॥ डडिति प्रत्याहारः । गृह्यतेऽनेनेति ग्रहणम् । डडन्तान्मृदो ग्रहणोपाधि-विशिष्टात्स्वार्थे क इत्ययं ल्यो भवति । द्वितीय ग्रहण द्वितीयकम् । तृतीयकम् । व्याकरणस्य ग्रन्थ एवाऽभिधानम् । अन्यत्र द्वितीयं ग्रहणं धान्यस्येति वाक्यमेव भवति । “डटो वा डन्वक्तव्यः” [वा०] द्विक द्वितीयकम् । तुकम् । तृतीयकम् व्याकरणस्य । तेन “गृह्णात्युप्चेति वक्तव्यम्” [वा०] । डडन्ताद् भासमर्याद् गृह्णाति इत्यस्मिन्नर्थे को भवति डटश्च नित्यमुप् । द्वितीयेन रूपेण गृह्णाति । कः । तीयस्य च उप् । द्विको देवदत्तः । एव त्रिकः । “सच्चियोगशिष्टानामन्यतरावाये उभयोरप्यभावः” इति तीये निवृत्ते प्रकृत्यादेशोऽपि निवर्तते । चतुर्थेन गृह्णाति चतुष्क । डटि निवृत्ते थुगपि निवर्तते । “इदुहुडोऽयममुहुसः” [५।४।२८] इति रेफस्य सत्वम् । “इणः पः” (५।४।२७) इति पत्वम् । षष्ठेन गृह्णाति षट्कः । अन्य एवाभिधानम् । इह न भवति । द्वितीयेन गृह्णाति पुस्तकम् ।

स एषां ग्रामणीः ॥४११।१२॥ ग्रामणीर्मुख्य इत्यर्थः । स इति वासमर्थान्मृद एषामिति चतुर्थं को भवति । यत्तद् वासमर्थं ग्रामणीश्चेत्स भवति । देवदत्तो ग्रामणीरेषा देवदत्तका । जिनदत्तकाः । सङ्घेऽपीष्यते । देवदत्तो ग्रामणीरस्य सङ्घस्य देवदत्तकः ।

स्वाङ्गेषु प्रसिते ॥४११।१३॥ अद्रव मूर्त्तिमत्स्वाङ्गमित्यादिना परिभाषितमिह स्वाङ्गम् । निर्दशादेव समर्थविभक्त्युपादानम् । स्वाङ्गवाचिभ्य ईप्समर्थेभ्यः प्रसित इत्यस्मिन्नर्थे को भवति । प्रसितः प्रसक्तः । केशेषु प्रसितः केशकः । “प्रसितोऽसुकाभ्यां भा च” [१।४।१२] इतीप् । एवं दन्तकः । नखकः । केगादिग्रहणारे केशादिशब्दा वर्तन्ते । बहुत्वनिर्देशः किमर्थः ? स्वाङ्गसमुदावादापि यथा स्यात् । नपकेशकः । सुत्वदन्तकः ।

तदस्मिन्नन्नं प्राये खौ ॥४११।१४॥ तदिति वासमर्थदस्मिन्निति त्रितये को भवति । यत्तद् वासमर्थमन्नं चेत्प्रायविपन्नं तद् भवति । त्यान्त चेत्सन्नाया वर्तते । नृपुयाः प्रायेणान्नमस्या नृपुटिमा पौर्णमासी । प्राय इति सूत्रे उपाधिलक्षणो वा विषयत्वलक्षणो वा ईग्निर्देशः । विग्रहे तु करणत्वविज्ञाया भा । अन्नमित्येवमा-विवक्षाया वाऽपि भवति । नृपुयाः प्रायेऽन्नमस्यामिति । एव गुडापुषाः प्रायेणान्नमस्या गुडापुटिमा । विना-पुषिका । कृतशरिका । “वटकेभ्य इन्वक्तव्य” [वा०] वटकिनी । स्वाविति किम् ? अपुषा, प्रायेणा- (न) वन्तिषु ।

कुलमापादण् ॥४११।१५॥ कुलमापादण् भवति तदस्मिन्नन्नं प्रायेण त्वान्नमित्येव । कल्याणसदः । कुलमापाः प्रायेणान्नमस्या कौलमापो पौर्णमासी ।

कालप्रयोजनाद्रोगस्य ॥४११६॥ तदिति वर्तते खाविति च । तदिति वासमर्थांश्च काल-  
प्रयोजनोपाधिकाद् रोगस्येति ताऽर्थे को भवति सज्ञाया गम्यमानायाम् । सतत कालोऽस्य सततकः । द्वितीयं  
कालोऽस्य द्वितीयको ज्वरः । तृतीयकः । चतुर्थकः । प्रयोजनाद्—विषपुष्पप्रयोजनमस्य विषपुष्पको ज्वरः ।  
काशपुष्पकः । पर्वतकः । कालनिमित्ताद्रोगस्येति च वक्तव्ये प्रयोजनग्रहणस्यैतत्प्रयोजनम् । फलेऽपि  
प्रयोजने यथा स्यात् । उष्णकार्यमस्य उष्णकः । शीतको ज्वरः ।

शृङ्खलकौदरिकसस्यकांशकतन्त्रकब्राह्मणकोष्णकोष्मकशीतकाऽधिकाऽनुकाऽभिकाऽ  
भीकाऽनुपदिपाश्वर्कायःशूलिकादाण्डाजिनिकोत्कश्रोत्रियसालीन्द्रियक्षेत्रियाः ॥४११७॥ शृङ्ख-  
लक इत्येवमादयः शब्दा निपात्यन्ते । शृङ्खलशब्दाद् वासमर्थाद् बन्धनोपाधिकादस्येति ताऽर्थे को  
निपात्यते कर्मे । शृङ्खल बन्धनमस्य गोरिति वाक्यमेव भवति । उदरशब्दादीप्समर्थात् प्रसित  
इत्यस्मिन्नर्थे उष्ण निपात्यते आद्यूने गम्यमाने । आद्यून उदरे अविजिगीषुरुच्यते । उदरे प्रसित औदरिक ।  
आद्यून इत्यर्थः । उक्तं च—

“मिताशिनं षट् सुगुणा रुजन्ते (भजन्ते) आरोग्यमायुश्च वपुर्वलञ्च ।

जनादिलब्धाय भवत्यपत्यं न चैनमाद्यूनमिति क्षिपन्ति ॥”

अन्यत्र उदरे प्रसित उदरकः । स्वाङ्गेषु प्रसित इति कः । सस्यशब्दाद् भासमर्थात्परिजात इत्येत-  
स्मिन्नर्थे कः । तस्येन परिजातः सत्यकः शालिः । सत्यको देशः । सत्यको वत्सः । वैगुण्यरहित इत्यर्थः ।  
सत्यमिव सत्यम्, तेन परिजातः सत्यको मणिः । आका(क)रशुद्ध इत्यर्थः । “विग्रहे (अंश) शब्दादीप्सम-  
र्थाद् हरतीत्यस्मिन्नर्थे कः ।” अंशं हरति अंशको दायदः । “तन्त्रशब्दात्कासमर्थादचिरापहत इत्यस्मिन्नर्थे  
कः । तन्त्रादचिरापहतः तन्त्रकः पटः । “ब्राह्मणक उष्णक इत्येतौ शब्दौ खुविषये क्त्यान्तौ निपात्येते ।”  
ब्राह्मणको देशः । यत्रायुषजीविनो ब्राह्मणस्तस्य देशस्येव सज्ञा । उष्णादल्पान्ते । उष्णका अल्पाना यवा-  
गुरुच्यते । “उप्सशीतशब्दाभ्यां क्रियाविशेषणाभ्यां वासमर्थाभ्यां करोतीत्यस्मिन्नर्थे कः ।” उष्ण करोतीति  
उष्णकः । शीघ्रकारीत्यर्थः । शीत करोति शीतकः । जड इत्यर्थः । “अधिकमित्यत्र अध्यारुडशब्दात्स्वायर्थे के  
पुंल्लं च निपात्यते ।” “श्लिषशब्दात्” [२।४।५७] इत्यादिना यदाऽध्यारुडशब्दः कर्त्तरि व्युत्पाद्यते  
तदाऽधिको द्रोणः खार्यामित्युदाहरणम् । यदा कर्मणि व्युत्पाद्यते तदा अधिका खारी द्रोणेनेत्युदाहरणम् ।  
“अनुक अभिक जभीक इत्येते शब्दाः क्त्यान्ताः क्मिता इत्यस्मिन्नर्थे निपात्यन्ते” । अनुकामयतेऽनुकः ।  
अभिकामयतेऽभिकः । अभेर्वा दीप्त निपात्यते । “अनुपदशब्दादन्वेष्टरि इन्निपात्यते ।” पदस्य पश्चादनुपदम् ।  
(प) धादर्थे ह्यो भावप्रधानः । अनुपदमन्वेष्टा अनुपदी गवाम् । “पार्श्वशब्दाद् भासमर्थादन्विच्छतीत्य-  
स्मिन्नर्थे क ।” अन्विच्छतीत्यर्थः पार्श्व पार्श्वेनान्विच्छति पार्श्वकः । “अयःशूलदण्डाजिनशब्दाभ्यां भासम-  
र्थाभ्यामन्विच्छतीत्यस्मिन्नर्थे क्त् ।” तीक्ष्ण उपायोऽयःशूलम्, अयःशूलेनान्विच्छति आयःशूलिकः ।  
दण्डाजिनेनान्विच्छति दण्डाजिनिकः । दम्भप्रधान इत्यर्थः । “उत्क उन्नमसि को निपात्यते ।” उत्कः प्रवासी ।  
उत्करित इत्यर्थः । “इन्द्रशब्दादिप्समर्थादधीते इत्येतस्मिन्नर्थे घो निपात्यते प्रकृतेश्च घोत्रभावः ।”  
हन्तीऽधीते श्रोत्रियः । मनोहादिपाठाच्छान्दस इत्यपि भवति । “साक्षात्शब्दाद् द्रष्टरि इन्द्र खुविषये ।”  
सदाद्रष्टा सदा । दातृप्रतिग्रहीतृभ्यां योऽन्य उपद्रष्टा तस्येव सज्ञा । “इन्द्रशब्दात्तासमर्थाद्विष्णु इत्यस्मिन्नर्थे  
घ ।” इन्द्रस्य लिङ्गम् इन्द्रिणम् । इन्द्र आत्मा । अथवा इन्द्र कर्म । इन्द्रेण जुष्ट सृष्ट दृष्टं दत्तं वा इन्द्रि-  
णम् । तन्नाद् घ । “परक्षेत्रगव्यादीप्समर्थाच्चिक्वित्य इत्यस्मिन्नर्थे ण्यः परशब्दस्य च सम् ।” परक्षेत्रे  
चिक्वितः क्षेत्रियो व्याधिः । परक्षेत्रे बन्धान्तरशरीरुच्यते ।

भारं भुक्तं द्रोणेन ॥४११८॥ तदिति वर्तते । शब्दशब्दाद् वासमर्थाद् भुक्तोपाधिकादनेनेति

कर्तरि ठो भवति । आद्य कर्मनामधेयम् । अद्वा प्रयोजनमस्य आद्यम् । “अण्प्रकरणे अग्निपदादिभ्य उपसर्त्या-  
नम्” [ वा० ] इत्यण् । “प्रज्ञाश्रद्धाऽर्चा” [ ४।१।२८ ] आदिना मत्वर्थायो वाण् । आद्य भुक्तमनेन  
आद्विको देवदत्तः ।

इन् ॥४।१।१९॥ आद्यं भुक्तमनेनेति वर्तते । इन् भवति आद्यशब्दात् । आद्यं भुक्तमनेनेति आद्वी  
देवदत्तः । योगविभाग उत्तरार्थः । “ठेनोः समानकाळग्रहणं वक्तव्यम्” । यस्मिन्नहनि आद्यमनेन भुक्तं  
तस्मिन्नेव आद्विकः आद्वी वा ऽभिधीयते । अथ भुक्ते आद्ये श्वः आद्विकः आद्वीति च न भवति ।

पूर्वात् ॥४।१।२०॥ तदिति वर्तते अनेनेति च । पूर्वशब्दाद् वासमर्थात् अनेनेति कर्तरि इन् भवति ।  
कर्ता क्रियामन्तरेण न भवतीति पाकादिक्रिया व्याहर्तव्या । पूर्वशब्दः क्रियाविशेषणमिह गृह्यते । पूर्वमनेन  
भुक्तं पीतं गतं वा पूर्वी । प्रतीयमानस्य कर्मणोऽनुप्रयोगः । ओदनं सुरा ग्राम वा ।

सपूर्वात् ॥४।१।२१॥ सपूर्वाच्च मृदः पूर्वशब्दान्ताद् वासमर्थादनेनेत्यस्मिन्नर्थे इन् भवति । पूर्वं  
सूत्रे यत् क्रियापदमव्याहृतं तत्पूर्वात् पूर्वशब्दादिह त्यः । पूर्वं कृतमनेन कृतपूर्वी कटम् । भुक्तपूर्वी  
ओदनम् । पीतपूर्वी सुराम् । त्योऽपत्तेः प्राक् मयूरव्यंसकादित्वात् [ १।३।६६ ] सविधिः । “भूषपूर्वं  
चरट्” [ ३।४।१४२ ] इति ज्ञापकात्पूर्वशब्दस्य परनिपातः । क्लान्त भावे व्युत्पादनीयम् । अथापि कर्मणि  
व्युत्पाद्यते । इत्युत्पन्ने क्रियाकर्म सम्बन्धं त्यक्त्वा कर्ता सह वर्तते । इति कर्मण्यनुक्ते इवेव भवति । कर्मसम्ब-  
न्धाभावादेव टापो निवृत्तिः । ननु “पूर्वात्” [ ४।१।२० ] इत्युक्तं तत्र तदन्तविधिना सपूर्वाद् भविष्यति,  
व्यपदेशिवद्भावेन केवलाच्च भविष्यति, किमर्थं योगान्तरम् ? एव तर्हीदमेव योगद्वय ज्ञापकम् । अस्मीदं  
परिभाषाद्वयम्, मृदग्रहणे न तदन्तविधिः, व्यपदेशिवद्भावो न मृदेति ।

इष्टादे ॥४।१।२२॥ तदिति अनेनेति च वर्तते । इष्ट इत्येवमादियो मृद् यो वासमर्थम्योऽनेने-  
त्यस्मिन्नर्थे इन् भवति । इष्टमनेन इष्टी यशे । तस्येनृविषयस्य कर्मण्यव्यक्तव्येति ईप् । इष्ट । पूर्त । उप-  
पादित । निगदित । परिविदित । निकथित । निपतित । सङ्कलित । परिकलित । सरक्षित । परिरक्षित ।  
गणित । अवक्रीर्ण । आयुक्त । निगृहीत । आभूत । श्रुत । आसेवित । अवधारित । अवकम्पित । निराकृत ।  
उपाकृत । अनुयुक्त । अनुगणित । अनुपठित । व्याकुलित ।

तदस्यास्त्यस्मिन्निति मनुः ॥४।१।२३॥ तदिति वासमर्थादस्य अस्मिन्नित्येतयोर्योगोर्मनु-  
र्भवति । यत्तद् वासमर्थमस्त्युपाधिकं चेत्तद् भवति । इति करणसत( रास्तत ) श्चेद्विवक्षा । प्राये  
भूमादिषु विवक्षा ।

“भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगोऽतिशायने । समर्गोऽस्तिविवक्षायां मत्वाटिविधिरित्यने ।”

भूमि-गावोऽस्य सन्ति गोमान् । निन्दायात्र-शङ्कादकोऽस्याऽस्ति शङ्कादकी । कमुदासी । प्रश-  
सायाम्-रूपमस्यास्ति रूपवान् । नित्ययोगे-क्षीरमेपा सन्ति क्षीरिणो वृक्षाः । अतिशायने-उदरिणी कन्या ।  
समर्गो-दण्डी । भूमायमावेऽपि विवक्षा । व्याघ्रवान् पर्वतः । स्पर्शवान् वायुः । इन्मिमी शाना ।

“मत्वर्थाच्छैपिकाच्चापि मन्वर्धे जैपिकस्तथा । मरूपस्यविवर्तेष्टः सञ्चन्ताश्च सन्निपते ॥”

“गुणवचनेभ्यो मन्वर्थीयस्योवचन्य” [ वा० ] । शुक्लो गुणोऽस्याऽस्तीति शुक्लः पृथ । इत्यादि ।  
“रसादिभ्यो मनुवचन्य” [ वा० ] । रसवान् । रस । रूप । वर्य । गन्ध । स्पर्श । शब्द । स्नेह । णे ।  
गुणशब्दाः । “एकाच” खवन् । त्वन् । अन्यनिवृत्त्यर्थेनैव वक्तव्यम् । कथं रूपिणी कन्या । रूपिणी दण्ड ।  
रतिको नटः । इति ? इति इत्यद् भवति, अण् एतत् न द्वा । अन्त्यास्मिन्निति द्वन्द्वपदान्ति द्विन् ! नाना

निर्यत समावेशः । देशान्तरे राज्ञो हस्तिनः । न वैते राशि भवन्ति । कूपे गर्गाः । न च तै तस्य भवन्ति ।  
शक्तिग्रह्यां वर्तमानकालसत्तापतिपत्यर्थम् । इह मा भूत् । गावोऽस्याऽसन् । गावोऽस्य भवितारः इति । कथं  
गोमानासीत्, गोमान् भविता इति ? “धुयोमे त्याः” [२।४।१] इत्यत्रोपपत्तिर्वक्तव्या ।

प्राण्यङ्गादातो वा लः ॥४।१।२४॥ प्राण्यङ्गवाचिन आकारान्ताद्वा ल इत्ययं लो भवति  
मत्वर्थे । चूडालः । चूडावान् । घाटालः । घाटावान् । कथं तर्हि कर्णिकालः । कर्णिकावान् ? प्राणिनि  
अङ्गं प्राण्यङ्गमिति विग्रहाल्लभ्यते । अथवा कर्णिका प्राण्यङ्गमप्यस्ति नाभरणविशेष एव । प्राणिग्रह्यां  
( किम् ) ? शिखावान् प्रदीपः । अङ्गग्रहण किम् ? धर्मान्मा भूत् । चिकीर्षावान् । आत इति किम् ?  
हस्तवान् ।

सिध्मादेः ॥४।१।२५॥ सिध्म इत्येवमादिभ्यश्च वा लो भवति मत्वर्थे । वाग्रहणमिह मतोः  
समुच्चयार्थम् । न विकल्पार्थम् । उत्तरत्र वाग्रहणात् । तेन येऽन्तःकारान्तास्तेभ्यश्चेनौ न भवतः । सिध्मान्यस्य  
सन्ति सिध्मलम् । सिध्म । वर्म । गड्ड । तुण्ड । मणि । नाभि । वीन । निष्पाव । सुयात । दत्त । सक्नु ।  
पशु । पाशु । मास । पार्श्वधमन्योर्दीत्व च । “वा तदन्तवालललाटानामूढ्च” [ वा० ] “जटा-  
घटाकालेभ्यः क्षेपे” । [ वा० ] पर्ण । उदक । प्रज्ञा । “धुद्रजन्तुपतापार्थ्या चेष्यते” [ वा० ]  
युक्तालः । मत्तकालः । उपतापात्-विचर्चिकालः । विपादिकालः । मूर्च्छालः ।

फेनादिलश्च ॥४।१।२६॥ फेनशब्दादिलो भवति लश्च मत्वर्थे । वाग्रहण मनुसमुच्चयार्थमनुवर्तते ।  
फेनिलम् । फेनलम् । फेनवदुदकम् । “पिच्छादेरचेति वक्तव्यम्” [ वा० ] पिच्छिलः । पिच्छलः । पिच्छवान् ।  
पिच्छ । उरत् । ध्रुवक । “जटा घटा काला त्रिभ्यः क्षेपे” [ वा० ] पर्ण । उदक । प्रज्ञा ।

लोमपामादिभ्यां शनौ ॥४।१।२७॥ लोमादिभ्यः पामादिभ्यश्च यथासख्यं श न इत्येतौ ल्यौ  
भवतो मत्वर्थे । वेत्यनुवृत्तेर्मतोः समुच्चयः । लोमान्यस्य सन्ति लोमशः । लोमवान् । लोमन् । रोमन् ।  
बभु । दल्लु ( वल्लु ) । हरि । कपि । सुनि । तरु । पामादिभ्यः । पामनः । पामवान् । पामन् ।  
दामन् । रोमन् । श्लोमन् । मलि । लामन् । गङ्ग । कल्याणे । अङ्गानि कल्याणान्यत्याः सन्ति अङ्गना ।  
अङ्गवती अन्यत्र । लक्ष्म्या लक्ष्म । लक्ष्मणः । दद्रुशाकी पलाली प्रश्च । दद्रुणः । शाकिनः । पलालिनः ।  
“विषमिति घुल चावृत्तसन्धेः” । विष्वञ्चोऽस्त सन्ति विपुणः । विपुशब्दो निरञ्जः ।

प्रदाशब्दाऽर्चावृत्तिभ्यो णः ॥४।१।२८॥ प्रज्ञा शब्दा अर्चा वृत्ति इत्येतेभ्यो णो भवति  
मत्वर्थे । वेत्यनुवृत्तेर्मतोः समुच्चयः । प्रज्ञाऽस्यास्तीति प्राज्ञः । प्रज्ञावान् । “प्राज्ञः । शब्दावान् । आर्चः ।  
अर्चावान् । वार्त्तः । वृत्तिमान् ।

तपःसहस्राभ्यां विग्नितौ ॥४।१।२९॥ तपस् सहस्र इत्येताभ्यां यथासख्यं विन् इन् इत्येतौ  
ल्यौ भवतो मत्वर्थे । तपस्वी । सहस्री । वेत्यनुवृत्तेर्मतुरपि । तपस्वान् । सहस्रवान् । तपसोऽसन्तलादेव विनि  
शिद्धे ददशमात्रेणाया दधा माम्भिति पुनर्वचनम् ।

सर् ॥४।१।३०॥ सर् च भवति तपःसहस्रान्या मत्वर्थे । तापः । साहस्रः । “अणुप्रकरणे  
ज्योत्स्नादिभ्य उपसर्गस्याणम्” [ वा० ] । ज्योत्स्ना प्रस्रित्ति ज्योत्स्नः पक्षः । तमिला । तामिलः ।  
बुररत् । बोररत् । बुररत्ता इत्यर्थः । कुन्प । बोरुन । विवर्ण । वैवर्णः । विपादिका । वैपादिकः ।

१ अर्चः । मूढः । घः । धुन्या ध्रुवः ५० । ध्रुवः । ध्रुवः इति काशिकायाम् ।  
२ भर ५०, ५० ।

सिकताशर्कराभ्याम् ॥४१॥३१॥ सिकता शर्करा इत्येताभ्यामण् भवति मत्वर्थे । सैकतः । शार्करः । अदेशार्थ आरम्भः ।

उसिलो च देशे ॥४१॥३२॥ सिकताशर्कराभ्यामुस् इल् इत्येतौ ल्यौ भवतः, चकारादण् मतुश्च देशोऽभिधेये । तदस्यास्त्यस्मिन्निति वर्तते । कस्योस् ? मतोः । तेन चत्वारः शब्दाः । सिकता देशः । सिकतिलः । सैकतः । सिकतावान् । शर्करा देशः । शर्करिलः । शार्कर । शर्करावान् । देश इति किम् ? सैकतो घटः । शार्करो घटः ।

मधूपशुषिमुष्काद्रः ॥४१॥३३॥ मधु ऊष शुषि मुष्क इत्येतेभ्यो रो भवति मत्वर्थे । वेत्यनुवृत्तेर्मतुरपि भवति । इह मधुशब्दो रसवाची गृह्यते न द्रव्यवाची । मधु अस्मिन्नास्ति मधुरो गुड । रसवाचिनि मधुशब्दे कथं मधुरो रसः ? इति चेत्, उपचारात् । रसवाचिनो मधुशब्दान्मतोरभिधान नास्ति । ऊपर क्षेत्रम् । शुषिरो वंशः । मुष्करः पशुः । “रप्रकरणे समुखकुञ्जेभ्य उपसख्यानम्” [वा०] ए महत्कण्ठविवरमस्यास्ति खरः । मुखमस्यास्ति मुखरः । कुञ्जोऽस्यास्ति कुञ्जरः । “रविधिनैर्गणेशुभ्याम्” [वा०] । ( नगरः । पाशुरः ) ।

द्युद्भ्यां मः ॥४१॥३४॥ द्युद्भ्याम्या मो भवति मत्वर्थे । द्यौरस्यास्तीति द्युमः । “दिव उत्” [४१॥१०८] इति उत् । द्युशब्दो वा प्रकृत्यन्तरम् । द्रूयस्य सन्ति द्रुमः । रुदिशब्दावेतौ । यदा रुदिर्नास्ति तदा मतुरेव भवति । द्युमान् । द्रुमान् ।

केशाद्वो वा ॥४१॥३५॥ केशशब्दाद् व इत्ययं ल्यो भवति वा मत्वर्थे । प्रकृत वाग्रहण मतुसमुच्चयार्थम् । इदं तु सर्वविकल्पार्थम् । तेन टेनावपि भवतः । केशवः । केशवान् । केशिकः । केशी । “मणिप्रभृतिभ्य इति वक्तव्यम्” [ वा० ] । मणिवः । हिरण्यवः । कुररावम् । इष्टकावम् । राजीवम् । “घर्णसः ख च” [वा०] । अर्णवः ।

गाण्ड्यजगात्खौ ॥४१॥३६॥ गाण्डी अजग इत्येताभ्या वो भवति मत्वर्थपुत्रिये । गाण्डीयं घनुः । अजगव घनु । प्रादपि भवति । गाण्डिवं घनुः । मत्वन्तेन सज्ञा न गम्यते इति मतुर्न भवति । खाविति किम् ? गाण्डीमान् दण्डः ।

काण्डारडादोरः ॥४१॥३७॥ काण्ड-अण्डशब्दाभ्यामीर इत्यय ल्यो भवति मत्वर्थे । टेनोरपवादः । काण्डीरः । अण्डीरः । वेति मतुसमुच्चयार्थं वर्तते । काण्डवान् । अण्डवान् ।

रजःकृष्यात्सुतिपरिपदो वलः ॥४१॥३८॥ रज कृषि आसुति परिपद् इत्येतेभ्यो वनो भवति मत्वर्थे । रजसो विनि प्राप्ते इतरेभ्यो मनो वचनम् । रजस्वला नारी । कृषीवलः कुटुम्बी । आसुती । वलः । “वल” [४१॥२२१] इति दीत्वम् । परिपद्वलो नृपः । इतिशब्दः प्रयागनियमार्थमनुवर्तते । परिपदः सामान्येन । इतरेभ्यः सज्ञाया प्रयोगः । तेनेह वलो न भवति । रजोऽन्मिन् ग्रामेऽस्ति, आसुति रस्तिन् भाण्डेऽस्ति । “वलप्रकरणेऽन्येभ्योऽपि दृश्यते इति वक्तव्यम्” [वा०] । पुत्रवतः । भ्रातृवतः । उ-सङ्गवतः । “वले” [४१॥२२१] इत्यत्र खाविपनुवर्तनादखौ दीत्व न भवति ।

दन्तशिखान्खौ ॥४१॥३९॥ दन्त-शिखाशब्दाद् वनो भवति मत्वर्थे पुत्रिये । दन्तशो नम वच्न । शिखावन् नम नगरम् । यत्र तन्नेन सज्ञा गम्यते तत्र मतुर्न भवति । शिखान्खौ । ननु देशः, त्विमुच्यमाने “शिखाया वल” [३१॥६८] दन्ता चादुर्गमिन् न हि हिमयन्ति वक्तव्यम् ? अदेशार्थेन वक्तव्यम् । तस्य निर्वृत्त्यर्थं वक्तव्यम् ।

ज्योत्स्नातमिस्राशृङ्गिणोर्जस्विन्नूर्जस्वलवत्सलांशलदन्तुरहस्तिनगोमिन्स्वामिन्वर्णिन्  
मलिनमलीमसाः ॥४१॥४०॥ ज्योत्स्नादयः शब्दा निपात्यन्ते मत्वर्थे । “ज्योतिष उडः खं नश्च  
सुविषये निपात्यते ।” ज्योत्स्नेति चन्द्रप्रकाशस्याख्या । अन्यत्र ज्योतिष्मती रात्रिः । “तमसः खं च  
उडश्च इत्वं निपात्यते ।” तमिस्रा रात्रिः । स्तीत्वमतन्त्रम् । तेन तमिस्रं नमः । मतुरपि भवति ।  
तमस्वती रात्रिः । “शृङ्गादिनो निपात्यते ।” शृङ्गिणः । शृङ्गवान् । “ऊर्जस्विन् ऊर्जस्वल इत्येतौ  
निपात्येते ।” ऊर्जस्वी, ऊर्जस्वलः, ऊर्जस्वान् । “वत्सांशब्दाभ्यां यथासङ्गं कामवति बलवति च लो  
निपात्यते ।” वत्सलः साधुः । स्नेहवान् इत्यर्थः । अंशलः पुरुषः । बलवानित्यर्थः । रुदिशब्दावेतौ । रुदिश्च  
मत्वन्तेन न गम्यते इति रुटेरन्यत्र मतुर्वेदितव्यः । “दन्तशब्दाहुञ्जतोपाधिकादुरः ।” दन्ता उन्नता अस्य  
सन्ति दन्तुरः । उन्नतविशेषणादन्यत्र दन्तवान् । “हस्तशब्दाज्जातावभिधेयायामिन्” । हस्ती । अन्यत्र  
हस्तवान् पुरुषः । “गोशब्दादिमिन्” । गावोऽस्य सन्ति गोमी । गोमानिति भवति । “स्वशब्दादिमिन् दीत्वं च  
निपात्यते ऐश्चर्ये गम्ये” । स्वमस्यास्ति स्वामी । अन्यत्र स्ववान् । “वर्णादिन् ब्रह्मचारिणि” । वर्णा । ब्रह्म-  
चारीत्यर्थः । “मलशब्दादिन ईमस इत्येतौ निपात्येते” । मलिनः । मलीमसः ।

ठेनावतः ॥४१॥४१॥ अकारान्तान्मृदष्ट इन् इत्येतौ तौ भवतो मत्वर्थे । दण्डिकः । दण्डी ।  
छत्रिकः । छत्री । वेत्यनुवृत्तेर्मतोः समुच्चयः । दण्डवान् । अत इति किम् ? खट्वावान् । अत्रेष्टिः ।

“एकाक्षरात् कृतो जातेरीवर्थे” [ पा. म. १।२।१५५ ] । एकाक्षरात्-खवान् ।  
खवान् । कृदन्तात् । कारकवान् । हारकवान् । जातेः । व्याघ्रवान् । सिंहवान् । ईवर्थे । दण्डा अस्या  
सन्ति दण्डवती शाला । नेद वक्तव्यम् । अनभिधानादेवान् ठेनौ न भवतः । यत्राभिधानं तत्र भवत एव ।  
फार्यी । हार्यी । तन्दुलिक । तन्दुली । ईवर्थे । खलिनी भूमिः । सा(शा)द्वलिनी भूमिः ।

घ्रीह्यादेः ॥४१॥४२॥ ब्रीहि इत्येवमादिभ्यष्टेनौ भवतो मत्वर्थे । वेत्यनुवृत्तेर्मतुरपि भवति । ब्रीहयोऽस्य  
सन्ति ब्रीहिकः, ब्रीही, ब्रीहिमान् । मायिकः, मायी, मायावान् । इतिशब्दः प्रयोगनियमार्थोऽनुवर्तते । न  
ब्रीह्यादिषु ये शिखादयः पठ्यन्ते तैभ्य इन् भवति । यवखडादिभ्यष्टो भवति । परिशिष्टेभ्य उभय भवति ।  
सर्वत्र आदिशब्दः प्रकारवाची । शिखाऽस्यास्ति शिखी । शिखावान् । शिखा । माला । मेखला । शाखा ।  
वीणा । सशा । बडवा । अष्टका । बलाका । पताका । कर्मन् । धर्मन् । चर्मन् । यव । खड । नौ । कुमारी ।  
एतेभ्य इन्नेष्यते । परिशिष्टेभ्यो द्वावपि भवतः । “शीर्षाद्वज्रः” [ पा० ] अशीर्षिकः । अशीर्षी । अशीर्ष-  
वान् । शीर्षशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति ।

तुन्दादेरिलः ॥४१॥४३॥ तुन्द इत्येवमादिभ्य इलो भवति ठेनौ च मत्वर्थे । उत्तरान्नित्यग्रह-  
णादिर ठेनोः समावेशो लभ्यते । मतोस्तु वेत्यनुवृत्तेरेव समुच्चयः । तुन्दमस्यास्ति तुन्दिल । तुन्दिकः । तुन्दी ।  
तुन्दवान् । तुन्द । उदर । पिचण्ड । चय । ब्रीहिग्रहणं सरूपार्थम्, अर्थनिर्देशार्थं च । ब्रीहिलः, ब्रीहिकः,  
मीरिमान् । शालिलः, शालिकः, शालिमान् । स्वाङ्गविवृद्धौ । कर्णौ विवृद्धावस्य कर्णिलः, कर्णिक,  
वर्णा, वर्णावान् । पिच्छादयोऽपि पठनीयाः । तैभ्यष्टेनोरभिधानं नास्ति । पिच्छा । उरस् । ध्रुवका । जटा-  
पाटा काला भिभ्यः क्षेपे । पर्ण । उदक । प्रज्ञा ।

एकानोपूर्वाट्ठिज्जित्यम् ॥४१॥४४॥ एकपूर्वाद् गोपूर्वाच्च नित्यं ट्ठ् भवति मत्वर्थे । एक-  
पूर्वात्तमाधिपरस्याऽवसादेव विधिः । एकहलमस्यास्ति ऐकहलिकः । “हृदर्थे” [ १।१।४६ ] इति रसे कृते  
ट्ठ् । ननु हृदलात् परत्वाच्च वसे कृते वसेनोक्तत्वान्मत्वर्थयो न प्राप्नोति यथा चित्रगुरिति । सत्यम् ।

१. -ते लक्ष्म्या च इति नष्टमाप्ये ।



इह तु वचनान् भवति । एकस्य हलम्, एकहलम्, इत्यत्रानभिधानान्नेष्यते । एवम् ऐकशतिकः । ऐकसहस्रिकः । गवा शतं गोशतं तदस्यास्ति गौशतिकः । गौसहस्रिकः । यदि अत इति वर्धते इह न भवति । एकविंशतिरस्यास्ति, गोविंशतिरस्यास्ति । इह तु न सिद्ध्यति । ऐकगविक इति सान्ते कृते भविष्यति । कथमेक शकटिरस्यास्ति, ऐकशकटिकः । गौशकटिक इति ? अव्यविकन्यायेन शकयान्ता इत्यन्ति ( न्तादुत्पत्तिः ) । नित्यग्रहण ठेनोर्मतोश्च वाधनार्थम् । कथमेकद्रव्यत्वादिति ? चिन्त्यमेतत् ।

निष्काच्छ्रुतसहस्रान्तात् ॥४१॥४५॥ निष्कात्परो यौ शत-सहस्रशब्दौ तदन्तान्मृदो नित्यं ण् भवति मत्वर्थे । निष्काणां शतम्, निष्कशतम्, तदस्यास्ति नैष्कशतिकः । नैष्कसहस्रिकः । सुवर्णनिष्कशत-मस्यास्तीत्येवमादिष्वनभिधानान्न भविष्यति ।

रूप्यहिम्यगुण्याः ॥४१॥४६॥ रूप्य हिम्य गुण्य इत्येते शब्दाः निपात्यन्ते मत्वर्थे । रूपशब्दादाहत-विशिष्टाच्च यत्यो निपात्यते । आहत रूपमस्यास्ति रूप्यः कार्षापणः । प्रशस्तं रूपमस्यास्ति रूप्यो गौः । रूप्या कन्या । आहतप्रशसाभ्यामन्यत्र रूपवान् । हिममस्यास्तीति हिम्यः पर्वतः । गुणा अस्य सन्ति गुण्यस्तपस्वी । नित्यग्रहणं ठञा सह निवृत्तम् । वेत्यनुवृत्तेर्मतुरपि भवति । रूपवान् । हिमवान् । गुणवान् ।

विन्नस्माद्यामेधास्त्रजः ॥४१॥४७॥ असन्तान्मृदो माया मेधा स्रज् इत्येतेभ्यश्च विन् भवति । मत्वर्थे । वेत्यनुवृत्तेर्मतुरपि भवति । श्रोजस्वी । तेजस्वी । मायावी । मेधावी । स्रग्वी । तेजस्वान् । मेधावान् । स्रग्वान् । मायाशब्दस्य व्रीह्यादिपाठाभ्युत्पन्नो भवन्ति ।

वाचो गिमन् ॥४१॥४८॥ वाक्शब्दाद्गिमन् भवति मत्वर्थे । वाग्मी । “स्वादावधे” [१२११०६] इति पदत्वात् पूर्वस्य कुलजस्त्वे । वाग्वान् । “ऋयः” [५३३३] इति मतोर्वत्वम् ।

बहुलापिन्यालाटो ॥४१॥४९॥ वाच आल आट इत्येतौ लो भवतो मत्वर्थे बहुलापिन्यभिधेये । वाचालः । वाचाटः । “कुत्सायामवं योगो वक्तव्यः ।” यो हि समीचीन बहु सलपति वाग्मीति भवति ।

अर्शआदेरः ॥४१॥५०॥ अर्शस् इत्येवमादिभ्यः, अ इत्यय लो भवति मत्वर्थे । आदिशब्दः प्रकारवाची । अर्शास्त्रस्य सन्ति, अर्शसः । अर्शस् । उरम् । तुन्द । मृण्ड । चतुर । पलित । जटा । घाटा । आन्या सिध्मादित्वात् लमन् अपि भवतः । तुन्दादिन्वादिलोऽपि भवति । अश्र । अम्ल । लवण । श्यान्ना दूधीनात् । खड्गः पादोऽस्याऽस्तीति खड्गः । काण चक्षुरस्य काणः । कथं कुण्ठिः पुरुषः कुण्ठिर्हन्ता ? तद्योगात्तथोक्तः । यथा पद्भुः । वर्णात् । शुक्ल हरितम् । ननु शुक्लादीनां भेदोपचारादयं भविष्यति । एव तर्हि द्रव्यवाचिभ्यो भविष्यति । शुक्लगुणयुक्ताः प्रासादा शुक्ला आसिन् सन्ति शुक्ल नगरम् । “ज्योत्स्ना वसिष्ठाभ्यां णिद् भवति पक्षे” [ वा० ] ज्योत्स्नः पत्नः । ताम्रिः पत्नः । नेद वक्तव्यम् । “अणप्रक्षणा ज्योत्स्नादिभ्य उपसंस्थानमिति” सिद्धम् । एव च ज्योत्स्नी रात्रिः, ताम्रिणी रात्रिरिति डीविधेरपि लाभः ।

हृन्दोपतापमह्यान्प्राप्तिनीन ॥४१॥५१॥ उपतापो व्याधिः, गणे कुन्त्यम् । अत इति पत्नी । हृन्दशब्दादुपतापवाचिनी गण्येवाचिनश्च मृदः प्राप्तिनि वर्तमानादिन् भवति मत्वर्थे । गण्येवपुत्रिणी । “अणप्रक्षणा ज्योत्स्नादिभ्यो वक्तव्यम्” [ वा० ] इह नास्ति । प्राप्तिपादवती । उपतापान् । दृष्टी । निन्तासी । गह्यात् । बहुदावती । काकनावती । प्राप्तिनीति स्मि ? पुत्रपत्नयान् वृद्ध । अत इति । ऋकटिकावती । टमन्त्रोवचनार्थे ( वाधनार्थे ) इहम् ।

वातातीसारान्शं कुब् ॥४१॥५२॥ वात अतीसारशब्दस्या मत्वर्थे इह भवति, ताम्रनिर्गतेन कुम्भेन । उपतापमह्येति निन्दे कुम्भे अणम् । वातः । अत इति । “पिशाचाद्येति वक्तव्यम्” [ वा० ] निन्दवती ।

डटो वयसि ॥४१॥५३॥ इन्निति वर्तते । डडन्तान्मृद इन्नेव भवति वयसि गम्यमाने । पञ्चमोऽ  
स्यास्ति संवत्सरो मालो वा पञ्चमी उग्रः । एव नवमी । दशमी ।

सुखादेः ॥४१॥५४॥ सुख इत्येवमादिभ्य इन्नेव भवति मत्वर्थे । सुखमस्यास्ति सुखी । सुख । दुःख ।  
तृष । कृच्छ । अन्न । आस । अलीक । कण्ठ । कृष्ण । सोढ । सोफ । प्रतीप । शील । हल । फल ।  
माला क्षेपे । माली । अन्यत्र मालावान् माली च । ग्रीहादिषु शिखादिमालाशब्दाः पठ्यन्ते, क्षेपे मतुवाध-  
नार्थस्तस्येह पाठः ।

धर्मशीलवर्णान्तात् ॥४१॥५५॥ धर्मान्तात् शीलान्तात् वर्णान्ताच्च मृद इन्नेव भवति मत्वर्थे ।  
तपस्विना धर्मः तपस्विधर्मः, सोऽस्यास्तीति तपस्विधर्मी । तपस्विशीली । क्षत्रियवर्णी ।

पुष्करादेर्देशे ॥४१॥५६॥ पुष्कर इत्येवमादिभ्य इन्नेव भवति मत्वर्थे देशेऽभिधेये । पुष्पकरिणी ।  
पद्मिनी । देश इति किम् ? पुष्करवान् हस्तो । पुष्कर । पद्म । उत्पल । कुमुद । तमाल । नड । कर्पत्य । कर्दम ।  
विष । मृणाल । साल्वक । विगर्ह । करीष । शिरीष । यवास । हिरण्य । अत्रेष्टयः—“इन्प्रकरणे बलाद् बाहूरु-  
पूर्वाद्दुपसंख्यानम्” [वा०] । बाहुबली । ऊरुबली । “सर्वोदक्षेति वक्तव्यम्” [वा०] । सर्ववनी । सर्ववाजी ।  
सर्ववेशी । “अर्धाद्वाससिहिते वत्तमानादिन् वक्तव्यः” [वा०] । असन्निहितस्यास्तित्वेन विरोध इति चेद्,  
एवं तर्हि तद्विषयाऽभिलाषत्याविरोधः । अर्थो । अर्याभिलाषवानित्यर्थः । असन्निहित इति किम् ? अर्थवान् ।  
“तदन्ताद्देति वक्तव्यम्” [वा०] । धान्यार्थी । हिरण्यार्थी । “शृङ्गवृन्दाभ्यामारको वक्तव्यः” [वा०] । शृङ्गे अत्य  
स्तः शृङ्गारकः । वृन्दारकः । “फलवर्हाभ्यामिनः” [वा०] । फलिनो वृद्धः । बर्हिणो मयूरः । “हृदयाच्चातुर्वा  
पस्तव्यः” [वा०] । हृदयातुः । हृदयिकः । हृदयो । हृदयवान् । “शीतोष्णतृप्तेभ्यस्तन्न सहस्र इत्यातुर्वक्तव्यः”  
[वा०] । शीत न सहते शीतातुः । उष्णातुः । तृप्तातुः । “हिमाच्चैलुः” [वा०] । हिमं न सहते हिमेतुः ।  
“बलाद्बलः” [वा०] । बल न सहते बलूलः । “वातात्समूहे तन्न सहते इति च” [वा०] । वातसमूहो वातूलः ।  
वात न सहते वातूलः । “त. पूर्वमरुद्भ्यां मत्वर्थे” [वा०] । पर्वाण्यस्य सन्ति पर्वतः । मरुतः ।

पलादेर्मतुर्वा ॥४१॥५७॥ बल इत्येवमादिभ्यो मतुर्भवति । वावचनेन पदे इन् प्रकृतः  
समुच्चयते । ठोऽत्र न भवति । बलमस्यास्ति बलवान् । बली । इदमेव मतुवचनं शापकम्, इन्विषये मतुर्न  
भवतीति । बल ॥ उत्साह । उद्दास । उद्भास । बुल । दुष । पुल । दल । कुल । आयाभ । व्यायाम ।  
प्रयाम । उपयाम । आरोह । अवरोह । परिणाह । शिखादेराकृतिगणत्वात्सिद्धे प्रपञ्चार्यमिदम् ।

मन्माभ्यां हौ ॥४१॥५८॥ मनन्तान्मशब्दान्ताच्च मृद इन् भवति मत्वर्थे खुविषये । धर्मिणी ।  
चर्मिणी । चर्मवतीति निपातन वक्ष्यति । तत एव मतुः । मान्तात् । भामिनी । कामिनी ।

तुण्डवटिवलेर्भः ॥४१॥५९॥ तुण्डि वटि वलि इत्येतेभ्यो भ इत्यय त्यो भवति मत्वर्थे । विवृद्धा  
नाभिस्तुण्डिः, सोऽस्यास्ति तुण्डिभः । तुन्दादिषु स्वाङ्गविवृद्धाविति इलमतुर्भेनः प्राप्ताः । वटिभः । मतुः प्रात ।  
वलिभः । अस्मात्त्वामादिषु पाठात् नमत् च भक्तः । वलिनः । वलिमान् ।

कंशभ्याम् ॥४१॥६०॥ कंशशब्दौ मकारान्तौ ललसुखयोर्वाचकौ । कंश शब्दाभ्यां भत्यो भवति  
मत्वर्थे । कम्भः । शम्भः ।

पयस्तिवृताः ॥४१॥६१॥ कंश या वयस् ति वृ ता इत्येते त्या भवन्ति मत्वर्थे । कम्भः, शम्भः,  
पयः, शयः । स्कारः “सिति” [१।२।१०५] इति पदसंज्ञाऽयं । पदस्येत्यधिकृत्य यकारत्वानुत्तरपरस्त्वत्वे सिद्धे

भसंजायां हि कभ्यः शम्यः इत्यनिष्ट प्रसज्येत । कन्तिः, शन्तिः, कन्तुः, शन्तुः, कन्तः, शन्तः, । सर्वत्र पूर्वस्य पदत्वात् “मोऽनुस्वारः” [१।४।७] इत्यनुस्वारः । तस्य “वा पदान्तस्य” [१।४।१३३] इति परस्वत्वम् ।

ऊर्णाऽहंशुभंभ्यश्च युस् ॥४१।६२॥ ऊर्णा, अहम्, शुभम्, इत्येतेभ्यः कंशभ्या च युस् इत्यस्यो भवति मत्वर्थे । सकारः “सिति” [१।२।१०५] इति पदसंज्ञार्थः । ऊर्णायुः । अहमित्यहङ्कारवाचि शब्दान्तरम् । अहयुः । शुभमिति मकारान्तः शुभपर्यायः । शुभंयुः । कयुः । शंयुः । नासिक्यस्य योरनादेशो वक्ष्यते इत्यस्य न भवति ।

सूक्तसान्नोश्छुः ॥४१।६३॥ मृदश्छो भवति मत्वर्थे सूक्ते साम्नि चाभिधेये । वेदे वाक्यसमूहः सूक्तम्, सामेति च संज्ञा । मनुठेनामपवादः । अच्छावाकशब्दोऽस्मिन्नस्ति अच्छावाकीय सूक्तम् । मैत्रावरुणीय सूक्तम् । यज्ञशब्दोऽस्मिन्नस्ति यजीय साम । वारतन्तवीय साम । अनुकरणशब्दा एतेऽनुकार्यशब्देरर्थवन्त इति मृत्संज्ञा सिद्धा । तेऽन्यपदसङ्घातादपि अनुकरणात्त्यो न भवति । अस्यवामशब्दोऽस्मिन्नस्त्यस्यवामीयम् । कयाशुभशब्दोऽस्मिन्नस्ति कयाशुभीयम् ।

अध्यायाऽनुवाकयोर्वोप् ॥४१।६४॥ अध्यायाऽनुवाकयोरभिधेययोर्मृदश्छो भवति मत्वर्थे तस्य च वा उन्भवति । गर्दभाण्डशब्दोऽस्मिन्नस्ति गर्दभाण्डीयः । गर्दभाण्डः । कूर्चमुखः । उच्छिष्टीयः । उच्छिष्टः । दीर्घजीवितीयः । दीर्घजीवितः । पदसमुदायात्यः । वलितरुम्भीयः । वलितरुम्भः ।

विमुक्तादिभ्योऽण् ॥४१।६५॥ विमुक्त इत्येवमादिभ्योऽण् भवति मत्वर्थेऽध्यायानुवाकयो-रभिधेययोः । विमुक्तशब्दोऽस्मिन्नस्ति वैमुक्तोऽध्यायोऽनुवाको वा । विमुक्त । देवासुर । रक्षोऽसुर । उपसत् । परिसारक । वसु । मरुत् । सलन्तु ( त् ) । पत्नीवन्तु ( त् ) । दशार्ह । वयस् । हविर्घाता । महित्री । सोमा-पूपन् । ईडा । आम्नाविपु ( अग्नाविष्णू ) । वृत्र । हर्तृ ।

घोपदादेर्वुन् ॥४१।६६॥ अध्यायानुवाकयोरिति वर्तते । घोपदादिभ्यो मृदभ्यो युन् भवति मत्वर्थे । घोपच्छब्दोऽस्मिन्नर्थे ( सिन्नस्तीत्यर्थे ) युन् भवति । घोपदकोऽध्यायोऽनुवाको वा । घोपदिति केषाञ्चित्पाठः । घोपद् । ईषेत्वा । मातरिश्चन् । देवस्य त्वा । देवीराया ( रापः ) । देवीत्या । कृष्णो स्यात्खरेत्वा ( खरेष्ट ) । देवीन्विया ( देवी धियम् ) । रक्षोहण । अर्जत । प्रतूर्त्त । दृशान । अघार । अन्न । प्रभूता ( प्रभृत ) । कृशानु ।

वनहिरण्ये कामे ॥४१।६७॥ वनहिरण्यशब्दाभ्यामीप्समर्थभ्या काम इत्येतस्मिन्नर्थे युन् भवति । कामोऽभिलाषः । वने कामः, वनको देवदत्तस्य । हिरण्यको देवदत्तस्य ।

किंवहुसर्वान्मो-द्ध्यादेः ॥४१।६८॥ किमः बहुशब्दात्, सर्वनाम्नश्च द्व्यादिसर्बनाद् वक्ष्यमाणस्तस्या भवन्तीत्येषोऽधिकारो वेदितव्यः । ‘ते विमक्यः’ [४।१।११] इति वक्ष्यति । प्रागेतमा-दयमधिकारः । द्व्यादिपर्युदासने प्रतिषेधे प्राते किमः पृथग्रहणम् । वक्ष्यमाणान्मादय स्वार्थिभ्यः । तेषुः समर्थग्रहणं प्रथमग्रहणं च प्रतियोगिनो द्वितीयस्याऽभावात् सम्भवति । वाग्रहणं तनुर्त्त एव । वृत्तः । कलन् । बहुत । बहुभ्यः । बहुशब्दश्चेद् बहुत्यावाची एवमे, न वपुन्यवाची । तेनेः ( न ) भवति बहोः सुतात् । यत् । यलन् । तत् । तलन् ।

इदम इय ॥४१।६९॥ इदम इय् भवति वक्ष्यमाणेषु तन्मादि पदम् । इकारः, तन्मादि । इत् । इत् । इदनीम् ।

एतेतौ र्थोः ॥४११।७०॥ इदम एत इत् इत्येतावादेशौ भवतो यथासङ्ख्य रेफथकारादौ तसादौ परतः । इशोऽपवादः । अस्मिन् काले एतर्हि । अनेन प्रकारेण इत्थम् । “इदमो हि” [४११।८२] “किमिदंभ्याथम्” [४११।६०] इति हिंयमौ ।

एतदः ॥४११।७१॥ एतदश्च एत इत् इत्येतावादेशौ भवतो यथासङ्ख्य रेफथकारादौ परतः । एतस्मिन्काले, एतर्हि । “वाऽनघतने हि” [४११।८६] इति हिः । इदमो यो रेफथकारादिः, तस्मिन्परत इतीदं विशेषणम् । एतदोऽपि प्रकारे यं भवति । एतेन प्रकारेण इत्थम् ।

अश् ॥४११।७२॥ एतदोऽशित्ययमादेशो भवति वक्ष्यमाणेषु तसादिषु परतः । शकारः सर्वदेशार्थः । अतः । अत्र ।

कायास्तस् ॥४११।७३॥ किम्बहुसर्वनाम्नोऽद्वयादेरिति वर्तते । कान्तात्तस् भवति । कस्मात् कुतः । बहुभ्यो बहुतः । यस्माद् यतः । तसि कृते पूर्वस्य सुपः ‘सुपो धुमृदोः’ [१।४।१४२] इत्युप् । अद्वयादेरित्येव । द्वाभ्याम् । युष्मत् । अस्सत् ।

तसेः ॥४११।७४॥ “प्रतियोगे कायास्तसिः” । [४।२।४६] “अपादानेऽहीयरुहोः” [४।२।५०] इत्येवमादिना विहितस्य तसेरिह ग्रहणम् । एतदर्थमेव च तत्रेकारेत्करणम् । किम्बहुसर्वनाम्नः परस्य तसेस्तसादेशो भवति । कुत आगतः । बहुत आगतः । यत आगत । विभक्तीसंज्ञार्थं तसेस्तसादेशः । पूर्वेष्वैव तत्र सिद्धमिति चेत्, नैवं शक्यम्, हीयरुहोः प्रयोगे कुतो हीनः यतो हीन इत्यत्र तसं पूर्व सावकाशं बाधित्वा हीयरुहोरप्रयोगे (?) अपादाने किम्बहुसर्वनामभ्यः परत्वात्तसिर्भवति ।

पर्यभिभ्याम् ॥४११।७५॥ परि अभि इत्येताभ्या तस् भवति । परित । अभितः । यथासङ्ख्यं सर्वोभयार्थे वर्तमानाभ्यामिष्यते । इह मा भूत् । परिभवति । अभ्येति ।

ईपस्त्रः ॥४११।७६॥ किम्बहुसर्वनामभ्यो द्वयादिवर्जितेभ्य ईवन्तेभ्यस् इत्यय त्यो भवति स्वार्थे । बहुषु बहुत्र । यस्मिन् यत्र । किमिदमभ्यामपवादो वक्ष्यति ।

इदमो हः ॥४११।७७॥ इदम ईवन्तात् ह इत्यय त्यो भवति । तस्यापवादः । अस्मिन्, इह ।

किमोऽः ॥४११।७८॥ किम ईवन्तात् अ इत्यय त्यो भवति । तस्यापवादः । कस्मिन् कः । “कुक्षो तयो ( कुक्षवौ तयोः )” [५।१।१६३] इति किमः कशब्दादेशः । कथ कुत्रचित् इति ? चिन्त्यमेतत् ।

दृश्यन्तेऽन्यतोऽपि ॥४११।७९॥ कामीप च विहाय अन्यविभक्तयन्तेभ्योऽपि दृश्यन्ते तसादयः । किम्बहुसर्वनाम्नोऽद्वयादेरिति वर्तते । क पुनर्दृश्यन्ते ? भवदादिशब्दस्य प्रयोगे । के पुनर्भवदादयः ? भवान् दीर्घायुर्देवाना प्रियः । आयुष्मानिति । स भवान् । ततो भवान् । तत्र भवान् । तं भवन्तम् । ततो भवन्तम् । तत्र भवन्तम् । तेन भवता । ततो भवता । तत्र भवता । तस्मै भवते । ततो भवते । तत्र भवते । तस्माद् भवतः । ततो भवतः । तत्र भवतः । तस्य भवतः । ततो भवतः । तत्र भवतः । तस्मिन् भवति । तत्र भवति । ततो भवति । एवमन्यत्राप्युदाहरणानि योज्यानि । भवदादिभ्योऽन्यत्रापि प्रयोगवशात्तसादयो वेदितव्याः । इतो गतः । अनेन गतः । एत आत्यताम् । इह आत्यताम् ।

दैकान्यकिंयत्तदः काले ॥४११।८०॥ ईप् इति वर्तते । एक अन्य किं यत्तद् इत्येतेभ्य ईप्समर्थेभ्यः काले वर्तमानेभ्यो दा इत्यय त्यो भवति । त्रादेरपवादः । एकस्मिन् काले एकदा । अन्यदा । कदा । तदा । एता । काल इति किम् ? एकस्मिन् देशे एकत्र ।

सर्वस्य सो वा दि ॥४१॥८१॥ सर्वशब्दस्य स इत्यवमादेशो भवति वा दा इत्येतस्मिन्परतः । ईप् इति वर्तते । काल इति च । वृद्धकुमारीवरवाक्यन्यायेन इदमेव लक्षणं दाविधानस्य । सर्वस्मिन् काले सदा । सर्वदा ।

इदमो हिं ॥४१॥८२॥ इदम ईवन्तात् काले वर्तमानात् द्वित्यो भवति । इत्यापवादः । अस्मिन् काले एतर्हि । काल इत्येव । इह देशे ।

अधुना ॥४१॥८३॥ अधुनेति निपात्यते । अस्मिन्काले अधुना । इदमः अशभावो धुना त्यः । अथवा अधुना इति ल्यो निपात्यते । इदम इशादेशः । “यस्य ङ याञ्च” [४१॥१३६] इति तस्य लम् ।

दानीम् ॥४१॥८४॥ इदम ईप्समर्यात्काले दानीमित्ययं ल्यो भवति । अस्मिन्काले इदानीम् ।

तदः ॥४१॥८५॥ तद् ईवन्तात्काले दानीं भवति । तस्मिन्काले तदानीम् । तदः पूर्वं दाविहितः सोऽपि भवति । तदा ।

चाऽनद्यतने हिं ॥४१॥८६॥ किंवहुसर्वनामभ्योऽद्वयादिभ्य ईवन्तेभ्योऽनद्यतने काले द्वित्यो वा भवति । पक्षे यो यतो विहितः स च भवति । कर्हि, कदा । यर्हि, यदा । तर्हि, तदा । अमुर्हि, अमुत्र ।

पूर्वान्यान्येत्तरेतरापरचरोभयोत्तरेभ्योऽहन्येद्युस् ॥४१॥८७॥ पूर्वोद्वयादिभ्य ईप्समर्थेभ्योऽहनि वर्तमानेऽय एद्युस् भवति । पूर्वस्मिन्नहनि पूर्वेषुः । अन्येषुः । अन्यत्तरेषुः । इतरेषुः । अपरेषुः । अवरेषुः । उभयस्मिन्नहनि उभयेषुः । उत्तरेषुः । “द्युश्चोभयाद्वक्तव्यः” [वा०] । उभयेषुः ।

सद्योऽद्यैषमः परेद्यविपक्वपरारि ॥४१॥८८॥ सद्य इत्येवमादयः शब्दा निपात्यन्ते । ईप् इति वर्तते काल इति च । समानस्य सभावो यथाहनि निपात्यते । समानेऽहनि सद्यः प्राणकर जलपानम् । इदमोऽमृश)भावोऽहनि य इत्ययं च त्यः । अस्मिन्नहनि अय । इदमः सममण सक्तसरे । अस्मिन् सक्तसरे ऐषमः । अकार उच्चारणार्थः । इदम इशादेशः । आदेरैप् । “त्यादेशयोः” [४१॥३६] इति पञ्चम् । परशब्दादहनि एद्यवि । परस्मिन्नहनि परेद्यवि । पूर्वपूर्वतरयोः परभावः उदारी च ल्यो सक्तसरे । पूर्वस्मिन् सक्तसरे पक्त् । पूर्वतरे सक्तसरे परारि । कथं पक्त्वादित्यामि, परारि दान्यामि इति ? एव तर्हि परपरतग्योरपि प्रकृतयोः परिग्रहः कर्तव्यः ।

प्रकारे था ॥४१॥८९॥ ईप् इति निवृत्त काल इति च । किंवहुसर्वनामभ्योऽद्वयादिभ्यो यथा सम्भवं सर्वविभक्तयन्तेभ्यः प्रकारे वर्तमानेभ्यस्तथा इत्ययं ल्यो भवति स्वार्थः । सामान्यस्य भेदको विशेषनिर्देशः प्रकारः । गच्छतीति सामान्यम् । तस्य विशेषनिर्देशः रथेन अश्वेन पादाभ्यामित्यादि । पुरुष इति सामान्यम् । तस्य विशेषनिर्देशः बुद्धिमान् दत्तः शर इत्यादि । वर्तत इति सामान्यम् । तस्य विशेषा अत्यानादयः । सर्वेषु प्रकारेषु सर्वथा । यथा । तथा । अद्वयादेरिति किम् ? द्वाभ्या प्रभाराम्या गच्छति । अथ प्रभाराम्या भवति । ऋतीयः पुनः प्रकारवति । यज्ञातीयः । तत्रातीयः ।

किमिदंभ्या थम् ॥४१॥९०॥ किम् इदम् इत्येना या प्रकारे वर्तमानान्या यमित्ययं ल्यो भवति । या इत्यापवादः । केन प्रकारेण कथम् । अनेन प्रकारेण कथम् ।

ते विभक्त्यः ॥४१॥९१॥ ते तदाऽप्यन्ता विभक्तीन्तया वेदितव्या । विभक्तीन्तया वृत्तोरुद्गम्या नि दत्तानि । “तदादिहृन्शब्दस्य उभयादेशो वक्तव्यः” [वा०] । उभयाभ्यां नमः उभयोर्दभयम् । उभयाभ्यां प्रकाराभ्यामुभयम् । नमः वक्तव्यम् । उभयवत्तयः तदादिभ्योऽपि वक्तव्यम् । यथा उभयम् पुन इत्येवमेव ।

दिक्छन्देभ्यो वाकेभ्योऽस्तादिगदेशयोः ॥४११।६२॥ दिशा शब्देभ्यः वा का ईप् इत्येवमन्तेभ्यो दिग्देशयोर्वर्तमानेभ्योऽस्तादित्यथ लो भवति स्वार्थे । पूर्वा दिग् रमणीया । पूर्वा दिशो रमणीयाः । पुरस्ताद् रमणीयम् । “अस्ताति” [४११।१०४] इति पूर्वावराधराणां पुरवध आदेशाः । अस्ताद्यन्ताः शब्दा अलिङ्ग-सङ्गुया अनुप्रयोगाया नपुसपलिङ्गहेतुर्भवति । पूर्वस्या दिश आगत, पूर्वस्माद्देशादागतः, पुरस्तादागतः । पूर्वस्या दिशि वसति, पूर्वस्मिन्देशे वसति, पुरस्ताद् वसति । एवमवस्ताद्रमणीयम् । अवस्तादागतः । अवस्ताद् वसति । दिक्छन्देभ्य इति किम् ? ऐन्द्री दिग् रमणीया । ऐन्द्रीशब्द इन्द्रसम्बन्धिन स्त्रीलिङ्गस्य वस्तुनो वाचको न तु दिक्छन्दः । वाकेभ्य इति किम् ? पूर्वा दिश गतः । दिग्देश इति किम् ? पूर्वस्मिन् गुरौ वसति । अत्र दिगाद्युपलक्षिते गुरौ पूर्वशब्दः प्रयुक्तः ।

काले ॥ ४११।६३ ॥ काले वर्तमानेभ्यो दिग्शब्देभ्यो वाकेवन्ते योऽस्ताद् भवति । विभक्तीनां दिगादिभिर्व्यथासङ्ग्य मा भूदित्येवमर्थे पृथक् सूत्रकरणम् । पूर्वकाले रमणीयः । पुरस्ताद् रमणीयः । पुरस्तादागतः । पुरस्ताद् वसति ।

दक्षिणोत्तराभ्यामतस् ॥४११।६४॥ दक्षिणोत्तरशब्दाभ्यां दिग्देशकालेषु वर्तमानाभ्यां वाकेवन्ताभ्यामतस् भवति । अस्तातोऽपवादः । दक्षिणशब्दस्य काले वृत्तिर्न सम्भवति । दक्षिणतो रमणीयम् । दक्षिणत आगतः । दक्षिणतो वसति । उत्तरतो रमणीयम् । उत्तरत आगतः । उत्तरतो वसति । किमर्थमतस्यकारः कियते ? स्त्रीलिङ्गेऽपि नास्ति विशेषः । “सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुवद्भावः” इति पुवद्भावो भविष्यति । एव तर्हि “ताऽस्तसर्धे ह्येन” [१।४।३६] इति विशेषणार्थः ।

वा परावराभ्याम् ॥४११।९५॥ पर-अवरशब्दाभ्यामतस् वा भवति अस्तादर्थे । परतो रमणीयम् । परस्ताद्रमणीयम् । परत आगतः । परस्तादागतः । परतो वसति । परस्ताद्वसति । अवरतो रमणीयम् । अवरस्ताद्रमणीयम् । अवरत आगतः । अवरस्तादागतः । अवरतो वसति । अवरस्ताद्वसति । अवरशब्दो वाचन न प्रयोजयति । “पूर्वापराधराणां पुरवधोऽस्ति” [४११।१०३] “अस्ताति” [४११।१०४] इति च वचनादस्तावपि भवतः ।

अञ्चैरूप ॥४११।६६॥ अञ्च्यन्तेभ्यो दिक्छन्देभ्यः परस्यास्तात उच्चभवति । प्राची दिग् रमणीया । प्राग्रमणीयम् । प्रागागतः । प्राग्वसति । अस्तात उपि “हृदुप्युप्” [१।१।६] इति स्त्रीत्यस्योप् । एवं प्रत्यग्रमणीयम् । प्रत्यगागतः । प्रत्यग्वसति । देशकालयोरप्युदाहरणानि नेयानि ।

उपर्युपरिष्ठात्पश्चात् ॥४११।९७॥ उपरि उपरिष्ठात् पश्चात् इत्येते शब्दा निपात्यन्ते अस्तादर्थे । ऊर्ध्वशब्दस्य उपभावो रिरस्तातौ च ल्यौ निपात्येते । ऊर्ध्वा दिग् रमणीया । उपरि रमणीयम् । उपरिष्ठाद्रमणीयम् । उपर्युपागतः । उपरिष्ठादागतः । उपरि वसति । उपरिष्ठाद् वसति । अपरशब्दस्य पश्चभाव आश्च ल्यः । अपरो देशो रमणीयः । पश्चाद्रमणीयम् । पश्चादागतः । पश्चाद्वसति । केचित्परशब्दस्येद निपातनमिच्छन्ति । “दिक्पूर्वपदस्य चापरस्य पश्चभावो वक्तव्यः” [वा०] । आच्च ल्यः । दक्षिणा परा दिग्रमणीया । दक्षिण-पश्चाद्रमणीयम् । उत्तरपश्चाद्रमणीयम् । “अधोत्तरपदस्य च दिक्छन्दस्य पश्चभावो वक्तव्यः” [वा०] । दक्षिणापरमर्दम् । दक्षिणपश्चादम् । उत्तरापरमर्दम्, उत्तरपश्चादम् । “अधो चोत्तरपदे द्वेवलस्यार्धस्य पश्च-भाषो वक्तव्यः” [वा०] । अपरमर्दं परचार्धम् ।

दक्षिणोत्तराऽव(ध)रादात ॥४११।६८॥ दक्षिण, उत्तर, अवर (अधर) इत्येतेभ्य आदित्यथं ल्यो भवति अस्तादर्थे । दक्षिणाद्रमणीयम् । दक्षिणादागतः । दक्षिणाद् वसति । उत्तराद्रमणीयम् । उत्तरादागतः । उत्तराद्वसति । अव(ध)राद्रमणीयम् । अव(ध)रादागतः । अव(ध)राद् वसति । दक्षिणोत्तराभ्यामतसपि अस्ताद् भवति । अस्तात पुनरपवादोऽयम् । अवर (अधर) शब्दाद् वक्ष्यमाणावस्तातावपि भवतः ।

वैनोऽदूरेऽकायाः ॥४।१।१६९॥ दक्षिण, उत्तर, अवर (अघर) शब्देभ्यो वा एनो भवति अस्तादर्थेऽदूरे गम्येऽकायाः । कायाः पर्युदासेन वेपौ गृह्येते । दक्षिणेन रमणीयम् । दक्षिणेन वसति ग्रामम् । उत्तरेण रमणीयम् । उत्तरेण वसति । अवरेण (अघरेण) रमणीयम् । अवरेण (अघरेण) वसति । वावचनानो यतो विहितः स च भवति । अदूर इति किम् ? हिमवतो दक्षिणाद् वसति । अत्रावरे खविमादूरे (अत्रावधि-मान् दूरे ) विवक्षितः । अकाया इति किम् ? दक्षिणादागतः । “दिक्छन्दमात्रादयमेनो वक्तव्यः” [ वा० ] दक्षिणोत्तरावर (घर) ग्रहण नानुवर्तनीयमिति केचित् । अच्यन्ता दिक्छन्दादनभिधानान्न भवति ।

दक्षिणादा ॥४।१।१००॥ अकाया इति वर्तते । दक्षिणशब्दादा इत्यय लो भवति अस्तादर्थे । दक्षिणा रमणीयम् । दक्षिणा वसति । सामान्येन दूरादूरयोरिहोदाहरणम् । उत्तरत्र दूरग्रहणात् । अकाया इत्येव । दक्षिणत आगतः ।

आहि च दूरे ॥४।१।१०१॥ अकाया इति वर्तते । दक्षिणशब्दादाहित्यो भवति आभा ( चादा ) अस्तादर्थे दूरे गम्यमाने । दक्षिणाहि रमणीयम् । दक्षिणाहि वसति । दक्षिणा वसति काञ्चीपुरात् । अकाया इत्येव । दक्षिणत आगतः ।

उत्तराच्च ॥४।१।१०२॥ अकाया इति वर्तते दूर इति च । उत्तरशब्दादाहि आ इत्येतौ लो भवतो अस्तादर्थे । आ इत्यनुकर्षणार्थश्चकार । उत्तराहि रमणीयम् । उत्तरा रमणीयम् । उत्तराहि वसति । उत्तरा वसति । अकाया इत्येव । उत्तरत आगतः । दूर इत्येव । मार्गमुत्तरेण प्रया (पा) ।

पूर्वविराधराणां पुरवधोऽस्ति ॥४।१।१०३॥ अकाया इति निवृत्तम् दूर इति च । पृथं, अवर, अघर, इत्येतेषा यथासङ्ख्यं पुर अर्ध अर्ध इत्येते आदेशा भवन्ति अस्तादर्थं अथि परत । अनेनैतानो विधानम् । पुरो रमणीयम् । पुर आगतः । पुरो वसति । अवो रमणीयम् । अव आगतः । अवो वसति । अघो रमणीयम् । अघ आगतः । अघो वसति ।

अस्ताति ॥४।१।१०४॥ अस्ताति च परतः पूर्वादीना पुरादयः आदेशा भवन्ति । इदमेव शापकम् । अस्तादपि भवतीति । अन्यथा विशेषविहितेनासा बाधा स्यात् । पुरस्ताद्रमणीयम् । पुरस्तादागतः । पुरस्ताद् वसति । अघस्ताद् रमणीयम् । अघस्तादागतः । अघस्ताद् वसति ।

वाऽवरस्य ॥४।१।१०५॥ अस्ताति परतोऽवरस्यावादेश । अवस्ताद्रमणीयम् । अवस्तादागतः । अवस्ताद् वसति ।

सङ्ख्याया विधाऽर्थे धा ॥४।१।१०६॥ यथासम्भव विभक्तीयोगः । सङ्ख्याशब्देभ्यो यिडाऽर्थं वर्तमानेभ्यो धा इत्यय लो भवति स्वार्थे । अर्थग्रहणसामर्थ्याद् विधाशब्द इह प्रकारवाची एषो । स च प्रसप्त द्रव्यगुणन्याविषयः । पङ्क्तिः प्रकारैः षोडा द्वयम् । बहुधा गुणाः । पञ्चवा करोति रक्तम् । द्वाभ्या प्रकारा यो द्विधा करोति । विधा । चतुर्धा । “अधिकरणविधात्रे चेति वक्तव्यम्” [ वा० ] । अरिस्मरण द्रव्यः । तस्य विचाल. सङ्ख्यन्तरागमनम् । एकस्य नानावापादनम् । अनेकस्य वा एकवापादनमित्यर्थः । नानागमनाने सङ्ख्याया धातो वक्तव्य । एक राशि पञ्चवा कुर्व । सप्तवा । नववा । अनेकमेकवा कुर्व । न वक्तव्य । द्रव्यगुणन्यामेवेन त्रिविधो विचार्य इत्युक्तम् । तत्र वान्ननक्तव्य । “प्रकारोक्तो ज्ञानीय” [ ४।१।१२८ ] इत्युक्तम् ।

वैकाद्व्यमुक्त् ॥४।१।१०७॥ एकशब्दद्वयमुक्त् भवति । एते वा एकव्य । ए० शब्द इह एकस्य इह । एकस्य इत्युक्त् । एकस्य मुक्त् ।

द्वित्रेर्धमुच्च ॥४१११०८॥ वेति वर्तते । द्वित्रिम्या वा धमुञ् भवति विधार्थे । द्वैध द्विधा । त्रैध त्रिधा । “धमुजन्तात् स्वार्थे ङो वक्तव्यः” [वा०] । मतिर्द्वैधानि । पथिर्द्वैधानि ।

एधा ॥४१११०९॥ द्वित्रिम्यामेधा भवति विधार्थे । द्वेधा । त्रेधा । यथासख्यनिवृत्त्यर्थो योगविभागः ।

याप्ये पाशः ॥४११११०॥ याप्य इह कुत्सितोऽभिप्रेतः । याप्यन्ते अपनीयन्तेऽस्माद् गुणा इति याप्यः । बहुलवचनादपदाने व्यसजः । याप्येऽर्थे वर्तमानान्मृदः पाश इत्ययं ल्यो भवति स्वार्थे । वैयाकरणो याप्यः, वैयाकरणपाशः । यस्तु गुणस्य हि भावाद् द्रव्ये शब्दविनिवेशः, तत्कुत्सने भवति । इह मा भूत् । चौ ये (रो) वैयाकरणः । इह याप्या कुमारी, कुमारपाशः । “तसादो” [४१११४७] इति पुवद्भावः । “वयस्यनन्त्ये” [१११२४] इत्यस्य ङाविधेः कृतत्वात्पाशान्ताद्याप् भवति । उक्तं च —

“स्वार्धमभिधाय शब्दो निरपेक्षो द्रव्यमाह समवेतम् ।

समवेतस्य तु वचने लिङ्गं संख्या विभक्त्यतीरव ॥

अभिधाय तान्विशेषानपेक्षमाणस्तु कृत्स्नमात्मानम् ।

प्रियङ्गुत्सनादिषु पुनः प्रवर्ततेऽसौ विभक्त्यन्तः” ॥ [४११७४ पात० भा०]

षष्ठाऽष्टमाद् भागे चः ॥४१११११॥ षष्ठ-अष्टमशब्दाभ्यां भागे वर्तमानाभ्यां ज इत्ययं ल्यो भवति स्वार्थे । षष्ठो भागः, षाष्ठः । अष्टमः । विकल्पाधिकारादनुत्पत्तिरपि भवति । षष्ठ । अष्टमः । भाग इति किम् ? षष्ठः पुरुषः ।

मानपञ्चङ्गयोः कोपौ च ॥४११११२॥ भाग इति वर्तते । षष्ठाष्टमशब्दाभ्यां मानपञ्चङ्गयो-र्भागविशेषयोरभिधेययोः क उप इत्येतौ भवत । पूर्वेषु विहितस्य अस्य उप् द्रष्टव्यः । षष्ठशब्दान्माने भागविशेषे को भवति । अष्टमशब्दात्पञ्चङ्गभागविशेषे अस्य उन्भवति । षष्ठको भागो मानं चेत्तद् भवति । अष्टमो भागः पञ्चङ्गं चेत्तद् भवति । विहितस्य अत्योर्विधानसामर्थ्याद् वा जोऽपि भवति । षाष्ठः । षष्ठः । षाष्टमः । अष्टमः ।

एकादाकश्चास्तहाये ॥४११११३॥ एकशब्दादसहायवाचिन आकिलित्य ल्यो भवति कोपौ च स्वार्थे । कत्योप् ? काकिनो । एकाकी । एककः । एकः । असहाय इति किम् ? यदैकशब्दः सङ्ख्याया-मन्यार्थे वा वर्तते तदा मा भूत् । अत एव द्विवहू अपि भवत । एकाकिनो । एकाकिनः । सख्यावाचते (त्वे) एववचनमेव स्यात् । अन्यार्थत्वे बहुवचनमेव स्यात् ।

तमेष्टावतिशायने ॥४११११४॥ अतिशायनं प्रकर्षः । “अन्यस्यापि” [४११२३२] इति दीक्षम् । इदं च प्रकृत्यर्थविशेषणं सर्वेषां स्थायिकानां द्योत्यम् । अतिशायनविशिष्टेऽर्थे वर्तमानान्मृद-स्वार्थे तम इष्ट इत्येतौ ल्यो भवतः अतिशायने द्योत्ये । वान्तात्पोत्पत्तिः । सर्वं इमे आद्यान्, अयमेपामाद्य-तमः । सुहृन्मरुतमः । सर्वं इमे पटवः, अयमेषा पटुतमः । कथं गोतमः । कारकतमः इति ? अत्रापि हिपगुणद्वारेण प्रकर्षावर्षयोगोऽस्ति । “नेपौ गुणवचनादेव” [४११११८] इति नियमो वक्ष्यते । सर्वं इमे पटवः अयमेव पटिष्ठ । यदा प्रकर्षवता पुनः प्रकर्षविवक्षा, तदा अतिशयावधानादपरं अतिशयाधिकः । श्रेष्ठतमः । सुहृन्प्रकर्षेण समानकक्षया स्पर्धा । तेनेह न भवति । सर्वपाणा महतामतिशायने महान् रिपुर्न इति ।



मिडः ॥४११११॥ यद्यपि मिडन्ते साधनप्रधाने अभिधानरूपेण गुणीभूता क्रिया, तथापि तस्याः साध्यमानत्वात्प्राधान्यम् । तदपेक्षायां साधनप्रकर्षेऽयं विधिर्वेदितव्यः । मिडन्तादतिशायने तम इत्ययं त्यो भवति । डयाम्मुदधिकारात् पूर्वेण प्राप्तिर्नास्ति । सर्वे इमे पचन्ति, अयमेषा पचतितमाम् । पठतितमाम् । ‘किमेन्मिडूक्कितादामद्रव्ये’ [४१।२०] इत्याम् । इष्टो “गुणवचनादेव” [४।१।११८] इति नियमादिह न सम्भवति ।

द्विविभज्येतेरेयसू ॥४१॥१६॥ द्वौ च विभज्य च, द्विविभज्यम् । द्विग्रहणमर्थनिर्देशपरम् । विभक्तव्य विभज्य पृथक्कर्तव्यमित्यर्थः । इदमेव निपातनं यविधे । इयर्थे विभज्ये च प्रयुक्ते सति उद्याम्बरो मिडश्च अतिशायने श्रोत्रे तर इयमु इत्येतौ त्रौ भवतः । तमेष्टयोरपवादः । यथासङ्ख्यमन्वरितत्वादिद नेष्यते । उभाविमावाद्भ्यौ, अयमनयोराढ्यतरः । कारकतरः । द्वाविमौ पचतः । अयमनयोः पचतितराम् । ईयसुर्युणवचनादेव । द्वाविमौ पट्ट, अयमनयोः पटीयान् । सूत्रे द्विशब्देन यद्यर्थग्रहण द्वयोरर्थयोरेतर- स्थातिशायने इति तदा सिद्धमिदम् । अस्माक देवदत्तस्य च देवदत्तोऽभिरूपतर इति द्व्यर्थत्वादस्य । उदं तु न सिद्धयति । दन्तौष्ठस्य दन्ताः स्निग्धतराः । पाणिपादस्य पाणी सुकुमारतराविति । अत्रापि नात्यपेक्षयाऽ- र्थद्वित्वोपपत्तेः । विभज्ये । साकाश्यका मायुरेभ्य आढ्यतराः । पटीयासः । अत्र नात्यभावाद्व्यर्थता नास्ति । तथापि नाशौ शब्दोपात्ता । अत एव ब्रह्मन्मुदाहरणम् ।

तादी भः ॥४११११७॥ अतिशयने चत्वारस्त्या विहितास्तेषु तकारादी भ्रमजो भवतः । कुमारितरा । कुमारितमा । “भ्रूपकवपचेल्द्वयचगोत्रमतद्वते प्रोत्नेकाचः” [४३।१५५] इति पूर्वस्य प्रादेशः । भ्रान्तादतष्टाप् ।

शेषौ गुणवचनादव ॥४१॥११८॥ तादी मुक्त्वा दृष्टेयसू शेषौ । शेषौ गुणवचनादेव भवतो नान्य  
स्मादिति नियमोऽयम् । सर्व इमे पटवः अयमेवा पटिष्ठः । द्वाविमो पट्ट, अयमनयोः पटीयान् । अयमस्मापटी-  
यान् । शेषग्रहण प्रकृततादिनिवृत्त्यर्थम् । गुणवचनादिति किम् ? गोतमः । एवकार इत्यतोऽवधारणार्थः ।  
मैव विज्ञायि, शेषावेव गुणवचनादिति । एव द्विषदुतम इति न स्यात् ।

प्रशस्यस्य श्रः ॥४१॥२६९॥ शेषग्रहणं प्रकृतम् । तदर्थवशादीषा विपरिणाम्यते । प्रशस्यगच्छता  
 श्र इत्यपमादेशो भवति शेषयोः परतः । प्रशसनीयः, प्रशस्यः । “गमिदुष्टिगुह्ययो वेति वस्तव्यम्”  
 [२।१।२१ वा०] इत्युपसर्खवानात्त्वयप् । इदमेव ज्ञापकम् । इदं शेषो गुणनचनार्थेति नियमो न प्रतीतिः ।  
 सर्वं इमे प्रशस्याः । श्रयमेवा श्रेष्ठः । द्वाविमौ प्रशस्यौ श्रयमनयो श्रेयान् । “नेमाचः” [४।१।१५७] जीव  
 शेषं छिन्नं न । तरतमो भवत एव । प्रशस्यतमः । प्रशस्यतरः ।

ज्यः ॥४१॥१२०॥ प्रशस्यशब्दस्य ज्व इत्ययमादेशः। भवति शेषयोः परमः। सर्व इमं प्रशस्यः,  
अयमेवा ज्वेष्ट। द्वाविमौ प्रशस्यौ, अयमनयोर्जावान्। अयमस्मात् ज्वावान्। 'ज्यादेयम्' [४१॥१२०]  
इति परस्मादेराकारः यथासद्व्यनिवृत्त्यर्थं योगान्तरम्।

वृद्धस्य ॥४१॥१२॥ वृद्धयद्भ्य च ज्ञ इत्यमरशो भवति शेषया. परतः । सर्वे इति ।  
 द्यपनेया ज्ञेयः । द्वाविमो वृत्तौ श्रयमन्वयोर्भावान् । श्रयमन्वयान् ज्ञानान् । आदित्यं वयः । ॥४॥  
 सिद्धावेव । वृद्धतरः । वृद्धतमः । “वृद्धयुक्त्वादि” [४१॥१४॥] लृण् वृद्धयद्भ्य (४१॥१२॥)  
 भवति । वरिष्ठः । वरिष्ठान् ।

वाटान्तिकया. साधनेन ॥१॥१॥१॥ नान्तिवृत्तयो वयमप्यस्य सारने ॥ १॥१॥१॥  
नवः द्येन सत । निम्नित नवमृदुन नवः, निम्नित नवः ॥ १॥१॥१॥ ॥ १॥१॥१॥

साधिष्ट जल्पति । अयमनयोः साधीयो जल्पति । यदि वादशब्दो द्रव्यवचनः साधीयानिति । सर्वाणीमानि  
अन्तिकानि, इदमेषा नेदिष्ठम् । इदमेनयोर्नेदीयः । इदमस्मान्नेदीयः । तरतमौ भवत एव । वादतरम् ।  
वादतमम् ।

युवाऽल्पयोः कन्वा ॥४१११२३॥ युव अल्प इत्येतयोः कन्नित्ययमादेशो भवति वा शेषयोः परतः ।  
शेषयोर्विधान पूर्ववद्व्याख्येयम् । सर्व इमे युवानः, अयमेषा कनिष्ठः । कनीयान् । यदा युवशब्दस्य कन्नादेशो  
न भवति तदा “स्थूलदूरेत्यादिना” [४१४१४७] यणः खमिक एप् । यविष्ठः । यवीयान् । सर्व इमेऽल्पा  
अयमेषा कनिष्ठः । कनीयान् । अल्पिष्ठः । अल्पीयान् । तरतमौ भवत एव ।

विन्मतोरुप् ॥४१११२४॥ विन् मत्तु इत्येतयोस्तुभवति शेषयो परतः । इदमेव शापकम् । शेषयो-  
र्विधानस्य यथासङ्ख्यमत्र नेष्यते । सर्व इमे सग्विणः, अयमेषा सजिष्ठः । सजीयान् । सर्व इमे सग्वन्तः,  
अयमेषा सविष्ठः, सवीयान् ।

प्रशंसायां रूपः ॥४१११२५॥ ड्याम्मृद इति वर्तते मिड इति च । प्रशंसाया वर्तमानान्ड्याम्मृदो  
मिडश्च रूप इत्ययं लो भवति प्रशंसाया द्योत्यायाम् । स्वार्थिकानां प्रकृत्यर्थविशेषण द्योत्य भवति । वाच्य  
पुनस्तत्प्रकृतेरेव । वैयाकरणः प्रशस्तः, वैयाकरणरूप । पटुरूपः । प्रशस्ता कुमारी कुमारिरूपा । “तसादौ”  
[४१३१४७] इति पुवद्भावे प्राप्ते “ऋरूपेत्यादिना” [४१३१५५] प्रादेशः । वयोलक्षणडीविधेः कृतत्वा-  
द्रूपान्ताद्याप् । कथं निन्दाया प्रयोगः ? वृषलरूपोऽयं यो मासेन सुरा पिबेत् । चौररूपोऽयं योऽद्विष्टमञ्जनमपि  
हरेत् । अत्रापि प्रकृत्यर्थस्य वैतृष्यम् । प्रशंसाया मिडः खल्वपि । पचति रूपम् । पचतो रूपम् । पचन्ति  
रूपम् । लोकाश्रयमिह नपुंसकलिङ्गम् । क्रियाप्रधानमाख्यातम् । एका च क्रियेति रूपान्तादेकवचन-  
मेव भवति ।

प्रासिद्धो देश्यदेशीयकल्पाः ॥४१११२६॥ सिद्धिः परिपूर्णता, न सिद्धिरसिद्धिः । ईषदसिद्धि-  
रासिद्धिः । तद्विशिष्टेऽर्थे वर्तमानान्ड्याम्मृदो मिडन्ताच्च देश्य देशीय कल्प इत्येते त्या भवन्ति स्वार्थे ।  
ईषदसिद्धः पटुः, पटुदेश्यः । पटुदेशीयः । पटुकल्पः । क्रिया पट्विदेश्या तसादिध्वपरिगणनात् पुवद्भावो  
नास्ति । पटुदेशीया । “पुवद्यजातीय” [४१३१२४] इति पुवद्भावः । पट्विकल्पा कल्पस्य तस्यातसादित्वात्  
“तसादौ” [४१३१४७] इति पुवद्भावे प्राप्ते “ऋरूप” [४१३१५५] इत्यादिनेकारान्तस्य प्रः ।  
“तात् स्त्रियाम्” [४१२१२२] इत्यत्र वक्ष्यते । अतिवर्तते च स्वार्थिकाः प्रकृति लिङ्गसङ्ख्ये इति । तेन  
गुलकल्पा द्राक्षा । तैलकल्पा प्रसन्ना । पयस्कल्पा यवागूः । मिडः । ईषदसिद्ध पचति, पचतिदेशीयम् ।  
पचतिवल्पम् । पचतःकल्पम् । पचन्तिकल्पम् ।

वा सुपो एष्ट-प्राकृत ॥४१११२७॥ प्रासिद्धाविति वर्तते । ईषदसिद्धिविशिष्टेऽर्थे वर्तमानान्मृदः  
एष्टात् सुलो वा भवति । स एष्ट प्राग्भवति । विभाषया त्योत्तर्चिण्या त्यात् प्राग्भावस्तु नित्यः । इत्यस्य  
त्योत्तरेवत्य दर्शनार्थेऽस्त्वयम् । ईषदसिद्ध इति बहुवचनम् । त्वे कृते मूलजाया पुन सुप् । “कृदृष्टताः”  
[११५६] इत्यत्र सिद्धमृत्पगतीपत्यं हुन्तकृदापस्तान्मृत्यन्तस्य च मृत्युज्ञा निर्वर्त्यति । तेन बहुवचन-  
शब्दात्प्राप्तिः । एष्ट बहुवचनम् । बहुवचनम् । यदा द्राक्षाविशेषण भवति तदा टाप् । बहुवचन-  
शब्दात्प्राप्तिः । ईषदसिद्ध इति बहुवचनम् । इत्यथा नित्ये सावकाशान् देश्यादीनयं ज्ञापेत् । सुप इति किमर्थं यावता  
“मिड-प्राकृत इष्ट-प्राकृतो विभक्त्यन्तः” इत्येष्टं पुन सुवृद्धं मिडनिवृत्त्यर्थम् । परत्वादेश्या-  
दिभिः । ईषदसिद्धः । ईषदसिद्धः । ईषदसिद्धेः प्रकर्षो नास्तीति प्रकृत्यर्थप्रकर्षे तमादयः ।

प्रकारोक्तौ जातीयः ॥४१॥१२८॥ प्रकारोक्तौ सुवन्ताजातीय इत्ययं त्यो भवति स्वायें । पटुप्रकारः पटुजातीयः । परिहृतजातीयः । यजातीयः । तजातीयः । प्रकारवति चाय वेदितव्यः । प्रकारमाने चायमौ । तेन तदन्तादपि । यथाजातीयः । कथंजातीयः । एवमर्थं वेदोक्तिग्रहणम् ।

एवात्कः ॥४१॥१२९॥ “इवे प्रतिकृतौ क,” [४१११२०] इति वक्ष्यति । आ एतस्मादिन संशब्दनात् यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः, तत्र क इत्ययमधिकृतो वेदितव्यः । आदिह मर्यादावचनः । वक्ष्यति “कुत्साऽज्ञातयोः” [ ४१११३१ ] । कुत्सितोऽश्वोऽश्वकः । गर्दभकः । इह सुप इत्यनुवर्तनान्मिड्डन्तात्को नेष्यते ।

भिसर्वनाम्नोऽकप्राकटेः को दः ॥४१॥१३०॥ मिड इति च वर्तते । भेः सर्वनाम्नश्च अगित्यय त्यः टेः प्राग्भवति ककारस्य च दकारः एवादर्थेषु । कस्यापवादः । मृदः सुप इति च वर्तते । तत्राभिधानवशाद् व्यवस्था । भिसंज्ञके नास्ति विशेषः । उच्चकैः । नीचकैः । यदि ककारोऽस्ति तस्य दकारः । हिरक, हिरकुत् । पृथक् पृथक् । सर्वनाम्नो मृदवस्थायामक् । सर्वके । विश्वके । उभकौ । उभयके । युष्मकाभि । अस्मकाभिः । युष्मकासु । अस्मकासु । युवकयोः । आचकयोः । इह सुवन्तादेव । त्वयका । त्वयकि । मयकि । सुप इत्यादिसम्बन्धादेव “रूपो धुमृदोः” [१४११४२] इत्युन्नेष्यते । मिडः एतदपि । पचकति । पटतकि । “तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते” इति मिडन्तमेवैतत् । “अक्प्रकरणे तूष्णीमकाम्, चकतव्यः” [वा०] मकारः “परोऽचो मिड्” [११११५५] विशेषणार्थः । तूष्णीकामास्ते । “शीले को मखं च” [वा०] तूष्णीं शीनस्तूष्णीकः ।

कुत्साऽज्ञातयोः ॥४१॥१३१॥ कुत्साऽज्ञातत्वोपाधिकेऽर्थे वर्तमानान्मृदः स्वायें यथाविहित त्यो भवति । कुत्सितोऽश्वः कस्यायमश्व इति वाऽश्वक । उष्ट्रकः । उच्चकैः । सर्वके । पचतकि । इह कुत्सितक इत्यज्ञातार्थे । अज्ञातक इति कुत्सितेऽर्थे क । अतः कविधेस्तमादयो भवन्ति । पूर्वनिर्णयेन, पश्चात्कादिविधि । पटुतरकः । मृदुतरक । पचतितरकाम् । छिन्नकादिषु के कृते तमादयः । छिन्नकतरः । भिन्नकतर ।

अनुकम्पायाम् ॥४१॥१३२॥ सौहृदेन कारुण्येन वा परस्यानुग्रहोऽनुकम्पा तत्र वर्तमानान्मृद सुवन्तान्मिडश्च यथाविहित त्यो भवति । अनुकम्पितो माणवो माणवक । बुभुक्षितक । नीचकैः । याचतक ।

नीतो च तद्युक्तात् ॥४१॥१३३॥ अनुकम्पाविषयाया नीतो गम्यमानाया तद्युक्तादनुकम्पायुता यथाविहित त्यो भवति । चकारोऽनुकम्पाऽनुकर्षणार्थः । तेन सामोदप्रदानलक्षणा नीतिरिति गृह्यते, न भेदः दण्डलक्षणा । पूर्वसूत्रेणानुकम्प्यमानवाचिनस्यो विहितोऽनेन पुनस्तप्रकृताद्विधीयते । पुत्रक च गमक । उपविश कर्मकेनासि दिग्घक । हन्त ते तिलका । हन्त ते गुटकाः । एश्कि । अद्भकि । उपविश, अस्मि, ते, हन्त इत्येवमादिषु अनभिधानान्न भवति ।

वह्वृचो नृखोर्वा ट ॥४१॥१३४॥ अनुकम्पाया नीतो च तद्युक्तादिति स्वयंनुवर्तो । अश्वो मृदो नृनामधेयाद् वा ट इत्ययं त्यो भवति । अनुकम्पायां “नीतो च तद्युक्तान्” [४१११३३] इति न । के प्राप्ते वा ट । अनुकम्पितो देवदत्तो देविक । देवदत्तक । विनिक । विनदत्तक । “आदिनि द्वितीयप्राप्तोऽर्थः” [४१११३६] इति दत्तशब्दस्य स्व टत्वेकादेशश्च । वह्वृच इति हिम । गमक । दत्तक । उपविश । अस्मि । देवदत्तको हस्ति । पुनरपि हिम । माणवक ।

मेतो ॥४१॥१३४॥ अनुकम्पाया नीतो च तद्युक्तान्मिति वर्तते । वह्वृचो नृनामधेय इति नीतो भवति । अनुकम्पितो देवदत्त इति न, देविक । पुनरपि नृनामधेय इति न, देविक ।

अडवू वोपादेः ॥४१॥१३६॥ अनुकम्पाया नीतौ च तद्युक्तादिति वर्तते । उपशब्दादेर्मृदो बहुचो नृखोः अड वु इत्येतौ त्यौ भवतो घेलौ च वा । अनुकम्पितो उपेन्द्रदत्तः उपडः, उपकः, उपिय, उपिल, उपिकः, उपेन्द्रदत्त । यादिर्बुशब्दो यकारस्य ख कृत्वा निर्दिष्ट । तेन वोरकादेश सिद्ध ।

जातिनाम्नः कः ॥४१॥१३७॥ जातेर्नाम जातिनाम जातिशब्द इत्यर्थः । बह्वृचोऽबह्वृचश्च सायान्येनायं विधिः । जातिशब्दान्त्रखो अनुकम्पाया नीतौ च गम्यमानाया क इत्ययं त्यो भवति । अनुकम्पितो महिषो महिषकः । वगहकः । शरभक । व्याघ्रक । सिंहक । इह केचिद्वाग्रहणमनुवर्त्य व्याघ्रिल, सिंहिलः इत्युदाहरन्ति तत्तु नातिश्लिष्टम्, अस्य सूत्रस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । तस्माद् घादीना वाधैव युक्ता ।

द्योः खं चाऽजिनस्य ॥४१॥१३८॥ नृखोरिति वर्तते । अजिनशब्दान्त्रान्मृदो नृखो अनुकम्पाया नीतौ च गम्यमानाया क इत्ययं त्यो भवति तस्य च द्योः खं भवति । अनुकम्पितस्तुलाजिनस्तुलक । व्याघ्रक । मृगक । द्युम्रहण किमर्थम् ? अजिनशब्दान्तस्य द्योः खं यथा स्यात् । अनुकम्पितो व्याघ्रमष्टाजिनो व्याघ्रकः ।

ठाचि द्वितीयात्परोऽचः ॥४१॥१३९॥ खमिति वर्तते । प्रकृते ठेऽजादौ च परतः । प्रकृते-द्वितीयादचः परशब्दो नाश्रयते । परग्रहण सर्वनाशार्थम् । अनुकम्पितो देवदत्तो देविकः, देवियः, देविलः । अनुकम्पित उपेन्द्रदत्त उपडः, उपकः । अथाजातित्वादेव सिद्धे पृथक् ठग्रहण किमर्थम् ? खे कृते इकादेशो यथा स्यादित्येवमर्थः । अन्यथा अनुकम्पितो भानुदत्तः भानुक । पितृकः इत्येवमादि न सिद्ध्येरत् । इकस्य स्थानिवद्भावाद्यग्रहणेन ग्रहणत्वादेशो भविष्यतीति चेन्न, “सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विधातस्य” अजादिसन्निपातकृतमुगन्तत्वम् । “चतुर्थादचः परस्य खं वक्तव्यम्” [ वा० ] वृहस्पतिदत्तः । वृहस्पतियः । वृहस्पतिलः । वृहस्पतिकः । “अनजादौ द्वितीयादचः परस्य वा ख वक्तव्यम्” [ वा० ] देवदत्तकः । देवकः । जिनदत्तकः । जिनकः । “पूर्वपदस्य च ठाजादौ अनजादौ च ख वक्तव्यम्” [ वा० ] दत्तिक । दत्तियः । दत्तिलः । दत्तकः । “विनापि निमित्तं पूर्वोत्तरपदयोर्वा खं वक्तव्यम्” [ वा० ] । सत्यभामा । भामा । सत्या वा । विष्णुगुतः । गुतः । विष्णुर्वा । “उवर्णादिलस्य च खं वक्तव्यम्” [ वा० ] । परस्यादे-रितीकारस्य । भानुदत्तः, भानुलः । वसुलः । उह्लञ्च-

“चतुर्थादनजादौ च नाशः पूर्वपदस्य च । अनिमित्तं तथैवेष्टः उवर्णान्तादिलस्य च ॥”

“उगन्तादियेलयो ख वक्तव्यम्” [ वा० ] । प्रकृते ठाचि द्वितीयात्परस्य खे कृते इयेलयोश्च परस्यादे खे कृते भलाजोकारो ये दीत्व रीङ्भावः इत्येते विधयो न भवन्ति । भानुयः । मातृयः । भानुलः । “एवो द्वितीयात्वे तदादे ख वक्तव्यम्” [ वा० ] । लहोडः । लहिकः । कहोडः । कहिकः । कपोतरोम । कपिक । कपिलः । अमोषजिह्व । अमिक । अमिलः । “एकाक्षरपूर्वपदानां द्योः खं वक्तव्यम्” [ वा० ] अनुकम्पितो वगाशी( दत्तः ) वचिकः । त्वचिकः । धुचिकः । पूर्वस्य पदकार्य-निवृत्त्यर्थमेतत् । अयम इति विम् । पङ्कजलि पत्तिकः ।

शेवत्सुपरिविशालवक्ष्यार्थमादेस्तृतीयात् ॥४१॥१४०॥ शेवल सुपरि विशाल वक्ष्य सर्वान् एतेष्वनादेर्ल्लोर्नृदत्तर्नृपदचः परो नाश्रयते ठाचि परतः । द्वितीयादचः परस्य खे प्राप्ते वचनम् । अनुकम्पितः शेवदत्त शेवलिक । शेवलियः । शेवलिलः । सुपरिक । सुपरियः । सुपरिल । विशालिक । विशालियः । विशालिलः । वरत्तिक । वरत्तियः । वरत्तिलः । अर्यमिक । अर्यमियः । अर्यमिलः । “अष्टाक्षरपूर्वपदानां द्योः खं वक्तव्यम्” [ वा० ] । शेवलेन्द्रदत्तः शेवलिक । सुपर्णाशोर्दत्तः सुपरिक । शेवद्विषिक । सुपदिक इति च नाम्ना । नैव वक्ष्यन् । अष्टवक्त्रवृत्तेन सिद्धम् । अष्टवक्त्रवृत्ते नाम

अल्पे ॥४१११४१॥ समन्ततो हीन महत्प्रतिपक्षभूतमल्पम् । अल्पत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानाद् यथाविहित ल्यो भवति । सुप इति वर्तते । ङ्यामृटो फि । सर्वानानो मिट इति च । अल्पमन्नमन्नकम् । घृतकम् । उच्चकैः । सर्वकैः । पचतकि । द्रव्यद्वारेण क्रियाया अल्पत्वमहत्त्वे ।

ह्रस्वे ॥४१११४२॥ आयामतो हीन दीर्घप्रतिपक्षभूतम् ( ह्रस्वम् ) । ह्रस्वत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानाद् यथाविहित ल्यो भवति । ह्रस्व पट पटक । वृक्षकः । उच्चकैः । सर्वकैः । पचतकि ।

कुटीशमीशुण्डाभ्यो रः ॥४१११४३॥ ह्रस्व इति वर्तते । कुटी शमी शुण्डा इत्येतेभ्यो र इत्ययं ल्यो भवति । कस्यापवादः । ह्रस्वा कुटी कुटीरः । शमीरः । शुण्डारः । लोकाश्रयत्वात्स्लिङ्गत्वेति पुंलिङ्गता ।

कुत्वा कुपः ॥४१११४४॥ कुतः श्रावणम् । कुत्शब्दाङ्कुप इत्ययं ल्यो भवति । कस्यापवादः । ह्रस्वा कुतः कुतुपः स्नेहभाजनविशेषश्चर्ममयः ।

कासूगोणीभ्यां तरट् ॥४१११४५॥ कासू शक्तिः आयुधविशेष इत्यर्थः । गोणीत्यावपनमुच्यते । कासूगोणीशब्दाभ्या तरट् भवति । कस्यापवादः । ह्रस्वा कासू कासूतरी । ह्रस्वा गोणी गोणीतरी ।

वत्सोच्चाऽश्वर्षभेभ्यस्तनुत्वे ॥४१११४६॥ ह्रस्व इति निवृत्तं विशेषणान्तरोपादानात् । वत्स, उच्चन्, अश्व, ऋषभ इत्येतेभ्यस्तनुत्वोपाधिकेऽर्थे वर्तमानेभ्यस्तरट् भवति स्वार्थे । यस्य गुणस्य भागाद् द्रव्ये शब्दविनिवेशस्तस्य तनुत्वे तरट् । तनुर्वत्सो वत्सतर । उच्चतरः । अश्वतर । ऋषभतर । वत्सस्य तनुत्व यौवनप्राप्तिः । यौवन उपनीयमाने वत्सत्वं तनुर्भवति । उच्चा तरुण उच्यते तस्य तनुत्वं तन्मात्परस्य वयसः प्राप्तिः । अश्वेनाश्वायामुत्पन्नोऽश्वः । तस्य तनुत्वं विजातीयादुत्पत्तिः । ऋषभा भागवदस्तस्य तनुत्वं मसमर्थता ।

कियत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरः ॥४१११४७॥ किं यत् तद् इत्येतेभ्यो द्वयोरेकस्य निर्धारणे गम्यमाने डतर इत्ययं ल्यो भवति । सामर्थ्यान्निर्धार्यमाणवाचिन्यः किमादिभ्यस्तयः । समुदायाजातिगुणाक्रियासजाभिरेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणम् । को भवता कट । कतरो भवतोः पटुः । कतरा भवतो कारक । कतरो भवतोर्दवदत्त । एव यतर । ततर । महाविकल्पाविकाराद्वाभ्यमपि साधु । निर्धारणे इति किम् ? द्वौ भ्रामयो कः स्वामी । द्वयोरेकस्य स्वामित्वे मा भूत् । द्वयोरिति किम् ? यस्मिन् कुले य प्रधान च ( ग ) आगच्छन् । एकस्येति किम् ? एकग्रहणेऽक्रियमाणे बहुषु एकत्र वा द्वयोर्निर्धारणं सम्भाव्येत । तेनैवापि प्रयोज्येत । को भवता काञ्चीपुरकौ । को एतस्मिन् ग्रामे देवदत्तगुदत्ताविति ।

वा बहूनां जातिप्रश्ने डतमः ॥४१११४८॥ एकस्य निर्धारण इति वर्तते । जनित्रा प्रश्नत्रा जातिप्रश्नम् । बहूनामेकस्य निर्धारणे गम्यमाने किमादिभ्यो वा डतम इत्ययं ल्यो भवति जातिप्रश्नविधौ । जातिविषये प्रश्नविषये च टः । इत्येभ्यो जतिविषये । वाचचनमुन्मर्गस्याः प्रापणार्थम् । को भवता कटः । कतरो भवता कटः । अकिं एक किम् कतरो को भवता कटः । यतरो भवता कटः । यतरो भवता कटः । कतरो भवता कटः । अत्र वृत्तान्तरे पाठः । वा बहूनां जातिप्रश्ने इति । तेन को भवता वाचचनमुन्मर्गस्याः प्रापणार्थम् । किम् वा । कतम इति भवति । बहूनामेति किम् ? द्वयोरेकस्य निर्धारणे जातिप्रश्ने गुणं प्रापणार्थम् । कतरो भवता कट इति । जतिप्रश्ने इति किम् ? को भवता देवदत्त । किमादिभ्यो जतिप्रश्ने प्रापणार्थम् । कतरो भवता कटः । कतरो भवता कटः इति ।

एकाच्च ॥४१११४९॥ एकग्रहणमुन्मर्गस्याः प्रापणार्थम् । कतम इति भवति ।

जातिप्रश्न इति नानुवर्तते । सामान्येन विधानम् । एकतरो भवतोर्देवदत्तः । एकतमो भवता देवदत्तः । किमादिष्वेकप्रत्ययं कर्तव्यमिति केचित् । न जातिप्रश्न एव डतमः स्यात् । उत्सर्गस्याको निवृत्त्यर्थं च योगविभाग । महाविकल्पोऽनुवर्तते एव ।

इवे प्रतिकृतौ कः ॥४१११५०॥ इवार्थं सादृश्यम् । प्रतिकृतिः प्रतिविम्बम् । विषयद्वारेण इवार्थ-विशेषणमेतत् । प्रतिकृतिविषये य इवार्थस्तस्मिन् वर्तमानान्मृद को भवति स्वाथे । अथ इवायम् अश्वकः । अश्व-पतिकृतिरित्यर्थः । एवम् उक् । गर्दभक । प्रतिकृताविति किम् ? गौरिव गवयः । अश्व इवायं शीघ्रो गौः ।

खौ ॥४१११५१॥ इवार्थमाने गम्यमाने मृदः को भवति खुविषये । अप्रतिकृत्यर्थोऽयमारम्भः । अथ इवायमश्वक । उक् । गर्दभकः । सशशब्दा एते । सशशब्देषु च इवार्थो न गम्यते । केवलं वस्तुधर्मेण सादृश्येनान्वाख्यानं क्रियते, तेनेदमपि सिद्धम् । वशकः । वेणुक । नडक । हस्तत्वोपाधिका एताः सश । कथं सूद्रक । रावक । पूर्वकः । एता अपि कुत्तित्वोपाधिकाः संज्ञाः ।

वस्मनुष्ये उपमेये ॥४१११५२॥ मनुष्य उपमेयत्वेनाभिधेये खौ वाऽखौ च विहितस्य कस्योत् भवति । कुक्कुट इव कुक्कुटो मनुष्य । चञ्चेव चञ्चा । वर्दिका । खरकुटी । दासी । “युक्तवदुसि लिङ्ग-रूपे” [ १।१।६८ ] इति वृत्तवद्भावः । मनुष्य इति किम् ? अश्वकः पाषाण । देवपथादेराकृति-गत्यात्माय प्रपञ्च ।

जीविकार्थेऽप्यये ॥४१११५३॥ विक्रीयते यत्तत्तत्तयम् । न पण्यमपण्यम् । जीविकार्थं यदपण्य तस्मिन्नुपमेयत्वेनाभिधेये कस्यात्मभवति । वायुदेव इवाय देवलकाना वायुदेवः । “इवे प्रतिकृतौ” [ ४।१।१२० ] इत्यनेनागतस्य कस्योत् । शिव । स्कन्द । विशाल । जीविकार्थादेव प्रतिकृतय एवमुच्यन्ते । जीविकार्थे इति किम् ? क्रीडार्थे हस्तौ हस्तिकः । अपण्य इति किम् ? यत्नं विक्रीणीते । हस्तिकं विक्रीणीते । एषोऽपि देवपथादेः प्रपञ्चः ।

देवपथादिभ्यः ॥४१११५४॥ “इवे प्रतिकृतौ” [ ४।१।१५० ] “खौ” [ ४।१।१२१ ] इति चागतस्य कस्योत् भवति देवपथादिभ्यः परत्वात् । देवस्य इव देवपथ । इक्षपथः । वारिपथः । अजापथः । शङ्खपथः । शतपथः । सिद्धगतिः । उर्गीवः । वाम । रज्जु । हस्त । इन्द्र । दण्ड । पुष्प । मत्स्य । आकृति-रूपोऽयम् । “इदं तु पूजार्थाद्वा चित्कर्माध्वजेषु च । इवे प्रतिकृतौ नाशः कृतो देवपथादिषु ॥” अर्वाह—अर्हन् । शिवः । स्वयः । विष्णुः । चित्कर्मादि—दुर्धनः । भीमसेनः । अर्जुनः । ध्वजेषु च—ताल इवाय ध्वजतलः । कपिः । गरुडः । आहूतिगणलादेवेदमपि सिद्धम् ।

मत्स्यारवुपादि च तालाश्च चण्डार्धचन्द्राश्च पलत्रिपञ्च ।

हस्तिकार्यो हस्तनवाचरेण ( हस्तार्थे हस्तनवाचरेणः प्रसार( प्रासाद )गुल्मार्कमया नृगारव ॥ ११ हस्तिका हस्तस्य नृगारवः । “उल्लङ्घये” ४।१।१५२ ] “जीविकार्थेऽप्यये” [ ४।१।१५३ ] इति च उक् ।

एतदेवम् ॥ ४।१।१५४ ॥ इव इत्युच्यते । इतिहस्तिकार्थे तद् भवति । यस्मिन् प्रदेशे मल-प्रसरणं वर्तमानं तस्मिन् हस्तिकार्यं वर्तते । इतिहस्तिका एतदेवः एतदेव प्रसारिका । इव ऊर्ध्वं सामान्येन हस्तिकार्यं वर्तते । एतदेव प्रसारिका । इतिहस्तिका एतदेवः एतदेव प्रसारिका । इतिहस्तिका एतदेवः एतदेव प्रसारिका ।

शिलाया ए ॥ ४।१।१५५ ॥ शिलायादिभ्यः तो भवति । शिलेव शिलेयं दधि । शिलाया इति शिलायादिभ्यः शिलेयं इतिहस्तिका ।

शाखादेर्यः ॥४११५७॥ शाखा इत्येवमादिभ्य इवार्ये यो भवति । शाखेव शाख्यः । मुखमिव मुख्यः । शाखा । मुख । जघन । स्तब्ध । मेघ । चरण । शृंग । उरस् । अग्र । शरण ।

द्रव्यं भव्ये ॥४११५८॥ द्रव्यमिति निपात्यते भव्येऽर्थे । भव्यविशेषे इवार्ये वर्तमानाद् द्रुशब्दाद् य इत्यय ल्यो निपात्यते । इरिव द्रव्यम् कार्यापणम् । इष्टार्थक्रियाहेतुरित्यर्थः । द्रव्यमय राजा आत्मवानित्यर्थः । भव्य इति किम् । इरिवायं न चेतयते पुरुषः ।

कुशाग्राच्छः ॥४११५९॥ कुशाग्रशब्दादिवार्ये ल्यो भवति । सूक्ष्मत्वेन कुशाग्रमिव कुशाग्रीया बुद्धिः । कुशाग्रीयं शास्त्रम् ।

सात्तद्विषयात् ॥४११६०॥ इवशब्दः सादृश्यार्थस्तच्छब्देन परामृश्यते । इवार्यविषयात् सात् ल्यो भवति । इवार्यविषयस्य च मस्येदमेव जापकम् । यहच्छ्रया अतर्कितोपनते चित्रीकरणे इवार्यविषये सो भवति । सुप्सुपेति सविधानमेवंविषयमेव द्रष्टव्यम् । काकतालीयम् । तालशाखाग्रे काकः प्राप्तः, ताल च पतितं तेन च पतता तालेन स काको हतः । इदं चित्रीकरणम् । तथा देवदत्तश्च वृद्धं श्रितः । तत्राशनिश्च पतितः । तत्र देवदत्तस्याशनेश्च समागमः काकतालसमागमसदृशः । काकवधसदृशश्च देवदत्तवधः इति समागमसादृश्ये सविधानम् । वध सादृश्ये त्यविधिः । एवमन्धकवर्तकीयम् । अत्राकृपाणीयम् । इह शम्भीश्यामा । पुरुषपत्याग्र इति समुदाय इवार्यविषयो न भवति । किन्तु पूर्वपदमुत्तरपदं वा । तेन ल्यो न भवति ।

शर्करादिभ्योऽण् ॥४११६१॥ शर्करा इत्येवमादिभ्यो इवार्येऽण् भवति । शर्करेव शार्करम् । कपालिकेव कपालिकम् । “मस्य हृत्यदे” [ ४१११४० वा० ] इति पुंवद्भावे प्राप्ते “न बुद्धोऽः” [ ४१११४१ ] इति प्रतिषेधः । शर्करा । कपालिका । कपिष्ठिका । गोमत् । गोपुच्छ । पुण्डरीक । शतपत्र । नराची । नकुल । सिकता ।

अद्भुल्यादेष्टण् ॥४११६२॥ अद्भुली इत्येवमादिभ्य इवार्ये ठण् भवति । अद्भुलीव आद्भुलिकम् । अद्भुलि । भञ्ज । वभ्रु । वल्लु । रूप । खल । उदशिवत् । गोणी । उरस् । मण्डर । मण्डल । शकुल । कुलिश । हरि । कपि । मुनि ।

वैकशालायाष्टः ॥४११६३॥ एकशालाशब्दादिवार्ये वा टो भवति । वाचचनेनानन्तरस्य टणाः समुच्चयः । एकशालेव एकशालिकः । ऐकशालिकः ।

कर्कलोहिताट्टीकण् ॥४११६४॥ कर्कनोहितशब्दाभ्यामिवार्ये टीकण् भवति । कर्कः शुक्लाशः । कर्क इव कर्कीकः । लौहितीकः । टकारः स्त्रिया उच्यर्थः ।

इत्यभयनन्दिविरचिताया महावृत्ता चतुर्थस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ।

पृगाच्च्योऽग्रामणीपूर्वात् ॥४१२१॥ इव इति निवृत्तम् । पृगवाचिनो मृदाऽग्रामणीपृगाः इत्यर्थो भवति । नानाशतीना अनियतवृत्तयोऽधर्मे (अर्थ) कामपराः सदा पृगाः । पृगशब्द मन्त्राग्रवत्तन्मन्त्रेण चनेन निर्वेशः । यथा दृश्यं वनमिति । ये त्वन्य विशेषवाचिन गच्छान्तेषा भेदवाचितान पृगाः भवन्ति । लोहवज्र इति पृगाः । लोहवज्रः । लोहवज्रयो । लोहवज्राः । गौव्यः । श्वयो । गिर्यः । वानराः । वत्सरो । वानराः । “त्रैवृत्तु नेवाग्रिणाम्” [ १४११२१ ] इति बहुव्रीहः । अग्रामणीर्यार्थनिर्देशः । पृगाः श्वयोऽवतवज्रवः । ग्रामण्यर्थः पूर्वोऽवतवज्रस्य स ग्रामणीयम् । अथवा ग्रामणीयत्वात् यः स मन्त्रः चर्माद् ग्रामणीरित्युच्यते । स पूर्ववृत्तवज्रः स पृगव्यः स ग्रामणीपृगः । न ग्रामणीपृगः पृगाः पृगाः । ग्रामणीपृगः पृगः न भवति । देवदत्ता ग्रामणीया देवदत्तः । “य पृषा ग्रामणी” [ ४११२० ] इति ।

व्रातञ्फादस्त्रियाम् ॥४।२।२॥ नानाजातीया अनियतवृत्तय उल्लेखनीयिनः संघाः व्राताः । ञ्फ इति “वृद्धे कुञ्जादिभ्यो ञ्फः” [३।१।८७] इत्यापत्यस्यो गृह्यते । व्रातविशेषवाचिभ्यो ञ्फान्तेभ्यश्च स्वार्थे यो भवत्य-  
स्त्रियाम् । कपोतपाक्यः । कपोतपाक्यौ । कपोतपाका । ब्रैहिमत्यः । ब्रैहिमत्यौ । ब्रैहिमताः । ञ्फान्तात्  
कुञ्जस्यापत्य कौञ्जायन्य । कौञ्जायन्यौ । कुञ्जायनाः । ब्राध्नायन्यः । ब्राध्नायन्यौ । ब्राध्नायनाः । अस्त्रिया-  
मिति किम् ? कपोतपाका । ब्रैहिमता । कौञ्जायनी । “वृद्ध च चरणैः सह” इति ञ्फान्तस्य जातिवाचि-  
त्वान्तीविधिः ।

शस्त्रजीविसङ्घाज्ज्यङ् वाहीकेष्वविप्रराजन्यात् ॥४।२।३॥ वाहीकेषु यः शस्त्रजीविसङ्घस्तद्वा-  
चिनो मृदो विप्रराजन्यवजितात् स्वार्थे ज्यङ् भवति । टिकरणे स्त्रिया ड्यर्थम् । कौण्डीवृत्स्यः । कौण्डीवृत्स्यौ ।  
कुण्डीवृत्सः । क्षौद्रक्यः । क्षौद्रक्यौ । क्षुद्रकाः । मालव्यः । मालव्यौ । मालवाः । कौण्डीवृत्सी । क्षौद्रकी ।  
मालवी स्त्री । “हलो हतो टयाम्” [४।४।१३८] इति यकारस्य खम् । शस्त्रजीविप्रहरणं किम् ? मल्लाः ।  
सङ्घप्रहरणं किम् ? वागुरः । सम्राट् । वाहीकेष्विति किम् ? शत्रूराः । पुलिन्दाः । अविप्रराजन्यादिति किम् ?  
गौपालयः ( ब्राह्मणः ) । शालङ्कायनाः राजन्या । विप्रप्रतिषेधे विप्रविशेषप्रतिषेधः । नहि विप्रशब्दवाच्यो  
वाहीनेषु शस्त्रजीविना सङ्घोऽस्ति । राजन्यप्रतिषेधे तु स्वरूप इति प्रतिषेधः । राजन्यविशेषस्यापि प्रतिषेधे केचि-  
दिच्छन्ति । कावच्यः । कावच्यौ । कावच्याः । ज्यटि सति स्त्रिया ङी प्रसज्येत । शस्त्रजीविसङ्घादिति योगविभागा-  
दन्यत्रापि नेचिदिच्छन्ति । शत्रव्यः । शत्रव्यौ । शत्रवाः । पोलिन्वः । पोलिन्व्यौ । पुलिन्दाः । योगविभाग-  
कृतमनित्यम् ? तेन शत्रवः पुलिन्द इत्यपि भवति ।

वृष्टाष्ट्रेयण ॥४।२।४॥ शस्त्रजीविसङ्घवाचिनो वृक्षशब्दात् स्वार्थे ष्ट्रेयण् भवति । वार्क्येयः ।  
वार्क्येयौ । वृष्टाः । स्त्रिया वार्क्येयी । “हलो हतो टयाम्” [४।४।१४०] इति यखम् । हल् उत्तरस्य यकारस्य  
रा भवति स चैयकारो गोरव्यवभूत इति । वाहीकेषु ज्यटि प्राप्ते, अन्यत्राप्राप्ते विधानम् । शस्त्रजीविसङ्घ-  
विशेषणं किम् ? मति ( जाति ) शब्दान्माभूत् ।

“कामक्रोधो मनुष्याणां खादितारौ वृक्षाविव । तस्मात्क्रोधं च कामं च परित्यक्तुं बुधोऽर्हति ॥”

दामन्यादेश्छुः ॥४।२।५॥ शस्त्रजीविसङ्घादिति वर्तते । दामनि इत्येवमादिभ्यः शस्त्रजीविसङ्घ-  
वाचि यल्लो भवति स्वार्थे । दामनोयः । दामनोयो । दामनयः । दामनि । ओलाप । वेजवापि । ओदकि ।  
आच्युतन्ति । शाशुन्तिकि । सर्वसेनि । विन्दु । तुलभ । मोञ्जायन । सावत्रीपुत्र । त्रिगर्तपथाः । दामन्यादौ  
पठ्यन्ते । शस्त्रजीविना पट्वर्गाः । तत्र त्रिगर्तवगः पठ्यो यथा त त्रिगर्तपथाः । कौण्डोपरथीयः । कौण्डा-  
परथीयो । कौण्डोपरथाः । दाण्डकि । क्षौद्रुकि । बालमाली । ब्रह्मगुप्तः । बानकिः । उक्त च-

‘क्षेदारिगर्तपथाः पट् कौण्डोपरपथाण्डकी । क्षौद्रुकिर्बालमाली च ब्रह्मगुप्तोऽथ बानकिः ॥”

पश्वर्दिरेण ॥४।२।६॥ शस्त्रजीविसङ्घादिति वर्तते । पशु इत्येवमादिभ्यः शस्त्रजीविसङ्घवाचिन्योऽ-  
ण भवति स्वार्थे । पशवः । पश्वो । पश्वः । पशु । रक्ष । अहुर । वाहीक । वयस् । वयु । मरुत् ।  
रजर् । दशार् । विशाच । अशनि । बर्षाण । योषेय । शोभ्रेय । घातेय । ज्वावाण्येय । त्रिगर्त । भरत ।  
रक्षीतर । भर्ग । योषेयदिभ्यः प्रतिषेधवचनं शक्यम् आपत्यत्वायिकाः आपत्यग्रहणं गृह्यन्त इति ।  
तेनाप्यस्य पश्वर्दिरेण प्रतिषेधवचनं तत्र स्वार्थम् । पश्वर्दिरेण पुनस्तत्पत्त्याण्यः स्वाधिक्यं त्रिविधत्वाया  
‘ह्युपपत्त्येव सिद्धा’ [३।१।१२७] इत्यादिभ्यः “अतोऽप्राच्यभगादि” [३।१।१२८] इत्युप् ।  
‘अर’ [३।१।१२९] इत्यरः । पश्वः । अहुरः (री) । रक्षः ।



न सामेः ॥३॥ नमिष्टुत्तमं कृत्यम् तन्मात्रं ज्ञानं च । सर्वज्ञं । सर्वशक्तिं ।  
सर्वव्यापकं । सर्वभूषणं । सर्वलोकेश्वरं । सर्वदयालुं । सर्वप्रसादीं ।

तत्वात्को न प्राप्नोतीति प्रतिषेधवचनमनर्थकम् । एव तर्हीदमेव प्रतिषेधवचनं ज्ञापकं स्वार्थेऽप्ययं को भवति । तेन सिद्धम् । भिन्नतरकम् । बहुतरकम् । अर्धच्छिन्नकम् । अर्धभिन्नकम् ।

वृहत्तिका ॥४२॥१४॥ वृहत्तिकेति निपात्यते । वृहतोऽशब्दादाच्छादने वर्तमानात्स्वार्थे नित्यं को निपात्यते । वृहत्तिका साटी । आच्छादनादन्यत्र को न भवति । वृहती श्रोत्रधः ।

खोऽलङ्कर्मपुरुषात् ॥४२॥१५॥ अलङ्कर्मन् अलम्पुरुष इत्येताभ्यां स्वार्थे खो भवति । अलङ्कर्मणेऽलङ्कर्मणः । अलम्पुरुषायालम्पुरुषीणः । “नमस्स्वस्ति” [१४१२६] इत्यादिनाऽपि । “तित्कुप्रादयः” [११३॥८१] इत्यनं “पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे ऋपा” [वा०] इति षस ।

अषडङ्गासतङ्ग्वधिद्योः ४२॥१६॥ अषडङ्ग, आसितङ्ग, अधिद्यु इत्येतेभ्यः स्वार्थे खो भवति । अविद्यमानानि षडङ्गाण्यस्मिन्निति अषडङ्गीणो देवदत्तः । पितृपितामहपुत्राणामङ्गीणि न पश्यतीत्यर्थः । मन्त्रोऽपि द्वाभ्यां यः क्रियते, येन वा कन्दुकेन द्वौ क्रीडतः सोऽप्येवमुक्तः । अथवाऽङ्गशब्द इन्द्रियपर्यायोऽस्ति । अविद्यमानानि षडङ्गाण्यस्य अषडङ्गीणो मत्स्यः । गुणदोषविचारज्ञम षष्ठमक्षमस्य नास्तीत्यर्थः । आसिता गावोऽस्मिन्नित्यासितङ्गवीनमरण्यम् । अतएव निपातनात्कर्तरि क्तः । पूर्वपदस्य च मुगागमः । राज्ञि अधि राजाधीनम् । पुरयेऽधि पुरयाधीनम् । “ईश्वरेऽधिना” [१४११८] इति अधिना योगे ईप् गिति सज्ञाप्रतिषेधश्च । अधिशब्दः शौण्डादपु पठ्यते, तेन षसः । नित्यश्चेह ख इष्यते, उत्तरसूत्रे वाग्रहणात् ।

बाञ्चेरदिक् स्त्रियाम् ॥४२॥१७॥ अञ्च्यन्तान्मृदोऽदिक् स्त्रिया वर्तमानात् खो भवति स्वार्थे वा । अदिक् स्त्रियामिति प्रसज्यप्रतिषेधादिह तदन्तर्विधिलभ्यते । प्राञ्चतीति प्राङ् (प्राक्) प्राचीनम् । उदक् उदीचीनम् । अवाट् (क) अवाचीनम् । अदिक् स्त्रियामिति किम् ? प्राची दिक । प्रतीची । दिग्ग्रहणं किम् ? प्राचीना शाला । तिरश्चीना स्थूणा । स्त्रीग्रहणं किम् ? प्राचीनं दिग्ग्रमणीयम् । प्राची दिग्ग्रमणीयेति विग्रहः “दिक्छन्द” [४१११६२] इत्यादिना अस्तात् । “अञ्चेरप्” [४१११६६] इति तस्योप् । स्वभावतः उच्यते तेनैव फलितम् । वाच्यत्वात् स्वार्थकेषु निवृत्ता महाविकल्पाधिकार इति गम्यते । तेन पाशतमादयः प्राक्, छन्देऽत्र देशात् ] कल्पदेशीयात् । ज्यादयः प्राग्नुनः । आमादयः प्राट्मयटः नित्या वेदितव्याः । याप्यो वैवायव्यः । अयमेवामतिशयेन पटुरित्येवमादौ वाक्ये न प्रकृतिर्याप्येऽतिशयने वा वर्तते किन्तु पदान्तरमतः स्यो न भवति ।

जातिश्छो वन्धुनि ॥४२॥१८॥ वध्यतेऽस्मिन् जातिरिति वन्धुद्रव्यमिह जात्यधिकरणभूतं गृह्यते नपा निदशात् । जातिशब्दाद्वन्धुनि वर्तमानात् छो भवति । केवलजातिशब्दस्य वन्धुनि वृत्त्यसम्भवात्तदतिषिधः । क्षत्रियो जातिरस्य क्षत्रियजातीयः । क्षत्रिय एवोच्यते । शोभना जातिरस्य शोभनजातीयः । दुष्टा जातिरस्य दुष्टजातीयः । वा जातिर्भवति, विजातीयो भवान् । द्वयोर्विकल्पयोर्मध्ये नित्योऽयं विधिः । “प्रदारोता जातीय” [४१११६२] इत्येव सिद्धे किमर्थमिदं जात्यन्तस्य वसत्य केवलस्य च प्रयोगो माभूत् इत्येवमर्थम् । वयं ह्यर्हति सुतपुत्रत्वेति प्रयोगः । चिन्त्यमेतत् । वन्धुनीति किम् ? ब्राह्मणजातिरदृश्यपापा ।

देवे स्थानान्तात् ॥४२॥१९॥ स्थानान्तान्मृद इवार्थे वा छो भवति । पितुः स्थानमिव स्थानमस्य पितरान् । “एवोपमानपूर्वस्य ह्युप वा” [वा०] इति । उपमानपूर्वस्य वसो भवति द्योश्च खम् । यथा उद्गमुख इति । एव उपमानो वस इवार्थे वर्तते, अस्माद्वा हो भवति । पितृस्थानीयः । पितृस्थानः । गुरुस्थानीयः । गुरुस्थानः । एवोपमानपूर्वस्य नित्यत्वात् स्थानमिति । इव इति क्रियः । गवा स्थानम् गोस्थानम् । “मृदुग्रहणे एवोपमानात्” इति उपमानस्य इवम् । इव वस्तुन भवति । गोः स्थानमिति । नैप दोषः । इवग्रहणं

स्थानविशेषणम् । इदार्थं यः स्थानशब्दो वर्तते, तदन्तादिति । वसे च स्थानशब्द इदार्थं वर्तते । वसे तु पद-  
सङ्घात इदार्थं वर्तते इति न भवति ।

किमेमिड्भिक्षादामद्रव्ये ॥४।२।२०॥ किम् एकाग्रान्तस्य मिडः भिक्षाजस्य च अनन्तरो यो  
भक्षदन्तान्मृद आमित्यय त्यो भवत्यद्रव्ये । लिङ्गसख्यायुक्तप्रत्ययकारणं द्रव्यम् । द्वाविमौ किम्पचतः,  
अयमनयोः कितरा पचति । कितमाम् पचति । एतौ द्वाविमौ पूर्वाह्णे भुञ्जाते । अयमनयोः पूर्वाह्णेतरा भुङ्क्ते ।  
एतद्ग्रहणसामर्थ्याद् द्रव्येऽपि काले विधिरयम् । इह कस्मान्न भवति । जयतेविचि तरे च कृते जेत इति ।  
अनभिधानादत्र विजेव नास्ति । मिड्—पचतितराम् । पचतितमाम् । द्वाविमौ उच्चैर्हसत । अयमनयो-  
रुच्चैस्तरा हसति । अद्रव्य इति किम् ? उच्चैस्तरो वृक्षः । उच्चैस्तमो वृक्षः ।

जिनोऽण् ॥४।२।२१॥ ‘जिन्नमिविधौ’ [२।३।१६] इति भावे जिन् विहितः । जिन्नन्तादण्  
भवति इदार्थं । “कृद्ग्रहणे तिकारकपूर्वेऽपि ग्रहणम्” [५] साकोटिनम् । साराविणम् । सामाजिनम् ।  
“प्रायोऽनपत्येणीन ” [४।४।१५५] इति टिप्पणप्रतिषेधः ।

वात्स्त्रियाम् ॥४।२।२२॥ स्त्रियामित्यधिकृत्य ‘कर्मण्यतिहारे जः’ [२।३।७६] इति जो विहित-  
स्तदन्तात्स्वार्थेऽण् भवति स्त्रियाम् । व्यावकोशी । व्यात्युक्षी । व्यावचर्ची वर्तते । “पदे स्वरैर्यौव” [५।२।८]  
इति तस्य विधे “न जे” [५।२।११] इति प्रतिषेधे कृते । आदेरैप् । स्त्रीग्रहणं किम् ? न्नियामेव हि जो  
विहितस्तस्मादयं स्वार्थिकः । स्वार्थिकाश्च प्रकृतिलिङ्गसंख्ये अनुवर्तन्ते इति : एव तर्हि इदमेव शापकम् ।  
कचित्स्वार्थिकाः प्रकृतिलिङ्गसंख्ये अतिवर्तन्तेऽपि । कुयीरः । देवता । गुडकल्पा द्राक्षा इत्येव  
मादि सिद्धम् ।

विसारिणो मत्स्ये ॥४।२।२३॥ विसारिन्शब्दात्स्वार्थेऽण् भवति मत्स्येऽभिधेये । विगारीति  
वैसारिणो मत्स्यः । ग्रहादिपाठाणिण् । मत्स्य इति किम् ? विसारी तेलविन्दुरिवाम्भसि ।

सख्याया ध्वभ्यावृत्तौ कृत्वस् ॥४।२।२४॥ ध्वयः क्रियारूपः साहचर्याद्गुणव्येनोक्तः ।  
ध्वभ्यावृत्तिः अभिन्नकर्तृकायाः क्रियाया पौनःपुन्यम् । ध्वभ्यावृत्तौ वर्तमानेभ्यः मख्यायाशब्दभ्यः न्वार्थं  
कृत्वसित्ययं त्यो भवति । अस्त्वपदेनात्र विग्रहः । पञ्चवारान् भुङ्क्ते पञ्चकृत्वोऽहो भुङ्क्ते । शत वारान्  
भुङ्क्ते शतं वा वाराणां भुङ्क्ते शतकृत्वः । वृद्धकृत्वः । तावत्कृत्वः । कतिकृत्वः । संख्याया इति हिम् ?  
मुहुर्मुहुर्भुङ्क्ते । प्रभूतान् वारान् भुङ्क्ते । ध्रुग्रहणं किम् ? द्रव्यस्य गुणस्य वा अभ्यावृत्तौ माभूत् । पञ्चपु  
कालेषु दण्डी । पटसु कान्पु शुक्लः । अभ्यावृत्तिग्रहणं किम् ? पञ्च पाकाः । नावाभिन्नस्य पाकस्य पौनः  
पुन्यं किन्त्वोदनमुद्गादीनां पाकाः ।

द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् ॥४।२।२५॥ द्वि त्रि चतुर् इत्येते यो ध्वभ्यावृत्तौ सुच् भाति । वृत्तान्तो  
पवादः । चकारः “कालेऽधिकरणे सुत्रयं” [१।४।६७] इत्यत्र विशेषणार्थं । उकार उच्चारणार्थः । द्वि  
भुङ्क्ते । त्रिभुङ्क्ते । चतुर्भ्यः सामान्येनैका । सा कालभेदाद्विद्यते ।

एकस्य सहृन् ॥४।२।२६॥ एकस्यस्य सहृन्विषयमादेशो भवति सहृन् । एकाग्रान्तस्य ।  
सिक्तादेनाभिधेयत्वे । एकस्वर भुङ्क्ते सृष्ट्वा भुङ्क्ते । एकः पाक इत्यत्रानिर्वाहार्थम् ।

बहोर्धा वाऽऽमत्तौ ॥४।२।२७॥ अभिन्नविग्रहकृत्वस्य । विग्रहयोगे चत्वारि । विग्रहयोगे १ ।  
अहोर्ध्वे यः विग्रहो अभिन्नविग्रहकृत्वस्य वर्तमानकृत्वस्य इव त्यो भवति वा । बहोर्ध्वे २ । ३ ।  
भुङ्क्ते । अहोर्ध्वे ३ । ४ । ५ । ६ । ७ । ८ । ९ । १० । ११ । १२ । १३ । १४ । १५ । १६ । १७ । १८ । १९ । २० । २१ । २२ । २३ । २४ । २५ । २६ । २७ । २८ । २९ । ३० । ३१ । ३२ । ३३ । ३४ । ३५ । ३६ । ३७ । ३८ । ३९ । ४० । ४१ । ४२ । ४३ । ४४ । ४५ । ४६ । ४७ । ४८ । ४९ । ५० । ५१ । ५२ । ५३ । ५४ । ५५ । ५६ । ५७ । ५८ । ५९ । ६० । ६१ । ६२ । ६३ । ६४ । ६५ । ६६ । ६७ । ६८ । ६९ । ७० । ७१ । ७२ । ७३ । ७४ । ७५ । ७६ । ७७ । ७८ । ७९ । ८० । ८१ । ८२ । ८३ । ८४ । ८५ । ८६ । ८७ । ८८ । ८९ । ९० । ९१ । ९२ । ९३ । ९४ । ९५ । ९६ । ९७ । ९८ । ९९ । १०० ।

तत्प्रकृतोक्तौ मयट् ॥४२।२८॥ प्रकर्षेण कृतं प्रकृतं प्रचुरमित्यर्थः । तदिति वासमर्थात् प्रकृतोक्तौ वर्तमानात् स्वार्थे मयड् भवति । अत्र प्रकृतम् अन्नमय पूजयाम् । दधिमय पूजयाम् । यवागूः प्रकृता यवागूमयी । पेयामयी । स्वार्थिकाः प्रकृतिलिङ्गसंख्ये अनुवर्तन्तेऽपि । अथवा नाय स्वार्थिकः । अधिकरणार्थेऽयं विधीयते । कथं शायते । उक्तिर्वचनम् । प्रकृतस्योक्तिः प्रकृतोक्तिः । तदिति वासमर्थात् प्रकृतोक्तावर्थे मयड् भवति । घृतं प्रकृतमुच्यतेऽस्मिन् घृतमय उत्सवः । घृतमयी पूजा । पुष्पमय उत्सवः । पुष्पमयी पूजा । उक्तिग्रहणसामर्थ्यात् उभयोऽपि सूतार्थः प्रमाणम् ।

समूहवच्च बहुषु ॥४२।२९॥ तत्प्रकृतोक्ताविति वर्तते । समूहवत् सविधिर्भवति मयट् च बहुषु प्रकृतेषु । यथेह भवति । अपूपानां समूहः आपूपिकम् । 'अचित्तहस्तिधेनोऽङ्ग' [३।२।३६] इति ठङ् । एवम् अपूपाः प्रकृता आपूपिकम् । पक्षे अपूपमयम् । एव मौदकिकम् । मौदकमयम् । शाङ्कु-  
लिकम् । शाङ्कुलीमयम् । प्रकृतिलिङ्गसंख्यातिवर्तनम् । द्वितीयसूत्रार्थे अपूपाः प्रकृता अस्मिन्नुच्यन्ते आपूपिक उत्सवः । अपूपमयः । आपूपिको अपूपमयी पूजा । शाङ्कुलिकः शाङ्कुलीमय उत्सवः । शाङ्कुलिकी शाङ्कुलीमयी पूजा ।

भेषजान्तावसथेतिहाज्यः ॥४२।३०॥ भेषजादिभ्यः स्वार्थे ज्यो भवति । कण्डूवादिषु भिषजिति पठ्यते औपधस्य कणम् । तस्य कर्तृत्वविवक्षायां भिषज्यतीति भेषजम् । पचादित्वादच् । "हलो य" [४।४।११] इति यत्वम् । अत एव निपातनादेप् । भेषजमेव भेषज्यम् । अनन्तमेवानन्त्यम् । आवसथ एवा-  
वसथ्यम् । एतिहेत्यैतिलम् । विभाषेह सम्प्रदायते ।

देवतान्तात्तादर्थ्ये यः ॥४२।३१॥ तस्मै इति तदर्थम् । तदेव तादर्थ्यम् । देवताशब्दान्ता-  
त्तादर्थ्यं चाप्ये यो भवति । गुरुदेवतायै हृदम् गुरुदेवत्वम् । पितृदेवत्वम् ।

पाथार्थ्ये ॥४२।३२॥ पाथार्थ्यशब्दौ निपात्येते । पादशब्दात्तादर्थ्ये यः पाच्छब्दस्य पदादेशाभावश्च निपात्येते । पादार्थमुदकम् पाथम् । अर्घ्यशब्दात्तादर्थ्ये यः । अर्घ्यार्थमर्थ्यम् ।

रयोऽतिधेः ॥४२।३३॥ तादर्थ्ये इति वर्तते । अतिथिशब्दात्तादर्थ्येऽभिधेये रयो भवति । अतिध्वर्थमिदमातिध्वम् ।

देवात्तल्ल ॥४२।३४॥ तादर्थ्यं इति निवृत्तम् । देवशब्दात् स्वार्थे तल्ल भवति । देव एव देवता ।

योऽविपावादेः ॥४२।३५॥ अविशब्दाद् याव इत्येवमादिभ्यश्च मृद्भ्यः स्वार्थे को भवति । अदिरेव आविक । यावादिभ्येव अविशब्द पठितव्यः । पृथग्ग्रहणं किमर्थम् ? अवेर्विकार आविक-  
मित्येवमादौ ते कृतेऽप्यस्यात्तात् । यवानां विकारो यावः । याव एव यावक । यान । मणि । अस्थि ।  
ला २ । मनु । पीत । स्तम्भ । अतादृशशीते । पशौ लूनविपाते । अणु निपुणे । पुत्रात् वृत्रिमे । पुण्य ।  
शत । अशत । स्नात देहमातौ । शून्य रिक्तौ । तनु सूत्रे । ईयस्श्च । भूयस्त्वम् । भेयस्त्वम् । कुमार  
प्रेष्यते च उक्तरक्त । कन्दुक । देयनुवर्तते ।

लोहितान्तरणौ ॥४२।३६॥ लोहितशब्दान्तरणौ वर्तमानात् स्वार्थे को भवति । लोहित एव  
लोहितको मर । "लोहितशब्दात् स्त्रीत्वस्य परत्वात् कनेन केन दाघनं वक्तव्यम्" [वा०] ।  
परत्वात् के के सत्त्वात् परत्वात् के दधिने कथितं पदेति मत्तदीविधावति, अतथापि कृते लोहितका  
मरिचि । परत्वात् तस्य परत्वात् के के परत्वात् । "केऽप्यः" [१।२।१२५] इति प्रादेशः ।  
लोहितका मरि । मर इति किम् ? लोहितः खदिरः ।



बहुभ्य आगतः । बहुश आगतः । भूरिश आगतः । बहुभ्यो देहि । भूरिशो देहि । बहुभिर्लुनाति । बहुशो लुनाति । भूरिशो लुनाति । बहुषु वसति । बहुशो वसति । भूरिशो वसति । बहून् देहि । बहुशो देहि । भूरिशो देहि । बहुभिर्भुङ्क्ते । बहुशो भुङ्क्ते । भूरिशो भुङ्क्ते । अल्पेभ्य आगतः । अल्पश आगतः । स्तोक्श आगतः । इत्येवमादि ज्ञेयम् । बहुलार्थादिति किम् ? ग्रामादागच्छति । कारकादिति किम् ? बहुभि सह भुङ्क्ते । वागहणेऽनुवर्तमाने पुनर्वाग्रहण पूर्वस्य विधेर्नित्यार्थम् । प्रशस इति वर्तते तदिह बहुलपार्थान्मङ्गले गम्यमाने शस् भवतीत्यर्थः । बहुशो ददाति आभ्युदयिकेषु कर्मसु । अल्पशो ददाति अनिष्टेषु कर्मसु ।

संख्यैकाद्वीप्सायाम् ॥४१॥४८॥ कारकादिति वर्तते । सख्यावाचिनः एकान्ताच्च कारकाद्वीप्साया वर्तमानाद्वा शस् भवति । वीप्साद्विलस्यापवादः । अथवा शसैवोक्तत्वाद् द्विल निवर्तते । एकशो देहि । वाक्यपदे वीप्साया द्वित्वम् । “एको चवत्” [५।३।७] इति चवद्वावात् “सुपो धुमृदोः” [१।४।१४२] इति सुप उपि कृते समुदायादम् । एके देहि । द्वौ द्वौ देहि द्विशो देहि । त्रिशो देहि । एकान्तात् । माप माष देहि मापशो देहि । कार्षापणशो देहि । प्रस्थशो देहि । संख्यैकादिति किम् ? मापो माषौ देहि । वीप्सायामिति किम् ? द्वौ ददाति । माप ददाति । कारकादित्येव । द्वाभ्यां द्वाभ्या सह भुङ्क्ते । प्रस्थस्य प्रस्थस्य स्वामो । कथमेकैकशो मन्त्रिणः पृच्छेदिति ? चिन्त्यमेतत् । यथा वा स्त्रीत्यान्तात् स्वार्थिके उत्पन्ने पुनः स्त्रीत्यः कुमारीतरेति । एव द्वित्वे कृते पुनः शस् ।

प्रतियोगे कायास्तसिः ॥४१॥४९॥ वेति वर्तते । “यतः प्रतिदाप्रतिनिधी प्रतिना” [१।४।२२] इति प्रतिना योगे का विहिता । तदन्तात्तसिर्भवति वा । इकारः “कायास्तस्” [४।१।७३] “तस्तेः” [४।१।७४] इति विशेषणार्थः । अभयकुमारः श्रेणिकतः प्रति । श्रेणिकात् प्रति । प्रद्योतनो वृत्तिषेणतः प्रति । वृत्तिषेणात् प्रति । “तसिप्रकरणे आद्यादिभ्यः उपसख्यानम्” [वा०] । आदौ । आदित । मध्यतः । अन्ततः । पृष्ठतः । आकृतिगणोऽयम् ।

अपादानेऽहीयरुहोः ॥४१॥५०॥ “काऽपादाने” [१।४।३७] इति अपादाने का विहिता । तदन्तात्तसिर्वा भवति हीयरुहसि न चेदपादानम् । लुप्तादागतः । लुप्ता आगतः । चौरैभ्यो विमेति चौरतो विमेति । अपादान इति किम् ? अन्यो देवत्तात् । अहीयरुहोरिति किम् ? सार्थाद्वीन । कर्मण्ययं वतः । पर्यतादयोरिति । हीय इति जहातेः कर्मणि यक् तस्यानुकरणम् । किमर्थम् ? जिहीतेः प्रतिषेधो माभूत् । उदपेभ्यजिहीते । उदपित उज्जिहीते । “मन्त्रो वर्णतो हीनः” इत्यत्र आद्यादित्वात् भान्तात्तसिः ।

क्षेपाव्यथाऽतिग्रहेष्वकर्तृभायाः ॥४१॥५१॥ क्षेप, अव्यथा, अतिग्रह, इत्येतेषु विषयभूतेषु या कर्तुरव्यय विहिता भा तदन्तात्तसिर्भवति । क्षेपे-वृत्तेन क्षिप्तः वृत्ततः क्षिप्तो निन्दित इत्यर्थः । अव्यथा-याम्-एतेन न व्यथते वृत्ततो न व्यथते न चलतीत्यर्थः । अतिग्रहे-वृत्तेनातिगृह्यते वृत्ततोऽतिगृह्यते । अतिमात्र-गृह्यत इत्यर्थः । सर्वत्र करणे ऐतो वा भा । क्षेपादिभ्य इति किम् ? दात्रेण लुनाति । अकर्तृग्रहण किम् ? एवमेतेन क्षिप्तः । भाया इति किम् ? वृत्तमला क्षिप्ते ।

हीयमानपापयोगात् ॥४१॥५२॥ अकर्तृभाया इति वर्तते । हीयमानपापाम्या योगो यस्य तस्मादवर्ति भाजानां तसिर्भवति । हीयमानयोगात् वृत्तेन हीयते । वृत्ततो हीयते । चारित्र्येण हीयते । पाप-योगाद् एतेन पाप । अत्रापि करणे ऐतौ वा भा द्रष्टव्या । नन्वापि क्षेपोऽस्तीति पूर्वस्यैव तसिः सिद्धः । नैव दोषः । एतेन गम्यते । नीचवृत्ततो हीयते । पापवृत्ततो हीयते । यदि वा तत्त्वाख्यानमत्र सूत्रे निन्दितम् न निन्दितम् । एवमेतेन हीयते ।

तासां प्याधये ॥४१॥५३॥ नन्वाधये प्याधये । तान्ताद्वा तसिर्भवति व्याधये गम्यमाने ।

नमिरर्ककीर्तितोऽभवत् । अर्ककीर्तेरभवत् । मेघप्रभो मेघेश्वरतोऽभवत् । गम्यमानपक्षापेक्षा ता । व्याशय इति किम् ? देवदत्तस्य हस्तः ।

रोगादपनये ॥४१२॥५४॥ अपनयः चिकित्सेत्यर्थः । तथा इति वर्तते । रोगवाचिनस्तान्तात् वा तसिर्भवति अपनये गम्यमाने । प्रवाहिकायाः कुरु । प्रवाहिकातः अपनयमस्याः कुर्वित्यर्थः । अपनय इति किम् ? प्रवाहिकायाः करोति प्रकोपमित्यर्थः ।

कृत्वस्तियोगेऽतत्तत्त्वसम्पत्तरि च्विः ॥४१२॥५५॥ वेतीहानुवर्तते । न सः अठः कारणमित्यर्थः । अतस्य तत्त्वम् विकाररूपपत्तिः अतत्तत्त्वम् । सम्पद्यते इति सम्पत्ता सम्पद्यतेः कर्तेत्यर्थः । अतत्तत्त्वे गम्यमाने सम्पद्यतेः कर्तरि वर्तमानात् सुवन्तात् उत्तरावस्याभिधायिनश्चिर्भवति कृत्वस्तिभियोगे । अल्पान्तरार्येण शब्देन विग्रहः क्रियते । अशुक्लं शुक्लं करोति शुक्लीकरोति प्रासादम् । अत्र करोतेः कर्मभावमापन्नोऽपि प्रासारः सम्पद्यतेः कर्ता भवति अत एव विग्रहः । अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते त करोति शुक्लीकरोति । शुक्लीभति । शुक्लीस्यात् । शुक्लशब्दाच्चिः । इकारः “च्वौ” [४१२॥१३५] इति विशेषणार्थः । चकारोऽपि तत्र विशेषणार्थः । तत्र विरित्युच्यमाने दाविः, जागृविरित्यत्र “रीड् ऋतः” [५१२॥१३६] इति रीड्भानः प्राप्नोति । वकारः “च्विद्वाज्ज्यादिः” [११२॥१३२] इति विशेषणार्थः । तत्र हि विग्रहणेऽक्रियमाणे चिनोतेस्ताद्विज्ञा-राणा वा ग्रहण प्रसज्येत । पूर्वस्य सुपः “सुपो धुमृदोः” [११४॥१४२] इत्युप् । “अस्य च्वौ” [५१२॥१४१] इतीत्वम् । परस्य सुपः “सुपो ऋः” [११४॥१४०] इत्युप् । कर्मभावाभिधायिन्यपि कृन्दादौ च्विर्भवति । शुक्ली क्रियते । अशुक्लस्य शुक्लस्य क्रिया शुक्लीभवनमिति द्रव्यस्य गुणक्रियाद्रव्यसमूहविकारयोगेऽतत्तत्त्वमुदाहार्य क्रियायोगे-कारकीभवति । कारकीकरोति । कारकीस्यात् । द्रव्ययोगे-दण्डीकरोति । दण्डीभवति । दण्डी-स्यात् । “दीरकृद्गो” [४१२॥१३४] “च्वौ” [४१२॥१३५] इति दीत्वम् । समूहे-गा असद्व सद् करोति सद्भीकरोति । सद्भीभवन्ति गावः । सद्भीस्युः । विकारे-पटीकरोति तन्तून् । पटीभवन्ति । पटीस्युः । पटी-करोति मृदः । पटीस्यात् । अत्रायमर्थः । यत्र कारणाद्विकारस्याभेदो विवक्ष्यते तत्राय च्विः । न तु यत्र कारणा-त्कार्यस्य भेदः । यथा वीरण्येभ्यः कटं करोति । मृदो घटं करोति । कृत्वस्तियोगे इति किम् ? अशुक्लः शुक्लो जायते । अतत्तत्त्वे इति किम् ? शुक्लं करोति । घटं करोति । अत्र विकारस्यैव विवक्षा कारणस्याविवक्षितत्वात् । सम्पत्तृग्रहणं किम् ? कर्तुरन्यस्मिन् कारके मा भूत् । अशुक्ले सत् शुक्ले सम्पद्यते । अदेवगृहे सत् देवगृहं गण्यते । कथं समीपीभवति । दूरीभवति । अत्राप्युपचारात् । तत्स्थे द्रव्ये वर्तमानस्य कर्तृत्वम् ।

मनोऽहश्चक्षुरचेतोरहोरजसः खम् ॥४१२॥५६॥ मनःप्रभृतीनां शब्दानामलोऽन्त्यस्य स भावः च्वौ परतः । अविशेषेण पूर्वैरेव च्विः सिद्धः । त्वमनेन विधीयते । न च सविधौ तदन्तविधिप्रतिषेधः । स त-विधौ तदन्तविधिप्रतिषेधात् । तदन्तानां केवलानां चेह ग्रहणम् । अनुन्मनसम् उन्मनस करोति उन्मनीकरोति । उन्मनीभवति । उन्मनीस्यात् । अरुक्करोति । अरुक्भवति । अरुक्स्यात् । “दीरकृद्गो” [४१२॥१३४] “च्वौ” [५१२॥१३५] इति दीत्वम् । उच्चक्रोति । उच्चक्रभवति । उच्चक्रस्यात् । विचेनीकरोति । विचेनीभवति । विचेनीस्यात् । विरहीकरोति । विरहीभवति । विरहीस्यात् । विरजीकरोति । विरजीभवति । विरजीस्यात् ।

साहा कार्त्स्न्ये ॥४१२॥५७॥ कृत्वस्तियोगेऽतत्तत्त्वे सम्पत्तरि च्विः वर्तते । अतन्त्यविपरे का र्त्स्न्यं ग-भाना सादित्यत्र ल्यो भवति वा । अतन्त्यं कृत्स्नमन्त्रं अग्निं करोति अग्निमन्त्रं करोति । अग्निमाद्रादि । अग्नि-सन्त्यन् । उदकं करोति । उदकमाद्रादि । उदकं सन्त्यन् । वाक्चनान्तिवर्गिणः सन्त्यन्तीति । अग्नीं करोति । उदकीकरोति । अतन्त्यं सन्त्यन् च्विरेव भवति ।

सम्पदा चानिविधौ ॥४१२॥५८॥ नान्यद्व्याशः समीपना एहदण्येन वा विकृत्यार्थान्वर्जितम् । एकद्वयस्य स्वीकृत्य विकारस्यपि कृत्वस्तियोगे । अत्र विधौ गम्यमाने च्विः सिद्धः ।

कुम्बस्तिभिश्च योगे । वर्षासु सर्वं लवणमनुदकमुदकं सम्पद्यते उदकसात्सम्पद्यते । उदकसात्करोति । उदकसाद्भवति । उदकसात्स्यात् । अस्मिन् कटके उत्पातेन सर्वं शस्त्रमग्निः सम्पद्यते अग्निसात्सम्पद्यते । अग्निसात्करोति । अग्निसाद्भवति । अग्निसात्स्यात् । वेत्यनुवृत्तेः कुम्बस्तिभिर्योगे चिदपि भवति । उदकीकरोति । उदकीभवति । उदकीस्यात् ।

तदधीनोक्तौ ॥४१२।५९॥ अतत्तत्त्वे इति निवृत्तम् अर्थान्तरोपादानात् । तदधीनेऽभिधेये साद्भवति । कुम्बस्तिभिः सम्पदा च योगे । उक्तिग्रहणसामर्थ्यात् यत्र तदायत्तं प्रतीयते, तस्मात्स्वामिविशेषवाचिनस्तस्य । राज आयत्तं राजाधीनं करोति । राजसात्करोति । राजसात्स्यात् । राजसात्सम्पद्यते । आचार्यसात्करोति । आचार्यसाद्भवति । आचार्यसात्स्यात् । आचार्यसात्सम्पद्यते । वेत्यनुवृत्तेर्वाक्यमपि साधु ।

देये त्रा च ॥४१२।६०॥ तदधीनोक्ताविति वर्तते । देय दातव्यमित्यर्थः । तदधीने देयेऽभिधेये त्रा इत्ययं त्यो भवति साच्च कुम्बस्तिभिः सम्पदा च योगे । आचार्याधीनं देयं करोति आचार्यत्रा करोति । आचार्यसात्करोति । आचार्यसात्स्यात् । आचार्यत्रा सम्पद्यते । आचार्यसात्सम्पद्यते । वेत्यनुवृत्तेर्वाक्यमपि । देय इति किम् ? राजसाद्भवति राष्ट्रम् ।

अव्यक्तानुकरणादनेकाचोऽनितौ डाच् ॥४१२।६१॥ शब्द इति सामान्येन व्यक्तोऽव्यक्तोऽकारादिवर्णविशेषेणव्यक्तः । तस्यानुकरणं यत्तस्मादव्यक्तानुकरणादनेकाचोऽनितौ डाजित्ययं त्यो भवति कुम्बस्तिभिर्योगे । पटकरोति । पटपटाकरोति । पटद्भवति । पटपटाभवति । पटत्स्यात् । पटपटास्यात् । पटदिति क्रियाविशेषणम् । एतत् प्रादिवत् करोत्यर्थं विशिनष्टि न पुनः कारकावेनाभिसम्बध्यते । डकार टिखार्थः । चकारो “डाचि” इति विशेषणार्थः । डाचोति विशेष्यनिर्देशात् प्रागेव टिखाद् द्वित्वम् “ओ डाचि” [ ४।१।८७ ] इति पूर्वस्य तकारस्य पररूपम् । डाजन्तस्य “चिडजाजूर्वादिः” [ १।२।१३२ ] इति तिसृषा । एव दमदमाकरोति । दमदमाभवति । दमदमात्स्यात् । अव्यक्तानुकरणादिति किम् ? दृषत् करोति । अनेकाच इति किम् ? खात् करोति । अनिताविति किम् ? पठिति करोति । “डाजहृस्येतावतः” [ ४।१।८५ ] इत्यच्छब्दस्य पररूपम् । अनिताविति प्रतिषेधार्थकः । कथमिति चेत् ? डाजन्तस्य तिसृषा । तस्य “प्राग्घोस्ते” [ १।२।१४१ ] इति कुम्बस्तिभ्यः प्राक्प्रयोगेऽनिति परतैव भवति । एवं तद् इतो प्रतिषेधवचनम् अनिटशब्दनिवृत्त्यर्थम् । पटच्छब्दादिति शब्दप्रयोगे डाचि कृते इति पटपटाकरोतीत्यनितः शब्दो मा भूत् ।

कुजो द्वितीयतृतीयशवयीजात्कृपो ॥४१२।६२॥ कृजो ग्रहणं भवत्योनिवृत्त्यर्थम् । कुजो योगे द्वितीय तृतीय शव बीज इत्येतेभ्यः शब्देभ्यो डाज्भवति कृपिविषये । द्वितीय विलेपनं करोति क्षेत्रस्य द्वितीयावरीति क्षेत्रम् । डाचि द्वित्वमनित्यमिति वक्ष्यते । याऽसौ करोते । कर्मणश्च विग्रहे सवन्धः, स उपपन्नो डाचि भवति । द्वितीयादयस्तु शब्दाः प्रादिवत् क्रियाविशेषणभूताः । क्षेत्रं कर्म भावमुपयाति । एव तृतीयावरीति क्षेत्रम् । शव करोति कुलिङ्गस्य शवाकरोति कुलिङ्गम् । अन्ये तु शवाकरोतीत्येव सार्यं दर्शयन्ति । अतृतीयाविलोमान्वा वर्पतीत्यर्थः । बीज करोति क्षेत्रस्य बीजाकरोति क्षेत्रम् । वपतीत्यर्थः । सह बीजाविलेपनं करोतीत्यर्थः । वपाविति किम् ? द्वितीय विवरणं करोति सूत्राणाम् ।

गुणात्स्वर्यादे ॥४१२।६३॥ वृ इति वर्तते । वृपाविति च । गुणशब्दान्तात्स्वर्यादेर्मृदोऽप्यमरि एषा दत्ते । द्विगुणं विलेखनं करोति क्षेत्रस्य द्विगुणाकरोति क्षेत्रम् । अथवा द्वौ गुणौ विग्रह एतदेव । तदन्तर्गतः । एषादिति किम् ? द्वे परिवर्तने करोति क्षेत्रस्य । स्वर्यादेरिति किम् ? समगुणं करोति । एषादिति । द्विगुणं करोति वक्ष्यम् ।

समससप्तशानिषप्रानिष्टुताहृखाभियाहृखाशुलास्तत्याभद्राभद्राः ॥४१२।६४॥ समवा-



दयः शब्दा डाजन्ता निपात्यन्ते । सर्वत्र कृज्योगे निपातनम् । समयशब्दायापनाया गम्यमानाया डाज्नि-  
पात्यते । कालकृता पुरुषकृता वा सस्या समयः । तस्यातिक्रमः कालक्षेपो यापना । समय करोति पटस्य ।  
श्रो दातास्मीति तस्यातिक्रमे समयाकरोति पट कुविन्दः । यापनाया अन्यत्र डाज् न भवति । समयं करोति  
विवाहस्य । सपत्रनिष्पन्नशब्दाभ्याम् अतिव्ययने गम्यमाने डाच् । सपत्रशब्द इह विपरीतलक्षणतया  
निष्पन्नशब्दायै वर्तते । सपत्राकरोति मृग व्याधः । अतिपीडयतीत्यर्थः । एव निष्पत्राकरोति । अतिव्ययना-  
दन्यत्र सपत्रं वृत्तं करोति जलसेचकः । निष्पत्र वृत्ततत्त्वं करोति वाटिकापालः । निष्कुलशब्दान्निष्कोपणेऽर्थं  
डाच् । प्रच्छन्नावयवाना बहिर्निष्कासन निष्कोषणम् । निष्कुलाकरोति पशु चाण्डालः । निष्कोपणादना  
निष्कुल करोति पुरुषम् । उच्छिनत्तीत्यर्थः । सुखप्रियशब्दाभ्यामानुलोम्येऽर्थे डाच् । सुखाकरोति । प्रिया-  
करोति । स्वाम्यादेरानुकूल्येन वर्तत इत्यर्थः । आनुकूल्यादन्यत्र सुख करोति धर्मः । दुःखशब्दात् प्रातिलोम्येऽ-  
र्थे डाच् । दुःखाकरोति । प्रातिकूल्येन वर्तत इत्यर्थः । प्रातिकूल्यादन्यत्र दुःखं करोति दुष्कृतम् । शूलशब्दात्  
पाकार्यप्राये डाच् । शूलाकरोति मासम् । शूले मासं पचतीत्यर्थः । पाकादन्यत्र शूलं करोति सिपिब्रम्  
(कदन्नम्) । सत्यशब्दादशपथेऽर्थे डाच् । सत्याकरोति वणिग् भारडम् । अहमेतद्भाण्ड क्रेष्यामीति । अन्तराले  
द्रव्य सत्यकारं व्यवस्थाप्य तस्य करोति । (अशपथे किम् ? सत्य करोति ब्राह्मणः) । शपथ करोतीत्यर्थः ।  
भद्रमद्रशब्दाभ्या परिवापणेऽर्थे डाच् । भद्राकरोति नापितः शिशून् । मद्राकरोति नापितः शिशून् । परिवाप-  
णादन्यत्र भद्र करोति साधुः ।

**सान्ताः ॥४॥२॥६५॥** सान्तामि(न्ता इ) लयमधिकारो वेदितव्यः । आपादपरिसमाप्तेर्य विधयो वक्ष्यन्ते  
सत्यान्ता अवयवास्ते भवन्तीत्यर्थः । ननु वक्ष्यमाणेषु सूत्रेषु क्वचित्सविशेषाधिकारोऽस्ति क्वचित्पूर्वपदोत्तरपद-  
निर्देशः । ततः सामर्थ्यादेव सान्ता विधयो भविष्यन्तीति नार्योऽनेन, यत्रार्थविभागोऽस्ति तदर्थोऽधिकारः ।  
यथा “ऋक्पूरुषधूपयोऽनक्षे” [४॥२॥७०] इति । अर्थवर्चम् । सप्रहण किम् ? ऋक् । अन्तप्रहण किमर्थम् ?  
तद्ग्रहणेन ग्रहण यथा स्यात् । इ-र-द्वन्द्वसज्ञा, प्रयोजयन्ति । उपराजम् । “हे शरदादेः” [४॥२॥१०४]  
“अनः” [४॥२॥११०] इति सान्ते कृत हसजाश्रयाऽम्भावादः सिद्धः । द्वे धुरी समाहृते द्विधुरी । त्रिधुरी । “रात्”  
[४॥२॥२५] इत्यकारान्तलक्षणा ङीविधि सिद्धः । नृपुगेपानहिनी । ‘द्वन्द्वान्चुदहपो रार्थ’ [४॥२॥१०८]  
इति सान्ते कृते “द्वन्द्वान्पतापगर्ह्याध्यायनीन्” [४॥२॥५१] इतीन्विधिः सिद्धः । त्यादशी च प्रयोजयत ।  
व्याघ्रपात् । “ख पादस्याहस्यादेः” [४॥२॥१३४] इति परस्यादर्माभूत् । “गन्धस्येहपूतिमुसुरमिन्य”  
[४॥२॥१३६] इति परस्यादेरित्त्वम्भा भूत् ।

**न स्वतिक्रिमः ॥४॥२॥६६॥** तु अति किम् इत्येतेभ्यः परस्य सान्ता न भवति । वक्ष्यमाणेन  
लक्षणेन विहितं सर्वः सान्तः प्रतिपिच्यते । रामना राजा मुराजा । मुसवा । मुगोः । अतिराजा । अतिमवा ।  
अतिगोः । को राजा किंराजा यो न रक्षति । किंवा या न स्निह्यति । किंनोया न वक्षति । इ’ एता-  
त्प्रतिषेधो न भवति शामने अक्षिणी यन्म स्वन्नः । “स्वादाद्देवेऽक्षिसकन्” [४॥२॥११३] इत्यमन्ति ।  
अत्रोच्यते-“स्वती पूजायाम्” इति विराधोक्तत्वात्प्रतिपदाक्तस्य पसत्यव ग्रहणम् न यस्य । पूजनामनया-  
त्सादृशान् । पूजार्थस्यानेर्ग्रहणम्, तेन “अन्यादय, क्रान्तायर्थ दपा” इति प्रतिपदविधानं निरप्रतिषेधो न  
भवति । अतिजान्ता राजानम् अतिराज, इति । क्षेपे किमिति प्रतिपदाक्तस्य ग्रहणात् इदं प्रतिषेधो न  
भवति । को राजा किंराजः । किंनव । किमव ।

**नत्र ॥४॥२॥६७॥** नः परस्या ग्रहणः सान्तो न भवति । अराजा । अमवा । अना ।  
इहानि नन्ति प्रतिपदोक्तस्य पसत्यव ग्रहणादन्वयात्प्रतिषेधः । अगच्छमे दष्ट । अन्वा मात्वा ।

**पथो वा ॥४॥२॥६८॥** नत्रः पथः यः पथिगुञ्जन्तन्ताह सान्ता न भवति । “पथि गतिं प्रतिप-  
दन्ते विद्वन्तेऽनन्” । अथयन् । अरम्य । इह नत्रः सन्तानुदन्तस्य नित्या मितः । अथय यत्न ।

संख्यावाङ्मोऽवहुगणात् ॥४१२६॥ “संख्येये संख्यया भ्यासन्ना” [११३।८७] इत्या-  
दिना प्रतिपदोक्तो य संख्याया वसस्तसादवहुगणान्ताडुः सान्तो भवति । समीपे दशानामिमे उपदशाः ।  
आसन्ना विशतेरिमे आसन्नविशाः । अदूरे त्रिशतोऽदूरत्रिशाः । द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः । पञ्चषाः । संख्या  
ग्रहणं किम् ? चित्रगुः । संख्यावसस्य प्रतिपदोक्तस्य ग्रहणादिह न भवति । द्विगुः । दशगुः । अवहु-  
गणादिति किम् ? उपबहवः । इदमेव ज्ञापकं बहुगणयोः संख्या सज्ञा भवति । गणशब्दस्य डे सत्यसति च  
नास्ति विशेषस्तस्य प्रतिषेधोऽन्यसंख्याकार्यलाभार्थः । गणकृत्वः । गणधा । “डप्रकरणे संख्याया  
पयस्योपसंत्पानं निस्त्रिंशत्तर्धम्” । निर्गतानि त्रिशतो निस्त्रिंशानि । निश्चत्वारिंशानि । निरशीतानि  
वर्षाणि वर्तन्ते । निर्गतस्त्रिंशतोऽङ्गुलिभ्यो निस्त्रिंशः खड्गः । आदिशब्दः प्रकारवाची तेन न्यादे-  
र्न भवति ।

अक्षपूरव्यूः पथोऽनन्ते ॥४१२।७०॥ अक्ष, पुर, अप्, धूः, पथिन् इत्येवमन्तेभ्यः अ इत्यय  
सान्तो भवति अक्षसबन्धो चेद्भूःशब्दो न भवति । वादिति निवृत्तं सामान्येन विधानम् । सान्ताधिकार-  
सामर्थ्यात्तदन्तग्रहणम् । अकारस्यानक्षशब्दे परतः स्वेऽको दीत्व कस्मान्न कृतम् ? शकन्वादित्वात्पररूपं  
द्रष्टव्यम् । सौत्रो वा निर्देश । अर्धचर्मम् । अनृचो माणवकः । अवहवृचम् । ललाटस्य पूर्ललाटपुरम् ।  
द्विर्गता आपोऽस्मिन् द्वीपः । समीपः । राज्यस्य धू राज्यधुरा । महाधुरा । मोक्षपथः । राजपथः । अनक्ष इति  
किम् ? अक्षस्य धूः अक्षधूः । दृढधूरक्षः । अत्र केषाञ्चिदस्ति । “अनृचो माणवो ज्ञेयो बह्वृचश्चरणे  
स्मृतः” तेनेह न भवति । अनृकं साम । बह्वृकं सूक्तम् ।

प्रत्यन्ववात्सामलोम्नः ॥४१२।७१॥ प्रति अनु अव इत्येवपूर्वात्सामान्ताल्लोमान्ताच्च अः  
सान्तो भवति । प्रतिगत साम प्रतिसामम् । अनुसामम् । अवसामम् । प्रतिलोमम् । अनुलोमम् । अवलोमम् ।  
“तिश्रादयः” [११३।८९] इति षष् । अन्यपदार्थे षो वा कर्तव्यः । यदा तु हसः, तदा “अनः”  
[४१२।११०] “नपो वा” [४१२।१११] इति परत्वादिकल्पः । प्रतिसामम् । प्रतिसाम । प्रतिलोमम् ।  
प्रतिलोम ।

“कुण्डोदवपाण्डुपूर्वाया भूमेरत्योऽयमित्यते । गोदावर्याश्च नद्याश्च संख्याया उत्तरे यदि ॥” [वा०]  
एष्णभूमः । पाण्डुभूमः । बसो यसो वा । द्वे गोदावर्यां समाहृते द्विगोदावरम् । पञ्चनदम् ।  
“नदीभिश्च” [११३।९७] इति हसः । चकाराद्भूमिरपि भवति । द्विभूमः । सप्तभूमः । प्रासादः । कचिदन्य-  
पापीष्यते । पद्मनाभः । कर्णनाभः । वर्षरात्रः ।

राजीवेऽष्टणः ॥४१२।७२॥ अजीवे वर्तते योऽक्षिशब्दस्तदन्तात्सात् अ इत्ययं त्यो भवति । कमल-  
स्याक्षि कमलाक्षम् । अथवा कमलमक्षीव कमलाक्षम् एव लक्षणाक्षम् । पुष्कराक्षम् । कयरस्याक्षि कय-  
राक्ष । अश्वानां राजावहादनं नृणाञ्छेदकमित्यर्थः । अजीव इति किम् ? अजाति । कथं प्रासादस्य गवाक्षम् ।  
अक्ष इति । एषमादयोऽपि स्तुतिशब्दा इति न जीवेऽक्षिशब्दस्य वृत्तिः ।

स्त्रीधेनुवाग्दारात्पुस्तनहुन्मनोगोभ्यः ॥४१२।७३॥ स्त्री, धेनु, वाक्, दार इत्येवपूर्वैभ्यो  
यश्चस्त्वं पुष्ट्, धनश्च्, मनश्च्, गो इत्येव अः सान्तो भवति । स्त्री च पुमांश्च स्त्रीपुसौ । कचिद्यसेऽपि  
भवति । पूर्व स्त्री पश्चात्पुमात् स्त्रीपुसु विटि राक्षन् । स्त्रीपुसः शिखण्डी । द्वन्द्वयसायामन्यत्र न भवति ।  
स्त्रियः पुमश्च् । परस्मिन्पुसौ इत्येव एव त्यो भवति । धेनुश्च अनर्द्धांश्च धेन्वनहुदी । वाक्च मनश्च वाट्मन-  
श्च् । दारश्च गणश्च दारगवश्च् ।

१ इहश्च २० । २ गोभ्यः इति बहुवचनान्तः । पाठिभ्यः, ग्रन्थे सर्वत्रैकवचनस्यैव  
प्रयोगः दर्शितः ।

ऋचः सामयजुर्भ्याम् ॥४।२।७४॥ ऋचः पराभ्या सामयजुर्भ्याम् अः सान्तो भवति द्वन्द्व-  
एवाभिधानम् । ऋक्च साम च ऋक्सामे । ऋक्च यजुश्च ऋग्यजुषम् ।

नञ्विस्सूपत्रिभ्यश्चतुरः ॥४।२।७५॥ नञ्, वि, सु, उप, त्रि इत्येतेभ्यः परश्चतुर्शब्दोऽत्यान्तो  
निपात्यते । अदृश्यानि चत्वारि अनेन अचतुरः । विगतानि चत्वार्यस्य विचतुरः । शोभनानि चत्वार्यस्य  
सुचतुरः । समीपे चतुर्णामयमुपचतुरः । त्रयो वा चत्वारो वा त्रिचतुराः । वस एवेद निपातनम्, नान्यत्र । न  
चत्वारोऽचत्वार इति ।

नक्तं रात्रिर्महोभ्यो दिवम् ॥४।२।७६॥ नक्तम्, रात्रिम्, अहन् इत्येतेभ्यः परो दिवशब्दो  
निपात्यते द्वन्द्वे । नक्तञ्च दिवा च नक्तन्दिवम् । अः सान्तो निपात्यते । रात्रौ च दिवा च रात्रिन्दिवम् । सू-  
निपातनादेव रात्रिशब्दस्य मुम् । अहश्च दिवा च अहर्दिवम् । अहःशब्दसन्निधाने दिवाशब्दो रात्रिपर्यायः  
शक्तिस्वाभाव्यात् ।

द्वित्रिपुरुषादायुषः ॥४।२।७७॥ द्वि, त्रि, पुरुषशब्देभ्यः पर आयुषशब्दो निपात्यते । द्वे आयुषो  
समाहृते द्वायुषम् । त्र्यायुषम् । अस्सान्तो निपात्यते । रसादन्यत्र न भवति । द्वयोरायुर्द्वयायुः । त्र्यायुः ।  
पुरुषस्यायुर्वर्षाणि पुरुषायुषम् । तास एवेद निपातनम्, द्वन्द्वे न भवति । पुरुषश्च आयुश्च पुरुषायुषी ।

जातमहद्बृद्धादुत्तः ॥४।२।७८॥ जात, महत्, बृद्ध इत्येतेभ्यो पर उच्चा इति निपात्यते । सर्वत्र  
यथेऽकारः सान्तो निपात्यते । जातश्च सा उच्चा च जातोच्चा । महोच्चाः । बृद्धोच्चा । यसादन्यत्र न भवति ।  
जातस्य उच्चा जातोच्चा । महुच्चा । वृद्धोच्चा ।

सरजसोर्वष्टोचपदष्टावात्तिभ्रुवो(व दारगवो<sup>१</sup>) पशुनगोष्ठश्वाः ॥४।२।७९॥ सरज्जगदायः  
शब्दा अत्यान्ता निपात्यन्ते । सह रजसा सरजसमभ्यवहरति । साकल्ये हसः । हसादन्यत्र न भवति । सरज-  
सलिलम् । उरु च अष्टीवन्तो च उर्वष्टीवम् । अकारस्त्याष्टिख च निपात्यते । अष्टीवन्तो गुलकापुच्येते ।  
प्राण्यङ्गलादेकवद्भावाः । पादौ च अष्टीवन्तो च पदष्टीवम् । द्वन्द्वेऽकार सान्तष्टिख पूर्वपदस्य पद्भावा निपात्यते ।  
अक्षिणी च भ्रुवौ च अक्षिभ्रुवम् । द्वन्द्वे द्युवल्लिङ्गम् । दारगवामित्यवादाशश्च निपात्यते । शुनः समीपम् उप-  
शुनम् । ह्रस्वे अः सान्तष्टिखामावो जिश्च निपात्यते । गाष्ठे वा गोष्ठश्च । अः सान्तः ।

पल्यराजहस्तिभ्यो वर्चसः ॥४।२।८०॥ पल्य, राजन्, हस्तिन् इत्येतेभ्यः परो यो वर्चःशब्दः  
नतः सान्तो भवति । अत्र तासः सम्भवति । पल्यस्य वर्चः पल्यवर्चमम् । राजवर्चमम् । हस्तिवर्चमम् ।  
'ब्रह्मवर्चसादिभ्योऽपि वक्तव्यम्' [ वा० ] । तेनात् ( नात्वे ) ब्रह्मवर्चसमिति भवति ।

तमसोऽवसमन्धान् ॥४।२।८१॥ अव, मम्, अन्ध इत्येतेभ्यः परात्तमःशब्दादः सान्तो भवति ।  
अवरीन तम, अवरीन तमोऽस्मिन्वाऽवतमम् । मन्तमम् । अन्धतमम् । पया वषो वा ।

नितः श्रेयसः ॥४।२।८२॥ निःशब्दान् परो यः श्रेयःशब्दस्तदन्तर्हया भवति । निश्चित श्रेयः  
निःश्रेयसम् । अत्र ( यस एव ) विधान न वस इति केचित् । निश्चित श्रेयोऽनन निश्चयः ।

श्वसो वसीयसश्च ॥४।२।८३॥ श्वस गन् वसीयसः श्वसश्च श्व सान्तो भवति । श्वस-  
'विन्तोऽपि' [ ४।१।१२४ ] इति इत्येतेभ्यो वृत्ते वर्माय दीर्घा भवति । श्वसोऽपि वृत्तः ।  
श्वसोऽपि ते । उभयत्र मन्तव्यमस्ति ।

तत्तान्ववाद्रहसः ॥४१२॥४॥ प्रच्छन्न उपाशुप्रयोगो वा रहः । तत् अनु अव इत्येतेभ्यः परो यो रहः शब्दस्तदन्तादस्यो भवति । सम्भवतः सत्य ग्रहणम् । तत् रहः तत्तरहसम् । अनुगतं रहः अनुरहसम् । अनुगत रहोऽस्मिन्वानुरहसम् । अवरहसम् ।

प्रतेरुरस ईपः ॥४१२॥५॥ प्रतेः परात् उरः शब्दादीन्वर्थे वृत्ते अस्मान्तो भवति । उरसि वर्तते प्रत्युरसम् । विभक्त्यर्थे हसः । अथवा विग्रहवाक्ये ईवन्तादुरः शब्दादस्यो भवति । प्रतिष्ठितमुरसि प्रत्युरसम् । "तिक्प्रदाय" [११३॥१॥ इति षत् । ईप इति किम् ? प्रतिगतमुरः प्रत्युरः ।

द्विस्तावात्रिस्तावाऽनुगवम् ॥४१२॥६॥ द्विस्तावा त्रिस्तावा, अनुगव इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । द्विस्तावतीति विरुद्ध द्विस्तावा वेदिः । काचिदभिधीयते । मयूरव्यंसकादित्वात्सः । अः सान्तः पुंवद्भावष्टिं च निपात्यते । एव त्रिस्तावती त्रिस्तावा वेदिः । वेद्यभिधानादन्यत्र न भवति द्विस्तावती त्रिस्तावती परिखा । अत्रापि अभ्याहतक्रियापेक्षया क्रियाम्भावृत्तिरस्ति । द्विस्तावती मीयते परिच्छिद्यते वा । तेन सुप् सिद्ध । अनुग [वेऽभिधेये] वमिति [अस्मान्तो] अत्रान्तो निपात्यते आयामिन्यभिधेये । गामन्वायतम् अनुगव यानम् । "आयामिना" [११३॥१॥ इति इत् । यथा गौरायतस्तथा यानमप्यायतमित्यर्थः । आयाम्यभिधानादन्यत्र न भवति । गवा पश्चादनुगु ।

नेरध्वनः ॥४१२॥७॥ गिञ्जोपलक्षितेभ्यः पराध्वशब्दादस्यो भवति । सम्भवतः सत्य ( षत्स्य ) ग्रहणम् । प्रगतोऽध्वान प्राध्वो रयः । प्राध्व शकटम् ।

पेऽङ्गुलेकिञ्चर्यादेः ॥४१२॥८॥ भिन्नख्यादेरङ्गुलिशब्दादस्मान्तो भवति । अतिक्रान्तमङ्गुली-रत्यङ्गुलम् । निर्गतमङ्गुलिभ्यो निरङ्गुलम् । सख्यादेः—द्वयोरङ्गुल्योः समाहारो द्वयङ्गुलम् । व्यङ्गुलम् । चतु-रङ्गुलम् । तथा द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य द्वयङ्गुलम् । "द्वयङ्गुलम्" [११३॥४६॥ इति रसः । प्रमाणेऽर्थे आगतस्य मानटः "राहुदत्तौ" [११३॥२६॥ इत्युप् । वस इति किम् ? पञ्चाङ्गुलीर्हस्तः ।

अस्सर्वैकदेशसंख्यातपुरयाच्च रात्रेः ॥४१२॥९॥ पे इति वर्तते । अहन्, सर्व, एकदेश, सख्यात, पुरय इत्येतेभ्यः परात्रात्रिशब्दाद् भिन्नख्यादेश्च अस्त्यो भवति पसे । अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रः । परयासम्भवात् पञ्च द्वन्द्वो वेदितव्यः । "अहो रिविधौ रात्रिरूपपरधन्तरेषु" [वा०] इति रिक्तम् । सर्वा रात्रिः सर्वरात्रः । "पूर्वैकालेक" [११३॥४४॥ इत्यादिना षत् । एकदेशात्—पूर्वा रात्रिः पूर्वरात्रः । अपरा रात्रिः अपरात्रात्रः । उत्तरा रात्रिः उत्तररात्रः । रात्र्येकदेशे रात्रिशब्दो वर्तते । तत्. सामानाधिकरण्यम् । "विशेषण विशेष्येणेति" [११३॥५२॥ इति षत् । संख्यातरात्रः । पुरयरात्रः । भ्यादेः—अतिक्रान्तो रात्रिर्मातरात्रः । नीरात्रः । सख्यादेः—द्वयो रात्र्योः समाहारो द्विरात्रम् । त्रिरात्रम् ।

अभ्योऽश्लेषः ॥४१२॥१०॥ राजाऽह सखिभ्यो विधात्यते, तस्मिन् सति अह्नित्येतस्य अहादेशो भवति एभ्य सर्वादिभ्य परत्वात् । एभ्य इति निर्देशो भिन्नख्यादेशेऽपि ग्रहणार्थः । तत्सम्भवादहः शब्दपूर्वत्वं न भवति । सर्वेह सर्वरात्रः । "द्वयोरेवाहः" [११३॥१३॥ इति रिक्ते प्राप्तेऽनेनाहादेशः । "अतोऽहः" [५१३॥१३॥ इति सत्त्वं । पूर्वह । अपराह । संख्यातराहः । पुरयशब्दात्प्रविधेय वदन्ति । भिन्नख्यादेः—भिन्नख्यातस्य निर्या कथं । द्वयोरतोर्नवा द्वयतो पञ्च । त्रयो पञ्च । हृदयं रसे वृत्ते भवार्थे आगतस्यास्यः "तस्योऽप्यपदे" [११३॥४३॥ इत्युप् । तौ रसे सख्यादि प्रयोजनन्ति । द्वेऽह्नौ जातस्य द्वयद्वयत्वात् । व्यह-रह । "अहो नैह" [११३॥१४॥ इति त्रिषः षत् । एकशब्दात्प्रविधेय वदन्ति ।

न समाहारे ॥४१२॥११॥ समाहारेऽहं पते अह्नित्येतस्य अहादेशो न भवति । पूर्वद्वयेऽप्य सख्यादे-रिति प्राप्तेऽनेनाहादेशः । द्वयोरेवो समाहारो द्विरह । तत्र । "द्वयोरेवाहः" [११३॥१३॥ इति रिक्तम् ।

अत्र संख्यादेरिति वक्तव्यम् । इह मा भूत् । सङ्गतानि समाहृतान्यहानि समाहा इति नैष दोषः । प्रतिपदं “हृदर्थद्युसमाहारे” [१।३।४६] इति समाहारे विहितस्य पस्येह ग्रहणं न प्रादिलक्षणस्य । समाहार इति किम् ? द्वयोरहोर्भवो द्वयहः उत्सवः । हृदर्थे रसे कृतेऽण आगतस्य “रस्योवनपत्ये” [३।१।७४] इत्युप् ।

पुण्यैकाभ्याम् ॥४।२।६२॥ पुण्यैकशब्दाभ्यां परस्य अह्नित्येतस्य अह्नादेशो न भवति । पुण्यमह पुण्याहः । एकमहः एकाहः । “पूर्वकालैक” [१।३।४४] इत्यादिना पसः ।

राजाऽहःसखिभ्यष्टः ॥४।२।६३ राजन्, अहन्, सखि, इत्येतदन्ताष्टो भवति । देवराजः । द्वयो-  
रहोः समाहारो द्वयहः । परमाहः । राजसख । न्वियाः पूर्वपदार्थप्राधान्येऽतिक्रान्ता राजानम् अतिराजो ।  
नकारान्तलक्षणाद्दीविधेः परत्वाद्नेन टः । “मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्” [५०] इतीह कस्मान्न भवति ?  
मद्राणां राज्ञी मद्रराज्ञी । मद्रसखी । अनित्येषा परिभाषेति न भवति ।

गोरहृदुपि ॥ ४।२।९४ ॥ गोशब्दाष्टो भवति अहृदुन्विषये । पञ्चानां गवां समाहारः पञ्चगाम् ।  
महागवः । राजगवो । अतिगवो । पञ्चगवधनः । अहृदुपीति किम् ? पञ्चभिः क्रीतः पञ्चगुः । दशगुः । दृश्ये  
“संख्यादी रश्च” [१।३।४७] इति रसे कृते क्रीतार्थे आगतस्य आर्हापस्य टणो “शदुवसौ” [३।४।२६]  
इत्युप् । अत्रान्तरङ्गत्वात्प्रागेव सान्तो भविष्यतीति प्रतिषेधोऽनर्थकः । नैव शङ्क्यम् अनुपीति विषयनिर्दे-  
शादुन्विषये प्रतिषेधः । हृद्ग्रहणं किम् ? सुबुन्विषये प्रतिषेधो मा भूत् । पञ्चगवमिच्छति पञ्चगवीयति ।  
उग्रग्रहणं किम् ? हृतः श्रवणविषये प्रतिषेधो मा भूत् । पञ्चभ्यो गोभ्य आगतं पञ्चगवरूप्यम् । पञ्चगवमयम् ।  
हृदर्थे रसे कृते टः सान्तः । “हेतुमनुष्याद्वा रूप्यः” । [३।३।५५] “मयट्” [३।३।६६] इति  
रूप्यमयटौ ।

उरस्सोऽग्रे ॥४।२।९५॥ अग्र प्रधानम् । अग्रे वर्तते य उरःशब्दस्तदन्तात्पाष्टो भवति । इन्तिनामुरः  
हस्त्युरसम् । अश्वोरसम् । रथोरसम् । समानाधिकरणे वा पसः । हस्तिना इवोरसः हस्त्युरसम् । यथा दहान-  
यवानाम् उरोऽग्रम् प्रधानम् एवमिहाप्युरःशब्देन प्रधानभूतं विवक्षितम् । अग्र इति किम् ? पुष्प-  
स्योरः पुष्पोरः ।

सरोऽनोऽश्मायसः खुजात्योः ॥४।२।९६॥ सरस्, अनस्, अश्मन्, अयस्, इत्येवमन्तात्पा-  
ष्टो भवति खुविषये जातो च । जलसरसमिति संज्ञा । मण्डूकसरसमिति जातिः सज्ञा वा । मदनसमिति  
संज्ञा । उपानसमिति जातिः सज्ञा वा । स्थूलाश्मः । अमृताश्म इति जातिः । पिण्डाश्म इति सज्ञा  
जातिर्वा । कनकाश्म इति जातिः । लोहितायस इति सज्ञा जातिर्वा । कालायसमिति जातिः । गुवायाया  
किम् ? परमसरः ।

ग्रामकोटाभ्यां तदणः ॥४।२।९७॥ ग्राम कौट इत्येताभ्यां यन्तक्षशब्दस्तदन्तात्पाष्टो भवति ।  
ग्रामस्य तद्वा ग्रामवहः । कुट्या भव कौटः, कौटश्चासौ तद्वा कौटतक्षः । ग्वायतकर्मजीवीयय । ग्राम-  
कोटान्यामिति किम् ? राज्ञस्तद्वा गजतद्वा ।

शुनान्तेः ॥४।२।९८॥ अतिशब्दात्प्रागे यः श्वन्शब्दस्तदन्तात्पाष्टो भवति । अतिक्रान्तः श्वान  
मविधौ वपहः । अतिश्वो नीचजनः ।

मृगोत्तरपूर्वसकथनः ॥४१२१०१॥ मृग, उत्तर, पूर्व इत्येतेभ्यः परो यः सकथिशब्दस्तदन्तात्पाटो भवति । मृगस्य सकथि मृगसकथम् । उत्तरसकथम् । पूर्वसकथम् । उपमानादिति वर्तते । फलकमिव सकथि फलकमकथम् । “विशेषणम्” [११३१५२] इत्यादिना पसः ।

नाचो रात् ॥४१२१०२॥ नौशब्दस्तदन्तात्पाटो भवति । द्वयोर्नाचोः समाहारो द्विनावम् । पञ्चनावम् । पञ्चनावप्रियः । द्वाभ्या नौभ्यामागत द्विनावरूपम् । द्विनावमयम् । अहदुपीत्यनुवर्तते । पञ्चभिर्नौभिः क्रीतः पञ्चनोः । आर्हीयस्य ठण् । “रादुचखौ” [३१४१२६] इत्युप् । रादिति किम् ? परमनौः ।

अर्द्धाच्च ॥४१२१०३॥ अर्द्धाच्च परो यो नौशब्दस्तदन्तात्पाटो भवति । अर्द्धं च सा नौश्च अर्द्धनावी । “विशेषणम्” [११३१५२] इत्यादिना सः । लोकाश्रय नपुंसकलिङ्गमपि दृश्यते । अर्द्धनावमिति ।

खार्या वा ॥ ४१२१०४॥ खारीशब्दस्तदन्तात्पाटो भवति । द्वे खार्यौ समाहृते द्विखारम् । यदा टो न भवति तदा “प्रो नपि” [१११७] इति प्रादेशः । द्विखारि । केचित्पुलिङ्ग पठन्ति । तेषां “स्त्रीगोर्नीचः” [१११८] इति प्रादेशे द्विखारिगिति । पञ्चखारप्रियः । पञ्चखाररूपम् । पञ्चखारीरूपम् । पञ्चखारमयम् । पञ्चखारीमयम् । पञ्चसु खारीषु भवः पञ्चखारी । टपक्षे ङी सिद्ध एव । इहार्द्धादिति वर्तते । अर्द्धशब्दात्परो यः ग्यारोशब्दस्तदन्तात्पाटो भवति । अर्द्धखारम् । अर्द्धखारी ।

द्वित्रिभ्यामञ्जलेः ॥४१२१०५॥ द्वित्रिभ्या परो योऽञ्जलिशब्दस्तदन्तात्पाटो भवति । द्वयोरञ्जल्योः समाहारो द्वयञ्जलम् । त्रयञ्जलम् । द्वयञ्जल वनम् । त्रयञ्जलरूपम् । द्वयञ्जलमयम् । केचिद् वेत्यनुवर्तयन्ति । तेन द्वयञ्जलिः । त्रयञ्जलप्रियः । इहाहदुपीति वर्तते । हदुपि न भवति । द्वाभ्यामञ्जलिभ्या क्रीतो द्वयञ्जलिः । रादित्येव । द्वयोरञ्जलिः द्वयञ्जलिः ।

ब्रह्मणो राष्ट्रेभ्यः ॥४१२१०६॥ राष्ट्रेभ्य परो यो ब्रह्मण्शब्दस्तदन्तात्पाटो भवति । रादिति निवृत्तम् । अवनितु ब्रह्मा अवनितब्रह्मा । सुराष्ट्रे ब्रह्मा सुराष्ट्रब्रह्मा । ईविति योगविभागात्सः । राष्ट्रेभ्यः किम् ? देव-ब्रह्मा नारदः ।

कुमरद्वयां वा ॥४१२१०७॥ कुमरद्व्या परो यो ब्रह्मास्तदन्तात्पाटो भवति । कुब्रह्मः । कुब्रह्मा । मन्त्रब्रह्मा । मन्त्राब्रह्मा ।

द्वन्द्वाद्गणै राथं ॥४१२१०८॥ राथः समाहारः । द्वन्द्वाद्गणै वर्तमानाच्चवर्गदकारहकार-पञ्चागन्ताटो भवति । वाक्च त्वक्च वाक्त्वक्चम् । श्रीत्वजम् । वाग्वपम् । छुरोपानम् । वाग्विप्रुपम् । द्विजमिति निम् । पञ्चाना त्वक्च समाहारः पञ्च वक् । चुम्बन् इति किम् ? वाक्चरित् । राथं इति किम् ?

गिरिन्दीपौर्णमास्याग्रहायणीभूयः ॥४१२११२॥ वेति वर्तते । गिरि नदी पौर्णमासी आग्रहायणी भूय इत्येवमन्ताद्वा षो भवति । गिरेरन्तरन्तगिम् । अन्तर्गिम् । तिष्ठद्वादिन्यान्विधिः । अथवा विमन्त्ये हम् । वहिर्गिम् । वहिर्गिरि । “पर्यपाङ् वहिर्गन्वः” [४१२१०] । उपनदम् । उपनदि । नपि प्र० । उप पौर्णमासम् । उपपौर्णमासि । उपाग्रहायणम् । उपाग्रहायणि । भूय-उपममिवम् । उपममिन् । उपददम् । उपददत् ।

स्वाङ्गाद्वेऽजितस्वन्नः ॥४१२११३॥ स्वाङ्गशब्दाद् यौ अन्निमन्थिगच्छौ तदन्तात् वादो भाति । ह इति वेति च निवृत्तम् । कल्याणेऽजिणी अस्य कल्याणाज्ज । विशालाक्षी । गोरे मन्थिनी अन्य गौर्मन्थः । स्वन्नः इत्यत्र “न स्वतिक्रिम” [४१२१६] इति प्रतिषेधः । कस्मान्न भगवे ? पमन्य प्रण ता न्यान्ता मित्यदोषः । स्वाङ्गादिति किम् ? स्थूलाक्षिरिक्तुः । दीर्घमन्थि शकृदम् । अत्राणिदन्त्य स्वाङ्गन्य न भाति । व इति किम् ? उक्तमाक्षि । आपादपरिमामेर्वसाधिरारः प्रत्येनवः ।

द्वयङ्गुलेः ॥४१२११४॥ इ दारु । अर्हुलिशब्दान्ताद्वादो भवति दारुण्यमिषे । द्वे अङ्गुली अथ द्व्यङ्गुल दारु । अङ्गुलम् । चतुरङ्गुलम् । धान्याना विक्षेपणम् अग्रेऽङ्गुलीमदगावयव ऋष्ट दारु तन्नि गृधो । यत्तु द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य द्वयङ्गुल दारु । तत्र हृदये वने कृते “अङ्गुलेर्भिक्षम्यादे” [४१२१६] इत्य. गान् । माघदश्रोप् । द्वङ्गीति किम् ? पञ्चाङ्गुलिर्हस्तः ।

द्वित्रिभ्यां मूर्धः ॥४१२११५॥ द्वित्रिभ्या परो यो मूर्धन्गच्छन्मन्ताद्वादो भवति । द्विर्म् । त्रिर्म् । त्रिर्म् । सान्तो विधिरनित्य इति तेन द्विर्मूर्धा । त्रिर्मूर्धा ।

उन्स्त्रीप्रमादयोः ॥४१२११६॥ इ इति निवृत्तम् , त्यान्तगोपादानात् । उदन्ता ये स्त्रीशब्दाः प्रमाणी शब्दश्च तदन्ताद्वा अन्यो भवति । कल्याणी पञ्चमी यामा गत्रीणा कल्याणीपञ्चमा गत्रय । कल्याणीत्यमा भार्या । स्त्री प्रमाणी येन स्त्रीप्रमाणा । कल्याणी प्रमाणी आमा कल्याणप्रमाणा भार्या । उन्स्त्रीप्रमाणा गत्रय. कल्याणीद्वितीया । कल्याणीतृतीया । कल्याणीपञ्चमा गत्रय इति । उन्स्त्रिया प्रधानस्त्रीप्रमाणं त्रि वम् । अन्यत्रार्थवाच्याना उदन्ता स्त्री प्रधान यदि भवति तदाय मान्तो भवतीत्यर्थः । अउद् प्रितापिती । पुत्रद्वयप्रतिषेधोऽप्यस्मिन्नेव विषये वक्ष्यते । तेनेह मान्त. पुत्रद्वयप्रतिषेधश्च न भवति । कल्याणी पञ्चमी अस्मिन् पक्षे कल्याणपञ्चमीक पत्र इति । “नेतुर्नक्षत्रे उपमग्यातम्” [वा०] । मृगो नेता आगा ग तीणा मय नेत्रा । पुत्रनेत्रा । नक्षत्रादन्यत्र न भवति । देवदन्तेतृक सैन्यम् ।

लोम्नोऽन्तर्वहिर्भ्याम् ॥४१२११७॥ अल्लर् वस्त्रिप् उन्नेताया परो यो लोमगच्छन्मन्ताद्वादो भवति । अन्तर्गतानि लोमन्त्य अन्तर्लोम । वल्लोमः । “मासाद्भुक्तिरान्तपुत्रपदान षो वक्ष्य” [११] पञ्च कार्यवणा भुक्तिरन्य मान्त्य “तदभ्यागवन्तभुत्रय” [४१२१०] इत्यत्र “वक्ष्यपा कांशनिजव” [४१२१०] इति च । पञ्चमो मासोऽन्तेति अने कृते इ । पञ्चममभिर । दशममभिर ।

नेः ॥४१२१६॥ नेः परो यो नासिकाशब्दस्तदन्ताद्वादस्यो भवति । नश्चादेशः अयमखुविषये विधिः । उन्ता नामिडास्य उन्नसः । प्रवृद्धा नासिकास्य प्रणसः । “णत्वविधौ गेर्नस उपसंख्यानम्” [वा०] इति णत्वम् आत्मे । “वे. र्वादेशो वक्तव्य ” [वा०] विगता नासिकास्य विखुः ।

सोः प्रातर्दिवात्पदसः ॥४१२१७॥ सोः परे ये प्रातर्, दिवा, श्वस् शब्दास्तदन्ताद्वादस्यो भवति । शोभन प्रातरस्य सुप्रातः । “भेर्भमात्रे टिखम्” [वा०] इति टिखम् । विग्रहवाक्ये शोभनमिति नपुसकत्व गम्यमानकर्मपेक्षम् । शोभन प्रातःकाले कर्मास्त्येत्यर्थः । एव शोभन दिवा अस्त्येति सुदिवः । शोभन श्वोऽस्य सुश्व ।

प्रोष्ठैर्यजात्पदः ॥४१२१८॥ प्रोष्ठ, एणो, अज इत्येतेभ्यः परः पदशब्दो व्रसे निपात्यते । प्रवृजोष्ठ. प्रोष्ठो गोरित्यर्थः । प्रोष्ठस्य पादावस्य प्रोष्ठपदः । अस्तान्तः पादशब्दस्य च पदभावो निपात्यते । एण्या र्व पादावस्य एणीपदः । अजपदः ।

चतुश्शारेरेस्त्रिकुक्षेः ॥४१२१९॥ चतुश्शारिशब्दाभ्या परौ यौ अस्त्रिकुक्षिशब्दौ तदन्ताद्वादस्यो भवति । चतनोऽन्तयोऽस्य चतुस्तः । शारेरेव कुक्षिरस्य शारिकुक्षः ।

नञ्द्रुस्तोः सक्थिहलेर्वा ॥४१२२०॥ नञ्, दुम्, सु इत्येतेभ्यः परौ यौ सक्थिहलिशब्दौ तदन्ताद्वादस्यो वा भवति । त्रिविप्रमान सक्थि अस्य अमकथः । अमक्थिः । दुस्तकथः । दुस्तक्थिः । सुसकथः । सुमक्थिः । मत्तल हलिः । त्रिविप्रमानो हलिरस्य अइलः । अइलिः । दुईलः । दुईलिः । सुइलः । सुहलिः । सक्थि शब्दस्थाने सक्थिशब्दं केचित्पठन्ति । मञ्जन सक्तिः ।

प्रजामेधादस् ॥४१२२१॥ वेति नाधिकृतम् । नञ्, दुम्, सु इत्येतेभ्यः परौ यौ प्रजामेधाशब्दौ तदन्ताद्वादस्यो वा भवति । न विप्रने प्रजा अस्य अप्रजाः । दुप्रजाः । सुप्रजाः । न विद्यते मेधा अस्य प्रमेधाः । दुमेधा । “अ-राच् नेधाया इति वक्तव्यम् ” [वा०] अल्पमेधाः । अल्पमेधसौ । अल्पमेधसः ।

धर्मात्केवलादन् ॥४१२२२॥ केवलो धर्मशब्द एव यत्रोत्तरपदम् अन्यथा (म) व्यपठ नास्ति तदन्ताद्वादस्यो वा भवति । साधूनामिध धर्माऽस्य साधुधर्मा । प्रियधर्मा । केवलादिति किम् ? परमः स्वो धर्मोऽस्य परमगुणधर्म । गतिगुणधर्मा ।



द्विदण्ड्यादिः ॥४१२१२६॥ द्विदण्ड्यादयः शब्दा इजन्ता निपात्यन्ते । यथा गणे पठितास्तथैव माभवे वनेऽन्यत्र च भवन्तीत्यर्थः । द्वौ दण्डौ अस्मिन् प्रहरणे द्विदण्डिः प्रहरति । द्विमुमलिः प्रहरति । क्रियाविरोधज्ञा-  
दन्यत्र न भवति । द्विदण्डा शालेति । पमेऽपि भवति । निकुच्य कर्णौ निकुच्यकर्णि धावति । आकुच्यमात्रौ  
आकुच्यपदि शेते । मयूख्यसर्कादित्वात्पसः । पादस्य च पद्मावो निपातनात् । प्रोह्य पादौ प्रोह्यपदि रन्तिन  
वाहयति । द्विदण्डिः । द्विमुमलिः । उभाञ्जलिः । उभयाञ्जलिः । उभाकर्णिः । उभयाकर्णिः । उभाहस्तिः । उभा  
हस्तिः । उभापाणिः । उभयापाणिः । उभावाहुः । उभयावाहुः । निपातनादिच. खम् । एरूपदि । प्रोहयति ।  
आकुच्यपदि । निकुच्यकर्णिः । महत्पुच्छि ।

सम्प्राजानुनो जः ॥४१२१३०॥ सम् प्र इत्येताभ्या परस्य जानुशब्दस्य ज इत्ययमादेशो भवति ऋते ।  
सङ्गते जानुनी अस्य संजः । प्रकृते जानुनी अस्य प्रजः । ज इत्युकारान्तः केपाचिददेशः । मतद्वयमपि प्रमाणम् ।

वोऽर्ध्वात् ॥४१२१३१॥ ऊर्ध्वशब्दात्परस्य जानुशब्दस्य वा ज इत्ययादेशो भवति ऋते । ऊर्  
जानुनी अस्य ऊर्ध्वजः, ऊर्ध्वजानुः, ऊर्ध्वजानुको वा ।

ऊधसोऽनङ् ॥४१२१३२॥ ऊधःशब्दान्तस्य अस्य अनङादेशो भवति मान्त् । कुरङ्मिना ऊधोऽन्या  
कुरङ्गोष्ठी । परत्वात्सकारस्य अनङादेशो कृते पश्चात् “ऊधसः” [३१११३] इति ङीविप्तिः । एव पठ्यता  
ऊधोऽन्या वधोष्ठी । इह मा भूत् । महोधाः पर्जन्यः । अनङयकार उत्तरत्र सार्थकः । इह नङादेशेऽपि न ङी ।

धनुषः ॥४१२१३३॥ धनुःशब्दान्तस्य ऋमस्य अनङादेशो भवति । गाएडीव धनुषस्य गाएडीव ण्ता ।  
अजगवधन्वा । शार्ङ्गधन्वा ।

वा खो ॥४१२१३४॥ धनुःशब्दान्तस्य ऋमस्य वा अनङादेशो भवति मान्त् । सुविषये । पूर्वाङ्ग निगे  
प्राने विभाषेयम् । दृढ धनुस्य दृढधन्वा । दृढधनुः । पुष्पधन्वा । पुष्पधनुः ।

जायाया निङ् ॥४१२१३५॥ जायाशब्दान्तस्य ऋमस्य निङादेशो भवति । युवतिर्जाया यन् युजाणि ।  
वधूजाणिः । आक्रान्त्य निङादेशः । “बलि व्यो. गम्” [४३१५५] इति यकारस्य गम् ।

गन्धस्येरुत्पूतिसुसुरभिभ्यः ॥४१२१३६॥ उत्, पूति, सु, सुगभि इत्येतेभ्यः परस्य गन्धशब्दात्  
इकार आदेशो भवति सान्तो वसे । उद्गतो गन्धोऽन्य उद्गन्धिः । पूतिर्गन्धोऽन्य पूतिगन्धिः । सुगन्धिः । सुगन्धिः  
गन्धिः । अत्र गन्धशब्दोऽन्येव गुणवचनः । तत्रया उत्पलगन्धः । चन्दनगन्ध इति । अग्निः द्रव्याय ।  
तत्रया गन्धान् पिनप्रीति । तद्यो सुगन्धो गुणवचनन्त्य ग्रहणम् । तेने न भवति । शोभनो गन्धाऽः ।  
सुगन्ध आपगिः ।

अल्पाख्यायाम् ॥४१२१३७॥ अल्पपर्यायो यो गन्धशब्दान्तस्य ऋमस्य वा इकारादेशो भवति  
मान्त् । अभिधानवशाद् व्यवहृणोऽत्र वत् । अन्नस्य गन्धोऽन्य अन्नगन्धिः । अन्नगन्धः । अन्नगन्धः ।  
घृतगन्धम् भोजनम् । अथवा अन्न गन्धोऽन्यमन्नमिति समानानिगुणो वत् ।

सुसंख्यादेः ॥४१२१४०॥ सुश्च सख्या च सुसख्ये ते आदी यस्य तस्य स्वादेः संख्यादेश्च पाद-  
शब्दस्य ख भवति व्रते । शोभनौ पादावस्य सुपाद् । द्वौ पादावस्य द्विपाद् । त्रिपाद् । चतुष्पाद् ।

कुम्भपद्यादिः ॥४१२१४१॥ कुम्भपदीप्रभृतयः शब्दा निपात्यन्ते । कचिद्वेऽपि खे कृते “पादो वा”  
[३।१।१५] इति डीविस्फुले प्राप्ते नित्यो डीविधिर्निपात्यते । कुम्भ इव पादावस्या कुम्भपदी । एकः पादोऽस्या  
एकपदी । शितिपदी । सूत्रपदी । सूत्रसितपदी । सितसूत्रपदी । गोधापदी । जालपदी । जलपदी । कलशपदी ।  
विपदी । सुपदी । निष्पदी । आर्द्रपदी । द्रोणपदी । कुटीपदी । कृष्णपदी । सूकरपदी । मुनिपदी । शकृत्पदी ।  
अष्टापदी ।

वयसि दन्तस्य दत् ॥४१२१४२॥ सुमख्यादेशेति वर्तते । स्वादेः सख्यादेश्च दन्तशब्दस्य दत्  
इत्ययमादेशो भवति व्रते वयसि गम्यमाने । शोभना दन्ता अस्य सुजाता वा सुदन् कुमारकः । द्वौ दन्तावस्य  
बालकस्य दिदन् । निदन् । चतुर्दन् । वयसीति किम् ? सुदन्तो दाक्षिणात्यः । चतुर्दन्त ऐरावतः ।

स्त्रियां खौ ॥४१२१४३॥ स्त्रीलिङ्गेऽन्यपदार्थे दन्तशब्दस्य दत् इत्ययमादेशो भवति सान्तः खुविषये ।  
नय इव दन्ता अस्या अयोदती । फालदती । लियामिति किम् ? नागस्येव दन्ता अस्य नागदन्तको नाम  
वम्भिन् । लाविति किम् ? समन्तो । “नासिकोदरोष्ठ” [३।१।४०] इत्यादिना डीविधिः ।

वा श्यावारोकात् ॥४१२१४४॥ स्त्रियामिति निवृत्तम् । लाविति वर्तते । श्याव अरोक इत्येताभ्या  
परस्य दन्तशब्दस्य वा दत् इत्ययमादेशो भवति सान्तो व्रते । श्यावा दन्ता अस्य श्यावदन् । श्यावदन्तः । अरोका  
निर्दिष्टाः निर्दोष्टो वा दन्ता अस्य अरोकदन् अरोकदन्तः ।

शुद्धाग्रान्तशुभ्रवृषवराहात् ॥४१२१४५॥ लाविति निवृत्तम् । वेति वर्तते । शुद्ध, अग्रान्त, शुभ्र,  
वृष, वराह इत्येतेभ्य परस्य दन्तशब्दस्य दत् इत्ययमादेशो भवति व्रते सान्तः । शुद्धा दन्ता अस्य शुद्धदन्,  
शुद्धदन्तः । कुङ्कुमाग्रमिव दन्ता अस्य कुङ्कुमाग्रदन् । कुङ्कुमाग्रदन्तः । शिखराग्रदन् । शिखराग्रदन्तः ।  
शुभ्रदन् । शुभ्रदन्तः । वृषदन् । वृषदन्तः । वराहदन् । वराहदन्तः । “अन्येभ्योऽपि भवतीति वक्तव्यम्”  
[वा०] आदिदन् । आदिदन्तः । मृषिमादन् । मृषिमादन्तः ।

ककुदस्यावस्थायां खम् ॥४१२१४६॥ कालादिकृतो बालादिभावोऽवस्था । ककुदशब्दान्तस्य ख  
भवति सा त अवस्थाया गम्यमानाग्राम् । असञ्जात ककुदमस्य असञ्जातककुत् । पूर्णककुद् । वृद्ध इत्यर्थः ।  
गणिकुद् । मण्यशरीर इत्यर्थः । अवस्थाग्रामिति किम् ? श्वेतककुदः । कथं ककुद्भानिति ? यावादिषु हलन्ता-  
लिपावतालिदम् ।

त्रिकुद् ॥४१२१४७॥ त्रिप्रावन्पदार्थे न निपात्यते । त्रीणि ककुदान्यस्य त्रिकुद् । अद्रे-  
रि, रत्ना । त्रिप्राव त्रिकुद् इति भवति ।

ककुदः पाकुदान्तात् ॥४१२१४८॥ वि उद् इत्येताभ्या परस्य ककुदशब्दस्य न भवति सान्त व्रते । विशिष्ट  
ककुदस्य पाकुदः । उद् ककुदमस्य उक्तादन् ।

चित्रोपान्तकः । उरस् । सर्पिण् । उपानह् । पुमान् । अनङ्वान् । पुमानित्येवमादयः पञ्चशब्दा विभक्त्यन्ता पठ्यन्ते । एकवचनान्तानामेव यथा स्यात् । द्विवचनबहुवचनान्ताना मा भूत् । तत्र “शेषादा” [४।२।१५४] इति विकल्प एव भवति । द्विपुस्कः । द्विपुमान् । बहुपुस्कः । बहुपुमान् । दरी । “कन्मो.” [४।२।१५३] इत्येव सिद्धः किमर्थं दरीशब्दः पठ्यते ? “सहेति तुल्ययोगे” [१।३।६१] इतीदं सूत्रं कवभावार्यमित्यन्मिन पत्ने कग्रहणार्थमिदं वचनम् । दधि । मधु । शालि । अर्थान्नत्रः । कथमय प्रयोगः । “अन्यथैवकथमिदं स्वन्तर्थात्” [१।४।१३] इति सौत्रोऽयम् ।

इनः स्त्रियाम् ॥४।२।१५२॥ इनन्ताद् वात् कवित्यय त्यो भवति न्यामन्यपदार्थे । वगो दर्शितोऽस्या बहुदण्डिका । एवं बहुस्वामिका । बहुवागमिका । त्रियामिति किम् ? बहुदण्डी ग्रामः । बहुदण्डितो ज ।

अनृमोः ॥४।२।१५३॥ अनृकारान्तान्मुसजान्ताच्च वात्कच् भवति सान्तः । बहुकर्तृकः । तस्मात् उपास्मार्थः । बहुकुमारिकः । बहुब्रह्मबन्धूकः ।

शेषाद् वा ॥४।२।१५४॥ यस्माद्वात्मान्तो न विहितः स शेषः । शेषाद्वात् वा कच् भवति सान्तः । यदाः न्वद्वा यस्य सः बहुखट्वाकः । बहुखट्वः । “ककूपूच्युः” [४।२।७०] इत्यादिना सूत्रेण निशेषो व्याख्यातः । “अनृचो माणवो ज्ञेयो बहुवृचश्चरणे स्मृतः” ततोऽन्यथाय विकल्पः । अनृकम् माम् । अनृकू गाम् । वगृह्य गृह्यम् । बहुवृह्यम् । शेषादिति किम् ? प्रियपुत्रः । प्रियपथः ।

न खौ ॥४।२।१५५॥ खुविषये वात् कच् न भवति । येन केनचित्प्राप्तस्य कपोऽय निषेधः । नामप्र(या) मः ? . . . । विश्वदेवः । विश्वयशाः । श्वेता अश्वतथो यस्य श्वेताश्वतिः ।

ईयसश्च ॥४।२।१५६॥ ईयमन्ताद्वात्कच् न भवति । येन केनचित्प्राप्तस्य प्रतिषेधः । वगः श्रेयसोऽस्मिन् मृद्वयान् । विद्यमानश्रेयान् । “शेषादा” [४।२।५४] इति प्राप्तस्य प्रतिषेधः । “मृद्वग्रहणे लिङ्गविशिष्ट-न्यापि ग्रहणम्” [वा०] यत्र श्रेयसोऽन्य बहुश्रेयसी पुरुषः । “कन्मोः” [४।२।५३] इति प्राप्तस्य प्रतिषेधः । अत्र “खंगोर्नीचः” [१।१।२] इति प्रादेशोऽपि न भवति । उक्तं हि तत्र—“ईयसो वसे पुवद्भाष्यचनम्” [वा०] । नात्र पुवद्बचनेन न्योन्यत्र निवृत्तिरिति किं तर्हि यथा पुमि ईयस्य प्रादेशो न भवति । प्रागणी यथा इति । एयमोयम परन्वापि स्त्रीयम् । अथवा प्रश्लेषनिर्देशात् ईकारः मिह । ई ईयम् ईयम् इति । नात्र त्रियामित्यनुकर्तव्यम् । तेन त्रियामीनामे भवति । न प्रादेश इति ।

स्तुते भ्रातुः ॥४।२।१५७॥ स्तुत प्रविशित्यर्थः । स्तुतेऽयं यो भ्रातृगणस्तदन्तात्वात् स्तुत गतिः । शोभनो भ्राता सन् भ्राता । दर्शनीयभ्राता । स्तुत इति किम् ? दुर्भ्रातृकः । मर्गभ्रातृकः ।

आदेरेकाचो द्वे ॥४१३१॥ आदेरेकाचो द्वे भवत इत्येनदधिकृतं वेदितव्यम् । यदित ऊर्ध्वं वक्ष्याम आदेरेकाचो द्वे भवत इत्येव तद्वेदितव्यम् । वक्ष्यति “लिङ्गुच्छविधौः” [४१३१७] धोगदेरवयवस्यैकाचो द्वे भवतः । पपाच । पुरोति । अपीपठत् । एकोऽन् अवनयवोऽस्य सोऽयमेकाच् । अवयवेन विग्रहः, समुदायो वृत्त्यर्थः । तद्गुणविग्रहाने वमे समुदायान्तर्भूतोऽयम् इति साक्षरस्य द्वित्वम् । परस्वादपि कृते पाच्छब्दस्य शब्दतोऽर्थतश्चान्तस्तमो द्वौ पाच्छब्दौ । द्विःप्रयोगश्च द्वित्वम् । स्थाने हि द्वित्वे जिघासतीत्यत्र शब्दान्तस्त्वादन्तेः कुत्वं न स्यात् । आदेरेति किम् ? जजागार । इत्यनाग्रस्य माभूत् । एकाच् इति किम् ? हत्वान्नस्य माभूत् । पपाचेत्यनाग्रस्य व्परदेशिवद्भावेन यथा प्रथमगर्भेण हता नारी । इयाय आरेत्यत्र एकाच्चवमपि उपचारात् । यथा स्थूलगिरा गहुरिति ।

अन्वः ॥४१३२॥ आदेरेत्यचो विशेषणम् । आदेः परस्यैकाचो द्वे भवत इत्यधिक्रियते । अटिटिपति । अट्टाट्टयते । आट्टिट् । सत्यपि सम्भवे आदेर्द्वित्वस्य बाधकमिदम् । दधिदानस्येव तक्रदानम् । शास्त्रेऽपि द्वीप इत्यत्र “द्वयनगैरीद्वपः” [४१३२०२] इत्ययमाटिविकारोऽन्त्यविकारस्य बाधकः । यथाऽयस्याचो द्वित्वं न भवति तथा व्पञ्जनस्यापीति न दोषः ।

न स्फादौ न्द्रोऽपि ॥४१३३॥ द्वादेरच इति वर्तते । आदेरचः परे स्फादौ वर्तमाना नकारदकाररेफा न निरुच्यन्ते प्रत्यसारे । न्द्रिदिपति । उन्दिदिपति । आड्डिडिपति । अर्चिचिपति । उब्जिजिपति । इत्यत्र दकारोऽप्येते च नुना योगे च “उद्देः” इति वत्वमुक्तम् । तस्यासिद्धत्वात्प्रतिषेधः । अभ्युद्ग इत्यत्र कुत्वस्य सिद्धत्वात् न भवति । “ईर्ण्यतेस्मृतीयस्य द्वे भवत इति वस्तव्यम्” [वा०] केचिद्गहुस्मृतीयस्यैकाच् इति । तेन मनो द्वित्वे ईर्ण्ययिपति । अत्र गहुस्मृतीयस्य हल इति । ईर्ण्ययिपति । “कण्डूवादीनां तृतीयस्यैकाचो द्वित्वं भवति” [वा०] अश्वयिपति । अपर आहु । “यथेष्टं सुवृषु वक्तव्यम्” [वा०] पुपुत्रीयिपति । पुतित्रीयिपति । पुत्रीयिपति ।

अः ॥४१३४॥ द्वे इति वर्तते । तस्य सजितम् । ते द्विस्ते समुदिते यस्य भवतः । ददति । ददतु । ददतु । दधति । दधतु । अदधुः । असजाया सत्याम् भृत्य “अत्थात्” [५११४] इत्यदादेशः । “थस्नोरात्” [४११५००] इत्यागम्य सप्तम् । लटो भेः “थक्त्वेः” [२१४१८८] इति भक्त्योश्च । समुदायस्य थसज्ञाता हि प्रयोजनम् ? चस्य मे मा भूत् । रंसन्ति । ऐसन् । प्रत्येक पर्यायेण च माभूत् । थप्रदेशाः । “थक्त्वेः” [२१४१८८] एषेयमादयः ।

जचित्पादयः ॥४१३५॥ जचित्पादयश्च पञ्च थसंज्ञका भवन्ति । जक्षति । जक्षतु । अजक्षुः । जायति । रजिषति । चयामति । शासति । जक्षितेतिपठो कृत्वा गुरुनिर्देशः किम् ? “रुदादेशः” [५१११३५] इत्यत्र पञ्चमस्यनुवर्तते इति ज्ञापनार्थः ।

पूर्वशः ॥४१३६॥ तिरक्ताचो पूर्वोऽवयवश्चमजो भवति । पपाच । पिपक्षति । पापच्यते । अपीपचत् । अतथाया सया प्रादश । “सन्धत्” [५२१५७६] इत्यम् । “हलोऽनादेः” [५२१५६९] खम् । “दीरक्षितः” [५२१५८०] इति “धेनी” [५२१५६०] प्रत्ययिचरा प्रकृतिचरा इत्यादि कार्यम् । चप्रदेशाः । “चस्यात्र सप्तम्” [५२१५६०] एषेयमादयः ।

प्रति स्थानिवद्भाव इति धो कच्यनकखे सन्वदिति धौ परत. सन्वद्भावो विधीयमानः प्रत्य स्थानिव [द्भावान्न प्रतिपिच्यते ।

सन्त्यडोः ॥४३३॥ पे प्यस्य पुत्रपत्योर्जि. ॥४३४॥ वन्धौ वे ॥४३५॥ वचिस्वपियजा-  
दीनां किति ॥४३६॥ ग्रहिज्यावयिव्यधिवशिव्यचिब्रश्चिप्रच्छिभ्रज्जां डिति च ॥४३७॥

नर्यकः । यदुवन्तस्य प्रकृतिवद्भावो यडोऽन्यस्मिन्नेति तिपा निवर्तते यथास्तिभवत्योर्मिर्डीनि यदु वन्तस्य  
मिड्येयप्रतिपेयो मा भूत् । शोभतीति । इह तु यदुपि त्यखे त्याश्रयमिति प्राग् द्वित्वाजिर्भवत्येव । वेतेकि ।  
वर्मर्ष्टि । वर्मृजीति ।

चस्येपां लिटि ॥४३८॥ एपा वय्यादीना लिटि परतश्चस्य जिर्भवति । उवाच । उवन्थि । इयाज ।  
इयजिथ । उवाप । उवपिथ । मुवाप । मुवपिथ । जिजौ । जिज्याथ । वेज. स्थानिवद्भावेन उवाप । उतीथ ।  
उवाम । उवमिथ । विव्याथ । विव्यधिथ । विव्याच । विव्यचिथ । ग्रन्थिभ्रस्जप्रच्छामनिशेप । ग्रन्थेन  
वग्रश्च वग्रश्चिथ “न जौ जिः [४३९] इति वकारस्य न भवति । पिठर्मिमिदम् । किमु परत परता  
जौ कृते द्वित्वम् । ऊचु. । ऊचु. । अनन्तरपरिभाषा ह्यनित्या । अभिकाराद्वय्यादीनामेन ग्रन्थे सिरे  
एपा ग्रहण चखनिवृत्त्यर्थम् ।

कचि स्वापे ॥४४०॥ कचि पन्तः स्वापेजिर्भवति । अमुपुपत् । अमुपुपताम् । अमुपुपन् । स्वापेणि  
चि लुटि कचि च कृते द्वित्वात्परत्यादनेन जिः । “ध्युड ” [४४१] एर् । “णो कच्युड ” [४४२]  
इति प्रादेशो द्वित्वम् । वेदी-यम् । कर्त्तानि किम् ? स्वापितः । स्वाप्यते । स्वापेति किम् ? स्वापेगि-गुणमान  
वचनात्वेवलादपि कच् न्यात् । स्वाप करोतीत्यत्रापि केचिद्विच्छन्ति । केवलमहित. ( सप्त ) मन्ता  
भावामावात् वेदान्त्य न भवति । अमुपुपत् ।

स्वपिन्यमिवेजां यटि ॥४४३॥ स्वपि स्वमि व्येन् व्येतेषा यटि जिर्भवति । गोमुप्यते । गंमिगो ।  
वेदीयते । स्वपिवेजो. मिति जिर्विहित । यटि सर्वप्रामप्राप्ते विवि । “वशेर्यटि प्रतिपेयो वक्तव्य ” [४४४]  
वायश्यते । “ग्रहिज्यावशि” [४४५] इति पाठे प्राप्तिः । यटोति किम् ? स्वतः ।

चाय. की. ॥४४६॥ चाय की इत्यप्रमादेशो भवति यटिः पन्त. । चेदीयते । चेदीयेते । चेदीयते ।  
दीत्वोच्चाग्न किम् ? “दीरदृग्” [४४७] इति यत्र दीत्व नाम्नि तत्र यदुपि श्रवणार्थम् । चेदी. ।  
चेदीथ. ।

स्फाय स्फीस्ते ॥४४८॥ स्फाय स्फी इत्यप्रमादेशो भवति तमजे पन्त । स्फीत । स्फीतम् ।  
न इति किम् ? न्यायते । स्फाति । स्फीतीभवतीति अयत्नस्य रूपम् ।

प्रते. ॥४१३२०॥ प्रतिपूर्वस्य श्यायतेर्जिर्भवति ते परतः । प्रतिशीनः । प्रतिशीनवान् । अद्रव-  
घनत्पश्चात्तथोऽयमारम्भः ।

घाऽभ्यवात् ॥४१३२१॥ अभि अव इत्येवपूर्वस्य श्यायतेर्वा जिर्भवति ते परतः । अभिशीनः ।  
अभिश्यानः । अवशीनः । अवश्यानः । अभ्यवशीनः । अभ्यवश्यानः । विपर्यसे प्रयोगो नास्ति ।  
द्रवघनन्यर्शविवक्षायां प्राप्तेऽन्यत्राप्राप्त इत्युभयत्र विरुत्पः । अन्यगियोगे केचिन्नेच्छन्ति । समभिश्यानम् ।  
समवश्यानम् । अन्ये तु पूर्वमात्रेऽन्यगियोगेऽपि विरुत्त्वमिच्छन्ति । अभिवशीनम् । अभिसश्यानम् ।  
अवसशीनम् । अवमश्यानम् ।

क्षीरहविषोः शृतम् ॥४१३२२॥ शृतमिति निपात्यते क्षीरहविषोः पाके । शृत क्षीरम् । शृत हविः  
स्वयमेव देवदत्तेन वा । श्रे पाके इति कृतात्वस्य भोवादिकस्य आ पाके इत्यादादिकस्य च ग्रहणम् । तथा आ पाके इति  
चोर्गदिकस्य णिचि पुकि च कृते आ पाक इति मित्त्वा पाठात्प्रादेशेऽपि । अनयोः आश्रयोः क्ते परतः शृभावो  
निपात्यते । क्षीरहविषोः इति किम् ? आश्रया यवागू । वेति व्यवस्थितविभाषानुवृत्तेर्हेतुमति णिचि नेभ्यते ।  
अपि हविर्देवदत्तेन जिनदत्तेन ।

प्यायः पी ॥४१३२३॥ प्यायः पी इत्ययमादेशो भवति ते परतः । पीनो स्तनौ । पीनावसो । “ओदितः”  
[५१३६३] इति नत्वम् । प्रकृतो जिरत्तस्य यत् प्रसज्येत । लिङाङोरवलाद्यौ च यत् नास्ति ।  
तद् ईच्चादेशः ।

प्राः ॥४१३२४॥ प्राः परस्य प्यायः पी इत्ययमादेशो भवति ते परतः । आपीनः । आपीनवान् ।  
प्राः एव प्यायः पी भवति नान्यस्माद् । प्रप्यानश्चन्द्रमा ।

अन्धधूमोः ॥४१३२५॥ अन्धधूमोरर्थयोः प्राः परस्य प्यायः पी भवति ते परतः । आपीनोऽन्धुः ।  
आपीनधूमः । अन्धधूमम् । ऊयः स्तनपार्श्वयोः । अयमपि नियमः । प्राङ्पूर्वात्यान्धधूमसोरेव । नान्य-  
स्मिन् । प्राप्यानश्चन्द्रमाः ।

लिङ्गयत् ॥४१३२६॥ त इति निवृत्तम् निमित्तान्तरोपादानात् । लिङि यटि च परतः प्यायः पी  
रूपमाणा भवति । आपिष्ये । आपिष्यते । आपिष्यिरे । परत्वात्पीभावे कृते पुनः प्रसङ्गाद् द्वित्वम् ।  
“अभिषारवाट्टोऽनुषिय” [४१३७२] इति प्रणादेशः । यटि-आपेपीयते । आपेपीयते । आपेपीयन्ते । यटुपि  
“ह्यरे व्याधयम्” [४१३६२] इति आपेपेति । आपेपीतः । आपेप्यति ।

न वा श्वे ॥४१३२७॥ जिजिषेति वर्तते । श्वमेर्न वा जिर्भवति लिङ्गटो परतः । शुशावः । शिशवाय ।  
पुपुः । शिशवाय । शोशावे । शोशोवे । लिङि मिति यजादिप्राप्तिर्नेति प्रतिषिध्यते । तन् समीकृते  
जिजिषेति । मिति मिति च लिङि यटि च प्रवर्तते । ननु शिशवायेत्यत्र जिना मुक्ते पक्षे “चस्थ-  
पा लिङि” [४१३१३] इति चत्त प्राप्तेति नाम दास्ये नेत्यनेन श्वमेर्भावो प्राप्तिः सा सर्वा प्रतिषिध्यते । ततो  
[ २८६ ] यः स्यात् मिते पण्डितोऽनर्थकः स्यात् ।

आदेरेकाच्च इत्यनुवर्तनान् । एवं तर्हीदमेव आपरुम् । यस्य निमित्तेऽन्येन व्यवहिते जिर्न भवति । तेन निम्नम् । जिहायकीयिषति । हायकमिच्छति । हायकीयतेः सन् ।

थस्य ॥४१३१०॥ हयतेस्थस्य जिर्भवति । जुहूपति । जोहूयते । जुहाव । सामर्थ्यात्थनिमित्ते पत्नो जिर्भित्यः । अत्रोपचारात्थार्थो हयतिस्थः तस्य जौ कृते द्वित्वम् ।

न जौ जिः ॥४१३१२॥ जौ परतः पूर्वस्य जिर्न भवति । विद्धः । विचिनः । सरीतः । तन्नेजितान्न आपरुम् । “अन्तेऽन्तः” [१११४६] इति नाप्रोये । “अनन्त्यविहारेऽन्त्यमदेशस्य” [५०] इत्यनित्या । तन् एकेनापि प्रोये यावन्तो यणस्तेषा सर्वेषां जौ प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम् । ननु तथाप्येकयोगेन युगमञ्जेः पूर्वम् पश्य न निम्नत्वात्तिष्ठस्य कथं प्रतिषेधः ? अत्रोच्यते—न जौ जिरिति स्वाश्रयकार्यस्य जेः परपूर्वत्वस्य प्रतिषेधः । ततो तान् देशे मति मिष्यति रूपम् । पुनर्जिग्रहणं प्रकरणात्तर्ग्विहितस्यापि जेः प्रतिषेधो नास्ति । यूना । यूने । “रादा मघोनोऽहति” [४१३१०१] इति जिः । अत्र स्वेऽको दीत्वस्य स्थानिवद्भावात्कारणे व्यापान न निवर्तनीया । “प्रपूर्वस्य स्य” [४१३१८] इत्यत्र पूर्वस्येति वर्तते । तेन पूर्वमात्रस्य प्रतिषेधः । उगोपुषा । उगोपुषे रता भिन्ननिमित्तत्वान्न प्रतिषेधः । जाविच्यत्रेकारोऽपि प्रश्लिष्यते ततः श्वयते कनि न जिः । अशिशिषा ।

लिटि वेजो यः ॥४१३१२॥ न जिरिति वर्तते । लिटि परतो वेजो वक्रस्य जिर्न भाति । तेन वक्रस्याभावात् वेजोऽकारस्य प्रतिषेधः । वेजग्रहणस्योत्तम प्रयोजनम् । ऊयुः । ऊयुः । स्थानिवद्भावात् यजादित्यात् निति जि प्राप्तः । लिट्ग्रहणमुत्तमार्थम् ।

वो वा किति ॥४१३१३॥ लिटि किति परतो वेजो वक्रस्य जिर्न भाति । ऊयुः । ऊयुः । तन् दिव्वाजिः प्राप्तः “प्ये च” [४१३१४] इति वक्ष्यमाणेन प्रतिषेधोऽनेन निरुल्लङ्घ्यते । पञ्चाजौ कृते लिटि । “काराद् गाव यलीय” [परि०] इत्युवादेशे कृते स्वेऽको दीत्वम् । पञ्जे—ययुः । वयुः । स्थानिवद्भावात् स्थानिवद्भावेन वयि वक्रस्य न प्रतिषेधः । स्तीति किम् ? नविय ।

प्ये च ॥४१३१४॥ प्ये लिटि च वेजो जिर्न भवति । प्रवाय । उपवाय । वयौ । वयुः । वयुः । वयि । निद्विग्रहण वाग्रस्य चानविहितम् । “चर्म्येवा लिटि” [४१३१३] इति यजादित्याच्च जौ प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम् । अस्मिन्नेव नित्ये प्राप्ते किन्तु ‘वो वा किति’ [४१३१३] इति विरुद्धः । वेजग्रहणानुत्प्रेषित् स्थानिवद्भावात् वयेरप्रतिषेधः । उवाय । ऊयुः । ऊयुः । स्थानिवद्भावे हि “लिटि वेजो यः” [४१३१०] उपार्थः स्यात् । अनेनैव वक्रस्यापि प्रतिषेधः स्यात् ।

न व्यो लिटि ॥४१३३॥ व्यतेर्लिट्यान्व न भवति । संविव्याय । सविव्ययिथ । णलि “चस्यैषां लिटि” [४१३१३] इति जि । “णिण्यच” [५१२१३] इत्यैप् । आयादेशः । थे “वोपदेशे” [५१११०८] इति सूत्रे “अव्याद्” इति प्रतिषेधात्कादिनियमादिट् ।

स्फुरिस्फुत्योर्घञि ॥४१३४०॥ स्फुरि स्फुलि इत्येतयोरेच आत्व भवति घञि परतः । विस्फारः । विस्फालः । “भावे” [२१३१७] “अकर्तरि” [२१३१८] “हल” [२१३१०२] इति “करणाधिकरणयोः” [२१३१६६] वा घञ् । “स्फुरिस्फुत्योर्निनिवे” [५१४५८] इति वा षत्वम् ।

क्रीड्जेणौ ॥४१३४१॥ क्रीड् ज् इत्येतेषामेच आत्व भवति णौ परतः । क्रापयति । अध्यापयति । जापयति । परनिमित्तस्याप्येच आत्वमनेन विधीयते ।

सिध्यतेरज्जने ॥४१३४२॥ णविति वर्तते । सिध्यतेरेच आत्व भवति शानादन्यत्र णौ परतः । प्रन्त साधयति । प्रये साधयति । अजान इति किम् ? आचारः कुल सेधयति । क्षमा धर्म सेधयति । जापनीत्यर्थः । इयधिकरणनिर्देशात्पिष गतावित्यस्य भौवादिकस्याग्रहणम् ।

मिन्मीज्दीडां प्ये च ॥४१३४३॥ मिज् मीज् दीड् इत्येतेषां प्ये च एचश्चात्व भवति । प्ये प्रमाय । एङिप्रये प्रमाता । प्रमातुम् । प्रमापयति । मिजो निमाय । निमाता । निमातुम् । निमापयति । दीडः-प्रवदाय । अवदाता । अवदातुम् । अवदापयति । चकारो जापकः । परनिमित्तस्यैच आत्व न भवति । तेन चेतादिष्वात्वाभावः । एच इत्यर्थवशाद्विशेषणलक्षणात्ता । एचो या प्रकुलितन्याः प्राक्चोत्पत्तेरात्व भवति । एव चाकाराण्यवज्युचः सिद्धाः । अवदायः “श्थाद्व्ययध” [२११११४] प्रादीनि ण् । अवदायो वर्तते । सुदानम् । “निमिमीलियां खाचोरात्वप्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] सुनिमय । निमीनाति निमान वा निमयः । “अकर्तरि वाऽचि प्रतिषेधः” । एव मिनोतेरपि । लियो “दिभाषा लियो” [४१३४४] इति व्यस्तित्वविभाषा जापनादेव साचोः प्रतिषेधः सिद्धः ।

विभाषा लियोः ॥४१३४५॥ लिनाते लीयतेश्च विभाषयाऽऽत्व भवति प्ये एङ्विप्रये च । विलाय विनीय । एङिप्रये विलाता । विलेता । विभाषेति वृत्तिव्यतिविभाषा । तेन धाष्टर्यसम्माननयोरात्वम् । इति वर्तिकापमलापये ।

अपगुरो वा ॥४१३४६॥ एच इति वर्तते । णमि परतः अपगुर एच आत्व भवति वा । अपगारम् । अपगोभम् । अपगारगार युधन्ते । अल्पगार युधन्ते । “प्रमाणास्त्यो” [२१४३६] इति णम् । “वा भादि” [११३८४] इति वाः । पुनर्वागदण पूर्वत्य व्यस्तित्वविभाषाजापनार्थम् ।

चिरपुरोणो ॥४१३४६॥ चिज् स्फुर इत्येतयोर्णौ परत एचो वाऽऽत्वं भवति । धर्मे चापयति । धर्मे चापयति । नयन स्फोरयति ।

प्रजने वाते ॥४१३४७॥ प्रजनेऽर्धे वातेर्णौ परतो वाऽऽत्व भवति । पुरो वातो गाः प्रवापयति । पुरो वातो गाः प्रवपयति । लवण गाः प्रवापयति । लवण गाः प्रवपयति । प्रजनो गर्भाधानम् । वातेः प्रजने ऽर्धे वातेर्णौ परतो वाऽऽत्व भवति ।



ईतः पुङ् नित्यम् ॥४।३।४६॥ विभेतेरीकारान्तस्य हेतुभयेऽर्थं नित्यं पुगागमो भवति णो परत । मुण्डो भीषयते । जटिलो भीषयते । ईत इति निर्देशादेषः प्रागेव पुङ् । हेतुभय इत्येव । कुञ्चिक्येन भाषयति । नात्र सान्नात्ययोजको भयकारणम् किन्तिर्हि ? कग्णात् । दविधिक्ष्व न भवति ।

स्मिङ् ॥४।३।५०॥ हेतुभय इति वर्तते णाविति च । स्मिङ् इत्येतस्य णो परत आत्य भवति ते भयेऽर्थं । मुण्डो विस्मापयते । जटिलो विस्मापयते “शेभीस्मेहेतुभये” [५।१।६४] इति द । हेतुभय इति किम् ? कुञ्चिक्येन विस्मापयति । स्मयत्यर्थ एव भयमित्युपचर्यते । नहि मुख्यवृत्त्या भये स्मयतेति ।

भ्रूल्यकिति सृजृदृशोऽम् ॥४।३।५१॥ भ्रूलादावकिति परत सृजृदृशोरमागमो भवति । स्यात्तदुम् । नृष्वम् । दृष्टा । दृष्टुम् । दृष्टव्यम् । विशेषविहितत्वात्सामान्यविहितस्य “ल्युङ्” [५।१।८३] एषो णातोऽपि अत्वाच्चीत् इत्यत्र पूर्वमपि कृते “वज्रवद” [५।१।७६] इत्यादिनैर् । भ्रूतीति किम् ? मर्जेनम् । दर्शनम् । अकृतीति प्रमत्तप्रतिषेधादिह न भवति रज्जुसृङ्भ्याम् । देवदृग्भ्याम् । धोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रातिपदिकानां ।

चाऽनुदात्तस्य दुङ् ॥४।३।५२॥ अनुदात्तस्य भोः ऋदुङ् । ना अमागमो भवति भ्रूलादावकिति परत । वता । तर्ता । द्रता । दर्ता । तृषिहपीर्याद्यौ विकल्पितेयो तवानुदात्तपाठोऽप्यमागमार्थं । अनुदान्तस्तेति किम् ? तर्ता । वृता । वृता । उदिन्नापन्नेऽनित्यौ । ऋदुङ् इति किम् ? भेत्ता । भेत्तुम् । भ्रूतीत्येव । तर्पणम् । दर्पणम् । अकृतीत्येव । इतः ।

ध्यादेः पस्सुः ॥४।३।५३॥ धोगदेः पस्सुस्य सकृदादेशो भवति । अज्जन्त्यपरा मास्य पोपदेशा । मृषिमृजिमृन्मृन्तृमृन्मृवर्जम् । यदिस्मिङ्त्विदिस्वजिस्वपयस्तु मूर्धन्यादिपाठा । उदात्तगम । प नृते । पिच मिचति । निचस् सुच । “ध्यादेशयो” [५।१।३६] इति प तार्थ आदेश । योगिनि किम् ? पोदन् । पटिन् । आदेशेति किम् ? लयति । धोगिति वर्तमान पुनर्मुग्रहण एते यो ऽनुदात्तस्य पस्सुस्य सार्थम् । सुग्धोर्मा नृदिति । पोदोषते । पण्डोषति । “द्यौवतिप्रकृतिश्चायर्तानां प्रतिषेधो उक्तः” [१।०] । षिव् चकारपरः टकारपरश्चेत्येते । तेन चविस्मारे नेष्टीव्यते । टेषीव्यते ।

णो नः ॥४।३।५४॥ धोगदेर्णकारस्य नकार आदेशो भवति । सर्ष नादयो णोपदेशा । नतिर्ना नृत् नदिनदिनामृनामृवर्जम् । णन् नमति । णी नयति । णत् नयति । “सोमैऽपि विभृते” [५।१।६८] इति णात्त मादेश । पुनर्मुग्रहणादुद्गोर्णकारस्य नञ् न भवति । णागीयति । व्याधीयते । चणति । योगिभाषा ५ । १ । टीकादावति नञ्चापनार्थः ।

प्रात् ॥४१३।५८॥ प्रान्तात्परस्य केः ख भवति । हे देवदत्त । हे जिनदत्त । वसपक्षेऽनजिति वर्तते तच्च प्रादिति कानिदेशात् तान्त सम्पद्यते । ततः केखयवत्यानचः ख भवति । एवं हे कुरडेत्यत्र हलो मकारस्य स भवति । हे कतरदित्यत्र स्वमोः परतः किकृते “नप” स्वमोः” [५।१।२०] इत्युप् ।

पिति कृति तुक् ॥४१३।५९॥ प्रादित्यस्य ताप्रकृतिः । पिति कृति तुगागमो भवति प्रान्तस्य । प्रकृत्य । प्रत्युत् । अग्निचित् । सोमसुत् । कृतोति वचनाद्धोरस्य तुक् । पितीति किम् ? चितम् । स्तुतम् । कृतीति किम् ? वृत्तुत् । प्रत्येति किम् ? प्रलूय । ग्रामणी । गामणीकुलमित्यत्र ब्रह्माश्रयस्य प्रादेशस्यासिद्धत्वान्नान्तरङ्गस्तुक् ।

सन्धौ ॥४१३।६०॥ सन्धावित्यधिकारो वेदितव्यः । यदित ऊर्ध्वमनुकमिष्यामः सन्धिविषये तद्वेदितव्यम् । लोक्त एव मश्लेयः सन्निकर्षो वा सन्धिरिति ज्ञातव्यम् । यथा “एष्यतोऽपदे” [४।३।८४] अत्रेकारादिः । वक्षति ‘वर्चको ण्’ [४।३।६५] । दध्यशान । सन्धाविति किम् ? दधि अशान ।

छे ॥४१३।६१॥ छकारे परतः सन्धौ प्रत्य तुम्भवति । गच्छति । इच्छति । पृच्छति । प्रत्यात्र तुङ् न तदन्तस्य । यदि प्रान्तस्य त्यागिच्छितुरित्यत्र “हलोऽनादे” [५।२।१६१] ख प्रसज्येत । नन्ववयवावयवोऽपि समुदायावयव इति रा प्रान्नोति । एवं तर्हि पूर्वान्तकरणाधिकारात्ख न भवति ।

आङ्माटोः ॥४१३।६२॥ आङ् माङ् इत्येतयोश्छे परतस्तुग् भवति ।

“ईपदर्थे क्रियायोगे मर्यादाऽभिविधौ च यः । एतमातं डितं विद्याद्वाक्यस्मरणयोरडित् ॥”

ईपच्छात्रा आच्छात्रा । क्रियायोगे—आच्छिनत्ति । मर्यादाऽभिविध्योः । आच्छायायाः । माङः । माच्छि-  
यत् । माच्छाणीत् । “वा पदस्य” [४।३।६४] इति विस्मयः । प्रातः । अनूत् (नुबन्ध) करण किम् ?  
आच्छात्रागानय । आच्छात्रमानय । स्मरणे डित्व नास्ति । नपमा छुत्रमानयति । “गामादाग्रहणेष्वविशेष”  
[५०] इति प्राति । नपवा नेड प्रत्युदाहरणम् । आडा सहचरितस्य माडो निमज्जकस्य ग्रहणाद्धोरप्रातिः ।

यः ॥४१३।६३॥ दीमगत्व छे तुम्भवति । होच्छति । म्लेच्छति । अपचाच्छाद्यते ।

वा पदस्य ॥४१३।६४॥ गन्तव्य पदस्य छे वा तुम्भवति । कुवलीच्छाया । कुवलीछाया । शमीच्छाया ।  
शमीछाया । शमीगन्तव्य तुम्भवति स चेतदस्येति । तेनासामर्थ्येऽपि तुन्विस्मयः सिद्धः । तिष्ठतु कुमारी छत्र हर  
देवदत्त ।

अचीको यण् ॥४१३।६५॥ अचि पण् इको यण्देशो भवति । ददयगान । मद्भवपनय । “अनचि”  
[५।१।२७] इति हितम् । भर्त्तृ । लाहृति । “अनिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे” [५०] इति यदीना न स्तान्तखम् ।  
अनीति भिर्त् दधि वनेति । मत्तु कृतम् । इक इति किम् ? भवानन्त । हलो मा भूत् । त्वेऽचि दीत्व वक्ष्यति ।  
परितोऽन्तर्गतम् ।

पक्षोऽपधायाव ॥४१३।६६॥ एच त्याने चर्त्त्रव् आप् आप् इत्येने आदेशा भवन्ति अचि  
पत्त । चर्त्तम् । लन्त्तम् । चापक् । लानक् । कने । पदविद् ।

शङ्कौ ॥४१३६९॥ अयमपि नियमः । शक्तावेव क्षिज्योरयादेशो नान्यस्मिन्नर्थे । क्षेयम् ।

धोस्तस्मिन्नेव ॥४१३७०॥ धोस्तस्मिन्नेव यित्ये य एच् तस्यायादयो भवन्ति । लव्यम् । अवश्यलाव्यम् । धोरिति किम् ? मृदो नियमो मा भूत् । माण्डव्यः । गव्यम् । तन्निमित्तस्यातन्निमित्तस्य च “यित्ये” [४१३६७] इत्यादेशः । तन्निमित्तस्येति किम् ? उपोयते । औयत । लौयमानिश्चैत्रः । कर्मणि लट् । यक् जित्वम् । गिधोर्ये कार्यं तदन्तरङ्गमिति “आदेप्” [४१३७५] । लटि लावस्थायामडागमोऽन्तरङ्ग इति “अटश्च” [४१३७८] इत्यैप् । अन्तरङ्गपरिभाषा ह्यनित्या तेन ग्रहिरङ्गत्वेऽप्येप् । लौयमानिरिति प्रत्युदाहरणम् । एवकार इष्टतोऽवधारणार्थः । धोरेव तस्मिन्निति नियमो मा भूत् । एवं हि बाभ्रव्य इत्यत्र न स्यात् ।

क्रय्यः स्वार्थे ॥४१३७१॥ क्रय्य इति निपात्यते स्वार्थे गम्ये । स्वार्थो द्रव्यविनिमयः । क्रय्यः क्रय्यल । क्रय्या गौः । क्रय्यार्थे प्रसारितः । अन्यवस्तुसंग्रहार्थमिति यावत् । क्षिज्योरिति नियमादप्राप्तोऽयादेशो निपात्यते । स्वार्थे इति किम् ? क्रय्य धान्यं न चास्ति क्रय्य स्वीकर्तव्यं धान्यं किं तर्हि परकीयम् । क्रय्यार्थे प्रसारितं नास्तीत्यर्थः ।

द्वयोरेकः ॥४१३७२॥ “ख्यत्यादत्तः” [४१३६६] इति वक्ष्यति । प्रागेतस्माद् द्वयोः पूर्वपरयोरेको भवतीत्येयोऽधिकारो वेदितव्यः । वक्ष्यति आदेप् । देवेन्द्रः । द्वयोर्ग्रहणं किम् ? पूर्वपरयोर्युगपदादेशप्रतिपत्त्यर्थम् । इतरथा हि यत्र कानिर्देशः सावकाशस्तत्र पूर्वस्य निर्देशः । यत्रेभिर्निर्देशः समकाशस्तत्र परस्य । ततश्च पर्यायेण कार्यं स्याद् यथा “सचस्योभौ” [५१३१०५] इत्यत्र एकारद्वयम् । एवमिहापि कार्यद्वय माभूदित्येकग्रहणं क्रियते ।

तद्वत् ॥४१३७३॥ द्वयोरेक इति वर्तते । तयोरिव तद्वत् । तयोर्विद्यमानयोर्यत्कार्यं तत्कृतेऽप्येकादेशो यथा स्यात् । यत्पूर्वमवयवमाश्रित्य कार्यं क्रियते, यच्च पर तत् कृतेऽप्येकादेशो भवति । असति सूत्रेऽवयवग्रहणेन न गृह्येत । क्षीरोदकवत् । पूर्ववयवे प्रयोजनम् । वामोरुरिति मृद ऊरित्यमृदो मृदमृदोरेकादेशो मृद्ववति । यथा शक्येत कर्तुं मृद इति स्वादिविधिः । अन्यथा वृक्षः प्लक्ष इत्यादवेव स्यात् । परावयवे प्रयोजनम् । देवावित्यत्रौकारः सुप् । असुवकारः । सुवसुपोरेकादेशः सुव्वद् भवति । यथा शक्येन कर्तुम् “सुस्मिडन्त पदम्” [१२११०३] इति । अन्यथा सायुः पूज्य इत्यादवेव स्यात् । अधोत्येयत्र द्वयोरेकादेशोऽपि प्राश्रयन्तुक् सिद्धः । “उभयत आश्रयणे न तद्वद्भावः” [वा०] । तेन उपोह्यते । प्रोह्यते इत्यत्र “गेरूहः प्रः” [५२११३२] इति उभयाश्रयः प्रादेशो न भवति । इह कार्यातिदेशोऽभिप्रेतो न रूपातिदेशः । तेन वर्णाश्रये विधौ तद्वद्भावो न भवति । मालाभिरित्यत्र पूर्वान्तत्वमाश्रित्य “भिसोऽत ऐस्” [५११८८] इति न भवति । पुत्रयेयत्र “यस्व” [४१३३०] इति ह्यतेजौ कृते “जेः” [४१३६५] परपूर्वत्वे च तस्य परवद्भावात् “जातो णल आ” [५२१३७] इति न भवति । अतएव अङ्कः परवद्भावाभावात् । “एङोऽति पदान्तात्” [४१३६६] इति न भवति । अस्या अङ्क इति सिद्धम् । वक्त्रणात् त्वाश्रयमपि । तेन डीयोस्तुक् प्रति परादित्वाभावे “वा पदस्य” [४१३६३] इति विकल्पः सिद्धः । वृक्षेच्छत्रम् । वृक्षेच्छत्रम् । अपचेच्छत्रम् । अपचेच्छत्रम् । सवेनः क्षौ जि । जे, पूर्वत्वम् । तत्त परादित्वाभावे प्राश्रयन्तुक् सिद्धः । समुत् ।

पत्वेऽसद्वत् ॥४१३७४॥ पत्वे कर्तव्ये एकादेशोऽमद्वद्वति । त्यादेशलक्षणो प्राप्ते प्रतिपेक्षार्थमिदम् । कोऽय । योऽस्य । कोऽस्मै । कोऽसिचत् । योऽसिचत् । “हानिप्विचः” [२११४६] इत्यप् । “एङोऽति पदान्तात्” [४१३६६] इत्येकादेशस्यासिद्धत्वादिण उत्तम्य त्यादेशमस्य पत्वं प्रमत्तं न भवति । “नायन्ते” [५१३७६] इति पत्वंप्रतिपेक्षो न निव्यति तद्वद्भावेन परादित्वादेकादेशस्य । ननु चैकपत्रां पत्वेऽन्तर्गते एकादेशस्यासिद्धत्वम् । अतएव परिभाषा । ततोऽन्तर्गत्तत्त्वं परवद्भावात् कृत् कलादये नास्ति । पदद्वयमिति सिद्धे पत्वे इति गुरनिर्देशं किमर्थं ? पादान्तपत्रापोरेकादेशः पत्वेऽमद्वद्वति । नायन्ते

ज्ञापनार्थः । तेन उपसेदुषः पश्य । अनुषुषः पश्य । “वसोजिः” [४।४।१२०] “जेः [४।३।६५] पूर्वत्वम् । उकाराकारयोरेकादेशः पत्येऽसद्वन्न भवति ।

आदेप् ॥४।३।७५॥ अवरणान्तादेचि परत एव भवति । देवेन्द्रः । गन्धोदकम् । महर्षिः । द्वयोः स्थाने एको भवति । “एडि पररूपम्” [४।३।८९] इत्यत्र परग्रहणं पूर्वापेक्ष तेन परस्यान्तरतमो एव ऋवर्णं परतः प्रसज्यमान एव परस्यान्तरतमोऽकारः “रन्तोऽणुः” [१।१।४८] इति रन्तो भवति ।

एज्यैप् ॥४।३।७६॥ अवरणान्तादेचि परतो द्वयोरेक एव भवति ।

“प्रसिद्धैकसुरेशस्य सर्वज्ञस्य महौजसः । व्यतीतौपम्यधर्मार्थं वचः पायान्महौपधम् ॥”

“अक्षाद्दृष्ट्यामैववक्तव्यः” [वा०] अक्षौहिणी । “ग्रादूहोढोढ्येपैव्येषु” [वा०] प्रोटः । प्रौटिः । प्रैष । प्रैष्यः । “स्वादीरेरिणो” [वा०] स्वैर । स्वैरी । लिङ्गविशिष्टस्य स्वैरिणी । “ऋते भासे” [वा०] दुःसाते । ऋत इति किम् ? सुखेतः । भास इति किम् ? परमर्तः । स इति किम् ? सुखेनर्तः । “ऋण-दशप्रवत्सतरकम्बलवसनानामृणे” [वा०] ऋणार्णम् । दशार्णम् । प्रार्णम् । वत्सतरार्णम् । कम्बलार्णम् । वसनार्णम् ।

इत्येधत्पूठ सु ॥४।३।७७॥ एति एधति ऊठ् इत्येतेषु परतोऽवरणान्तादैव भवति । एचीति वर्तमानमेते-  
‘विशेषणम् । एधतेर्व्यभिचाराभावात् । ऊठ्स्वरूपेण गृह्यते । उपैमि । उपैषि । उपैति । उपैधते । प्रैधते । एडि-  
पररूपापवादः । पुरस्तादपवादोऽनन्तरस्य एडि पररूपस्य बाधकः नोत्तरस्य “ओमाडोः” [४।३।८२] इति आ ड पर-  
रूपस्य । तेन आ इतः । एतः । उपेतः । ऊठ्-धौतः । धौतवान् । एचीत्येव । उपेतः । प्रेतः ।

अटश्च ॥४।३।७८॥ एचीति निवृत्तमचीति वर्तते । अटश्च अचि द्वयोरेक एव भवति । ऐक्षिष्ट । ऐहिष्ट । ओव्जीत् । ओम्भीत् । ऐक्षत् । ऐहत् । आध्नोत् । ऐक्षिष्यत् । औम्भिष्यत् । चशब्दोऽवधारणार्थः । अट एवैचि यथा स्यात् । यदन्यप्राप्नोति तन्मा भूत् । ओङ्कारमैच्छत् । औङ्कारीयत् । “एप्प्यतोऽपदे” [४।३।४४] “ओमाडोः” [४।३।८२] इति पररूपप्राप्तम् । आ उठ ओढ । ओढमैच्छत् औढीयत् । “ओमाडोः” [४।३।८२] इति पररूप प्राप्तम् । उष्मामैच्छत् औत्सीयत् । प्रतिपदोक्तपरिभाषानाश्रयणे “उसि” [४।३।८३] इति पररूपं प्राप्तम् ।

धावृत्ति नेः ॥४।३।७९॥ आदिति वर्तते । अवरणान्ताद्देः ऋकारादौ धौ द्वयोरेक एव भवति । उपार्छति । प्रार्छति । उपार्छति । प्रार्छति । प्रसज्यमान एवैप् “रन्तोऽणुः” [१।१।४८] इति रन्तो भवति । गेरिति निम् ? रर्छति । प्रगता ऋच्छका अस्मिन् देशे रर्छको देशः । ऋतीति किम् ? प्रेक्षते । तपरकरण किम् ? उप ऋवारीयति उपकरीयति । “वा सुपि” [४।३।८०] इति विकल्पः प्रसज्येत । गेरिति निर्देशाद् धुग्रहणे लब्धे धाविति किम् ? धावेव यथा स्यात् “क्लृक” [४।३।१०५] इति प्रकृतिभावो धोर्मा भूत् ।

वा सुपि ॥४।३।८०॥ ऋकारादौ सुवधौ गेरिवर्णान्तस्य वा ऐव भवति । उपार्पणीयति । उपर्पणीयति । प्रार्पणीयति । प्रर्पणीयति । “गेरप्पन” [४।३।८७] इत्यत्र यथा गिषजोपलक्षिताना ग्रहणं तथेह मा भूदिति धुग्रहण-  
मुपवर्तते । प्रर्पम वनम् इत्यत्र न भवति ।

एडि पररूपम् ॥४।३।८१॥ आदिति वर्तते । गेर्धाविति च । अवरणान्ताद्देः एडादौ धौ पररूपमेकादेशो-  
भवति । उपेलयति । प्रेलयति । उपोयति । ऐपि प्राप्ते “वा सुपि” [४।३।८०] इत्यपि वर्तते । उपेलकीयते । उपे-  
गीयते । उपोर्णीयति । उपोर्णीयति । एडि परमिति सिद्धे रूपग्रहणादिष्ट लभ्यते । “एवे चानियोगे पररूपम्”  
[वा०] ररेव । मरेन । अनियोग इति निम् ? इहैव भव माऽत्र गा । “शक्नुव्वादिषु पररूपम्” [वा०] शक्-  
नुव्वादिषु । कर्षन्नु कर्षन्नु । कुलया । सीमन्तः । केशेषु । सीमान्तोऽन्यत्र । “ओत्वोष्ठयोः से वा  
पररूपम्” [वा०] स्तूलोत् । स्तूलोत् । विम्बोष्ठो । विम्बोष्ठो । “नामिकोदरौष्ठ” [३।१।४८] इत्यादिना डी । स  
इति किम् ? वक्ष्ये मा भूत् । पश्योष्ठ देवदत्त ।

ओमाङोः ॥४१३।८२॥ गेरिति निवृत्तम् । आदिति वर्तते । ओम् आङ् इत्येनयोः परतोऽवर्णान्तात्पर-  
रूप भवति । का ओमित्यवोचत् कोमित्यवोचत् । योमित्यवोचत् स्त्री । आङि आ ऊढा  
ओढा । अओढा । कओढा । सोढा स्त्री । आ उप्ता ओप्ता । कओप्ता । आटनाडोरेकादेशः तद्वदित्याङ्ग्रहणेन  
गृह्यते । गित्वोर्यत्कार्यं तदन्तरङ्गमिति पूर्वमाङः परेण योगः । मर्यादाभिविध्योश्च परेण योगे सति पूर्वेषु सह  
एच्यैप् प्रसज्येत । आ ऋणात् अर्णात् । अग्रर्णात् । आङीति पररूपम् । ननु मध्येऽपवादेऽयमेच्यैपो बाधः  
कथमुत्तरस्य स्वेऽको दीत्वस्य स्वेऽको दीत्वेऽपीदमनुवर्तते इति तस्यापि बाधा ।

उसि ॥४१३।८३॥ उसि परतोऽवर्णान्तात्पररूप भवति । भिन्दुः । छिन्दुः । अपुः । अवुः । “आत”  
[२।१।६०] “लङो वा” [२।१।६१] इति जुम् । लिङादेशे उसि प्रयोजनं नास्तीति जुमो ग्रहणम् । मोश ।  
कोपिता इत्यत्र अनर्थकत्वाद्वाङ्गिकत्वाच्चाग्रहणम् । आदित्येव । अविभयुः ।

एप्यतोऽपदे ॥४१३।८४॥ अकारस्य पररूप भवति एप्यपदे परतः । पचन्ति । पचे । एपीति किम् ?  
अपचे । आदिति वर्तमाने अत इति तपरकरणं किम् ? यान्ति । वान्ति । अपद इति किम् ? दण्डाग्रम् ।  
पदादिरयमेप् ।

डाजर्हस्येतावतः ॥४१३।८५॥ डाजर्हस्य योऽच्छुद्धस्तस्येतौ पररूप भवति । पटत् इति पटिति । छुपत्  
इति छुपिति “नानर्थक्येऽन्तेऽलोऽन्त्यविधिः” [प०] । इति सर्वस्यातः परत्वम् । डाजर्हस्येति किम् ? अटित्याद्  
अदिति । अव्यक्तानुकरणैकाचौ डाजमुत्पादयतः । इताविति किम् ? पटदच । अत इति किम् ? छुपिदिति

न भ्रैस्तो वा ॥४१३।८६॥ भ्रिमजकस्य योऽच्छुद्धस्तस्येतौ पररूप न भवति तकारस्य तु वा भवति । पटत्  
इति पटत्पटिति । पटत्-पटदिति । छुपच्छुपेति । छुपच्छुपदिति । “वीप्सा” [५।३।३] आदि सत्रेण द्वित्वम् ।  
समुदायानुकरणे भवत्येवातः पररूपम् । पटत्पटिति ।

औ डाचि नित्यम् ॥४१३।८७॥ डाजन्ते औ परतो डाजर्हस्यातस्तकारस्य नित्य पररूप भवति । पट-  
पटाकरोति । इदमेव जापकम् । टिखात्पूर्वं “डाचि” इति द्वित्वम् ।

स्वेऽको दीः ॥४१३।८८॥ अकः स्वेऽचि परतो दीर्भवति । द्वयोरेक इति वर्तते । लोकाग्रम् । विद्यान्तः ।  
कवीन्द्रः । मधूढकम् । पितृपमः । स्वे इति किम् ? दध्यत्र । अक इति किम् ? एप्यतोऽपदे इत्यनुवृत्तौ अग्रनये ।  
नावाचित्यत्रैकारौकारयोर्दीत्वे द्वयोरेकस्य प्रसज्येत । यथा मागता । अचीत्येव । दीव शीतम् । दीत्ववचनं त्रिमासा-  
द्यादेशप्रतिषेधार्थम् ।

सुटि पूर्वस्वम् ॥४१३।८९॥ अको दीरचीति वर्तते । अचि सुटि परतः पूर्वस्व दीर्घयोरेको भवति । अग्नी ।  
वायू । “एप्यतोऽपदे” [४।३।८४] इत्यनेन अकारे परतः पररूपविधिः । स्वेऽको दीत्वमनन्तरं बाधते नोत्तरं सुटि  
पूर्वस्वदीत्वम् । पूर्वग्रहणम् अग्नीत्यादिषु परस्वदीत्वनिवृत्त्यर्थम् । अक इत्येव । रायो । रायः । द्वयोरेकस्य न्यायः ।  
अचीत्येव । देवः ।

शसि ॥४१३।९०॥ शसि परतः पूर्वस्व दीर्भवति । मालाः । बुद्धीः । कुमागीः । धेन् पश्य ।

नश्च पुंसि ॥४१३।९१॥ शसि परतः पूर्वस्व दीर्भवति नकारश्चान्तादेशः । पुंसि गम्यमाने । देवान् ।  
कवीन् । पटन् । कर्तृन् । पृमीनि लिङ्गनिर्देशः । लिङ्गं च प्रत्ययधर्मः । वन्तुधर्मे मन्मति वा यत्र शब्द  
पुलिङ्गाकारं प्रत्यय जनयति तस्मिन् प्रत्ययधर्मे पुंसि गम्ये नमगे भवति । वन्तुनि नपुमपदेशे पठान  
पश्य । स्त्रीरूपेऽपि वलुनि दागन् पश्य । स्थूगन् पश्य । अरगन् पश्य । स्थूगन् अरगन् आगन्  
गर्गादित्वाग्रन्, तन्व वृद्धे “यजजो” [१।१।३५] इत्युप् । “हृदयुप्” [१।१।३] इति स्त्रीरूपे दागे  
निवृत्तौ शान् ( शमो न ) । इत् च पुलिङ्गाकारप्रत्ययभावान् मन्मति प्राणिधर्मं पुंस्त्वे न भवति । चन्  
पश्य । वविका पश्य । चञ्चा इव चञ्चा चञ्चामृशान् पुंस्त्वे पश्येत् । स्त्रीरूपेऽपि भवति अशुमान  
पश्य । अशुमपि वन्तुधर्मे नन्व वृद्धान् पश्य ।

नेच्यात् ॥४१३।६२॥ इचि सुटि परतोऽवर्णान्तापूर्वस्व दीर्न भवति । इन्द्रो । चन्द्रो । विणे । अरे । इत्यन परत्वादुत्तरसूत्रेण प्रतिषेधो न्याय्यः । इचीति किम् ? देवाः । आदिति किम् ? अग्नी ।

द्यो जसि च ॥४१३।६३॥ आदिति नाधिकृतम् । यन्ताज्जसिचि च परतः पूर्वस्व दीर्न भवति । कुमायो । कुमार्यः । वामोवौ । वामोर्वः । विधे । शुद्धे । माला इत्यत्र “स्वेको दीः” [४।३।८८] इति दीत्व द्रष्टव्यम् । य इति स्वप्नार्थं वचनम् । इचि प्रसज्याऽपि अर्णस्य यत्रनेन प्रतिषेधः स्यान्नेच्यादिति सूत्रमनर्थकं स्यात् । कवयः । पठव इत्यन जसि परत्वादेया भवितव्यम् । देवाः । अग्नी । वायू इत्यत्र “सुटि पूर्वस्वम्” [४।३।८६] इति सुङ्गहणसामर्थ्यादीत्वम् ।

पूर्वोऽमि ॥४१३।६४॥ अकोऽमि परतो द्वयोरेकः पूर्वो भवति । देवम् । कविम् । मालाम् । भानुम् । पूर्वगहण पूर्वस्य दीत्वप्रतिषेधार्थम् । पूर्वरूप यथा स्यात् । यदि पूर्वः प्रो द्वयोरेकादेशः प्रो भवति अथ दीसञो दीर्भवति । अचीत्यनुवर्तनान्मकारस्य पूर्वस्व न भवति । अक इत्येव । रायम् । नावम् । सुटीत्येव । अचिनवम् । अनुनवम् ।

जेः ॥४१३।६५॥ जेरचि परतः परः पूर्वो भवति । इष्टः । उतः । गृहीतः । जिविधानसामर्थ्याद्यणादेशो न स्यात् । पूर्वत्व पुनर्लभ्येत । इदं शकहे शकहूर्धमिति वोरधः (ओरचः) प्रत्यासन्नस्य पूर्वत्वे कृते पुनः पूर्वत्व न भवति ।

एडोऽति पदान्तात् ॥४१३।६६॥ एडः पदान्तादिति परतो द्वयोरेकः पूर्वो भवति । मुनेऽनघ । साधोऽनघ । एड इति किम् ? दध्यत्र । अतीति किम् ? पठविह । तपरकरण किम् ? पठवायादि । पदान्तादिति किम् ? नयनम् । गुनयः ।

डसिडसोः ॥४१३।६७॥ एडोऽति वर्जते । एडो डसिडसोरिति परतो द्वयोरेकः पूर्वो भवति । अप-  
दान्तोऽमरम्भ । करेरागच्छति । कवेः स्वम् । पटोरागच्छति । पटोः स्वम् । डसिडसोरेडश्च यथासख्य न भवति । “ओरावश्यके” [२।१।१०२] “ओः पुयण्ये” [५।२।१७८] इति डसिना डसा च निर्देशात् ।

ऋतु उत् ॥४१३।६८॥ डसिडसोरिति परत ऋतु उद्भवति द्वयोरेक इत्येव । कर्तुरागच्छति । कर्तुः स्वम् । द्यो दशन न्यादेशोऽन्यतरेण व्यपदेश लभते इति “रन्तोऽणुः” [१।१।४८] इति रन्तत्वम् । “रात्सः” [५।३।४२] इति सप्तम् । डसिडसोः सकारस्य वा रित्वविसर्जनीयौ रन्तत्वं दुरुपपाद चेत् । ऋतु इति तपरकरण निमित्तम् ? “ओऽवात्” [१।२।४७] इत्यादावनुकरणस्य द्विमात्रस्य माभूत् । उदिति तपरकरण स्वात्पणनिवृत्त्यर्थम् ।

ख्यत्यादतः ॥४१३।६९॥ ख्यत्यात्परयोर्डसिडसोरत उद्भवति । ख्यत्यादिति खीखिशब्दयोस्तीति-  
शब्दयोश्च यणादेशो कृते प्रागनुनाऽऽकारेणानुकरणनिर्देशः । सख्युरागच्छति । सख्युः स्वम् । पत्युरागच्छति । पत्युः स्वम् । अतीत्यनुवर्तमानेऽन इति स्थाननिर्देशो द्वयोरेकस्य निवृत्त्यर्थः । ख्यत्यादिति विकृतनिर्देशः किम् ? यणादेशात्ते मा भूत् । अतिरुखेरागच्छति । अतिमखे. स्वम् । अतिपतेरागच्छति । अतिपतेः स्वम् । “रत्रन्ति” [१।२।६७] इत्यन पूर्वदान आभिनः सतिशब्दादन्यः समुदायः सुमजो भवति । इदं च विकृत-  
निर्देशात् प्रयोजनम् । नर खेन वर्तते इति सखः सप्तमिच्छतीति मखीयति मखीयते. क्तिप् । अतः खम् । “वलि  
त्यो खम् [१।३।५५] इति यपरस्य खम् । यत्रविधि प्रत्ययस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधः । ननु “वर्णाश्रये नास्ति  
यावदय” [५०] इति त्रजे त्वा भवत्यानेनापि कियो नटन्य वलादिन्य नास्ति कावुपमख्यानमित्यदोषः । डसिडसो.  
पतो यस्याने गन्तुमिति भवति । तथा लूतु । पृतु । लूनमिच्छति पुनमिच्छति । लूनीयतेः क्तिवन्तस्य  
उपनिर्देशात् । नन्त्यनिच्छत्वादुक्तं भवति ।

रेरुद्धसोः ॥४१३१००॥ अत इत्यस्यार्थात्कान्तता । अतः परस्य रेख भवति अकारे ह्रि च परतः । इन्द्रोऽत्र । यशोऽत्र । इन्द्रो भवति । यशो भाति । रेगश्रयातिमद्वत्त्वम् । “ममजुपो रिः” [५१३१०६] इति रेनुबन्धकरणादिह सक्तस्य (सकारस्य) रेखत्वं न भवति । अरिनाशः । मानुबन्धरुनिर्देशः किमर्थः ? स्वरत्र । प्रातर्भवति । अठमोगिति किम् ? इन्द्र इह । यशः शोभते । अदिति तपरकरणं किम् ? दीपयोः परतो मा भूत् । इन्द्र आयाति । तिष्ठतु पय आरे स्वदत् । “अनृतोऽनन्तस्य” [५१३१६४] इत्यादिना पः । “प्रकृत्याऽचि दिपाः” [४१३१०३] इति प्रकृतिवचन नापक सन्धिरूपेण पः मिद्व इति प्रग्रहणेनाग्रहणम् । अत इन्वेव । मुनिर्गमौ । अनुवर्तमानस्यातः तपरकरणं किम् ? स्वग्रहणं माभूत् । देवा अत्र । आगच्छ स्थूलशिग अत्र ।

गोरिन्द्रेऽवङ् ॥४१३१०१॥ अचीति वर्तते । गोः इन्द्रस्येऽचि परतोऽवडादेशो भवति । गवामिन्द्रः । डित्करणमन्यादेशार्थम् । अचीत्वप्राधान्यात्तटादावपि भवति । गवेन्द्रकुलम् ।

विभापाऽन्यत्र ॥४१३१०२॥ इन्द्रशब्दादन्यत्र शब्दे योऽच् तस्मिन् विभापया गोस्वडादेशो भवति । गवाग्रम् । गोऽग्रम् । गवाजिनम् । गोऽजिनम् । विभापाग्रहणादिह नित्यं भवति । गवान्नः ।

प्रकृत्याऽचि दिपाः ॥४१३१०३॥ दिसजाः पसजाश्च अचि परतः प्रकृत्या भवन्ति । मुनी इमौ । पट् इह । अधीयेते आगमम् । अमी अत्र । “ईदूदेद्विद्धि” [१११२०] “अ” [१११२१] इति च द्विमजा । प खत्वपि देवदत्त ३ अत्र त्वमसि । जिनदत्त ३ इदमानय । पविधिराश्रयास्मिद्ध । नेति कर्तव्ये प्रकृतिग्रहणं कृन्तनस्य स्वरसन्धेः प्रतिषेधार्थम् । अचीत्वानुवर्तमाने पुनरञ्जहणं किम् ? परमचमाश्रित्य यकार्ये क्रियते तत्र प्रकृतिभावे यथा स्यात् । पूर्वमचमाश्रित्य यत्क्रियते तत्र माभूदित्येवमर्थम् । जानु उ अस्य रुजति । जान् अन्य रुजति । जान्वस्य रुजति । “निरेकाजनाड्” [१११२२] इत्युकारस्य दिसजा । पूर्वेण मह स्वेऽसौ दीन्ये कृते । एकादेशो दिग्रहणेन गृह्यते । इति यणादेशस्य प्रकृतिभावः प्रातः । “मयो वो” [५१३१५] इति वकारादेशः ।

विभापेकोऽस्वे प्रश्च ॥४१३१०४॥ इकोऽस्वेऽचि परतो विभापया प्रकृत्या भवन्ति प्रादेशश्च प्रकृतिभावे । दधि अत्र । दव्यत्र । कुमारि अत्र । कुमार्यत्र । विभापाग्रहणं व्यवस्थितविभापार्थम् । तेन दिपाना मन्वेऽचि अनेन प्रकृतिभावविकल्पः प्रादेशश्च न भवति । पट् अत्र । देवदत्ता ३ उहान्वमि । मचि शौ च न भवति । व्याकरणम् । न्याय्यः । न्यासः । कुमार्यर्थः । अस्व इति किम् ? दधीदम् । कुमारीयम् ।

ऋत्यकः ॥४१३१०५॥ ऋकारे परतोऽको विभापया प्रकृत्या भवन्ति पश्च भवति यदा प्रकृतिभावः । खट्व ऋज्यः । खट्वर्श्यः । माल ऋश्यः । मालर्श्यः । स्वेऽपि भवति । पितृ ऋश्यः । अन्यत्र पृथगेव विदम् । व्यवस्थितविभापानुवर्तनादिह न भवति उपाध्नांति । प्राध्नांति । ऋतीति किम् ? दण्डाग्रम् । मालागम् । तपरकरणं किम् ? देवदत्ताया ऋकारः । देवदत्तार्थः । दीपयोः परतो मा भूत् ।

दिव उत् ॥४१३१०८॥ “एडोऽति पदान्तात्” [४१३१६] इत्यतः पदग्रहणमनुवर्तते । द्विवित्येतस्य पदस्योकारादेशो भवति । पुन्याम् । पुभिः । पदस्येति किम् ? दिवा । दिवे । “निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य” [प०] इति मृड एव दिवेऽद्विवित्यनन सिद्धस्य ग्रहणं न धोरकारानुबन्धकस्य । अक्षुभ्याम् । अक्षपुभिः । द्विवित्येति किम् । “च्छो. अट् च” [४१३१०३] इति ऊट् । उदिति तपरकरणं किम् ? यावताऽर्धमात्रस्य हलः स्थाने धानन्तर्यान्मात्रिक एव भविष्यति । “च्छो. अट् च” इत्यत्र क्लृप्तित्यनुवर्तनादूटोऽपि निवृत्त्यर्थं नोपपद्यते । इहाद्यौगो भवतीति स्वावागते निवृत्ते भू (भि)सकस्य दिव उच्चे कृते धु भवतीति “चो” [५१३१३५] इति दीत्व निवृत्त्यर्थम् ।

हल्येतत्तदोऽरन्जसेऽकोः सुखम् ॥४१३१०९॥ सन्भाविति वर्तते । एतत्तदोरककारयोर्हलः परतः सुखं भवत्यनञ्से । एष ददाति । स ददाति । हलीति किम् ? एषोऽत्र । सोऽत्र । एतत्तदोरिति किम् ? को दाता । यो धन्य । अनञ्से इति किम् ? अनेपो ददाति । असो ददाति । अनञ्से इति प्रसज्यप्रतिषेधः । पर्युदासे हि उत्तर-पदार्थप्रधानवृत्त्यन्तर एव सुखं स्यात् । परमैष ददाति । परमस ददाति । केवलयोरनञ्से इति किम् ? वाक्ये भवत्येव । नैष ददाति । नस ददाति । अकोरिति किम् ? एषको ददाति । सको ददाति । “तन्मध्यपतित-स्तद्ग्रहणेन गृह्यते” [प०] इति प्राप्तिः । सग्रहणं किम् ? एतो तौ चरतः । एतत्तदोरिति द्वित्वनिर्देशाद् वाया एव सुगृह्यते । ईपो बहुत्वे हि एतत्तेषामिति ब्रूयात् । सुखमिति गमकत्वात्सः ।

सम्पर्युपात्कृजः सुड्भूये ॥४१३११०॥ सम्, परि, उप इत्येतेभ्यः परस्य कृजः सुडागमां भवति भूयेऽयं । मस्करोति । समस्करोत् । संस्कारः । अन्तरङ्गत्वेन द्वित्वाडागमाभ्यां प्राक्सुट् । परिष्करोति । “सिबु-सहसुट्स्तुस्वञ्जाम्” [५१४५२] इति पत्वम् । पर्यस्करोत् । परिचस्कार । उपस्करोति । उपास्करोत् । उपचस्कार । भूप इति किम् ? उपस्करोति ।

समवाये ॥४१३१११॥ ससर्गः समुदायो वा समवायः । तस्मिन् समादिभ्यः कृजः सुड् भवति । तत्र न सस्कृतमनित्यम् अत्रापि कारणसमवायो गम्यते ।

उपात्प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारे ॥४१३११२॥ उपात्परस्य कृजः प्रतियत्नं वैकृतं वाक्याध्याहार इत्येतेष्वयं सुट् भवति । विप्रमानस्य गुणाधानमपूर्वार्जनेन वा प्रतियत्नः । तत्र एधोदकस्योपस्कृते । काण्ड शरस्योपस्कृते । “प्रतियत्ने कृज ” [११४६०] इति कर्मणि ता । विकृतत्व वैकृतम् । तत्र उपस्कृतं भुङ्क्ते । उपस्कृतं गच्छति । वाक्यैरुद्देशो वाक्यगम्यमानार्थस्य वाक्यस्य वाक्यावयवस्य स्वरूपेणोपादानं वाक्याध्याहारः । तस्मिन् उपस्कृतं जल्पति । उपस्कृतमधीते । सोपस्कारं व्याचष्टे । पदान्तराण्यव्याहृतानि कथयतीत्यर्थः । एतेऽपि इति किम् ? उपस्करोति ।

किरतेर्लवे ॥४१३११३॥ उपादिति वर्तते । उपात्परस्य किरतेर्लवविषये सुड् भवति । उपस्करीयं मद्रका लुनन्ति । उपस्कार मद्रा लुनन्ति । “एण्वाभीक्ष्ण्ये” [२१४१८] इति णम् । “वा चेष्टिवेष्टयोः” [५१३१६३] इत्यतो विकृपानुवृत्तेराभीक्ष्ण्येऽपि द्वित्वाभावः । “युड्या बहुलम्” [२१३१६४] इति बहुलवचनादनाभीक्ष्ण्ये वा णम् । लव इति किम् ? उपकिरति देवदत्त ।

वधे प्रतेष्ट ॥४१३११४॥ प्रतेष्ठाच परस्य किरतेः सुट् भवति वधेऽयं । प्रतिस्कीर्णं हि ते वृषलं मृगात् । उपस्कीर्णं हि ते वृषलं भूयात् । अत्र वधः किरतेर्भविष्यत्वेन विवक्षितो न विषयतया । तदुक्तम्—

सराच्छ्रयभिज्ञवनेन विभ्रता नृसिंहं मैहीमतनु तनुं त्वया ।

न मुपवान्तास्तनसन्नभ्रुरैररोविदार प्रतिचस्करे नखैः ॥ [ शिशु० ११४७ ]

एत इत्यर्थः । वध इति किम् ? प्रतिस्कीर्णं वीजम् । “हनञ्च वधः” [२१३१६३] इति हन्तेरचि वध इति भवति ।



चतुष्पाच्छकुनिष्वपाद्धर्पादौ ॥४॥३॥११५॥ अपात्परस्य किरतेश्चतुष्पात्स शकुनिषु च यो हर्पादि-  
स्तस्मिन् विषये सुट् भवति । दविधिप्रकरणे “किरतेर्हर्पजीविकाकुलायकरणे” [११२।३३] इत्यत्र स्थितो  
हर्पादिर्गणो गृह्यते । हर्पे-अपस्किरते वृषभो दृष्टः । जीविकायाम्-अपस्किरते कुक्कुरो भक्तार्थी । कुलायकरणे-  
अपस्किरते श्वा आश्रयार्थी । चतुष्पाच्छकुनिष्विति किम् ? अपक्विति देवदत्तो दृष्टः । हर्पादिविति किम् ? अप-  
किरति धान्य काकश्चापलेन ।

कुस्तुम्बुरुगोष्पदास्पदाश्चर्यावस्करापस्करापरस्परविष्किरमस्करमस्करिप्रतिष्कशप्र-  
स्करवहरिश्चन्द्रपारस्करप्रभृतीनि च ॥४॥३॥११६॥ कुस्तुम्बुरुप्रभृतीनि पारस्करप्रभृतीनि  
च शब्दरूपाणि निपात्यन्ते । कुस्तुम्बुरुशब्दो जातौ निपात्यते । कुस्तुम्बुरुर्धान्यकं तृणजातिः ।  
तत्कलान्यपि कुस्तुम्बुरुणि । जातेरन्यत्र कुत्सितानि तुम्बुरुणि । कुत्सितानि तिन्दुकीफलानीत्यर्थः ।  
गोष्पदशब्दे सुडागमः पत्वञ्च निपात्यते सेविते । गवा पदमस्मिन् देशे । गावः पत्यन्ते वाऽन्मिन्निति  
गोष्पदो देशः । गोष्पदमरण्यम् । असेविते नञ्पूर्वस्य निपात्यते । न विद्यते गवा पदमस्याम् अगोष्पदा  
अरण्यानी । सेवितत्वप्रतिषेधे हि यत्र सेवितत्वसम्भवस्तत्रैव स्यादन्यत्रामम्भवे न स्यादिति प्रथमसेवित-  
ग्रहणम् । न विद्यतेऽस्मिन्निति विग्रहात् । प्रमाणे गोष्पदमात्रं क्षेत्रम् । गोष्पदपूरं वृष्टो देवः । एतेष्विति किम् ?  
गोष्पदम् । आस्पदमिति प्रतिष्ठायाम् । आस्पदमनेन लब्धम् । अन्यत्र आपदापदम् । आश्चर्यमित्यद्भुतस्थे ।  
आश्चर्यं यदि स भुञ्जीत । आश्चर्यमाकाशेऽनियन्धानि नक्षत्राणि न पतन्ति । आचर्यं व्रतमन्यत्र । “चरे  
राडि चागुरौ” [वा० २।१।८७] इति यः । अवस्कर इति वर्चस्के । अवपूर्वात्किरते । कर्मणि “य्वृप्रहवृद्गमोऽच्”  
[२।३।५२] इति अच् । कुत्सितं वर्चो वर्चस्कम् अन्नमलम् । तत्सम्बन्धाद्देशोऽपि तथोक्तः । अवकरोऽन्यत्र ।  
अपस्कर इति रथाङ्गे । अपकीर्यतेऽभावित्यपस्करो रथावयवः । अपकर इत्यन्यत्र । अपरम्पर इति क्रिया-  
सातत्ये । अपरस्पराः सार्था गच्छन्ति । सततं गच्छन्तीत्यर्थः । अपरे परे चेति द्वन्द्वः ।

व्यान्तेऽल्लवश्यमोनाशस्तुम कामे मनस्यपि । हिते तते समो वा ख मांसस्य पचि युड्वजो ॥  
इति समो मकारस्य खे । सततं शब्दाद्व्यणि सातत्यम् । अपरपराः सार्थाः गच्छन्तीत्यन्यत्र । “विक्किर इति शकुनो  
सुडागमो वा निपात्यते । विक्किरीति विष्किरः । विक्किरो वा शकुनिः । “ज्ञाकृप्री” [४।१।१०८] इत्यादिना ऋ ।  
सुट् पत्ते “सिबुसहसुट्स्त्वञ्जाम्” [५।४।५२] इति पत्वम् । मस्करमस्करिणौ वेणुपरिवाजकयोः । मन्करो  
वेणुः दण्डो वा हस्तिदमनः । मस्करी भिन्दुः । मकरो ग्राहः मकरी समुद्रः इत्यत्र । अथवा “शमस्य क्रो शम-  
माडः करिशब्दे प्रादेशश्च निपात्यते वेणुपरिवाजकयोः । प्रतिष्कश इति निपात्यते सहायश्चेत् ।” कश गति  
शासनयोगित्यस्य प्रतिपूर्वस्य पचाद्यचि सुडागमः पत्वञ्च निपात्यते । देशान्तरमहं व्रजामि भवने त्वं प्रतिष्कशः ।  
प्रतिकशोऽन्यः । प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रौ भवतः ऋषी चेत् । प्रकण्वो देशः । हरिश्चन्द्रो माणवक इत्यत्र ।  
पारस्करप्रभृतीनां च खो सुडागमो निपात्यते । पारस्करो देशः । कारस्करो वृद्धः । वनस्पतिश्चेन्नगं पालीति ।  
रथस्या नदी । किष्कुः प्रमाणम् । किक्किन्वा गुहा । तद्बृहत्तोः कर्पन्त्योश्चोर्देवतयोः सुट् तत्त च ।  
तत्कर्गः । वृत्स्यति । तत्कर्गे वृहत्पतिरित्यन्यत्र । अजन्तुदमः । काम्तीगं च नगरम् । अजन्तुदमं शर्तारगमिन्नगरम् ।  
प्राप्तुम्पतां गावि कर्तरि । प्रन्तुम्पति गो । अन्यत्र प्रतुम्पति स्त्री । पारस्करप्रभृतिगङ्गानिगणः ।

प्रायाच्चित्तिचित्तयोः ॥४॥३॥११७॥ प्रायापय्यो चित्तिचित्तयोः सुट् भवति । प्रायस्य चित्तं प्राय-  
श्चित्तम् । प्रायश्चित्ति । “स्तोश्चुनाञ्चु” [५।४।११६] इति सुट् श्चुन्वञ् ।

भाटाविदमोऽन्वादेशेऽश् ॥४॥३॥११८॥ भाटौ पयस्य दमोऽन्वादेशो भवत्यन्वादेशे । यत्तं प-  
निनागुणद्वयैः सन्त्येव इत्यन्त्येव पश्चाद्विनागुणद्वयान्तरेण सन्त्येव क्रियमाणेऽन्वादेशोऽनुत्पन्नः भवति ।  
नित्यमन्त्ये दमनान्तां छातान्या गाविरपिता । अथो आन्त्यादिगं च कृता । कुम्पाज्जप्यो “किमयं नान्तां च प्रायः”

दः” [४।१।१३०] इत्येकं कृते साकृद्दमो हलि स न भवति । “अनाप्यकः” [५।१।१७०] इत्यत्र ककारस्येयनुवर्तनात् तेनादेशः । गुणसन्धे इमकस्य छात्रस्य कुलमशोभनम् अथो अस्य शीलमपि । द्रव्यसन्धे इमकस्य राजो जनपदो दुर्विहितः अथो अस्य भृत्याश्चावश्याः ।

टोसिष्येनदेतदश्च ॥४।३।११६॥ य ओस् इप् इत्येतेषु परत एतद् इदमश्च एनदित्ययमादेशो भवति अन्वादेशे । एतेन छात्रेण रात्रिरधीता अथो एनेन निपुणमधीता । एनदादेशे कृते त्यदाप्यत्वम् । दकारान्तत्वं नपुसके प्रयोजयति । एतयोश्छात्रयोश्शोभन शीलम् अथो एनयो रूपमपि । एत छात्र काव्यमप्यापय अथो एन गणितमपि । एत जैनेन्द्रमध्यापय अथो एन तर्कमपि । एतमर्थिनः संवन्ते अथो एन मित्राणि च । इदमः खल्वपि अनेन छात्रेण रात्रिरधीता अथ एनेन निपुणमधीता । अनयोश्छात्रयोः शोभन शीलम् अथो एनयो रूपमपि । इम छात्र काव्यमध्यापय अथो एन गणितमपि । इद सरो भ्रमराः सेवन्ते अथ एनद्विहङ्गाश्च । इदमस्तोसोः परतः पूर्वैणाशादेशः प्राप्तोऽन्यत्राप्राप्त एनदादेशः ।

द्यावनुप् ॥४।३।१२०॥ द्याविति अनुव्रिति च एतद् द्वितयमधिकृत वेदितव्यम् । “ज्योतिरुद्गतौ” [१।२।३६] इति निर्देशान् सामान्येन द्यावनुप् । प्राग्गोरधिकाराद् द्यावित्यधिकारः । अनुबधिकारः प्रागानङः । वक्ष्यति “कायाः स्तोकादेः” [४।३।१२१] स्तोकान्मुक्तः । अल्पान्मुक्तः । “स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्रं केन” [१।३।३४] इति पसः । द्वित्वमहुत्वयोरनभिधानान्न सः । अभिधानेन भवति । गोबुचरः । वर्षासुजः इति । द्याविति किम् ? निष्क्रान्तः स्तोकाभिः स्तोकः । “आनङ् द्वन्द्वे” [४।३।१३८] इति द्यावानङादेशः । होतापोतारौ । नेष्टोद्गातारौ । द्यावित्येव । होतारौ । होतृभ्याम् । सुपि माभूत् । “इकः प्रो ङ्याः” [४।३।१७२] इति प्रादेशो द्यौ । ग्रामणिपुत्रः । सेनानिपुत्रः । सुपि माभूत् । ग्रामणीभ्याम् ।

कायाः स्तोकादेः ॥४।३।१२१॥ स्तोकादिभ्यः परस्याः काया अनुब्र भवति द्यौ । “स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्रं केन” [१।३।३४] इत्यत्र स्थितः स्तोकादिर्गृह्यते । “स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्रं केन” इति सः । अपादानलक्षणेय का । काया इति किम् ? स्तोकेन मुक्तः स्तोकमुक्तः । स्तोकादेरिति किम् ? वृकाद्भयवृकभयम् । कथं ब्राह्मणाच्छसी ऋत्विग्विशेषः । उच्यते रूढशब्दोऽयं गोशब्दवदस्य व्युत्पत्तिः । ब्राह्मणादध्याहृत्यावयवमर्थं वा शसतीत्येवशीलः ब्राह्मणाच्छसी । अपादाने का । “साधनं कृता” [१।३।२६] इति पसः । “वे कृति बहुलम्” [४।३।१३२] इत्यनुप् ।

भाया योजस्सहोऽम्भस्तपोऽञ्जसः ॥४।३।१२२॥ ओजम्, सहस्, अम्भस्, तपस्, अञ्जस् रूपादेभ्यः परस्या भाया अनुब्र भवति । अञ्जसा कृतम् । सहसा कृतम् । अम्भसा कृतम् । तपसा कृतम् । “साधनं कृता बहुलम्” [१।३।२६] इति पसः ।

खौ मनसः ॥४।३।१२३॥ खुविपये मनसः परस्या भाया अनुब्र भवति । मनसा गुता । मनसा गता । वरुणे भा । द्याविति किम् ? मनोदत्ता ।

आज्ञायिनि ॥४।३।१२४॥ आज्ञायिनि यो मनसः परस्या भाया अनुब्र भवति । मनसा आज्ञानाति-देशशीलो मनसाऽज्ञायी । अज्ञापयि यनोऽयम् । “पुंसाञ्जुजो जनुपान्ध इत्यनुव्वक्तव्यः” [वा०] । अनुजातोऽनुज । एता एतेना वरुणेन वा अनुज पुसाऽनुजः । “साधनं कृता” [१।३।२६] इति पसः । यदा पुमास्तनुजातत्वादा एमनुज इति । जनुपा जन्मनाऽन्धो जनुपान्धः । “प्रकृत्यादिभ्य उपसंरयानम्” [वा०] इति भा । “ना गुरोस्तथाऽर्धेनोर्नै” [१।३।२७] इति स ।

**डङ्यात्मनः ॥४१३१२५॥** डङन्ते औ आत्मनः परस्या भाया अनुव् भवति । आत्मना पञ्चमः आत्मना षष्ठः । “प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] इति भा । डङन्तेन भान्तस्य सविधेरिदमेव जापकम् । गम्यमानक्रियापेक्षया करणे वा भा । आत्मना कृतः पञ्चमः आत्मना पञ्चमः कथमय प्रयोगः । जनार्दनस्वात्मचतुर्थ एव । त्रयोऽयम् । आत्मा चतुर्थः । व्यपदेशिवद्वादादन्यपदार्थत्वम् । यथा चारुशरीरः शिलापुत्रक इति ।

**डेः खौ पराच्च ॥४१३१२६॥** खुविपये पराच्चात्मनश्च परस्य डेरनुव् भवति । प्रतिपदोक्तस्य डेरङ्गम् । परस्मैभापः । परस्मैपदम् । आत्मनेभापः । आत्मनेपदम् । तादर्थ्येऽनुक्ता । आत्मार्थे पदमात्मनेपदम् । सविधेरिदमेव जापकम् । असदर्थार्थ इति विवृतेः प्रकृत्या पस उक्तः ।

**ईपोऽद्वलः ॥४१३१२७॥** अदन्ताद्वलन्ताच्च सामर्थ्यान्मृदः परस्या ईपोऽनुव् भवति खुविपये । अरण्येतिलकाः । अरण्येमापकाः । वनेकिशुकाः । वनेवल्वजकाः । वनेहरिद्रुकाः । पूर्वाहेम्नोदराः । कूपेपिशाचकाः । “खौ” [११३१३८] इति पसः । हलन्तात् । त्वचिमारः । दृपदिमापकः । युर्विष्टिः । निपातनाद्विष्टिरः । नन्ववादेशेऽन्तरङ्गे कृते हलन्तता न । “अन्तरङ्गानपि धिक्विन् बहिरङ्ग उच्चावृते” [प०] । अन्यथा नदीकुक्कुटिकादिषु यणादेशे सत्यनुप् प्रसज्येत । अद्वल इति किम् ? नत्रा कुक्कुटिका । भूमिगर्भम् । भूमपाशः । “अखौ हृद्युन्मामिर्वर्थे ईप् तस्याच्चानुव् वक्तव्यः” [प०] । हृदिस्मृक् । दिविस्मृक् । न वक्तव्यः । यो हि हृदय स्मृशति । “पे कृति बहुलम्” [४१३१३२] इत्यनुप् । स चानुप् हृदिति प्रकृत्यन्तर यत्तस्माद्वति । “अप्सुमति चाखौ वक्तव्यम्” [वा०] । अप्सुमान् “अप्सव्य इत्यादावपि वक्तव्यः” [वा०] । अप्सु भवोऽमन्यः । अप्सुयोनः ।

**कारे प्रायः ॥४१३१२८॥** यूये गृहे क्षेत्रे धान्याग्रं वस्तु रत्नानिर्देशार्थं यदवश्य राजे देय स कारः । तद्वाचिनि औ ईपोऽनुव् भवति खौ प्रायः । खाविति वर्तते । अद्वल इति च । अदन्तात् । स्तूपे शाणः । मुकुटे कार्पापणः । हले द्विपदिका । हले त्रिपदिका । द्वौ द्वौ पादौ देयौ । “वीप्सादण्डव्यागे बुन्” [४१३११०] इति बुन् । “खौ” [११३१३८] इति पसः । हलन्ताद्-दृपदि मापकः । समिवि मापकः । खुविपये प्रवृत्तेषु भिद्वे प्रायोग्रहणार्थमेतत् । तेन कारे क्वचिदनुमन् भवति । यूये पशुः । यूथपशुः । यूथे वृषः । यूथवृषः । “मो” [११३१३८] इति पसः । कार इति किम् ? अभ्याहिते पशुः । कारादन्यस्य देयस्य नामेव । उन् युपि पशुः । इत्यर्थः । “ईपोऽद्वलः” [४१३१२७] इत्यनेनापि कारग्रहणादिहानुमन् भवति । अद्वल इत्येव जट्टातार्पापणः । मपीकार्पापणः । नदीदोहः । कारसजा एताः ।

**हलि ॥४१३१२९॥** हलादौ कारे औ ईपोऽनुव् भवति । स्तूपेशाणम् । नियमार्थमिदम् । हलादौ नाजादौ । अविकटोरणः ।

**मध्यान्ताद्गुरौ ॥४१३१३०॥** मव्य अन्त इत्येताभ्याम् ईपोऽनुव् भवति गुरौ औ । मव्येगुरुः । अन्ते गुरुः । सविधेरिदमेव जापकम् । असजाऽर्थोऽय यन् ।

**अक्रामेऽमूर्धमस्तकास्वाङ्गात् ॥४१३१३१॥** मूर्धमस्तकास्वाङ्गात्तात्परस्या ईपोऽनुव् भवति अक्रामे औ । कण्ठेकालः । उगमिलोमा । वहे गडु । उदरे मणिः । व्यविस्मृणामपि क्वचित्प्रम । उगमिगोत्र इत्यत्र मन्त्र्याये हुने उगमिन्यनेन योगः । अक्राम इति किम् ? मुखे क्रामोऽन्त्या मुखफामा स्त्री । अक्रामिनास इति स्मि ? मूर्धशिवः । मन्त्रशिवः । उभयप्रतिपेक्षान्वस्वरूपप्रवृत्तः । तेन परांशानुप् । गिरिनिर्गमः । स्वाङ्गादिति स्मि ? पानशोणः । स्वाङ्गादिति कर्तुमगक्राम । मूर्धमस्तकास्वाङ्गात्तात्पर्यात् न तत्र पत्र स्मृतात् । तच्चिन्ते “अद्वं मूर्तिमद्” इत्यादिपरिभाषिकस्याद्वमश्रवणार्थम् । तेनाप्राणिन्यान्नुन भवति । गुप्ताद्वप अन्ता मुखपुच्छा शाला । अद्वल इत्येव । अद्वलव्रणः । जट्टातार्पा । वमार्पि । अक्रामार्थमागमन ।

पे कृति बहुलम् ॥४१३१३२॥ पे कृदन्ते धौ बहुलमीपोऽनुच् भवति । बहुलग्रहण सर्वविमलमग्र-  
 हार्यम् । स्तम्भेरम् । कर्णेजपः । “प्रावृद्ध वर्षागरत्कालदिवां जेऽनुप्” [वा०] प्रावृपिजः । वर्षामुजः । शरटिजः ।  
 कालेजः । दिविजः । न भवति कुरुचरः । मद्रचरः । “इन्सिद्धबध्नातिस्थेषु च न भवति” [वा०] त्यण्डिलशायी ।  
 स्थण्डिलवर्ती । “व्रते” [१२१६८] इति णिन् । साङ्काश्यसिद्धः । काम्पिल्यसिद्धः । चक्रेन्धनम् । चक्रवन्धनम् ।  
 समस्थः । विप्रमस्थः । कूटस्थः । पर्वतस्थः । समानाधिकरणे च नेष्यते । परमे कारके । “वर्षचरशरचराज्जे द्विधा”  
 [वा०] वर्षजः । वर्षेजः । क्षरजः । क्षरेजः । शरजः । शरेजः । वरजः । वरेजः । “जयवासवासिष्वकालवाचिनो द्विधा”  
 [वा०] खशयः । खेशयः । त्रिलशयः । त्रिलेशयः । वनवासः । वनेवासः । ग्रामवासः । ग्रामेवासः । नववासी ।  
 नवेवासी । ग्रामवासी । ग्रामेवासी । अकालवाचिन इति किम् ? पूर्वाह्णेशयः । अपराह्णेशयः । “दन्धे द्विधा”  
 [वा०] हस्तेन्धः । हस्तन्धः । स्वाङ्गादिति नित्य प्राप्तिः । चक्रवन्धः । चक्रेवन्धः । वन्नातो अनुप् प्रतिषेधः प्रातः ।  
 अद्वल इत्येव । भूमिशयः । गुप्तिवन्धः । “कृद्ग्रहणे तिकारकपूर्वस्यापि” [प०] अवततेनकुलस्थितम् । उदके  
 विशीर्णम् । “क्षेपे” [१३१४१] इति पसः । “क्वचिदन्यत्रापि” । ब्राह्मणाच्छसी । पूर्वस्यैवाय प्रपञ्चः ।

भक्तकालतत्कालेभ्यो वा ॥४१३१३३॥ झमशके कालशब्दे तनशब्दे च परतः कालिवाचिभ्यः परस्या  
 र्पो वाऽनुच् भवति । भ इति तत्तमौ । “तादी भू.” [४११११७] इति वचनात् । पूर्वाह्णेतारम् । पूर्वाह्णेतरे ।  
 अस्मिन्श्च पूर्वाह्णे अस्मिन्नतिशयेन पूर्वाह्णे इति विगृह्यते । “द्विविभज्ये तरेयसू” [४११११६] इति । अहराश्रयस्य  
 पूर्वस्य प्रकर्षेतरः । अनुप्यत्ते “किमेन्मिड् भिम्मादामद्रव्ये” [४१२१२०] इति एतदन्तात्परौ भ इत्याम् भवति ।  
 सर्वम् पूर्वाह्णेषु अतिशयेन पूर्वाह्णे इति विगृह्यते । “तमेष्ठावतिशायने” [४११११४] इति तमः । पूर्वाह्णेनमाम् ।  
 पूर्वाह्णेतमे भुङ्क्ते । पूर्वाह्णकाले “विशेषणं विशेष्येणेति” [१३१५२] षसे कृते । पूर्वाह्णकाले पूर्वाह्णकाले गतः ।  
 पूर्वाह्ण जातो भयो वा पूर्वाह्णेतनः । पूर्वाह्णेतनः । “वा पूर्वापरदहात्” [३२११४१] इति तनट् । इदमेव जपक सुव-  
 न्ताद् दृढव्यक्तेः । कालेभ्य इति किम् ? शुक्लतरे । शुक्लतमे । अद्वल इत्येव । रात्रितराया गतः । अस्या च रात्रौ  
 अत्यामतिशयेन रात्राविति । “त्यग्रहणे चाक्राय.” [प०] इति कान्तात्परौ भक्तनौ स्वरूपेण गृह्येते न तदन्तविधिना ।  
 अपि च “हृदयस्य हृदयेव्याचूलासेपु” [४१३१६१] इत्यत्राणग्रहणेन सिद्धे लेखग्रहण जपकं “द्यावित्यधि-  
 कारे त्यग्रहण स्वरूपग्रहणमेव” [प०] ।

ताया आक्रोशे ॥४१३१३४॥ ताया अनुच् भवति धौ आक्रोशे गम्यमाने । चौरस्य कुलम् । दासस्य  
 कुलम् । वृषलस्य भार्या । “ता” [१३१७०] इति पसः । आक्रोश इति किम् ? मोक्षमार्गः । असूयाविरहे  
 दासकुलमिति भवति । ताया इति योगविभागः । “तेन वाक्चिद्वपश्यदभ्यो युक्तिदण्डहरेष्वनुप्” [वा०] वाचो युक्तिः ।  
 दिशोदण्डः । पश्यतोदरः । “ता चानादरे” [१३१४६] इति ता । “देवानां प्रियादिष्वनुप्” [वा०] देवानां प्रियः ।  
 दिवोदासः । आमुष्यायणः । नटादित्वात्कण् । आमुष्यपुत्रिका । आमुष्यकुलिका । मनोजादिपाठाद्वुञ् । “शुनः  
 खौ शेषपुच्छलामूलेषु” [वा०] शुनःशेषः । शुनःपुच्छः । शुनोलाङ्गलः ।

पुत्रे वा ॥४१३१३५॥ पुत्रे धौ ताया वाऽनुच् भवति आक्रोशे । दात्याः पुत्रः । दासीपुत्रः । चौर्याः  
 पुत्रः । चोरीपुत्रः । पूर्वेषु नित्य प्राप्तः ।

श्रुतो विद्यायोनिमन्वन्धात् ॥४१३१३६॥ श्रुत्कारान्तेभ्यो विश्रामवन्धेभ्यो योनिसम्बन्धेभ्यश्च  
 पन्थापन्थाः अनुच् भवति । सामर्थ्याद्विद्ययोनिमन्वन्धि यो । होतुः पुत्रः । होतुन्तेवासी । पोतुः पुत्रः । पोतु-  
 न्तेवासी । योनिसम्बन्धात् । मातु पुत्रः । मातुन्तेवासी । पितुः पुत्रः । पितुन्तेवासी । श्रुत इति किम् ?  
 उपासादनुत् । मातुलपुत्रः । उपाप्याश्रिष्यः । पुत्रशिष्यः । विद्यायोनिमन्वन्धादिति किम् ? कर्तृपुत्रः ।  
 कर्तृशिष्यः । विद्यायोनिमन्वन्धादिति किम् ? होतृदम् । पितृधनम् ।

वा स्वसृपत्योः ॥४१३१३७॥ ऋकारान्तेभ्यो विद्यायोनिस्त्रन्धेभ्यः परस्यास्ताया वाऽनुव् भवति स्वसृपत्योः परतः । मातृष्वसा । मातुः स्वसा । मातुः ष्वसा । पितृष्वसा । पितुः स्वसा । पितुः ष्वसा । उपि “मातृपितृभ्यां स्वसुः” [५१४६६] इति पत्वम् । अन्यत्र “वाऽनुपि [५१४६७] इति वा पत्वम् । दुहितुः पतिः । दुहितृपतिः । स्वसुः पतिः । स्वसृपतिः । पूर्वेषु नित्ये प्राप्ते विकल्पः ।

आनङ् द्वन्द्वे ॥४१३१३८॥ ऋतो विद्यायोनिस्त्रन्धादिति वर्तमानम् अर्थान्तान्त सम्प्रत्यये । ऋता रान्ताना विद्यायोनिस्त्रन्धाना यो द्वन्द्वस्तत्र यो पूर्वस्यानङादेशो भवति । होतापोतारौ । नेटोद्गतागै । प्रशान्ताप्रति हर्तारौ । एककर्तृकर्मणि विद्याकृतः सन्धोऽस्ति । योनिस्त्रन्धे मातापितृगै । माताननान्दागै । नकारोच्चारण किम् ? आ इत्युच्यमाने “रन्तोऽणुः” [१११४८] इति रन्तः स्यात् । ऋत इति किम् ? पितृपितामहौ । विद्या-योनिस्त्रन्धादिति किम् ? कर्तृकारयितारौ । सन्धग्रहण किम् ? पितृभ्रातरौ । नात्र विद्यातो योनितो वा परम्पर सन्धोऽस्ति । मण्डूकालुत्या पुत्रग्रहणमनुवर्तते । तेन पुत्रेऽपि द्वौ ऋकारान्तस्य आनङ् भवति । पितापुत्रौ । मातापुत्रौ ।

देवताद्वन्द्वे ॥४१३१३९॥ देवतावाचिना च द्वन्द्वे आवानङादेशो भवति । इन्द्रावरुणौ । इन्द्रामोमौ । इन्द्रावृहस्पती । सूर्याचन्द्रमसौ । द्वन्द्व इति वर्तमाने पुनर्द्वन्द्वग्रहण सहवापनिर्देशार्थम् । तेन ब्रह्मप्रजापतौ, शिववैश्रवणौ, स्कन्दविशाखौ इत्येवमादिषु शास्त्रे सहदाननिर्देशाभावात् भवति । इष्टद्वन्द्वपरिग्रहाय वा पुनर्वचनम् । अत्यन्तसहचरिते लोकविजाते द्वन्द्वशब्दो निपातितः । ततो लोकप्रसिद्धसाहचर्याणामानङ् भवति । “वायोरुभयत्र प्रतिपेधः इष्यते” [ वा० ] अग्निवायू । वाय्वग्नी ।

सोमवरुणेऽग्नेरीः ॥४१३१४०॥ सोमवरुण इत्येतयोः परतोऽग्नेरीकारादेशो भवति देवताद्वन्द्वे । अग्नीषोमौ । अग्नीवरुणौ । अन्तस्यालः स्थाने आनङोऽपवाद ईकारः । “स्तुत्सोमौ चाग्ने” [५१४१५] इति पत्वम् । द्वन्द्वे इत्येव । उपचारादग्निषोमौ माणवकौ ।

ऐपीत् ॥४१३१४१॥ साहचर्यादैव भाजि द्वौ अग्नेरीकारादेशो भवति देवताद्वन्द्वे । अग्निश्च वरुणश्च देवते अस्या अग्निवारुणौ । अग्निमास्तम् । देवतार्थेऽपि उभयोः पदयोरैपि कृते ईत्वाङोरपवाद इकारः । “विष्णोः प्रतिपेधो वक्तव्यः” [ वा ] अग्निश्च विष्णुश्च देवतेऽस्य अग्नीवैष्णवम् । आनदेव भवति । ऐपीति किम् ? आग्नेन्द्रः । “नेन्द्रस्य” [५१४०७] इतिद्यो रैप्रतिपेधः ।

दिवो द्यावा ॥४१३१४२॥ दिवो द्यावा इत्ययमादेशो भवति द्वौ देवताद्वन्द्वे । अग्निश्च भूमिश्च द्यावाभूमौ । द्यावानक्ते । द्यावान्त्मे । अनेकाल्बाल्त्वविदेशः ।

दिवसश्च पृथिव्याम् ॥४१३१४३॥ दिवो दिवस इत्ययमादेशो भवति द्यावा च पृथिव्या यौ देवताद्वन्द्वे । दिवस्पृथिव्या । द्यावापृथिव्यौ । उच्चारणार्थनाकरेण निर्देशो रित्यत्रावनायः ।

उपासोपसः ॥४१३१४४॥ उपस उपासा इत्ययमादेशो भवति द्वौ देवताद्वन्द्वे । उपश्च नक्तम् च उपासानक्तम् । उपासानक्तम् । नक्त शब्दो मकारान्तो भिन्नब्रह्मोऽकारान्तश्च नपुंसकलिङ्गोऽस्ति ।

मातरपितरौ वा ॥४१३१४५॥ मातरपितरपिति वा निगन्तौ । मातरपितरौ । यौ ऋकारान्ताभासो निपातये । पक्षे “आनङ् द्वन्द्वे” [४१३१३८] इत्यानङि कृते मातापितरौ ।

स्वयुक्तपुंस्कादनूरेकार्थेऽङ्प्रियादौ धियां पुंचन् ॥४१३१४६॥ उक्तपुंस्कार्थो यः स्त्री तदन्त एवार्थे यो विभक्तिवर्तमानो उङन्तप्रियादिविभक्तिं पुनर्भवति । म्यान्तस्त्वन्तम टान्तस्त्वन्तम पृथग्यन्तुत्सो भवतीत्यर्थः । दर्शनीया भासा अन्य दर्शनीयनार्थः । गोमननार्थः । चाद्वन्द्वः । स्त्री इति किम् ? आग्नेरी । उक्तपुंस्कादिति किम् ? माता वृन्दारिम् । तथा द्रव्येभ्यो कन्धुव । मयान्त

हमः । वृद्धवाभार्योऽश्वः । तथा अङ्गारकाः शकुनयः । कालिकाश्चैषा नियः । कालिकाभार्यो अङ्गारकाः । नहि दृष्ट्यादयः शब्दाः समानायामाकृतौ पुंसि वृत्ताः । पुवद्भावेऽर्थतः आन्तरतम्ये कच्छुपादिप्रयोगः प्रमज्येत । अनूरिति किम् ? वामोरुभार्यः । अनूरिति स्त्रीत्यप्युदासाद् अन्योऽपि स्त्रीत्य एव गृह्यते इति स्त्रीग्रहणमनर्थकं तत्कृतमस्त्रीत्यान्तापि स्त्री पुवद्भवतीति शपनार्थम् । ऐडिविडभार्यः । पार्थभार्यः । दारुभार्यः । औसिजभार्य इति मिद्धम् । इडिविड पृथु अनयो राष्ट्रसमानशब्दत्वादपत्यर्थेऽङ् । दरद, उमिजा आभ्या द्वयन्मगधेत्मादिनाऽङ् । स्त्रियाम् “सतोऽप्राच्यभर्गादेः” [३।१।१५८] इत्यणजोऽप् । इडिविडभार्यो अस्येति पुवद्भावे ऐडिविडभार्य इत्यादि । एकार्थ इति किम् ? कल्याण्या माता कल्याणीमाता । अडट्प्रियादाविति किम् ? कल्याणी पञ्चमा रात्रयः । कल्याणीपञ्चमः । कल्याणीदशमः । “डट्स्त्रीप्रमाणयोरः” [४।२।११६] इत्यः सान्तः । यदि डङन्ता स्त्री तद्गुणसविगानादिना प्रधानं तदा पुवद्भावप्रतिषेधः सान्तश्चाकारो वेदितव्यः । इह माभूत् कल्याण-पञ्चमीकः पक्षः । कल्याणीमनोजः । प्रिया । मनोजा । कल्याणी । सुभगा । दुर्भगा । भक्तिः । सचिवा । स्ता । कान्ता । समा । चपला । दुहिता । वामा इति प्रियादिः । दृढ भक्तिरस्य दृढभक्तिः । शोभनभक्तिरित्यादौ न पूर्वपदं स्त्रीलिङ्गमिति । तेन प्रियादौ चैव पूर्वस्य दयाशका न कर्तव्या । क्रियामिति किम् ? कल्याणी प्रधान-मेवा कल्याणीप्रधाना । उक्तः पुमान् समानायामाकृतौ अभिन्ने प्रवृत्तिनिमित्ते जात्यादिके येन शब्देन स तथोक्तः । अथवा उक्तः पुमान् यत्किञ्चनैव त्यादिके स तथोक्तः । तद्वाच्यपि शब्द उक्तपुस्क इति व्युत्पादनं किमर्थम् । द्रोणीभार्यः । कुटीभार्यः । अत्र द्रोणकुटशब्दौ आकृत्यन्तरे पु लिङ्गो । कथं गर्गभार्यः, प्रसूतभार्यः । प्रजात-भार्यः इति । अत्राप्येकजात्यपेक्षया कथञ्चित्समानाकृतित्वमूह्यम् ।

तत्सादौ ॥४।३।१४७॥ तसादिपु परतः उक्तपुस्कादनः स्त्रीपु वद्भवति । आदिशब्दः प्रकारवाची । तस् । त्र । तर । तम । चरट् । जातीय । देश्य । देशीय । कल्प । पाश । रूप । था । थम् । दा । हिं । थ्य । केपु परतः । तस्यास्तत् । तस्या तत्र । आद्यतरा । आयतमा । पट्वी भूतपूर्वा पटुचरी । पट्वीप्रकारा । पटु-जातीया । ईपदसिद्धा पट्वी पटुदेश्या । पटुदेशीया । वृद्धकल्पा । याग्या वृद्धा वृद्धपाशा । प्रशस्ता वृद्धा वृद्धरूपा । तया प्रकृत्या तथा । कया प्रकृत्या कथम् । तस्या वेलाया तदा । अस्या वेलायाम् एतर्हि । अजार्थे रितम् अजथम् । “अजविभ्या ध्य ” [३।४।६] इति थ्यः । दरच्छुब्दात्के पु वद्भावे च कृते दारदिका । के पुवद्भावात्परत्वेन प्रादेशः । पट्विका । मृद्विका । बहुल्यार्थच्छसि ब्रह्मीभ्यो देहि बहुशो देहि । अल्पाभ्यो देहि अल्पशो देहि । “गुणवचनात्त्वतलो ” [वा०] पट्व्या भावः पटुत्वम् । पटुता । गुणवचनादिति किम् ? जत्रियत्वम् । जत्रियाता । कटीत्वम् । कटीता । “भस्य हत्यडे पुवद्भावो वक्तव्यः” [वा०] । हस्तिनीना समूहो हास्तिवम् । रसस्य स्थानिवद्भावात्पि न स्यात् । अट इति किम् ? शयैः शयैः अपत्य शयैः शयैः । शैहियेयः । कथम् अगनापी देवता अत्य आग्नेयः ? “अग्निक्लिभ्यां टण्” [३।२।२८] इति । “डेऽपि छचित्पु वद्भावो वक्तव्यः” [वा०] “छण्छसोरच” [वा०] । भवत्या इह भावत्कम् । भवदीयम् । अवस्थाया पु वद्भावे “इसुसुक्त. क.” [५।२।५२] इति वादेशः ।

पण्डमानिनी ॥४।३।१४८॥ क्यडि मानिनि च परत उक्तपुस्कादनः स्त्री पुं वद्भवति । मानिवाचरति पतापते । हरिणीवाचरति हरिनायते । मानिनि धौ । इमा दर्शनीया मन्यते दर्शनीयमानी देवस्त । “रुद्रग्रहे लिङ्गविणिष्टस्यापि” [प०] । दर्शनीया मन्यते देवत्वा जिनदत्ता दर्शनीयमानिनी । एकापे स्त्रीलिङ्गे षो पृथेनैव मिद्ध पु वद्भावः । दर्शनीयामात्मान मन्यते दर्शनीयमानिनी स्त्री ।

न वृद्धकोटः ॥४।३।१४९॥ वोहर्तश्च न. क्मास्नदुड. स्त्रिया न पु वद्भावः । वु—पात्रिकाभार्यः । वारिगभार्यः । लाजिनीत । लाजिनीपात्रा । लाजिनीयते । लाजिनीमानिनी स्त्री । निलोपिकाया धर्म्यं वैले-पिम् । “नन्महिष्यादे ” [३।२।६६] इत्यणि कृते “भस्य हत्यडे” [वा०] इति पु वद्भावः प्रातः । पु वद्भावे णिङ्गिति स्यात् । नानान्येभ्यः प्रविधेः । वृद्धग्रहणं किम् ? मूर्भार्यः । जागरूकभार्यः । वराकभार्यः ।

**डट्प्रचोः ॥४३११५०॥** डडिति प्रत्याहारेण डडन्ता खुश्च स्त्री न पुंवद्भवति । पञ्चमीभार्यः । दशमीभार्यः । पञ्चमीतमः । पञ्चमीपाशः । पञ्चमीयते । पञ्चमीमानिनी । स्त्री—दत्ताभार्यः । दानक्रिया व्युत्पत्तिद्वारेण संज्ञाशब्देऽयुक्तपुस्कत्वमस्ति । दत्तो माणवकः इति पुंवद्भावः प्राप्तः । एव गुमाभार्यः । दत्तातः । गुमातः । दत्तिकामानिनी । दत्तिकायते ।

**जिणद्धदरक्तविकारे ४३११५१॥** रक्तविकारवर्जितेऽर्थे यो हत् जिणत् तदन्तस्त्री न पुंवद्भवति । जित्-श्रौत्सीभार्यः । णित्-स्रोष्नीभार्यः । माथुरीभार्यः । अर्धखार्या भवा अर्धखारी । “परिमाणस्थानतोऽर्धाद्वा पूर्वस्य” [५२।३२] नैप् । अर्धखारी भार्या अस्य अर्धखारीभार्यः । वैयाकरणी भार्या अस्य वैयाकरणीभार्यः । तौनीतः । स्रोष्नीपाशा । स्रोष्नीयते । स्रोष्नीमानिनी । जिण्डिति किम् ? तावतीभार्या अस्य तावद्भार्यः । म ये भवा मय्यमा भार्या अस्य मय्यमभार्यः । त्रिपृष्ठायनिभार्यः । त्रिपृष्ठास्यापत्य स्त्री “फिरदोः” [३।११४७] इति किः । ‘उत्तो मनुष्यजातेः’ [३।१।५५] इति डी पुंवद्भावः । हृदिति किम् ? पुष्पलावी भार्या अस्य पुष्पलावभार्यः । अग्त विकार इति किम् ? कपायेण रक्ता कापायी वृहतिकाऽस्य कापायवृहतिकः । लोहस्य विकारे लौही ईपा अन्य लौहेपो रथः ।

**अमानिनीत्स्वाङ्गात् ॥४३११५२॥** स्वाङ्गात्परो य ईत् तदन्ता स्त्री न पुंवद्भवति अमानिनी श्रौ । दीर्घकेशीभार्यः । श्लक्ष्णमुखीभार्यः । दीर्घकेशीतः । दीर्घकेशीपाशा । दीर्घकेशीयते । अमानिनीति किम् ? श्लक्ष्णमुखमानिनी । ईदिति किम् ? पृथुजवनभार्यः । अकेशभार्यः । “न क्रोडादिवहच” [३।१।४६] “सहनञ् विद्यमानात्” [३।१।५०] इति च डीप्रतिषेधः । स्वाङ्गादिति किम् ? पठुभार्यः ।

**जातिश्च ॥४३११५३॥** जातिश्च स्त्री न पुंवद्भवति अमानिनी श्रौ । कठीभार्यः । कठ्वृन्नीभार्यः । कठीतः । कठीपाशा । कठीयते । “वृद्ध च चरणैः सह” इति वचनाज्जातिः । अमानिनीत्येव । कठमानिनी । चशब्दः किमर्थः ? “भस्य हत्यडे” [वा०] इति प्राप्तस्य पुंवद्भावस्य प्रतिषेधो न भवतीति युक्तं समुच्चयार्थः । तेन हस्तिनीना समूहो हास्तिकम् ।

**पुंवद्यजातीयदेशीये ॥४३११५४॥** उक्तपुन्नादन्तः स्त्री पुंवद्भवति यगजके से स्त्रीलिङ्गे यो जालीय देशीय इत्येवयोश्च परतः । यसे आद्यगृध्रेण पुंवद्भावः मिद्वः । जातीयदेशीययोश्च तमादौ पाठात् । तन्ना त्यतिषेधनिवृत्त्यर्थं आरम्भः । “न बुहल्कोटः” [४।३।१४६] इत्युक्तं तत्रापि पुंवद्भवति । पाचनवृन्दारिणः । पाच कजातीया । पाचकदेशीया । “टट्प्रचोः” [४।३।१५०] इत्युक्तं तत्रापि भवति । पञ्चमवृन्दारिणः । पन्ना जातीया । पञ्चमदेशीया । दत्तवृन्दारिणः । दत्तदेशीया । “जिणद्धदरक्तविकारे” [४।३।१५१] इत्युक्तं तत्रापि भवति श्रौत्सवृन्दारिणः । श्रौत्सजातीया । श्रौत्सदेशीया । स्रोष्णवृन्दारिणः । स्रोष्णजातीया । “अमानिनीत्स्वाङ्गात्” [४।३।१५२] इत्युक्तं तत्रापि भवति । दीर्घकेशवृन्दारिणः । दीर्घकेशजातीया । दीर्घकेशदेशीया । “जातिश्च” [४।३।१५३] इत्युक्तं तत्रापि भवति । कठवृन्दारिणः । कठजातीया । कठदेशीया । पुंवद्भाववचनात्म्येन प्राप्ते धस्य निवृत्तिः । उक्तपुन्नादन्त्यनुवर्तते । उक्तपुन्नादिति किम् ? मालावृन्दारिणः । मालाजातीया । मा देशीया । कालिकाश्च ता वृन्दारिणश्च कालिकावृन्दारिणः । कालिका जातीया । कालिकादेशीया । अमानिनी किम् ? वामोन्वृन्दारिणः । वामोन्जातीया । वामोन्देशीया । “अट्टप्रियादो” [४।३।१४६] इत्युक्तं तत्रापि भवति । कन्याणी चामौ पञ्चमी कन्याणपञ्चमी । कन्याणी चामौ तिसा कन्याणप्रिया । कन्याणमनोरा । अथात्र कथं पुंवद्भावः, मृग्या जौग्न मृगवीग्न, मुकुट्या आण्डन मुकुटपत्र । कान्त शात काण्ठाव ? अर्धलिङ्गस्य पूर्वपदस्य समानेन विहितव्याजोः । अन्ती कान्ता । इति पुंवद्भावानुक्तम् । इति हि चामौ इत्युक्तं यच्च तेषां निवृत्तिद्वारा इत्यादि । अत्रापि पुंवद्भावः प्राप्तः ।

भरूपरूपचेलङ्घ्रुवगोत्रमतहते प्रोऽनेकाचः ॥४१३१५५॥ ईदिति वर्तते । भू, रूप, कल्प, चेलङ्घ्रु, वृष, गोत्र, मत, हत इत्येतेषु परतः उक्तपुस्तकयो य ईकारः स्तीत्यस्तदन्तस्थानेकाचः प्रो भवति । कुमारितरा । कुमारितमा । कुमारिरूपा । कुमारिकल्पा । “तसादौ” इति पुवद्भाव ईकारादन्यत्र सावनाशोऽनेन प्रादेशेन वाच्यते कुमारिचेली । कुमारिवृषा । कुमारिगोत्रा । कुमारिमता । कुमारिहता । चेलङ्घ्रुशब्दः पचादौ पठ्यते । गू. से. वृष इहैव निपात्यते । चेलङ्घ्रुवगोत्रशब्दाः कुत्सनशब्दाः । “कुत्स्य कुत्सनै.” [१३१४८] इति स. । मतहताभ्या विशेषणलक्षणो यसः । अनेकाच इति किम् ? स्तीतरा । स्तितरा । “वा मो.” [४१३१५६] इति विकल्पः । उक्तपुस्तकादिति किम् ? ग्रामलक्ष्मीतरा । वदरीतरा । अनुक्तपुस्तकादपि कचित्प इष्यते । लक्ष्मीतरा । तन्नितरा । ईदिति किम् ? दत्तातरा । गुमातरा । स्तीत्य इति किम् ? नामणीतरा । सेनानीतरा । वा मोरिति विकल्पे प्राप्ते पुरस्तादपवादोऽयम् ।

वा मोः ॥४१३१५६॥ मुमक्षकस्य वा प्रो भवति भादियु परतः । अनेन विशेषेण विकल्पे प्राप्ते पुरस्तादनेकाच ईकारस्य नित्यः प्रादेश उक्तः । ततोऽन्यदुदाहरणम् । एकाच् ईकारः ऊकारः सर्वः । स्तितरा । स्तीतरा । न्तिमा । स्तीतमा । वामोत्तरा । वामोलूतरा । एव रूपादिष्वपि नेयम् । उक्तपुस्तकादगूरिति निवृत्तम् । एकार्थ इत्येतदनुवर्तते । तेन स्तिया हतः स्तीह इत्यत्र न प्रादेशः । कृत्क्षकस्य मोर्न भवतीत्येके । लक्ष्मीतरा । लक्ष्मीतमा ।

उगितश्च ॥ ४१३१५७॥ उगितश्च परस्य मोर्वा प्रादेशो भवति भादियु परतः । श्रेयसितरा । येदलीतरा । विदुषितरा । विदुषीतरा । चशब्दः पक्षे पुवद्भावसमुच्चयार्थः । श्रेयस्तरा । विद्वत्तरा । “भरूप” [४१३१५५] आदिना नित्यः प्रादेशः प्राप्तः पूर्वसूत्राद्वेति व्यवस्थितविभाषाऽपेक्ष्यते । तेनाञ्चतेनित्यः प्रादेशः । प्राचितरा ।

द्यान्महतो जातीये च ॥४१३१५८॥ आकारादेशो भवति महतो जातीये एकार्थे द्यौ च परतः । मराजातीये । मरापुत्रः । महतः सन्महत्परमेत्यादिना प्रतिपदोक्ते द्यौ आत्वं सिद्धम् । एकार्थवर्तन ज्ञेऽपि प्राप्तरार्थम् । मराप्राणः । मराबाहुः । जातीये चेति किम् ? महतः पुत्रो महपुत्रः । आदिति हिमातो चारणमुत्तरार्थम् । पुवच्चजातीयादिसूत्रे पुवदिति योगविभागात्पु वद्भावः । इहादिति योगविभागादात्मन् । तेन “महत्या घासवारविशिष्टेषु व्यधिकरण्येऽपि पुंवद्भावात्वे भवतः” [वा०] महत्या घासो मराप्राणः । महत्या वारो मराकारः । महत्या विशिष्टो महाविशिष्टः । अमहान् महान् सम्पन्नो महद्भूतश्चन्द्रमा इत्यत्र स्यौ निवृत्ते “चिड्वाजूर्यादि” [१२११३२] इति तिस्रः । भूतशब्देन ‘तिङ्प्रदायः’ [१३१२१] इति पक्षे इति गौरवान्पदार्थत्वात्वाभावः । पूर्वोक्तयोगविभागात्विह महतीशब्दस्य पुंवद्भावः अमहती महती सम्पन्ना महद्भूता वन्त्या ।





वा निष्कघोषमिश्रशब्दे ॥४१३१६७॥ निष्क घोष मिश्र शब्द इत्येतेषु परतः पादस्य वा पद्भवति । पादस्य निष्कः पन्निष्कः । पादनिष्कः । पद्घोषः । पादघोषः । पन्मिश्रः । पादमिश्रः । “पूर्वावरसदृश” [१३१२८] इत्यादिना भासः । पच्छब्दः । पादशब्दः ।

उदकस्योद् घोश्च खौ ॥४१३१६८॥ उदकस्य उद् इत्ययमादेशो भवति घोश्च तस्योदकस्य खुविपये । उदकस्य मेघ उदमेघो नाम यत्सौदमेघिः [पुनः] । उदक वहतीत्युदवाहो नाम यस्योदवाहिः पुनः । अपत्येन पिता लक्ष्यते । उदकस्य घोष उद्घोषः । लोहितोदा क्षीरोदा नदी । खाविति किम् ? उदकपर्वतः ।

पेपमि ॥४१३१६९॥ पेपमि त्रौ उदकस्य उद् इत्ययमादेशो भवति । उदकेन पिनष्टि उदपेप पिनष्टि तगरम् । “स्नेहने पिपः” [२१४२७] इति णम् । कथम् उदवास उदवाहनः उदधिरिति ? सजाशब्दा अमो पूर्वेण सिद्धाः । कथमुदधिर्यतः ? उपमानाद्भवति ।

चैकहलि पूर्ये ॥४१३१७०॥ एकोऽसहायस्तुल्यजातीयेन यो हल् तदादौ द्यौ पूर्ये उदकस्य वा उद् इत्ययमादेशो भवति । उदकस्य कुम्भः उदकुम्भः । उदककुम्भः । उदघटः । उदकघटः । उदपात्रम् । उदकपात्रम् । एकहलीति किम् ? उदकस्थालम् । पूर्य इति किम् ? उदकगिरिः । अखावप्राप्ते विभाषेयम् ।

मन्थौदनसक्तुविन्दुवज्रभारहारवीवधगाहे ॥४१३१७१॥ मन्थ औदन सक्तु विन्दु वज्र भार हार वीवध गाह इत्येतेषु परत उदकस्य वा उद् इत्ययमादेशो भवति । अपूर्यार्थोऽयं यतः । उदमन्थः । उदकमन्थः । उदकेनौदनः उदौदनः । उदकौदनः । उदकेन सक्तुः उदसक्तुः । उदकसक्तुः । “भक्ष्यान्नाभ्यां मिश्रणव्यञ्जने” [१३१३०] इति भासः । उदविन्दुः । उदकविन्दुः । उदवज्रः । उदकवज्रः । उदभारः । उदकभारः । उदहारः । उदकहारः । उदवीवधः । उदकवीवधः । उदगाहः । उदकगाहः । मन्थभारहारा अण्णन्ता घञन्ता वा ।

इकः प्रोऽड्याः ॥४१३१७२॥ इगन्तस्य द्यौ वा प्रो भवत्यड्याः । ग्रामणिपुत्रः । ग्रामणीपुत्रः । यवलुपुत्रः । यवन्पुत्रः । अलाबु कर्कन्तु दन्तु फलम् । अत्र पूर्वपूर्वस्य प्रादेशे सति उत्तरेण सविधिः । इक इति किम् ? एट्वापाद । मालापादः । अड्या इति किम् ? गार्गीपुत्रः । दासीपुत्रः । वेति व्यवस्थितविभाषाश्रयणादिह न भवति । कारीप्रगन्धीपुत्रः । कारीप्रगन्धीपतिः । क्रिप्रजेयुवा च न प्रादेशः । काण्डीभूतम् । कुड्डीभूतम् । पीकुलम् । भुकुलम् । भ्रुकुसादीना तु प्रादेशो भवत्येव । भ्रुकुसः । क्वचिदन्यदेव । भ्रुकुसादीनामकारा-ञ्चान्तादेश इष्यते । भ्रुकुसः । भ्रुकुटिः ।

त्वे ड्यापो कचित्खौ च ॥४१३१७३॥ त्वे परतो ड्यन्तस्य आग्रन्तस्य कचित्प्रो भवति खौ च द्यौ । गजत्वम् । अजत्वम् । रोहिणित्वम् । रोहिणोत्वम् । त्वे छान्दसः प्रयोग इति केचित् । खौ—रेवतिमित्रः । रोहिणिमित्रः । भरणिमित्रः । कच्चिन् भवति । नान्दीकः । नान्दीघोषः । आग्रन्तस्य शिलाया वहः शिलवहः । शिलप्रत्य । शिगपरत्वम् । न च भवति लोपिग्राहम् । लोपिकापण्डम् । कचिद् ग्रहण बहुलार्थम् ।

एति चैका ॥४१३१७४॥ एति परतो द्यौ च एका इत्येतस्य प्रो भवति । एकस्या आगतम् एकल-प्पम् । एवमयः । “हेतुमनुप्याह रूप्य” [३१३५५] “मयट्” [३१३५६] इति च रूप्यमयदौ । एकस्या-भाव एकत्वम् । एका । गुणवचनत्वे “तसादौ” [४१३१४७] त्वतलोर्गुणवचनस्य इति पुनश्चावेन सिद्धत्वा-ज्यन्तेः प्रष्टव्यम् । यौ एस्या क्षीरम् एक्षीरम् । एकदुग्धम् । एका प्रिया अस्य एकप्रियः । एकमनोज्ञः ।

मालेरीक्षेष्टकानां भारितूलचित्ते ॥४१३१७५॥ माला, इषीका, इष्टका इत्येतेषां प्रो भवति भारितु-ल चित् त्वेतेषु परत । मालभारी । मालभारिणी । इषीकतूलम् । इष्टकचित्तम् । क्वचिदित्यनुवृत्तेर्मालादिभि-रुपपत्तिरिति । उपलमालभारिणी । मुञ्जेपीकतूलम् । पक्वेष्टकचित्तम् ।

खित्यभेः ॥४१३१७६॥ खिदन्ते द्यौ अजन्तस्य प्रो भवत्यभेः । कालीमात्मान मन्यते कालिम्मन्या । रोहिणिम्मन्या । “खश्चात्मनः” [२।२।७१] इति खञ् । खित्यनन्तरः प्रादेशभागास्तौत्तुक्तम् । अभेरिति प्रतिपेधाच्च खिदन्ते द्यौ पूर्वस्य प्रपरोऽपि “मुमचः” [४।३।१७७] इति प्रादेशेन वाच्यते । अभेरिति किम् ? दोषामन्यमहः । ठिवात्मन्या रात्रिः ।

मुमचः ॥४१३१७७॥ पूर्वस्य पदस्याजन्तस्य खिदन्ते द्यौ मुम् भवत्यभेः । प्रियवदः । वगवदः । कालिम्मन्या । हरिणिम्मन्या । “विध्वरूपोस्तुदः सखम्” [२।२।३७] इति सखे कृते मुम् । विद्युन्तुदः । अरुन्तुदः । “द्विपन्तपेरस्मद्” [२।२।३८] इति निपातनाद् द्विपन्तपः । अच इति किम् ? विद्वन्मन्यः ।

अमेकाचोऽस्वत् ॥४१३१७८॥ अच इति वर्तते । अजन्तस्य पूर्वपदस्यैकाचोऽम् भवति खिदन्ते द्यौ अमीवास्मिन् कार्यं भवति । आत्वपूर्वस्यैवि युवादिप्रयोजनम् । अवर्णान्तस्यामि नास्ति विशेषः । अनवर्णान्तमुदाहरणम् । गाम्मन्यः । स्त्रीम्मन्यः । स्त्रियम्मन्यः । नृशब्दस्य नरम्मन्यः । श्रियम्मन्यः । भ्रुवम्मन्यः । नात्रमा मान मन्यते नावम्मन्यः । प्रादेशमुमोरयमपवादः । एकाच इति किम् ? लेखाक्र मन्यः । अच इत्येव द्विपन्तपः । निपातनाद् वाचयमपुरन्दरो । अमित्यागमलिङ्गादपरोऽपि मकारः प्रयोगश्रवणार्थं । स्कान्तलेन निर्दिष्टः । अथेह कथम्भवितव्यम्, श्रियमात्मान कुल मन्यते इति ? उच्यते—श्रीशब्द आविष्टलिङ्गः स्त्रियामेव वर्तते रति श्रियम्मन्यमिति भवितव्यम् । अन्ये मन्यन्ते त्वलिङ्गान्तरेऽपि वृत्तिर्दृष्टा । यथा प्रष्टादिशब्दानां पुयोगात् स्त्रिया वृत्तिः । प्रष्टी । प्रचरी । गणकी । एव श्रीशब्दस्य कुले वर्तमानस्य नपु सकृलिङ्गत्वं “प्रो नपि” [१।१।७] इति प्रादेशः । अम्बदतिदेशात् “नपः स्वमोः” [५।१।२०] इत्युप् । “मध्येऽपवादाः पूर्वान् पिरीद वाधन्ते नोत्तरान्” [प०] इति “सुपो धुमृदोः” [१।४।१४२] इत्यस्तेवोरोऽमागमो वाधका नोत्तग्न्य तेन श्रिमन्यमिति भवितव्यम् । एतच्च नातिरिहलट्म् । वेदः प्रमाणमित्यादौ लिङ्गान्तर प्रसज्येत ।

सत्यागदास्तोः कारे ॥४१३१७९॥ सत्य, अगद, अन्तु इत्येतेषां कारे यो मुमागमो भवति । सत्यङ्कारः । अगदङ्कारः । अणि अणि वा काररूपम् । अन्तुशब्दे निमज्जोऽभ्युपगमे वर्तते । अन्विच्यन् कर्णम् अस्तुङ्कारः ।

रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य ॥४१३१८०॥ रात्रिशब्दस्य कृति द्यौ मुमागमो भवति प्रभाचन्द्रस्याचार्येण मनेन । रात्रिचरः । रात्रिचरः । रात्रिमाटः । रात्र्याटः । कृदग्रहणमामर्थ्यादयमप्राप्ते विरह्य । त्विति पूर्तिर्निर्गतानित्य मुमागमः । रात्रिमन्यमहः । रात्रेनन्तरः कृत्वास्तीति कृदन्तग्रहणम् । ननु रात्रिरिवाचरतीति “अप्राप्तं सर्वमृदभ्यः क्तिप्” [२।१।६ वा०] इति तदन्तात्कृत्किवन्ति । यदि तदर्थं कृदग्रहणं स्यात् । रात्रेः कृति निर्देशं कुर्यात् । क्विदन्तस्य तु रात्रिशब्दस्य अन्यरिमन् कृदन्ते मुम् स्यात् गौणत्वात् ।

नजोऽन् ॥४१३१८१॥ नजोऽनित्ययमादेशो भवति द्यौ । न हिमा अह्निवा “नज्” [१।३।६८] स्या इति पठ्यते । अनेकाच्चात्त्वन्वादेशोऽन् । स्थानिवद्भावेन पदादेशः पदवद्भवति इति नयम् । एवम् अने० । अन्तेयम् । सानुन्यननिर्देशः किमर्थं ? वामनपुत्र पामनपुत्र इत्यत्र माभूत् । यावन्नेव । न मुदृक्ते । “नजोऽन् भावे क्षेपे मिद्व्युपसंयानम्” [वा०] । अस्मैपि त्व जालम् । अपर्चासि त्व जालम् ।

अचि ॥४१३१८२॥ अत्राद्यौ च यौ नजोऽन् भवति । अनन्त । अनादि । अनुपगो विप । पुनरिति नवनेवृत्तयम् । “अदोऽनजे” [२।२।६०] इति नपमनजो नोऽदृष्टान् भवति ।

नभ्राणपाशवेदानामन्यान्मुचिनदुलनखनपुंसकननननकनाकनागा ॥४१३१८३॥ नभ्राणपाशवेदानामन्यान्मुचिनदुलनखनपुंसकननननकनाकनागा । नभ्राणपाशवेदानामन्यान्मुचिनदुलनखनपुंसकननननकनाकनागा । नभ्राणपाशवेदानामन्यान्मुचिनदुलनखनपुंसकननननकनाकनागा । नभ्राणपाशवेदानामन्यान्मुचिनदुलनखनपुंसकननननकनाकनागा ।

अ० ४ पा० ३ सू० १८४-१८६ ]

महावृत्तिसहितम्

नशब्दो निपात्यते । न पाति न वा न पाति नपात् । नपुसकलिङ्गे शत्रन्ते पोतो पूर्ववन्निपातनम् । न वेत्ति न वा न वेत्ति नवेदाः । “अस् सर्वधुम्यः” [३० सू०] इति विदेशम् । “अत्वसोऽधोः” [४१४१२] इति दीत्वम् । सत्सु सार्वा सत्या न सत्या नसत्या । पुनर्नञ्से नासत्या । नजः प्रकृतिभावः । पुत्यपीद निपातनम् । नासत्या नाम केचित् । न मुञ्चति न वा न मुञ्चति मुचेरौणादिके इकि नमुचिः । नास्य कुलमस्ति न वानकुलमस्ति नकुलम् । नास्य समस्ति न वा न समस्ति नराः । न स्त्री न पुमान् नपुसकः । स्त्रीपुसयोर्नपुसकभावो नजश्च प्रकृतिभावः । न क्षरति न क्षीयते इति वा नक्षत्रम् । क्षरतेः क्षीयतेर्वा क्षन्नावो नजश्च प्रकृतिभावः । न क्रीणति न क्लाम्तीति वा नकः । क्रीत्रः क्लमेर्वा डत्यो नजश्च प्रकृतिभावः । अक अग कुटिलाया गतावित्यनयोः पचाग्रचि अकागौ भवतः । नाकः । नागः । नजः प्रकृतिभावः अथवा नास्मिन् क दुःखमस्ति नाफः । न गच्छतीत्यगः । एतेषा रुदिशब्दानां यथा कथञ्चिद् व्युत्पत्तिः ।

एकात्रः ॥४१३१८४॥ एकान् इति निपात्यते द्यो । एकेन न विशतिः एकात्रविशतिः । एकेन न त्रिशत् । नञो विंशतिशब्देन “नञ्” [११३१६८] इति पठः । एकशब्दस्य भान्तस्य न विंशतिशब्देन “साधन कृता बहुलम्” [११३१२६] इति बहुलवचनाद् भेति योगविभागात्पसे कृते एकशब्दस्यादुक् नजश्च प्रकृतिभावो निपात्यते । अदुक्ः पूर्वान्तकरण “चरो ङो विभाषा ङे” [५१४१२५] इति विकल्पेन दार्थम् । एपाद्नविंशति । एपाद्नत्रिशत् ।

नगो वाऽजीवे ॥४१३१८५॥ नग इति वा निपात्यते अजीवेऽर्थे । नगा वृक्षाः । नगा. शालयः । नगा. पर्वताः । अगा वृक्षाः । अगाः शालयः । अगाः पर्वताः । न गच्छन्तीति सुपि वाचि “गमेड्.” [२१२१४६] वाक्सः । अजीव इति किम् ? अगो देवदत्तः शीतेन ।

सहस्रस्य सः खाँ ॥४१३१८६॥ सहस्य स इत्ययमादेशो भवति खुविषये । द्याविति वर्तते । सदाश्वत्येन वर्तते साश्वतम् । सपलाशम् । सर्शिशपम् । वननामधेयम् । सरसा दूर्वा । “तेन” [११३१६०] “सहेति तुल्ययोगे” [११३१६१] इति वसः । “वा नीच.” [४१३१६०] इति विकल्पे प्राप्ते अयं विधिः । खाविति विम् ? सहस्रत्वा । सहस्रत्वा । सहस्रद्वान् । “राशि युधि कृज्.” [२१२१८२] “सहे” [२१२१८३] इति कनिप् ।

ग्रन्थान्तेऽधिके ॥४१३१८७॥ ग्रन्थान्ते अधिके च वर्तमानस्य सहस्य स इत्ययमादेशो भवति । ग्रन्थान्ते हसः । सकम् ज्यौतिप्रमधीते । समुहूर्तमधीते । कला कलावशेषः मुहूर्तश्च तत्सहचरितो ग्रन्थोऽपि त गेत्तः । कलामन्त कृत्वा मुहूर्तमन्त कृत्वा । साकल्यान्तोक्तौ हसः । “हेष्काले” [४१३१८६] इति काले प्रति-  
पेधादनेन सादेशः । अधिके सः । सह द्रोणेन वर्तते सद्रोणा सारी । समापः कार्पापणः । सकाकणीको भापः । “वा नीच.” [४१३१६०] इति विकल्प प्राप्ते ।

द्वितीयेऽनुपाख्ये ॥४१३१८८॥ द्वितीयेऽनुपाख्यायमाने सहस्य स इत्ययमादेशो भवति । द्वयोः सहस्रयोर्न्यभूतो द्वितीय । स एवाप्रत्यङ्गोऽनुपाख्य उक्तः । साग्निः कपोतः । समूसलः घ्रीहिकसः । सपिशाचा वात्या । सगधनीना शाला । अग्न्याधयोऽप्रत्यङ्गानुपलभ्यमानाः कपोतादिभिरनुमीयमानत्वादनुपाख्याः । अनुपाख्य इति किम् ? सच्छान् सहस्रान् उपाख्यायः । उपाख्यायत इत्युपाख्यः । “युड्या बहुलम्” [२१३१६४] इति एतदन्तत्वात् “यतो गौ” [२१३१८६] इति कर्मणि कः ।

हेऽन्तले ॥४१३१८९॥ हन्ते सहस्य न इत्ययमादेशो भवत्यन्तलाचिनि द्यौ । सचक्र धेहि । सधुर पाज । उपसचमे । उपसचरो । “चौगपच” [११३१७] इति हसः । “ऋक्पूरव्यू पयोऽनन्ते” [४१२१७०] इति एतेऽन्त गन्त । नगल इति किम् ? सहस्रार्हम् । सहापराहम् । योगपये साकल्योक्तौ ना हसः ।

धा नीचः ॥४।३।१६०॥ नीचोऽवयवस्य सहशब्दस्य वा स इत्ययमादेशो भवति यौ । सशिष्यः सहशिष्य आचार्यः । सपुत्रः सहपुत्रः पिता । नीच इति किम् ? मद्यु वा । सहकृत्वा । नात्र समुदायस्य नीचोऽवयवः सहशब्दः । नीच इति समुदायस्य विशेषणं सहशब्दस्य सर्वत्र विधौ न्यक्त्वात् । इह मद्युद्विप्रियः । प्रियमनुवेति च सहस्य म. कस्मान्न भवति । यदत्र यु तदपेक्षया न सहशब्दो नीचोऽवयव इति न भवति ।

नाशिष्यगोचत्सहले ॥४।३।१६१॥ आशिषि महस्य सादेशो न भवति गोत्रसहत्ववर्जिते यो । न्वन्नि सहशिष्याय गुरवे । सस्ति राजे महपुत्राय । अगोचत्सहल इति किम् ? न्वस्यन्तु मगवे महगवे । मन्नाय सहवत्साय । सत्लाय सहहलाय ।

समानस्य स ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्यानवर्णवयोवचनबन्धुषु ॥४।३।१६२॥ समानस्य स इत्ययमादेशो भवति ज्योतिष्, जनपद, रात्रि, नाभि, नाम, गोत्र, रूप, स्यान्, वर्ण, वयम् वचन, बन्धु इत्येतेषु परतः । समान ज्योतिरस्य सज्योतिः । यदि वा समान च तज्योतिश्च सज्योतिः । “पूर्वापरप्रथम” [१।३।५३] इत्यादिना यमः । सजनपदः । सगरात्रिः । सनाभिः । सनामः । सगोत्रः । सरूपः । सस्यान्ः । [सवर्णः । सवयाः ।] सवचनः । सवन्धुः । यमेऽभिधेयवर्जित्वम् । यमे च परवर्जित्वम् । समानर्केति योगविभागादन्येष्वपि सादेशः । तेन सधर्मा । सपञ्चः । सगन्धः । सदेशः । समानजार्तीयः । “जानेद्भ्यो बन्धुनि” [४।२।१८] इति स्वार्थे छः । समाने तीर्थे भवः सतीर्थः । दिगादिन्वाय ऽन्येवमादि मिडम् ।

सब्रह्मचारी ॥४।३।१६३॥ सब्रह्मचारीति निपात्यते चरणे गम्यमाने । समानो ब्रह्मचारी समाने ब्रह्मणि व्रतं चरति वा सब्रह्मचारी । समाने आगमे व्रतचारीत्यर्थः ।

सोदर्ये ॥४।३।१६४॥ उदर्यशब्दे द्यौ समानस्य वा स इत्ययमादेशो भवति । समानोदरे शयितः सोदर्यः । समानोदर्यः । “समानोदरे शयितः” [३।३।२०८] इति यः । कथं युविष्टिग्नोदरे वृकोदर इति । समानस्येति योगविभागात् ।

दृशदृक्दृक्षन्तौ ॥४।३।१६५॥ दृश दृक् दृक्षन्तु इत्येतेषु परतः समानस्य स इत्ययमादेशो भवति । समानो दृश्यते सदृशः । बहुलवचनान्कर्मणि दृगादिः । अन्यथा वा व्युत्पत्तिमात्रं सार्थम् । समानमात्मानं पश्यति सदृशः । सदृक् । सदृक्षः । “त्यडादौ दृशोऽनालोके टक् च” [२।२।५८] इत्यत्र ‘समानान्ययोश्च’ [वा०] टीका वचनादृक्किञ्च भवति । कसोऽप्यन्मादेव निर्दृशात् तत्र स्पर्शः । वतु समानशब्दात्परो न सम्भवतीति वृत्तिः एतुत्तरार्थम् ।

किमिदमोः क्रीश् ॥४।३।१६६॥ किम् इदम् इत्येतयो क्री ईश इत्येतावादेशो भवतः दृगादिः पठतः । क इव दृश्यते किमिव पश्यति वा क्रीदृशः । क्रीदृक् । क्रीदृक्षः । किम्पिमागमन्त्रं कियान् । “किम्” [३।४।१६०] इति वतुर्वसाम्न्य च घः । अयमिव दृश्यते इममिव पश्यति वा ईदृशः । ईदृक् । ईदृक्षः । इमम्पिमागमन्त्रं इयन् । “इदमो वो घ” [३।४।१६१] इति वतुर्वसाम्न्य च घः । “आ सर्वनाम्न” [४।३।१६७] इत्याचन्यापवादोऽयम् ।

विष्वदेवयोश्च ढेरद्वयञ्चौ कौ ॥४१३१६८॥ विष्वग् देव इत्येतयोः सर्वनाम्नश्च ढेरद्विगदेशो भवत्यञ्चतौ क्यन्ते परतः । विषुवतीति विषुः । विषुमञ्चतीति ऋत्विगादिसूत्रेण यौ कृते विष्वक् । विष्वज्जमञ्चतीति कावागतनिवृत्ते नलम् । वाक्पे सुः । “उगिदचाम्” [५१४४६] इति नुम् । हल्ङ्गादिग्वे । स्फान्तस्ते । “विष्व-  
स्य कु.” [५१३७५] इति नकारस्य ङकार । विष्वद्वयङ् । यद्वयङ् । तद्वयङ् । कद्वयङ् । विष्वग्देवयोश्चेति किम् ? वृक्षमञ्चतीति वृक्षाङ् । अज्ञापिति किम् ? विष्वयुक् । देवयुक् । काविति किम् ? विष्वगञ्जनम् । देवाञ्जनम् । ननु कावेवाञ्चति. केवलो धुर्भवति तत्किं किग्रहणेन । इदं किग्रहणं जापकम्—“अन्यत्र धुग्रहणे ध्वाढे समुदाय-  
स्य ग्रहणम्” [५०] इति । तेन कृकम्पादिसूत्रे अयस्कृतमयस्कार इत्याद्यो मत्व सिद्धम् । अन्यथेहैव त्यात् । अयस्कृदिति ।

समः समि ॥४१३१६९॥ समः समीत्यमादेशो भवत्यञ्चतौ क्यन्ते परतः । सम्भङ् । सम्भञ्चौ सम्भञ्च । एका मिद्रे समिरिति वचनम् “अनित्यमागमशासनम्” [५०] इति जापयति । तेन वान्त इत्यादि मिद्धम् ।

तिरसस्तिर्यखे ॥४१३२००॥ तिरस्तिरित्ययमादेशो भवत्यञ्चतौक्यन्ते परतो यवाञ्चतेग्नारस्य रा न भवति । तिर्यङ् । तिर्यञ्चौ । तिर्यञ्चः । तिर्यग्न्याम् । तिर्यग्भिः । अरा इति किम् ? तिरश्च । तिरश्चा । अन्त्यसारस्य एम् । न विग्रते अञ्चतेर्धिशेषविरहितमकारस्य ख यस्मिन् । हलुङो नरा तु सर्वमाधारणं न तस्येह पर्थुदास । न त्वस्य राभिति तस्मिन् तिरिभाव. “तिरश्च्यपवर्गे” [२१४४५] इति निर्देशात् । ननु च “तिवाकार-  
काणा कृद्भि सविधि.” [५०] इति कृन्ते नैवाञ्चतिना वृत्तौ कृताया सुवन्तत्वाभावात्कथमञ्चतेर्धुसजा । नेप दोष. । अभ्रविलितीत्येवमादौ विषये तिवाकारकाणामित्यस्य व्यापारो न सर्वत्र ।

सहस्य सध्रिः ॥४१३२०१॥ सस्य सध्रिरादेशो भवत्यञ्चतौ क्यन्ते परतः । सध्र्यङ् । सध्र्यञ्चौ सध्र्यञ्च । सध्रीच । सध्रीचा । “अच” [४१४१२५] इत्यखम् । “चौ” इति दीत्वम् ।

द्वानगोरीदपः ॥४१३२०२॥ द्विशब्दादनवर्णान्ताच्च गोः परस्य अपशब्दस्य ईकारादेशो भवति । द्विगता आपो यस्मिन्निति द्वीप. । प्राक् “परस्यादे.” ईकारः पश्चात् “ऋकपूरब्धूः” इत्यः सान्तः । “अन्त गन्दस्य अ(त्ता)द्विविधिण्येषु गिलज्ञोक्ता” [वा०] अन्तर्गता आपोऽस्मिन्नन्तरीपः । समीपम् । वीपम् । इति क्रियायोगाभावाद्भिन्नजोपलक्षिताना प्राचीना ग्रहणम् । अनगोरिति किम् ? प्रापम् । परापम् । समापम् ।

देशेऽनोरु ॥४१३२०३॥ देशाभिधानेऽनो. परस्यापः उकारादेशो भवति । अनुगता आपोऽस्मिन्नि-  
त्यनूपो देश । देश इति किम् ? अन्वीप वनम् । कथं कूप. सूपः अनूप इति ? वृषोदरादिपाठात् ।

हकारकेऽन्यस्य दुक् ॥४१३२०४॥ ह्रै कारके च परतोऽन्यस्य दुगागमो भवति । अन्यस्येदम्  
अन्यस्मिन् भव वा अन्यधीयम् । गरादिपाठाच्छुः । अन्यस्य कारकम् अन्यत्कारकम् । अन्यः कारकः अन्यत्कारकः ।

अताभास्यस्याशीराशास्यास्थितोत्सुकोतिरागे ॥४१३२०५॥ अतास्यस्याभास्यस्य चान्यस्य  
दुगागमो भवति आशिप् आशा आरसा आस्थित उत्सुक उति राग इत्येतेषु परतः । अन्या आशी. अन्यदाशीः  
अन्या आशा अन्यदाशा । अन्या आस्था अन्यदास्था । अन्य आस्थित. अन्यदास्थितः । अन्य उत्सुक. अन्यदुत्सुकः ।  
अन्या उति अन्यदुति । अन्यो राग. अन्यद्राग. । “विशेषणं विशेष्येणेति” [१३१५२] यसः । अताभास्य-  
स्येति भिन्न । अताभासा अन्याशा । अन्येनास्थित. अन्यास्थितः ।

वाऽथे वा ॥४१३२०६॥ अन्यन्य वा दुग् भवति । अन्योऽर्थः, अन्यन्मे अर्थः अन्यदर्थः । अताभास्य-  
स्येति । अन्यन्यार्थोऽन्यार्थः । अन्येनार्थोऽन्यार्थः ।

स्थवदयोः ॥४१३२०८॥ स्थ वद इत्येतयोः पगतः कोः कद् भवति पमे । कुत्सितो ग्यः कद्गः । कुत्सितो वदः कद्गः ।

तृणे जातौ ॥४१३२०९॥ तृणे यो कोः कद्भवति समुदायेन जातावभिधेयायाम् । कत्तृणा नाम जातिः । तस्या अवयवः कत्तृणम् । जाताविति किम् ? कुत्सितानि तृणानि कुत्तृणा न ।

का पथ्यजयोः ॥४१३२१०॥ कोः का इत्ययमादेशो भवति पथिन् अन्न इ येतयोः पगतः । कुम्भितः पन्थाः कापथः । कुम्भितमन्नं काजम् । अन्नशब्दस्य अस्मिन्तस्य कृतान्तस्य चाविशेषेण ग्रन्थम् । पम इति निवृत्तम् । कुम्भितेऽक्षिणी अस्य कात्तः । “स्वाङ्गाद्देशचिम्बन्” [४१३११३] इति ट् सन्तः । पथ-शब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति । तस्य कुपथमिति पे भवति ।

ईपदर्थे ॥४१३२११॥ ईपदर्थे कोः का भवति । ईपत्कटुक काकटुकम् । सामुग्रम् । सालग्रम् । “तिकुप्रादयः” [११३१८१] इति सः । “कक्कोः पेऽचि” [४१३२०७] इति तत्रोपलक्षणमात्रम् । अज्ञादापि परत्वात्कादेश एव । कास्त्वम् ।

पुरुषे वा ॥४१३२१२॥ पुरुषशब्दे यो कोः का इत्ययमादेशो भवति वा । कुम्भितः पुरुषः कापुरुषः । कुपुरुषः । अप्राप्ते विकल्पोऽयम् । ईपदर्थे पूर्वनिर्णयेन नित्यं कादेशः ।

कवमुष्णे ॥४१३२१३॥ कोः स्थाने कवरूप भवति उष्णे परतः का च वा । कवशब्दो नपुंसकलिङ्गो निर्दिष्टः । कवोष्णम् । कोष्णम् । आभ्या मुक्ते “कक्कोः पेऽचि” [४१३२०७] इति कद्भावे कटुणम् । अनीपदर्थे कटुणमेव ।

पृषोढरादीनि यथोपदिष्टम् ॥४१३२१४॥ पृषोढप्रकाशेण शब्दरूपाणि यथोपदिष्टमायुनि भवन्ति । यथा तेषु वर्णनाशागमवर्णविकाराः विशिष्टैः प्रयुक्ता दृश्यन्ते तथैव तेषां मायुत्वमित्यर्थः । उपदिष्टानतिक्रमेण यथोपदिष्टम् । ये ये उपदिष्टाः इति व्रीमाया वा हम् । पृषुदुग्मस्य पृषोढः । पृषादगः स्यात् । पृषत उद्धान पृषोद्धानम् । तस्मात्स्य ख निपात्यम् । अश्वयः । कपियः । मर्हियः । दकियः । अत्र उपदिष्टानि कपिग्वि निष्ठति मर्ह्या तिष्ठति दधीव तिष्ठति । “सुपि” [११३१७३] इति न्य ङ । तस्मात्स्य तय निपात्यम् । मरीशब्दस्य ‘त्वे इवापो कच्चिर्वा च’ [४१३१७३] इति प्रादेशः । वारिवात्को बलात् । वारि शब्दस्य वराब्दः परस्य चादेर्लृत्वं निपात्यम् । जीवनस्य मूत जीमूतम् । वनशब्दस्य खम् । मर्ह्या गौरी मयूरः । रौनेरचि ण्वि मरीशब्दस्य च मयूभावः । शवस्य शयन श्मशानम् । शवशब्दस्य श्मा श्मशानस्य च शानम् । वृषन्तोऽस्या मीढन्तीति वृमी । वृषच्छब्दस्य वृभावः मदेर्वृढान्य च मीभावः । ‘पप उद्वं दन्तदशधामूत्तरपदादेः पृद्वं च’ “धाशब्दे तु वा पप उद्वम्” । पट् दन्ता ग्रन्थ पात्यम् । “वयसि दन्तस्य दन्तु” इति दन्तादेशः । पट् च दश चेति षोडश । पट्भिः प्रसङ्गः षोडश । पट्पाता । इ’ पट् दधानीति स्त्री । आत के कृते दापि च पट्पा । लाजगिस्त्वाङ्गुवाभावः ‘दिकृच्छब्देभ्यस्तीगस्य तागभावः’ । दक्षिणस्य तीगम्, दक्षिणतागम् । उत्तरतागम् । “वाचो वादे दन्वं बलभावश्चोत्तरपदस्येति निपात्यते” । वाग्वादनस्य वाद्वलि । एवमन्तेऽप्यृद्धा शब्दाः । पिशितागः । पिशाचः । मुट्, न्यन्त लार्जीति न्यन्त । ऊर्ध्वस्पर्श उल्लङ्घ । मेतन्त्य न्वन्त मात्वा मेवला । कौ जीर्णति कुञ्जरः । ऊर्ध्वं स्वमन्त उद्वन्त ।

“वर्णांगमो वर्णविपर्ययश्च द्वो चापरां वर्णविकारान्तरां ।

यना तदर्थोऽतिशयेन योगान्नदच्यते वर्णवर्था निरुक्तम् ॥”

भवार्थे आगतस्य कालाद् उजः “रस्योवनपत्न्ये” [३११७४] इत्युपि डो कृते “वा ढिग्यो. [४१४१२४] उति वाऽनोऽसम् । द्वयहि । द्वयहनि । द्वयहे । यावत्सु अहस्सु भवो यावदहः । “वतोर्वेद्” [३१४२०] इत्यत्र वत्तन्तस्य सख्यासजोक्ता । डौ यावदहि । यावदहनि । यावदहे । विगतमहर्ष्यहः । “तिकुप्रादय ” [११३८१] उति पसः । डौ व्यहि । व्यहनि । व्यहे । मायमहः । सायाह । विशेषणसविधिः । सायशब्दस्य भिन्नजकल्यात एव निपातान्मकारस्य सम् । अकारान्तस्य सम्भवेऽह्नादेशो निपात्यः । सायाहि । सायाहनि । सायाहे । सख्या-विसायादेरिति किम् ? पूर्वाह्ने गतः । पूर्वमहः पूर्वाह्नः । विशेषणसविधिः । “अतोऽह्नु.” [५१४६१] इति एत्वम् ।

दूखे पूर्वस्याणो दीः ॥४१३२१६॥ ढकाररेफयोः ख यस्मिन् वर्णे स दूखस्तस्मिन् पूर्वस्याणो दीर्भवति । पसेऽप्यदोषः । खस्याभावरूपत्वेऽपि पौर्वापर्यं बुद्धिकृतम् । यथा वर्णयोरयौगपद्येऽपि अचीको यणि-त्येवमादौ । लीढमुपगूढ मूढेन । अग्नी रथम् । वायू रथम् । पुना रक्तं वासः । दूख इतीन्निर्देशात् पूर्वस्येति लब्धे पूर्वग्रहणं किम् ? पूर्वमात्रस्य यथा द्यावेव स्यात् । अन्यथा द्यावेव स्यात् । नीरक्तम् । दूरक्तम् । इह न स्याद् अजर्थाः इति । जर्घः लडः सिप् एप् । भग्भावः । धकारस्य जश्त्वम् । “सिपि रिर्वी” [५१३८१] “द.” [५१३८२] इति रि । अण इति किम् ? वृहू वृढः । वृहू वृढः ।

सहिहोऽस्यौः ॥४१३२१७॥ सहिवहोरवर्णस्य ओकारादेशो भवति दूखे । सोटा । सोढुम् । सोढवम् । वोढा । वोढुम् । वोढव्यम् । अस्येत्यणग्रहणादैपि कृतेऽपि भवति । उदवोढाम् । उदवोढम् । उदवोढ । उत्पूर्वाद्धेर्लुङ् । तसस्ताम् । थसस्तम् । थस्य तः । “भूलो भूलि” [५१३४४] इति सेः खम् । एत्वादेशसिद्धत्वाद् “मजवद्” [५११७६] इत्यादिना प्रागैप् । अस्येति किम् ? ऊढवान् ।

कर्णे लक्षणस्याविष्टाष्टपञ्चभिन्नछिन्नछिद्रस्तुवस्वस्तिकस्य ॥४१३२१८॥ कर्णे द्वौ लक्षण-वाचिनो दीर्भवति विष्टादीन् वर्जयित्वा । दात्रमिव दात्राकर्णः । शङ्ककर्णः । द्विगुणाकर्णः । द्वयङ्गुलाकर्णः । द्वयोरङ्गुल्योः समाहारो द्वयङ्गुलम् । “पेङ्गुलेभिर्संख्यादेः” [४१२८८] इति सान्तः । लक्षणस्येति किम् ? शोभनकर्णः । शोभनत्व तत्त्वाख्यानं न तु लक्षणम् । अतएव तत्त्वाख्यानादिहापि न भवति । लम्बकर्णः । प्रविटकर्णः । अथवा लक्षणशब्देन चिह्नविशेषोऽभिप्रेतः स्वामिविशेषसम्बन्धजापनार्थम् । पशूना ढात्राकारादि चिह्नं लक्षणम् । तदभावाल्लम्बकर्णादिषु न भवति । अविष्टादेरिति किम् ? विष्टकर्णः । अष्टकर्णः । पञ्चकर्णः । भिन्नकर्णः । छिन्नकर्णः । छिद्रकर्णः । स्तुवकर्णः । स्वस्तिककर्णः ।

नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु कौ ॥४१३२१९॥ नहि वृति वृषि व्यधि रुचि सहि तनि रतेषु किमन्तेषु परत पूर्वपदस्य दीर्भवति । नहि-उपानत् । परीणत् । वृत्-नीवृत् । उपावृत् । वृषि-प्रावृत् । व्यधि-मर्भवित् । एट्प्राति । श्वावित् । रुचि-अतीरुक् । अभीरुक् । कथं मलरुक् । श्वेतरुक् ? सम्पदादिक्रिपि न भवतीत्यदोषः । अथवा तिमरकदीत्वमिष्यते । सहि-जलासट् । तुरासट् । तनि-परीतत् । “गमः कौ” [४१४११] इत्यत्र “गमादीना एखमिष्यते” [वा०] । काविति किम् ? उपनहनम् ।

गिरिवने किंशुलुकोटराद्योः खौ ॥४१३२२०॥ गिरि वन इत्येतयोः परतो यथासख्य किंशुलुका-दीना कोऽगदीना च दीर्भवति खौ । गिरौ-किंशुलुकागिरिः । अञ्जनागिरिः । नलागिरिः । वने-कोटरावणम् । निषावावणम् । निभ्रावावणम् । किंशुलुकनोटराद्योरिति किम् ? कृष्णगिरिः । भद्रसालवनम् । नन्दनवनम् ।

चले ॥४१३२२१॥ चले त्वे परतः पूर्वस्य दीर्भवति । आसुतीवलम् । दन्तावलः । मत्वर्थे “रजःकृष्या-सुपरिपन्ने चल ” [४११३८] “दन्तशिखात् खौ” [४११३६] इति च चलः ।



मतो बह्वच्युरादेरनजिरादेः ॥४॥३॥२२॥ मतो परतः बहुचः शरादीना च दीर्भवति अजिरादीन् वर्जयित्वा खौ । उदुम्बरावती । मशकावती । वीरणावती । पुष्करावती । उदुम्बरा अस्मिन् ढेओ मन्ति “तदस्मिन्-स्तीति देशः खौ” [३।२।५७] इत्यणि प्राप्ते “नद्यां मनुः” [३।२।६५] इति मनुः । शरादीना शरावती । वशावती । [शर ।] वंश । धूम । अहि । कपि । मणि । मुनि । शुचि । इति शरादि । बह्वच्युरादेरिति किम् ? इज्जुवती । मधुवती । “खौ” [५।३।३२] इति मतोर्वत्वम् । अनजिरादेरिति किम् ? अजिग्वती । गदिग्वती । अलिनधती । चक्रवाकवती । कारण्डवती । खाविति किम् ? वलयवती ।

इको घहेऽपीलोः ॥४॥३॥२३॥ इगन्तस्य पीलुवर्जितस्य बहे द्यौ दीर्भवति । खाविति वर्तते । ऋषीयम् । मुनीवहम् । पचाद्यजन्तेन बहशब्देन तामः । इक इति किम् ? पिण्डवहम् । अपोलोर्गिति किम् ? पीलुवहम् । “अपील्लादेरिति वक्तव्यम्” [वा०] । दासवहम् ।

गेः कासे ॥४॥३॥२४॥ इक इति वर्तते । इगन्तस्य गे. कासे द्यौ दीर्भवति । नीरामम् । वीरामम् । अनूकासम् । पचाद्यजन्तस्य कासस्येष्ट ग्रहणम् । इक इत्येव । प्रकाशते इति प्रकाशः ।

दस्ति ॥४॥३॥२५॥ दा इत्येतस्य यस्कार आदेशस्तदादौ परत इगन्तस्य गेर्दीर्भवति । नीत्तम् । वीत्तम् । परीत्तम् । “गेस्तोऽच.” [५।२।१४६] इत्याकारस्य तकारः । टकारचत्वर्यात् एव दीत्ववचनान्ति ढत्वम् । “गेस्तोऽचः” इत्यत्र द्वितकारको वा निदेशः इति सर्वादेशः । ट इति किम् ? वित्तोर्गम् । तीति किम् ? निदत्तमिति वेप्यते । इक इत्येव । प्रत्तम् । आत्तम् ।

घञ्यमनुष्ये प्रायः ॥४॥३॥२६॥ इक इति निवृत्तम् । घञन्ते द्यौ गे. प्रायो दीर्भवति अमनुष्येऽभि धेये । अपामार्गः । नीमार्गः । नीक्लेटः । प्रावारः । “आच्छादने वृज.” [२।३।५०] इति घञ् । नोत्राग । “नो बुधान्ये” [२।३।४४] इति घञ् । प्राकारः कर्मणि । अविकरणे प्रामादः । अमनुष्य इति किम् ? निपोऽन्यन्ति त्रिति निपादः । “हल.” [२।३।१०२] इत्यविकरणे घञ् । “सदोऽप्रते.” [५।४।४७] इति प वम । प्राय इति किम् ? प्रमदन प्रमादः । निवेशः । प्रकामः । प्रकरण प्रकाशः । वेशादिप्रभयम् । प्रतिवेश । प्रतीदेश । प्रतिबोधः । प्रतीबोधः । गेरित्येव । चन्दनमारः ।

खावष्टनः ॥४॥३॥२७॥ खुविपयेऽप्यन्तित्येतस्य दीर्भवति द्यौ । अष्टापद । अष्टात्रय । अष्टावन्धनः । अष्टाविष्टपः । खाविति किम् ? अष्टमहाप्रातिहार्यो जिनः । अष्टगुण मित्र । “अष्टन कपाले हविषि वक्तव्यम्” [वा०] । अष्टमु कपालेषु मन्त्रुतमष्टकपाल हविः । मन्त्रुतार्थ आगतन्यायः “रम्यो-वनपन्ये” [३।१।७४] इत्युक् । “गवे च युक्ते” [वा०] । अष्टाभिर्गोभिर्युक्तम् अष्टागव शक्यम् । अष्ट शब्दन्याप्रयोगः । यथा भीममेनशब्दे मेनशब्दस्य ।

चित्तेः कपि ॥४॥३॥२८॥ चित्तेर्दीर्भवति कपि परतः । एसा चित्तिगम्य एसाचिनीक । चित्तिनीक । चिचिनीक ।

अन्यस्यापि ॥४१३२३२॥ अन्यस्यापिशब्दस्य द्वावप्यत्रावपि दीर्भवति । कस्यान्यस्य ? यस्य गितै-  
र्दात् प्रयुक्तम् । “शुनो दन्तदंष्ट्राकर्णकुन्दवराहपुच्छपदेषु दीर्भवति” । श्वादन्तः । श्वादप्रः । श्वाकर्णः ।  
श्वाकुन्दः । श्वावराहः । श्वापुच्छः । श्वापदम् । श्वावराहमिति द्वन्द्वोऽन्यत्र पसो वसो वा । एरुश्च दण  
चैकादश । केशाकेशि । केशेषु केशेषु च गृहीत्वेऽ गुद्ध वृत्तम् । “तत्रेदमिति सरूपे” [१३१८६] इति वसः ।  
“अ इच्” [४१२१२८] इति इच्छान्तः । तिष्ठद्वादिषु इजन्तस्य हसजा । अत्रावपि पूरूपः । सादनम् ।  
नारकः । न भवत्यपि पुरूपः । सदनम् । नरक इति ।

चि ॥४१३२३३॥ अण इति इक इति च निवृत्तम् । च् इति अञ्जतिर्नष्टनकाराकारो गृह्यते ।  
तस्मिन् परतः पूर्वपदस्य दीर्भवति । प्राचः पश्य । प्राचा । प्राचे । दधीचः पश्य । दधीचा । दधीचे । मधूचः  
पश्य । मधूचा । मधूचे । कर्तृचा । कर्तृचे । “अचक्ष” [११११२] इत्यचः स्थाने दीत्वम् । दधीच इत्यत्र  
यणादेशमन्तरङ्गमपि बाधित्वा “अचः” [४१११२५] इत्यकारस्य स भवत्यस्मादेव वचनात् ।

जेः ॥४१३२३४॥ जेर्दीर्भवति यो । कारीरगन्धीपुत्रः । कारीरगन्धीपतिः । कोमुदगन्धीपुत्रः ।  
कोमुदगन्धीपति । करीरस्येव गन्धो यस्य करीरगन्धिः । तस्यापत्य स्त्री । आगतस्थानः “प्योऽश्रु रूपान्त्ययोः”  
[३११६३] इति प्यादेशः । टप् । “वे प्यस्य पुत्रपत्योर्जिः” [४१३१६] इति जिः । जौ कृते अत्राकृते एव  
जेर्दीर्त्वे गामणिकुलमिषत्र सावकाशः “इक प्रोऽड्याः” [४१३१७२] इत्ययं प्रादेशः प्राप्तः । प्रादेगाभाव-  
पक्षे सावकाशमिदं च दीत्व प्राप्तम् । परत्वादीत्व भवति । सकृद्गतन्यायेन पुनः प्रसङ्गात् प्रादेशः ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां महावृत्तौ चतुर्थस्याव्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ।

[गोः ॥४१४१॥ हलः ॥४१४२॥ नाम्यतिसूचतस् ॥४१४३॥ जुवा ॥४१४४॥ नोडः ॥४१४५॥  
धेऽकां ॥४१४६॥ सन्तस्फमहतोः ॥४१४७॥ स्वस्तुनसृनेष्टृ त्वष्टृक्षतृहोतृपोतृप्रशास्तृत्रपाम  
॥४१४८॥ इन्हनूपार्यम्णाम् ॥४१४९॥]

शौ ॥४१४१०॥ शौ परत इन् हन् पूप्न् अर्यमन् इत्येवमन्तानां दीर्भवति । बहुदण्डिनि । बहुस्त्रावीणि  
नृपूपाणि । वद्धर्यमाणि । द्वितीयोऽयं नियमः । शावेवेनादीनां दीर्भवति नान्यत्र । दण्डिनौ । दण्डिन-  
वृत्रहणौ । पृषणौ । अर्यमणौ । तदन्तस्यापि न भवति । परमदण्डिनौ । बहुदण्डिनौ । बहुदण्डिनः ।

सौ ॥४१४११॥ सौ परत इत्तादीनामुडो दीर्भवति । दम्भी । वाग्मी । तपस्वी । वृत्रहा । पूपा । अर्यमा  
पृषेण निम्नेनाप्राप्तविपर्ययमिदम् । अत्रावित्येव । हे दण्डिन् । हे पूप्न् । हे अर्यमन् ।

अत्रसोऽधोः ॥४१४१२॥ साविति वर्तते । अत्रन्तस्य असन्तस्य च किवर्जिते सौ परतः उड  
दीर्भवन्धो । गोमान् । धनवान् । भुक्तवान् । तत्परिमाणमस्य तावान् । अतोऽर्थवतोऽनर्थकस्य च ग्रहणम्  
अन्यथा भवद्वाहणं कुर्यात् । अत्रा साहचर्याद्वा । अतो रुडो दीत्ववचनसामर्थ्यादीत्वे कृते नुम् । अस-  
ह्यता । ह्यनोता । पिनेरि चेति लुक्लुङिति सौलुट् । अधोरिति किम् ? इपुमस्यति इष्यः । दृषदमस्यति दृषदः  
परेष्वनधोरिति किमर्थम् ? अनस् इत्येव धनव्यम् ? न । अन्येना प्रतिषेधार्थम् । पिरडग्रः । चर्मणः । जापना

१ प्रति [ ] कोऽप्यन्तर्गतानां नृणाणां वृत्तिस्तुष्टिता । सूत्राणि तु जैनेन्द्रपञ्चाध्यायीमनुसृत्या  
निर्दिष्टानि ।

चास्तीदम् । “अनिनस्मिन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च” [प०] इति । अधोस्तिथानन्तर्यामसन्तस्यैव प्रतिषेधः । तेनात्र दीत्वम् । गोमन्तमिच्छति गोमन्त्यते. किप् । गोमान् । अस्मावित्येव । हे गुणवन् । हे मुपय. ।

इस्य किमूलोः किति ॥४॥४॥१३॥ डान्तस्य गोदडो दीर्भवति को भलाटो च किति परतः । प्रशान् । प्रतान् । प्रशान्म्याम् । भलि किम् ? शान्तः । तान्तः । क्वितीति किम् ? अशान्तः । ततान्तः । यदु पीडम् । डस्येति किम् ? ओदनपक् । पक्तिः । किमूलोगिति किम् ? गम्यते । क्वितीति किम् ? यन्ता । यन्तु ।

हनिङ्गम्यचां सनि ॥४॥४॥१४॥ हन्तेरिङ्गमेरजन्ताना च दीर्भवति सनि भलाटो परतः । जिघासति । इङ्गमि-अविजिगासते । इङ् इति विशेषणं किम् ? सजिगंसते क्तो मात्रा । अजन्ताना चिचीपति । मुलूपति । चिचीपति । उड इति निवृत्तम् । अचश्चेति हनिङ्गम्योर्थोऽच् तस्य स्थाने टोत्वे कृते द्वित्वम् । गोरित्येव । दधि सनोति ।

तनोतेर्वा ॥४॥४॥१५॥ तनोतेः सनि भलाटो वा दीर्भवति । तिनामति । तिनसनि । भलीन्येव । तिनपति । “सनीवन्तर्ध” [५॥१॥६७] आदिमूत्रे तनिपतिदरिद्राम् इडविकल्पः ।

क्रमः कित्च ॥४॥४॥१६॥ वेति वर्तते । क्रमो वा दीर्भवति भलाटो क्त्वात्ये परतः । क्रान्त्वा । क्रन्त्वा । अचश्चेत्यस्य गृह्यमाणेन विशेषणादचः स्थाने दीत्वम् । “इस्य” [४॥४॥१३] इत्यादिना नित्यं प्राप्ते विकल्पः । भलीत्येव । क्रमिन्त्वाऽक्रम्येत्यत्र “प्यादेशोऽन्तरङ्गस्यापि विधेर्वाधकः” [वा०] इति पूर्व दीत्वन्याप्रवृत्तिः । अनपि धाविति स्थानिवद्भावप्रतिषेधात्पश्चादपि भलादित्वं नास्ति ।

ह्रोः शृङ्छेच ॥४॥४॥१७॥ वेति निवृत्तम् । ह्रकारवकारयोः स्थाने श् ऊट् इत्येतावादेशो भवतो ऽ सञ्ज्ञके परतः कौ हलाटो च क्विति । प्रश्नः । विश्नः । “वाणाद् गात्र वलीयः” [प०] इति ह्रे तुक्रः परतान्नित्यत्वाद्वा शादेशः । अपि च विच्छेरेप्रतिषेधार्थं नटो टित्करणं जापकं प्रागेव तुक्श्छस्य पशावादेशाविति । “प्रश्ने चान्तर्युगे” [२॥२॥६७] इति निपातनाजिर्न भवति वकारस्य । स्यो न. । सिवेरोणादिको न. । घेह् एप् । पूर्वमञ्ज देशः । “अग्निद्वं बहिरङ्गमन्तरङ्गे” [प०] इत्यनित्यमेतत् । तेन यणादेशः । ऊट् एप् । सिवेरोणादिके मरि ल्युम् । ह्रस्य कौ वर्मप्राट् । गोविट् । वकारस्य कौ हिरण्यपूः । अथयूः । अत्तयूवो । अथयूवः । ह्रस्य भलाटो पृष्टः । पृष्टवान् । पृष्टा । पृष्टिः । वकारस्य द्यूतः । द्यूतवान् । क्वितीत्येव युभ्याम् । युभिः । अत्र दिवि-यव्युत्पन्नं गृह्यो । ननु क्वितिग्रहणं नानुवर्त्य “दिव उन्” [४॥३॥१०८] इति ऊट् उदादेशे कृते मिदम् । एव च “ब्रञ्च” [५॥३॥१३] आदिमूत्रे ह्रकारग्रहणं न कर्तव्यं स्यात् । न चावश्ममुत्तरार्थं द्विदग्रहणमनुवर्त्यम् । प्रपञ्चार्थमिति प्रश्नात् । ह्रकारः । ब्रञ्चादिमूत्रेण यत्र पञ्च नाम्नि तत्र श्रवणार्थं शकारः । प्रश्नः । बाह्यः क्विपि वान । गगौ । बाञ्जः । गोविशौ । गोविशः । गोविशा । शकारमात्रचर्यादरप्यादेशः टिट्वा ।

शृङ्गोरयमपवादः । क्लृप्तीति निवृत्तम् । यद्यपि जोहोर्नि । मोमोर्ति । “न ध्रुवेऽङ्गे” [११११८] इति गविपत्र एवम् । तिपेधो न भवति ।

इटीटः ॥४१४२०॥ इटि परत इट उत्तरस्य ख भवति । इडोडोर्मव्ये सामर्थ्यात्से । खम् । । अदेवीत । अमोवीत् । अग्रहीदित्यत्र “ग्रहोऽलिटि दी.” [५११८५] इति दीत्वे कृते टटः स्थानिवद्भावात्से । खम् ।

असिद्धवदत्राभात् ॥४१४२१॥ असिद्धवच्छास्त्रं भवति आभसशब्दनात् । अत्र शास्त्रे कर्तव्य इत्यधिकारो वेदितव्यः । आहभिविधौ द्रष्टव्यः । एधि ह्यत्र नित्यत्वादम् एत्वखभावयोः कृतयोर्भस्त्रलक्षण धित्वमप्राप्तमसिद्धत्वाद्भवति । जहीत्यत्र जादेशे कृते “अतो हे.” [४१४१६] इत्युप् प्राप्नोति असिद्धत्वान्न भवति । गतमित्यत्र क्लृप्ति भस्त्रि डत्वे कृते अतः ख प्राप्तमसिद्धत्वान्न भवति । एव यथायोगमुत्तमर्गलक्षणमभावेः । आदेशलक्षणप्रतिषेधश्च वेदितव्यः । वत्करण किम् ? स्वाश्रयमपि यथा स्यात् । देभतुः । देभुः । दम्भेदपम-ख्यानेन लिट् कित्वे कृतेऽनु नखस्य सिद्धत्वात् “हल्मध्ये लिट्यतः” [४१४१०८] इत्येव भवति । तथा वुगागमे उवादेशो मिदः । वभूव । वभूवतुः । वभूवुः । युडागमः “पुर्विवाच्चादुडोऽसुधिय.” [४१४१७८] इति यणादेशे कर्तव्ये मिदः । उपदिदीये । उपदिदीयेते । उपदिदीयिरे । अद्ग्रहण किम् ? अभाजि रागः । “उटोऽत” [५१२१४] इत्यपि कर्तव्ये नकारस्य ख नासिद्धम् । आभादिति किम् ? रगन्धिव । रगन्धिम । हल्मध्ये लिट्यत इति एत्वे कर्तव्ये नुमशास्त्र नासिद्धम् ।

श्नान्नखम् ॥४१४२२॥ श्नात्परस्य नकारस्य ख भवति । व्यनक्ति । हिनस्ति । सशकारस्य ग्रहण किम् ? नन्दिता । नन्दकः । नैतदस्तिमण्डकालुत्वा क्लृप्द्रहणानुवृत्तेः । क्लृप्तो नात्परस्य खमिष्टम् । इह तर्हि मा भूत् । यजानाम् । यलानाम् “नामि” [४१४१३] इति दीत्वात्परत्वेन नखमिदं स्यात् । “सुपि” [५१२१६७] इति तु दीत्वा सन्निपातपरिभाषया वार्यते । स्थानिवद्भावाद्वा नख प्राप्नोति । प्रश्नानाम्, विश्नानाम् इत्यत्र लालृणिकत्वान्न भवति । श्नादिति श्नमो नष्टनकारस्य ग्रहणम् । न इति डसो नाशे अकारेणोच्चारणायैव निर्देशः ।

हलुटः द्विन्यनिद्रितः ॥४१४२३॥ हल उडो नकारस्य ख भवत्यनिद्रितो गोः क्लृप्ति परतः । खस्तः । खस्यते । खस्त । खस्यते । खस्नाति । खनीखस्यते । अश्नाति । खनीअश्नते । हल इति जातिग्रहणमपि । मग्न । मग्नवान् । हल इति किम् ? नीतम् । नेनीयते । उड इति किम् ? नद्धम् । नानह्यते । क्लृप्तीति किम् ? खमित्वा । मृडादिनियमादकित्वम् । अनिद्रित इति किम् ? शङ्क्यते । मङ्क्यते । तत्परकरण किम् ? समिद्धम् । हलुट इति योगविभागः । तेन “लङ्गिरुग्धो उपतापशरीरविकारयोर्नखम्” । विलगितः । विकपितः । विलङ्गितः । विरगपितः । इत्यन्यत्र ।

दंशसंजरवज्जां शपि ॥४१४२४॥ दश सज्ज स्वज्ज इत्येतेषां शपि परत उडो नकारस्य ख भवति । दशति । सजति । परिष्वजते ।

रज्जे. ॥४१४२५॥ रज्जेश्च शपि परत उटो नकारस्य ख भवति । रजति । रजतः । रजन्ति । योग-विभाग उत्तरार्धः ।

शो मृगरमणे ॥४१४२६॥ रज्जेशो परतो मृगरमणेऽर्थ नकारस्य ख भवति । रजयति मृगान् व्याधः । मृगान् मृगमाणान् दर्शयतीत्यर्थः । “जनीजृक्नसुरज्जोऽमन्ताश्च” इति मित्वादुडः प्रादेशः । मृगरमण इति विभक्तौ रज्जयति वत्तम् ।

घञि भावकरणे ॥४१४२७॥ भावकरणाभिधायिनि घञि परतो रज्जेर्नकारस्य ख भवति । भावकरणा रागः । विचित्रे रागः । करणे रजति तेन रागः । भावकरण इति किम् ? रजत्यस्मिन्निति रङ्गः । करणेऽपि रागे च “हल” [५१२१०८] इति घञ् । विनुणि कथं नखम् । रागी । “दुहानुरुध” [२१२११८]

आदि सत्रे त्यजरजादि निपातनात्मिदम् । “दशनहः करणे व्रट्” इति सूत्रे दशेति विकरणनिर्देशेन निपातनम् । अजादिषु पाठाद् दष्टेति “रजकरजनरजत्सु नखे यन्नः कर्तव्यः” [वा०] “गितिपनि द्बु.” । युः । औणादिकश्च “अस् सर्वधुम्यः” इत्यम् ।

स्यदाघोदैधौघप्रश्रथहिमश्रथाः ॥४१४२॥ स्यद, अघोद, एव, ओघन्, प्रश्रथ, हिमश्रथ इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । स्यद इति स्यन्देर्घाज नखमैवभावश्च निपात्यते जवेऽभिधेये । गोम्वदः । अश्वस्यदः । कृगोले तामः । जवादन्यत्र तैलस्यन्दो घृतस्यन्दः । अघोद इति उन्देरवपूर्वस्य घञि नन्व निपात्यते । एघ इत्येर्घञि नन्व मेप् च निपात्यते । “न धुखेऽगे” [११११८] इति प्रतिषेधो मा भूत् । ओघ इति उन्देर्गौणादिके मनि नगम् । प्रश्रथः हिमश्रथ इति श्रन्थेः प्रपूर्वस्य हिमपूर्वस्य च घञि नखमैवभावश्च निपात्यते । “न धुखेऽगे” [११११८] इत्यत्र इकोऽनुवर्तनादेपः प्रतिषेधो न स्यात् ।

नाञ्जेः पूजे ॥४१४२९॥ अञ्जतेः पूजेऽयं नकारस्य न्व न भवति । अञ्जितोऽस्य गुणः । समन्त्य जिन गतः । “अञ्चे. पूजायाम्” [५१११०१] इति तक्त्वोरिट् । ह्लुङ् इति नखप्रातिः । पूज इति स्मि ? उदक्तमुदकं कृपात् । अक्त्वा रज्जुम् । “बोद्धितः” [५१११०४] इत्यनेनेट्पक्षे मृडादिनियमादकृत्स्नम् । अञ्जित्वा । ते “यस्य” [५१११२१] इति प्रतिषेधः । नाञ्जेरित्यनेनैव प्रतिषेधेन नकारः कृतचुत्यो निर्दिष्टः ।

क्त्वि स्कन्दस्यन्दोः ॥४१४३०॥ क्त्वात्ये परतः स्कन्द स्यन्द इत्येतयोर्नकारश्च न न भवति । स्कन्त्वा । स्यन्त्वा । स्यन्देः “स्वरति” [५१११२२] इत्यादिनाऽनिट्पक्षे विश्वान्नन्व प्राप्तम् । इट्पक्षे तु मृडादिनियमादेवाक्त्वि मति नखाभावः सिद्धः । क्वीति द्वितकारकनिर्देशः । तकारादौ क्त्वात्ये इति । तेन प्रत्यय प्रत्ययेभ्यश्च “अनख्विधौ” [११११०६] इति स्थानिवद्भावप्रतिषेधाच्चकारादित्वं नाम्नीति न भवत्येव ।

जनशोर्वा ॥४१४३१॥ ज इति वर्णग्रहणम् । जान्तम्य गोर्नशेश्च वा नन्व भवति क्त्वात्ये पग्नः । रक्त्वा । रक्त्वा । भक्त्वा । भक्त्वा । नष्टा । नष्टा । नशे “रघादे” [५१११२३] इति विभाषितेयोऽनिट्पक्षे “मस्तिजनशोर्भलि” [५१११२६] इति नुम । “ह्लुङ्” [४१४२३] इति नित्ये नग्रे प्राप्ते विरूपः । हल इति जातिग्रहणपक्षे मन्त्रेऽपि नित्यं नखे प्राप्ते मक्त्वा । अनन्वपक्षे द्वयोः स्फमजामाश्रय स्फादिसम्भवं ।

भञ्जेर्जां ॥४१४३२॥ भञ्जेः जां परतो वा नन्व भवति । अभञ्जि । अभञ्जि पाप मुनिना । नगम् प्राप्तमेनेन पक्षे विधीयते ।

अनेनात्यस्य सम्भवादाकारे कृते पूर्वेण उड इत्वे चानिष्ट रूप स्यात् । ननूड आत्वे कृते “घि” [५।३।४३] इति सखे च मिड शार्धाति उड इति तर्हि निवृत्तम् । अपि च प्रकृतिग्रहणे यदुन्नतस्यापि सचस्य यथा स्यादित्येवमर्थः शादेशः ।

हन्तेर्जः ॥४।४।३६॥ एन्तेर्ज इत्ययमादेशो भवति हौ परतः । जहि मन्थुम् । जहि पापम् । तिपा निर्देशाद् यदुन्नतनिवृत्तिः । जघहीति ।

अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनां डखं भलि किति ॥४।४।३७॥ अनुदात्तोपदेशानां गूना वनतेस्तनोत्यादीनां च डस्य ख भवति डालादौ किति परतः । कितितीति निर्देशात्पूर्वस्याव्यवहितस्य खम् । यत्वा । यतिः । यतः । यतवान् । डखे विहृतनिमित्तत्वात् “डस्य” [४।४।३३] इति दीत्व न भवति । अनुदात्तोपदेशाः यमिरमिनमिममिहनिमन्यतयः पट् । वतिः । वनतेः स्त्रिया कौ । तनोत्यादीनां तत्वा । ततिः । ततः । ततवान् । मनोतेरात्वं वक्ष्यति । क्षतः । क्षतवान् । डिति । हतः । हथः । अतत । अतथाः । “तनादिभ्यस्तथासोः” [१।४।१४८] इति सेरूप । एतेषां ग्रहणं किम् ? शान्तः । तान्तः । डस्येति किम् ? पञ्चवान् । भल्लीत्येव । गम्यते । कितितीति किम् ? यन्ता । यन्तुम् । उपदेशग्रहणमुत्तमार्थम् । वनतेस्तिपा निर्देशात्पदुन्नतस्य निवृत्तिः । ववातः ।

शपा तिपाऽनुबन्धेन निर्दिष्टं यद्गणेन च ।

यच्चैकाग्रहणं किञ्चित्पञ्चैतानि न यद्गु पि ॥

तनोतेर्गणनिर्देशादेव यद्गुन्नतस्य न भवतीति सिद्धे तिपा निर्देशः “द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति” [५०] इति निर्दर्शनायस्तेन सकृदुक्त एषु क्वचिन्न भवति । ज्योतीष्यधिकृत्य कृतो ग्रन्थो ज्यैतिपः । पुनः कितितीति ग्रहणं विस्पष्टार्थम् ।

प्ये ॥४।४।३८॥ प्ये च परतोऽनुदात्तोपदेशादीनां डख भवति । प्रहस्य । प्रमत्य । प्रवत्य । प्रतत्य । प्रमत्य । प्रतत्य । अभलादावपि विध्यर्थमिदम् ।

वा मः ॥४।४।३९॥ अनुदात्तोपदेशादिषु मकारान्तानां वा डख भवति प्ये परतः । प्रयत्य । प्रयम्य । प्ररत्य । प्ररम्य । प्रणत्य । प्रणम्य । प्रगत्य । प्रगम्य । पूर्वेण नित्ये खे प्राप्ते विकल्पः ।

न क्तिचि दीश्च ॥४।४।४०॥ क्तिचि परतः अनुदात्तोपदेशादीनां डख दीश्च न भवति । यन्तिः । रन्ति । नन्ति । वन्ति । तन्तिः । क्षन्तिः । अनुदात्तोपदेशादीनामित्येव । शान्तिः । दोत्व भवत्येव ।

गमः कवौ ॥ ४।४।४१॥ गमः कवौ परतो डस्य ख भवति । जनगत् । कलिगत् । मोक्षगतो मुनयः । “वर्णाश्रये नास्ति त्याश्रयम्” [५०] इति भ्रूण्यभावादप्राप्तं डखमनेन विधीयते । पूर्वस्य त्राद्यकारोऽनुवर्तते, सोऽनुवर्ततमुच्यार्थः । तेन गमादीनां कवौ डख द्रष्टव्यम् । सयत् । परीतत् । “वागमिड्” [१।३।८२] इति पने कृते “नहिवृत्ति” [४।३।२१६] इत्यादिना परेर्दीत्वम् ।

घन्या ॥४।४।४२॥ अनुदात्तोपदेशादि निवृत्तम् । डस्येति वर्तते । टान्तम्य गोर्वनि परत आत्व भवति । विजापन इति विजावा । “मन्वन्मनिव्विच, कचित्” [२।२।६२] इति वन् । “वशि” [५।१।११४] इतीदृशतिषेधः । अन्तेऽल. स्थाने आत्वम् । एयम् अग्रेगावा । दधिक्रावा । दीत्वोच्चारणं किमर्थम् ? ओणु प्रपनपन इत्यस्माद्वनि प्रवावा । एणु घर्ण भ्रमणे । घ्वावा । इवि व्यातौ-यावा । “इदिद्धोर्नुम्” [५।१।३७] “वलि घ्यो र्नुम्” [४।३।७७] इति वनि परतो नकारस्य न्वम् । एतच्च वर्णनिमित्तं नागनिमित्तमिति न धखेऽवात् “एणु” [७।१।८३] इत्येव प्राप्तमन्तरङ्गत्वात्प्रादेशो वाधते ।

जनसनखनाम् ॥४१४४३॥ जन मन खन इत्येतेषा ऽस्य भूलादौ क्ति पठ्य आकारदेशो भवति । जातः । जातवान् । जातिः । मातः । मातवान् । मातिः । खातः । खानवान् । खातिः । मनोतेस्तनादौ पाठस्य “तनादिभ्यस्तथासोः” [११४१४८] इत्यादिकार्यमवकाशः । इह पाठस्य च मनि पठ्य आत्वमवकाशः । भूलादौ क्ति ङखादित्व परत्वात् । ननूभयोः मिद्धत्वे स्पर्धः इह च “अमिद्धवदत्राभात्” [४१४१२१] इत्युभयमप्यमिद्ध तत्कथ परत्वम् । अत्रोच्यते “भुमास्थाना” [४१४१६७] आदिमूत्रे हलीति हल्ग्रहणं ज्ञापकं भवति स्पर्धः । तथाहि तस्यैतत्प्रयोजनं हलादावीत्वं यथा स्यात् । अजादौ मा भूत् । गोऽः कम्बलट् । इति । अन्ववापित्व तस्यामिद्धत्वात् “इदि चात्” [४१४१६३] खेन सेत्स्यति नार्थो हल्ग्रहणेन । तदेतत्स्पर्धे सति सार्थम् । त्रि माणे हल्ग्रहणे गोद इत्यत्र परत्वादीत्ये “सकृद्गते पग्निर्यथे विधिर्वाधितो वाधित एव” [५०] इत्याग न स्यादिति मन्यमानो हलीत्याह ।

सनि ॥४१४४४॥ सनि च भूलादौ पठ्यो जनादीना ऽस्य आकारदेशो भवति । मिसनि । भूलित्येव । जिजनपते । सिसनिपति । चिखनिपति । “सनीवन्तर्ध” [५१४१६७] इत्यादिनाऽनित्पञ्चे मनोतेरेव सन् भूलादिः सम्भवति । क्तिद्ग्रहणममम्भवादिह न सव्यते ।

ये च ॥४१४४५॥ क्तितीति वर्तते । क्तिति यकारे त्ये परतो वा जनादीनामाकारदेशो भवति । जायते । जन्यते । जाजायते । जज्जन्यते । श्ये परत्वाद् “जाजनोर्जा” [५१४१७७] इति नित्यो जादेशः । सायते । सन्यते । मामायते । मंसन्यते । खायते । खन्यते । चाखायते । चग्न्यते । प्रभूलादापि यथा स्यादित्यागम्भः । क्तितीत्येव । जन्यम् । “शकिसहश्च” [२१४१८६] इति चण्डदेनान्येभ्योऽपि य । गथे च मान्यम् । खान्यम् । य इति त्यनिर्देशो न वर्णनिर्देशः । तेनेह न भवति मन्यात् । खन्यात् । “क्तिडाजिपि” [२१४१८५] इति कित्वम् ।

तनोतेर्यकि ॥४१४४६॥ तनोतेर्यकि पठ्यो वा आकारदेशो भवति । तायते । तन्यते । यीनि किम् ? तन्तन्यते । अप्राप्ते विकृपः ।

सनः क्तिचि खं च ॥४१४४७॥ सनः क्तिचि पठ्य. य भवत्याकारश्च वा । सतिः । सानिः । सन्तिः । “न क्तिचि दीश्च” [४१४१४०] इति ट्यदीन्वयोः प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम् ।

भ्रस्जोरसोरस्वा ॥४१४४६॥ भ्रस्जो रेफसकारयोर्वा रमादेशो भवति । भर्त्ता । भ्रष्टा । भर्तुम् । भ्रष्टुम् । भर्त्तव्यम् । भ्रष्टव्यम् । रसोरिति पुनस्ताया उपादानादादेशोऽयं रसोः स्थाने भवति मित्रोच्चारणग्राम-  
-र्गदचोऽन्त्यापरो भवति । रमभावपक्षे स्फादेः सप्तम् । ननु रेफस्यैव रमादेशो वक्तव्यः । द्वयोः स्फगजामाश्रित्य  
सप्तने सिद्धमिति चेदजादो न सिध्यति । भर्जनम् । भ्रज्जनम् । भर्गः । भ्रद्गः । पक्षे “भला जग् भजि”  
[५१४१२८] इति सकारस्य दत्वम् । रमादेशस्यावकाशोऽङ्गिति भ्रष्टा । भर्त्ता । जेरवकाशो भृज्जति । इहोभय  
प्राप्नोति भृष्टा । भृष्टवानिति । कृताकृतप्रसङ्गिन्वेन नित्यो जिर्भवति । जौ कृते रमादेशो न भवति । उपदेश  
इत्यनुवर्तनात् । तेनेहापि न भवति वरीभृज्यते ।

अतः खम् ॥४१४५०॥ अग्रेऽकारान्तस्य खं भवति । चिकीर्षिता । धिनोति । धिनुतः । कृणोति ।  
कृणुत । इवि णिवि धिवि प्रीणने । कृवि हिंसाकरणयोश्च । “इदिद्वोर्नुम्” [५११३७] । “धिन्चिकृण्वोर च”  
[२११७५] इति उविकरणः । अकारश्चान्तादेशः । तस्य रो । तपरकरण किम् ? याता । ऐपोऽवकाशः  
प्रियमाचष्टे प्रापयति । कारयति । अत्रत्यावकाशः चिकीर्षिता । इहोभय प्राप्नोति चिकीर्षक इति । दीत्वस्या-  
वकाशः परिडतापते । स्तूयते । अत्रत्यावकाशः चिकीर्षिता । इहोभय प्राप्नोति चिकीर्ष्यते इति । किमत्र तत्त्वम् ?  
“पेद्वीत्याभ्यासमतः खं पूर्वनिर्णयेन” [चा०] “लिप्स्यसिद्धौ” [२१३५] इत्यत्र लिप्स्य इति विग्रहनिर्देशात् ।

हलो यः ॥४१४५१॥ हलन्ताद्गोहृत्तमस्य यकारस्य ख भवत्यग्रे । वेभिदिता । वेभिदितुम् । वेभिदित-  
व्यम् । पूर्वणातः से कृते यलविधिं प्रति स्थानिवद्भावप्रतिषेधादनेन यलम् । तृचमपेक्ष्य “ध्युडः”  
[५१२१८३] एप्प्राप्तोऽतः खस्य स्थानिवद्भावान्न भवति । “न धुखेजो” [११११८] इत्ययं तु प्रतिषेधो हलचोः  
से अत्रमात्रस्य से न प्रवर्तते । लोलुबः । देयः इति । अत्र “यडोऽवि” [११४१४४] इत्युच्छ्वास कृत  
प्रसङ्गेन नित्यम् । उपि तु कृतेऽतः रा शास्त्रं न प्रवर्तते इत्यनित्यम् । तेन हलचोरुपि कृते स्थानिवद्भावभावात्  
“न धुखेजो” [११११८] इत्यनेन प्रतिषेधः । हल इति किम् ? लोलूयिता । पोषूयिता । गोर्निमित्तत्वेन विशेषणा-  
दिह न भवति । ईधियता । समिधियता । अतः से कृतेऽपि यकारमात्रस्य त्यस्य गुप्तजानिमित्तत्वमस्ति यथा  
अक्रतोदित्यत्र तिप् णकारभावेऽपि ।

वा फयस्य ॥४१४५२॥ क्यस्य हल उत्तरस्य वा ख भवत्यग्रे । समिधिता । समिधियता । ह्यदिता ।  
ह्यदिता । समिधिमिच्छति आत्मनः “स्वेप क्यच्” [२१११६] समिधमिवाचरति “गौणादाचारे” [२१११८]  
इति वा यच् । समिधिवाचरतीति “कर्तु क्यङ् स खं विभापा” [२१११६] इति क्यङ् । तान्येवोदाहरणानि ।  
हलन्तात् ययसोऽगमभवः । “न क्ये” [११२१०४] इति पूर्वपदत्वाभावः ।

रो ॥४१४५३॥ अग्रे रोः ख भवति । अततत्तत् । इयादेशः प्राप्तः । आटिटत् । इयादेशापवादः  
“गुर्गिवाक् चादुलोऽसुधिय” [४१४७८] इति यत् प्राप्तम् । कारणा । हारणा । ऐप् प्राप्तः । शीप्स्यति सनि  
दी न प्राप्तम् । वार्त्ते । वार्त्ते “दीरकृद्गे” [५२१३४] इति दीत्व प्राप्तम् । कारको हारकः । ऐप् प्राप्तः ।  
शिप् वामनम् । वामन । वाम्यते । इयादिभिः सर्वस्य विषयस्यावष्टब्धत्वात्सामान्यरूपेण तेषामयमपवादः ।

ते सेटि ॥४१४५४॥ तसजके सेटि परतो रोः ख भवति । कारितम् । गणितम् । लभितम् ।  
तत्पित । एपे सनि विग्लिपतेऽपि “यस्य वा” [५१११२१] इत्यनेन प्रतिषेधः । एकाच इत्य-  
पे रणात् । व । लर्ति विग्लिपति प्रसुरिति विग्ल्येन “छुज्जसा” [५१११२४] इति निपातनात् । नियमार्थोऽय-  
मगमः । त एव सेटि नान्यस्मिन् । वारयिता । हारयिता । ते सेट्ये वेत्यवधारणं न भवति रोः परस्यानित्यत्वा-  
त्प्राप्तत्वाभावात् । नेदीति वचनात्पूर्वमिडागमं पश्चारिणरम् । अन्यथा कृताकृतप्रसङ्गेन नित्ये शिखे  
रो “एयदेत्तविश्वस्तानन्यवान्” [५०] वारितमित्यत्र “एकाचोऽनुदात्तात्” [५११११५] इतीदृशप्रतिषेधः  
प्रसङ्गः ।



अग्रामन्तात्वाग्येत्नुषु ॥४१४१५॥ शेरयादेशो भवति आम् अन्त आलु आय्य इत्नु इत्येतेषु परतः । आम् । कारयाचकार । अन्त । गदयन्तः । मण्डयन्तः । “द्विगिभ्यां ऋः” [३० सू०] । “गदिमदिमण्डजिनदिभ्यश्च” [३० सू०] इति ऋः । आलुः । स्पृह्यालुः । आय्यः । स्पृह्याय्यः । “महिस्पृह्यिस्पृहिभ्य आय्यः” [३० सू०] इत्याय्यः । इत्नुः । स्तनयित्नुः । गदयित्नुः । “स्तनिहट्टियुपिगट्टिमट्टिभ्यो शेरित्नुः” [३० सू०] । गिण्यस्यायमपवादः । नेति सिद्धेऽयादेश उत्तरार्थः ।

प्ये धिपूर्वात् ॥४१४१६॥ प्ये परतो धिपूर्वाद्गणित्वस्य शेरयादेशो भवति । प्रशमय । प्रतमय । लवण कृतवान् प्रलवणय्य । प्रस्तनय्य । यदन्ताणिणचि प्रवेविदय्य गतः । ननु प्रादेशट्टिगत्वयस्वानामाभावात् सत्त्वादसिद्धत्वे कथं धिपूर्वाद्गणित्वस्य शेरः । व्याश्रयत्वात्सिद्धत्वम् । प्रादेशादयो शौ प्ये परतो शेरयादेश इति वचनाद्वा सिद्धत्वम् । धिपूर्वादिति किम् ? प्रहास्य प्रचिकीर्ष्य गतः ।

चाऽऽपः ॥४१४१७॥ आपः परस्य शेः प्ये परतो वाऽयादेशो भवति । प्रापय्य प्राप्य गतः । स्वादिस्त्वौरादिकस्य चापेर्ग्रहणम् । सूत्रमध्याप्य गतः इत्यत्र लाक्षणिक्त्वान्न भवति । अपजवस्ते प्रापय्य गतः इत्येता देशस्यासिद्धत्वादयेव भवति ।

क्षियो दीः ॥४१४१८॥ वेति नाधिकृतम् । क्षियो दीर्भवति प्ये परतः । आक्षीय । तुकि प्राप्ते दीत्वम् ।

तेऽण्ये ॥४१४१९॥ अण्यार्थे विहिते ते परतः क्षियो दीर्भवति । कः पुनर्यार्थं यः पर्युदम्यते । भावकर्मणो “तयोर्व्यक्तवार्थः” [२१४१५५] इति वचनात् आक्षीणः । परिक्षीणः । “धिगन्थार्थान्च” [२१४१५८] इति कर्तरि क्तः । दीत्वे कृते धीत इति तस्य नत्वम् । इदम् क्षीण सार्थस्य । क्षीयतेऽस्मिन्निति “अधिकरणे चाद्यर्थान्च” [२१४१५६] इत्यधिकरणे क्तः । “क्तस्याधिकरणे” [११४१७०] इति कर्तरि ता । अण्य इति किम् ? आश्रितमण्य । भावे दीत्वाभावात् नत्व नास्ति । मगोः क्षियः सकर्मकत्वे कर्मण्यपि ।

चा दैन्याक्रोशे ॥४१४१६०॥ अण्यार्थे ते परतो दैन्ये आक्रोशे च गम्ये क्षियो वा दीर्भवति । दैन्ये क्षितोऽयं क्षीणोऽयं वराकः । आक्रोशे क्षितोऽसि क्षीणोऽसि जात्वम् । क्षितायुः । क्षीणायुः । कर्तरि क्तः । अण्य इत्येव । क्षित वराकस्य । क्षित जात्वमस्य ।

सिस्वसीयुट्तासौ डौ ग्रहाज्भन्द्वां जिवद्रिट् च ॥४१४१६१॥ मि स्व सीयुट्तामि इत्येतेषु परतो डवर्धे ग्रहेरजन्तानां हनि दृशि इत्येतयोश्च वा निवत्कार्यं भवति । यदा निवद्वायन्तदा इडागमश्च भवति त्यमिच्सीयुट्तासीनाम् । अग्राहिपाताम् । अग्रहीपाताम् । “ग्रहोऽलिटि डौ” [५११८५] इत्यत्र प्रकृतस्येये दीत्वम् । ग्राहिष्यते । ग्रहीष्यते । ग्राहिपीष्ट । ग्रहीपीष्ट । ग्राहिता । ग्रहीता । इदो दीताम् । एष च प्रयोजनम् । अजन्तानाम्—अचायिपाताम् । अचेपाताम् । अग्लायिपाताम् । अग्लानाम् । अग्ल

“जिण्मोदीर्मिताम्” [४।४।८६] इति वा दीले कृते द्वे रूपे शामिष्यते । शामिष्यते । नित्यत्वाद्वागगन्धे  
त्राधित्वा जिवटिट् । तस्यासिद्धत्वाणिखम् । अन्यत्र शमयिष्यते । जो दृष्ट कार्य सामान्येनातिदिश्यते ।  
तेन प्रानिष्यते । आयिष्यते । अय्यापिष्यते इत्यत्र हनिणिडा जिवट्वावे, वधाद्य आदेशाः लुटि विन्ता  
न भवन्ति ।

दीडोऽचि द्विति युट् ॥४।४।६२॥ दीडोऽजादौ द्विति परतो युडागमो भवति । उपदिदीये । उपदि-  
दीयाते । उपदिदीयिरे । दीड इति कानिदेशोऽचीत्यस्योत्तरत्र सावकाशस्य ता कल्पयति । वचनाश्रुतः सिद्धत्वान्  
“गुमिवाक्चादुडोऽनुधियः” [४।४।७८] इति यणादेशो न भवति । अतीति किम् ? उपदीयते । द्वितीति किम् ?  
उपाजनम् । “गागयोः” [५।२।८५] इत्येप् । “मिन्मीजूदीडां प्ये च” [४।३।४३] इत्यात्वम् । यदुपन्ता-  
दामा भवितव्यमित्यनुबन्धनिर्देशो विस्पष्टार्थः । पूर्वान्तकरणे उपदिदीयित्वे इत्यत्र इणन्ताद्गोरुत्तरस्य  
टत्वं प्रसज्येन ।

इटि चात्वम् ॥४।४।६३॥ इटि अजादौ च द्विति परत आकारान्तस्य गोः ख भवति । पपिथ ।  
जलित्थ । “बोपदेश” [५।१।१०८] इत्यादिनेट् । पपतुः । पपुः । तस्थतुः । तस्थुः । गोदः । कम्बलदः । डिति-  
प्रपा । मत्था । अचोत्येव । दासीय । ग्लायते । “रत्नज्जेट्” [२।४।८६] इतीटोऽकारादेशः । अग्र इत्येव ।  
यानि । व्यत्यस्ते । इतीति यगविशेषणग्रहणं तदा मेऽप्यातः खेन भवितव्यम् । व्यत्यस्तोति । एतच्च अगाधि-  
कारेण विरुद्धमिव लक्ष्यते ।

ईद्ये ॥४।४।६४॥ आकारान्तस्य गोरीकारादेशो भवति ये परतः । देयम् । धेयम् । ग्लेयम् ।  
“गुकार्ये निवृत्ते पुनर्न तन्निमित्तम्” [५०] इति अनित्यमेतत् । “देयमृणे” [३।३।२२] इत्येपो निर्देशात् ।  
ग्रेप् किमते दीत्वोच्चारण किमर्थम् ? पीतम् । हीनम् । य इति “निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य” [ ५० ] ।  
‘लाने । म्लायते ।

भुमास्थागापाहाक्सां हलि ॥४।४।६५॥ द्वितीति वर्तते । भु मा स्था गा पा हाक् सा इत्येतेषा-  
मीकारादेशो भवति हलादौ द्विति परतः । भुसजानाम् । दीयते । देदीयते । धीयते । देधीयते । पीतं वत्सेन । मा  
इत्यविशेषेण ग्रहणम् । “गामादाग्रहणेऽन्विशेष” [ ५० ] इति । मीयते । स्था-स्थीयते । तेष्ठीयते । गा  
इत्यविशेषेण ग्रहणम् । गीयते । जेगीयते । अय्यगीष्ट । “लुङ् लुङोर्वा” [१।४।१२२] इति ईडो गादेशः ।  
पा इत्यनुबन्धकरणमितेर्ग्रहणम् । पीयते । पेपीयते । पातेस्तु पायते । पानम् । हाक्-अवहीयते । अवजेहीयते ।  
जिरीतेस्तु हायते । हातम् । सा-अवसीयते । अवसेगीयते । हलीति किम् ? ददतुः । ददुः । द्वितीत्येव । दाता ।

लिङ्येत् ॥४।४।६६॥ लिङि परतो भुमादीनामेकारादेशो भवति । देयात् । धेयात् । मेयात् । स्थेयात् ।  
नेनात् । पेनात् । अवहेयात् । अवसेयात् । द्वितीत्येव । दासीष्ट ।

वाऽस्थः स्फादेः ॥४।४।६७॥ आकारान्तस्य स्फादेः स्थावर्जितस्य गोरीकारादेशो भवति वा लिङि  
परतः । ग्लेयात् । ग्लयात् । म्लेयात् । म्लयात् । अस्थ इति किम् ? स्थेयात् । अन्यथोभयप्रातौ परत्वादेतेन  
निरूप्ये, स्फात् । स्फादेरिति किम् ? जापात् । द्वितीत्येव । ग्लासीष्ट । गोरित्वेव । निर्यायात् ।

न प्ये ॥४।४।६८॥ वेति नाधिभूतमुत्तरत्र वाग्रहणान् । प्ये परतो भुमादीना यदुक्तं तन्न भवति ।  
पञ्जर । प्रधान । प्रमय । प्रगाय । प्रस्थाप । प्रपाय । अत्रहाय । अवसाय । ईत्वप्रतिषेधोऽयम् । वचनात्  
“सन्ततज्ञानपि विधीन् चरिह प्यादेशो वाधते” [५०] इति जापितम् । तेन “दो ददोः” [५।२।१४८]  
इति ददाम् । दधावेर्हि स्फादेशः । “हाक् क्वि” [५।२।१४७] । मात्थात्यतीनामिच्च च न भवति । प्यादेशो  
इत्येतेषां निमित्तं स्थान्निष्ठावाप्रतिषेधात्प्रातिः ।

वेमंडः ॥४१४६६॥ मेटः त्वे परतो वा इकागदेशो भवति । अपमिन्य । अपमाय । “माटो व्यतीहारे” [२१४५] इति क्त्वा ।

लुङ्लङ्लुङ्यट् ॥४१४७०॥ लुङि लङि लृटि च परतो गोरडागमो भवति । अकार्षात् । अकरोत् । अकरिष्यत् । ऐक्षिष्ट । औम्भीत् । ऐक्षत । औम्भत् । ऐक्षियत् । औम्भियत् ‘अटश्च [३३७८] इत्येप् । आसन् आयन् इत्यत्र लावस्यायामडागमेऽन्तरङ्गत्वादेर्यावादेशे च कृतेऽत इत्यनुवृत्ते. “श्नस गम्” [४१४१०१] यणादेशश्च न भवतः ।

न माड्योगे ॥४१४७१॥ माड्योगेऽडागमो न भवति । मा कार्षात् । माप्म करोत् । मानिग्मीत् । माप्म निरस्ताम् । योगग्रहणं किम् ? मा भवान् कार्षात् । इदमेव ज्ञापकं ‘माडि लुङ्’ [२१३१५१] इत्या माड्योगं लुङ् द्रष्टव्यः ।

शुभुभ्रुवां य्वोरचीयुवौ ॥४१४७२॥ शुनु वु भ्रू इत्येतेषां गुणामिवर्णवर्णयोगजादो परत इय् उव् इत्यादेशो भवतः । शुनु । प्राप्नुवन्ति । राप्नुवन्ति । यु-चिधियतुः । चिन्नियुः । लुलुवतु । लुलुवु । नियौ । नियः । लुवौ । लुवः । भ्रू । भ्रुवौ । भ्रुवः । निर्दिश्यमानयोरिवर्णवर्णयोगदेशः । यथा “पाठ पठ्” [४१४११६] इति पाच्छ्रुदस्य पडादेशो न पादन्तस्य । नर्वात । भवति । नायकः । मायकः इया परत्वादेर्वैपौ । अचीतीभिर्देशाद् व्यवधाने न भवति । विविदतुः । विविदुः । गोरित्येव । स्यर्थम् । भ्रूवर्थम् ।

चस्याऽस्वे ॥४१४७३॥ चस्येवर्णवर्णयोरस्वेऽचि परत इयुवो भवतः । इयेप । इयर्ति । पूयण गुनिमित्तेऽचि आदेश उक्त इति न प्राप्नोति । अस्व इति किम् ? ईपतुः । ईपुः । ऊपतुः । ऊपुः । अनीत्ये । इयाज । उवाय ।

स्त्रियाः ॥४१४७४॥ स्त्रियाश्च इयादेशो भवति अचि, परतः । स्त्रिया । स्त्रियः । परमस्त्रियो । परम स्त्रियः । अलैवानर्थकेन तदन्तस्त्रियिः नात्मवातेन । तेन शस्त्रीशब्दस्य न भवति । स्त्रीणामित्यत्र परवान्नुट् । पृथक्करणमुत्तमार्थम् ।

वाग्शसोः ॥४१४७५॥ अमगमोः परतः स्त्रिया वा इयादेशो भवति । स्त्रिय पश्य । स्त्री पश्य । स्त्रियः पश्य । स्त्रीः पश्य ।

औतः ॥४१४७६॥ आकारादेशो भवति औतोऽमृगमो, परतः । वेति न स्वरित गा गा पश्य । या गाः पश्य च गोशब्दस्य अमि णेपः पूर्वनिर्णयेनान्वम् । चित्रगु पश्येयवान्तरङ्गत्वान्प्रादेशे मन्वायाभात् । अथ मन्त्ररितम्यामो ग्रन्थादिह न भवति । अचिनवम । अमनवम ।

हन्कारापुनर्वर्षाभ्यो भुवः ॥४१४८०॥ हन् कारा पुनर् वर्षा इत्येतेभ्य उत्तरस्य भुवो यणा-  
देशो भवत्यचि सुपि परतः । हन्वौ । हन्वः । कारावौ । काराव्यः । पुनर्भ्वौ । पुनर्भ्यः । वर्षाभ्यौ । वर्षाभ्यः ।  
नियमाथोऽयमारम्भः । एतेभ्यः एव भुवो यण् नान्यस्मात् । प्रतिभुवौ । प्रतिभुवः । स्वयम्भुनौ । स्वयम्भुवः ।  
मित्रभुवौ । मित्रभुवः । “भुवः स्वन्तरे” [२।२।१५२] इति क्तिप् ।

लुङ्लिटोर्बुक् ॥४१४८१॥ भुवो जुगागमो भवति लुङ्लिटोरचि परतः । अभूवन् । अभूवम् ।  
“त्येत्तिपव” [१।४।१४६] इत्यादिना स्वरूपः । मिपोऽमादेशो “सूभवत्योर्मिडि” [५।२।८६] इत्येपि प्रति-  
पिद्धे बुक् । लिटि-अभूव । अभूविथ । अभूवतुः । अभूवुः । एलि ये च पूर्वविप्रतिपेधेनैवैवोर्बुका बाधा । लुङ्-  
लिटोरिति किम् ? व्यतिभविषीष्ट । ओरित्यनुवर्तते तेन यदुच्यन्तस्य परत्वादेरपि कृते न भवति । अत्रोभयम् ।

हुश्नुवोर्गे चः ॥४१४८२॥ हुश्नु इत्येतयोस्कारस्य वकारादेशो भवत्यजादौ गे परतः । जुह्वति ।  
जुह्वतु । चिन्वन्ति । “ग्रहाज्जन्तशाम्” [१।४।६९] इत्यतो मण्डूकगत्याऽज्ग्रहणमनुवर्तते । तेनात्र उत्तमस्य  
श्नोर्वकारादेशः । इह मा भूत्-प्राप्नुवन्ति । राप्नुवन्ति । हुश्नुवोरिति किम् ? योयुवति । रोह्वति । चादित्यनु-  
वर्तनात्प्रसज्येत । ग इति किम् ? जुहुवतुः । जुहुवुः । जुह्वानि चिनवानीत्यत्र परत्वादेप् ।

गोहेरूढः ॥४१४८३॥ गोह उड ऊकारादेशो भवत्यचि परतः । निगूह्यति । निगूह्यः । साडु  
निगूह्य । निगूहन्ति । निगूहम् । निगूहो वर्तते । गोहेरित्येव कृत्वा विकृतनिर्देशः किम् ? यत्रास्यैतद्रूप तत्र  
यम त्वादि माभूत् । निजुगुहतुः । निजुगुहुः । उड इति किम् ? अन्यस्य मा भूत् । प्रकृतिग्रहणे यदुच्यन्तस्य  
अजि जोगूह इत्यत्र चस्य च मा भूत् । ओरित्यनुवृत्तेः तद्विकारस्य चत्यापि प्रसज्येत । अचोत्येव । निगोटा ।  
निगोटुम् । ऊ इत्यविभक्तिको निर्देशः । द्विमात्रश्चायमादेशः । अन्यथा एप्प्रतिपेधः क्रियेत ।

दोपो णौ ॥४१४८४॥ दोप उडः ऊकारादेशो भवति णौ परतः । दूपयति । दूपयते । दोप इति  
निर्दितादृशे किम् ? एपि कृते ऊकारो यथा स्यात् । अन्यथा प्रदूष्य गत इत्यत्र ऊकारस्यासिद्धत्वात्तदुडः  
प्रसज्येत । एपि कृते विपूर्वत्व नास्तीत्यप्राप्तिः । णाविति किम् ? दोषण दोषः ।

वा चित्तविकारे ॥४१४८५॥ चित्तविकारेऽर्थे दोपो णौ परत उडो वा ऊकारादेशो भवति । चित्त  
दूपयति । चित्त दोपयति । प्रजा दूपयति । प्रजा दोपयति । दोपमाचष्टे दोपयतीत्यत्र टिखत्यासिद्धत्वादुडः ओः  
स्थाने विकारो न भवतीत्यप्राप्तिः । चित्तविकार इति किम् ? एकान्तवादप्रयोग दूपयति । णावित्येव ।  
चित्तस्य दोषः ।

जिणमोर्दीर्मिताम् ॥४१४८६॥ जिणम्परे णौ परतो मिता गूनामुडो वा दीर्भवति । अघटि । अघाटि ।  
घट घटम् । घाट घाटम् । अशमि । अशामि । शम शमम् । शाम शामम् । घटते कश्चित् । शाम्यति कश्चित् ।  
तमस्य प्रत्यक्षे इति णिच् । उड ऐप् । वक्ष्यमाणेन “प्र.” [१।४।८७] इत्यनेन प्रादेशः । औ णमि चानेनोडो  
वा दीर्घम् । ननु प्रादेश एव विरुद्धः । दीरिति किमर्थम् ? न शक्यमेवम् । शमयतेर्णिचि कृते णौ णिखस्य  
स्थानिपक्षपात् उड प्रादेशविकल्पो न स्यात् । दीत्वविधौ तु न स्थानिवद्भाव इति जिपरो णिर्मितोऽनन्तर इति  
दीत्वविषयः निश्चयः । अशमि । अशामि । तथा अत्यर्थं शाम्यतीति यद् । अशमयतेर्णिच् । “अतः खम्”  
[१।४।८०] । “हलो य [१।४।८१] इति यत्नम् । अत्रापि यडोऽकारस्य दीत्वविधि प्रति न स्थानिवद्भाव  
इति शक्यम् । नन्वाऽनासिद्धत्वं शक्यम् द्वाभ्यन्तत्वात् । णौ हि णियडोः स जिणम्परे णौ गोर्दीर्त्वमिति ।

प्र ॥४१४८७॥ णाविति वर्तते । मिता गूनामुडः प्रो भवति णौ परतः । घटयति । व्यथयति । जनयति ।  
“रुचिरे” इति णिच् । एत एप्प्रतिपेध उच्यन्ततो जेरत्यदुदाहरणम् । मितामिति किम् ? कामयति ।  
अशमयति । अशमयति । “न वक्ष्यमिषाम्” इति मित्रजाप्रतिपेधः । प्रशमय गत इत्यत्र णावुडः प्रादेशः

प्ये परतो शेरयादेश इति व्याश्रयत्वात्प्रादेशस्यामिद्वय न भवति । कथं सकामवति । केचिद् वेत्यनुवर्तयन्ति । सा च व्यवस्थितविभाषा ततो न दोषः ।

खचि ॥४१४८८॥ खचरे णौ परतो जोरुटः प्रो भवति । युगन्वरः । वसुन्धरः । “भृतृवृजिगामि-  
सहितपिदमः खौ” [२।२।४४] इति खच् । “खित्यक्के” [४।३।१७६] “भुमच” [४।३।१७७] इति  
मुमागमः ।

ह्लादस्ते ॥४१४८९॥ ह्लादस्ते परत उटः प्रो भवति । प्रह्लन्नः । प्रह्लन्नवान् । न इति णिम् ?  
प्रह्लादयति । ह्लाद इति योगविभागात्प्रह्ललत्तिः ।

छादेर्वे ॥४१४९०॥ छादेर्वे परत उटः प्रो भवति । प्रच्छदः । उपच्छदः । “निकुप्रादय” [१।३।८१]  
इति पसः । उरश्छदः । तनुच्छदः । कुद्योगे तासः । छद अपवारणे इति चौरादिकः । अन्मात् “पुंयो घ  
प्रायेण” [२।३।१००] इति घे कृते णिक्स्यासिद्धत्वम् “परेश्वः पूर्वविधौ” [१।१।५७] इति स्थानियद्वागो न  
वचनसामर्थ्यान् न भवति । ततः उटः प्रादेशः । घ इति किम् ? प्रच्छादनम् । तनुच्छादनम् ।

नानेकगेः ॥४१४९१॥ अनेको गिर्यस्य तस्य छादेरुटः प्रो न भवति । समुपच्छादः । एकगिरिगिरि  
छादिः पूर्वेण प्रादेश प्रयोजयति ।

मन्त्रेक्षिकपु ॥४१४९२॥ मन्त्र इस् कि इत्येतेषु परतश्छादेरुटः प्रो भवति । छद । छत्रम् । छुति  
समुच्छद । उपच्छत् । “सर्वधुभ्यो मन्त्रटौ” [३० सू०] उणादिषु विहितो । “अन्त्रिंशुचिजसृपिद्यादिधुभ्य  
इम्” [३० सू०] इति इम् । “छादेर्वे” [४।१।९०] इत्यतः पृथक्करणमनेकगेरपि प्रादेशार्थम् । समुपच्छात् ।  
समुपाचिच्छत् । निवसिधसामि पत्वम् ।

गमहनजनखनघसां किडत्यनडि ॥४१४९३॥ गम हन जन खन घम इत्येतेषां कुटः न भवति  
अनडि किति टिति परतः । अनडोति किम् ? अगमत् । अघमत् । कटीति किम् ? गमनम् । गमनीयम् ।  
अचोत्तेव । गम्यते । हन्यते ।

हुभलभ्यो हेरिधिः ॥४१४९४॥ हु इत्येतेषां हुलन्तेभ्यश्चोत्तम्य हेरिधिन्ययमागमो भवति ।  
जुहुधि । झलन्तेभ्य-छिन्वि । भिन्वि । “अनस खम्” [४।१।१०१] इत्ययस्य अनुस्वारविधि प्रति न स्थानियस्य  
इति अनुस्वारपरत्वत्वे । भलभ्य इति किम् ? लुनीहि । हेरिति किम् ? युवा जुहुतम् । ‘भुमाभागापाटा  
वमा हलि’ [४।१।६५] इत्यतो मण्डूकगत्या हलग्रहणमनुवर्तते । तेनाह्लादने भवति । इति । स्मपि । अथवा  
अत्र परत्वादिति कृते “सकृदगते परनिर्णये बाधितो बाधित एव” [५०] । जुहुतात् भिन्नात्तमि ताहि  
परत्वात्तानुदेशः ।

जेरुप् ॥४१४९५॥ जेरुत्तरम्य उव् भवति । अकारि । अलावि । लावन्त्यायामडागम । पञ्चाट् ।  
गमिति वर्तते । उव्ग्रहणे सर्वापहरणे परम्यादेर्मा भूत् । गोमिन्धिसागत् गोर्निमित्तस्य त्यग्योऽपानात्  
भवति अपाठि ग्रन्थ । अकारितसामित्यत्र तन्वस्यामिद्वन्वाच भवति । वक्तौ णि पदार्थं प्रतिव्यक्ति लक्षणं स्थिते  
इति तदेव शास्त्रं तस्मिन् कथममिदमिति नागकनीयम् ।

अतो हे ॥४१४९६॥ अकालाट्रोन्वग्न्य हेरुन्भवति । पच । कृप । गच्छ । अत इति णिम् ? पुं ।  
रहि । तस्यग्न्य णिम् ? बाहि । लुनीहि । इत्यन्यामिद्वन्वादात् । हेरिति वर्तमाने पुनर्गमिति णिम् ? णि ।  
रिन्त्योद् यथा नान् इव मान्त् । जीवतात्वम् ।

उतस्त्यादम्भान् ॥४१४९७॥ अन्तात्परो व उतस्त्यादम्भान्तात्परो हेरु भवति । सिट् । रत् ।  
सु । उत । तस्यदिप् वसदेशिन्तात्परात्परात्परो व । उत इति णिम् ? लुनीहि । उत । तस्यदिप् ।  
सु । रत् । तस्यदिप् णिम् ? अन्तात्परो । तस्यदिप् ।

वा म्वोः खम् ॥४१४।६८॥ अस्फात्परो य उकारस्तदन्तस्य वा रा भवति मकारस्फराद्यौ परतः ।  
सुन्व । सुनुवः । सुन्मः । सुनुमः । सुन्वहे । सुनुवहे । सुन्महे । सुनुमहे । तन्वः । तनुवः । तन्मः । तनुमः ।  
उन्निति वर्तमाने खयहणमन्तेऽलो नाशार्थम् । उत इत्येव । क्रीणीवः । क्रीणीमः । त्यस्येत्येव । युवः । र्वः ।  
अस्फादित्येव । आप्नुवः । तद्वणुवः । सुनोम्यादिषु परत्वादेप् ।

कुजो ये च ॥४१४।६९॥ कृज उत्तरस्य उतः रा भवति यकाराद्यौ म्वोश्च परतः । कुर्यात् । कुर्याताम् ।  
कुर्युः । कुर्वः । कुर्मः । कुर्वहे । कुर्महे । नित्यत्वात्वे कृते “त्यस्येत्याध्रयम्” [१।१।६३] इत्येप् । म्वोरनुकर्ष-  
णार्थाच्चकारात् जायते वेति निवृत्तम् ।

गेऽत उत् ॥४१४।७०॥ उत्थान्तस्य करोतेरकारस्य उकारादेशो भवति द्विति परतः । कुरुतः । कुर्वन्ति ।  
कुरुथः । कुरुथ । कुर्वः । कुर्मः । उदिति तपरकरणाद्विकरणमपेक्ष्य घृष्टुम्न भवति । ग इति किम् ? भूत-  
पूर्वेऽपि ने यथा स्यात् । अत इति तपरकरणमुत्तरार्थम् ? द्वितीत्येव । करोमि । करोपि । करोति । एपि कृते  
उकारान्तत्वाभावाद्वा न भवति । “यनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य” [प०] इति अकुरुतामित्यत्राद्यौ न भवति ।

श्नसः खम् ॥४१४।७१॥ श्नमः अस्तेश्च अतः ल भवति गे द्विति परतः । भिन्नः । भिन्दन्ति ।  
छिन्नः । छिन्दन्ति । चत्त्वत्वात्सिद्धत्वाद्बुद्धौ नकारस्य ख न भवति । अस्तेः स्तः । सन्ति । द्वितीत्येव ।  
भिन्नत्ति । अस्ति । श्नस इति श्नमो नष्टमकारस्य पररूपस्य ज्ञापकः शक्न्वादिषु पररूप भवति । अत इति  
तपरकरणस्यानुवृत्तिः किमर्था । आस्ताम् आस्तित्यत्र लावकथायामडागमे ऐपि च कृते माभूत् । नन्वद्योऽसिद्धत्वा-  
दाकारस्य न प्राप्तम् इदमेव तपरकरणं जा पकम् अभ्याच्छास्तस्य कचित्सिद्धता । तेन देभतुः । देभुरित्यत्र नखस्य  
सिद्धत्वादेत्वचरे भवतः ।

थश्नोरातः ॥४१४।७२॥ थसजकस्य श्ना इत्येतस्य च य आकारस्तस्य ख भवति गे द्विति परतः ।  
मिन्ते । मिमताम् । अमिमतः । सज्जिहते । सज्जिहताम् । समजिहतः । ‘देऽनतः [५।१।५] इति भ्रत्यादादेशः ।  
पुनते । पुनताम् । अपुनतः । पुनते । पुनताम् । अपुनतः । हलीत्व वक्ष्यते । तस्माद्विच खम् । भुञ्जकानां  
एवमपि दत्तः । दत्ते । थश्नोरिति किम् ? यान्ति । वान्ति । आत इति किम् ? विभ्रति । इयूति । द्वितीत्येव ।  
जराति । लुनाति ।

हल्यभोरीः ॥४१४।७३॥ हलादौ द्विति परतः थश्नोरात ईकारादेशो भवत्यभोः । सज्जिहीते ।  
सज्जिहीर्षः । सज्जिहीवे । सज्जिहीवहे । सज्जिहीमहे । मिमीते । मिमीपे । मिमीवे । मिमीवहे । मिमीमहे ।  
एनीतः । लुनीतः । लुनीपे । लुनीवे । लुनीवहे । लुनीमहे । अभोरिति किम् ? दत्तः । द्वितीत्येव ।  
जराति । लुनाति ।

त्यनुवर्तनात् हित्वे कृते इत्यादिविधिः । अथवा अल्पाश्रयत्वेनान्तरङ्गत्वात्प्रागेव द्वित्वम् । हलीत्येव । जर्ति । ग इत्येव । हीनः । हीयते । जेहीयते । योगविभाग उत्तमार्थः ।

आ च हौ ॥४१४१०७॥ हाक आकारादेशो भवति इच्च वा हौ परतः । जहाहि । जहिहि । जहीहि ।

यि खम् ॥४१४१०८॥ यकाराद्यौ गे द्विति परतो हाक. ख भवति । जह्यात् । जह्याताम् । ज्युः । ग इत्येव । हीयते । जेहीयते ।

भ्यसोरेच्च खं हौ ॥४१४१०९॥ भुसजकानाम् अस्तेश्च हौ परत एकारादेशो भवति चस्य च खम् । देहि । धेहि । एधि । खमिति वर्तमाने पुनः खग्रहण सर्वस्य चस्य नाशार्थम् । अस्तेश्च त न सम्भवति । “श्नस. खम्” [४१४१०९] इत्यखम् । अनेन रुकारस्यैत्वम् । हाविति वर्तमाने पुनर्हाविति मिम् । रूपान्तरापत्तौ माभूत् । दत्तात् । धत्तात् । स्तात् ।

अतो हल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि ॥४१४११०॥ हलोर्मन्ये वर्तमानन्यात एकारादेशो भवति चस्य च ख लिटि द्विति परतः । पेचतुः । पेचुः । जेकतुः । शेकुः । रेणुतुः । रेणुः । हल्मन्य इति किम् ? प्राट्टुः । आट्टुः । त्रपिग्रहण नियमार्थं वक्ष्यति । अनेक हल्मन्यगतस्य त्रपेरेव नान्यन्य । तत्तत्ततुः । पत्रये । पत्रया । पत्रयिरे । लिटीति किम् ? पापच्यते । पापट्यते । अत इति किम् ? दिटिवतुः । दिटिवुः । तपस्करण किम् ? शशासतुः । शशासुः । द्वितीत्येव । अह पपच । “फलिभजो” [४१४१३०] इति नियमो नक्षयो । एतयो रेव लिट्यादेशाद्योरेच्चले भवतो नान्यस्य । बभणतुः । बभणुः । चक्रणतुः । चक्रणुः । नमिमह्योन्तु लिट्येव प्रागेव नत्वमत्वे भवत इति नियमान्न निवृत्तिः । नेमतुः । नेमुः । मेहे । सेहाते । सेहिरे ।

सेटि ॥४१४१११॥ सेटि च लिटि परतो हल्मन्येऽत एव भवति चस्य च खम् । अदि त्रपि यथा न्ना दिन्यागम् । पेचिय । शेकिय । नेमिय । “बोपदेशे” [५१११०८] उदादिना वेट् । सेटीति मिम् ? पपच । लिटीत्येव । पटित । पटितवान् । अत इत्येव । दिदेविय ।

फलिभजोः ॥४१४११२॥ फलि भजि इत्येतयोस्त एव भवति चस्य च ख लिटि द्विति मिति च परतः । फेलतुः । फेलुः । फेलिय । भेजतुः । भेजुः । भेजिय । भेजे । भेजाते । भेजिरे । नियमार्थोऽयमागम् । फलिभजोरेव लिट्यादेशाद्योर्नान्यन्य । चक्रणतुः । चक्रणुः । चक्रणिय । बभणतुः । बभणुः । बभणिय । फलिभजोर्विकारान्तराणां आदेशः अन्यन्यापि विकारादेशादेर्निवृत्ति शब्दिद्वयोः प्रतिपेक्षा । तेन प्रवृत्ति च । प्रवृत्तिचर प्रवृत्तिजशा प्रवृत्तिजशो भवन्तीति । नात्र नियमान्निवृत्तिः । तेनतुः । तेनुः । देमतुः । दनुः ।

तृचपो. ॥४१४११३॥ तृ त्रपिन्येतयोस्त एव भवति चस्य च ख लिटि द्विति सेटि यति च परतः । तेरतुः । तेरुः । तेरिय । “ऋच्छतृताम्” [५१११०३] इत्येत् । त्रेपाते । त्रेपिरे । “अन्धेऽन्धेति चक्षयम्” [१०७] श्रेयतुः । श्रेयुः । उपसङ्ख्यानं लिटिः द्वित्वम् । इदमपि नियमार्थं सूत्रम् । एभिर्वृत्तान्तरान्तराणां नाशार्थम् । विशशतुः । विशशन् । विशशरिय । लुचिय । अनेकहल्मन्यगतस्य त्रपेरेव नान्यन्य । तत्रात् । “

फणां सप्तानाम् ॥४१४११६॥ फणादीना सप्ताना वा एत्व भवति चस्य च ख लिटि द्विति मेटि च परतः । फेणुतुः । फेणुः । फेणुथ । पफणुतुः । पफणुः । पफणुथ । रेजुतु । रेजुः । रेजुथ । रगजुतु । रराजुः । रराजुथ । भ्रेजे । भ्रेजाते । भ्रेजिरे । वभ्राजे । वभ्राजाते । वभ्राजिरे । भ्रेसे । वभ्रासे । म्लेसे । वभ्लासे । स्येमतुः । स्येमुः । स्येमिथ । सस्यमुः । सस्यमिथ । स्वेनतुः । स्वेनुः । स्वेनिथ । मस्वनतु । सस्वनुः । सस्वनिथ । सप्तानामिति किम् ? दध्वनतुः । दध्वनुः । जज्वलतुः । जज्वलुः । जज्वलिथ ।

न शसदद्वादीनाम् ॥४१४११७॥ शस दद् इत्येतयोर्वादीना च लिटि द्विति सेटि च पठ्य एत्व-चत्वे न भवतः । विशशसतुः । विशशसिथ । दददे । दददाते । दददिरे । वादीनाम्-ववणुतुः । ववणुः । ववणिथ । ववले । ववलाते । ववलिरे ।

भस्य ॥४१४११८॥ भस्येत्यमधिकारो वेदितव्य आ पादपरिसमाप्तेः । वक्ष्यति “पादः पत्” [४१४११९] इति । द्विपदा । द्विपदे । भस्येति किम् ? द्विपादौ । द्विपादः । धे भसंज्ञा न भवति ।

पादः पद् ॥४१४११९॥ पादन्तस्य गोर्भस्य पदित्ययमादेशो भवति । द्विपदः पश्य । द्विपदा । द्विपदे । द्वौ पादावस्येति वसे “सुसंख्यादेः” [४१२११४०] इति पादस्यातः खम् । “निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति” [५०] इति पाच्छब्दस्य पदादेशः । द्वौ द्वौ पादौ ददाति द्विपदिका ददाति । “संख्यायाः पादशतेभ्यो वीप्सा-दृषड्व्यागे वुन्” [४१२११०] ख च । वैयाघ्रपद्यः । व्याघ्रस्येव पादौ यस्य “खं पादस्याहस्यादेः” [४१२११३६] इति खम् । गर्गादित्वायञ् । भस्येति किम् ? द्विपाद्भ्याम् । द्विपाद्भिः । पादवतेः क्विग्रन्तस्य प्रयोगो नास्ति ।

वसोर्जिः ॥४१४१२०॥ वस्वन्तस्य गोर्भस्य जिर्भवति । उपसेदुषः पश्य । उपसेदुषा । उपसेदुषे । “वस्वद्विणो वसुलिङ्गमम्” [११२१८८] इति वसुः । द्वित्वम् । हल्मध्ये लिट्यत इति एत्वचत्वे । क्रादिनियमादिद् । जौ कृते निमित्ताभावादिति नवृत्तिः । भस्येत्येव । विद्वस्यति । विद्वस्यते । वयच्क्वडोः स्वादित्वाभावाद्भसजा नास्ति । “नः क्ये” [११२१०४] इति नियमात्पदसजाविरहेण रित्वाद्यभावः ।

श्वयुचमघोनोऽहति ॥४१४१२१॥ श्वन् युवन् मघवन् इत्येतेषा जिर्भवति अहति परतः । शुनः पश्य । शुना । शुने । यून् । पश्य । यूना । यूने । “अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य” [५०] इति यकारस्य न भवति । मघोनः पश्य । मघोना । मघोने । अहतीति किम् ? शौचन मासम् । यौचन वर्तते । माघवनम् । शुनो विभक्तः “प्राणितालादे” [३१३१०५] इत्यण् । “द्वारादेः” [५१२१६] इत्यौच् । यूनो भावः “हायनान्त-युवादिभ्योऽण्” । मघोन इटम् । उत्तरत्र अन इति योगविभागः । अन्नन्ताना श्वादीना जिर्भवति । तेन युवतीः पश्येत्यत्र “मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्य” [५०] इति न भवति ।

अनोऽखमम्बस्फात् ॥४१४१२२॥ अन्नन्तस्याख भवति स चेदन् मकारवकारान्तस्फात्परो न भवति । राग पश्य । राजे । ‘पूर्वत्रामिद्धे न स्थानिवत्’ इति चुत्वम् । तदणः पश्य । तदणा । तदण्ये । अन्नन्त-रथेति वचनात् राजशीर इत्यत्र न भवति । अम्बस्फादिति किम् ? धर्मणः । धर्मणे । तत्त्वदृश्वनः पश्य । तत्त्वदृश्वना । तत्त्वदृश्वने ।

पादित्वाधृतारामोऽणि ॥४१४१२३॥ पकारादेरनः हन् धृताराजन् इत्येतयोश्चाणि परतोऽकारस्य न भवति । तदण । तदणा । हन्-भौरणः । वार्त्तण । धृताराजन्-धार्तराजः । अपत्यार्थेऽण् “अनः” [४१४१२०८] इति अण्डित्ययो प्रतिपन्धे प्राप्ते सूत्रम् । एतेषामिति किम् ? मामनो धौमनः । ताश्चण्यः । “सेनान्त-त्वाण्” [१११११४०] इत्यादिना ण्य ।

वा डिश्योः ॥४१४१२४॥ अनोऽकारस्य वा ख भवति डौ शीशब्दे च परतः । राजि । राजनि । लोमि । लोमि । गम्भी । गम्भी । दाम्नी । दामनी । भव्येत्यधिकारात् “नपः” [५१११६] इत्यनेना-दिः शीशब्दे लुक् ।



अचः ॥४१४१२५॥ अच इत्यञ्चेर्नष्टनकागे गृह्यते । तदन्तस्य गोंगकास्य ख भवति । प्रतीचः । प्रतीचा । प्रतीचे । मधूचः । पश्य । मधूचा । मधूचे । भस्येत्येव । प्रत्यञ्चमिच्छति प्रत्यञ्चति । क्वन् । स्वादिष्यभावात्पूर्वस्य भसञ्चा नास्ति । अच इति नष्टनकाग्रहणं किम् ? प्रत्यञ्चः । पश्य । प्रत्यञ्चा । प्रत्यञ्चे । “नाञ्चे पूजे” [४१४१२६] इति नखाभावः ।

ईदुदः ॥४१४१२६॥ उदः परस्याच ईकारादेशो भवति भस्य । उद्रीचः । पश्य । उद्रीचा । उद्रीचे । उद्रीच्यः । “द्युप्रागपागुदम्प्रतीचो यः” [३१२१८०] इति यः । अखापवादेऽयम् ।

आतो धोः ॥४१४१२७॥ आकारान्तस्य धोर्भस्य ख भवति । कीलालपः । पश्य । कीलालपा । कीलालपे । शुभयः । पश्य । शुभया । शुभये । आत इति किम् ? ग्रामण्या । ग्रामण्ये । धोगिति किम् ? माला पश्य । “जुवश्चः क्त्वः” [५१११०३] “थञ्जोरातः” [४१४१०२] इत्यादयः मौत्रा निर्देशाः । भन्येत्येव । क्षीगपामि च्यति क्षीरपीयति ।

तेर्विंशतेर्दिति ॥४१४१२८॥ भस्य विंशतेर्दिति परतस्तिशब्दन्य ख भवति । विशत्या क्रीतो विशकः । “विंशतित्रिंशद्भ्यां द्वुरखौ” [३१४१२१] इति वुः । तिखे कृते “पुन्यतोऽपदे” [४१३१८४] इति पररूपलम् । विंशतेः पूरणं विंश शतम् । विंशतिगधिका अस्मिन्निति “तदस्मिन्नधिकमिति शदशान्ताहुः” [३१४११७] “विंशतेश्च” [३१४१६८] इति डः । आमन्ना विंशतेरिमे आसन्नविंशाः । “सरयेये” [११३१८७] इत्यादिना णमः । “संरयावाङ्गोऽब्रहुगणात्” [४१२१६९] इति डः सान्तः । डित्तीति किम् ? विशत्या ।

टेः ॥४१४१२९॥ टिसंज्ञकस्य डिति पठतः ख भवति । विंशता क्रीतः विशकः । विंश शतम् । आसन्नाश्चतुर्णामिमे आसन्नचताः । कुमुद्वान् । नड्वान् । वेतस्वान् । कुमुदान्यभिमन् देशे सन्ति “कुमुदः नडवेतसाङ्गित्” [३१२१६७] इति मनुः । नडवल्मम् । नडा अस्मिन् देशे सन्ति “नडशादापुन्” [३१२१६९] इति वलः । टित्करणमामर्ष्यादभस्यापि टेः खम् । अतएव उपमरे जान उपमरजः । मन्दुगया ज्ञानः । मन्दुरा । “त्वे इयापोः क्वचित्खौ च” [४१३१७३] इति प्रः ।

नोऽपुंसो हति ॥४१४१३०॥ नकारान्तस्य भस्य हति परतष्टिष्य भवत्यपुमः । आग्निशर्मिः । देशशर्मिः । औडुलोमिः । बाह्वादित्वादिन् । न इति किम् ? वैद्युतोऽग्निः । अपुम इति किम् ? पुम इदं पान्मम् । “नीपुंसान्नुक्त्वात्” [३१११७०] इति अन्तुर्कौ । हतीति किम् ? शर्मणा । शर्मणे । भन्येव । शर्मण आगम शर्मण्यम् । शर्ममयम् । “हेतुमनुयादा रूप्य” [३१३१०५] इति रूप्यमयदौ ।

टखोरेवाहः ॥४१४१३३॥ अह्नित्येनस्य टखो. परतः टे. ख भवति । ह्यह. । अह. । हे अहनी  
समाहते, चयाणामहा समाहारः रसे कृते “राजाहःसखिभ्यष्ट.” [४१२।६३] इति ट. सान्त । “न समाहारे”  
[४१२।६१] इति अत्रादेशप्रतिषेधः । हे अहनी भूतो भावी वा ह्यहनीनः । अहनीण. । ह्यह्ये रसः । “समाया. ख ”  
[४१४।२२] इत्यधिकारे “राग्यहःसंवत्सरात्” [४१४।२४] इति खः । अत्रा समूहः अहनीनः । हृत इति  
बहुवचननिदेशात्ख. । टखोरेवेति किम् ? अत्रा निर्वृत्तमाहिकम् । “तेन निर्वृत्त.” [४१४।७५] इति  
प्राग्वत्तज्ज. । एवकार इष्टतोऽवधारणार्थः । अह एव टखोरिति मा भूत् । एव हि मद्राज इति न त्यात् ।  
“खेऽध्वन.” [४१४।१६०] इति प्रतिषेधारम्भात् इष्टतोऽवधारणे प्रतिपत्तिगौरव स्यात् ।

कद्रघोरोऽस्वयम्भुवः ॥४१४।१३४॥ कद्रशब्दस्य उवर्णान्तस्य च भस्य हति परत ओकारादेशो  
भवति स्वयम्भूवाच्च वर्जयित्वा । कद्र्वा अपत्य कद्रवेयः । “स्त्रीभ्यो ढण्” [३।१।१०६] इति ढण् । “ढे खम्”  
[४१४।१३५] इत्यापवादार्थं कद्रग्रहणम् । उवर्णान्तस्य माण्डव्यः । ब्राह्मव्यः । औपगवः । कापट्य. । अस्व-  
यम्भुव इति किम् ? स्वायम्भुव धाम स्वायम्भुवी प्रक्रिया । “तस्येदम्” [३।१।२२] इत्यण् । ओत्वे प्रतिपिदे  
उवादेशः ।

ढे खम् ॥४१४।१३५॥ ढे परत उवर्णान्तस्य ख भवति । कामण्डलेयः । शैतिवाहेयः । जाम्बेय. ।  
“वाहन्तकद्रुक्मण्डलुभ्य खौ” [३।१।६०] इति ऊत्ये कृते । अपत्यार्थे “चतुष्पाद्भ्यो ढञ्” [३।१।१२३]  
इति ढञ् । जान्वा. जानेय । “द्वयचः” [३।१।११०] इति टण् । इयुवौ परत्वात् ख बाधते । वास्तप्रेयः ।  
लैखाभेय. । वत्तप्री चतुष्पाद् । लैखाभ्रूः शुभ्रादि. । ढ इति किम् ? कमण्डलवे हिता कमण्डलव्या मृत् ।

यस्य ङयां च ॥४१४।१३६॥ इवर्णान्तस्वावर्णान्तस्य च ख भवति ङीत्ये हति च परतः । दाक्षी ।  
प्राक्षी । “इतो मनुष्यजाते.” [३।१।५५] इति ङीः । त्वेको दीत्वे क्रियमाणे अतिसखेरागच्छतीत्यत्र दोष. त्यात् ।  
सखीमितिगन्त अतिमखि. । “खीगोनीचः” [१।१।२] इति प्रादेशे कृते सख्यसख्योरेकादेशः सखिशब्दवद्-  
वतीति “स्वसखि [१।२।६७] इति सुसजादिरहादेम स्यात् । खे तु न दोषः । अवर्णान्तस्य-गौरी । कुमारी ।  
हति-नाभेयः । नैधेय । “इतोऽनिज.” [३।१।१११] “द्वयच.” [३।१।११०] इति ढण् । श्रैमतः ।  
प्रवर्णान्तस्य-दैवदत्तिः । वायुवेगेय ।

मत्स्योऽङ्यो ङयाम् ॥४१४।१३७॥ मत्स्यशब्दस्य उङो यकारस्य ख भवति ङीत्ये परतः । मत्सी ।  
“गोरादे” [३।१।२३] इति ङ. । मत्स्यस्याप्य त्सी मात्सी । “द्वयजम्गध” [३।१।१५२] आदिसूत्रेणाण् ।  
तदन्तान्ङो । इयामदशस्यत्सिद्धत्वादुङो यकारस्य खम् । अणि परतोऽखस्य व्याश्रयत्वासिद्धत्वम् । उङ  
इति किम् ? मत्स्यचरो । यमणमुत्तरार्थम् । ङयामिति किम् ? मत्स्येऽङ्ग मात्स्यम् ।

सूर्यागस्त्ययोर्गङ्गे च ॥४१४।१३८॥ सूर्य अगस्त्य इत्येतयोर्गङ्गे ङया च परत उङो यकारस्य ख भवति ।  
रौरीर । रौरी । आगन्तीय । आगन्ती । सूर्यागस्त्यशब्दौ केवलौ ङी न प्रयोजयत इत्यणन्तौ गृह्येते ।  
तयो देवता अय सौर तस्याय नौरिय । सूर्यस्येन सौरि । अगस्त्यस्यापत्यम् ऋषित्वाङ्ण । आगस्त्यः । तस्याय-  
मागस्त्यः । हे ङया चाऽन सत्पात्सिद्धत्वादुङ् यकार. । अण्दस्य व्याश्रयत्वादसिद्धत्व नास्ति । सूर्याय  
रौरीर अगस्त्याय हति इति प्राक्कचस्यो नान्यनभिधानात् । ङे चेति किम् ? सौर्य तेज । आगस्त्यं स्थानम् ।  
हृत् ङये । नैर्मनी ।

तिप्यपुप्ययोर्भाणि ॥४१४।१३९॥ तिप्य पुप्य इत्येयोर्भाणि परत उङो यकार भवति । तिप्येण युक्तः  
कल. । पोर. । तिप्यपुप्येति किम् ? तिप्येण युक्त नैवम्. । भाणीति किम् ? पुप्यो देवताऽ-  
मो दे. ।

हने हतो ङयाम् ॥४१४।१४०॥ हल उत्तरस्य ह्यकारस्य उङः ख भवति ङया परतः । गार्गी ।  
“हन्ते” [३।१।१६] इति ङी । यत्तविधि प्रति न स्थानिवदिति हल. परस्य यकारस्य । हल् इत्य-



क्षोदीयान् । क्षोदिमा । ह्रस्वाद्यः पृथ्वाद्यौ पठ्यन्ते । यणः परस्य तु “टः” [४।४।१४५] इति खम् । टक् इति किमर्थम् ? ज्ञेयिष्ठ इत्यत्र अनन्त्यस्याप्येव यथा स्यात् । शौ ह्रस्वमाचष्टे ह्रमयति । गुकार्यस्य निर्वृत्तत्वात् उड एम्न भवति ।

प्रियस्थिरस्फिरयादेरः ॥४।४।१४८॥ प्रिय स्थिर स्फिर इत्येतेषाम् इकारादेर्वर्णमघातस्य असाग-  
देशो भवति ट्ठेमेयस्सु परतः । प्रेष्ठः । प्रेयान् । प्रेमा । स्थेष्ठः । स्थेयान् । स्थेमा । स्फेष्ठः । स्फेयान् । स्फेमा ।  
प्रियमाचष्टे प्रापयति । रयापयति । “देयमृणे” [३।३।२२] इति निर्दशात् गुकार्यपरिभाषाया अनित्यत्वम् ।  
तेन णिचि “ञ्जित्वच” [५।२।३] इत्यैप् ।

बहुलगुरुवृद्धतृप्रदीर्घवृन्दारकाणां वंहिगर्वर्षिष्वप्द्राघवृन्दाः ॥४।४।१४९॥ बहुल गुरु वृद्ध  
तृप् दीर्घ वृन्दारक इत्येतेषां वहि गर् वर् वर्षि ष्वप् द्राघ वृन्द् इत्येत आदेशा भवन्ति ट्ठेमेयस्सु परतः । वहिष्ठः ।  
वहीयान् । वहिमा । गरिष्ठः । गरीयान् । गरिमा । उरु-वरिष्ठः । वरीयान् । वरिमा । वृद्धस्य ज्यादेश उक्तः ।  
वचनादयमपि भवति । वर्षिष्ठः । वर्षीयान् । त्रपिष्ठः । त्रपीयान् । द्राघिष्ठः । द्राघीयान् । द्राघिमा । वृन्दिष्ठः ।  
वृन्दीयान् । णावपि वह्यति । गयतीत्यादि योज्यम् । स्फिरवृद्धतृप्रवृन्दारकवर्जिताः पृथ्वाद्यौ द्रष्टव्याः ।  
अगुणवचनेभ्योऽपि अण् एव वचनात् इष्टेयस् ।

वहोर्भ्वस्मात्त्वम् ॥४।४।१५०॥ वहोर्भू इत्ययमादेशो भवति अस्माच्च परेषाम् ट्ठेमेयसां ख  
भवति । भूयान् । भूमा । “परस्यादे.” [१।१।५१] खम् । भूभावस्यासिद्धत्वात् उकारस्यौत्व न भवति । वहोः  
पृथ्वादित्वादिमन् ।

यिट् चेष्टस्य ॥४।४।१५१॥ इष्टस्य यिडागमो भवति व्होश्च भूरादेशः । भूयिष्ठः । खापवाटो  
यिडागमः । इकार उच्चारणार्थः । भूभावस्यासिद्धत्वादौत्ताभावः ।

ज्यादेयसः ॥४।४।१५२॥ ज्यादेशात्परस्य ईय आकारादेशो भवति । ज्यायान् । ज्यायामौ ।  
ज्यायाम् । “प्रणस्यस्य श्र” [४।१।११६] “ज्यः” [४।१।१२०] इति ज्यादेशः । प्रकृते खे परस्यादौ कृते  
“दीर्घरुद्धगे” [५।२।१३४] इति पूर्वस्य च दीर्घे सिद्धमिति चेत् “गुकार्ये निर्वृत्ते पुनर्न तन्निमित्तम्” [५०]  
इति दीर्घ न स्यादित्याकारवचनम् ।

ऊरोऽनादेर्यः ॥४।४।१५३॥ ऋकारस्य रेफादेशो भवत्यनादेर्वर्णमजकस्य ट्ठेमेयस्सु परतः । प्रथिष्ठः ।  
प्रथीयान् । प्रथिमा । म्रथिष्ठः । म्रथीयान् । म्रथिमा । अकारान्तो रेफादेशः । उरिति किम् ? पठिष्ठः । अनादेरिति  
किम् ? अतिशयेन ऋत्वान् ऋतीयान् “विन्मतोरूप” [४।१।१२४] इति मतोरूप । ईयम् । धेरिति किम् ?  
कृषिष्ठः । कृषीयान् । कृषिमा ।

पृथुमृद्धो. कृष्णमृगयोर्द्वपरिवृद्धयोश्चरो भवत्येव ।

सिंहावलोकितोऽग्रे प्रायोग्रहणादय नियमः ॥

तेनेह न भवति । मातरमाचष्टे मातयति । परत्वाद्विखस्यायमपवादः स्यात् । तथा कृतमाचष्टे कृतयति ।  
नैवाच. ४।४।१५४॥ एवाचो भस्य यदुक्तं तन्न भवति । त्वचिष्ठः । त्वचीयान् । लुचिष्ठः ।  
लुचीयान् । “विन्मतोरूप” [४।१।१२४] इति मतोरूपि कृते “टः” [४।४।१४५] इति ख प्राप्तम् ।  
णावपि त्वन्तमाचष्टे त्वचयति । लुचयति । एसाच इति किम् ? अतिशयेन वसुमान् वसिष्ठः । वसीयान् ।  
वसयति । नेति प्रोगविभाग । तेन “राजन्यमनुष्ययूनामके यदुक्तं तन्न भवति” राजन्यानां समूहो राजन्यकम् ।  
मनुष्याणां समूहो मनुष्यकम् । “व्यच्यनादृष्ट्यापत्यस्य” [४।४।१४१] इति यख प्राप्तम् । यूनो भावो  
लोभिका । मनोपादिषाद्यहन् “नोऽपुमो हति” [४।४।१२०] इति टिप् प्राप्तम् ।

प्रायोऽनपत्येऽणीन ४।४।१५५॥ अनपत्यार्थेऽणि परत इजन्तस्य यदुक्तं तन्न भवति प्राय ।  
नपत्येऽण् । त ग नासोऽदिम । नागविण्म । नागमाजिनम् । “जिन्नभिधिर्धौ” [२।३।१६६] इति

जिन् । तदन्तात् स्वार्थे “जिनोऽण्” [४।२।२१] इत्यण् । अनपत्य इति किम् ? बाहुवचिनोऽपत्य बाहुवचनः । अणीति किम् ? मेधाविने हित मेवावीयम् । प्रायोग्रहणात्क्वचित्प्रतिषेधो न भवति । दण्डिना समने दण्डम् । छत्रम् ।

औत्तम् ॥४।४।१५६॥ औत्तमिति निपात्यतेऽनपत्ये । उद्गण इदम् औत्तम् । अपत्ये औत्तण् इत्येव । “पादिहन्धृत्तगजोऽणि” [४।४।१२३] इत्यखम् । “अन.” [४।४।१५८] इत्यस्त्रापवादोऽयं योगः ।

गाथिर्विदधिकेशिपणिगणिस्फादेः ॥४।४।१५७॥ गाथिन् विदधिन् केशिन् पणिन् गणिन् । इत्येतेषा स्फादेश्च इनो यदुक्तं तन्न भवति । गाथिनोऽपत्य गाथिनः । वैदथिनः । कैशिनः । पाणिनः । गणिनः । स्फादेः गाङ्गिनः । चाक्रिणः । भाद्रिणः । अपत्यार्थेऽप्यणि प्रतिषेधार्थभिदम् ।

अनः ॥४।४।१५८॥ अनपत्य इति निवृत्तम् । सामान्येनाणि परतोऽनो यदुक्तमन टिप् न तन्न भवति । कर्मणा इदं कर्मणम् । साम देवता अस्य सामनः । हेम्नो विकारो हैमनः । यवनोऽपत्य यवानः । प्राय इत्यनुवृत्तेरिदं टिप्त्वाभावः । उपचारादथर्वा ग्रन्थोऽपि तमधीते आथर्वणिकः ।

येऽडौ ॥४।४।१५९॥ अडावर्थे यकारादौ ह्यति परतोऽनो यदुक्तं तन्न भवति । सामनि माऽसामन्यः । वेमन्यः । कर्मण्यः । राजोऽपत्यं राजन्यः । तद्गणोऽपत्य तादण्यः । “सेनान्तलक्षण” [३।१।१४०] आनिना तद्गणो एव । अडाविति किम् ? गज्यम् । “गुणोक्तिब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि न” [३।४।११४] इति ट्यण् ।

खेऽध्वनः ॥४।४।१६०॥ अध्वनः खे परतो यदुक्तं तन्न भवति । अध्वानमलगाभी अध्वानिनः । “यखावध्वनः” [३।४।१३६] इति खः । खे इति किम् ? प्रा व कृत्या गतः “गेरध्वनः” [४।२।८७] इति कारः सान्तः ।

न मादरेपत्येऽवर्मणः ॥४।४।१६१॥ मकारादेरनो वर्मवर्जितस्यापत्यार्थेऽणि परतो यदुक्तं तन्न भवति । सुपान्नोऽपत्य सोपामः । भाद्रसामः । “नोऽपुंसो हति” [४।४।१३०] इति टिप् भवत्येव । मादरेति हिमः । सोत्वनः । अपत्य इति किम् ? चर्मणा परिवृतश्चार्मणो रथः । “परिवृतो रथ” [३।२।८] इत्यण् । अवर्मण इति किम् ? हैरण्यवर्मणः । प्रायोग्रहणानुवृत्तेर्हितनाम्नो विकल्पः । हितनाम्नोऽपत्य हितनामः । हितनामनः ।

ब्राह्मोऽजातो ॥४।४।१६२॥ अपत्य इति वर्तमानः जातेर्विशेषणम् । ब्राह्म इति निपाततोऽपत्य जातेरन्वयः । ब्राह्मणो (ब्राह्मो) गर्भः । ब्राह्ममन्त्रम् । “तस्येदम्” [३।३।८८] इत्यण् । अजाताविति हिमः । ब्राह्मणोऽपत्य ब्राह्मणः । अन्यजातिरियम् । अजाताविति प्रमत्त्यप्रतिषेधोऽयम् । तेन अपत्यजातेरन्वया जातिरपि निपातनमिष्यते । ब्राह्मण इव ब्राह्मी औपविः ।

भ्रीणहृत्यम् । इदमेव ज्ञापक “हनस्तोऽजिणलोः” [५।२।३६] इति धोस्त्य एव नान्यत्र हन्तेस्तत्त्वम् । तेनेह न भवति । वार्त्तन् इति । धीव्नो भावो धैवत्यम् । सरयूशब्दस्य अणि परतो यत् निपात्यते । सारव जलम् । दृक्वाफो-  
रपत्यम् ऐद्वाक । “राष्ट्रशब्दाद्वाजोऽञ्” [३।१।१५०] इति अजि उकारस्य ख निपात्यते । “तस्येदम्” [३।३।८८] इति वा भवार्थे “कोडः” [३।२।११०] इति वाऽणि । मित्रयोरपत्य भेत्त्रेयः “गृष्टवादेः” [३।१।१२४] इति टणि कृते “यादेरिय” [५।२।७] यादो युशब्दस्य ख निपात्यते । यादेरियादेशस्तु विद्यादिस्मादजि कृते द्रष्टव्यः । अज-  
न्तस्य सप्त्यादिविवक्षाया “सप्त्याङ्गलक्षणघोषेऽज्यजिजामण्” [३।३।६५] इति अणि कृते मैत्रेयः सप्तुः । टणन्तस्य सप्त्यादौ “बृद्धचरणान्जित्” [३।३।६४] इति वुनि मैत्रेयकः सप्तु इति भवति । हिरण्यस्य विकारः । “मयड्वैतयोरभययाच्छादनयोः” [३।३।१०८] इति मयटि कृते यशब्दस्य खम् । हिरण्यमय जिनगृम् ।

इत्यभयनन्दिर्विरचिताया महावृत्तौ चतुर्थास्याध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ।

## पञ्चमोऽध्यायः

युवोरनाकौ ॥५।१।२॥ युवु इत्येतयोर्गोनिमित्तभूतयोः अन अक इत्येतावादेशौ भवतः । युवोरित्यु-  
त्पष्टविधेयणयोः सामान्यग्रहणम् । योरन । वोरक । नन्प्रादेल्सुः नन्दनो रमणः । “खुवृत्चौ” [३।१।१०६] कारको हारक । एवमाङ्गको वाङ्गकः । अङ्गेतु जातो भवो वेति विग्रह्य “बहुल्वेऽदोरपि” [३।२।१०३] इति वुज् । योः कृत एव ग्रहण व्याख्यानात् । तेनेह न भवति । उर्णायुः । शुभयुः । उणादीना-  
मूल त्रयणा तेनेह न भवति भुजुः । ‘भुजिमृद्भ्या युक्ल्युकौ’ [उ० सू० ३।२१] इति युक् ।

आपनेयीनीयियः फढखल्लुघां त्यादीनाम् ॥५।१।२॥ फ ढ ख ल्ल घ इत्येतेषां त्यादौ वर्तमानाना-  
निरन्ताम् आपन् एङ् ईन् ईय् ह्न् इत्येते आदेशा ययासख्य भवन्ति । “नडादेः फण्” [३।१।८८] नाडायनः ।  
चारायण । “स्त्रग्भ्यो टण्” [३।१।१०६] वायुवेगेयः । वासवदत्तेय । “प्रतिजनादेः खज्” [३।३।२०३] ।  
प्रतिजने साधु प्रतिजनीकः । ऐदुगीन । “दोश्छु” [३।२।६०] वासवीयो ध्वजः । वैश्रवणीया शिबिका ।  
क्षन्त्या पन क्षन्ति । त्याट्ण किम् ? फळति । टौमते । आदिग्रहण किम् ? जानुदघ्नम् । पण्ट । शङ्खः  
न सा । “उणादयो वटुलम्” [३।२।१६७] इत्यादेशा न भवन्ति ।

भोऽन्तः ॥५।१।३॥ त्य इत्यनुवर्तते । आदिग्रहण निवृत्तम् । स्वरितलिङ्गाभावात् । भ इति भकारस्य  
प्रापयत्त पन्त इत्यनमादेशो भवति । जानन्ति । पश्यन्ति । “जृविशिभ्या भ्” [उ० सू०] जरन्तः । वेरान्तः ।  
त्यस्येति भिन् ? उक्तिः ।

वेत्तेः सिद्धसेनस्य ॥५११७॥ वेत्तेर्गोनिमित्तभूतस्य भूतस्य ऋगामो भवति सिद्धसेनस्याचार्य-  
मनेन । सविद्वते । सविद्वते । सविद्वताम् । सविद्वतम् । समविद्वत । समविद्वत । “सजो रस्यपच्छि” [१२।२४]  
इत्यादिना विद्वद्दः । तिप्ता निदेश उच्चिह्रणाय । तेन “विद्व निवारणे” [धा.] इत्यादिना ग्रन्थे न  
भवति । विद्वते ।

भिसोऽत ऐस् ॥५११८॥ अथैवशाद्विभक्तिविपरिणामः । अतः अन्यतरान्ताद् गोस्त्वन्म भिप ऐस्  
भवति । सुरैः । असुरैः । अतः “बहौ भूयेत्” [५।२।६८] इति परत्वादेवं कम्मात्र भवति । कुतेऽप्येने भवति  
गत्या पुनः प्राप्नोतीति निवृत्त्यादेस् । एमिति सिद्ध ऐमग्रहण किम् ? अतिजगमै । “निकुप्रादयः” [१।३।८१]  
इति मे “खीगोर्नीचः” [१।१।८] इति प्रादेशे च कुते । “एकदेशविकृतमनन्तवत्” [प०] इति जगज्जगता  
सटादेशः । “सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्त तद्विवातस्य” [प०] इति परिभाषेयमनिता “कदाय” [२।१।१०]  
इति जापनात् । अतः इति किम् ? साधुभिः । तपरकरण किम् ? विद्याभिः ।

इदमदसोः सकोः ॥५११९॥ इदम् अदस् इत्येनयोः सककारयोरेव भिप ऐस् भवति । उप्ते ।  
“भिसर्वनाम्नोऽस् प्राप्तेः को ङः” [४।१।१३०] इत्यक् “ङ” [५।३।८२] इति तस्य मवन । आदग “दातु  
दोमोऽदसोऽप्ये” [५।३।८८] इति दात्परस्य वर्णमात्रस्योत्पद्य न मन्वम । सकोरिति हिम् ? एमि । “नग  
भूयेत्” [५।२।६८] इत्येवम् । “हलि सस्” [५।१।१७१] इतीदम् इदः राग । प्राप्ताद् “नगारिणे”  
[५।३।८६] इतीत्यम् । इदमदमोरेव सकोरित्येवमनन्तवत् मा विशयीति जापनार्थः ।

स्तेनान्दुस्डाडुस्तेः ॥५११२०॥ अक्रान्ताद्गोः परेषा ङ्ग्या उभि उत्तेनेषा न्य उन प्राप्ता उपा  
प्रादेशा भवन्ति । इन्द्रस्य । चन्द्रस्य । इन्द्रेण । चन्द्रेण । इन्द्रान् । चन्द्रान् । अतः उत्तेन । कार्ता । कर्तु ।

तेर्यः ॥५११२१॥ अक्रान्ताद्गोस्तस्य टे इत्येनस्य य इत्यनमादेशो भवति । उडा । न दा । प्रा  
इति किम् ? गवे । नावे ।

“अनुरक्तः शुचिर्दत्तः श्रुतवान् देशफलविद् ।  
वपुष्मान् कान्तिमान् वाग्मी दूतः स्थापयभिर्गुणैः ॥”

“गौरधिकारे तदन्तस्य च” [प०] इति तदन्तादपि भवति । परमाष्टौ । प्रधाने कार्यसम्प्रत्यया-  
द्वये न भवति । प्रियाष्टान् इति । “उबिलः” [५।१।१६] इति उपि प्राप्ते औशारग्यते न “सुपो धुमृदोः”  
[१।४।१४२] इति । तेन अप्यौ गुणा दस्य सोऽष्टगुणः । ओशिति सिद्धे ओशगुण किम् ? अष्टावाचनते  
अष्टयन्तीति । किन्ध्यागतनिवृत्ते अष्टाविति यथा स्यात् ।

उबिलः ॥५।१।१६॥ इत्सञ्चकादुत्तरयोर्जशसोरुभवति । पट् तिष्ठति । पट् पश्य । एव पञ्च ।  
नव । परमपञ्च । प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययादिह न भवति । प्रियपयः । प्रियपञ्चानः ।

नपः स्वमोः ॥५।१।२०॥ नविति नपुंसकलिङ्गं पूर्वार्चायस्य सञ्ज्ञेयम् । तस्मादुत्तरयोः स्वमोरुभवति ।  
दधि पश्य । मधु तिष्ठति । मधु पश्य । तत्कुलमित्यत्र त्वदाद्यत्वा बाधित्वा कृताकृतप्रसङ्गित्येन नित्यत्वादुप ।  
नन्वत्ये कृते लक्षणान्तरेणाभावे सत्यनित्य उपू ? नैवम् । “यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं निहङ्गते न  
तदनित्यम्” [प०] इति ।

अतोऽम् ॥५।१।२१॥ अकारान्तालपः परयोः स्वमोरुभवति । धनम् । वनम् । तपरकरणं सुखमुखा-  
र्त्तम् । मादेशे क्रियमाणे सुपीति दील स्यात् । अतिजरस कुलं पश्येति च न स्यात् । “सन्निपातलक्षणो विधि-  
रनिमित्तं तद्विधातस्य” [प०] इत्यम उक्तं भवति ।

उतरादेः पञ्चकस्य दुक् ॥५।१।२२॥ उतरादेः पञ्चकस्य दुगागमो भवति स्वमोः परतः ।  
कनरतिष्ठति । वतरत्पश्य । एव कतमत् । इतरत् । अन्यत् । अन्यतरत् । पञ्चकस्येति किम् ? समम् ।  
सिमन् । उतरेण सिद्धे अन्यतरग्रहणं किमर्थम् ? अन्यत्रम वनम् । अनित्यमागमानुशासनमित्येकतरस्य न  
भवति । एतत्तर वनम् ।

युष्मदस्मदो डलोऽश् ॥५।१।२३॥ युष्मदस्मदित्येताभ्यामुत्तरस्य डसोऽण् भवति । तव स्वम् । मम  
रम् । शित्करणं सर्वदेशार्थम् ।

ऐसुटोरम् ॥५।१।२४॥ युष्मदस्मद्व्या परस्य डे इत्येतस्य सुटश्च अमित्ययमादेशो भवति । तुभ्यम् ।  
ममाम् । त्वम् । अहम् । युवाम् । अवावाम् । यूयम् । वयम् । त्वाम् । माम् । युवाम् । आवावाम् । “युवावौ द्वौ”  
[५।१।१५१] । “त्रावि” [५।१।१४७] इति दस्यात्वम् । इपि पुनः “इपि” [५।१।१४६] इत्यात्मम् ।

शसो नः ॥५।१।२५॥ युष्मदस्मदित्येताभ्यां परस्य शसो नकारादेशो भवति । युष्मान् । अस्मान् पातु  
जिनः । “परस्यादे” [१।१।५१] इत्यकारस्य नकारः । “स्फान्तस्य खम् [५।३।४१] इति सकारस्य खम् ।  
“इपि” [५।१।१४६] इत्यात्वम् । “नश्च पुंसि” [४।३।६१] इति नत्वा न सित्यत्यलिङ्गत्वाद्युष्मदस्मदोः ।

भ्यसोऽभ्यम् ॥५।१।२६॥ युष्मदस्मद्व्या परस्य भ्यसोऽभ्यमित्ययमादेशो भवति । युष्मभ्यं देयम् ।  
अस्मभ्यं देयम् । “समादेशे” [५।१।१४६] इति ढत्वम् । “एप्प्यतोऽपदे” [४।३।८४] इति पररूपत्वम् ।

अस्तया ॥५।१।२७॥ युष्मदस्मद्व्या परस्य काया भ्यसोऽदित्ययमादेशो भवति । युष्मदधीते ।  
परमधीते ।

उत्तेः ॥५।१।२८॥ अस्मदस्मद्व्या परस्य उत्तेरादेशो भवति । “त्वमावेके” [५।१।१५६] । त्वत् । मत् ।

ताम आकम् ॥५।१।२९॥ युष्मदस्मद्व्या परस्य ताम आकमादेशो भवति । युष्माकम् । अस्मा-  
कम् । नन्वि एतत् स्यात्पाठो नाम इति निदेशः कृतः । आकमि कृते सुण्निवृत्त्यर्थः । वमि क्रियमाणे



एव स्यात् । अकम्पकारोच्चारणसामर्थ्यात्पररूपाभावे स्वेऽको दीन्वेन मिथमाकारवचन किम् ? हलन्तादपि यथा स्यात् । युष्मानाचक्षते युष्मयन्ति । तेषां युष्माकम् ।

तुह्योस्तातड्डाशिपि ॥५१॥३०॥ तु हि इत्येतथोगशिष्यं तातड्डादेशो भवति वा । जीवताड्डवान् । जीवतु भवान् । जीवतात्वम् । जीवत्वम् । तातड्डि डित्करणमेवैषोर्तुव ईटश्च प्रतिषेधार्थं नन्वन्तादेशोऽप्यव्यानान् । तेन कुरुतात् । मृदात् ब्रूताड्डवानिति सिद्धम् । आशिर्पति किम् ? किं कगेतु भवान् । कुरुत्वम् । जीवतात्वमित्यत्र “अतो हे.” [४१॥६६] इति स्यानिवन्धावाद्युप् प्राप्नोति । नैव “हुक्त्वो हेति” [४१॥६४] इत्यत्राधिकारे अतो हेरिति पुनर्हिग्रहणाद् हिरूपस्यैव हेरुभवति । उक्तं च—

“तातड्डि डित्त्वं सक्रमकृत्यादन्यविधिश्चेत्तच्च तथा न ।

हेरधिकारे हेरधिकारो नाशविधौ तु ज्ञापकमाह ॥’

प्यस्तिवाक्से त्वचः ॥५१॥३१॥ त्वा इत्येतन्य प्य इत्ययमादेशो भवति निमे वाक्से न । निमे-प्रकृत्य । वाक्से-उच्चैःकृत्य । नीचैःकृत्याचण्डे । तिवाक्चम इति किम् ? अकृत्वा । परमकृत्वा ।

यमेऽश्ववृषयो क्यचि सुक् ॥५१॥३२॥ यमविषये अश्व वृष इत्येतयोः क्यचि परतः सुग् भवति । अश्वस्यति व्रड्या । वृषस्यति गौः । यम इति किम् ? अश्वीयति । वृषीयति देवदत्तः ।

क्षीरलवणयोर्लौत्ये ॥५१॥३३॥ क्षीरलवणयोर्लौत्ये क्यचि परतः सुग् भवति । क्षीरम्नाति माणवकः । लवणस्यति उष्ट्रः । लौत्य इति किम् ? क्षीरीयति । लवणीयति वातकी । यमेऽश्ववृषाणाञ्चि ग इति मिथे गुरुनिर्देशान् “कचिदन्यत्रापि सुगमुच्च सर्वमृद्व्यो लौत्ये भवति” । उविम्यति । ममुम्यति । मध्यस्यति । मध्यस्यति इत्यादि सिद्धम् ।

आम्यात्सर्वनाम्नः सुट् ॥५१॥३४॥ आवर्णान्तात्मर्वनाम्न आमि परतः सुट् भवति । सर्वनाम् । तेषाम् । तेषाम् । केपाम् । सर्वामाम् । यामाम् । तामाम् । कामाम् । आदिति कानिर्देश आमीयस्योत्तरा सावसाशस्य तानिर्देश प्रकल्पयति । आदिति किम् ? भवताम् । सर्वनाम्न इत्येव । नगणाम् ।

त्रेख्यः ॥५१॥३५॥ त्रि इत्येतन्य त्रय इत्ययमादेशो भवतामि परतः । त्रयाणाम् । परमत्रयाणाम् ।

प्रेल्वाप्चतुगे नुट् ॥५१॥३६॥ प्र इल्मु इत्येवमजकेभ्य आवन्ताच्चतु शब्दाच्च आमि परतः नुट् भवति । प्र-देवानाम् । कर्वाणाम् । माधूनाम् । इल्-पणाम् । पञ्चानाम् । मु-नदीनाम् । वज्रानाम् । आप्-विद्यानाम् । बहुगजानाम् । चतुर्-चतुर्णाम् । “गोरधिकारे तस्य तदन्तस्य च” [५०] इति । पण-परणाम् । परमपञ्चानाम् । मुख्ये कार्यसप्रत्ययादिह न भवति । प्रियपणाम् । प्रियपञ्चानाम् ।

भित्तु स्फादेः सत्य खम् । नुमोऽनुस्वारपरस्वत्वे । भञ्जीति किम् ? मञ्जनम् । नगिता । मञ्जे. “भलां जणू भञ्जि” [५।४।१२८] इति सकारस्य दत्वम् । दस्य च तुल्य जकारः । “रधादेः” [५।१।६३] वेट् ।

रधिजभोरचि ॥५।१।४०॥ रधि जभ इत्येतयोः अजादौ परतो नुम् भवति । रन्धयति । रन्धकः । साधुरन्धी । रन्ध रन्धम् । रन्धो वर्तते । जम्भयति । जम्भकः । साधुजम्भो । जम्भो वर्तते । कृताकृतप्रसङ्गित्वेनैषः प्रागेव नुम् । अचीति किम् ? रद्धा । जभ्यम् ।

लिटीटि रधेः ॥५।१।४१॥ रधेर्नुम् भवति इडादौ लिटि परतः । ररन्धिव । ररन्धिम । नुम्विधान-  
सामर्थ्यत् “हलुङ्, झित्पनिदितः” [४।४।२२] इति नन्व न भवति । नित्यार्थोऽयं योगः । लिट्येव इडादौ  
नान्यस्मिन् । रधिता । रधितुम् । विपरीतो नियमः कस्मान्न भवति ? इडादेवेव लिटीति । इह न स्यात् । ररन्धतुः ।  
ररन्धुः । नैव योगविभागादिष्टप्रसिद्धेः । लिटीटीति योगः कर्तव्यः । तदनु रधेरिति । रधेलिटीटि नुम् भवति ।  
रधेरिति पृथक्करणं किमर्थम् ? लिटीटीत्यनेन नियमसिद्धिर्यथा स्यात् । लिट्येवेडादौ रधेर्नुमिति ।

रभोऽशक्लिटोः ॥५।१।४२॥ रभो गोर्नुम् भवति अजादौ न तु शक्लिटोः । आरम्भयामि । आरम्भकः ।  
साधारम्भी । आरम्भमारम्भम् । आरम्भो वर्तते । अशक्लिटोरिति किम् ? आरम्भते । आरेभे । अचीत्येव ।  
आरम्भम् । अशक्लिटोरित्यत्र प्रसज्यप्रतिषेधः । नञः सापेक्षस्यापि गमकत्वादनुष्णभोज्यादिवत्सविधिः ।

लभेः ॥५।१।४३॥ लभेः शक्लिङ्वर्जितेऽजादौ नुम्भवति । आलम्भयति । आलम्भकः । सात्वाल्मभी ।  
आलम्भमालम्भम् । आलम्भो वर्तते । अशक्लिटोरित्येव । आलभते । आलेभे । अचीत्येव । लभ्यम् । पृथग्यो-  
गकरणमुत्तरार्थम् ।

आडो यि ॥५।१।४४॥ आड्पूर्वस्य लभेर्कारादौ त्वे परतो नुम् भवति । आलम्भ्या गौर्वाहणेन ।  
आड इति किम् ? लभ्यम् । यीति किम् ? आलब्धा । आलभ्य गत इत्यत्र कृतेऽपि नुमि “हलुङ्, झित्पनिदितः”  
[४।४।२३] इति नत्वम् । मुम्बचनं त्वन्यत्र सावकाशम् ।

उपात्प्रशंसायाम् ॥५।१।४५॥ उपात्परस्य लभेः प्रशंसायामर्थे नुम् भवति यकारादौ । उपलम्भ्या  
भवता विद्या । उपलम्भ्यानि धनानि । प्रशंसायामिति किम् ? उपलभ्यमस्माद् वृषलात् किञ्चित् ।

गे. खघजोः ॥५।१।४६॥ गेरुत्तरस्य लभेर्नुम् भवति खघजोः परतः । सुप्रलम्भः । दुष्प्रलम्भः ।  
घनि-प्रलम्भ । उपलम्भः । गेरिति किम् ? ईपल्लभो लामः । नियमार्थोऽयं योगः । गेरेव खघजोः । अथ गेः  
खघजोरेव कस्मान्न भवति ‘गप उपलम्भने’ [धा०] इत्यादिनिर्देशात् ।

न सुदुर्भ्या केवलाभ्याम् ॥५।१।४७॥ सु दुस् इत्येताभ्यां केवलाभ्यां परस्य लभेर्नुम् भवति ।  
दुलभो दुर्लभः । इच्छाकृच्छार्थद्वयव घञ् । सुलभो दुर्लभः । केवलाभ्यामिति किम् ? सुप्रलम्भः । दुष्प्रलम्भः ।  
नितिसुलभम् । जिह्वाणुवृत्तेः सुदुर्भ्यामर्थद्वयम् । अतिसुलभमिति कथम् ? “अतिक्रमे चातिः” [१।४।८] इति  
अनेर्गिणोऽभावात् न केवल एव गि । केवलप्रहरणं हि तुल्यजातीयस्य गेर्निवर्तकम् । अक्रियमाणेऽपि केवल-  
पदो दुष्टो सन्निधाने उच्यमानं कार्यं कथमन्याधिकयोरपि । इदमेव शापकं क्वचित्केवलस्य सन्निधाने  
उच्यमानमन्याधिकस्यापि भवति । तेन “निविग” [६।२।११] इत्यत्र निविशते अभिनिविशत इति सिद्धम् ।

जिह्मोर्पाजो ॥५।१।४८॥ जिह्मोर्पूर्वस्य लभेर्वा नुम् भवति जिह्मोः परतः । अलम्भि । अलाभि ।  
लम्भ लम्भम् । लम्भ लम्भम् । अनेरिति किम् ? प्रालम्भि । प्रलम्भ प्रलम्भम् ।

उगिदच्चां धेऽधोः ॥५।१।४९॥ उगिता गृणाम् अन्वतेश्च धे परतो नुम् भवत्यधोः । गोमान् । धन-  
पन् । जिह्म । जेह्म् । भजन् । पचन् । पचन्तौ । पचन्तः । अन्वतेः प्राङ् । प्राञ्चौ । प्राञ्चः । उगिद-  
च्चां धेऽधोः । उगि । धौ । वाच । धे इति किम् ? पचन्तः पश्य । गोमतः पश्य । अन्वतिप्रहरणं निय-

मार्थम् । उगितकार्यं युष्वस्यैव । तेनेह न भवति । उखास्तत् । पर्णवत् । अवोरिति ग्रहणं पर्युदासार्थम् । वोरन्त्य  
अधुभृतपूर्वस्य यथा स्यात् । गोमत्यत इति गोमान् । गोमानिवाचरति “कर्तुः क्यङ् सखं विभागा” [१११६]  
इति क्यङि कृते क्विप्यागतनिवृत्ते अतः के यत्वे च कृते सौ नुम् “अन्वगोऽवो.” [११११०] इति  
दीत्वम् ।

युजेरसे ॥१११५०॥ युजि इत्येतस्यासे नुम्भवति धे परतः । युङ् । युजो । युज्ज । “अविगृह्य”  
[१११५७] इत्यादिना क्यिः । “क्वित्यस्य कु.” [५३१७५] । अम इति किम् ? अययुक् । अययुजो ।  
‘ससृद्धिप’ [१११५६] इत्यादिना क्यिप् । “वागमिङ्” [११३८२] इति पमः । अम इत्यनर्थकम् । युने  
रुच्यमानः कथं तदन्तस्य नुम् । इदमेव जायकम् “धोरञ्चिकारे तदन्तविधिग्न्यस्ति” [५०] इति । तु  
रितीकारनिर्देशः किम् ? “युज् समावौ” [५०] इत्यन्य ग्रहणं मा भूत् । युजमिच्छति मोक्षाय ।

नपोऽज्झलः ॥१११५१॥ नपुसकलिङ्गस्याजन्तस्य झञ्जन्य च नुम् भवति ने परतः । नानि ।  
धनानि । दधीनि । मधूनि । उदधन्ति । मर्षापि । अज्झल इति किम् ? विमलदिवि । नत्वारि । वृगिरि ।  
अहानि । “उगिदचां धेऽधो.” [५११४६] इति नुम वाचित्वा परत्वाङ्गेन नुम् । दधन्ति । जायन्ति । जगन्ति ।

सुपीकोऽचि ॥१११५२॥ अजादो सुपि परतः इगन्तस्य नपो नुम् भवति । तुम्बुक्के । तपुगे ।  
सुपीति किम् ? तुम्बुक्के विकारः तौम्बुक् चूर्णम् । “कङ्घोरोऽस्वयस्सुवः” [४११३४] इत्युकारस्योन्म ।  
इक इति किम् ? वने । जये । अचीति किम् ? जनुभ्याम् । अजग्रहणमनर्थकम् । ह्यपि नुमि नगे कृ  
सिच्यति जनुभ्यामिति । तथा अतिराभ्याम् प्रियतिसुभ्या कुलभ्यामित्यपि । गयमतिकान्ताभ्या कुलभ्याम् ।  
“निकुप्रादयः” [११३८३] इति पसे कृते । “प्रो नपि” [१११७] इति प्रादेशः । प्रियास्तिस्रो यत्रोः कुलवो  
रिति विग्रहे वसतः । अत्र परत्वान्नुम वाधित्वा “रायो हलि” [५११४४] इत्यान्य तिसृभावाः । “सकृद्गणे  
परनिर्णये वाधित एव” [५८] इति तिसृशब्दस्य पुनर्नुम् भवति । शुचिशब्दस्यापि नपुसकलिङ्गविवक्षाप्रामाणि  
परतः पूर्वविप्रतिषेधेन नुटि कृते नुम् । मृदन्तस्य नुमः खम् । “लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्” [५०]  
इति “इन्हन्पृषार्यणम्” [४१४६] “जौ” [४१४१०] इत्यन्य नियमन्याभावात् “नोऽ.” [४१४१] इति दीत् ।  
कृते सिद्धं शुचीनामिति । यत्र नन्व नान्ति तत्र श्रवणं स्यात् । हे जानो । “नोमता गो” [१११५४] इति  
प्रतिषेधात्कथन्नुम् ? इदमेवाजग्रहणं जायकम् । अनियः सप्रतिषेधः । नेत को प्रत्यपि कृते भिन्नः  
वपो इति । उत्तमर्थं च ।

सकथस्थिदध्यङ्गामनङ् ॥५११५४॥ सकथ अस्थि दधि अक्षि इत्येतेषां नपामनडादेशो भवति । सकथ्ना । सकथ्ने । अस्थ्ना । अस्थ्ने । द्यन्ता । द्यन्ने । अक्षणा । अक्षणे । भाटावित्येव । अस्थिनी । अचीत्येव । अस्थिभ्याम् । प्रियसकथ्ना व्याधेन । गोः प्राधान्यात्तदन्तविधिरपि सकथ्यादीनां नपु सकानाम् । तदन्तस्य नपु सकस्यानपु सकस्य च गोरनडादेशो भवति । केवलानां सकथ्यादीनां व्यपदेशिवद्भावाद्गुत्वम् । “व्यपदेशिवद्भावो न मृदा” [प०] इतीय परिभाषा त्यविपया नेहावतिष्ठते । नप इति किम् ? दधिनाम कश्चित् तेन दधिना । लोकप्रसिद्धराष्ट्रानुशासन हीदमिति लोकसिद्धान्तानडा सूत्रनिर्देशः । सुरीकोऽचीत्येव । नप इति प्रकृतिविशेषमिदं गृह्यमाणविशेषणमिति पुलिङ्गः समुदायोऽनडोऽवकाशः प्रियसकथ्ना पुरुषेण । नुमस्तु दधिनी सकथिनी । द्यन्तेत्यादौ परस्वादनङ् ।

विदेः शतुर्वसुः ॥५११५५॥ भागवजादौ सुपीति निवृत्तम् । विदेः परस्य शतुर्वसुरादेशो भवति । विद्वान् । विद्वसौ । विद्वसः । विद्वसम् । विद्वसौ । विदेरिति कानिर्देशाद्विन्दतेर्निवृत्तिः । वेत्यनुवर्तत इत्येके । विदन् । विदन्तो ।

न थात् ॥५११५६॥ नुमनुवर्तते प्रकृतत्वात् । थादुत्तरस्य शतुर्नुम् भवति । ददत् । ददतौ । ददतः । ददतम् । ददतौ । जाग्रत् । जाग्रतो । जाग्रतः । जाग्रतम् । जाग्रतौ । “उगिदचां धेऽधोः” [५११४६] इत्यस्य प्रतिषेधः ।

वा नपः ॥५११५७॥ थादुत्तरस्य नपु सकस्य शतुर्वा नुम् भवति । ददन्ति कुलानि । ददति कुलानि । जाग्रन्ति कुलानि । जाग्रति कुलानि । “नपोऽञ्भलः” [५११५९] इति नुग्विकल्पितः । उगित्त्वक्षणास्तु “सकृद्गते परनिर्णये बाधितो बाधित एव” [प०] इति ।

शीम्बोरात् ॥५११५८॥ अवर्णान्ताद् गोः परस्य शतुर्वा नुम् भवति शी मु इत्येतयोः परतः । तुदती कुले । तुदन्ती कुले । तुदती स्त्री । तुदन्ती स्त्री । याती कुले । यान्ती कुले । याती वड्वा । यान्ती वड्वा । करिप्यती कुले । करिप्यन्ती कुले । करिप्यती स्त्री । करिप्यन्ती स्त्री । आदिति किम् ? अदती स्त्री । धनती स्त्री । अवर्णान्ताश्रयत्वेनान्तरङ्गत्वात्प्राप्तनुमः पररूपम् “वाणद् गावं वलीयः” [प०] इत्यपि नास्ति भिन्नकालत्वात् । समकाल ति प्रलाप्रल चिन्त्यते । गिन्नकालता च पूर्वमेकादेशः पश्चान्नुम् । एकादेशे कृते व्यपवर्गाभावादवर्णान्ताद्गोरस्य शतुर्गिति न घटते । “आचान्तवदेकस्मिन्” [तद्वत् ४३१७३] इति तद्वद्भागेऽपि न सम्भवति । “उभयत आश्रयणे न तद्वद्भावः” [प०] इति वचनात् । उभयं ह्यत्राश्रयतेऽवर्णान्तो गुः शता च । यद्येकादेशः पूर्व प्रत्यन्तवद्भवति तदा शता न विद्यते । अथ पर प्रत्यादिवत्तदाऽवर्णान्तो गुर्नास्ति । भूतपूर्वगत्याऽवर्णान्तस्य गोग्राश्रये अदतीत्यादिपि स्यात् । अत्रापि भूतपूर्वगत्या गप् । एव तर्हि सूत्रमामर्थ्याद्भूतपूर्वगतिराश्रयणीया । अदतीत्यादिषु तु नुम् भवति प्रादिति निर्देशात् । अन्यथा शीम्बोस्त्येव वाच्येत अवर्णस्यासम्भवात् ।

इयशपः ॥५११५९॥ इय शप् इत्येतस्या परस्य शतुर्नुम् भवति शीम्बोः परतः । दीव्यन्ती कुले । दीव्यती स्त्री । पचन्ती कुले । पचन्ती स्त्री । पुनरारम्भो नित्यार्थः ।

स्वावनहृत् ॥५११६०॥ वेति निवृत्तम् । अनहृत् इत्येतस्य नुम् भवति सो परतः । अनड्वान् ।

द्विष पात् ॥५११६१॥ द्विप् इत्येतस्य सौ परत ओमारदेशो भवति । द्यौरास्त्वते पुण्येन । हे द्यौः । एतौ प्रातः परस्तादौ गगदेश । “क्षन्त्विषौ” [५११५६] इति स्वानिवद्भावप्रतिषेधात्पुनर्न सुखम् । अथेह जागर भवति अक्षयमिति । प्रज्ञानरङ्गताद् । अन्नरङ्गता च द्यौ वकारस्योऽव्यन्तस्य सावौकारः । “विदेहि” [८० सू०] इति द्विप् ।

पथिमथ्यमुज्जामात् ॥५।१।६२॥ पथिन् मथिन् ऋभुक्षिन् इत्येनेपामाकागदेशो भवति मौ परन्तः । पन्थाः । मन्थाः । ऋभुक्षाः । “अन्तेऽलः” [१।१।४६] इति नकारग्न्यात्वम् । “पूर्वे” [५।१।६३] इति कारस्यापि । “स्वेऽको दी.” [४।३।८८] ।

एधे ॥५।१।६३॥ पथ्यादीनामवयवस्येकारग्न्याकागदेशो भवति धे परन्तः । पन्था । पन्थानौ । पन्थान । पन्थानम् । पन्थानौ । एव मन्थाः । मन्थानौ । ऋभुक्षाः । ऋभुक्षाणौ । एग्न्यत्र तपरन्वाभावादि कम्मान्न भाव्यात् पथीगिति ? पन्थानमिच्छति । “स्वेप. क्यच्” [२।१।६] । “नः क्ये” [१।२।१०४] इति पदत्वम् । मृत्न नखम् “दीरकृद्गे” [५।२।१३४] इति दीत्वम् । पथीयतेः क्विप् । “अत. खम्” [४।४।५०] । “वलि व्यो गम्” [४।३।५५] इति यवम् । इदानीं धे परत आत्व प्राप्नोति । “परेऽच. पूर्वविधौ” [१।१।५७] इति स्थानिवद्वाटकारेण व्यवधानात् भवति । “न पदान्तद्वित्व” [१।१।५८] इत्यादिना तु यवविधिवेव प्रति स्थानिवद्वाट प्रतिषेधः । आत्वविधिश्चायम् । ईविधिं प्रति कम्मान्न स्थानिवद्वाटप्रतिषेधः । ईकारे विनिर्गतिरिति तत्र विग्रहः । धे चाय विधिर्नकारे । “कौ नष्टं न स्थानिवत्” [५०] इति कम्मान्न प्रतिषेधः । तत्रापि “कौ विधिं प्रति नष्टं न स्थानिवत्” [५०] । धे चाय विधिर्न कौ । अवश्यमेव विज्ञेयम् । अन्यथा कौ निर्मित भूते नष्टं न स्थानिवद्भवतीत्युच्यमाने लौरिति न सिध्यति । लवमाचष्टे णिन् । “अत. गम्” [४।४।५०] लवते. क्विप् । णेः खम् । अत्रापि णिखमेव क्विनिमित्तम् नातः खम् । तत. “परेऽच. पूर्वविधौ” [१।१।५७] इति स्थानिवद्वाटकारेण व्यवधानादूष्ण स्यात् । “कौ विधिं प्रति नष्टं न स्थानिवत्” [५०] उच्यते ।

थो न्थः ॥५।१।६४॥ पथ्यादीना थकारस्य न्थादेशो भवति धे परन्तः । उक्तान्येवोदाहरणानि । तयाणामपि तुवृत्तौ सम्भवान्पाथिमयोत्थम्य न्थादेशः ।

मस्य टः खम् ॥५।१।६५॥ पथ्यादीना ममजकाना टः ख भवति । पथ पश्य । पथा । पथे । मथ मया । मथे । ऋभुक्ष. पश्य । ऋभुक्षा । ऋभुक्षे । मस्येति क्रिम् ? पथिभ्याम् । ध इत्यनुर्त्तमानमपी न सम्बध्यते ।

ऋदुशनस्पुरुदंशोऽनेहसाम् ॥५११७१॥ ऋकारान्तानाम उशनस्, पुरुदशस्, अनेः इत्येतेषां चानडादेशो भवति सावकौ परतः । कर्मा । पिता । माता । उशना । पुरुदशा । अनेः । अरुविनि किम् ? हे कर्तः । हे मातः । हे पितः । हे उशनः । हे पुरुदशः । हे अनेः । “उशनसः कौ ग्रैरुप्यमेके बान्छन्ति” । नान्तमन्त सान्तमिति । कथं नान्तत्वा । अकारवित्यनुवर्तते । स च नजीपदर्थं द्रष्टव्यः । तेन कर्वाचित्ता-  
वयनम् । हे उशनन् । तथा “नखं मृदन्तस्याकौ” [५११३०] इत्यत्रापि नजीपदर्थ एव । तेन कावपि नयम् । हे उशन । यदा अनङ् न भवति तदा हे उशनः । ऋदिति तपरकरणमन्तेदार्थम् । “गृ निगरणे” [धा०] त्याग्रनुकरणनिवृत्त्यर्थं च गृरिति मया श्रुतः ।

चतुरन्तडुहोर्वा ॥५११७२॥ चतुर् अनडुह् इत्येतयोर्कारस्य वा इत्ययमादेशो भवति धे परतः । अनडुह इत्यत्र “हन्द्वाचुदहणौ रार्थे” [५१११०८] इत्यः सान्तोऽन्यथाऽन्तर्वर्तिविभक्तिकृतपटाश्रयो हकारस्य ढः द्यान् । चत्वारि । चत्वारः । अनट्वान् । अनड्वाहौ । अनड्वाहः । गोः प्राधान्यात्तदन्तविधिरपि । चतुरङ्गदन्तन्म गोर्कोऽऽदेशो भवत्यभिधन्धात् । केवलयोस्तु व्यपदेशिवद्भावः । प्रियचत्वारि । प्रियचत्वारः । प्रियानट्वान् । प्रियानट्वाहो । प्रियानड्वाहः । अनडुह् अनट्वाह् इति गौरादावुभयग्रहणात् अनडुही । अनट्वाही । नः क्रोट् क्रोट्शब्दा एकार्था ऋदुदन्तो लन्तश्च धे स्त्रिया च क्रोट्शब्दस्यैव प्रयोगः—क्रोट् । क्रोट्गो । क्रोट्पार । क्रोट्ग्रम् । क्रोट्गरो । क्रोट्ग्री । भाटिभजादिपृथग्योः । क्रोट्ग्रा । क्रोट्गुना । क्रोट्ग्रे । क्रोट्गवे । क्रोट्गुः । क्रोट्गो । क्रोट्गोः । क्रोट्गोः । क्रोट्गरी । क्रोट्ग्री । कौ शस्यामि हलादौ च क्रोट्शब्दस्यैव । हे क्रोट्गो । क्रोट्गु । क्रोट्गुभ्याम् । क्रोट्गुभिः । क्रोट्गुभ्यः । क्रोट्गुनाम् । क्रोट्गुपु । अभिधानलक्षणाः कृदृत्ताः । “नितनिगमिमनिगच्यविधाज्क्रुणिभ्यस्तु” [उ० सू०] ।

घः कौ ॥५११७३॥ चतुरन्तडुहोर्कारस्य व इत्ययमादेशो भवति कौ परतः । हे अतिचत्वः । हे अनट्वान् । वाऽऽशापवाडोऽयम् ।

ऋत इद्धोः ॥५११७४॥ ऋकारान्तस्य धोर्गोरिकारादेशो भवति । ऋरिति । गिरिति । आस्तीर्णः । निर्णीर्ण । विकीर्णते । गृज्ज्, क्ते वृत्, “सनीड वा” [५११८६] इति विभाषित इट् । “यस्य वा” [५१११२१] इति प्रतिषेधः । धोरिति किम् ? मातृणाम् । पितृणाम् । ननु लाक्षणिक तदत्र कथं प्रातिर्लाक्षणिकस्याप्यत्र १२णभिर्ये । चिरीर्णिता ।

[ उट् : ॥५११७५॥ पुचाडुप् ॥५११७६॥ सावेस्मे ॥५११७७॥ हलामचः ॥५११७८॥ मज्जवद्वोऽतः ॥५११७९॥ नेटि ॥५११८०॥ हर्म्यक्षणश्वसजागृणिश्येदिताम् ॥५११८१॥ ]

वोर्णुजः ॥५११८२॥ उर्णुज इडादा सौ मपरे वा ऐच्भवति । प्राप्ते विकल्पोऽयम् । प्रोर्णावीत् । प्रोर्णावीत् । यदा तु “इड्विज्” [१११७६] इत्यनुवर्तमाने “वोर्णो” [१११७७] इति डित्वम्, तदा एव प्रविधेयः । प्रोर्णावीत् ।



समस्कृत । सम्पूर्णस्य कृजः “सम्पूर्णपाकृजः” [४११११०] इति सुट् । पूर्वं धुगिना युज्यते पश्चात्पाधन-  
वाचिना त्येनेत्यन्तरङ्गः सुट् । अहिङ्गत्वे समकृतेष्वन कात्पूर्वमट् स्यात् ।

स्वरतिपूङ्धून्सूत्यूदितः ॥५११६२॥ स्वरति पृङ् धून् सूति ऋतेभ्यः ऊदित्भ्यश्च बलान्गन्त्य  
वा इट् भवति । “लिङ् लोदे” [५११६०] इत्येतन्निवृत्तम् । वेत्यनुवर्तते । इष्टतोऽधिकाराणां प्रवृत्तिनिवृत्ती  
इति स्वरतेरप्राप्ते विस्तृतोऽन्वेष्टा प्राप्ते । स्वर्ता । स्वरिता । स्वरुम् । स्वरितुम् । विसोता । विसविता ।  
विधोता । विधविता । सोता । सविता । ऊदितः । विगाटा । विगाहिता । निगोटा । निगूहिता । स्वरतेदितपा  
निर्देशो यदुपन्तनिवृत्त्यर्थः । सरोस्वरिता । सङ्धूजोरनुबन्धनिर्देशः । सुवतिधुवत्योर्विकल्पनिवृत्त्यर्थः । सविष्यति ।  
धुविष्यति । स्वरतेः सविषये “हन्तः स्ये” [५१११२६] इति परत्वादिट् । स्वरिष्यति । किद्विषयेऽपि परत्वात्  
“श्र्युकः किति” [५११११७] इति प्रतिषेधः । सूत्वा । धूत्वा । स्वरत्यादीनां प्रतिपदग्रहणं किम् ? ऊदित एव  
ते पठितव्याः ? पृथग्रहणस्यैतत्प्रयोजनम् । अनुबन्धकृतमनित्यं भवति । तेन उपलब्धिः । दृष्टा इत्यत्र  
भिन्नादट् द्वित्वान्दीर्घं भवति । अनुबन्धनिर्दिष्टं यदुपन्तस्य न भवति । जोगूहिता ।

रधादेः ॥५११६३॥ रध इत्येवमादिभ्यश्च वा इड् भवति । रद्धा । रधिता । नंष्टा । नशिता ।  
रधाद्योऽष्टौ द्वित्यन्ताः । प्रकृतस्येष्टः त्याद्विकल्पः, क्वादिनियमास्त्रिष्टि कथम् ? रधादिपूढात्तानुगत्तपाठाभावात्  
“येन नाप्राप्ते तस्य तद्वाधनम्” इत्यस्य न्यायस्यासम्भवात्, अविशेषेण विकल्पः । ररख्य । ररम् ।  
ररन्धिव । ररन्धिम ।

निष्कुपः ॥५११६४॥ निस्पूर्वात्कुपः कृत्वागत्य वा इड् भवति । निष्कोष्टा । निष्कोष्टिता ।  
“इदुदुहोऽन्यपुम्बुहम्” [५११२२] इति रेफस्य सत्वम् । इणः पत्वम् । निस् इति किम् ? कोपिता ।  
प्रकोपिता ।

इट् ते ॥५११६५॥ निम्पूर्वात् कुपः ते परतः इड् भवति । निस्कुपितः । निस्कुपितवान् । पुन-  
रिङ्ग्रहणं नित्या मन्वया विकल्पः स्यात् । आरम्भो हि “यस्य वा” [५१११२१] इत्यस्य आधनार्थो न  
नित्या म् । वेत्युत्तरानुवर्तते एव ।

तीपसहलुभरुपरिपः ॥५११६६॥ तकारादावगो परतः इप सह लुभ रूप रिप इत्येतेभ्यो वा इड्  
भवति । पष्टा । एपिता । सोटा । संहिता । लोब्धा । लोभिता । रोष्टा । रोपिता । रेष्टा । रेपिता । तकारादा-  
विति धिम् ? एपिष्यति । इपेर्मावादिकस्य ग्रहणं सहिसाहचर्यात् । तेनेतरयोर्विकल्पो न भवति । को  
विशेष ते “यस्य वा” [५१११२१] इति प्रतिषेधो न भवति । इपितः । इपितवान् । लुभ इत्यविशेषण-  
नत्वेनम् ।

सनीचन्तर्जभ्रस्जदम्भुस्वृथ्रिगृणुभरजपिसनाम् ॥५११६७॥ इवन्तानां धूनाम् ऋधू भ्रस्ज  
दम्भु लृ पि यु ऊर्णु भ्र णि सन इत्येतां च सनी परतः वा इड् भवति । दुनूपति । दिदेविपति । सूतूपति ।  
निसेविपति । नानिदृषते “हलन्तात्” [१११८४] इति सनः कित्त्वम् । “छोः शङ्ङे च” [४१११७] इत्यूट् ।  
स्त्रादेशो द्वित्वं च “पणि चाणिस्तोरेव” [५११४१] इति नियमात् सिवेशचात् परस्य पत्व न भवति । ईर्त्सति  
पदिपिपति । ऋणे ग्न् । अच इति द्वितीत्यैराचो द्वित्वम् । “आप्ञ्जपृथामीत्” [५१२१५७] इति  
श्रवणश्च ईर्त्सन् । सनम् । “चस्यात्र खम्” [५१२१६०] इति अर्थिम इति । “न स्फाटो न्द्रोऽयि” [४११३३]  
इति भिभज्जरा द्वित्वम् । “च चर्चम्” [५११२२६] इति ट् । विभर्त्तति । विभक्षति । विभर्जिपति विभ्रज्जि-  
पति । “नन्त्रो रन्त्रोऽन्त्रा” [४११४६] इति रन्त्रकान्तो वा पणे रम् भवति । धिप्सति । धीप्सति । दिदभिभपति ।  
“दम्भ हट्” [५१२१५८] इति त्रस्य इत्वमी ईत्वम् । “चस्यात्र खम्” । “हलन्तात्” [१११८४]  
इति तिङ् । “एवाचो वरा” [५११५४] इति धत्वम् । “सरि” [५१११२०] इति चत्वम् । सूतूपति ।





नत्यति । अनत्यति । निवृत्त्यति । अनोत्पत्ति । निनातपात । माति किम् ? कातता । अनातिन किम् ? अकत्तात् । अप्राप्ति विकल्पोऽयम् ।

गमेरिणमे ॥५१११०६॥ गमेरिड भवति सकृदो मे । इट्ग्रहण नित्यायम् । गमेरिति मम् । “गल् सृष्ट गतौ” [धा०] । “सनि” [१११११६] इति इणो गमादेशस्य “इण्वदिक.” [वा०] इति वक्तव्येन “इक् स्मरणे [धा०] इत्यस्य “इड.” [११११२०] इति “इड् अभ्ययने” [धा०] इत्यस्य चाविशेषेण गृह्यम् । गमिष्यति । अगमिष्यत् । अनादेशस्येदम् । जिगमिष्यति । इण्वदेशस्यापीदम् । अधिजिगमिषति । “इण्वदिक.” [वा०] । गमेरिति किम् ? एष्यति । म इति किम् ? सगसीष्ट । सगस्यते । सजिगसते वत्सो मात्रा । अधिजिगसते । “हनिङ्ग्यचा सनि” [१११११४] इति दीत्वम् । म इति विपर्ययनिर्देशोऽयम् । मे यो गमिरुल्लङ्घस्तस्य सकारादाविट् भवतीति । तेन हेरुपि कृति चेद् सिद्धः । जिगमिष त्वम् । जिगमिषिता । गमेरिति श्रोगविभागो द्राष्टव्यः । तत्र वेति सम्प्रथ्यते । क्वचिदन्यत्रापि वा सकाराविट् भवति । सजिगमिषिना । सजिगमिता । अधिजिगमिता वाक्यस्य ।

न वृतादेः ॥५१११०७॥ वृतादेर्मे इण् न भवति । सकारादाविति निवृत्तम् । वत्स्यति । अवत्स्यत् । वृभू । वत्स्यति । अवत्स्यत् । विवृत्सति । शत्स्यति । अशत्स्यत् । शिगृत्सति । स्यन्त्यति । अस्यन्त्यत् । मिन्यन्त्यति । कल्प्यति । अकल्प्यत् । चिकलृप्सति । कल्ता । कल्तारौ । कल्तारः । म इत्येव । वर्तिष्यते “स्वमनोर्हृद्भ्यः” [११२१२८] “लुटि च क्लृपः” [११२१२६] इति वा मविधिः । वृतादयः पञ्च वृत्पर्यन्ताः । वृत्करणमितार्थं पुतात्पर्यं च । द्विगता अपि हेतवो भवन्तीति । इह कथं विवृत्सत्वम् । अत्रापि मे इति विपर्ययनिर्देशान्मेनोपलक्षिताना वृतादीना नेट् भवति । तेन हेरुपि कृति च इट्भावः सिद्धः । विवृत्सिता । वृत्तिपत्रे तु विवर्तिष्यम् । विवर्तिष्यितुम् ।

घोपदेशोऽत्वदचसृजिदशस्तासौ नित्यानितस्थेऽन्यादः ॥५१११०८॥ उपदेशे अकारवद्वय यजन्तेभ्यः सृजि इति इत्येताभ्या च तासौ नित्यानित्वाभ्या ये वा इट् भवति व्या अट् इत्येतौ चर्जयित्वा । आदिनिष्ठादिदि प्राप्ते विकल्पः । अत्वान्-पक्ता । पपक्थ । पेचिथ । शक्ता । शशक्थ । शेकिथ । अच्-पाता । यथाय । ययिथ । चेता । चिचेथ । चिचयिथ । होता । जुहोथ । जुहविथ । स्वाप्ता । सस्वष्ट । ममर्जि । इण्-ग्रया । दद्रष्ट । दद्रर्जिथ । उपदेश इति किम् ? कर्था । चकर्पिथ । एतेषामिति किम् ? नेता । प्रिमेदिथ । तामाविति किम् ? गन्ता । जगन्थ । जगमिथ । नित्यानित एवोच्यमाने अयं गमिर्नित्यानिरन भवति । सकारादावित्वात् “गमेरिणमे” [५१११०६] इति । अतोऽस्य विकल्पो न स्यात् । तथा—जिघृक्षति । जाहि । लून्ता । लुलविथ । “सनि ग्रहगुहश्च” [५११११८] “श्रूयुः किति” [५११११७] इति सनि निनि च निन्यानिटाविमो न तु तामौ । नित्यग्रहण किम् ? अङ्क्ता । अज्जिता । आनज्जिथ । विधोता । निविता । विदुषविथ । तानो विभाषितेऽयोऽनिर्कार्यं मा भूत् । असति तु नित्यग्रहणे पाक्षिकेणापि निनामे वाऽनिर्भयः । यथा गुणे विभाषितेऽपि अनिर्कार्यं “शलोऽनिटोऽदशः वसः” [२१११४०] निनामे । एतज् । य इति किम् ? पेचिम । ययि । ययिम । अव्याद् इति किम् ? व्याता । विव्ययिथ । व्याता । आदिथ । “तदादेशास्तटग्रहणेन गृह्यन्ते” [प०] जयसिथ । अत्वदिति तपरकरण किम् ?

अनेः ॥५११११०॥ अन. “कृत.” इत्यनेन यदुक्तं तन्न भवति । अर्था । आरिय । प्रतिपेन स्तावन्नाभिसम्बन्धने । ऋत इत्येव सिद्धत्वात् । विकल्पोऽपि यदीष्टः स्यात् “अन्वदन्मृजिदण.” इत्येवान्नं ग्रहणं क्रियेत । ततः सूत्रारम्भमामर्त्याद् विधिरभिसम्बन्धने ।

स्नोर्दार्थात् ॥५१११११॥ नेत्यनुवर्तते । स्नु इत्यनेस्माद् दार्थादनिमित्तादगे ढएन भवति । प्रस्नोप्यने । प्रस्नोष्टीष्ट । प्रास्नोष्ट । “डो” [११२१७] इति ढ् । “स्नोश्च जिश्च” [२११५६] इति लुटि न जिः । मुस्तुपिप्यने इत्यत्र “सनि ग्रहगुहश्च” [५११११८] इत्यनेनैव प्रतिपेनः । इह कथं प्रस्नविनेवानगतिं प्रस्नवित्रीयते । नात्र स्नोतिर्दार्थः । किं तर्हि ? क्यङन्तो दुः । “रीङ् कृत” [५१२१३६] इति गीङ् । दोऽथा यत्स्य सोऽयं दार्थः । दप्रयोजन इत्यर्थः । कदा च स्तुर्दार्थः । यदा भावकर्म कर्मव्यतिहासं विज्ञाता । सति च दे दार्थत्वं तेन कृति न भवति । प्रस्नवितुम् । यदि सति दे दार्थ-च दे इति वक्तव्यम् । न दे परा इत्यानन्तर्यं विज्ञायेत । स्याद्विव्यवधाने न स्यात् प्रतिपेयः । दार्थादिति किम् ? प्रस्नविता । प्रस्नवितुम् ।

क्रमः ॥५११११२॥ दार्थादिति वर्तते । क्रमश्च दार्थादिण् न भवति । प्रक्रम्यते । प्रक्रमीष्ट । प्रचिक्रसते । प्रचिक्रमिष्यते । सन्नन्तप्रयोगेऽपि क्रमिरेव दार्थाः । “सन पूर्ववन्” [११२१५८] इति क्रमि सम्बन्धिनो दक्ष्यातिदेशात् । अत्रापि दार्थत्वं भावकर्म कर्मव्यतिहासं वृत्त्यादयोऽर्थाः “वाऽगे.” [११२१३६] इति षेपयोगश्च । दार्थादिभ्येव । प्रक्रमितव्यम् । प्रक्रमितुम् । सति दे दार्थवमिति । “प्रादागम्भे” [११२१३८] इति ढः ।

कर्तरि कृति ॥५११११३॥ क्रमेर्दार्थाद्विपयात् कर्तरि कृति नेङ् भवति । इह कर्तृति वचनं न, मर्त्यादस्यासम्भवाद् दार्थादिति दविपयादित्यवगन्तव्यम् । अप्रयोगेऽपि दस्य दविपयत्वं पून तु सत्येन दार्थत्वं व्याख्यातम् । प्रकृता । उपकृता । प्रचिक्रमिता । कर्तरि कृति । प्रक्रमितव्यम् । उपक्रमितव्यम् । प्रचिक्रमिषा । दार्थादिति किम् ? निष्क्रमिता । “डुडुडुडोऽन्यपुम्मुहुम्” [५१११२८] इति सत्वम् । “ङण. ण” [५१११०७] प-वम् ।

चशि ॥५११११४॥ कृतीत्येकदेशोऽनुवर्तते । वशाद्दे कृति नेङ् भवति । प्राप्ते प्रतिपेयः । उंश्च । दीप् । नन्म । यनः । वर-र-म ना एव प्रयोजयन्तीति केचित् । तदयुक्तम् । अन्यत्रापि दर्शनात् । “जमन्ताउउ” [उ० सू०] । दण्डः । “मुदिग्रोर्ग” [उ० सू०] । मुद्गः । गर्ग । “वरिदलिभ्या भ” [उ० सू०] । र्ग । दल्भः । कृतीति किम् ? रुद्रदिव । रुद्रदिम ।

भक्त्यक्रियमागमार्थः । चत्ता । तर्ता । द्रता । दर्ता । अटि (हटि) नुदितुडिस्कन्दिह्दिभिदिशदिन्नुदिपदिदि-  
दिस्विप्रति(विप्रति)विन्तयः पञ्चदश । १५। स्वित्तीति स्थनिदेशो जिरिपदा स्नेहने इत्यस्य निवृत्त्यर्थः ।  
विप्रतिविन्त्योर्विकरणनिर्देशोऽन्यविकरणनिवृत्त्यर्थः । वेदिता शास्त्रस्य । वेदिता वनस्य । केचित्तु विन्दन्तिमनिट-  
मिच्छन्ति । वेत्ता वनस्य । पचिवचिविचिरिचिसिचिशुचयः पट् । १६। प्रच्छि । १। युजिरुजिरिजिमुजिज-  
भजिजसृजिजसृजिजयजिजमरिजिजिभस्जिस्वजयश्चतुर्दश । १४। एकाच इति किम् ? वेभिदिता । अस्त्ययमले  
यत्ने च कृते उदात्तः । न त्वेकाच् । नन्वयमप्युपदेशे एकाच् । नैव वेभिप्ररूपेणोपदेशात् । यदेव  
भिभिन्तीत्यत्रापि स्यात् । सन्ततन्त्येड्भवत्येव । विभिन्तता । सनि तु परे न भवति । द्वित्वमिति स एवाय  
भिदिरेकाजदनुदात्तश्च । यदि वा उपदेशे अयमेकाच् ? अनुदात्तादिति किम् ? लविता । लवितुम् । उपदेश इति  
किम् ? पेचिव । पेचिम । कथमिदमुदाहरणं युक्तम् । असत्युपदेशाधिकारे एकाचोऽनुदात्तस्य यदि लिटि प्रतिषेधः  
सिद्धः स्यात्तदा नियमः स्याच्चकृवाद्यौ । न च लिटि प्रतिषेधः प्राप्नोति, द्वित्वे कृतेऽनेकाच्चात् । सति तूपदेशा-  
धिकारे उपदेशावस्थायामेकाजिति कृत्वा प्रतिषेधः सिद्धस्ततो नियमः ।

तितुत्रतथसिसुसरकसेऽग्रहादेः ॥५११११६॥ अत्रस्थापि प्रतिषेधोऽयम् । तितुत्रतथसिमु  
नर व स इत्येतेषु परतो नेड् भवति गहादीन् वर्जयित्वा । तति । क्तिच् । “न क्तिच दीश्च” [४।४।४०] इति  
नलदीत्वयोरभावः । सक्तुः । “सितनिगमिमिमिसिसच्यविधान्कृधिभ्यस्तुः” [३० सू०] । पत्रम् ।  
“दाम्नीगसयुयुज” [२।२।१६०] इत्यादिना ऋट् । हस्तः । “हसिमृगुण्वमिदमित्पूधूर्विभ्यस्तुः” [३० सू०]  
प्रोणादिकस्येव तस्य ग्रहणं व्याख्यानात् । के तु हसितमित्येव भवति । काष्ठम् । “हनिकुभिर्भारमिकाशिभ्यस्थः”  
[३० सू०] । कुभि । “प्रुपिप्पुपिप्पुपिक्प्यणिभ्यः विसः” [३० सू०] । इक्तुः । “इत्यशिभ्यां वसुः”  
[३० सू०] “कृधूभ्या वस्तरः” । धूसरः । शक्कः । “इणमीकापाशल्यतिमचिभ्यः कः” [३० सू०] । वस्तः ।  
“वृत्तवद्विहनिक्मिकपिमुचिभ्यः सः” [३० सू०] । अग्रहादेरिति किम् ? निगृहीति । अपस्निहितिः । निकुचितिः ।

श्रयुकः किति ॥५११११७॥ श्रि इत्येतास्मादुगन्तेभ्यश्च कित्तीएन भवति । निपठितिः । “स्त्रियां क्ति”  
[२।३।७५] शित्वा । शित् । श्रितवान् । युत्वा । युतः । युतवान् । वृत्वा । वृतः । वृतवान् । उपदेश इत्येव ।  
तीर्त्ता । तीर्ण । तीर्णवान् । श्रयुक इति किम् ? श्वयित्वा । श्वेः क्त्वा । अत्र जिरिट् च युगपत्प्राप्तुतः ।  
पग्न्यादिट् । “मृलादि” [१।१।८०] नियमादिकत्वम् । कित्तीति रिम् ? श्रयिता । ययिता । भूपणुरित्यत्र गिति  
स्त्रो कः प्रतिषेधः कित्तीत्या गकारोऽपि कृतचत्वं निदिष्टः । तस्य पूर्वत्रासिद्धत्वाभावात् पूर्व विसर्जनीयः कृतो  
यथा स्त्रोत्वा स्यात् । एवभावोऽपि “विहति” [१।१।१६] इति गकारप्रश्लेषादेव । ऊर्णुजो गुणवद्भावः ।  
पोर्णुत । प्रोर्णुतवान् । एकाच इत्येव । जागर्ति । जागरितवान् ।

सनि ग्रहगुहश्च ॥५११११८॥ नर गुह इत्येताभ्याम् उगन्तेभ्यश्च सनि नेड् भवति । जिवृभति ।  
हृदुभति । स्वरपति । ‘मुपग्रहित्वदिद सश्च’ [१।१।८२] इति कित्वाजिः । गुहरेदित्वादिकल्पः प्रातः ।  
तूतर्षा “भक्तिकः” [१।१।८२] इति क्तिच् वाचिका परत्वादिट् प्रातस्तस्यानेन प्रतिषेधे भलादित्वात् कित्त्वम् ।  
‘नीलस्य न प्रोवाजति’ “प्रियूष्मर” [५।१।६७] विमलितेड्त्वात् ततोऽपि “सनीड् वा” [५।१।८६]  
इति नियमः ।

विभिदिव । विभिदिम । ददिव । ददिम । “श्रूयुः किति” [५।१।११०] इति प्रतिषेधे मिद्वे वृग्रहणं ल्यनियमार्थम् । वृजवृद्धोरेवोदात्तेषु लिटि नेट् । तेन लुलुविव । लुलुविम । अथ (प्रति) पेधार्थं वृग्रहणं क्त्वात् भवति । यदे प्रतिषेधः दृष्टः स्यात् थाविकारे वृग्रहणं क्रियेन न विदविकारे । इह क्त्वात् जापकं ये प्रतिषेधोभावात् । वप्रस्थि । स्तुप्रभृतिग्रहणं तु प्रतिषेधार्थम् । (थे) “वोपदेजे” [५।१।१०६] इति प्राप्तम् । वमपोस्तु वृग्रहणं नियमादि (ट्) प्रातः प्रतिषि यत्ते । अमुट् इत्यनुवर्तते । सचस्त्वग्वि । सचस्त्वग्विम् ।

श्वीदिनस्ते ॥५।१।१२०॥ श्वयतेरीदिद्वयश्च ते परत इण भवति । श्नः । श्नवान् । लग्नः । लग्नवान् । आपीनः । आपीनवान् । श्व ई ईदित् ईकारोऽप्यत्र प्रक्षिप्यते । शीट् । “त” सेट् पूट् शीट्” [१।१।६२] इति जापकादिट् । पारिशोष्यादीकागन्तस्य डीडो ग्रहणम् । उडुने । उडुनवान् । “ओदितः” [५।१।६३] इति क्त्वम् । स्वाद्य ओदितः ।

यस्य वा ५।१।१२१॥ यस्य वाऽन्यन्मिन्निहुक्तस्तस्य ते परत इण भवति । गृहः । गृहवान् । इ । इष्टवान् । घृतः । घृतवान् । “तनिपतिद्विद्वाणाम्” [वा०] इति वेद्यपि पतित इत्यत्र “उसन्निहृतातीतपतित” [१।१।२१] इति जापकादिट् ।

आदितः ॥५।१।१२२॥ आकस्तेनश्च धोस्ते परत इण भवति । मित्रः । मित्रवान् । मित्रः । मित्रवान् । क्षिणः । क्षिणवान् । वृणः । वृणवान् । “सम. समि” [५।१।१६६] इत्यादिना द्वागमप्रचनान्मिद्वे आदेशवचन जापकमन्यमागमशामनमिति । तेन वान्तः । विश्वन् ।

वा भावागम्भयोः ॥५।१।१२३॥ भावे आरम्भे च आदितो श्रोन्ते परतो वा ट् भवति । भिषमस्य । भिषमस्य । प्रमितः । प्रमेदितः । क्षिणमस्य । क्षेदितमस्य । प्रक्षिणः । वेति योगविभागात् फर्मिणं वा शक्रेदिट् । आदित इति तु न मन्निवीयते । शक्तो घटः कर्तुम् । शक्तो घट कर्तुम् । भागो गर्भः । आपः क्रियाऽवयवः प्रत्यादिना श्रोत्य आरम्भः । भावग्रहणं तस्य विशेषणम् आगम्भो यो. “नदभावे क” [५।१।६५] इति भावे क्तः । “कर्तृणि चागम्भे” [५।१।६६] इति कर्तृणि क्तः ।

दान्तशान्तपूर्णदन्तस्पर्शद्वयजनाः ॥५।१।१२४॥ दान्तादयः शब्दाः पन्ताड वा निपा यन्ते । दन्तः । दन्तः । शान्तः । शमितः । पूर्णः । पणितः । दन्तः । दामितः । स्पर्शः । स्पर्शितः । छन्नः । छानितः । जनः । जापितः । ते वाऽनित्त्वं निपायन्ते । दन्तादेस्वट् प्रादेशश्च । शमितम्भोर्गिणे दीव्य प्राप्ति न स्थानि । इति “उस्य द्विवक्तो. विदिति” [५।१।१३] इति दीव्यम् । अन्यत्र मिता प्र । जपस्तु “मन्त्रपिपासा” [५।१।६७] इति विकल्पितेयो “यस्य वा” [५।१।१२५] इति प्रतिषेधे प्राप्ते ग्रहणम् ।

इति निपात्यते स्वरश्चेत् । विरेभितमन्यत् । इत्वमेतो निपातनात् । फाण्टमिति निपात्यते ग्रनायासे । फणितमन्यत् । अग्निना तत् यत्कथोष्ण तत्फाण्टम् । अथवा यदपक्वमचूर्णितमनिष्यन्दितमुदकादिसयो-  
गादिभक्तस्म । वाटमिति भवति नष्ट (भृश) चेत् वाहितमन्यत् । वाट प्रयत्ने इत्यन्यानिदृश्यम् ।  
विशस्तभृशविति भवनः वियातौ चेत् । विशस्तो वादी भृशो वादी प्रगल्भोऽविनीतो वा असुगृपोः “यस्य वा”  
[५।१।१२१] “आदितः” [५।१।१२२] इति च प्रतिषेधे सिद्धे नियमार्थं वेयात्य एवेति । भावारम्भोऽवृषे  
वेयात्येऽनभिधानम् । नियमादन्येद् । विशस्तः पणुः । धर्षितः अनुष्णः । कष्टमिति भवति कृच्छ्रे गहने च ।  
कृच्छ्र दुःख दुःखहेतुश्चोपचारात् । गरन वनम् । गुपेरविशब्दनेऽनिदृश्य निपात्यते । गुष्टा रज्जुः । गुष्टो  
पादौ । अविनन्दने इति किम् ? अत्रयुपित वाक्यमाह । शब्देनाभिप्रायनिवेदनं विशब्दं तदपि गुपेरर्थः ।  
अनेकार्थत्वाद्भूनाम् । दृढ इति स्थूले बलवति च । दृढिः स्तेऽनिदृश्य न ह्यस्य परस्य च दृढत्वं निपात्यते ।  
दृढेर्वा नमवर्जम् । ननु दृढेर्ह्येव इत्येव च न निपात्य दृढे दृढे च कृते सिध्यति । नैवम् । दृढिमा । दृढयति ।  
परिद्वय गतः । इत्यत्र पूर्ववातिऽत्वात् “ऊ रोऽनादेर्घेः” [४।४।१५३] इति स्वम् “प्ये विपूर्वात्” [४।४।५६]  
इति शेषादेशश्च न स्यात् । इह च परिद्वयस्यापत्य पारिद्वी कन्येति “प्योऽक्षु रूपान्वयोः” [३।१।६३]  
इति षः प्रसज्येत । नञ्चनञ्चतोरिति किम् ? दृढितम् । दृढितं वा । परिवृद्ध इति निपात्यते । प्रभुरचेत् ।  
परिपूर्वः दृढेर्वा न ह्यस्य । दृढे प्रयोजन पूर्वोक्तम् । परिद्वय गतः इत्यत्र सप्राम युद्धे इति समे । पाठात्  
गिरितस्व णिनुत्पद्यते । तेन “तिकुप्रादयः” [१।३।८१] इति पसे क्वात्यस्य व्यादेशः । प्रभाविता किम् ?  
परिवृढितम् । परिवृढितम् । अभ्यर्ण इति निपात्ये आविदूर्ये । अभ्यर्णं शेते । अभ्यर्णा शरत् । विदूर  
विप्रगृह्य ततोऽन्यस्मिन् विदूर तस्य भाव आविदूर्यम् । “नञ्से चतुर” [३।४।११५] इत्यत्र नञ् स इति  
त्रोगकिमाग लापेक्ष वेऽपि दृश्यम् । आविदूर्य इति किम् ? अभ्यर्णितश्चौरः शीतेन । वृत्तमित्यध्ययनेऽर्थे निपात्यते ।  
नृनेर्णन्तादिऽभावो पोक्ष् च के निपात्यते । वृत्त जैनेन्द्रम् । वृत्तस्तर्कं देवदत्तेन । अध्ययन इति किम् ?  
वर्तनो घट कुम्भकारेण । यदा वृत्तिरकर्मकस्तदाऽस्य एयन्तस्य वृत्तस्तर्क इति न भवति । यदा तु “तेन  
निर्गुत्तः” [३।२।५८] इति आपवादन्तर्भावितार्थः सकर्मकस्तदा कर्मणि क्तः “यस्य वा” [५।१।१२१] इति  
प्रातिपेधाद्वृत्तस्तर्कः । एयन्तस्य अध्ययने वर्तित इति भवति ।

सन्निविभ्योर्दे ॥५।१।१२७॥ सम् नि वि इत्येवपूर्वादेरिरेण भवति ते परतः । समर्णः । न्यर्णः ।  
वर्णः । सन्निविभ्य इति किम् ? अर्दितः । प्रार्दितः ।

न वा रुप्यमत्वरसंधुपास्वनः ॥५।१।१२८॥ एषि अम् त्वर सधुप आस्वन् इत्येतेभ्यः ते न वा  
नञ् भवति । ए । एषितः । अभ्यन्तः । अभ्यमितः । तूर्णः । त्वरितः । संधुष्टः । पादः । सधुपितः । पादः ।  
ननुष्ट पादः । नष्टपित वाक्यम् । आस्वान्तो देवदत्तः । आस्वानितो देवदत्तः । आस्वान्त मनः ।  
आस्वानित मनः । एदे “तीपसहलुभरपरिपः” [५।१।१६६] इति विकल्पेयो “यस्य वा” [५।१।१२१] इति  
निदिष्टः यस्मै प्राप्ते त्वर “आदितः” [५।१।१२२] इति प्रतिषेधे सधुपास्वनोरविशब्दमनसोरप्राप्ते  
योगी प्राप्ते न नि प्रतिपिज्ञाया सर्वत्र वेति विकल्पः ।

यमरमनमातः सक् च ॥५१११३२॥ यम रम नम इत्येतेषाम् आत्मगन्तानां च मये सौ पन्. मगागमो भवति इट् च । अयसीत् । अयसिष्याम् । अयसिपुः । व्यसीत् । व्यसिष्याम् । व्यसिपुः । अनसीत् । अनसिष्याम् । अनसिपुः । अमनीष्टि हलन्तलक्षण ऐप् न्यात् । मति तु “नेष्टि” [५११३०] इति प्रतिपिचने । आतः-आयासीत् । आयासिष्याम् । आयासिपुः । म इत्येव । उपायत् । उपायनानाम् । उपायत् । अरस्त । अरसाताम् । अरमत ।

स्मिपृङ्गञ्चयः सन्ति ॥५१११३३॥ स्मिट् पृट् ऋ अञ्ज अयट् इत्येतेभ्यः मनोऽर् भवति । मिस्मयिषते । पिपयिषते । अगिरिषति । अजिजिषति । अशिषिषते । पृट्. मन । “मनि ग्रहगुञ्च” [५११११] इति प्रतिपिष्टेऽनेनेट् । द्वित्यात्पर एप् “द्वित्वेऽचि” [१११७६] इति स्थानिवद्भावेन ग्राम । “ओः पुययङ्ये” [५१११७] इति इत्वम् । अञ्चयशोऽदित्वादिकल्पः प्रातः अश्नानेऽन्तात्तस्य नेह ग्रामम् ।

किरश्च पञ्चभ्यः ॥५१११३४॥ किरादिभ्यः पञ्चभ्यः मनोऽर् भवति । उच्चिरिषति । निजिरिषति । दिवरिषते । दिवरिषते । पिपृच्छिषति । “प्रच्छेः” [४३११०] इति जि । पञ्चभ्य इति किन् ? मिस्मृति । किरतिगिरत्योः “सनीड् वा” [५११३६] इति विकल्पः प्रातः । “वृत्तो वा” [५११३३] इति ध्यानि विभाषाश्रयणादत्येदो दीर्घ भवति । किर इति आदिशब्दस्य खे “सत्रेऽस्मिन् सुविपिषिट्” [५११११] इति म्यस. न्याने डसि. । चकारः मनोऽनुसर्पणार्थः, अन्यथा निमित्ते मन्देह स्यात् केपि पुन श्रुता अनुक्तसमुच्चयार्थ इति केचित् । तेन क्वचिदन्यत्रापीट् । “जुगृहिषन् मत्तगजोऽन्य गान्” ।

रुदादेर्गे ॥५१११३५॥ रुदादिभ्यः पञ्चभ्यः वलादो गो इट् भवति । रेंदति । रन्ति । मरिषी । नि ष्वमिति । प्राणिनि । जन्ति । “णोऽन्तितेः” [५१११०४] इति णत्वम् । पञ्चभ्य इत्येव शान्ति । ग इति किम् ? न्वमा । न्वनुम । अन्ये नृदात्ताः । वलादादिभ्योः रुदन्ति । मरन्ति । रुदादेर्गि येष मरिषी गो इत्यन्त्येभिर्देवान्योत्तरत्र मायकाणस्य ता प्रस्फपयति ।

ईडः र्व्ये ॥५१११३६॥ ईडः मकारादौ व्ये च गो पन्. इट् भवति । ईडिष्य । ईडिषे । ईड्वम् ।

ईशः ॥५१११३७॥ ईश इत्येतन्मात्र इट् भवति मकारादौ गो व्ये च । ईशिषि । ईशिषी । ईशिव्ये । ईशिवन् । योगविभागो यथाप्यस्मिन्निवृत्त्यर्थः ।

द्विदिति । द्वितीयं द्विद्विदिति कार्यातिदेशः । तेन चुकुटिपति इत्यत्र सनोऽद्वित्वाद्दो न भवति । 'गोऽपित्' [१११७८] इत्यत्र तु द्वित् इव द्विद्विदिति द्रष्टव्यम् । न कार्यातिदेशः । कार्यस्यावयवासम्भवात् । द्विति किम् ? पचावहै । आत इति किम् ? पचन्ति ।

आने सुक् ॥५१११४१॥ अत आने मुगागमो भवति । आन इति ईमिन्देशो अत इति कानिदशस्य पूर्वस्य कृतार्थस्य ताप्रसृतिं करोतीति अकारान्तस्य मुक् । पचमानः । वपमानः ।

ईदासः ॥५१११४२॥ आस उत्तरस्य आनस्य ईकारादेशो भवति । आसीनोऽधीते । आस इति कानिदशोऽनवकाश आनस्य ता प्रकल्पयति । परम्यादेरीत् ।

विभक्त्यामाष्टनः ॥५१११४३॥ अष्टन आकारादेशो भवति विभक्त्या परतः । अष्टाभिः । अष्टाभ्यः । आष्टानु । अष्टानामित्यष्टन आस्यात्वे च कृते नान्तत्वाभावादित्त्वञ्ज्ञा नास्ति । कथं नुङ् । "ष्णान्तेल्" [१११३४] इत्यत्रान्तप्रहणमुपदेशार्थमुक्तमित्यदोषः । विभक्त्यामिति किम् ? अष्टमहाप्रातिहाय्यं जिनः । "नोमता नो." [१११६४] इति प्रतिषेधात्त्याश्रयमात्रं न भवति । कथं "दूतः स्वादाट्भिर्गुरौः" इति ? "जघाम्य घोग्" [५१११८] इति कृतात्वोच्चारणं ज्ञापकम्, यत्रैवात्वं तत्रैवौशभाव इति तेनानित्यमात्रम् । आ नति विशेषनिर्देशो नकारस्य स्थाने ङसञ्जकाकारनिवृत्त्यर्थः । आत्वमिति जातिनिर्देशो प्रसज्येत ।

रागो हलि ॥५१११४४॥ रै इत्येतस्य हलादौ विभक्त्यामाकारादेशो भवति । राः । राभ्याम् । राभिः । राभ्य । राहु । हलीति किम् ? रायौ । रायः । विभक्त्यामेव । रैत्वम् । रैता ।

युष्मदस्मदोः ॥५१११४५॥ युष्मदस्मदित्येतयोर्हलादौ विभक्त्या परतः आत्व भवति । युवाभ्याम् । प्रावाभ्याम् । युवाभिः । अस्माभिः । युष्माहु । अस्माहु । "अन्तेऽलः" [११११४६] इति दकारस्य भवति ।

इषि ॥५१११४६॥ इषि च विभक्त्या परतः युष्मदस्मदोरात्वं भवति । त्वाम् । माम् । युवाम् । आवाम् । तुभान् । अस्मान् । "खमादेशे" [५१११४६] इति खे प्राप्ते पुरस्तादपवादोऽयम् । "ङेसु-दोरम्" [५११२४] इत्यम् । "जसो न." [५११२५] इति नकारः ।

प्राचि ॥५१११४७॥ ओकारे परतः युष्मदस्मदोरात्वं भवति । युवा जैनेन्द्रमधीयाथे । आनाम गणीवरे ।

यः ॥५१११४८॥ यकारादेशो भवति युष्मदस्मदोर्विभक्त्या परतः । त्वया । मया । त्वयि । मयि । तुभो । प्राप्यो । ङसर्गाऽयम् । आत्व एव चापवादः । पारिशेष्यादच्यनादेशोऽवतिष्ठते ।

खमादेशे ॥५१११४९॥ आदेशो विभक्त्या युष्मदस्मदोः ख भवति । आदिश्यत इत्यादेशो विभक्ती । तन् । अन् । दृप् । वन् । लप् । मलम् । युत्तम्यम् । अस्मन्म्यम् । लत् । मत् । युष्मत् । अस्मत् । तन् । मन् । तुष्माकम् । अस्माकम् । विभक्त्यामिति किम् ? युष्मदीयः । "ल्यदादि" [१११६६] इति ल्यप् । "दोल्" [१११६०] इति ह् । इदं खवचनं ज्ञापकम् । अत्वविधिं प्राति द्विपर्यन्तास्त्यदादयः । तेन नान्तत्वं नानिति ।



आवाभ्याम् । युवयोः । आवयोः । माववेत्येव । युवकाम् । आवकाम् । अस्मद्विभक्त्य न भवति । मेऽपि यदा युग्मदस्मदी द्वित्वे वर्तते समुदायः एकत्वे बहुत्वे वा तदापि युवावौ भवतः । न चेत् परत्वाद् 'यूयवयो जसि' [५।१।१५२] "त्वाहौ सौ" [५।१।१५३] "तुभ्यमहौ डचि" [५।१।१५४] "तवममौ डमि" [५।१।१५५] इत्यादेशान्तरेण बाध्यते । अतिक्रान्त युवाम् अतियुवाम् । अन्यावाम् । अतिक्रान्तान् युवाम् अतियुवान् । अतिक्रान्तेन युवाम् अतियुवा । अन्यावया । अतिक्रान्तैर्युवाम् अतियुवाभिः । अन्यावाभिः । अतिक्रान्तेभ्यो युवा देहि वा अतियुवभ्याम् । अत्यावभ्यम् । अतिक्रान्तात् युवा अतियुवत् । अत्यावत् । अतिक्रान्तेभ्यो युवाम् अतियुवत् । अत्यावत् । अतिक्रान्तानां युवाम् अतियुवाक्म् । अत्यावाक्म् । अतिक्रान्ते युवाम् अतियुवयि । अत्यावयि । अतिक्रान्तेषु युवाम् अतियुवासु । अत्यावासु । यदा समुदायोऽपि द्वित्वे वर्तते तदा सुतग भवतः । अतिक्रान्तौ युवाम् अतियुवाम् । अत्यावामित्यादि । अपवादविषये न भवतः । अतिक्रान्तौ युवाम् अतिवाम् । अत्यहम् । अतिक्रान्ता युवाम् अतियूयम् । अतिवयम् । अतिक्रान्ताय युवाम् अतितुभ्यम् । अतिमध्यम् । अतिक्रान्तस्य युवाम् अतितव । अतिमम । यदा च युग्मदस्मदी एकत्वे बहुत्वे च वर्तते समुदायो द्वित्वे तदापि न भवतः । अतिक्रान्तौ त्वाम् अतित्वाम् । अतिमाम् । अतिक्रान्तौ युष्मान् अतियुष्मान् । अन्यम्मान् । उ । वम् । अतिक्रान्ताभ्यां त्वाम् अतित्वाभ्याम् । अतिमाभ्याम् । अतिक्रान्ताभ्यां युष्मान् अतियुष्माभ्याम् । अत्यम्माभ्यां कृतम् । अतिक्रान्ताभ्यां युष्मान् अतियुष्माभ्यां देहि । एवम् अतिन्वाभ्याम् । अतियुष्माभ्यां विभेति । अतिवयोः । अतियुग्मयोः स्वम् । अतित्वयोः । अतियुग्मयोर्निवेदि ।

यूयवयो जसि ॥५।१।१५२॥ युग्मदस्मदोर्जसि परतो यूय वय इत्येतावादेशो भवतः । यूयम् । वयम् । गोः प्राधान्यात्तदन्तविधिगम्यत्वात् । अतिक्रान्ताभ्यां युवा युष्मान् वा अतियूयम् । अतिवयम् । परमयूयम् । परमवयम् ।

त्वाहौ सौ ॥५।१।१५३॥ युग्मदस्मदोर्माववे । त्व अह इत्येतावादेशो भवतः । सौ परम् । त्वम् । अहम् । परमत्वम् । परमाहम् । अतिक्रान्तान्वा युवा युष्मान् वा अतित्वम् । अत्यहम् ।

तुभ्यमहौ डचि ॥५।१।१५४॥ तुभ्य मध्य इत्येतावादेशो भवतः । युग्मदस्मदोर्जसि परम् । तुभ्यम् । मध्यम् । तदन्तविधिना अतिक्रान्ताय त्वा युवा युष्मान् वा अतितुभ्यम् । अतिमध्यम् । परमतुभ्यम् । परममध्यम् ।

तवममौ डमि ॥५।१।१५५॥ युग्मदस्मदोर्जसि परम् तव मम इत्येतावादेशो भवतः । तव मम । अतिक्रान्तान्वा त्वा युवाम् युष्मान् वा अतितव । अतिमम । परमतव । परममम ।

तव मम विषये प्रापणार्थम् । चकारो मविध्यनुकर्षणार्थः । ननु तवममाग्रादेशापनादादेव मावधित्वं लब्धम् । नैव शक्यम् । विभक्त्या उपि कृते तवममाग्रादेशाभावाद्धृत्स्नयोर्युष्मदस्मदो स्थाने स्यात् । ननु बहिरग उर्वितुक्तम् । इदमेव च शब्दोपादानं जापकम् “अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्ग उच् बाधते” [५०] तेन यूय पुत्रा यन् स उम्-पुत्रः यूयदेशाभावः । गोमान् प्रियो यत्येति गोमत्प्रियः इत्याद्यौ नुमादीनामभावः सिद्धः ।

त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ ॥५१॥१५८॥ गोविभक्त्या परतः त्रि चतुर् इत्येतयोः स्त्रिया वर्तमानयोस्त्रिचतसृ चतसृ इत्येतावादेशौ भवतः । तिसृभिः । चतसृभिः । तिसृषु । चतसृषु । स्त्रियामित्येतत् त्रिचतुरोरेव नृत्वादिशेषेण किमर्थम् ? यदा त्रिचतुरो स्त्रिया वर्तते समुदायः पुंसि नपुंसके वा तदापि तदन्तर्विधिनो तिसृचतसृभावो यथा स्यात् । प्रियतिसा । प्रियतिसौ । प्रियतितः । प्रियतिसृ कुलम् । प्रियतिसृणी । प्रियतिसृणि । यदा तु त्रिचतुरो पुंसि नपुंसके वा वर्तते समुदायः स्त्रिया तदा न भवति । प्रियाः त्रयः प्रियाणि त्रीणि वा स्यात् स प्रियत्रिः । एव प्रियचत्वारः । स्त्रियामिति किम् ? त्रयश्चत्वारः । त्रीणि । चत्वारि । चकारोऽनुक्त-ननु-चत्वार्योऽनुवर्तते । तेन “कचित्केऽपि खौ” । तिसृका ग्रामः ।

रोऽच्युः ॥५१॥१५९॥ तिसृ चतसृ इत्येतयोः ऋकारस्य रेफादेशो भवत्यचि परतः । तिसृस्तिष्ठन्ति । तित्त् पश्य । चतसृस्तिष्ठन्ति । चतसृः पश्य । प्रियतिसौ भयम् । “ऋतो ङिधे” [५१॥१०५] इत्येष्ट शनि “मुष्टि पूर्वस्त्वम्” [४१॥८६] ङीत्व ङसिङ्सोः “ऋत उतः” [४१॥८८] इति उः प्रसज्येत । ननु “मध्येऽपवादा-परान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्” [५०] इति ऋतो ङिधे इत्येष्टः कथं बाधा “स्पष्टं परम्” [११॥१६०] इति परादन्त्येष्टवाचित्वादेरेफादेशः दृष्टः । डावेप् । प्रियतिसरि । अथ प्रियतित इत्याद्यौ कप्तान्तः कप्तान्न भवति । नृत्वादिभिरन्या तिसृभाव इति तयाऽन्तो व्याप्त इति न कप् । अचीति किम् ? तिसृभिः । तिसृणी । नन्वामि परत्वादेः प्राप्नोति । नैवम् । “नाम्यतिसृचतसृ” [४१॥१३] इति जापकान्मुष्टि नुमभावौ न स्तः । उरिति नित् ? “अन्तेऽल” [११॥४९] इत्येव सिद्धम् । उरित्यक्रियमाणे “येन नाप्राप्त” न्यायेन तिसृचतसृभावस्यापवादो रेफः स्यात् ।

जराया चाऽसङ् ॥५१॥१६०॥ जराया अचि परतो वा असङादेशो भवति । जरसौ । जरे । जरसः । जरन् । जग्मा । जग्मा । आमि परत्वान्मुष्टोऽसङ् । जरसाम् । जराणाम् । नुमः परत्वादसङ् । अतिजरासि तपामिति । प्रादेशो “एकदेशविकृतमनन्यवद्” [५०] इति । अतिजरस कुल पश्येत्यात्राम विभक्तीमपेक्ष्यासङ् । अनन्तरान्तो जातः । स तत्त्वोरो निमित्तं न भवति सन्निपातलक्षणत्वात् । अतिजर तिष्ठति । अतिजरैरित्यत्र सन्निपातलक्षणान्नान्नभावौ । तेन नाऽसङ् । अनित्येया परिभाषेति केचित्तेन अतिजरसं तिष्ठति । अति-रिति ।

आवाभ्याम् । युवयोः । आवयोः । मावधेरित्येव । युवकाम् । आवकाम् । अरुसहितस्य न भवति । सेऽपि यदा युष्मदस्मदी द्वित्वे वर्तते समुदायः एकत्वे बहुत्वे वा तदापि युवावौ भवतः । न चेत् परत्वाद् “यूयवयौ जसि” [५।१।१५२] “त्वाहौ सौ” [५।१।१५३] “तुभ्यमहौ डयि” [५।१।१५४] “तवममौ डसि” [५।१।१५५] इत्यादेशान्तरेण बाध्यते । अतिक्रान्त युवाम् अतियुवाम् । अत्यावाम् । अनिक्रान्तान् युवाम् अतियुवान् । अति क्रान्तेन युवाम् अतियुवया । अत्यावया । अतिक्रान्तैर्युवाम् अनियुवाभिः । अत्यावाभिः । अतिक्रान्तेभ्यो युवा देहि वा अतियुवभ्याम् । अत्यावभ्याम् । अतिक्रान्तात् युवा अतियुवत् । अत्यावत् । अतिक्रान्तेभ्यो युवाम् अतियुवत् । अत्यावत् । अतिक्रान्तानां युवाम् अतियुवाकम् । अत्यावाकम् । अतिक्रान्ते युवाम् अतियुवयि । अत्यावयि । अतिक्रान्तेषु युवाम् अतियुवासु । अत्यावासु । यदा समुदायोऽपि द्वित्वे वर्तते तदा नुतरा भवतः । अति क्रान्तौ युवाम् अतियुवाम् । अत्यावामित्यादि । अपवादविषये न भवतः । अतिक्रान्तो युवाम् अतित्वम् । अत्यहम् । अतिक्रान्ता युवाम् अतियूयम् । अतिवयम् । अतिक्रान्ताय युवाम् अतितुभ्यम् । अतिमहम् । अति क्रान्तस्य युवाम् अतितव । अतिमम । यदा च युष्मदस्मदी एकत्वे बहुत्वे च वर्तते समुदायो द्वित्वे तदापि न भवतः । अतिक्रान्तौ त्वाम् अतित्वाम् । अतिमाम् । अतिक्रान्तौ युष्मान् अतियुमान् । अत्यस्मान् । अत्येवम् । अतिक्रान्ताभ्यां त्वाम् अतित्वाभ्याम् । अतिमाभ्याम् । अतिक्रान्ताभ्यां युष्मान् अतियुष्माभ्याम् । अत्यस्माभ्यां कृतम् । अतिक्रान्ताभ्यां युष्मान् अतियुष्माभ्यां देहि । एवम् अतित्वाभ्याम् । अतियुष्माभ्यां विभेति । अतित्वयोः । अतियुष्मयोः स्वम् । अतित्वयोः । अतियुष्मयोर्निधेहि ।

**यूयवयौ जसि ॥५।१।१५२॥** युष्मदस्मदोर्जसि परतो यूय वय इत्येतावादेशो भवतः । यूयम् । वयम् । गोः प्राधान्यात्तदन्तविधिरप्यत्र । अतिक्रान्तास्त्वा युवा युष्मान् वा अतियूयम् । अतिवयम् । परमयूयम् । परमवयम् ।

**त्वाहौ सौ ॥५।१।१५३॥** युष्मदस्मदोर्मावधेः त्व अह इत्येतावादेशौ भवतः । सौ परतः । त्वम् । अहम् । परमत्वम् । परमाहम् । अतिक्रान्तस्त्वा युवा युष्मान् वा अतित्वम् । अत्यहम् ।

**तुभ्यमहौ डयि ॥५।१।१५४॥** तुभ्य मद्य इत्येतावादेशौ भवतः । युष्मदस्मदोर्दयि परतः । तुभ्यम् । मद्यम् । तदन्तविधिना अतिक्रान्ताय त्वा युवा युष्मान् वा अतितुभ्यम् । अतिमद्यम् । परमतुभ्यम् । परममद्यम् ।

**तवममौ डसि ॥५।१।१५५॥** युष्मदस्मदोर्दसि परतः तव मम इत्येतावादेशौ भवतः । तव स्वम् । मम स्वम् । अतिक्रान्तस्य त्वा युवाम् युष्मान् वा अतितव । अतिमम । परमतव । परममम ।

**त्वमावेके ॥५।१।१५६॥** एक इत्ययमन्वर्गसञ्ज्ञानिर्देशस्तेन एकत्वे वर्तमानयोर्युष्मदस्मदोर्मावधेः त्व म इत्येतावादेशौ भवतः । त्वाम् । माम् । त्वत् । मत् । त्वयि । मयि । अत्रापि यदा युष्मदस्मदोर्मावधेः वाते समुदायो द्वित्वे बहुत्वे वा तदापि त्वमादेशौ भवतः, यदि “यूयवयौ जसि” [५।१।१५२] इत्यादिभिरादेशान्तर्गते बाध्यते । कथं बाधा ? अतीताश्चत्वारो योगा इहानुवर्तन्ते । ततो बाधा तद्विषयादन्यत्रापि विधिः । अतिक्रान्तौ त्वा तिष्ठतः पश्येति वा अतित्वाम् । अतिमाम् । अतिक्रान्तास्त्वाम् अतित्वान् । एवम् अतित्वाभ्याम् । अतितुभ्य देहि । अतित्वत् । अतित्वयोः । अतित्वाकम् । अतित्वयोः । अतित्वासु । यदा समुदायोऽप्येते तदा नुतराम् । अतिक्रान्त त्वाम् अतित्वाम् ।

**त्यद्योश्च ॥५।१।१५७॥** त्वमावेक इत्यनुवर्तते । एकार्यविषययोर्युष्मदस्मदोः त्व म इत्येतावादेशौ भवतः त्वे यौ च परतः । त्वत्तरो मत्तरः । त्वदीयो मदीय । त्वप्रवानाः । मप्रवानाः । त्वद्वितम् । मर्दितम् । त्वच्छिष्यो मच्छिष्यः । विभक्त्या परतः पूर्वो योगस्तस्या उपि प्रापणार्थं वचनम् । ननु नानापदान्यन्ता द्विरङ्ग उप विभक्तौमात्राश्रयत्वादनन्तरङ्गत्वाभावात्तदंशः पूर्व भविष्यतीत्यनर्थकमिदम् । नानर्थकम् । त्वात् तुभ्यमपि

तव मम विषये प्रापणार्थम् । चकारो मविध्यनुकर्णार्थः । ननु तवममाग्रादेशापवादादेव माविधित्वं लब्धम् । नैव शक्यम् । विभक्त्या उपि कृते तवममाग्रादेशाभावात्कृत्स्नयोरुष्मदस्मदो. स्थाने स्यात् । ननु बहिरग उच्चि-  
त्युक्तम् । इदमेव च शब्दोपादानं जापकम् “अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्ग उच्च बाधते” [प०] तेन यूय पुनः कृत्यं  
त उष्मपुनः यूयादेशाभावः । गोमान् प्रियो यत्येति गोमस्त्रियः इत्याद्यौ नुमादीनामभावः सिद्धः ।

त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ ॥५१।१५२॥ गोविंभक्त्या परतः वि चतुर् इत्येतयोः स्त्रिया वर्तमानोऽस्ति चतसृ इत्येतावादेशौ भवतः । तिसृभिः । चतसृभिः । तिसृषु । चतसृषु । स्त्रियामिन्येतत् त्रिचतुरेरेव पुत्त्वादिशेषण विमर्भम् ? यदा त्रिचतुरो स्त्रिया वतेते समुदायः पुस्ति नपुसके वा तदापि तदन्तर्विधिना तिसृचतसृभावो यथा स्यात् । प्रियतिसा । प्रियतिसौ । प्रियतिसः । प्रियतिस कुलम् । प्रियतिसृणी । प्रियतिसृणि । यदा तु त्रिचतुरो पुस्ति नपुसके वा वतेते समुदायः स्त्रिया तदा न भवति । प्रियाः त्रयः प्रियाणि त्रीणि वा यस्या स प्रियनि । एव प्रियचत्वारः । स्त्रियामिति किम् ? त्रयश्चत्वारः । त्रीणि । चत्वारि । चकारोऽनुक्त-  
न्नु-चत्वार्योऽनुवर्तते । तेन “क्वचित्तेऽपि लौ” । तिसृका गमः ।

रोऽच्युः ॥५१॥१५६॥ तिसृ चतसृ इत्येतयोः ऋकारस्य रेफादेशो भवत्यचि परतः । तितस्तिष्ठन्ति ।  
तिन् पश्य । चतसृस्तिष्ठन्ति । चतसृ पश्य । प्रियतित्तो भयम् । “ऋतो डिधे” [५१॥१०५] इत्येप् शभि  
“सुति पूर्वस्त्वम्” [४१॥१८६] दीत्त डसिद्धसोः “ऋत उक्तः” [४१॥१६८] इति उः प्रसज्येत । ननु “मध्येऽपवादा-  
पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्” [प०] इति ऋतो डिधे इत्येपः कथं बाधा “स्पद्धं परम्” [५१॥१६०] इति  
मन्त्रादन्तेऽपवाचित्वाद्देशे पादेष इदं । डावेप् । प्रियतितसरि । अथ प्रियतित्त इत्यादौ कप्तान्तः कृत्मान् भवति ।  
मन्त्रावभिभक्त्या तितृभाव इति तयाऽन्तो व्यात इति न कप् । अचीति किम् ? तिसृभिः । तिसृणी । नन्वामि  
परत्याद्रेष प्राप्नोति । नैवम् । “नाम्यतिसृचतसृ” [४१॥१६३] इति शापकान्नुटि नुप्रभावौ न त्तः । उरिति  
नित् ? “यन्तेऽल्ल” [५१॥१४९] इत्येव सिद्धम् । उरित्यक्रियमाणे “येन नाप्राप्त” न्यायेन तिसृचतसृभाव-  
स्यानवाधो रेचः स्यात् ।

जराया वाऽस्तङ् ॥११॥१६०॥ जराया अचि परतो वा अस्तङादेशो भवति । जरसौ । जरे । जरसः ।  
जराया । जराया । आमि परत्वानुटोऽस्तङ् । जरताम् । जराणाम् । नुमः परत्वादस्तङ् । अतिजरासि  
त्यपीति । प्रादेशो "एकदेशविकृतमनन्यवद्" [ प० ] इति । अतिजरस कुल पश्येत्यात्राम विभक्तीमपेक्ष्यासङ् ।  
पदमाराप्तो जात । स तत्त्वोपो निमित्त न भवति सन्निपातलक्षणत्वात् । अतिजर तिष्ठति । अतिजरैस्त्वित्र सन्नि-  
पातलक्षणमन्वैतन्मात्रौ । तेन नाऽस्तङ् । अनित्यैष परिभाषेति केचित्तेन अतिजरसं निगति ।

कुको तयोः ॥५१११६३॥ किमः कु क इत्येतावादेशौ भवतस्तकारादावकारे च परतः । कुतः । क । “कुतसोः” इति सत्रे मित्करणसामर्थ्यात्पदसञ्ज्ञया भसञ्ज्ञाकार्य उत्वे बाधिते यणादेशेन सिद्धे करूपे साको यथा स्यादित्येवमर्थः कादेशः ।

तोः सः साघनन्त्ये ॥५१११६४॥ त्यदादीना तवर्गस्थानन्त्ये सकारादेशो भवति सौ परतः । स्यः । नः । एपः । अनन्त्य इति किम् ? यः । सः । त्यदाद्यत्वस्येदमादयोऽवकाशाः । मत्वस्थानन्त्यस्तवर्गः । परत्याद् दस्य मत्व स्यात् । ननु सत्वेऽपि यत्वे सित्यति । नैवम् “अनिनस्मिन्ग्रहणेऽनर्थकस्यापि ग्रहणात्” [प० ४१४।१०] इति दीव स्यात् । इह च स पुरुष इति हलि मुखे दोषः स्यात् । मा इत्यत्र “अतः” [३।१।४] इति दाम्न स्यात् । तन्माद-  
नन्त्य इत्युच्यते । अनेप इत्यत्र नकारस्य कस्मान्न भवति ? “नजोऽन्” [४।३।१८] इति नकारस्य त्यदादिग्राह-  
णेनाग्रहणात् । भवानित्यत्र “स्फान्तस्य खम्” [५।३।४१] इति तवस्यासिद्धत्वात्तत्कारस्य प्राप्नोति । नयेव  
परस्वत्वस्याप्यसिद्धत्वात्तत्कारो नास्ति । ततोऽन्तरङ्गत्वादनुस्वार एव स्यात् ।

असौ ॥५१११६५॥ असाविति निपात्यते । अदसः सकारस्यौत्व सो मुखम् । अत्वबाधनार्थम् । “तोः”  
[५।१।१६४] इति दस्य च सत्वम् । असौ । हे असौ । स्त्रीपु सयोगिदम् । सावित्वेव । अदः कुलम् । अदम-  
परस्य सोरौत्वमेव निपात्यमिति चेत्, न, कुत्साद्यर्थविवक्षायामकिं त्यदाद्यत्वे दापि कृते “त्यस्ये क्पापीदतः”  
[५।२।५०] इति इत्व स्यात् । तेन असकौ स्त्रीति न सित्येत् । सकारस्य त्वौत्वे दाम्नास्तीति न दोषः ।

इदमो मः ॥५१११६६॥ इदमित्येतस्य मकारादेशो भवति विभक्त्या परतः । साविति निवृत्तन ।  
उत्तरत्र साविति निर्देशात् । इमौ । इमे । इमे । इमाः । इमे । इमानि ।

दः ॥५१११६७॥

यः सौ ॥५१११६८॥ इदमो दस्य यकारादेशो भवति सौ परतः । उत्तरत्र पुंसीति निर्देशात् स्त्रियामन-  
विधिः । इय स्त्री । नपु सके मुखे नास्ति ।

पुंसीदोऽय् ॥५१११६९॥ इदम इद्रूपस्य अवादेशो भवति सौ परतः पु स्वभिधेये । अयम् । परमायन ।  
“पूर्वोत्तरपदयोस्तावत्कार्यं पश्चादेकादेशः” । “नेन्द्रस्य” [५।२।२७] इति जापकात् ।

अनाप्यकः ॥५१११७०॥ इदम इद्रूपस्यारुकारस्यान इत्ययमादेशो भवति आपि विभक्त्या पग्न ।  
अनेन । परमानेन । अनयोः । अक इति किम् ? इमकेन । इमकयोः । आश्रिति प्रत्याहारः दादिरासुपः पमरेण ।

हलि खम् ॥५१११७१॥ हलादावापि परतः अकारस्येदम इद्रूपस्य ख भवति । आभ्याम् । एभिः ।  
एभ्यः । एपु । अक इत्येव । इमकेभ्यः । “अन्तेऽलः” [१।१।४६] कस्मान्न भवति । “नानर्थकेऽन्तेऽलो विनिः”  
[प०] । अथवा अर्थवशाद्विभक्त्योपरिणाम इति पूर्व्वेण सिद्धस्यानोऽन्तेऽल इति नखम् ।

इत्यभयनन्दिवाग्विज्ञाया जैनेन्द्रमहावृत्तौ पञ्चमाध्यायस्य प्रथमः पाठः समाप्तः ।

मृजेरेप् ॥५१२।१॥ गोरित्येतदेवानुवर्तते । मृजेरिक ऐरुभवति । मार्था । मृजेरितीगु निर्देशः “धोः स्वस्य  
ग्रहणात्तत्त्वविज्ञानम्” [प०] औणहृत्येति तत्त्वनिपातनाज्जायते । अन्यथा “हनस्तो जिणलोः” [५।२।३६]  
इत्येव तत्त्वं स्यात् । धोर्विहिते त्वे ऐरुभवति । न मृदस्ये तेन कस्यपिमृदुमिति । ननु “किडिति” [१।१।१६]  
इति प्रनिषेधः सिद्धो नैवम् । द्वित्रिमित्तयोगैवोः स प्रतिषेधः ।

किडत्यचि वा ॥५१२।२॥ मृजेरजादौ किडति वा ऐरुभवति । परिमृजन्ति । परिमार्जन्ति । परिमृ-  
जन्तुः । परिमार्जन्तुः । किडतीति किम् ? परिमार्जनम् । अचीति किम् ? मृष्ट । के तमि वा द्रष्टव्यम् ।

१. प्रतिपु सूत्रस्यास्य वृत्तिम्वृदिता ।

त्रिणित्यचः ॥५१२।३॥ जिति णिति च परतोऽजन्तस्य गोरैर्भवति । प्राकारः । अन्त्यायः । “अध्या-  
चानुवाक्योर्वोप्” [४।१।६४] इति निपातनाद्धञ् । कारको हारकः । नाचकः । लाचकः । सखायो । सखायः ।  
अनर्थकमिदम् । एपिग्वत्वे अयवोश्च कृतयोः “उडोऽतः” [५।२।४] इत्येवा सिद्धम् । मेव शक्यम् । “गुकार्ये  
निवृत्ते पुनर्न तन्निमित्तम्” [प०] इति असि च सख्युरेभ्यो विहितः गौर्जैत्रमित्यत्र चावयादेशाभावादेभ्यो सिद्ध्येत ।  
अज्जहणमनिगार्थं गौरिति । णित्करणं तु गावो गावः इत्यत्रावादेशे सति “उडोऽतः” [५।२।४] इत्येपि चरि-  
तार्थं स्यात् ।

उटोऽतः ॥५१२।४॥ गोरकारस्य उटः ऐच् भवति त्रिणिति परतः । पाङ्गः । पाटः । पाचकः । पावङ्गः ।  
पाचयति । उट इति किम् ? पिपठिपङ्गः । पकाराकारस्य मा भूत् । अन्त्यस्य पूर्वेण प्राप्नोति । नैवम् । पूर्ववि-  
प्रतिषेधेनातः स भवति । अतः इति किम् ? भेदकः । तपरकरणं मुखसुखार्थम् ।

हृत्यचामादेः ॥५१२।५॥ अच इत्यनुवर्तते । हृति त्रिणिति परतः अचामादेरच ऐच् भवति । आश्च-  
प्राविः । त्रैपृष्ठिः । सौलोचनः । सौतारः । “नदीमानुपी” [३।१।१०२] इत्यादिनाण् । अचामिति किम् ? हला  
मविवक्षार्थमन्यथा अजादीनामेव स्यात् । अङ्गुलक्षणास्थोऽङ्गुलक्षणास्य चैपः पश्चादादेशैप । त्याट्टः । जागतः ।  
“तस्येदम्” [३।१।८८] इत्यण् । “सकृद्गते परनिर्णये बाधितः एव” [प०] पुनः प्रसङ्गविज्ञानपक्षेऽपि न  
दोषः । अनुशक्तिकादिषु पुष्करसच्छब्दपाठात् पौष्करसादिः । बाह्यादेशिञ् [३।१।८५] । अन्यथा तत्रोभयोः  
पदयोरेव पाठोऽनर्थकः स्यात् ।

देविकाशिंशपादीर्घसत्रश्रेयसामाः ॥५१२।६॥ देविकादिभिराद्यचो विशेषणात् केवलानां तदादीनां  
च गणम् । देविकाया भव दाविकमुदकम् । आग्निशेषेणाद्देविकूले भवा दाविकुलाः शालयः । शिंशपाया  
विवार शाणप भम् । शिंशपास्यले भव शाशपास्यलम् । दीर्घसत्रे भव दार्घसत्रम् । श्रेयोऽधिकृत्य कृतो ग्रन्थः  
ये ग्रन्थे भवो वा श्राव्यः स्याद्वाटः । देविकादीनामादेरच इति किम् ? सुदेविकाया भवा सौदेविकाः । पूर्वदेविकाया  
भवः पूर्वदाविकः । पूर्वशाणपः । प्राचा ग्रामौ । “प्राचां ग्रामाणाम्” [५।२।१६] इति योरैप्रसङ्गे अनेनाकारः ।

कैकेयमित्रयुप्रलयानां यादेरिय् ॥५१२।७॥ कैकेय मित्रयु प्रलय इत्येतेषां यकारादेरियादेशो  
अस्ति इति त्रिणिति परतः । कैकेयस्थापत्यम् । “राष्ट्रशब्दाद्वाज्ञोऽञ्” [३।१।१५०] । आदेशैप् । कैकेयः ।  
मित्रयोर्भावः । “वृद्धचरणाब्जलाघान्याकारावेते” [३।४।१२४] इति वुञ् । लोकिक् तत्र वृद्ध गृह्यते । मैत्रेयक  
भाश्लायो । प्रत्यागतं प्रालेयम् ।

ग्रहणम् । द्वारपाल्या अपत्य द्वारपालिकः । “रेवत्यादेष्टु” [३।१।१३४] इति टण् । स्वरमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः सोवरः । तदादेरपि । स्वगव्याये भवः सौवगव्यायः । व्यत्कमे भवः वैयत्कमः । स्वस्तीत्याह सोवस्तिकः । तदाहेत्यस्मिन्नर्थे टणुक्तः । स्वर्भव सोवम् । “कर्ममात्रे टिखम्” [वा०] इति टिखम् । स्वर्गमनमाह सौवर्गमनिकः । स्वः अव्याय स्वाव्यायः । स्वाव्यायेन चरति मोवाव्यायिकः । अचामादेरित्यनुवर्तनादायचः समीपस्य यण एयोवादेशौ स्वशब्दस्यैव । तदादिविधिना सिद्धमिति चेत्, न “स्वगव्देन तदादिविधिरनित्यः” इतीदमेव जापकम् । तेन स्वपतो साधु स्वापतेयमिति । स्म्यकृतस्यापत्य न्यैयकृतः । “कुर्वीयन्यकवृत्तोः” [३।१।१०३] इत्यण् । स्वादुप्यस्येष्ट सौवादुप्यम् । शुनो चिन्नारः शौवः सङ्कोचः “श्वाश्मचर्मणा सकोचविन्नारकोशेषु” [४।४।१३२] इति टिखम् । शुनो दष्ट्रा श्वादष्ट्रा । “अन्यस्यापि” [४।३।०३०] इति दीत्वम् । तत्र भवः शोवादष्ट्रो मणिः । तथा शौवाहननम् । स्वस्येष्ट सोवम् । तदादेः स्वग्रामे भवः मोवग्रामिकः । अन्त्यात्मादित्वाष्टण् ।

न्यग्रोधस्य केवलस्य ॥५।२।१०॥ न्यग्रोधस्य केवलस्य यो यकारस्तस्य ऐयित्वमादेशो भवति इति ध्विति परतः । न्यग्रोवस्याय नैयग्रोधो ढण्ड । केवलस्येति किम् ? न्यग्रोधा अस्मिन्देशे सन्ति ‘बुब्बुण्ड’ [३।२।६१] इत्यादि पाठाक्तः । टाप् “त्यस्ये व्यापी” [५।२।५०] इत्यादिनेत्वम् । न्यग्रोविनाया भः न्याग्रोधिकः । अत्र “भस्य ह्युदे” [वा०] इति पुवद्भावः प्राप्तः । “न बुहल्कोड” [४।३।१४६] इति प्रतिषेधः । तथा न्यग्रोधमूले भव न्याग्रोधमूल टणम् । ऐत्रेव भवति । ननु न्यग्रोधस्योच्यमान कथमन्याविस्म स्यात् ? तदन्तविधिना । यद्येव नार्थः केवलग्रहणेन न्यग्रोवस्य प्राधान्येनाश्रयणात्तदन्तविध्यभावः । एत तर्हि तदादिनिवृत्त्यर्थं केवलग्रहणम् । अन्यत्रेह तदादिविधिरस्तीति जायते । न्यग्रोवतीति व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम् । केवलस्यैव । अव्युत्पत्तिपक्षे विव्यर्थं सूत्रम् ।

न जे ॥५।२।११॥ जे जार्थे कर्मव्यतिहारे ध्विति हति यदुक्तं तत्र भवति । व्यात्युक्षी । व्याप्नोर्शी । व्यापचोरी वर्तते । “कर्मव्यतिहारे ज.” [२।३।०६] इति ज. । “जात् स्त्रियाम्” [४।२।२२] इत्यण् । तस्मिन् प्रतिषेधः ।

स्वागतादेः ॥५।२।१२॥ स्वागतादेश्च यदुक्तं तत्र भवति । स्वागतेन चरति स्वागतिकः । स्व वरम्नाप्य स्वाधगिः । स्वङ्गः स्वाङ्गिः । व्यङ्गः व्याङ्गिः । व्यङ्गः व्याङ्गिः । व्यवहारेण चरति व्यावहारिकः । व्यवहारगद्यो न कर्मव्यतिहार एव वर्तते किन्तर्हि लोकवृत्तेऽपि । ततः पाठः । स्वपतौ साधु स्वापतेयम् ।

श्वादेरावतः ॥५।२।१३॥ श्वादेर्गौरिकादौ यदुक्तं तत्र भवति । अतश्च य उत्पद्यते तस्मिन् चकारमन्तरेणापि समुच्चयो गम्यते । यथा पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति । श्वाभान्त्रि. । श्वाददिट् । श्वाकर्णिः । श्वाशीर्षिः । श्वागणिकः । श्वेव भस्त्रास्य, शुन इव दण्डास्य, शुन इव कर्णावस्य, शुन इव शिरोऽस्य । स्वशिरसोऽपत्य बाह्यादिपाठादिज् । अजादौ हति शिरसः शीर्षादेश उपसङ्ख्यानानेन । इत्यादीत्य व्यपदेशिवद्भावेन । अतो य उत्पद्यते तत्रापि प्रतिषेधः । श्वाभन्वेरिष्ट श्वाभन्त्रम् । श्वाकर्णम् । “उज्ज.” [३।२।८६] इत्यण् । श्वन्शब्दो द्वारादिषु पठ्यते । तस्य तदादिविधिः अस्तीति इदमेव प्रतिषेधश्चन जापकम् । श्वादेरिति किम् ? श्वमिश्रचरति शोविकः । केवलस्य न प्रतिषेधः. “नोऽपु सो हति” [४।४।१३०] इति टिखम् । आवत इति किम् ? श्वाभन्त्रस्येष्ट शौवाभन्त्रम् । शौवादष्ट्रो मणिः ।

वा पदान्तस्य ॥५।२।१४॥ श्वादेर्गो. पदशब्दान्तस्य यदुक्तं तत्र भवति वा । निमुक्तम् । द्वागश श्वशब्दस्य तदादिविधिना औबुक्तः । श्वापदाना समूहः श्वापदम् । शौवापदम् । शुन इव पदमस्य श्वापदम् । “अन्यस्यापि” [४।३।०३२] इति दीत्वम् । द्वागशो पूर्वनिर्णयेन नित्यं प्रतिषेधः । श्वापदेन चरति श्वापदिकः । अन्तग्रहणं न स्नेह्यम् । “येनानि विविम्वन्तान्यो.” [१।१।६७] इति स्वयमेव पदान्तस्य श्वादेरित्यु

वर्तमानान्न नान्यस्य कस्यचिद् भविष्यति । एव तर्ह्यन्तग्रहणं जापकमनित्यस्तदन्तविधिः । तेन “स-स्य-विधौ न तदन्तविधिः” [प०] इति न वक्तव्यम् ।

द्योः ॥५१२।१५॥ घोरित्ययमधिकारो वेदितव्यः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमित्यामः घोरित्येव तद् वेदितव्यम् । “हनन्तोऽधिगणोः [५१२।१६] इत्यतः प्राग्वद्यति । “प्रोष्ठपदानां जाते” [५१२।२३] प्रोष्ठपदासु जातः प्रोष्ठपादो माणवकः । घोरेप् । पूर्वपदस्य तेन न भवति । “येन नाप्राप्ते तस्य तद्वाधनम्” [प०] इति न्यायात् । ननु “ईष्वेयव्यवाये पूर्वपरयोः” [१।१।६०] इति न्यायेन “अवयवाद्यतोः” [५१२।१६] इत्यादौ कानिर्देशाद् घोरेव भविष्यति नार्थोऽनेन ? “प्रोष्ठपदानां जाते” इत्यादौ कानिर्देशो नास्ति तदर्थं वचनम् । अन्यथा प्रोष्ठपदादौ नियमो न शक्येत ।

अवयवाद्यतोः ॥५१२।१६॥ अवयववाचिनः शब्दादुत्तरस्य ऋतोर्गोरचामादेरच ऐवभवति । पूर्व-वाचिनः । अपरवाचिनः । पूर्वसु वर्षासु जातः । हृदर्थविवक्षाया “हृदर्थद्युसमाहारे” [१।३।४६] इति पसः । “कालाट्ठञ्” [३।२।१३१] इति ठञ् । ननु कालाट्ठञुक्तः । “स-स्य-विधौ न तदन्तविधिः” [प०] । कथं कालान्तात् ? नेव दोषः । “ऋतोर्जिद्विधाववयवात्” इति तदन्तविधिरुपसङ्ख्यातः । एव पूर्वहैमनः । अपरहैमनः । “भसन्ध्या” [३।२।१३७] इत्यादिनाम् । “हेमन्तात्तत्त्वम्” [३।१।१३८] इति तत्त्वम् । अवयवादिति किम् ? पूर्वान्वतीनासु वर्षासु जातः पौर्ववर्षः । आपरवर्षः । “प्राग्द्रोरण्” [३।१।६८] । पूर्वशब्दोऽत्र कालवाची नावयवाची । अत एवावयवतत्त्वतदन्तविध्यभावात् “कालाट्ठञ्” [३।२।१३१] नेष्यते ।

सुसर्वाङ्गिद्राष्टस्य ॥५१२।१७॥ सु सर्वं अर्द्ध इत्येव पूर्वस्य राष्ट्रवाचिनः शब्दस्य घोरचामादेरच ऐव भवति । सुपाञ्चालकः । सर्वपाञ्चालकः । अर्द्धपाञ्चालकः । शोभनाः पाञ्चालाः । प्रादिलक्षणः पसः । सर्वे पाञ्चालाः । “पूर्वपाल” [१।३।४४] इत्यादिना यसः । अर्द्धपाञ्चाला इति । “विशेषणं विशेष्येणेति” [१।३।५२] पसः । सुपाञ्चालेषु जात “राष्ट्रावधोः” [३।२।१०२] “बहुत्वेऽदोरपि” [३।२।१०३] इति वुञ् । कथं राष्ट्रदुःसमानस्तदन्ताट्ठञ् । “सुसर्वाङ्गादिकशब्देभ्यो जनपदस्य” इति तदन्तविधिरुपसङ्ख्यातः । एव सुभागधकः । सर्वमागधकः । अर्द्धमागधकः ।

दिशोऽमद्राणाम् ॥५१२।१८॥ राष्ट्रस्येत्यनुवर्तते । दिक्शब्दादुत्तरस्य राष्ट्रस्य मद्रवर्जितस्य घोरचामादेरच ऐव भवति । पूर्वपाञ्चालकः । अपरपाञ्चालकः । दक्षिणमागधकः । उत्तरमागधकः । पूर्वेषु पाञ्चालेषु जात । एदमे पसः । पूर्वान्तेन तदन्तविधिना वुञ् । अमद्राणामिति किम् ? पौर्वमद्रः । “मद्रेभ्योऽण्” [३।२।८०] । दिश इति किम् ? पूर्वेष्ववयवभूतेषु पाञ्चालेषु भवः । अणि । पौर्वपाञ्चालः । दिशि यः पूर्वशब्दो वर्तते न विशब्दोऽभिप्रेतो नावयवे वर्तमानः । अत एव तदन्तविध्यभावाद् वुञ् नास्ति । योगविभाग उत्तरा ।



इति वुञ् । पूर्वपाटलिपुत्रकः । अपरपाटलिपुत्रकः । पूर्वकन्याकुब्जाया पूर्वस्यां कन्याकुब्जाया वा जातः अणि णे च कृते पूर्वकान्यकुब्जः । ननु चैकमेव पाटलिपुत्रम् । पाटलिपुत्रान्तरस्य व्यवच्छेदस्याभावाद् कथं पूर्वशब्देन विशेष्यते ? पाटलिपुत्रैकदेशे पाटलिपुत्रशब्दो वर्तते इत्यदोषः ।

सङ्ख्यायाः सङ्ख्यासंवत्सरस्य ॥५।२।२०॥ सङ्ख्यायाः परस्य सङ्ख्याशब्दस्य संवत्सरस्य च द्योरचामादेरच ऐवभवति ङिति हति परतः । दिनावतिकम् । त्रिनावतिकम् । द्वाभ्या नवतिभ्या क्रीतम् । हृदये रसः । “आर्हाट्टण्” [३।४।१७] । तस्य “रादुवखौ” [३।४।२६] इत्युप् । दिनवतिना द्रव्येण क्रीतं पुनष्टण् । अथवा द्वौ च नवतिश्च । “वा चचारिंशदादौ” [४।३।१६०] इत्यनात्त्वम् । “लिङ्गमणिष्यं लोकाथ-यत्वात्तिङ्गस्य” [५०] इति नैकवद्भावेऽपि नपुंसकत्वम् । “द्वन्द्वे द्युवल्लिङ्गम्” [१।४।१०२] दिनवत्या क्रीतम् । एव द्वे पृथी भूतो भावी वा द्विपाटिकः । द्विपट्यादिशब्दो वपेपु सङ्ख्ये येपु वर्तमानः कालवाची । तेन कृतावि कारविहितष्टण् । द्वौ संवत्सरो भूतो भावी वा द्विसावत्सरिकः । त्रिसावत्सरिकः । संवत्सरग्रहणं निगम्यम् । “परिमाणस्याखुशाणे” [५।२।२२] इत्येव सिद्धम् । तत्र अशाण इति प्रतिषेधात् परिच्छेदमात्रं गृह्यते नाग्रे-परिणाहलक्षणम् । तेन द्विवैतस्तिकम्, त्रिवैतस्तिकमिति सिद्धम् । एव तर्हि संवत्सरग्रहणं जापयम् । “परिमाणग्रहणेन कालपरिमाणं गृह्यते” । तेन द्वे समे अधीष्टो द्वैसमिकः । द्योरैम्न भवति तथा द्विवर्त माणविका । “परिमाणादृष्टुपि” [३।१।२६] “रात्” [३।१।२५] इति टीर्न भवति । द्वे वपे भूता प्राग्वत्पठनः “वर्पादुप् च” [३।४।८५] “प्राणिन्युप्” [३।४।८६] ।

वर्षस्याभाविनि ॥५।२।२१॥ सङ्ख्याया इति वर्तते । सङ्ख्यायाः परस्य वर्षशब्दस्य अचामोदश्च ऐवभवति हति ङिति परतः यद्यभाविन्यर्थे हृत्तदैव स्यात् । द्वे वर्षे भूतं द्विवापिकम् । अभाविनीति किम् ? त्रीणि वर्षाणि भावि त्रैवपिकं धान्यम् । ननु द्वे वर्षे अधीष्टो भूतो वा कर्म करिष्यति द्विवापिको मनुष्य इति भाविता गम्यते कथं न प्रतिषेधः ? नैवम्, करिष्यतीति प्रयोगे भाविता गम्यते न तु हृदयं भावी । ननु मनुष्या भिधाने “प्राणिन्युप्” [३।४।८६] इति टण् उप कस्मान्न भवति । भूतविषये सोऽभ्युपगम्यते नाधीष्टादो । ततो “वर्पादुप्च” [३।४।८५] इति विकल्प उच्यते भवति ।

परिमाणस्याखुशाणे ॥५।२।२२॥ सङ्ख्याया इति वर्तते । सङ्ख्यायाः परस्य परिमाणस्य समुदायनाया गम्यनानायामशाणे च द्योरचादेरचो ऐव भवति । अखुशाण इति विषयलक्षणेयमीप् । द्विसोवर्णिम् । द्वाभ्या सुवर्णभ्या क्रीतम् । आर्हाट्टणः “कार्पाणसहस्रसुवर्णशतमानाद्वा” [३।४।२७] इति वानुप् । एव द्विनेपिकम् । त्रिनैपिकम् । बहुनैपिकम् । “द्वित्रिवहोर्निष्कविस्तात्” [३।४।२८] इति वोप् । द्विकोटविकम् । द्वाभ्या कुट् वाभ्या क्रीतम् । “रादुवखौ” [३।४।२६] इत्युप् । द्विकुडवेन द्रव्येण क्रीतं पुनष्टण् । अखुशाण इति णिम् पञ्च लोहितानि परिमाणमस्य, पञ्च कलापाः परिमाणमस्य पाञ्चलौहितिकम्, लोहिनीशब्दन्य “वा ट्ण् द्यमो” [३।४।५६] इति टणः “रादुवखौ” [३।४।२६] इति नोप् । द्वैशाणम् । त्रैशाणम् । “द्वित्रिभ्यामण्” [३।४।३४] इत्यण् । “कुलि जस्यापि प्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] । द्विकुलिजे प्रयोजनमस्य द्वैकुलिजिकम् ।

प्रोष्टपदानां जाते ॥५।२।२३॥ योरिति वर्तते । प्रोष्टपदानां द्योरचामादेरच ऐव भवति जानाव हति ङिति परतः । प्रोष्टपदाभिर्मुक्तः कालः । “भाद्युक्तः कालः” [३।२।४] इत्यण् । तस्य “उमभेदे” [३।२।५] इत्युप् । उमि युक्तवत्तिङ्गसङ्ख्यातिदेशः । प्रोष्टपदानु जातः । अण् । तस्य “भेभ्यो बहुलम्” [३।३।१३] इति बहुलवचनादिहानुप् । प्रोष्टपादो माणवकः । जात इति किम् ? प्रोष्टपदानु भवः प्रोष्टपदो मेघः ।

हृत्तिन्धुभगे द्वयोः ॥५।२।२४॥ हृत्तिन्धु भग इत्येपु यपु द्वयोः पदयोरचामादेरच ऐवभवति । सुहृदयस्येदं सोहार्दम् । “हृदयस्य हृत्तेष्वयायलामेषु” [३।३।१६१] इति हृद्भा । अथवा “सुहृदुर्हृदो मित्रा-

मित्रयोः” [४।२।१५०] इत्यनयोर्ग्रहणम् । महासिन्धो भवः माहासैन्धवः । “कच्छादेः” [३।२।१११] इत्यण् । सिन्धुशब्दस्य तत्र तदन्तविधिरपि । सौभाग्यम् । दोर्भाग्यम् । सुभगाया अपत्यं ढणि “कल्याण्यादीनामिनट्” [३।१।११५] सौभागिनेयः ।

अनुशक्तिकादेः ॥५।२।२५॥ अनुशक्तिक इत्येवमादीनां शब्दानां द्वयोः पदयोरचामादेरच ऐच् भवति । अनुशक्तिकस्येदम् आनुशातिकम् । आनुशातिकः । अनुहोड-आनुहोडिः । अनुमवरण-आनुसावरणिः । अगारवेणोरिटम् आगारवेणवम् । असिहत्यायां भवम् आसिहात्यम् । अस्यहत्य इति केषाञ्चित् पाठः । अस्यहत्यग्रन्थोऽस्मिन्नस्ति आस्यहात्यम् । “विमुक्तादिभ्योऽण्” [४।१।६५] अस्यहेतीति पाठान्तरम् । अस्यहेतिः प्रयोजनमस्य आस्यरौतिकम् । अथ्यः । आथ्यायिः । वध्योऽस्यापत्यं वाध्योगः । “विदादिभ्योऽनुयानन्तर्येऽण्” [३।१।६३] । पुष्करसद्-पौष्करसादिः । अनुवाहुः-सान्ववाहुः । सान्ववाहविः । “वाह्यादेरिञ्” [३।१।८५] । कुरुकत्-कौरुकात्यः । “गर्गादेर्यञ्” [३।१।६४] । कुरुपञ्चालेषु भवः कौरुपाञ्चालाः । “प्राग्द्रोरण्” [३।१।६८] । राष्ट्रसमुदायो राष्ट्रग्रहणेन न गृह्यते । तेन “राष्ट्रावध्योः” [३।२।१०२] इति वुञ् नास्ति । उदकशुद्ध-ग्रीवक-शब्दिः । रत्नाप-ऐरलौकिकः । पारलौकिकः । प्रयोजनार्थं वुञ् । सर्वलोकः-सर्वस्मिन् लोके विदितः सार्वलौकिकः । “लोकात्” [३।४।४४] “सर्वात्” [३।४।४५] इति ठण् । सर्वभूमेरीश्वरः सार्वभौमः । “सर्वभूमिपृथिव्याभ्यामण्” [३।४।४१] । सार्वपौरुषम् । तस्येदमर्थं प्रायोगिकम् । आधिदैविकम् । आधिभौतिकम् । भवार्थं अव्यात्मादित्यादृष्टण् । परस्त्री-पारस्त्रीशेषः । ठणि “कल्याण्यादीनामिनट्” [३।१।११५] । सूत्रनट-सोत्रनाटिः । अभिगममर्हति आभिगामिकः । राजपुरुषात्किञ् । राजपुरुषायणिः ।

देवताद्वन्द्वे ॥५।२।२६॥ देवताद्वन्द्वे च द्वयोः पदयोरचामादेरच ऐच् भवति । आग्निवारुणम् । अग्निश्च वरुणश्च देवते अस्य । ऐविविषये “ऐषीत्” [४।३।१४१] इत्यग्नेरित्वम् । एवम् आग्निमारुतम् । अभिधानपशागनट् विषयेऽयं विधिरन्यत्र न भवति । स्कान्दविशालः । ब्राह्मप्रजापत्यः । तस्येदमर्थं अण् । “दिति” [३।१।७०] आदिना एयश्च ।

नेन्द्रस्य ॥५।२।२७॥ गोरिति वर्तते । इन्द्रस्य द्यौरैभ्यो भवति । आग्नेन्द्रः । “देवताद्वन्द्वे” [५।२।२६] इति पूर्वपदस्यानट् । इन्द्रस्य द्यौरैवादेशे कृते “यस्य दद्यां च” [४।४।१३६] इत्यखे च आदेरचो नाशात् । भयः प्राप्तिः । इदमेव शापकम् “पूर्वोत्तरपदयोः कार्यमन्तरङ्गमप्येकादेशं बाधते” । तेन पूर्वपुकाशभाटव गिह्याः भवन्ति । गोरिति किम् ? ऐन्द्राग्नः । “अजाद्यत्” [१।३।६६] इत्यत्रेन्द्रस्य वा पूर्वनिपातः ।

वा द्योः ॥५१२३१॥ जङ्गल धेनु वलज इत्येतस्य द्योरचामादेरच ऐवभवति वा । कौर-  
जाङ्गलः । कोरजङ्गलः । वैश्वधेनवः । वैश्वधेनवः । सौवर्णनालजः । सौवर्णवलजः । पूर्वेण नित्ये  
प्राप्ते विकल्पः ।

परिमाणस्याऽनतोऽर्धाद्वा पूर्वस्य ॥५१२३२॥ परिमाणस्यार्धादुत्तरस्य अनतः स्थाने ऐव् भवति  
पूर्वपदस्य तु वा । अर्धद्रोण पचति आर्द्धद्रोणिकः । अर्द्धद्रोणिकः । आर्धकोडविकः । अर्द्धकोडविकः ।  
“पूर्वपदस्य वा” इति वचनाद् द्युविशेषण वाग्रहण नेहाभिसम्बध्यते । अनत इति किम् ? आर्द्धप्रस्थिकः । अर्द्ध-  
प्रस्थिकः । अर्धचमसेन क्रीतम् आर्धचमसिकम् । अर्धचमसिकम् ।

प्रवाहणस्य ढे ढस्य ॥५१२३३॥ प्रवाहणस्य ढे परतः द्योरैव् भवति पूर्वपदस्य तु वा दान्तस्य  
चान्यस्मिन् हृति ज्जिति परतः । प्रवाहणस्यापत्य प्रावाहणेयः । “शुभ्रादेः” [३११११२] इति ढण् । दान्तस्य  
प्रावाहणेयस्यापत्य प्रावाहणेयिः । प्रवाहणेयिः । प्रवाहणेयस्येदम् । “वृद्धचरणज्जित्” [३१३१६४] इति जुन् ।  
प्रावाहणेयकम् । द्योरैपि सत्यसति च नास्ति विशेषः । पूर्वपदस्य विकल्पार्थः ।

नजः शुचीश्वरक्षेत्रज्ञकुशलचपलनिपुणानाम् ॥५१२३४॥ द्योरैव् पूर्वस्य वेति वर्तते । नजः  
परेषां शुचि ईश्वर क्षेत्रज्ञ कुशल चपल निपुण इत्येतेषामचामादेरच ऐवभवति पूर्वपदस्य तु वा । न शुचिरशुचिः  
अशुचेरिदम् अशौचमाशौचम् । अथवा नास्य शुचिरस्ति अशुचिः । अशुचेर्भावः “व्याघेरिकः” [३१४११२१]  
इत्यण् । “नज्सेऽचतुरसङ्गत” [३१४११५] इत्यत्र व्याख्यातम् । चतुरादिभ्यो नज्स् एव भावकर्महृद्विवि ।  
अन्येभ्यस्तु नज्सात्पूर्वमिति । न पठोर्भावः अपाठवम् । तेन नज्सेभावाभिधायी ल्यो नोक्तः । अनैश्वर्यं  
मानैश्वर्यम् । अक्षौत्रज्यम् । आक्षौत्रज्यम् । ब्राह्मणादिषु नज्सावेतौ । अकुशलस्येदम् अकुशलमाकुशलम् ।  
अचपलस्येदम् अचापलमाचापलम् । अनिपुणस्येदम् अनैपुणमानैपुणम् । यद्यपि कुशलचपलनिपुणशब्दा  
ब्राह्मणादिषु युवादिषु च पठ्यन्ते तथापि तत्र तदन्तविधेरभावाज्जसे त्रमे वा कृते द्यव्यण्णावप्राप्तावाकृति-  
गणत्वाद्वद्व्यौ ।

यथातथयथापुरयोः क्रमेण ॥५१२३५॥ यथातथ यथापुर इत्येतयोः नज उत्तरयोः क्रमेण द्वयोरेव  
वति । अथाथातथ्यमायथातथ्यम् । अथाथापुर्यमायथापुर्यम् । ब्राह्मणादिषु नज्सावेतौ । यथातथा यथापुरा  
“सुप्सुपा” [११३१३] इति सविधिः । अयथातथाभावः अयथापुरा भावः इति विग्रहः । सौत्रत्वान्निर्देशस्थेति प्राल्ना  
पठितौ । यदि वा “यावद्यथावध्यत्सादृश्ये” [११३१६] इति हसे कृते पश्चाज्जसः । नन्वेकत्र नज्सात्पूर्व ल्यङि-  
अन्यत्र नज्से । तेनोभय सिद्धमतो व्यर्थमिदम् । न व्यर्थम् । नज्सात्पूर्व प्राप्नोतीत्युक्तम् ।

हनस्तोऽजिणलोः ॥५१२३६॥ हृतीति निवृत्तम् । अजिणलोरिति प्रतिषेधात् मामान्येन जिणीति  
वर्तते । हनस्तकारादेशो भवति जिणिति परतः अजिणलोः । घातयति । घातक । “अन्तेऽल” [११११६६]  
इति नकारस्य तत्त्वम् । देशघाती । सर्वघाती । “सुपि शीलेऽजातौ णिन्” [२१२१६६] घातघातम् । “णम् चा  
भीक्ष्ये” [२१४८] इति णम् । द्वित्वम् । घञि घातः । सर्वत्र “हो हन्तेऽणिञ्चि” [५१२१५६] इति कु रन् ।  
अजिणलोरिति किम् ? अघानि । जघान । इह कम्मान् न भवति वृत्त हतवानिति वृत्तम् । तन्नेद वार्त्तनम् ।  
“पादिहन्तराज्ञोऽणि” [३१४१२३] इत्यखम् । “योः स्वरूपग्रहणे तत्त्वविज्ञानम्” [५०] इति धोरैव् भवति ।

आतो रल्ल औः ॥५१२३७॥ आकाशान्ताद्गोदत्तरस्य रल्ल औः आकाशदेशो भवति । पपौ । तन्ना । पा  
इत्येतस्मादणलि परतः युगपत्त्रोणि कार्याणि प्राप्नुवन्ति द्वित्वमेवादेश औन् च । तत्रेवादेशादनवसाणनेन  
परमौन् चम् । द्वित्वादपि पग्व्वादैप् । इदानीमपि कृते निमित्तनिमित्तिनोर्विभागाभावात् लिटि पग्वो द्वित्वस्य  
मान न स्यात् । “द्विवेऽचि” [१११५६] इति स्थानिवद्भविति । ननु द्विवनिमित्ते अचि स्थानिवद्भावात् उच्ये

चात्राचो निमित्तत्वं भेदाभावात् । एव तर्हि “द्वित्वेऽचि” [१११।५६] इति सूत्रे द्वित्व इति योगविभागादिन स्थानिवद्भावः ।

जिहृतोर्युक् ॥५१२।३८॥ आकारान्तस्य गोः जौ कृति ङिति च परतः युगागमो भवति । अत्रायि । अत्रायि । दायः । धायः । दायकः । धायक । जिहृतोरिति किम् ? ययो । यमो । यवौ । जा दवता अत्र अणि ज ।

न सेटस्तासि मोऽवमिकमिचमः ॥५१२।३९॥ मान्तस्य गोः तासि सेटः जौ कृति ङिति च यदुक्तं तत्र भवति । किञ्चोक्तम् ? ङितीत्यनुवर्तनाद् “उडोऽतः” [५१२।४] इत्यैप् । अशमि । अतमि । अशमि । शमकः । दमकः । तमकः । शमः । तमः । दमः । विश्रमः । कथं सूर्यविश्रामभूमिः ? प्रमादप्रयोग एषः । तासि सेट इति किम् ? यामकः । रामकः । म इति किम् ? चारकः । पाठकः । अवमिकमिचम इति किम् ? वामः । कामः । आचामः । जिहृतोरिति किम् ? शशाम । तताम । कथमुद्यमः । उपरमः ? “अड उद्यमे” [धा०] “यम उपरमे” [धा०] इति निपातनात् ।

जनिवध्योः ॥५१२।४०॥ जनि वधि इत्येतयोश्च जिहृतोर्यदुक्तं तत्र भवति । अजनि । अवधि । जनकः । वधकः । जनः । वधः । वधिरिति प्रकृत्यन्तर हलन्तमस्ति । तस्येदं ग्रहणम् । न हनादेशस्यादन्तत्वात् । तेन सिद्धम् । “भक्तकश्चेन्न विद्येत वधकोऽपि न विद्यते” ।

अर्तिहोव्लीरीकन्यूरीक्ष्माय्यातां पुग् णावेप् ॥५१२।४१॥ गोरिति वर्तते । अर्ति ही व्ली री कन्यूरी क्ष्मायी इत्येवामाकारान्तानां च गूना णौ परतः पुग् भवति एष्व । अर्तिरिति तिपा निर्देशः ऋकारान्तनिवृत्त्यर्थः । इति ऋच्छति वा कश्चित् तत् प्रयुङ्क्ते अर्पयति । हेषयति । विजनातेऽर्त्तपयति । रीयते रिणातेश्च रेपयति । निरनुग्रहपरिभाषा नाश्रीयते । कन्यूरी कनोपयति । “वलि व्योः खम्” [४।३।५५] इति यखम् । “न धु खेऽने” [१।१।१८] इत्येवप्रतिषेधः प्राप्नोति अगनिमित्ते खे स प्रतिषेधः । वर्णनिमित्तं चेदम् । क्ष्मायी क्ष्मापयति । आकारान्तानाम् । दापयति । धापयति । लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषेह नाश्रीयते । ग्लापयति । अघ्यापयति । “इवस्तौ” [१।१।१७] इत्याश्रयणात् आतः एव न भवति । पुकः पूर्वान्तकरणं किम् ? दापयतेर्लुङि अदीदपदित्यत्र “णौ कच्युट्” [५।२।११५] प्रादेशार्थः ।

शाच्छासाताव्यावेपां युक् ॥५१२।४२॥ शा च्छा सा हा व्या वे पा इत्येतेषां खौ परतः युगागमो भवति । निशाययति । अपच्छाययति । अवसाययति । सहाययति । सवाययति । पाययति । शादीनां कृतात्वानां चरणं लाक्षणिस्तथापि पूर्वेण पुकमाख्यानुम् । कापयति । जापयति । वेज एकारान्तनिर्देशः “अौवै शोषखे” [धा०] इत्यस्य निवृत्त्यर्थः । वातेरन्विकरणादग्रहणम् । पाग्रहणे “पे ओवै शोषखे” [धा०] इत्यस्यापि ग्रहणम् । आनागन्तवर्गात् पृथक् पाटो लाक्षणिकत्यागार्थः इत्यन्ये । पातेर्लुङ् वक्ष्यति । युफः पूर्वान्तत्वं निशाययतेर्लुङि न्यशीशपदिति प्रादेशार्थम् ।

पो विधूनने जुक् ॥५१२।४३॥ वा इत्येतस्य विधूननेऽर्थे जुग् भवति खौ परतः । पक्षकेणोपवाजयति । “वज वज गर्तौ” [धा०] इत्यस्य स्यन्तस्य क्त्विन्न रूपम् । नैव वातेर्युक् स्यात् । विधूनन इति किम् ? आवापयति वेजान् । “शोवे शोषखे” [धा०] इत्यस्येदं रूपम् । “धून्त्रीओखौ जुगिष्यते” इति विधूननवचनं पापकम् ।

पानेर्लुक् ॥५१२।४४॥ पातेर्लुङ्गागमो भवति णौ परतः । पालयति शीलं गुरुः । तिपा निर्देशोऽनुक्त्वि-  
वन्निवृत्त्यर्थः । ननु दन्तनिवृत्त्यर्थश्च । ननु पाल रक्षण इति चौरादिकस्य रूपं भविष्यति । नात्रापि  
सुभारम् ।

लो वा स्नेहद्रवे ॥५१२४५॥ ला इत्येतस्य णौ परतः वा लुगागमो भवति स्नेहद्रवेऽर्थे । वृत्त विलायति विलापयति । विलाययति । ला इति लिनातेः द्रवीकरणार्थस्य “विभाषा लियोः” [५१२४४] इति कृतात्वत् धूनामनेकार्थत्वात्लातेश्च स्नेहद्रवे वृत्तिरित्युभयोर्ग्रहणम् । स्नेहद्रव इति किम् ? अथो विलाययति । जटाभिगलापयते । लीयतेः कृतात्वात् “लियोऽधाष्ट्यसन्मानने च” [५१२४६] इति टः ।

लियो नुक् ॥५१२४६॥ ली इत्येतस्य णौ परतः स्नेहद्रवेऽर्थे वा नुग्भवति । वृत्त विलीनयति । वृत्त विलापयति । लियोऽनात्वपक्षे स्नेहद्रवार्थस्य ग्रहणम् । स्नेहद्रव इत्येव । अथो विलाययति । णो ऐक्यादेशो । अथ “विभाषा लियोः” [५१२४४] इत्यात्वपक्षे एकदेशविकृतस्यानन्यत्वान्नुक् कस्मान्न भवति ? लिय इत्यत्र ली ई इतीकारप्रश्लेषादीकारान्तस्य नुक् ।

रुहः पः ॥५१२४७॥ रुहः णौ परतः पकारादेशो भवति वा । आरोपयति । आरोहयति स्वर्गं जिन धर्मः । अथ “युप रूप लुप विमोहने” [धा०] इति रुष्यतेः रोपयति, रुहेः रोहयतीति भविष्यति । न शक्यमेवम्, आरोपयतीति भविष्यति न शक्यमेवम् । आरोपयतीत्यत्र रुहेरर्थः प्रतीयते न रुष्यतेः । अनेकार्था वः इति पादप्रसारिकैषा ।

स्फायो वः ॥५१२४८॥ वेति निवृत्तम् । स्फायी इत्येतस्य वकागदेशो भवति णौ परतः । स्फाययति । स्फाययतः । स्फाययन्ति । “अन्तेऽलः” [५११४६] इत्यन्तस्य ।

शदोऽगतौ तः ॥५१२४९॥ शदेश्णौ परतः अगतावर्थे तकारादेशो भवति । पुष्पाणि शातयति । फलानि शातयति । अगताविति किम् ? गाः शाटयति यष्ट्या । “शद्लु गातने” [धा०] इति निपातनान् मिद्वमिति चेत्, निपातनमत्राधकमितरस्य शक्येत । यथा “पूर्वकालैक” [५१२४४] इत्यत्र पुगणशब्दपुरातनशब्दस्य ।

त्यस्थे क्वापीदतोऽमुपोऽयत्तदौ ॥५१२५०॥ त्यस्थे ककारे परतः पूर्वस्य अकारादेशादेशो भवति अमुपो य आप् तस्मिन् यत्तदित्येतौ वर्जयित्वा । कुत्सिता जटा जटिका । मुण्डिका । त्य इति किम् ? शक्नोतीति शका । तका । धोरय कः । स्थग्रहणे किम् ? कारिका । हारिका । अमति न्य ग्रहणे त्ये कीत्युच्यमाने “येनालूविधिः” [५११६७] इति ककारादावेव स्यात् । स्थग्रहणे सर्वत्र सिद्धम् । कीति किम् ? नन्दना । रमणा । कीतीप्निर्देशः किम् ? “ईष्वेत्यव्यवाये पूर्वपरयो” [५११६०] इति परस्य मा भूत् । पटुका । मृदुका । आपीति किम् ? कारको हारकः । अत इति किम् ? गौका । नीका । तपरकरणं किम् ? बहुखट्वाका । बहुमालाका । “वाऽपः” [५१२१२७] इत्यप्रादेशपक्षे । प्रपक्षे ग्रतुर कपः परोऽयमाप् । अमुप इति किम् ? बहवः परिव्राजका अस्या बहुपरिव्राजका मथुरा । “त्यग्ने त्याश्रयम्” [५११६३] इति सुवन्तात्परिव्राजकदाब्दादयमाप् । ननु च वसे समुदायादमुवन्तादावितीत्य प्राप्नोति, तस्मत् अमुप इति प्रसज्यप्रतिषेधोऽयम् । न चाप्सुवन्तादवयवात्परो भवति । पर्युदासे हि दोषः । मुपोऽन्यः अमुप् समुदायस्तस्मादावितीत्य स्यात् । बहूनि चर्माणि अस्या बहुचर्मिकेत्यत्र अमुवन्तात्कपः परोऽयमावितीत्यम् । अयत्तदाविति किम् ? यका । मका । यका यका पश्यति तका तका वृणीते । इह कथं प्रतिषेधं, यतीति स्वतीति विचि या सा इति स्थिते के प्रादेशे च कृते यका मका । निपकादावेनौ द्रष्टव्यौ । ननु कीति वर्णनिर्देशः तन्वापीति परवेन विशेषणं नोपपद्यते आकारेण व्यवधानात् । एकादेशो भविष्यति । एकादेशः पूर्वविधौ स्थानिवद्भवतीति व्यवधानमेव । एव तर्हि वर्णनैकेन व्यवधानेऽपि वचनप्रामाण्याद्भवति । सद्धानेन पुनर्व्यवधानमिति । स्थाना समूहो रथस्या पुत्रकाम्या पुत्रकाम्या इत्यादौ न भवति ।

वाऽतोऽधोर्यकात् ॥५१२५१॥ अधोर्ने यकारः ककारश्च तान्यामुनरन्यान् स्थाने यो अकारः तन्वात्तमुपः वा द्रष्टव्यः । कुत्सिता इत्या इत्यका । इभमर्हतीति “दण्डादेः” [५१२६४] नः । पः ।

क्षत्रियका । क्षत्रियिका । अर्थका । अर्थिका । चटका । चटिका । मूषिका । मूषिका । आन  
इति किम् ? साङ्गाश्वे भवा साङ्गाश्विका । अधोरिति किम् ? सुनयिका । सुनयिका । सुशोचिका ।  
सुपायिका । गोभनो नयोऽस्या सुनया । “केऽणः” [५।२।१२५] इति प्रादेशे कृते धोरन्तो यकार-  
कारावमू ताभ्या परस्य न विकल्पः । यकादिति किम् ? अश्वी । अश्विका । वेति योगविभागः । ना च  
व्यवस्थितविभाषा । तेन “तारका ज्योतिषि” । तारिकान्या । “आशियि” जीवतादिति जीवका । नन्दका ।  
जीविका । नन्दिकाऽन्यत्र । अनुकम्पिता देवदत्ता । के कृते “अनजादौ वा एतम्” [वा०] उक्तम्—“देवता”  
देवदत्तिसन्धेय । “वर्णका तन्तुविकारे” । वर्णिकान्या । “वर्तका शकुनौ प्राचाम्” । वर्तिकाऽन्यत्र । “षष्टका  
कर्मविशेषे” । षष्टिका तुलान्यत्र । अष्टौ परिमाणमस्या इति । सूतका । सूतिका । पुत्रका । पुत्रिका ।  
वृन्दारका । वृन्दारिका । “क्षिपकादौ न भवत्येव” “क्षिप प्रेरणे” [धा०] । ध्रु स्थैर्य । क्षिपतीति  
क्षिपा, के क्षिपका । ध्रुवा, ध्रुवका । यसा । सका । इत्येवमादिः क्षिपकादिः दक्षिणात्यिका । इहत्विजा  
इत्यादावित्यमेव ।

भस्त्रैपाजाङ्गास्वानां नञ्सेऽपि ॥५।२।५२॥ भस्त्रा एषा अजा शा द्वा त्वा इत्येतेषा नञ्से  
अनेऽपि आतः स्थाने यो प्रकारः तस्य वा इद् भवति । भस्त्राशब्दस्य “अनुक्तपुंस्कादाच्च” [५।२।५३]  
इतीम विधि वक्ष्यति । इह नञ्सादन्यत्रापि प्रतिपादयिष्यते । अभत्तका । अभत्तिका । अविद्यमाना  
भन्ना अत्ता इति चभत्ता । कुत्सार्थे कः । एपका । एपिका । एतदः सर्वनाम्नोऽकभाविनि नौ “त्यदा  
देर” [५।१।१६६] इत्यत्वम् । प्राक् सुप्. टप् । एषेति विकृतनिर्देशाच्च षत्व तत्र विकल्पः । एतिकास्ति-  
ष्ठन्ति इत्यन नित्यमित्वम् । अजसा । अजिका । अनजका । अनजिका । नञ्से कृते कः । जानातीति शा ।  
गका । जिजा । अजिसा । द्वके । द्विके । स्वका । स्विका । अस्वका । अस्विका । एषा द्वे नञ्पूर्वे  
अनुदाहरणे । मुञ्जतादपो विहितत्वात् । नञ्सात् पूर्वम्पश्चाद्वा अकि कृते “त्यस्ते त्याश्रयम्” [१।१।६३] इति  
अन्तर्वर्तिनी विभक्त्योमात् नित्य मुञ्जतादाधिति न प्राप्तिरित्यस्य । अनेपका । अद्वके इति भवति । स्वशब्दस्य  
तु जातिधनाख्याया सर्वनाम्नोऽजाविरहादगन्तः । अकि हि सति तस्य टे. प्राग्भावात्सुबन्तग्रहणेन ग्रहणम् ।  
मुञ्जतादास्यात् । जातिविवक्षाया तु न स्वा अत्ता कुत्सार्थे कः । अस्वका । अस्विका । अपिग्रहणे किम् ?  
नञ्से अत्र इत्येतास्तु । अन्यस्मिन्पि मे क्वचिद्भावावर्थम् । वद्वो भन्ना अत्ता इति के बहुभक्तका । बहु-  
भक्तिसा । निर्भक्तसा । निर्भक्तिसा ।

अनुक्तपुंस्कादाच्च ॥५।२।५३॥ अनुक्तपुंस्काद्विहितस्यातः स्थाने योऽकारस्तस्य आच्च भवति  
एष वा । नञ्से अनेऽपीति वर्तते । खट्वाका । खट्विका । खट्वाका । मालाका । मालिका । मालका ।  
भत्तासा । भत्तिसा । भत्तका । खट्वादिशब्दा नित्य स्त्रियामेव वर्तन्ते इत्यनुक्तपुंस्काः । नञ्सेऽपि । अभ-  
त्तासा । अभत्तिका । अभत्तका । अखट्वाका । अखट्विका । अखट्वाका । परमखट्वाका । परमखट्विका ।  
परमखट्वाका । एतेऽपि यदा कपि परत “वाऽपः” [५।२।१२७] इति प्रादेशस्तदानुक्तपुंस्काद्विहित-  
स्यात स्थाने अकार इत्यनेन विधि । अविद्यमाना खट्वाऽस्या अखट्वाका । अखट्विका । यदा न  
यत् तदा “छागोनीच” [१।१।२८] इति प्रादेशादनुक्तपुंस्त्वम् । अखट्विका । अतिनान्ता खट्वाम्  
अतिनान्तिता ।

इसुसुक्तः कः ॥५१२।५५॥ इम् उम् उक् इत्येवमन्तात्तरान्ताच्च गोः परस्य ठस्य क इत्यय-  
मादेशो भवति । सर्पिः पण्यमस्य सार्पिकः । वार्हिकः “कुप्वोस्ये” [५१२।२६] इति रेफस्य सः ।  
“इणः पः” [५१२।२७] इति पत्वम् । धनुः प्रहरणमस्य धनुः पण्यमस्य “प्राग्याट्ठन्” [३१३।१२६]  
धानुकः । याजुष्कः । उक्-निपादकर्षा जातः नैपादकर्षुकः । शावरजम्बुकः । “ओर्देजे ठन्” [३१२।६६] ।  
“केऽणः” [५१२।२५] इति प्रादेशः । मातुरगणत मातृकम् । “कृतष्टन्” [३१२।५०] । तान्तात्—  
उदशिवत् पण्यमस्य औदशिकः । भवनोऽय भावकः । ननु मयित पण्यमस्य मायितिक इत्यत्र “यस्य  
इद्या च” [३१३।१३६] इति खे कृते तान्तादिकस्य स्थानिवद्भावेन कादेशः प्राप्नोति । अजादिति  
निमित्तस्तकारो नाजाटि हन्ति । “मन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विधातस्य” [५०] “अक्षिणुविहु-  
मृषिच्छद्विच्छद्विभ्य इत्” [३० सू०] इत्येवमादिना प्रतिपद्योक्तयोरिमुमोर्ग्रहणादिह न भवति । आशिषा तरति  
आशिषिकः । उपा चरति औपिकः । “आडः आसु इच्छायाम्” [धा०] “वम निवामे” [धा०] इत्येताभ्या  
क्वपि “लिङाशिपि” [३१३।६६] इति निपातनादित्वम् । “वमोर्जिः” [३१३।१२०] “आमिवमिवमाम्”  
[५१३।४०] इति पत्व नप्सेऽपीत्यतोऽपिशब्दवृत्तेः “दोषोऽपीप्यते” [वा०] । दोर्षा तरति दौर्क ।

चजोः कुधिरण्ययोस्तेऽनिटः ॥५१२।५६॥ चकरजकारयोः कुत्व भवति विति एये च परत ।  
पाकः । त्यागः । रागः । पाक्यम् । योग्यम् । भोग्यम् । न त्वत्र चकारस्य विति जकारस्य गो साम्याद्यथामङ्गप  
प्राप्नोति “तेन रक्त रागात्” [३१२।१] इति ज्ञापकात् स्वरितलिङ्गाभावाद्वा न भवति । तेऽनिटः इति किम् ? रजः ।  
खर्जः । गर्जः । समाजः । परिव्राज्यम् । याच्यम् । धर्च्यम् । नन्वेतेऽनिट इति कुत्वं प्राप्नोति । नेप  
दोषः । तेऽनिट इति विद्यमानस्य विशेषणम् । अजेस्तु बीभावेनासत्त्वादविशेषण तन्मात्र ममाज इति भवति ।

शुच्युच्च्योर्धञि ॥५१२।५७॥ शुचि उच्चि इत्येतयोर्धञि परतः । कुत्व भवति । ते मेधाविमो ।  
शोकः । समुदगः । उच्चैर्दकारोऽप्युक्ते कुत्वे कृते “उदग” इति । चुना योगे वत्वमुक्त चुत्वाभावे न भवति ।  
अथ समुदगतः । समुदग इति । गमेर्देन सिद्धम् । एव तर्हि धञि उदगोः जकारान्ततानि वृत्त्यर्थम् ।

न्यङ्कुवादेः ॥५१२।५८॥ पूर्वणाप्राप्ते विविः । न्यङ्कु इत्येवमादीना च कुत्व भवति । “नावन्त्वे”  
[३० सू०] दलुः । मद्गुः । मस्जेः “भृमृगीतृचरितनिमिमस्त्रिभ्य उ” [३० सू०] जश्त्वम् । मस्य द ।  
भृगुः । भ्रस्जेः “प्रथिमृदिभ्रस्जं जिः सखं च” [३० सू०] इति कु । तक्रम् । चक्रम् । “स्फायितञि  
वञि” [३० सू०] आदिषड्गणे रक् । मेहतीति मेघः । इगट्लक्षणः कः गणपाठादेप् । शुन पचतीति  
श्वपाकः । पचादिषु श्वपचशब्दोऽस्ति सोऽपि माधुः । अर्धभवदाघनिदाघा घनन्ताः सज्जाशब्दाः । अर्जित  
लक्षण कुत्वमिह ज्ञेयम् ।

हो हन्तेर्जिणञि ॥५१२।५९॥ हन्तेर्दकारस्य कुत्व भवति जिणिति त्ये नकारे घञि भावकारणे मपरत ।  
घातयति । घातः । सर्वघाती । देशघाती । घातघातम् । घातो वर्तते । नकारे—नान्त । धन्तु । ग्रधन । ह  
इति किम् ? अलोऽन्यस्य माभूत् । हन्तेरिति किम् ? विहारः । जिणतीति किम् ? हतः । कथं यदन्त्य  
जङ्घनीति । अथ “चान” [५१२।६०] इति कुत्वमिष्यते । बुनिर्देशार्थस्तिप् । जिण्द्रग्रहण हन्तेर्विशेषण जितस्य  
हन्तेर्हो हकारस्य । नकारो हकारस्य विशेषणम् । नकारे परनोऽनन्तरस्य हकारस्य स चेद्धन्तेरिति श्रौत चान  
न्तये धन्तीत्यादाविष्ट स्थानिवद्भावादेवेन व्यवधान नाश्रितम् । वचनप्रामाण्यात् । मद्धानेन पुनर्ध्वनयन्तः  
हननमिच्छति हननीयति । तस्य ण्वौ हननीयकः ।

चात् ॥५१२।६०॥ चादुत्तरस्य हन्तेर्दकारस्य कुत्व भवति । अह जपन । धणित्वात् गांन ।  
जङ्घनये । जिपामति । हन्तेर्ध्वनन्त तन्मादन्तपरस्य कुत्वं च निमित्तत्वे तेने न भवति । हननीयितुमिच्छति  
जिह्वनीयिषति ।

हेरकचि ॥११२६१॥ हिनोतेर्हकारस्य चात्परस्य अकचि कुत्वं भवति । प्रजिघाय । प्रजेयीयते । प्रजिघीपति । अकचोति किम् ? प्राजीहयत् । हेर्यन्ताल्लुडि “णिधिद्रु” [१११४३] इत्यादिना कच् । णिचम् “णौ कच्युट्” [५१२११५] इति प्रादेशः । णौ कृत स्थानिवद्भवतीति कचि दिशब्दस्य द्वित्वम् । ननु हेः स्वनिमित्ते त्वे चादुत्तरस्य कुत्वमुक्तम् । एयन्त च प्रकृत्यन्तर कथं कचि प्राप्तिः । अयमेव प्रतिषेधो जापनो एयधिरूपापि भवति । प्रहाययितुमिच्छति प्रजिघाययिपति ।

सल्लिटोर्जेः ॥११२६२॥ सनि लिटि च यश्चस्तस्मात्परस्य जेः कुत्व भवति । जिगीपति । जिगाय । सल्लिटोरिति किम् ? जेजीयते । जिनातेर्लिटि जित्वे कृते “हलः” [४१४१२] इति ङीत्वे कृते एकदेशपरिभाषया जिप्रत्ययेन ग्रहण नेप्यते लक्षणाकृत्वात् । “गुर्गिवाक्चादुडोऽसुधिय.” [४१४१०८] इति यत्वम् । जिज्यतुः । जिज्युः ।

चा चेः ॥११२६३॥ चिनोते. मल्लिटोः परतः चात्परस्य वा कुत्व भवति । धर्मं चिकीपति । धर्मं चिचोपति । चिमाय । चिचाय । सल्लिटोरित्येव । चेचीयते । अप्राप्ते विरुद्धोऽयम् ।

न वञ्चेर्गतौ ॥११२६४॥ वञ्चेर्गत्यर्थस्य कुत्व न भवति । वञ्च्य वञ्चति वाणिजाः । गतौ किम् ? वङ्ग्य काष्ठम् । “यस्य वा” [५१११२१] इति “तेऽनितः” [५१२१५६] कुत्व प्राप्तम् । ननु गतावेव वञ्चि पठ्यते । सत्यम् । अनेकार्था धव इत्यन्यत्र मा भूत् ।

एय आवश्यके ॥११२६५॥ आवश्यकोऽर्थे ण्ये परतः कुत्व न भवति । अवश्यपाच्यम् । अवश्य-मेच्यम् । “आवश्यकधमर्ययोर्णिन्” [११११४६] इत्यधिकृत्य “व्याः” [११११४७] इति एयः । मयूस्त्वमकादित्वात्सविधिः । “व्यान्ते एवश्यमो नाशः” इति मखम् । आवश्यक इति किम् ? पाक्यम् । नेक्यम् ।

यजित्यजिप्रवचाम् ॥११२६६॥ यजि त्यजि प्रवच इत्येतेषा एये परतः कुत्व न भवति । प्राज्यम् । त्याज्यम् । प्रवाच्यम् । अनावश्यकार्थमिदम् । प्रवचिग्रहण शब्दखावपि प्रतिषेधार्थम् । प्रवाच्यो नाम पाठिशेषः । अन्ये तु पुनराहु — प्रपूर्वस्यैव वचेः अशब्दत्वे कुत्वप्रतिषेधो यथा स्यात् । अत्यगिपूर्वत्वं मा भूत् । अधिवाच्यम् ।

वचोऽशब्दखौ ॥११२६७॥ वचोऽशब्दखौ एये परतः कुत्व न भवति । वाच्यमाह । अशब्द-खाविति किम् ? प्रस्थापित वाक्यमाह । शब्दस्यैव सञ्ज्ञावाक्यमिति । तदुक्तम्—आख्यात सविशेषण-मि प्रादि वाक्यम् ।

भुजप्रयाजानुयाजौकप्रयोज्यनियोज्यभोज्यानि ॥११२६८॥ भुज प्रयाज अनुयाज श्रोक प्रयेत्य निशेच रोच इत्येतानि शब्दरूपाणि निपात्यन्ते । भुज इति पाणो । भुज्यतेऽनेनेति भुजः । “हलः” [११११०२] इति करणे घञ् । एङ्कुत्वयोरभावो निपात्यते । भोगोऽन्यः । अथ “भुजो कौटिल्ये” [५०] इत्यत्र “भुजलक्षणे के रूपम् । न तस्याभ्यवहारार्था प्रतीतिः । रुटिशब्देऽप्यनुगमोऽस्ति । यथा गौरीति गौ । प्रयाजानुयाजौ वजाङ्गे । “अकृतेरि” [१११११८] इति घञ् । प्रयागः । अनुयागः । इत्येवा-न्तः । एतेषां चि नञि । उच के उच्यतीत्योकः । इगुटलक्षणः कः । न्युच्यत्यस्मिन्निति न्योकः । “पार्थे वरिषाणम्” [५०] इति क । एप् कुत्व च निपात्यते । उचिस्ते सेट् तदर्थम् । के उच इत्यस्य रूपस्य निपातः । वेङ् । द्विषाणम् इत्यादिषु “उणादयो बहुलम्” [११२१६७] इति कुत्वम् । प्रयोज्यनि-पातोऽयम् । प्रयेत्यु शक्य प्रयोज्य । नियोज्य शक्यो नियोज्य । “अकि लिङ् च” [१११११८] इति एङ् । एङ् नानेऽनेन । प्रयोपो निशेच इत्येवान्यत्र । भोज्यमिति भुज पालनाभ्यवहारयोरित्यस्य नञेऽस्ति । नोद नोदन् । नोज्ञा रूपम् । ननु भक्षिस्य परपिशदे वर्तते न तु द्रवद्रव्ये तत्कथ





पिबन्ति । अत्र “घ्युङ्” [५१२।८३] इति एप्रानोति । अकारान्तोऽयमादेशो अथवा गुकाय निवृत्ते पुनर्न तन्निमित्तमिति न भवति । घ्रा-जिघ्रति । ध्मा-धमति । स्था-तिष्ठति । म्ना-मनति । दाग् । प्रयच्छति । द्रष्टि इति दृष्टेतिपि “शपोऽद्वादिभ्यः” [११४।१४३] इत्यत्र अप इति योगविभागाच्छप उपि कृते “भ्रूयकिति सृजिदृशोऽम्” [४।३।५१] इत्यमा निर्देशः । एवमर्तिसत्योरपि ज्ञेयम् । पश्यति । पश्यन्ति । अर्ति-ऋच्छति । अनुव्विकरणस्य ग्रहणम् । सर्ति । धावति । मर्तेर्व्याख्यानात् शेन्ने धावादेशो नान्यत्र । ससरति । प्रसरतीत्यादि । शद्-शीयते । शीयते । “सदेर्गात्” [१२।५५] इति ट । सद् । सीदति । द्रष्ट्यादीनां तिषा निर्देशो यदुन्नतनिवृत्त्यर्थः । शतरि शिति प्राप्तिः । दृर्दृशत् । अरियत् । सर्तत् । अतश्च रिक् । इतरयो रुक् ।

ज्ञाजनोर्जा ॥५१२।७७॥ ज्ञा जन इत्येतयोः जा इत्ययमादेशो भवति शिति । जानाति । जायते । जा इति दीत्वोच्चारणं किम् ? “यज्यतो दीः” [५१२।६६] इत्यत्र मिडीत्यनुवर्तनाद् दीत्व न स्यात् ।

प्रादेः प्रः ॥५१२।७८॥ पू इत्येवमादीनां प्रादेशो भवति शिति परतः । पुनाति । लुनाति । पादयो रेलीवृद्धिर्वाक्यत् । त्वादीनां समाप्त्यर्थं वृत्करणमेतदिति केचित् । आगणान्ताः प्रादयः । तदयुक्तम् । उभयगणपरिममात्यर्थता वृत्करणस्य न विरुद्ध्यते । किञ्चागणान्तपक्षे व्रीणाति, श्रीणाति जानातीत्यत्र प्रः स्यात् ।

मिदेरेप् ॥५१२।७९॥ मिदेर्गोरेभवति शिति । मेयति । मेयतः । मेयन्ति । मिदेर्य इक् तस्याय मेप् । मिदेरिति किम् ? किलचति । गितीत्येव । मित्रते ।

जुसि ॥५१२।८०॥ जुसि परतः इगन्तस्य गोरेप् भवति । कामचारेण विशेषणम् । ट्का सन्निहितेन गुर्विधेभ्यते । तेन तदन्तविधिः । अजुहपुः । अविभपुः । अविभरुः । लटो भिः । शप उप् । “थवित्से” [२।४।८६] इति जुत् । भृजक्षत्येवम् । इगन्तस्येति विशेषणं किम् ? अनेनिजुः । जुसीति जकारग्रहणं किम् ? लुलुडु । अथ चिनुयुः सुनुयुरित्यत्र उसीति पररूपे कृते “तदागमास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते” [५०] इति श्नो. कस्मान्न भवति । अत्र द्वे डित्वे गाश्रय यासुडाश्रय च । तत्र नाप्राप्ते गाश्रये डित्व-निमित्ते प्रतिषेधे एव्हितस्तमेव बाधते । यासुडाश्रये डित्वनिमित्ते तु प्रतिषेधे प्राप्ते चाप्राप्ते च । अतस्त न बाधते ।

गागयोः ॥५१२।८१॥ ने चागे च परतः इगन्तस्य गोरेभवति । तरति । नयति । करोति । अगे-यर्ता । भविता । चेता । स्तोता । गागयोरिति किम् ? अग्नित्वम् । अथ सङीति कर्तव्यम् । मनः सकारादाभ्य आ आडो डकारात्प्रत्याहारः । यदि सङीत्युच्येत अग्निकाम्यतीत्यत्रापि स्यात् । अथ यर्तात्पु-येत । शिष्यविषय इत्यत्र न स्यात् ।

जागुरविजिण्डिति ॥५१२।८२॥ जाट इत्येतस्य गोरेप् भवति अविजिण्डिति परतः । जागर-ति । जागरक् । जागु जागरी । जागर जागरम् । जागरो वर्तते । किति-जागरितः । जागरितवान् । ऐच्चि-पदे प्रविषेपविषये च प्रापणा र्गे जागुरेव्हितोऽन्यत्र पूर्वैर्णैव सिद्धः । नायमेप् सावैपमन्तरङ्ग बाधते । तेन “स्यम्यक्षणस्व” [५।१।८१] इत्यादिना जागुरैप्रतिषेधः । जागरयतीत्यादौ “उडोस्त” [५१२।४] इति पुनरैप् वस्तुन भवति । यदि न्याहचनमनर्थकं भवेत् । जागरित इत्यत्र सार्थकमिति चेत्, एव तर्हि जिणलोः प्रति-षेधोऽन्यत्र स्यात् । कृते एपि “उडोस्तः” [५१२।४] ऐपा मिद्धवात् । अविजिण्डितितीति किम् ? जागुरविः । “जुगुन्तृजागुरो वि” [३० सू०] इति वि । अजागरि । जजागर । डिति-जागृतः । जागृथः । अवि-जिण्डिति पठ्यमानोऽयम् । विजिण्डितिद्व्योऽन्यत्रायमेव विधीयते तेन विजिण्डिति प्रतिषिध्यते । यदि न्याहचनमनर्थकं भवेत् । अजागर । अत्र जजागर । प्रमज्यप्रतिषेधे हि द्रोपः । विजिण्डिति न भव-

तीति ततश्च अजागरित्यत्र “जुसि” [५।२।८०] इत्यस्य अह जजागर । अणित्पक्षे “गागयो.” [५।२।८१] इत्यस्य च प्रतिषेधः स्यात् । अथवा जागुरित्यनेनानन्तराप्तिः प्रातिपिच्यते न “जुसि” [५।२।८०] इत्यादि प्रातिः । अथ नञर्थः पर्युदासो नोपपद्यते अभावमात्रस्य वृत्त्यर्थत्वात् । न चोत्तरपदार्थाभावेन विवेर्निमित्तत्वमाश्रयितु शक्यम् । तदयुक्तम्, यत्रभाव एव वृत्त्या गम्यते कथमत्राहणादिवाक्ये क्षत्रियादेरनयनम् । अथापि स्यात् । कथमुत्तरपद सादृश्ये न विपरीते वर्तते । वृत्तो वा वर्त्तिपदार्थव्यतिरेकेणान्यपदार्थमप्रत्ययादुपसर्जनीभूत-स्वार्थत्वे सत्यवर्षाहेमन्त इत्यत्र “स्त्रीगोर्नीच.” [१।१।८] इति प्रादेशः प्राप्नोति । अनेकमित्यत्र च द्विवहृत्प्राति-मित्येदं गम्यम् । यथोत्तरपद स्वार्थे वर्तते । स्वभावतः तथानञ्चत्तौ परार्थि न वर्त्तिपदार्थकत्वे वर्तिष्यते । यथा च स्वार्थे वर्तमान नोपसर्जनमेव परार्थेऽपि सादृश्येन स्वार्थ एवेति कथमुपसर्जनत्वात् प्रादेशप्राप्तिः । अनेकमित्यत्र च एकशब्दः प्रधानभूत उपात्तस्वल्लिङ्गसख्य एव परार्थे वर्तते इति द्वित्ववृत्त्वयोरभावः । एव तर्हि प्रमत्तप्रति-षेधो नञर्थो न युक्तो वृत्त्यभावप्रसङ्गात् । तथाहि क्रियामपेक्षमाणस्य नञः उत्तरपदेन सामर्थ्याभावाद्वृत्तिर्न प्राप्नोति । नैप दोषः, वचनाद् भविष्यति । देवदत्तस्य गौर्नीस्तौत्यनभिधानाद्भवति । ततो द्वावपि नञर्थं युक्तौ । यदोत्तरपद स्वार्थविपरीते वस्तुनि वर्तते तदा निवृत्तपदार्थकत्वं द्योतयन्न वृत्ति लभते । यदा वृत्तरपद स्वार्थ एव वर्तते तदा नञ् क्रियाप्रतिषेधद्वारेण सामर्थ्यमनुभवन् वृत्तिमाप्नोति ।

**व्युडः ॥५।२।८३॥** घिसञ्जस्योडः एव भवति गागयोः । द्योतते । वर्पति । छेदनम् । भेदनम् । ननु च भेत्ता छेत्ता इत्यत्र त्यादेर्गौरव्यवस्य च हलोगनन्तर्यं “स्फेरः” [१।२।१००] इति हसञ्जया घिमञ्जा बाधिता कथमेप् । उच्यते “त्रसिगुधिधपिचिप. वनुः” [२।२।११६] इति “हलन्तात् [१।१।८४] इति च क्तुसन्तोः क्तिङ्करणं जापकम् । त्यादेर्गौरन्तस्य च हलोरानन्तर्यं “व्युड” एव न व्यावर्तते । घि चासावुट् च घुडिति यमः किम् ? भिनत्तीत्यत्र मा भूत् । इको व्युड एवभवतीति सम्बन्धात् प्रसज्येत ।

**नेटः ॥५।२।८४॥** इट एव न भवति । अकणिपम् । अरणिपम् । कणिता । रणिता । अम डादेशो टिङ्ग चाश्रित्य पूर्वस्य गुसञ्जया “व्युडः” [५।२।८३] इति एप्रातः ।

**थस्य मे पित्यचि ॥५।२।८५॥** थसञ्जस्य गोर्घो व्युड् तस्याजादौ मे पित्येव न भवति । नेनिजानि । अनेनिजम् । वेविचानि । अवेविचम् । वेविपाणि । अवेविपम् । लोटि लडि च चस्य “निजामुन्येप्” [५।२।१७४] । एव बोधुधीति । बोभुजीति । वेभिदीति । भस्येति किम् ? वेदानि । ग इति किम् ? निनेज । अचीति किम् ? नेनेक्ति । विदग्रहणमुत्तरार्थम् । अपिति मे ङ्ङितीति प्रतिषेधः सिद्धः । व्युड इत्येव जुह्वानि ।

**सूभवत्योर्मिडि ॥५।२।८६॥** सू भवति इत्येतयोर्मिडि पिति मे एव न भवति । सुवै । सुवावै । सुवा महै । अभवम् । अभूत् । सूग्रहणेन सूतिर्गृह्यते । सूयतिसुवत्योर्विकरणेन व्यवधानम् । विकरणस्य डित्तादा प्रतिषेधः सिद्धः । मिडीति किम् ? भवति । शत्रयम् । भवतेस्तिपा निर्देशो यद्वन्तनिवृत्त्यर्थः । प्रेभर्षि । सूत्रोपलक्षणं चेद तिपा निर्देशेन सूत्रेरपि यद्वन्तस्य निवृत्तिः । सोपवीति ।

**हल्यैवुप्युतः ॥५।२।८७॥** हलादौ पिति मे परतः उपि सति उकारान्तस्य गोर्घे भवति । एकोऽपरा-दोऽयम् । योमि । योपि । योति । रौमि । रौपि । रौति । इटमेव जापकम्—पूर्वं विकरणः पश्चाद् गुर्गाम् । अन्यथा पूर्वमेपि सति उकारान्तता न भवेत् । तत्तत् । तरन्तीत्यत्र ऋत इत्यत्र च स्यात् । अथवा निन्य ऋ । हलोति किम् ? यवानि । उपीति किम् ? जुहोमि । मुनोमि । उत इति किम् ? एमि । एपि । एति । तप्य कण्ठे किम् ? लोलोति । पिनीत्येव । युनः । दनः । हलि पिनीभिर्देशाद्वचस्तिप्रत्ययम् । उट मा नव । अपि स्तुयाद्राजानम् । थस्य नेत्येदिहानुवर्तमिति नेचिन् । योयोति । गेगेनीत्यादिमिद्वये ।

**वोऽणो ॥५।२।८८॥** उणोर्नेर्वा एवभवति हलादौ पिति मे । प्रोर्णोमि । प्रोर्णामि । प्रोर्णोपि । प्रोर्णोपि । प्रोर्णोति । प्रोर्णोति । हलोन्त्येव । प्रोर्णवानि । पिनीत्येव । प्रोर्णत । पूर्वण प्राप्ते विकल्पः ।

हल्येषु ॥५१२।८६॥ उणोतेर्हलि पिति मे एभनति । प्रौणाः । प्रौणात् । पुनर्हत्प्रहण केवलार्थम् । हलादौ मा भूत् । वेति नाधिकृतम् ।

तृणह इम् ॥५१२।६०॥ तृणह इत्येतस्य गोरिमागमो भवति हलादौ पिति मे परतः तृणिरागतश्चनम्को ग्राहते । इमि कृते इमागमो यथा स्यादिति । तृणेधि । तृणेदि । हलीत्येव । तृणहानि । पितृत्येव । तृणहः । अतृणेडित्यत्र तिस्योः “हल्ङाघः” [४।३।५६] इत्यादिना खे कृते हलाप्रभावादिम्न प्राप्नोति । “त्यग्ने त्याश्रयम्” [१।१।६३] अपि न सम्भवति । वर्णाश्रये नास्ति त्याश्रयमिति । यथा गवे हितम् गोहितिमित्यत्र अचीति वर्णाश्रये नास्त्यवादेशस्त्याश्रयः । नेः वर्णाश्रय कार्यम् । किं तर्हि मिडाश्रयम् । मेडि हलादौ परतः । तस्य च त्यक्ते त्याश्रयमित्यवस्थानादिम् ।

ब्रुव ईट् ॥५१२।६१॥ ब्रुव ईडागमो भवति हलि पिति मे । ब्रुव इति कानिदेशात्परादिरीट् । ब्रवीति । ब्रवीतु । अब्रवीदित्यत्र व्यपदेशिवद्भावेन हलादित्यम् । हलीत्येव । ब्रवाणि । पितृत्येव । ब्रूतः । ग इत्येव । उवचिथ । इट् बाधित्वा परत्वादीट् स्यात् । आत्थ इत्यत्र स्थानिवद्भावात्प्राप्नोति “ब्रुव आहश्च” [१।४।७०] इति आहादेशः । सिपश्च यादेशः । “आहस्थः” [५।३।५२] इति इत्यथत्वम् । चर्त्वम् । नाय दोषः । अलि विधिरयम् । “अनल्विधौ” [१।१।५६] इति प्रतिषेधः ।

यडो वा ॥५१२।६२॥ यडुन्ताद्वा ईट् भवति हलि पिति मे । अत्रापि यड इति कानिदेशात् परस्य तथा योगः । लालपीति । वावटीति । शाश्वसीति । चोक्रुशीति । “थस्य मे पित्यचि” [५।२।८५] इत्युङः णप्रतिषेधः । पक्षे लालति । वावति । शाश्वति । चोक्रोष्टि । यडन्तात्परस्य हलादेः पितो गत्याभावाद्भवनात् यडुन्तस्य ग्रहणम् । इदमेव ज्ञापक “यडोऽचि” [१।४।१४४] इत्यत्राविशेषेण यड उव् भवति । “चर्करीतम्” इत्यादिषु पठितम् । तस्यादाटिकार्यम् । “मम्” [१।२।७५] इति मविधिः । “चर्करीतम्” इति यडुन्तस्य संज्ञा ।

हल्यस्तेः ॥५१२।६३॥ हलि परतः अस्तेः स्यन्ताच्च ईड् भवति । अस्तिग्रहण लङर्थम् । आसीत् । न्यामी । स्यन्तात् । अकार्पाः । अलावीत् । अलावीः । पुनर्हत्प्रहण केवलार्थम् । इह मा भूत् । अस्ति । वेति नाधिकृतम् । नन्वभूदित्यत्र अस्तेः स्थानिवद्भावात्प्राप्नोति । अस्तेरिति त्रिसकारको निर्देशः । तेन अस्तेः सप्तारान्तादीट् ।

रुद्भ्योऽड्वाऽजक्षेः ॥५१२।६४॥ रुद्रादिभ्यो जक्षिपर्यन्तेभ्यः अट्वागमो भवति ईट् च हलि पिति मे । आजक्षेरित्याडभिविधौ द्रष्टव्यः । केवलहल्ग्रहणमनुवर्तते । अरोदत् । अरोदीत् । अस्वपत् । अस्वपीत् । अश्वसत् । अश्वसीत् । प्राणत् । प्राणीत् । अजक्षत् । अजक्षीत् । सर्वत्र लङ् । “शोऽनिते” [५।४।१०४] इति शत्वम् । प्राजक्षेरिति किम् ? अजागर्भवान् । एपि रन्तत्वे च कृते “हल्ङाघ” [४।३।५६] आदिना खम् । “रुद्रादेर्गे” [५।१।१३५] इतीति प्राप्ते तदपवादोऽयम् ।

अटोऽट् ॥५१२।६५॥ अट् अट् भवति हलि पिति मे । आटः । आदत् । केवलहलीति किम् ? अति । पुनरट्प्रहणमस्तिनृत्त्यर्थम् ।

यज्यतो दीः ॥५१२।६६॥ यजादौ मिडि अकारान्तस्य गोर्दीर्भवति । “सूभक्त्योर्मिडि” [५।२।८६] इत्युपनिषे । पचामि । पचाव । पचामि । पद्यावः । पद्यामः । मिडीति किम् ? धनवान् । केगवः । वेशा एव सन्ति “वेशादौ वा” [४।१।३५] इति वः । यजीति किम् ? पचति । अत इति किम् ? चिनुवः । चिनुवः । तस्य च किम् ? यजीवः इत्यत्र माभूत् । नन्वीत्वेनात्र भवितव्यम् । नैवम् । व्रीणीधः । यजीवः इत्यत्र नन्वीत्वेनात्र दीत्वेन चाप्येव । यजीवीन्निदेशादव्यवहितस्य गोरन्तस्य दीवम् ।

सुपि ॥५।२।६७॥ अकारान्तस्य गोः यजदौ सुपि दीर्भवति । देवाय । देवाभ्याम् । यजीत्येव । देवस्य ।  
इत्यतः प्रभृति आ सुप. पकारेण ।

वहौ भल्लयेत् ॥५।२।६८॥ भल्लादौ वहौ सुपि परतः अकारान्तस्य गोरेकारादेशो भवति । देवेभ्यः ।  
हाविति किम् ? देवाभ्याम् । भल्लीति किम् ? देवानाम् । “नामि” [४।४।३] इति दीन्वम् अग्नी-  
यूनामित्यत्र सावकाशम्, इहासति भल्लग्रहणे परत्वादेव स्यात् । यजीत्यस्य निवृत्त्यर्थे च भल्लग्रहणम् ।  
वेधिति न स्यात् । अत इत्येव । अग्निभ्यः । तपरकरणं किम् ? खट्वाभ्यः । सुपीत्येव । पचत्वम् ।

प्रोसि ॥५।२।६९॥ ओसि च परतः अकारान्तस्य गोरेकारादेशो भवति । देवयोः स्वम् । देवयोर्विवेहि ।

प्राडि चापः ॥५।२।१००॥ आडि ओसि च परतः आद्यन्तस्य गोरेकारादेशो भवति । आग्निं याप्-  
म् । विद्यया । विद्ययोः । बहुराजया । बहुराजयोः । “अनश्च वात्” [३।१।१०] । “वोऽन्वे”  
] इति डाप् । आडिति टारुपस्य ग्रहणं पूर्वाचार्यसज्जानिर्देशेन । आप इति पिट्ग्रहणं मिम् ?  
नरेण । कीलालपोः । विद्यामतनिवृत्ते “आतो धोः” [४।४।१२७] इति खम् । अयातिखट्वेनेत्यत्र  
चः” [१।१।८] इति प्रादेशे कृते स्थानिवद्भावादेव कस्मान्न भवति ? उच्यते “हलङ्याप” [४।३।५६]  
हलङ्यापो य इति योगविभागस्तस्यार्थो ङयापोर्यत्कार्यं तद्दीत्वभाजोरेव । ननु दीत्वमपि स्थानिवद्भावा-  
त् । “ङयापोर्दीत्वं न स्थानिवत्” [वा०] इति प्रतिषेधः ।

कौ ॥५।२।१०१॥ कौ च परतः आप एव भवति । हे कन्ये । हे बहुराजे । “केरेडः” [४।३।५७]  
वम् ।

अम्भार्थम्भोः ॥५।२।१०२॥ अम्भार्थवाचकानां मुसञ्जस्य च प्रो भवति कौ परतः । अम्भार्थाः  
र्थायाः । हे अम्भ । हे अक्क । हे अल्ल । हे अत्त । मुसञ्जकस्य । हे गोरी । हे वामोः । “यडो वा”  
इत्यतः मण्डूकप्लुत्या बहुलार्थो वाशब्दोऽत्र वर्तते । तेन बह्वचोऽम्भार्थस्य प्रो न भवति । हे  
हे अम्भिके । हे अम्भाटे । “तलन्तस्य डिक्योरुभयम्” [वा०] । देयते भक्तिः । देवताया भक्तिः ।  
हे देवते । छान्दसमेतदिति केचित् । “वसे कौ मातुरदन्तत्वं पुत्रश्लाघायाम्” [वा०] । गार्गा माता  
पथते । हे गार्गामात । श्लाघाया अन्यत्र । हे गार्गामातृक । “जातिश्च” [४।३।१०३] इति  
ः ।

रस्यैप् ॥५।२।१०३॥ प्रान्तस्य गोरेव भवति कौ परतः । हे मुने । हे सावो । “अन्तेऽल”  
इति न्यायादनन्त्यस्य न भवति । हे युव (बुध) । हे नदि । हे वधु । इत्यत्र प्रादेशवचनसामर्थ्या-  
त्ति ।

सि ॥५।२।१०४॥ जनि परतः प्रान्तस्य गोरेव भवति । मुनयः । सावयः । “अन्तेऽल” [१।१।४६]  
यथा अनन्तस्येको न भवति बुधा इति ।

तो डिधे ॥५।२।१०५॥ ऋकारान्तस्य गोः डौ धमञ्जके च परतः एव भवति । मानरि । पितरि ।  
। मानरौ । मातर । मातरम् । मानरौ । पितरः । तपरकरणमन्वदेशार्थम् । कृतिणि ऋकारान्त-  
न्नेवृत्त्यर्थम् ।

डिति ॥५।२।१०६॥ न्वन्तस्य गोडिति एव भवति । मुनये । सावये । मुने । सावो । सोरिणि  
ये । पत्ये । अमन्वीति पर्युद्रामात् ‘पति से’ [१।२।६८] इति नियमाच्च मुसञ्जा नान्ति । टिनीति  
भ्याम् । सुपीत्येव । पट्वा । कुस्त । टोतमोडितोरपि मा भूत् । टकारञ्चामाप्तिश्च टिन् तन्मिन्  
इत्य कार्यम् । तेन वृद्धये वेन्व । इत्येप् (न) व्यवधाने । आडि औडि च न भवति । मा ।

अणु मोः ॥५१२।१०७॥ भवन्तादोः परस्य डितोऽडागमो भवति । मोर्गित्यङ्गुतार्थः कानिदंशो डितोऽत्यस्य ता प्रकल्पयति । कुमार्थे । वामोर्वा । कुमार्था । वामोर्वा । परेण सह “अटश्च” [५१३।७८] इत्यम् वचनात् “एच्यतोऽपदे” [५१३।८४] इति पररूप न भवति ।

याडापः ॥५१२।१०८॥ आग्रन्तादुत्तरस्य डितो याडागमो भवति । विप्राय । बहुगजाये । विप्रायाः । “एच्यैप्” [५१३।७६] “स्वेको दी.” [५१३।८८] इति दीत्व वा । इयाम्ग्रहणेन दीत्व न स्थानिव-  
दिति । अतिपट्वाय । पुनर्दीत्वे लाक्षणिकवम् ।

सर्वनाम्नः स्याट् प्रश्च ॥५१२।१०९॥ आग्रन्तात् सर्वनाम्नः परस्य डितः स्याडागमो भवति प्रश्च भवत्याप । सर्वस्यै । यस्यै । तस्यै । कस्यै । सर्वस्याः । तस्याः । तस्याः । एच्यैप् स्वेको दीत्वे । आप-  
त्वेव । भवत्ये । भवत्याः ।

डेराम् स्वास्मीम्यः ॥५१२।११०॥ “प्रे लिप्तायाम्” [२।३।४२] इति निर्देशात् डेरिति डिवचनस्य  
ग्रहणम् । डेरामदेशो भवति भवन्तादग्रन्तान्नी इत्येतस्माच्च परस्य । कुमार्थम् । वामोर्वा । विप्रायाम् । बहुग-  
जायाम् । ग्रामयाम् । सेनान्याम् । “सत्सूद्विप्” [२।२।५६] इत्यादिना क्विप् । “अग्रग्रामाभ्या निचो एच्यम्”  
[८।०] । “एगिवाक्चदुडोऽसुधिय.” [५।१।७८] इति यत्वम् । अथ डेरामः नुट्कस्मान्न भवति । पग्वत्वाट्टा-  
दिभिरागमेर्भवितव्यम् । कृतेष्वपि “सकृद्गते परनिर्णये बाधितो बाधित एव” [५०] । इयापोर्दीत्वभाजोः  
कार्यमुक्तम्” (न्याप) “ग्रहणे दीत्वं न स्थानिवत्” इति च । तेन निष्कौशाम्यौ । अतिपट्वे निवेदि ।

इदुद्गयाम् ॥५१२।१११॥ इकारोकाराभ्या सुसज्जकाभ्या परस्य डेराम् भवति । बुद्धयाम् । धेन्वाम् ।  
ननु प्रवर्णैवामुत्तिष्ठोऽपार्थक्यमिदम् । “औदच्च सो.” [५।२।११२] इत्यौत्व स्यात् तच्चाविशेषेण वक्ष्यति ।  
मुपपत्तिमिदमुवर्तते तेनेदुतौ विशेषेये ।

औदच्च सोः ॥५१२।११२॥ अमुसज्जकाभ्यामिदुद्गयाम् परस्य डेरौकारादेशो भवति सोश्चाकारादेशः ।  
सख्यौ । पत्यौ । सो मुनौ । साधौ । प्रधानशिष्टमिदुद्गयामौत्वम् । अन्वाचयशिष्ट सोरत्वम् । यथा भिक्षा चर  
गा चानत्र । गोनयनम् । शास्त्रेऽपि “क्तुं क्यट् सखं विभाषा” [२।१।१६] इति अन्वाचयशिष्ट सखम् । तपर-  
रस्य एवमुत्तार्यम् । अत्वे कृते म्रिया टायो निवृत्त्यर्थमित्यायन्ये । टापि को दोष इति चेत्, औकारस्य  
निरास्येन प्ररणादामादेशाडागमौ स्याताम् । तदसत् । प्रागेव सुबुत्पत्तेः स्तीत्येन भाव्यम् अन्यथा मातेत्यत्र  
नान्तराज्जो दीविधिः स्यात् ।

प्राडो नाऽस्त्रियाम् ॥५१२।११३॥ सोरिति वर्तमानमर्थात् काविभक्त्यन्त सम्पद्यते । सोरुत्तरस्याडः  
ना टायाशो भवत्यस्त्रियाम् । मुनिना । साधुना । सोरित्वेन । सख्या । पत्या । अस्त्रियामिति किम् ? बुद्ध्या ।  
नेना । आडो ना ए मिति कर्तव्यम् । वपुणा । जानुनेत्यादि । “सुर्पाकोऽचि” [५।१।५२] इति नुमैव  
मिदम् । नपु मने अस्त्रिना कुत्तेनेति न सिद्ध्येत् । मुभावस्यासिद्धत्वान्मुन्न स्यात् । अस्त्रियामित्युच्यमाने नपु सके-  
ऽपि नाभावो भवति । ततश्च “न सु टाविधौ” [५।३।२६] इति नाभावे मुभावस्य नासिद्धत्वम् ।

सूत्रेऽस्मिन् सुविधिरिष्टः ॥५१२।११४॥ सूत्रेऽस्मिन् जैनेन्द्रेषु यो विधिः सुपि च विधिरिष्टो  
भवति । एतन्नामैव नवशब्दो द्रष्टव्यः । उदाहरणम्—“स्त्रीगोनीच. [१।१।८] स्त्रीगुतामिति प्रात सुविधिरयम् ।  
‘मिदं वाप्ये वा’ [१।१।५४] । हल्ङादिना मुन्न प्राप्तम् । सुपो विधिरयम् । अथ विति हलन्तात् कय टापु ।  
“न नपु मने विधिः । ना कप परेण सुपो ग्रहणात् ।

गो वच्युड प्रोऽशास्त्रस्युद्भितः ॥५१२।११५॥ शो पतः कचपरे गोरुडः भवति शासु  
“मिदं वाप्ये वा” [१।१।५४] । हल्ङादिना मुन्न प्राप्तम् । सुपो विधिरयम् । अथ विति हलन्तात् कय टापु ।  
“न नपु मने विधिः । ना कप परेण सुपो ग्रहणात् ।

जापकात् णौ कृत स्थानिवद्भवति । अथ वा “द्वित्वेऽचि” [१११५६] इति स्थानिवद्भावः । कृह्यद्यो-  
द्वित्वम् । “घौ कच्यनड् स्वे सन्वत्” [५१२१६०] इति मन्वद्भावेनेत्वम् । “वेर्दी.” [५०११५१] इति दीन्वमेव-  
अलीलवत् । अपीपवत् । “ओः पुयण्ये” [५१२१७८] इति उकारस्येत्वम् । अथवा ओणृ अपनयने  
इत्यस्य प्रतिषेधार्थम् । ऋदित्करणे जापक द्वित्वात्पूर्वं प्रादेश इति । अन्यथा मा ओणिणदित्यत्र द्वित्वे कृते परेण  
रूपेण व्यवधानात् प्रादेशस्याप्राप्तिः । अत एव मा भवानटित् अत्र प्रादेशे मति “अच.” [४१३१२] इति  
द्वित्वम् । णाविति किम् ? कच्युडः प्र इत्युच्यमाने अलीलवदित्यत्र प्रादेशो वचनमामर्थ्यादन्तरङ्गमैपमावादेश  
वाधित्वा नित्यत्वेन णेः ख च वाधित्वा वकारस्य स्यात् । इह चापीपचदपीपठदिति अनुड्भूतत्वात् प्रो न स्यात् ।  
किम् ? कारयति । हारयति । ननु मिता णौ प्रादेशवचनं जापकमन्यत्र प्रादेशाभावस्य । यत्रैवमचीकृदित्याद्यापि  
न स्यात् । अथ प्रवचनाद् भवति । कारयतीत्यादावपि स्यात्तद्विशेषहेत्वभावात् । उटः इति किम् ? अचमाट्जत् ।  
अनुड आकारस्य मा भूत् । अयास्वकव्युदित इति किम् ? अशशासन् । परस्य थेरभावान्न मन्वद्भाव ।  
अकः खम् अक्खम् अक्खमस्यास्तीति अक्खी तस्य नेति । राजानमन्याख्यत् अन्तरगजत् । “तच्छोति  
तदाचष्टे” इति णिच् । यत्र केवलस्याचः ख तत्र “परेऽच. पूर्वविधौ” [१११५७] इति स्थानिवद्भावः ।  
हलचोश्चापमादेशः । तदर्थमक्खिप्रतिषेधः । ननु च अनकारिदं ख कथमनक खम् । यदवाक. य  
तदाश्रयः प्रतिषेधः । स्थानिवद्भावस्तु नास्याश्रयः । ताविकारस्तत्रानुवर्तते । तानिर्दिष्टम्याच. स्थानिवद्भावो  
न समुदायरूपेण टित्वस्य । ऋदित् । अडुदौकत् । अनुवोक्तत् । इह कथं एयन्ताणिणचि प्रादेशः । वादितवन्न  
प्रयोजितवान् अवीवदद्वीणा परिव्राटकेन । णौ णिखस्य स्थानिवद्भावादनुटो न स्यात् । णावित्यत्र  
जातिग्रहणादवोपः ।

भ्राजभासभापदीपजीवमीलपीडो वा ॥५१२११६॥ भ्राज भास भाप दीप जीव मील पीड  
इत्येतेषां कचपरे णौ उटः वा प्रो भवति । अवभ्राजत् । अविभ्रजत् । अवभासत् । अवबीभसत् । अवभापत् ।  
अवीभपत् । अदिदीपत् । अदीदिपत् । अजिजीवत् । अजीजिवत् । अमीमिलत् । अमिमीलत् । अपि  
पीडत् । अपीपिडत् । पूर्वमन्त्रेण प्रादेशे प्राप्ते विकल्पः । यदा प्र. तदा पूर्ववत्सन्वद्भावेनेव वेर्दीत्वम् ।  
वेति योगविभागात् कणादीनां विकल्पः । अचराणत् । अचीरुणत् । अवभाणत् । अवीभणत् इत्यादि ।  
भ्राजग्रहणं किम् ? यावता कणादिषु भ्राज इत्यनृकारेदस्ति तस्य सिद्ध. प्र. । एजृ भेजृ भ्राजृ  
दीप्तावस्य ऋदितो नेति सिद्धमुभयम् । एव तर्हि जापकार्यम् । अन्यत्र “यजराजभ्राजच्छ्रमा प.”  
[५१३५३] इत्यादौ भ्राजग्रहणेन गजिमहचरितस्य अनृदितो ग्रहणम् । ऋदितो भ्रागिति भवति ।  
भास ऋदित्करणमनर्थकम्

खं पिबश्चस्येत् ॥५१२११७॥ पिबतेरुट. णौ कचपरे ख भवति चस्य च ईमादेशः ।  
अपीप्यत् । अपीप्यताम् । अपीप्यन् । उट. खे कृते “द्वित्वेऽचि” [१११५६] इति स्थानिवद्भावाद्द्वित्वम् ।  
पिब इति शब्दिकरणान्तो विकृतनिर्देशः । पिबतेरेकदेशो यट् वन्तनिवृत्त्यर्थः । अपपायत् । घेरभावान्नन्वद्भावा  
न भवति । पातेरुटिकरणत्वात् “पै औवै शोपणे” इत्यस्य च लक्षणात्त्वादेव निवृत्तिः ।

स्थ इत् ॥५१२११८॥ तिष्ठते. कचपरे णावुट इकागदेशो भवति । अतिष्ठिपत् । अतिष्ठिपताम् ।  
अतिष्ठिपन् । “लुट्लियो प्रतिपद्योक्तानि” इत्यादि वचनायट् वन्तस्य न भवति । अतताम्यपत् । ता म्या  
इति स्थिते णिचि पुक् कचि द्विव घेरभावात् मन्वद्भावो नास्ति ।

ओ वा ॥५१२११९॥ जिप्रते. कचपरे णावुट इकागदेशो भवति वा । अजिप्रिपत् । अजिप्रिपताम् ।  
अजिप्रिपन् । अजिप्रपत् । अजिप्रपताम् । अजिप्रपन् । चन्व मन्वद्भावेनेवम् । अवापि यट् वन्तस्य न भवति ।  
अजजप्रपत् । उभयोर्विप्रपदोर्न वै योगा मित्रा इति पूर्वा प्रापवादी नि यौ ।

उञ्जित् ॥५१२१२०॥ कच्यरे णौ ऋवर्णस्य उडः स्थाने ऋकारादेशो भवति वा । अनवमाशत्वादन्त-  
रङ्गाणाम् इरगारामपवादः । अचोक्तत् । अवीवृतत् । अमीमृजत् । पत्ते इत् । अचकीर्तत् । अर् अचवर्तत् ।  
आर । अममार्जत् । “उडः” [५११७५] इति ऋकारस्येत्यम् । “द्युडः” [५१२८३] एप् । “मृजरेप्”  
[५१२११] । ऋकारादेशस्य “रन्तोऽणुः” [१११४८] इति रन्तत्वं भवति । “अणुदित्स्वस्या” [१११७२] इतीम  
साहकारा मुक्त्वा सर्वमणग्रहण पूर्वेण णकारेणेति व्याख्यानात् ।

देडो दिगि लिटि ॥५१२१२१॥ देडो दिग्यादेशो भवति लिटि परतः । वेति निवृत्तम् । अवदिग्ये ।  
अवदिग्याने । अवदिग्यरे । चत्सेयनुवर्तते । वचनादद्वित्वे कृते चत्स्य देडश्च यथासङ्ख्य दिगी आदेशौ भवतः ।  
“वेतिवाक्चादुडोऽनुधिय” [४१४७८] इति यणादेशः सिद्धोऽन्यथा हीयादेशः स्यात् ।

ऋतः स्फादेरेप् ॥५१२१२२॥ ऋकारान्तस्य गोः स्फादेरेप् भवति लिटि परतः । सस्मरतुः । सस्मरः ।  
दधरतु । दधरः । वचनात्पाण्डित्वात्स्फादेरेति विशेषणम् । अन्यथा स्फादित्वासम्भवः । प्रतिषेधविषये लिटीद-  
मारभ्यते । न्स्मरेत्यादौ ऐच् भवति पूर्वविप्रतिषेधेन । ऋत इति किम् ? चित्तिपतुः । चिधिपुः । तपरकरणा-  
मन्वेतार्थम् । ऋकारस्याप्युत्तरसूत्रेण विधानात् । स्फादेरेति किम् ? चक्रतुः । चक्रुः । लिटीत्येव । स्मृतः ।  
स्मृतवान् । ननु सचत्करु । सचत्करित्वत्र द्विपदाश्रयस्य सुटो बहिरङ्गलभ्रणस्यासिद्धत्वात्कथमेप् । नैप दोषः ।  
“पूर्व धुगिना युज्यते पश्चात्साधनवाचिना त्येन” [५०] इत्यस्मिन् दर्शनेऽन्तरङ्गे सुटि कृते पश्चादेप् । अतएव  
“स्फादतोऽनुट्” [५११६१] । “स्फाद्यत्पौरस्करेप्” [५१२१३८] इति प्रतिषेध उपपन्नो भवति ।

ऋच्छत्यन्ताम् ॥५१२१२३॥ ऋच्छत ऋइत्येतत् ऋकारान्तानां च लिटि एच् भवति । आनच्छत् ।  
आनच्छुः । आनच्छुः । एप् द्वित्वम् । “आद्यतः” [५१२१७०] इति दीत्वम् । “ततो नुट्” [५१२१७१]  
इति नुट् । ऋ । आरतुः । आरः । “अप्रनोतेः” [५१२१७२] इति नियमान्तरात् न भवति । ऋत् । विचकरतु  
विचकरः । निजगरतु । निजगरः । वितस्तारतु । वितस्तरः । ऋच्छेरन्तरङ्गत्वात् “छे” [४१३६१] इति  
तुङि कृते गर्वनाप्राप्तः ऋता तु लिटि ऋति प्रतिषिद्ध एवञ्चधीयते । निजगारेत्यादावैप् पूर्वनिर्णयेन ।

गृट्प्रो प्रो वा ॥५१२१२४॥ गृट् वृ इत्येषा लिटि वा प्रो भवति । विशश्रुतुः । विशश्रुः । पत्ते  
पृणेप । विशश्रुतुः । विगगरतुः । विगगरः । विदद्रुतुः । विदद्रुः । विददरतुः । विददरः । निपप्रतुः । निपप्रुः । निप-  
परतु । निपपरः । प्रादेशवचनादित्येव न भवतः । वे तु आ पाके, द्रा कुत्साया गतौ, द्रा पूरणे इत्येतेषामने-  
षां लिङ्गान् पत्ते प्रयोगादनर्थकमिदमिति मन्यन्ते तेषां प्रतिपत्तिगौरव स्यात् ।

केऽणुः ॥५१२१२५॥ के परतोऽणुः प्रो भवति । नटिका । कुमारिका । वामोरुका । कुत्साद्यर्थविव-  
क्षायां “एनात्” [४१११२६] इति क । “स्वार्थिकाः प्रकृतिलिङ्गसङ्ख्ये अनुवर्तन्ते” [५०] इति टाप् । क  
इति वा र्निर्देशात्परमाणम् । वर्षग्रहणे तदादिविधिः स्यात् । ततश्च नदीकल्पः परीवाहः । कुमारी काम्यतीत्यत्रापि  
आर् । अथ इति किन् । गोका । नौका । पूर्वेण णकारेणान् व्याख्यातः । रास काक इत्यादिषु “उणादयो  
बहुलम्” [२१२१६७] इति न भवति “कदाधाराचिकलिभ्यः कः” [३० सू०] “ङ्गर्भीकापाशङ्गतिमचिभ्यः  
व” [३० सू०] इति कप्ते क । “न कपि” [५१२१६६] इति प्रतिषेधादिहानुवन्धकपरिभाषा नाश्रीयते ।  
तेन निजगारतु वा “लोर्देने रुञ्” [२१२१६५] तदादेशे के सानुवन्धकेऽपि प्रादेशः सिद्धो भवति । नैपाह-

न कपि ॥५१२१२६॥ कपि परतोऽणुः प्रो न भवति । बहुकुमारीकः । बहुवामोरुकः । “ऋन्मोः”  
[४१२१५२] इति क्त्वं न । कर्ष प्रोत् स्तरीकम् । काष्णीकम् । “खारीकाकर्णाभ्यां कप्” [३१४३०] ।  
वाऽऽप् ॥५१२१२७॥ कपि परत आनन्तत्वं वा प्रो भवति । बहुगद्वक् । बहुखट्वाकः । बहुदा  
इति । “नेपाहा” [४१२१५४] इति कप् ।



श्वरूपद्वचोऽयुक् पुमुमोऽडि ॥५१२१२८॥ श्वि असि पति वचि इत्येपामटि परतः अस्मर युक् पुम् उम् इत्येते यथासङ्ख्ये भवन्ति । अकार आदेशः युगादय आगमाः । अश्वत् । ‘जृञ्वि’ [२११५०] इत्यादिनाङ् । “अन्तेऽलः” [१११४६] स्थाने अकारस्तस्य परम्पम् । आस्यत् । आस्यताम् । आस्यन् । “वक्त्यसुख्यातेरङ्” [२११४५] । “अश्च” [४१३७८] इत्यैप् । अपतत् । अपतताम् । अपतन् । “द्युत्पुषा” [२११४८] आदिनाऽङ् । अवोचत् । अवोचताम् । अवोचन् । “आदेप्” [४१३७५] ।

दृशुरेप् ॥५१२१२९॥ दृशि इत्येतस्य गोः ऋवर्णान्ताना च अटि परतः एव भवति । अदर्शत् । अदर्शताम् । अदर्शन् । “वेरितः” [२११४६] इत्युङ् । आरत् । अमरत् । “द्युत्पुषा” [२११४८] आदिना अङ् । अजरत् । अजरताम् । अजरन् । “जृश्चि” [२११५०] इत्यादिनाङ् । जृप. पिक्करणमर्थम् । “जराया वा” [५१११६०] इति वचन जापकमुरिति ऋवर्णनिर्देशस्य ।

शीडो गे ॥५१२१३०॥ शीडो गे परतः एव भवति । शेते । शयाते । शेगते । टिति गे विग्रह मिदम् । शयावहै । गयामहै इत्यत्र सिद्धत्वात् । ग इति किम् ? शिश्ये । सानुबन्धकनिर्देशो यदुपन्तनि वृत्त्यर्थः । शेगीतः । शेयति ।

यि किङित्ययङ् ॥५१२१३१॥ यकारादौ किङिति त्ये परतः शीङः अयट् आदेशो भवति । शङ्यते । शाङ्यते । यङि परत्वेन च द्वित्वात्प्रागयडादेशः । डकारो “ङित्” [१११५०] इत्यन्तादेशार्थः । अस्मर. उच्चारणार्थः । गय्या । “समजनिपट्” [२१३८१] इत्यादिना क्यप् । प्रगय्य । क्वान्तम् । यीति किम् ? शिश्ये । किङितीति किम् ? शोयम् ।

गेरूहः प्रः ॥५१२१३२॥ गेः परस्य ऊहतेः प्रो भवति यकारादौ किङिति परतः । अभ्युह्यते । समुह्यते । “अचश्च” [११११२] इत्युपपस्थानादूहेरच. प्रादेशः । गेरिति किम् ? ऊहते । ऊह इति किम् ? समीह्यते । यीत्येव । समूहितम् । किङित्येव । अभ्यूह्यः श्लोकः । “केऽणः” [५१२१२५] इत्यनोऽणग्रहणमनुवर्तते । तेन आ ऊह्यते ओह्यते । समोह्यते इत्यत्र न भवति । प्रोह्यत इत्येकादेशे कृते व्यपवर्गाभावान्न भवति । तद्वद्भावेन व्यपवर्ग इति चेत् “उभयत आश्रये न तद्वद्भावः” [५०] इति गेः परस्य नास्ति ।

लिङ्गङेतेः ॥५१२१३३॥ एतेर्गोस्तरस्य लिङि यकारादौ किङिति प्रो भवति । उदियात् । ममियात् । आशिपि लिङ् । यासुट् । “स्फादेः स्कोऽन्ते च” [५१३४६] इति मखम् । “दीरकृद्गे” [५१२१३४] इति दीत्वम् । तस्यानेन प्रः । कृति गे च दीत्व न सम्भवति । न गे उदाहरणम् । अभियादित्यत्र स्वेको दीत्वे इते प्रादेशः । गेरित्येव । ईयात् । अण इत्येव । आ ईयात् एयात् । समेयात् । निपा निर्देशो अमन्देहार्थः ।

दीरकृद्गे ॥५१२१३४॥ अकृत्यकारे अगयकारे च किङिति गोर्दीर्भवति । “अचश्च” [११११२] इत्युपस्थानादच्चा विशेषणेन तदन्तविधिः । पण्डितायते । चीयते । चेचीयते । स्तूयते । तोस्तूयते । चीयात् । आशिपि लिङ् । अकृदिति किम् ? प्रकृत्य । प्रस्तुत्य । परस्वादीत्वे तुग्न स्यात् । अग इति किम् ? चिनुयात् । स्तूयात् ।

च्यौ ॥५१२१३५॥ च्यो च त्ये परतः गोर्दीर्भवति । शुचीभवति । पट्टभवति । “कृञ्वन्तिप्रोगेऽनाते सम्पत्तरि च्वि.” [४१२५५] इति च्विः । अवयवनिवृत्तिः । “त्यग्ये त्याश्रयम्” [१११६३] उपपत्तस्य दीप्तम् ।

रीडृतः ॥५१२१३६॥ ऋकारान्तस्य गोः च्यौ अकृत्यकारे अगयकारे च परतः रीप्रदेशो भवति । मात्रीभवति । पित्रीभवति । मात्रीयति । पित्रीयति । “स्वेप क्यच्” [२११६] । मात्रीयो । पित्रीयि । “कतुः क्यट् समं विभाषा” [२११६] इति क्यट् । चेमीयते । जेहीयते । किङितीति निर्देशो निवृत्तम् । तेन पित्रस्य पितुरागतम् “पितुर्यश्च” [३१३५३] ये रीप्रदेशः मन्त्रिपाललक्षणानिन्ववात् ‘यस्य द्यो च’ [४११३६]

इति एवम् । उत्तररूढे रिडिहैव कर्तव्यः । तस्य दीत्वेन सिद्धमिति चेत्, “गुकार्ये निवृत्ते पुनर्न तन्निमित्तम्” [प०] इति दीत्व न स्यात् । ऋत इति तपरकरणं किम् ? कीर्यते । अन्यथा कीर्णमित्यादौ सावकाशम् षट् इत्यरीता गण्येत । उत्तरार्धमकृद्गो यि इत्येतदनुवर्तते इति जापनार्थं तपरकरणम् । अन्यथा अनन्तरे च्वावेवाय विधिः स्यात् । न च मृदन्त ऋकारो निवर्त्योऽस्तीत्यनर्थकं भवेत् ।

रिड्यगलिङ्गो ॥१२।१३७॥ ऋकारान्तस्य गोर्यक् लिङ् श इत्येतेषु परतः रिडादेशो भवति । यीति ऋकृद् इति चानुवर्तमानं सम्भवादव्यभिचाराच्च लिङ एव विशेषणम् । यकारादावगो दृष्टव्यम् । यक्-क्रियते । क्रियते । लिट्-क्रियात् । क्रियात् । यीत्येव । कृपीष्ट । दृपीष्ट । अग इत्येव । चिभृयात् । विध्यादिलिङ्यम् । शो-आदिप्रत्यये । “शुभुभ्रुवाम्” [१४।७२] इति यादेशः । ऋत इति तपरकरणं किम् ? किरति । गिरति । रीडिति वर्तमाने रिङ्ग्रहणं पुनर्दीत्वनिवृत्त्यर्थम् ।

स्फाद्यत्योरस्कुटेप् ॥१२।१३८॥ स्फादेरर्तेश्च ऋतो यकि लिङि यकारादावगो च परतः एवभवति स्फुराच्च वर्जयित्वा । श इत्यसम्भवान्नोक्तम् । स्मर्यते । स्मर्यात् । ध्वर्यते । ध्वर्यात् । अर्यते । अर्यात् । यासुटः “स्फादे. स्कोऽन्ते च” [५।१४६] इति सखम् । यीत्येव । स्मृपीष्ट । अग इत्येव । इय्यात् । विध्यादिलिङ् । नप उप् । द्वित्वम् । “उरः” [५।१४६] इत्यत्वम् । “प्रोः” [५।१७६] इति चस्येत्वम् । “चस्यास्ये” [१४।७३] ङीर् । अत्कुरिति किम् ? सल्लिख्यते । “पूर्वं धुमिना युज्यते पश्चात् साधनवाचिना ल्येन” [प०] इति पूर्वं सुटि मति प्राप्नोति । अतिरिति ऋच्छतीत्यर्थग्रहणम् ।

यङि ॥१२।१३९॥ यङि च परतः स्फादेरर्तेश्च ऋत एव भवति । सास्मर्यते । दाध्वर्यते । अरायते । अर्यते । एप् । “अच” [१३।२] इति द्वितीयत्यैकाचो द्वित्वम् । “हलोऽनादेः” [५।१४६] इति यएम् । “दीरकृन् ने” [५।१३४] इति दीत्वम् । “हन्तेहिंसायां घ्नीभावो वक्तव्यः” [वा०] । जेघ्नीयते । हिंसायामिति किम् ? गतो जट्टन्त्यते ।

ई घ्राभ्योः ॥१२।१४०॥ घ्रा भ्या इत्येतयोर्यङि परतः ईकारादेशो भवति । जेघ्रीयते । देघ्मीयते । नित्यत्वेन परत्वेन च प्राग् द्वित्वादीकारः । ईकारस्य दीत्व किम् ? गुकार्यत्वात्पुनर्न स्यात् । उत्तरार्धञ्च ।

अस्य च्वौ ॥१२।१४१॥ अवर्णान्तस्य गोः च्वौ परतः ईकारादेशो भवति । शुक्लीभवति । मालीभवति । “च्वौ” [५।१३५] इति दीत्वस्यायमपवादः ।

पयचि ॥५।१४२॥ क्यचि परतः अवर्णान्तस्य गोरीकारादेशो भवति । पयीयति । मालीयति । “दीरकृन्ने” [५।१३४] इति दीत्व प्राप्तम् । पृथक् सूत्रमुत्तरार्थम् ।

क्षुत्तृङ्गर्धेऽशनायोदन्यधनायाः ॥१२।१४३॥ क्षुत्तृ वृङ्गर्ध इत्येतेष्वर्थेषु अशनाय उदन्य धनाय इत्येतेष्वप्यनिपात्यन्ते । अशनायतीत्यात्वं क्यचि निपात्यते क्षुच्चेद्वम्यते । अशनीयत्यन्यत्र । उदन्यतीत्यत्र उद्वस्त्रोऽभावे निपात्यते वृट् चेत् । उद्वीयतीत्यन्यत्र । धनायतीत्यात्वं निपात्यते गर्दश्चेत् । धनीयतीत्यन्यत्र ।

घटिस्पतिमास्पां ति क्तीति ॥१२।१४४॥ घटि स्यति मा स्था इत्येतेषां तकारादौ किति परतः एकारादेशो भवति । निर्दिष्टः । निर्दिष्टवान् । अवसितः । अवसितवान् । मितः । मितवान् । “गामादाग्रहणे-ष्वविशेषः” [प०] इति मामाहमेवाग्रहणम् । स्थितः । स्थितवान् । आप्तस्य “दो दद्वोः” [५।१४८] इति एकार्ये “सुमात्ता” [१४।६५] आदिना एक्षेणान्वेषामीत्वे च प्राप्ते इत्यवचनम् । तोति किम् ? दीयते । रति । क्तीति निर्दिष्टः । अजगता । प्रवसता । घटित्वल्योक्तिपा निर्देशो यदुद्वन्तनिवृत्त्यर्थः । निर्दादत्तः । निर्दादत्तः । अजगतीति । अजगतीतवान् । दद्वोऽव ईत्वं च भवति । तपरकरणं सुवार्थम् ।

मास्पांतिविभागा ॥१२।१४५॥ सा हा इत्येतयोर्विभाषया इकारादेशो भवति तकारादौ किति परतः । निर्दिष्टः । निर्दिष्टवान् । निशतः । निशतवान् । अपच्छितः । अपच्छितवान् । अपच्छातः । अपच्छातवान् ।

व्यवस्थितविभाष्यम् । तेन श्यतेरित्वा व्रतविषये नित्यमिष्यते । संशितव्रतः साधुः । संशितं यत्नेन सम्यक्सम्पादितं व्रतं यस्य येन वा स एवमुक्तः । संशितः साधुरित्यपि भवति । यः प्रकरणादिना व्रते यत्नवान् गम्यते ।

**धाजो हि ॥५१२।१४६॥** धाजः हिरित्ययमादेशो भवति तकाराद्यौ किति परतः । हितः । हितवान् । अनेकाल्पत्वात् सर्वस्य स्थाने “भुमास्था” [४।४।६५] आदिनेत्ये प्राप्ते हिरादेशः । अनुबन्धनिर्देशो यदुबन्त-निवृत्त्यर्थः । देधीतः । देधीतवान् । धेद्यो लाक्षणिकत्वान्निवृत्तिः ।

**हाकः कित्वा ॥५१२।१४७॥** हाकः क्त्वात्ये परतः हिरादेशो भवति । हित्वा गतः । हित्वा गन्तुनि कर्माणि । मोक्षम् । पूर्ववदीत्ये प्राप्ते हिरादेशः । अनुबन्धनिर्देशस्तु हाडो निवृत्त्यर्थः । यदुबन्त-निवृत्त्यर्थश्च । ईत्वमपि यदुबन्तस्य नेष्यते । क्त्वीति सौत्रो निर्देशः ।

**दो दङ्गो ॥५१२।१४८॥** दा इत्येतस्य मुसञ्जकस्य दद् इत्ययमादेशो भवति तकाराद्यौ किति परतः । दत्तः । दत्तवान् । दत्त्वा । दत्तिः । द इति किम् ? धीतः । धीतवान् । धेट दट रूपम् । वानो हिरादेश उक्तः । भोरिति किम् ? दातम् बर्हिः । ते आदेशे सुदत्तमित्यत्र “दस्ति” [४।३।२२५] इत्यनेन दगन्तत्वं गेर्दात्व स्यात् । दान्तो “दान्तस्य तो नः” [५।३।५६] इति नत्वम् । धान्ते “तथोधोऽध” [५।३।५६] इति भूपः परस्य धत्वम् । धान्ते नास्ति दोषः । तान्तो वास्तु । “दस्ति” [४।३।२२५] इत्यत्र द्वो पक्षौ । दा इत्येतस्मिन्तकाराद्यौ तकारान्ते वा दीत्वम् । तत्र तकाराद्यौ नास्ति दोषः । धान्तपक्षे “स्तरि” [५।३।१३०] इति चत्वम् ।

**गेस्तोऽचः ॥५१२।१४९॥** अजन्तादङ्गेरुत्तरस्य दा इत्येतस्य भुमञ्जकस्य त इत्ययमादेशो भवति तकाराद्यौ किति परतः । नीत्तम् । वीत्तम् । परीत्तम् । प्रत्तम् । अवत्तम् । “अन्तेऽल” [१।१।४६] इत्याकारस्य तकारः । अकार उच्चारणः । टकारस्य चत्वम् । गेरिति कानिर्देशात् “परस्यादे” [१।१।५१] इति चेददोषोऽयम् । “अस्य च्वौ” [५।२।१४९] इत्यतो मण्डकप्लुत्या अवर्णस्येति वर्तते । तेनाकारस्य भविष्यति । द्वितकारको वा निर्देशोऽनेकाल्पत्वात् सर्वस्य स्थाने भवति । गेरिति किम् ? ङवि दत्तम् । अच इति किम् ? संदत्तम् । द इत्येव । निधीता गौर्यत्वेन । भोरित्येव । अवदात्तं मुखम् । यत्तेरित्वात्तो भवति परत्वात् । अवत्तः । अवत्तवान् । ननु च—

अवदत्तं विदत्तञ्च प्रदत्तं चादिकर्मणि ।

सुदत्तमनुदत्तञ्च निदत्तमिति चेप्यते ॥

तत्कथं सिद्ध्यति । अत्रादीनां गम्यमानक्रियान्तरविषयत्वेन ददाति प्रत्यगित्वात् निद्वम । “यन्त्रिया युक्तस्तं प्रति गीतिसञ्जको भवति” इति वचनात् । अवहीनमवगतं वा दत्तमवदत्तमिति द्विभान्तगतिपरा बोध्यम् । अथ वा “शाच्छोविभाषा” [५।२।१४७] इत्यतो मण्डकप्लुत्या व्यवस्थितविभाषानुवृत्ते ।

**भ्यपः ॥५१२।१५०॥** भयाराद्यौ परतः अप् इत्यस्य गोः तकारादेशो भवति । अडिः । अड्गन् । भोति किम् ? आनु । द्वितकारकनिर्देशपक्षे तु पूर्वस्यापि तकारस्य जश्त्वम् । अनेकाल्पत्वात् सर्वादेश इति चेन्न । अच इति वर्तते । अचः परस्य भवति । गोरिति विशेषणात्त्वे भाटौ सम्प्रत्ययः । तेन पठे न भोति । अवभारः । अवभारः ।

**स्यणे सः ५१२।१५१॥** सकाराद्यौ परतः सकारान्तस्य गोन् इत्ययमादेशो भवति । वन्तति । अवसन् । विवसति । “अन्तेऽल” [१।१।४६] इति वा । “निर्दिश्यमानस्यादेशा” [५०] इति वा सकारान्तस्य नत्वम् । द्वितकारपक्षे अच इति कानिभकयन्तमनुबन्धम् ? भोति किम् ? प्रसातः । स्यणे इति

किम् ? आस्ते । वस्ते । स इति किम् ? पचयति । अशिष्यत इत्यत्र दृष्टः सकार प्राति भक्त त्वेऽपि मीति वचनात् भवति । द्विसकारको वास्तीति निर्देशः ।

तासस्त्योः खम् ॥५१२१५२॥ तासेः अस्तेश्च सकारस्य सकारादौ स भवति । कर्तासि । कर्तामे । अस्ते-असि । अग इति निवृत्तमसम्भवात् । तासिर्गे विहितः । अस्तेरप्यग्रे भूभावेन भवितव्यमिति । व्यतिषे इत्यत्र परत्वात्सखमेकदेशविकृतस्यानन्यात् “ससः खम्” [५१४१०१] इत्यखम् । त्यमात्रमेव पदम् । पत्व प्राप्तम् “नाद्यन्ते” [५१४१०६] इति प्रतिषिद्धम् । “गिप्रादुभ्यां यच्यस्तेः” [५१४१६८] इति । तत्र पदस्येति वर्तते । गिपूर्वस्यास्तेः पदस्य यकाराच्परस्य इति षत्वम् ।

रि ॥५१२१५३॥ रेफादौ त्ये परतः तासस्त्योः सख भवति । कर्तारौ । कर्तारः । अस्ते रेफादिर्नान्ति ।

एति हः ॥५१२१५४॥ एकारे परतः तासस्त्योः सकारस्य हकारादेशो भवति । कर्ताहे । लविताहे । अस्तेः । व्यतिहे । तपरत्वमसन्देहार्थम् “इटि ह” इति सूत्रे व्यत्यासीति न स्यात् ।

स्सनि मीमाभुरभलभशकपतपदोऽच इस् ॥५१२१५५॥ सनि सकारादौ परतः मी मा भु रभ लभ शक पत पद इत्येतेषामचः स्थाने इस् भवति । मी इति मीनातिमिनोत्योर्ग्रहणम् । “हनिद्भ्यश्चानि सनि” [५१४११४] इति दीत्वे कृते विगोषाभावात् । मिनाति । प्रमित्सति । मा इति “गामादाग्रहणेऽप्यविशेषः” [५०] इति प्रतिपदोक्तपरिभाषा नापेक्षिता । मित्सति । मेड् । अपमित्सते । माड्-मित्सते । भु-दित्सति । धित्सति । आरिप्सते । आलिप्सते । शित्सति । पित्सति । प्रपित्सते । अनेकाल्त्वात्सर्वादेशो मा भूदच इम् विधीयते । द्वित्वम् । “चस्यात्र खम्” [५१२१६०] इति चखम् । “स्यो सः” [५१२१५१] इति सकारस्य तत्त्वम् । रभादिषु “स्फादेः स्कोन्ते च” [५१३१४६] इति इसः सखम् । सकारादाविति विम् ? पिपतिपति । “तनिपतिदरिद्रां वेद्” [वा०] । सनीति किम् ? दास्यति । सीत्येतद्व्यवहितम् । मनीति द्विसकारको निर्देशः ।

राधोः वधे ॥५१२१५६॥ राधेः वधेऽर्थे वर्तमानस्य अच इस् भवति सनि सकारादौ । प्रतिरित्सति श्वानम् । वध इति किम् ? अरिरात्सति ।

आप्जप्यधामीत् ॥५१२१५७॥ आप् जपि ऋध इत्येतेषामच ईकारादेशो भवति सनि सकारादौ । ईप्सति । जीप्सति । ईर्त्सति । जपेः पूर्वनिर्णयेन णिषे आत्यच ईत्वम् । सकारादावित्येव । जिज्ञपयिपति । “सर्वावन्त” [५११६७] इतीदृक्कल्पः ।

दम्भ इच्च ॥५१२१५८॥ दम्भेरच इकारादेशो भवति ईच्च सनि सकारादौ । धिप्सति । धीप्सति । दम्भरनिष्पत्तेः इकारादेशो कृते “हलन्तात्” [१११८४] इत्यत्र हल्ग्रहणस्य जातिवचनत्वात् सनः कित्त्वे “हण्ट विटल्यनिवृत्तिः” [४१४२३] इति नख भभावः । सकारादावित्येव । दिग्भ्रमपति ।

पा मुचो धरेप् ॥५१२१५९॥ मुचेर्धिसञ्जकस्य वा एप् भवति सनि सकारादौ । मोक्षते वस्तः रजमेव । मुमुक्षते वस्तः स्वयमेव । आत्मनो मोक्षमुमिच्छतीति सन् । वस्तो हि मोक्षुमिष्यमाणो मुक्तक्रिया प्रप्राप्तुम् यथा प्रतिपद्यते तदा मुमोक्षत्वात् कर्मैव कर्तृत्वेन विवक्षितमिति बाह्यकर्माभावात्सुचिरकर्मकः । ए एप् चत्प चत् । अच इत्येनान्वितम् । अन्वया “चस्यात्र खम्” [५१२१६०] इत्यत्र चस्याचः ख चत् । येनिति विम् ? मुमुक्षति कर्माणि मुनिः ।

चस्यात्र खम् ॥५१२१६०॥ यदेतदनुक्रान्त सनि सकारादौ मुचरेष्यन्तम् एतस्मिन् चत्प ख भवति । तथा चेतोराहतम् । यच्चेन ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः आपादपरिसमाप्तेऽस्येत्येतेद्वेदितव्यम् । ननु सनि एतत्तत्पित्तिषिण्येनाभिरुच्यन्तात् सिद्धम् अत्रग्रहणं किम् ? सर्वस्य चत्प ख यथा स्वादित्येवमर्थम् ।

हलोऽनादेः ॥५१२१६१॥ अनादेर्हलः ख भवति चस्य । हुदौके । तुचौके । पपाच । आटनु ।  
आट । अनादेर्हलः अच उत्तरस्य चस्यम् ।

शरः खयि ॥५१२१६२॥ शरः खं भवति खयि परतश्चस्य । चुश्च्योतिपति । तिग्रासति ।  
पिस्पदिपते । शर इति किम् ? पपाच । एकारो पकारेऽकारस्य मा भूत् । खयीति किम् ? ससौ । उचि-  
च्छिपति । उच्छेर्न्तगङ्गत्वात्तुकि चुत्वे च कृते चुत्वस्यासिद्धत्वात् सतकारस्य ह्रस्व द्वित्वे उचिच्छिपतीति  
प्राप्तम् । “पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे” इति वक्ष्यत्यतो द्वित्वे चुत्व सिद्धम् ।

प्रः ॥५१२१६३॥ प्रो भवति चस्य । पिपामति । निनीपति । हुदौके । हुदौकिपते । “अचश्च”  
[११११२] इत्यचः प्रादेशः ।

कुहोश्चुः ॥५१२१६४॥ चस्य कवर्गहकारयोः चवर्ग आदेशो भवति । चिकीर्षति । चगाम ।  
जगाम । जिघत्सति । जुहुवे । जहास । जहार । नादवतो महाप्राणस्य ह्रस्व चुत्वे तादृश एव भजार ।  
जश्व जकारः ।

वा कोर्यङि ॥५१२१६५॥ कोश्चस्य यङि वा चुर्भवति । कोरिति यस्य कस्यचिच्छब्दक्रियस्य ग्रन्थे  
रूपद्वय मिद्वयति । उग्रश्चोक्त्यते । उष्ट्रः कोकूयते । यङीति किम् ? चुकुवे ।

उरः ॥५१२१६६॥ ऋवर्णान्तस्य चस्य अकारादेशो भवति । ववृते । ववृथे । चक्रे । जह्वे । अय  
नर्नर्त्यादौ परत्वाद्गुणविषु कृतेषु ऋकारान्तत्वाभावाच्चस्यात्व न प्राप्नोति । नैव शङ्क्यम्, “चधिकारे  
त्वपवादा प्र उत्सर्गान्न बाधन्ते” [ ५० ] इति उरत्वे कृते रगादयः ।

द्युतिस्वाप्योर्जिः ॥५१२१६७॥ द्युति स्वापीत्येतयोश्चस्य जिर्भवति । दियुते । अदियुतत् ।  
देव्युत्यते । दिद्योतिपते । सनि “व्युडोऽवो हलः संश्च” [११११६७] इति विस्मयेन कित्वम् । यदा  
नास्ति तदा “व्युडः” [ ५१२८३ ] इत्येप् । स्वापि-सुष्वापयिपति । सुष्वापयिपतः । सुष्वापयिपन्ति ।  
स्वापेय्यन्तस्य ग्रहण किम् ? हेतुमति ण्यन्तस्यैव यथा स्यादिह मा भूत् । स्वाप करोतीति णिच् । स्वापयितु-  
मिच्छति । सिष्वापयिपति ।

व्यथो लिटि ॥५१२१६८॥ व्यथः लिटि परतश्चस्य जिर्भवति । विव्यथे । विव्यथाते । विव्यथिरे ।  
ननु वकारस्यापि प्राप्नोति । अनादेरित्यनुवर्तनान्न भवति ।

कितीयो दीः ॥५१२१६९॥ लिटि किति परतः इणश्चस्य दीर्भवति । ईयतु । ईयु । पत्तात्  
“यथेत्योः” [४१४७७] इति यणादेशः । तस्य “द्वित्वेऽचि” [१११५६] इति स्थानिवद्भावादिवाक्यस्य द्वित्वम् ।  
द्वित्वे एव स्थानिवद्भावो न तु स्वेऽको दीत्वे । कितीति किम् ? इयाय । इयथिथ । ऐयेपो । कृतयोः स्थानि  
वद्भावाद्वित्वम् । “चस्यास्वे” [४१४७३] इति यादेशः ।

आद्यतः ॥५१२१७०॥ आदेरन्तश्चस्य दीर्भवति लिटि परतः । लिटीति वर्तते । किनीति निवृत्तम् ।  
आटनुः । आटुः । आटिय । “ण्यतोऽपदे” [४१३८४] इति पररूपत्वे प्राप्ते चस्य दीत्वम् । आदेरिति मित्र ?  
टटटे । टटटाते । चान्तस्य न भवति । अत इति किम् ? इयेप । उवोप । तपरङ्गण किम् ? य उपदेश अकार  
स्य प्रादेशे कृते अनेन दीत्व मा भूत् । “आद्यि आयामे” [५०] आच्छतु । आच्छुगिति । यपनेन दीत्वं  
स्यात् ‘ततो नुट्’ [५११७१] इति नुट् प्रसज्यते ।

ततो नुट् ॥५१२१७१॥ तस्मात् कृतदीनान्नुडागमो भवति । आनङ् । आनङ्गु । आनङः ।  
आनञ्ज ! आनञ्जतुः । आनञ्जु । नुगिति पूर्वान्तः कर्तव्य । चन्येति वर्तते । चन्य कृतदीनान्न भविष्यति ।  
एवं लघुना निर्देशेन मिद्वे पण्डितवचन जापकम् “अस्मिन्प्रकरणे पूर्वान्त आगमः स्थानिमित्तमन्तरेणापि त्रिषते”  
तेनान्त्वान्तादादप्यनुत्तर । ययन्ते । रन्त्यते ।

अश्नोतेः ॥५१२१७२॥ अश्नोतेश्च कृतदीत्वान्नुङ् भवति । व्यानशो । व्यानग्राते । व्यानशिरे । नियमार्थोऽयमारम्भः । अश्नोतेरेवाकारोऽो नुङ् भवति नान्यस्य । आटुः । आटुः । तुल्यजानीयस्य नियमादिद् भवत्येव । आनृचतुः । आनृचतुः । अश्नोतेरिति विकरणनिर्देशादश्नातेर्न भवति । आशतुः । आशुः ।

भवतेरः ॥५१२१७३॥ भवतेश्चस्य अकारादेशो भवति लिटि परतः । बभूव । बभूवतुः । बभूवुः । व्यतिभूवे । “लुङ् लिटोर्बुक् [४१४८१] इति वुगागमः । लिटीत्येव । बुभूषति । बोभूयते । तिपा निर्देशो यदुन्नतिवृत्त्यर्थः । बोभवाञ्चकर । नैतदस्ति “कास्यनेकाच्चास्तिट्ठवाम्” [१११३१] इति ग्रामाव्यवहिते लिटि कथं प्राप्तिः । “इकस्तिर्षा धुनिर्देजे” इत्यस्य सूचनार्थस्तर्हि ।

निजामुच्येप् ॥५१२१७४॥ निजादीनामुचि चस्यैव भवति । बहुत्वनिदेशादात्रार्थो गम्यते । नेनेक्ति । वेवेक्ति । वेवेष्टि । नेनेक्त इत्यत्र चस्य “किडिति” [११११६] इत्येवप्रतिप्रेषो न भवति । धुरूपेण व्यवहितत्वात् । उचीति किम् ? निनेज । निजादयस्त्वयो वृत्त्यन्ताः ।

भृजां त्रयाणामिः ॥५१२१७५॥ भृजादोना त्रयाणामुचि चस्य इकारादेशो भवति । त्रिभर्ति । मिर्मिति । सज्जिहीते । “अन्तेज्जलः” [१११४६] इति अच इत्वम् । त्रयाणामिति किम् ? जहाति । उचीत्येव । बभार ।

प्रोः ॥५१२१७६॥ पिपतिं इत्यति इत्येतयोः उचि चस्यैव भवति । पिपतिं । पिपृथात् । अपिपः । अर्पति । अर्पति । ऐपः । अर्त्तेर्लट् ञप् । उच् एप् द्वित्वमित्त्वं “चस्यास्वे” [४१४७३] इतीप् । “हृडयाप [४१४५६] इति तिपः खम् । अडागमः । “अटश्च” [४१३७८] इत्यैप् । उचीत्यनुवर्तनम् । जुहोत्याप्रोः प्रोरिट् णङ्गम् । अर्तेर्भाषायामपि प्रयोगः ।

सन्न्यतः ॥५१२१७७॥ सनि परतश्चस्यात् इत्व भवति । पिपक्षति । पिपासति । सनीति किम् ? पनाच । त्रत इति किम् ? तुष्टूपति । सनि यश्चस्तस्यैत्वम् । पापच्यतेः सन् पिपापचिपते । तपरकरणं लुप्तार्थम् ।

ओः पुयण्ज्ये ॥५१२१७८॥ उवर्णान्तस्य पवर्गयण्जकारेषु अवर्णपरेषु सनि परतः इत्वं भवति । पिपाययिपति । त्रिभाययिपति । यण । यियावयिपति । रिरावयिपति । लिलावयिपति । जु इति सौत्रो धुः । जिजावयिपति । प्वादिभ्यो यतेभ्यः सन् । ओरिति वचनं जापकम् “द्वित्वे कर्तव्ये णौ कृतं स्थानिवद्भवति” ननु यन्नत्येः प्रयोजनम् । पिपयिपते यिययिपतीति । “स्मिङ् ष्ट् र्ज्वशः सनि” [५१११३३] । “सनीवन्त-र्ज्वरज” [५१११६७] इत्यादिना वेट् । एत्रादेशो । “द्वित्वेऽचि” [१११५७] इति स्थानिवद्भावाद्वित्वमने-नेत्यम् । यत्रेतावत् प्रयोजनं स्यात् । पवर्गयण्जग्रहणमेव क्रियेत् । पवर्गयण्जग्रहणमनर्थकं स्यात् । पुयण्जोति भिन्नं ? तुगावयिपति । अवर्णपर इति किम् ? लुलूपति ।

दीरकितः ॥५१२।१८१॥ अकितश्चस्य यडुपोर्दीर्भवति । पापच्यते । पापचीति । पापठ्यते । पाप-  
ठीति । “यडो वा” [५१२।१८२] वचन जापकमविशेषेण यडुपः । अकित इति किम् ? ययम्यते । ययमीति ।  
ननु दीत्वापवादे परत्वान्नुकि कृते अनजन्तत्वात् कथं दीत्वप्राप्तिः । इदमेवाकित इति वचन जापयति—“चविका  
रेचपवादा नोत्सर्गान् बाधन्ते” [५०] इति । तेन किं सिद्धम् ? मीमांसन इत्यादौ ईत्वं दीत्वेन न बाध्यते । डोदो-  
क्यत इति दीत्वेन प्रादेशस्य न बाधा । अचीकगदित्यत्र “वेदी” [५१२।१८१] इत्यनेन “सन्त्यतः” [५१२।१७७]  
इत्वं न बाध्यते । अजीगणदिति “ईच्च गणः” [५१२।१८४] इत्यनेन “हलोऽनादेः” [५१२।१८१] खट्व  
न बाधा ।

नीग्वञ्चुञ्चसुध्वंसुभ्रंसुकसपनपदस्कन्दाम् ॥५१२।१८२॥ वञ्चु खमु त्वमु भ्रमु कस पन  
पद स्कन्द इत्येतेषा यडुपोश्चस्य नीगागमो भवति । वनीवच्यते । वनीवञ्चीति । सनीवस्यते । मनीवमीति ।  
दनीवस्यते । दनीवसीति । वनीभ्रश्यते । वनीभ्रशीति । चनीकस्यते । चनीकमीति । पनीपत्यते ।  
पनीपतीति । आपनीपद्यते । आपनीपदीति । चनीस्कद्यते । चनीस्कन्दीति । यडुपि “नोमता गो.” [१११।६४]  
इति प्रतिषेधात् “हलुङः” [४१४।२३] इति नख न भवति । नीगिति दीत्वोच्चारणसामर्थ्यान्न प्रादेशः ।  
अकित इति दीत्वप्रतिषेधार्थं पूर्वान्तकरणम् ।

डस्यातो नुक् ॥५१२।१८३॥ डसञ्जान्तस्य गोर्यश्चेऽकागन्तस्तस्य नुगागमो भवति यडुपोः परतः ।  
वमण्यते । वमणीति । तन्तन्यते । तन्तनीति । जङ्गम्यते । जङ्गमीति । नुको “नश्चापदान्तस्य झलि”  
[५१४।८] इत्यनुस्वारस्य परस्वत्वम् । अमत्यपि स्वनिमित्ते झलादौ अनुस्वागे भवनीत्युक्तम् । तेन ययम्यते ।  
ररम्यते इत्यनुस्वारः । अत्रापि दीत्वप्रतिषेधार्थं पूर्वान्तत्वम् । डस्येति किम् ? पापच्यते । अत इति किम् ?  
तेतिम्यते । तपरकरण किम् ? आकारभूतपूर्वस्य मा भूत् । बाभाम्यते ।

जपजभद्दहदशभञ्जपशाम् ॥५१२।१८४॥ जप जभ दह दश भञ्ज पश इत्येतेषा चस्य नुगागमो  
भवति यडुपोः परतः । जज्ज्यते । जज्जयीति । जज्जभ्यते । जज्जमीति । दन्द्यते । दन्दहीति । ददश्यते ।  
ददशीति । ब्रम्भ्यते । ब्रम्भजीति । पम्पश्यते । पम्पशीति । पश इति सौत्रो दुः । जपादिषु दशिपर्यन्तेषु  
“लुपसदचर” [२।१।२१] इत्यादिना यङ् । अन्यत्र क्रियाममभिवारे । दश इति सूत्रनिर्देशाद्यङ्गपि नग  
भवतीति केचित् । तदयुक्तम् । विकरणानिर्देशोऽयम् । यथा “पतदग्नहः करणे ऋट्” [२।२।१६०] इति ।

चरफलोरुच्चोडः ॥५१२।१८५॥ चर फल इत्येतयोश्चस्य नुगभवति यडुपो उटश्च उकारादेशश्च  
फलोः । चञ्चुर्यते । “हृत्थभकुच्छुर.” [५।३।८६] इति दीत्वम् । चञ्चुरीति । पम्कुल्यते । पम्कुलीति ।  
उडिति तपरकरण किम् ? चञ्चुरिति । पम्कुलीत्यत्र “व्युङः” [५।२।८३] एन्निवृत्त्यर्थं दीत्वस्यामिद्वत्तादेषु  
प्राप्नोति । नन्वेव इव दीत्वस्यापि तपरकरणात् किञ्च निवृत्तिः । अत्रोच्यते—यथा “गेऽत उट्” [४।४।१००]  
इति तपरकरणे न दीत्वमशक्य निवर्तयितुम् अभकुच्छुर इति प्रतिषेधारम्भात्तथाऽत्रापि ।

ति ॥५१२।१८६॥ तकारादौ चपरतः चरफलोऽङ् । ऊकारादेशो भवति । देवचूर्तिः । “क्तिचूकारो”  
[२।३।१५०] इति क्तिच् । एव चरणं चूर्तिः । फलनं फुत्तिः । प्रफुल्ला ल्ना । यडुपोश्चन्येति चानुवर्तमान  
मिन् वचनसामर्थ्यात् नाभिमन्यते ।

रीगृत्वतः ॥५१२।१८७॥ ऋत्वतो गोश्चस्य नीगागमो भवति यटि । वरीवृ-यते । नरीवृ-यते । यर्त्  
ऋटुट इति क्रिये । सरोरुच्यते इति न न्यात् । ऋमन इति तर्हि कर्तव्यम् । चिकीर्षत इत्यत्र तु कृताङ्  
प्रसङ्गित्वाद्दत्त ईर्भविष्यति । एव सिद्धे तपरकरणं लात्तगिफस्यापि रीगर्धम् । तेन वरीवृच्यते । वरीवृ-यते ।  
वरीवृच्यते ? चेरीयते जेरीयते इत्यत्र कम्मान्न रीगिति चेत् द्वित्वात् । पर्येन रीरादेशे कृते ऋराग  
भाषात् भवति ।

ऋतः ॥५१२१८६॥ ऋकारान्तस्य गोर्यश्चस्तस्य यङुपि रुग्ूरिको भवतः रीञ्च । तपरकरणसामर्थ्यादृता गुदिशेष्यते । चरति । चरिकति । चरीकति । जर्हति । जरिहति । जरीहति । “अदोऽट्” [५१२१६५] इत्यत्रोत्त चातुर्दृष्टमपि कचिदुत्तरानुवर्तते तेन रीक् । तपरकरण किम् ? कृ गृ । चाकति । जागति । ननु च “रुगिकौ चोपि” [५१२१८७] इत्येनैव नृतय सिद्धम् । तथापि “कच्चतः” [५१२१८६] इति तपरकरणमस्ति तेन चाकर्ता न भविष्यतीति चेत् , तत्र तपरकरण लाक्षणिकार्थमुक्तमिति किरत्यादेर्निवृत्तिर्न स्यात् ।

घो कच्यन्नक्खे सन्वत् ॥५१२१९०॥ कच्यरे घिसञ्शके वणं यश्चस्तस्य सनीव कार्य भवति अनक्ये । “सन्वत्.” [५१२१७७] इतीत्वमुक्तम् । कच्यपि तथा अचीकत् । अपीपचत् । “ओः पुयण्ड्ये” [५१२१७८] कच्यपि तथा । अपीपठत् । अलीलवत् । अजीजवत् । वा सवत्यादीना कच्यपि तथा । अरिस्तवत् । असुस्तवत् । अदिद्रवत् । अदुद्रवत् । ननु हला व्यवधानात् कच्य कच्यरो पवर्णः ? वचन-प्रामाण्यादेवेन व्यवधानमाश्रितम् । घाविति किम् ? अततत्तत् । अवभासत् । कचीति किम् ? अह पपच । अनक्त नति किम् ? स्तनमाख्यत् अतस्तनत् । वनमाख्यत् । अववनत् । “णाविष्टमृदः” [४१४१४६] इति ऋज्जाव “तुरिष्टेमेयस्सु” [४१४१४४] “टेः” [४१४१४५] इति टिलम् । इह कस्मान् न भवति । अचक्रमतेति कञ्जिपये । “घाओ” [२११२७] इति णिङोऽनुत्पत्तिपक्षे कचि कृते । अत्रोच्यते-नैव जातव्यम् । अत्र त्वम् अकत्तम् । अक्रेतेति । किं तर्हि ? अक् ख यस्मिन्निमित्तभूते सोऽयमक्खो न अक्खो अनक्ख-तन्तिवत् । पणुदासहृत्ता अनक्खनिमित्ते णौ मध्यगते सन्वद्भाव इत्यदोषः । तथा अकः ख यस्मिणिसामान्ये ण्यस्त्व । न तु णौ गित्तमकः त्वम् । तेन वादितवन्त प्रयोजितवान् अवीवदत् । ननु अजजागरदित्यत्र गफार-ण्यकारे घिसञ्जामाश्रित्य प्राप्नोति सन्वद्भावः । वचनप्रामाण्याद् व्यवधानेऽपि सन्वद्भावेन भवितव्यम् । सर्व-पार्थपक्षदिनादावपि चत्सानान्तर्ध घिना नास्ति । नाय दोषः । वचनप्रामाण्यादिहैकवर्णेन व्यवधानमिष्ट-सत्तातेन पुनर्व्यवधाने भवति न भवति च । तत्र “त्वर” [५१२१९२] आदीनामित्वापवादार्थमत्ववचनं ज्ञापकम् । एतन्प्रातेन प्यवताने भवति । अचिक्कणत् । अविमजत् इति । अज्जल्लसत्तातेन व्यवधाने तु न भवति । अमीमप-ज्जादो “स्सनि मीमा” [५१२१५५] इत्येव विधिः कस्मान्न भवति ? णिजन्तस्य प्रकृत्यन्तरत्वात् ।



[सर्वस्य द्वे ॥१३१॥ परो त्रिः ॥१३२॥ नित्यचीप्सयोः ॥१३३॥ परेर्वर्जने ॥१३४॥ उपर्यध्यधसः सामीप्ये ॥१३५॥ वाक्यादेर्वोध्यस्यान्यासम्मनिकोपकुत्सनभर्त्सनेषु ॥१३६॥ एको वचत् ॥१३७॥ आवाधे च ॥१३८॥]

..... कश्चिदेव प्रयुङ्क्ते इत्यावाधः । प्रयोक्तव्या । ( ? )

यद्युत्तरे ॥१३९॥ उत्तरे द्वित्वे यस्येव कार्यं भवति । वक्ष्यति “प्रकारे गुणोक्तेः” [५३१०] इति । पटुपटुः । पटुपट्वी । कालककालिका । वसातिदेशे “न बुद्धकोडः” [४३१४६] इति पुनर्भाव-प्रतिषेधः स्यात् । यत्ते तु “पुंवद्यजातीयदेशीये” [४३१५४] इति भवति । अधिकारेणाऽप्येवमिदम् । उत्तरग्रहणं जापकार्यम् । अयमधिकारः । “एको वचत्” [५३१७] इत्यादिलक्षणं चाधिमाश्रयः । तेन एव तवाञ्जलिरेव तवाञ्जलिः । अतो दर्शनीया अतो दर्शनीया । आधिक्येऽपि द्वित्वमुक्तम् । “स्वार्थेऽवगार्यं माण्येऽनेकस्मिन् द्वे भवतः” [ वा० ] अस्मात्सुवर्णादिह भवद्-मा माप माप देहि । अत्र द्वावेव मापौ दौते न सर्वे मापाः । तेन वीप्सा नास्ति । अवधार्यमाण इति किम् ? इह भवद्-मा मापमेकं देहि । “पूर्व-प्रथमयोरतिशये द्वे भवतः” [ वा० ] पूर्वं पूर्वं पुण्यन्ति । प्रथमं प्रथमं पच्यते । वेत्यधिकारादत्र न द्वित्वं तदाऽतिशायिकः । पूर्वतरं पुण्यन्ति । प्रथमतरं पच्यन्ते । “समसम्प्रधारणाया किम आक्षेपे द्वे भवतः” [ वा० ] । उभाविमावाद्बौ कतराकतराऽनयोस्तयोरौदयता । कतमा कतमाऽनयोरादयता । कीदृशी कीदृशी अनयोरादयता । कतरः कतरोऽनयोर्विभवः । “कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वित्वं सवच्च बहुलम्” [ वा० ] तत्र वेत्यधिकाराल्लभ्यते । अमवत्पक्षे पूर्वपदस्यान्यशब्दस्य सुरेव । सवद्भावे च मिभूतस्यादेरुत्त्व परशब्दस्य सुट् । अन्योन्यमिमं ग्रामा भोजयन्ति । अन्योन्यस्य भोजयन्ति । पुत्रादीनि गम्यते । एवमितरेणैवम् । इतरेतरस्य । परस्पर परस्परस्य भोजयन्ति । “स्त्रीनपुंसकयोर्विभक्त्या वाऽऽभावो द्योस्तु” [ वा० ] अन्योन्यं नायौ भोजयतः । अन्योन्या वा । अन्योन्यं कुले भोजयतः । अन्योन्यं वा । अन्योन्यं नायौ भोजयन्ति । अन्योन्या वा । अन्योन्यं वा कुलानि भोजयन्ति । अन्योन्यं वा । इत्यादि सिद्धम् ।

प्रकारे गुणोक्तेः ॥१३१०॥ प्रकारे वर्तमानस्य गुणोक्तेर्द्वं भवतः । प्रकारः सादृश्यमिदं गृह्यते । उच्यते इत्युक्तिरभिधेय वस्तु । गुण उक्तिरभिधेयोऽस्येति गुणोक्तिः, तस्य द्वित्वम् । पटुपटुः । पण्डित पण्डितः । पटुपट्वी । पण्डितपण्डिता । उत्तरसूत्रे वाग्रहणमिदं सिद्धान्तलोकेन सम्प्रयते । तेन जातीगोऽपि भवति । पटुजातीयः । मृदुजातीयः । द्वित्वजातीययोर्विधेयाभेदे मृदुमृदुजातीय इत्यनिष्टं स्यात् । प्रसार इति किम् ? शुल्को गुणः । अग्निर्माणवक्रः । गौर्वाहीक । सदागुणवचनो यः प्रकारे वर्तते तस्य द्विः । अथ तूपमानात्सर्वद्रव्यवचनः ।

प्रियसुखयोर्वाऽकृच्छ्रे ॥१३११॥ प्रियं सुखं इत्येतयोर्गृह्ये वा द्वे भवतः । प्रियप्रियेण स्त्री । प्रियेण वदति । सुखसुखेनाधीते । सुखेनाधीते जैनेन्द्रम् । अप्रयामेनेत्यर्थः । अकृच्छ्रे इति स्मि ? प्रियः पुत्रः । सुखो रथः । प्रीणातीति प्रियः । सुखयतीति सुखः ।

यथास्वे यथायथम् ॥१३१२॥ यथायथमिति निपात्यते यथास्वेऽर्थः । सर्वं ज्ञाता यथायथम् । यथा-स्वभावः यथाऽस्मीय चेत्यर्थः । यथागच्छन् द्वित्वमभावश्चान्ते निपात्यते । यो य आत्मा यो य आत्मीया वा यथात्वम् । “यथावत्था” [१३१६] इति वीष्माया इमः । जिमजफ वा यथायथमिति शब्दान्तरमन्विन्ये माधुवेनात्वाख्यातम् ।

१ प्रतिषु [ ] कोष्टान्तर्गतानां सूत्राणां वृत्तिगुणिता । सूत्राणि तु जैनेन्द्रपञ्चाचार्यानां मूल्यानि निर्दिष्टानि ।

एषत्स्य ते मे ॥५॥३॥६॥ एकान्तगौर्युपपदमदोस्ते मे इत्येवात्रादेशौ भवतः । एक इति त्वः ।  
“एषत्स्य ते मे यत्नात् तज्जगद्गृहम्” [५०] । जान ते दीयते । शील मे दीयते । इपो वक्ष्यति । जान ते स्वम् ।  
मी मे स्वम् ।

युवा आवा च रक्षतु । युष्मान् अस्माँश्च रक्षतु । ज्ञान तव च स्वम् । ज्ञान मम च स्वम् । युवयोः आवयोश्च स्वम् । युष्माक अस्माक च स्वम् । ज्ञान तुभ्य मह्यं वा दीयते । ज्ञान तुभ्यं मह्यं ह दीयते । ज्ञान तुभ्य मह्यमह दीयते । ज्ञान तुभ्य मह्यमेव दीयते । इत्यादि योज्यम् । योग इति किम् ? ज्ञान च मे स्वम् । नात्र चादिभिर्बुध्मस्मदोयोगः । किन्तर्हि ? ज्ञानस्य ।

दृश्यर्थेचिन्तायाम् ॥५॥३॥२१॥ चिन्ताया वर्त्तमानैदृश्यैर्बुध्मिर्योगे बुध्मदस्मदोर्वाग्भावादयो न भवन्ति । अत्र साक्षाद्योगे तद्युक्तयोगे च प्रतिषेधः । ज्ञान तुभ्य दीयमान समीच्यागतो जनः । ज्ञान मह्य दीयमान समीच्यागतः । साक्षाद्योगे ग्रामस्त्वा समीच्यागतः । ग्रामो मा समीच्यागतः । ज्ञान तव स्व समीच्यागतः । शील मम स्व समीच्यागतः । सन्दृश्य सचिन्त्य निरूप्येति यावत् । दृश्यर्थैरिति किम् ? ग्रामस्त्वा मन्ते । अस्ति चिन्तार्थो मन् बुर्न तु दृश्यर्थः । चिन्तायामिति किम् ? ग्रामस्त्वा पश्यति । अत्र चक्षुर्दग्ने दृशिर्गते । तेन न प्रतिषेधः ।

वाऽनन्वादेशे ॥५॥३॥२२॥ युष्मदस्मदोर्वाग्भावादयो वा भवन्ति अनन्वादेशे । आदेशः कथनम् । अनन्वादेशोऽनुकथनम् । नान्वादेशोऽनन्वादेशः । तत्र विकल्पोऽन्वादेशे नित्यो विधिः । ज्ञान ते दीयते । ज्ञानं तुभ्य दीयते । ज्ञान मे दीयते । ज्ञान मह्य दीयते । इत्यादि योज्यम् । अनन्वादेश इति किम् ? अथो ज्ञान ते दीयते । अथो ज्ञान मे दीयते । पूर्वं किञ्चिदादिश्य इदमादिश्यते इत्यन्वादेशोऽयम् ।

सपूर्वाया वायाः ॥५॥३॥२३॥ विद्यमानपूर्वाद् वान्तात्परयोर्युष्मदस्मदोर्वा वाग्भावादयो भवन्ति । अनन्वादेशे सामान्येन सिद्धम् । अनन्वादेशार्थमिदम् । अथो आचार्येण ज्ञान ते दीयते । अथो आचार्येण ज्ञानं तुभ्य दीयते । इत्यादि ।

बोध्यमसद्वत् ॥५॥३॥२४॥ बोध्यान्त पदमसद्वद् भवति । बोध्यमिति सम्बोधनलक्षणाया वाचा ग्रहणम् । असद्वद्भावे प्रयोजनम् । बोध्यान्तात्परयोर्युष्मदस्मदोर्वादेशनिवृत्तिः । देवदत्त तुभ्य दीयते । देवदत्तं मह्य दीयते । इत्यादि नेयम् । इह च देवदत्त ज्ञान ते । देवदत्त ज्ञान मे । “सपूर्वाया वाया” [५॥३॥२२] इत्यन्वादेशे विकल्पो न भवति । वत्करण स्वश्रुत्यनिवृत्त्यर्थं कार्यं प्रत्यसद् भवति ।

नैकार्थे बोध्ये सामान्यवचनम् ॥५॥३॥२५॥ एकार्थं बोध्यान्ते परतः सामान्यवचनं बोध्यान्तं नाम भवति किन्तु सद्वेद भवति एकार्थः विशेषलक्षणो यस्य तदिदमेकार्थं विशेषवचनमित्यर्थः । कथं ज्ञायते ? सामान्यवचनम् इति निर्देशात् । परस्य विशेषवचनत्वमपेक्ष्य सामान्यवचनत्वं भवति । क्षत्रिय श्रेणिक ते मां दीयते । क्षत्रिय श्रेणिक त्वाऽहं नृक्षतु । क्षत्रिय श्रेणिक ते धर्मो वर्त्तमानम् । एकार्थे इति किम् ? क्षत्रिय ब्राह्मण युवाभ्यां धर्मो दीयते । बोध्य इति किम् ? क्षत्रिय धनवान् मे त्वं देहि । पूर्वमप्यसत्वे “सपूर्वाया वाया” [५॥३॥२२] इत्येव विधिः प्रमज्येत । सामान्यवचनमिति किम् ? श्रेणिक क्षत्रिय तुभ्य धर्मो दीयते ।

वा विशेषवचने वहौ ॥५॥३॥२६॥ विशेषवचने बोध्ये बहुन्ते परतः सामान्यवचनं वा बोध्यान्तमसद् भवति । देवाः शरण्या वो दीयते । देवाः शरण्या युष्मभ्य दीयते । “नैकार्थे बोध्ये सामान्यवचनम्” [५॥३॥२५] इत्यस्यायं विरुद्धः । सामान्यवचनमित्यनुवृत्तेः परस्य विशेषवचनमनुक्तं सिद्धम् । कृतं स्पष्टार्थमुत्तरार्थं च ।

पूर्वत्रामिदम् ॥५॥३॥२७॥ पूर्वत्र इति अमिदमिति च एतदधिकृतं वेदितव्यम् आ शास्त्रपरिमिताः । येन चतुर यानी मार्धद्विपादोऽमिदमन्ता तन्नामय मार्धद्विपादोऽमिदो भवति । एत उत्तरं च उत्तरोत्तरो योगः पूर्वत्र पूर्वत्रामिदो भवति । अमिद्वद्वद्भवति । शास्त्रामिद्वन्तेन तन्नामय कार्यं न भवतीत्यर्थः । अस्मा उद्वरति निदा अत्र । अमा आदित्यः । “व्यो नम” [५॥३॥२७] इत्यन्य वसवशास्त्रमाऽमिदं नाम “आदित्य”

[४१३७५] “स्वेऽको दी [४१३८८] इति च न भवति । अमुमै । अमुम्मात् । अमुमिम् । उत्पशान्स्या-  
सिद्धत्वात्समापदयो भवन्ति ।

शुष्किका यन् सुशर्माणः क्षामिमानौजिदत् सुर्गा ।

पञ्चमाशी-पु गोलिण्मान् कुर्वन्ति पिपठीः सुभुत् ॥

शुष्किंकेति “शुपि पचे क्वौ” [५१३६७] इति कादेशः । टाप् । कुत्साग्र्ये कः । पुनराप् ।  
“केऽण” [५१३१२५] प्र. । कत्वस्यासिद्धत्वात् “वातोऽधोर्धकात्” [५१३५१] इति विकल्पो न भवति ।  
“त्वस्थे क्वापी” [५१३५०] इति नित्यमित्वम् । यन्निति स्थान्तखस्यासिद्धत्वान्मृदन्तनख न भवति । सुशर्माण  
इति णस्यासिद्धत्वात् नोडः । “धेऽकौ” [४१३६] इति दीत्वम् । क्वौ जै सै धये क्त । “क्षे म”  
[५१३६८] इति मत्वम् । क्षामोऽस्यास्तीति क्षामी । सोऽस्यास्तीति क्षामिमान् । मत्वस्यासिद्धत्वात् “ममोड् भूयो  
मतोर्वोऽयवादे” [५१३३१] इति मनोर्वत् न भवति । ऊढमाख्यत् णिचि लुङि कचि च कृते “अच.”  
[४१३१२] इति द्वितीयस्यैकाचो द्वित्वे कर्तव्ये दत्वादेरसिद्धत्वात् हतकारयोर्द्वित्वम् । “हलोऽनादे.” [५१३१६१] इति  
तत्तम् । टकारस्य चुत्वम् । औजिदत् । ननु यौ च यद्विख तस्य स्थानिवद्भावाद्विख्यते । अनक्स इति प्रतिषेधात्  
सनीत्व नास्ति । तत् औजिदत् इति भवितव्यमिति केचित् । तदयुक्तम् । णौ कृत स्थानिवद् भवति । न च टिल यौ  
कृतम् । किन्तुदीष्टे । ततो “द्वित्वेऽचि” [१११५६] इति स्थानिवद्भावात् सणोर्द्वित्वम् । ननु च “पूर्वत्रासिद्धीयम-  
द्वित्वे” इति वक्ष्यति । तत्कथमसिद्धत्वं दत्वादेः । न । “सर्वस्य द्वे” [५१३११] इत्येतद्वित्वं तत्र गृह्यते । तेन गलो  
गल इति लत्व सिद्धम् । सुगीरिति विसर्जनीयस्यासिद्धत्वात् “इको दी वोरुड.” [५१३८५] इति दीत्वम् । पक्षमिति  
वत्वस्याभिद्धत्वात् भलि चोः कुत्वम् । आशीः प्विति “रेश्च सुपि” [५१३२४] इति सत्वस्यासिद्धत्वात् “इको दी  
वोरुड” [५१३८५] इति दीत्वम् । गोलिण्मान् इति टत्वस्यासिद्धत्वात् “भूयः” [५१३३१] इति वत्व न भवति ।  
कुर्वन्ति इत्यनुत्तरपरत्वस्यासिद्धत्वात्स्थान्त्य नास्ति । पिपठीरिति पत्वस्यासिद्धत्वाद्वित्वम् “परेऽच. पूर्वविधौ”  
[१११५७] इति अतः खस्य स्थानिवद्भाव इति चेत्, न, पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्” इति । सुभुदिति  
जश्त्वस्यासिद्धत्वात् भृणन्तस्य वशो भणभावः । वृद्धो हसतीति रेरेसिद्धत्वेऽयुत्वं वचनाद् भवति ।  
अपरादस्य परस्यापि वचनप्रामाण्यानासिद्धत्वम् । वृद्धा इति जश्त्वापवादो रित्वम् । दोग्धा इति दत्त्वापवादो  
यमम् । काष्ठतटिति स्थान्तजापवादः स्फादित्वम् । येऽत्र कानिर्देशास्तानिर्देशा ईभिर्देशाश्च “रात्स.”  
[५१३४२] । “स्थान्तस्य खम्” [५१३४१] “भूलो भलि” [५१३४४] इत्यादयस्तेषाम् “ईष्केत्यन्यवाये  
पूर्वपरयो” [१११६०] “तात्स्थाने” [१११४६] इति च नियमे कर्तव्ये नासिद्धत्वम् । “कार्यकालं  
सज्ञापरिभाषम्” [५०] इति पूर्वत्वं नास्ति । इह विस्फोर्णम् अवगोर्णम् इत्येव बाधित्वा परत्वेन  
“हृत्त्वभङ्गुर.” [५१३८६] इति दीत्व नास्ति । “पूर्वत्रासिद्धे नास्ति स्पन्दोऽसत्त्वादुत्तरस्य” । विशेषवचन इति  
वर्ति । विशेषे रदमसिद्धम् । तेन क्वचिद्विधे विषये सिद्धत्वं भवति । तादेशः पत्वत्येद्विधिषु सिद्धेः ।  
अन्यथा इत्यत्र वृक्षणान् इति भर्त्सति पत्व त्यात् । क्षीत्रेण तरति क्षीमिन् । द्वयज्जलक्षणो न  
इति । ३० इति दलाद्विधादिट् त्यात् । छे तुक् पविधिः सिद्धः अग्नारे इ छत्रम् । पयश्च  
न इति किम् ? अग्निचीरेत् । चत्वं जश्त्वचर्चमेत्वतुजो सिद्धम् । वभणतु. वभणु. ।  
तात्स्थान्त्यसिद्धत्वेन प्राप्नोति । उचिच्छिपतीति चादेशस्यासिद्धत्वाच्चे तुक् प्राप्नोति । यद्वित्वे परस्त्वत्वं  
नियमः । तेन । त्वेत्तरम् । तेल्लोकम् । तेल्लोकम् । यर इति द्वित्वं न त्यात् । “सर्वस्य द्वे” [५१३११] इति  
विशेषवचन इति । द्रोणा द्रोधा । द्रोटा द्रोटा । गरीगर । गलोगल इत्यादि । घत्वादीनामसिद्धत्वात् ।  
ननु सुचिविधित्तु किं ॥५१३२८॥ सुप स्थाने विधि सुपि च विधिं कृति विहित च तुक् प्रति

ननु सुचिविधित्तु किं ॥५१३२८॥ सुप स्थाने विधि सुपि च विधिं कृति विहित च तुक् प्रति  
ननु सुचिविधित्तु किं ॥५१३२८॥ सुप स्थाने विधि सुपि च विधिं कृति विहित च तुक् प्रति

अथो विधिरित्यर्थः । कृतस्तुक् कृत्तुक् । कृदाश्रयो हि तुक् कृतस्तुगुच्यते । राजभ्याम् । राजभिः । “सुपि” [५।२।१७] इति दीत्वम् । “भिसोऽत ऐस्” [५।१।८] इति च न भवति । वृत्रहभ्याम् । वृत्रहभिः । “पिति कृति तुक्” [४।३।५६] इति तुङ् न भवति । कृतीति किम् ? वृत्रहच्छ्रमम् । छे तुगयम् । “सिद्धे सन्धारम्भो नियमार्थः” [५०] । एतयोरेव नखमसिद्धं नान्यत्र । हस्त्यध्वम् । राजीयति । राजावला । कृत्तुकीति न कर्तव्यम् । “सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विवातस्य” [५०] इति तुङ् न भाव्यति । तत् क्रियते जापकार्यम् । “अवयव-नाशिनामतः खं न भवति” इति । अन्यथा तुकः प्रातिरत्र नास्ति । नखेऽतः खे च कृते प्रान्तत्वाभावात् । एष च सुपमेति सिद्धम् । अय वय पय गतौ । पयतेर्मनि कृते “वशि” [५।१।११४] इतीति प्रतिपिदे “वलि व्यो. खम्” [४।३।५५] इति यखे कृतेऽतः ख न भवति । किं च सन्निपातपरिभाषाश्रयणे वृत्रहच्छ्रममिति तुङ् न स्यात् । अथ “असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे” [५०] इत्येव सिद्धं कृत्तुकीति व्यर्थम् । अनिन्येषा परिभाषा । तेन एषा द्वे इति सिद्धम् । अत्राऽन्तरङ्गे टापि कर्तव्ये बहिरङ्गं त्यदाद्यत्व सिद्धम् । पञ्च नार्य इत्यत्र मृदवस्यायामित्यज्ञा । एकया च सजया अनेक कार्ये क्रियते इति ङीप्रतिषेधो जश्शसोः “उविलः” [५।१।१६] उपि कृते टापः प्राति-र्नास्त्यलिङ्गत्वात्पदार्थस्य । तेनेलसजाविधौ नखमसिद्धं न कर्तव्यम् ।

न मु टाविधौ ॥५।३।२६॥ मुभावो नासिद्धः सिद्ध एव टाविधौ कर्तव्ये । टा इत्येतस्य स्थाने टा इत्येत-  
स्मिंश्च यो विधिः स टाविधिरुच्यते । अमुना । अटस् टा इति स्थिते त्यदाद्यत्वे “दादुर्दो मोऽटसोऽसे” [५।३।८] इति उत्वे मत्वे च कृते मुभावस्याऽसिद्धत्वात् “आहो नाऽस्त्रियाम्” [५।२।११३] इति मुलक्षणो नाभावो न स्यात् । सिद्धत्वाद् भवति । नाभावेऽपि कृते मुभावस्यासिद्धत्वात् । “यन्यतो दी.” [५।२।१६] “सुपि” [५।२।८] इति दीत्वं प्राप्नोति । तच्च न भवति । टाविधाविति किम् ? इह अमुना नपि “सुपीकोऽचि” [५।१।५२] इगभावान्मुन भवति । नेति योगविभागादिष्टसिद्धिः । तेन “हलुड” [४।३।२३] इति नखे कर्तव्ये द्वयोः स्फसजामाश्रित्य स्फादिसख सिद्धम् । मग्नः । मग्नवानिति । “धुटः प्राप्तां श्चुत्व सिद्धम्” । अट् श्च्योतति । अटतीत्यट् । जश्त्वं टकारः । सकारश्चुत्वस्यासिद्धत्वात् । “इनाद् धुट् सोऽश्च” [५।४।१३] इति धुट्भ्याम् । श्च्योतति । सकारादिः पठ्यते । तथा “अहो नखे कर्तव्ये रिरैफो सिद्धौ” । अहोभ्याम् । अहोभिः । अहर्गच्छति । मृदन्तनख स्यात् । नख इति विशेषणादन्यत्रासिद्धत्वम् । दीर्घास्तात्रेति “नोडः” [४।४।५] “धेऽकौ” [४।४।६] इति दीत्वम् । अहन् । “रोऽसुपि” [५।३।७] इति वचनं क्रियपये माप-  
काशम् । हे दीर्घाहोऽत्रेति । हे अटः ।

नखं मृदन्तस्याकौ ॥५।३।३०॥ मृदन्तस्य नस्य ख भवत्यको परतः । पदस्येति वर्तते । किञ्चित्ते-  
स्यादौ पदस्य योऽवयवो मृदन्तन्तस्य नस्य ख भवतीत्यर्थः । राजभ्याम् । राजभिः । राजत्वम् । राजता । राजतम् । राजतमः । मृदग्रहणं किम् ? जिनेन्द्रान् वन्देरन् । अस्ति पदस्य नकारोऽन्तश्च न तु मृदः । किन्तु विभक्त्या । अन्तस्येति किम् ? नटाभ्याम् । वनाभ्याम् । अथ पदस्यावयवो नकारो न तु मृदन्तः । पदस्येति किम् ? राजानो । राजानः । राजे । अस्ति मृदन्तो नकारो न तु पदसजकस्य । अकाविति किम् ? हे राजन् । अकावितौपदं नन् । तेन “नपुंसके वा प्रतिषेधः । हे चर्मन् । हे चर्मेति । अकाविति नखप्रतिषेधवचनं जापनम् । त्यगे त्याश्रयवर्ति-  
न कृद्गृह्यमान्मृत्तृजान् निवर्तते । भसजा च न भवति । तेन गतेयत्र राजः पुम्पो राजपुम्प ट न च नख मिद्धम् । “अनोऽसमम्बस्फान्” [४।४।१२०] इति भसार्थे च न भवति । हे राजवृन्दाय टायां क्वन्तोरनभिवानाय सममुदायात्किं । तत् उत्तरपदे नखं न वक्तव्यम् ।

ममोऽभयो मनोर्वोऽयवादे ॥५।३।३१॥ ममगन्तात् अवगन्तान् ममरोट् अवगण्टो भयनाच्च-  
यनादिवर्जिता उत्तम्य मनोर्वमगन्तेशो भवति । मृदो हि मनुर्विहितमन्त ‘परम्यादे’ [१।१।५] इति-  
वचन् । तुवन् । गुण्वन् । क्रियावन् । मोटः । इमोऽनन् । दादिमोऽनन् । वयम्वान् । भयम् । मम



भवत्येव" [वा०] । गरः । निगार्यते । निगाल्यते इत्यत्र "परेऽच. पूर्वविधौ" [१११५७] इति शेषः स्थानिवद्भावाद्गणित्वम् । ननु "पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्" [प०] इति प्रतिषेधः प्राप्नोति । "नेयं परिभाषास्फाटि-खलत्वणत्वेपु व्याप्रियते" । अथवा वर्णाश्रयमन्तरङ्गलत्वमगाश्रय बहिरङ्ग गिखम् । द्यमप्राप्ते विभारा । प्राप्त नित्यो विधिः । निजेगिलः । "धोः स्वरूपग्रहणे तत्त्वविज्ञानम्" [प०] इति मृदस्ये न भवति । गिगे गिर इति । विभापेति योगविभागादिष्टे कपिलकादौ विकल्पः । कपिरकः । कपिलकः । तिथिगीकम् । तिथि लीकम् । रोमाणि । लोमानि । "संज्ञाद्यन्तसोः पूर्वो विधिः" [प०] । "डलयोः समानविषयत्वं स्मर्यते" [प०] । व्याडः । व्यालः । वारः । वालः । मूरम् । मूलम् । रघुः । लघुः । अरे । अले । अमुरः । अमुकः । अहुरिः । अङ्गुलिः ।

परेर्वाङ्मयोगे ॥५१३१४०॥ परे रेफस्य विभाषया लत्व भवति वशब्दे अङ्गे योगे च परतः । पगिन् । पलित्र । "वनान्तर्घण" [२१३१६६] इत्यादौ परिवशब्दो निपातिनः । पर्यङ्कः । पत्यङ्कः । परियोगः । पलियोगः ।

स्फान्तस्य खम् ॥५१३१४१॥ स्फान्तस्य पदस्य ख भवति । गोमान् । कृतवान् । इह श्रेयान् भूयान् इति रित्वस्यासिद्धत्वात्स्फान्तस्य ख भवति । इहापि तर्हि पयः शिर इति रित्वस्यासिद्धत्वाच्च जश्त्व प्राप्नोति । "येन नाप्राप्ते तस्य बाधनम्" [प०] इति गित्व जश्त्वस्य बाधकमेव । स्फान्तखे पुनः प्राप्ते चाप्राप्ते न रित्वमारभ्यते । दव्यत्र । मध्वत्रेति बहिरङ्गस्य-यणादेशस्यासिद्धत्वात्स्फान्तख न भवति । स्फ इति किम् ? वाक् । अन्तर्ग्रहण किमर्थम् ? आदौ मध्ये च पदावयवस्य स्फस्य ख मा भूत् । "येनालि विविस्तदन्तायो" [१११६७] इति सिद्धे स्पष्टार्थं चान्तर्ग्रहणम् । पदस्येति किम् ? गोमन्तो । गोमन्त ।

रात्सः ॥५१३१४२॥ स्फान्तस्य पदस्य यो रेफस्तस्मादुत्तरस्य सकारस्य ख भवति । "अन्तेऽल" [१११४६] इत्यन्तस्य । चिकीः । जिहीः । किञ्चि अतः खे च कृते पञ्चस्यासिद्धत्वात् सखम् । "पूर्वत्रासिद्धे च न स्थानिवत्" [प०] इत्यजादेशस्य न स्थानिवद्भावात् । एव मातुः । पितुः । "कृत उत्" [११३१६८] इत्युत्वम् । द्वयोरेकत्वम् । रन्तत्वम् । "सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः" [प०] रेफनियमोऽयम् । रादुत्तरस्य सकारस्यैव ख नान्यस्य । न्यमाट् । ऊर्कम् । लटि किञ्चि च रूपम् । रादेव सकारस्येति कम्मात्र नियमः । व्याख्या नात् । उरःप्रभृतिषु पुमानित्यस्य कृतसखस्य निर्देशाद्वा ।

धि ॥५१३१४३॥ धकारादौ च परतः सख्य ख भवति । आ वम् । आशावम् । सकारस्य जश्त्वेनाप्येतत्सिद्ध्यत् । श्रुतिकृतविशेषाभावादिति चेत् ? इह दोषः स्यात् । अलवि वम् । आलविद्वयम् । "ये" [५१३१६९] इति वा धस्य दत्वम् । यत्र सख न स्यात्, तदा से. पवे जश्त्वे च डकारे धस्य च ट् । दत्वाभावपक्षेऽपि धकारेण न श्रूयेत । चक्राधिपलित शिखः इत्यत्रापि अविशेषेण सख भवति । "दादे र्धेय" [५१३१४६] इत्यनो धुग्रहण मिश्रत्वोक्तेन मत्पत्ते । तेन धोर्विहिते धीत्वभिभम्भत्वादि न भवति । पयो धावति ।

भल्लो भल्लि ॥५१३१४४॥ भट्ट उत्तरस्य सकारस्य भल्लि परतः ख भवति । अभित्त । अभिया । "मिलिङ्ङे" [१११८८] इति क्त्वाच्चेतिप्रतिषेधः । अवात्तामिति वसन्तममन्ताम् । मन्त्रमिद्वत्वात् "म्यगे स" [५१०१८५] इति त्वम् । भल्ल इति किम् ? अमन्त । भल्लीति किम् ? अभैमम् ।

प्राद्गोः ॥५१३१४५॥ प्राप्तादगोदन्तरस्य सकारस्य ख भवति भल्लि परतः । अह्ता । अहृता । अहत । अहृता । प्रादिति किम् ? अद्योऽट् । अन्तोऽट् । गोगिति स्मि । अनागित्वात् । अनागित्वात् । अन्ति प्रादित् पर मन्त्रो न तु गो । भल्लीति स्मि । अहृपताम् । अहृपत । "उ" [१११८८] इति

किंवादेप्रतिषेधः । सिंहावलोकनेन धोरिति किम् ? द्विष्टाम् । द्विष्टाम् । “द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्” [४।२।२५] तदन्तात् अतिशयिते तरतमो “किमेमिड् भिक्तात्” [४।२।२०] इत्यादिनाऽम् । “प्रादृष्ट्यमिडस्ति” [५।१।७३] पत्वम् ।

स्फाट्टेः स्कोऽन्ते च ॥५।३।४६॥ सकारस्य ककारस्य च स्फाट्टेः भलि पदान्ते च ख भवति । भलि पदस्यावयवः पदान्ते च यः स्फस्तदाद्योः स्कोः एव भवतीत्यर्थः । लग्नः । लग्नवान् । साधुलक् । ताटः । तप्टवान् । काष्टतट् । आचष्टे मुनिर्धम्मम् । वात्यर्थः । शक्यर्थः । इत्यत्राजादेशस्य स्थानिवद्भावान्न स्फाट्टि-  
त्वम् । “पूर्वत्रामिद्धे न स्थानिवत्” [५०] इतीदं “स्फादिखलत्वण्वेषु नास्ति” [५०] इत्युक्तम् ।  
अथवा बहिरङ्गस्य यणादेशस्यासिद्धत्वान्न स्फाट्टित्वम् । काष्टशक्यतातेत्यत्र गोरधिकारात् सिंहावलोकनेन  
धोरिति वा न भवति । स्फादेरिति किम् ? न्यस्तः । शक्तः । भलीद द्रष्टव्यम् । स्क इति किम् ? नर्नत्ति ।  
अन्ते चेति किम् ? तज्जिता ।

चोः कुः ॥५।३।४७॥ चवर्गस्य कवर्ग आदेशो भवति भलि पदान्ते च । वक्ता । वक्तुम् ।  
वक्तव्यम् । वाक् । “क्वपि वक्वि [२।२।१५७ वा०] इत्यादिना क्वपि ङीत्वमजित्वं च । पक्ता । पक्तुम् ।  
पक्तव्यम् । साधुपक् । ऋञ्चेत्यत्र अनुस्वारस्य परस्वत्वस्य चासिद्धत्वात् जकार एव नास्ति । चकारे भलि  
वृत्त्य न भवति । “युजिक्कुञ्जः” [२।२।५७] इति निपातनान्नख न भवति । रेफरहितस्य धोः ऋञ्जिसमानार्थस्य  
नग्य भवत्येव । निकृच्चित्तिरिति ।

हो ढः ॥५।३।४८॥ हकारस्य ढकारादेशो भवति भलि पदान्ते च । सोढा । सोढुम् । सोढव्यम् ।  
हृते कृते परस्य “तथोर्धोऽधः” [५।३।५६] इति धत्वम् । ढत्वम् । “ढो ढे खम्” [५।३।१७] “सहिवहोऽस्यौः”  
[४।३।२१७] इत्योत्वम् । अन्ते । परिपट् । सट् विचीदं रूपम् । अन्यथा “नहिवृत्तिवृषिग्यधिरुचिसहि-  
तनिषु षौ” [४।३।२१६] इति ङीत्व स्यात् । एव वोढा । वोढुम् । गुणवट् । विचीद क्विपि जित्व स्यात् ।  
पृ १०० योगवर्णमुत्तरार्थम् ।

दादेर्धोर्धः ॥५।३।४९॥ ढकारादेर्धोर्धकारस्य धकारादेशो भवति भलि पदान्ते च । दग्धा । दग्धुम् ।  
दग्धव्यम् । धर्मेन्धनम् । दोग्धा । दोग्धुम् । दोग्धव्यम् । गोधुक् । पदान्ते धत्वे कृते “एकाचो वशो”  
[५।३।५४] इत्यादिना भग्नत्वस्य वशो भट्त्वम् । धोरिति किम् ? दामलिट् । धुपाठे यो दादिः स दादेरित्यनेन  
गण्यते । तेन अधोक् इत्यत्र अडागमेऽपि सति दादित्व सिद्धम् । इह च दामलिह्यतेः क्विपि धत्व न भवति ।  
दामलिट् इति ।

वा ड हमुहण्णहण्णिहाम् ॥५।३।५०॥ द्रुह मुह ण्णह ण्णिह इत्येतेषां हकारस्य वा घत्व भवति भलि  
पदान्ते च । द्रोघा । मित्रघ्नृ । द्रोढा । मित्रघ्नट् । उन्मोघा । उन्मुक् । उन्मोढा । उन्मुट् । द्नेमोघा ।  
उत्सुह । स्तोघा । उत्सुट् । स्नेघा । चेलस्निक् । स्नेदा । चेलस्निट् । द्रुहेः पूर्वेण प्राप्ते इतरपामप्राप्ते  
[१।२।२९] ।

नरो धः ॥५।३।५१॥ नरेर्हकारस्य धकारादेशो भवति भलि पदान्ते च । नद्धम् । नद्धव्यम् ।  
उत्तुह । “नहिवृत्ति” [४।३।२१६] इत्यादिना ङीत्वम् । “तथोर्धोऽधः” [५।३।५६] परस्य धत्व यथा स्यादिति  
प्राप्तम् ।

प्राहस्य ॥५।३।५२॥ प्राहो हकारस्य थकारादेशो भवति भलि परतः । धर्ममाथ । सुखमाथ ।  
“प्राहस्य” [२।१।७०] इति द्रुव आहदेशो लटादेशस्य च मिपस्यादेशः । अनेन हस्य थत्वम् ।  
“प्राह” [५।३।३०] इति चर्त्तम् । प्राहस्तथागदेशेनैव सिद्धे थकारस्य “खरि” इति चर्त्तं जापकम् ।  
५०



आहो ब्रूजग्रहणेन ग्रहणात् ब्रुव ईष्मा भूत् । झलादिवचनाद् वा न भवति । पदान्तत्वं नास्ति । भलीत्येव ।  
आहतुः । आहुः ।

ब्रश्चभ्रस्जस्जृज्मृजयजराजभ्राजजृशां पः ॥५१३।५३॥ ब्रश्च भ्रस्ज सृज मृज यज राज भ्राज  
इत्येतेषा चकारशकारयोश्च वो भवति झलि पदान्ते च । ब्रथा । मृलवृट् । स्फादिसखम् । “ग्रहिव्यावयि”  
[४।३।१२] इत्यादिना जित्वम् । ब्रथा । धानाभृट् । खथा । तीर्थसृट् । मार्था । कर्मपगिमृट् । यथा । देवसृट् ।  
विचीढ रूपम् । राजिभ्राजोः क्तिरेव झलादिः । राष्टिः । भ्राष्टिः । मुगट् । सुभ्राट् । विभ्राट् । प्रथ ।  
धर्मप्राट् । “किपि वचिप्रच्छायतस्तु कट्प्रुजुप्रीणां ढीरजिश्च” [३।२।१७० वा०] इति द्विपि दीत्वाजिवे ।  
“छ्वोः श्ङ्ङे च” [४।४।१७] इत्यय विधिरुक्तः । लिशि । लेष्ट । धर्मलिट् । विश । वेष्ट । स्वर्गविट् ।

एकाचो वशो भप् भपः स्ध्वोः ॥५१३।५४॥ धोरेकाचो झपन्तस्य योऽवयवगतस्य यथामर्त्य  
भप्भावो भवति झलि सकारे ध्वशब्दे च परतः पदान्ते च । भोत्स्यते । अभुद्वम् । “सिलिट्ङे” [१।१।८५]  
इति क्त्वम् । धर्मभुत् । धोक्ष्यते । अयुधम् । गोधुक् । निबोक्ष्यते । न्यबुद्वम् । मन्त्रबुट् । एसाच  
इति किम् ? दामलिहमिच्छति दामलिह्यतेः क्तिप् । दामलिट् । असत्येकाग्रहणे भपन्तस्य धोऽवयवगतस्य वशो  
भप् अत्रापि स्यात् । वश इति किम् ? क्रोत्स्यति । भपन्तस्येति किम् ? दास्यति । स्ध्वोरिति किम् ? बोद्धा ।  
बोद्धुम् । धकारस्य वकारपरस्य ग्रहणे किम् ? दाद्वि । दध धारणे इत्यस्य यडुपि लोटि “हुभ्रभ्यो हर्ध्वे”  
[४।४।६४] इति धिभावे रूपम् । अबुद्ध । अबुद्धाः इत्यत्र “भूलो भलि” [५।३।४४] इति मये कृते “त्यगे  
त्याश्रयम्” [१।१।६३] इति कस्मान्न भवति । “वर्णाश्रये नास्ति त्याश्रयम्” [५०] इत्यशेष ।

धः ॥५१३।५५॥ धो धातोर्भपन्तस्य वशो भप् भवति भलि परतः । धत्से । धत्स्व । वट्चे ।  
धद्वम् । धत्तः । धत्थः । “पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्” [५०] इति अत्रादेशस्य न स्थानिवद्भावः । वचन-  
सामर्थ्याद्वा श्रुतिकृतमानन्तर्यमस्तीति भपन्तता । धस्यापि जश्त्वमाश्रयात्सिद्धम् । “प्रकृतिग्रहणे यडुबन्तस्यापि  
ग्रहणम्” [५०] । धात्तः । धात्थः । भपन्तस्येत्येव । दधाति । दधासि । भलीत्येव । दधे । दधते ।

तथोध्योऽधः ॥५१३।५६॥ भपन्तादुत्तरयोः तकारयकारयोर्धकारादेशो भवत्यद्वान्ते । । दोग्धा ।  
दोग्धुम् । अदुग्ध । अदुग्धाः । बोद्धा । बोद्धुम् । अबुद्ध । अबुद्धाः । अधः इति किम् ? धत्त । धत्थ ।

भूलो जश् ॥५१३।५७॥ झलो जश् भवति पदान्ते वर्तमानस्य । पदमन्वे “भूलां जग भजि”  
[५।४।१२८] इति वक्ष्यति । भूतीति निवृत्तम् । वागत्र । मधुलिङत्र । अग्निचिदत्र । झलीत्यस्य निवृत्ति-  
किम् ? वस्ता । वेष्टव्यम् ।

पढोः कः सि ॥५१३।५८॥ पकारदकारयोः वकारादेशो भवति मकारादौ परतः । वेक्ष्यति । तोक्ष्यति ।  
टस्व । लेक्ष्यति । वक्ष्यति । सीति किम् ? पिनष्टि ।

द्रात्तस्य तो नः पूर्वस्य दोऽपमूर्च्छिमदाम् ॥५१३।५९॥ दकारेफाभ्या परस्य तमज्जस्त्वत्ता  
स्य नकारादेशो भवति पूर्वस्य च दकारस्य पूर्वमूर्च्छिमदो वर्जयित्वा । भिन्नः । भिन्नवान् । छिन्न । छिन्नान् ।  
आत्मीर्णम् । अयमूर्णम् । द्रादिति किम् ? शक्तः । शक्तवान् । तमज्जस्त्वेति किम् ? कर्त्ता । कर्त्ता । न दृष्टि-  
किम् ? मुद्रितम् । चरितम् । द्रादित्यनेन तकारो विशेष्यते । स चेत्तमज्ज इति । तेनेद्य व्यवधाने न भवति । पदे  
स्त्वेति किम् ? परस्य मा भूत् । भिन्नवदभ्याम् । भिन्नवदभि । “अविकृत्य कृते ग्रन्थे” [३।३।६१] इति  
निर्देशात् “इह वर्णैस्सदेगा वर्णग्रहणेन न गृह्यन्ते” । तेन ह्रस्वम कृतमित्यादि गिद्धम् । कृत्याप्यन कर्त्तव्यं ।  
वर्णिन्तो रेत् । अत्रमूर्च्छिमद्रामिति किम् ? प्रपन्नं । मूर्त्तः । मत्त ।

स्फादेरानो धोर्यग्वनोऽध्याग्य ॥५१३।६०॥ न्तादिर्यो जु. आकाशान्न वपन तन्नापन्नं तत्  
वाग्न्य नो भवति न्ता ग्या इत्येते वर्जयित्वा । प्रत्राण । प्रत्राणवान् । ग्यान । ग्यान । ता इत्येते

प्रतिपेधात् प्रतिपदोक्तपरिभाषा नाश्रिता । स्फादेरिति किम् ? यातः । यातवान् । आत इति किम् ? च्युतः ।  
प्लुतः । धोरिति किम् ? निर्यातः । दुर्यातः । यएवत इति किम् ? स्नातः । स्नातः । अग्रास्य इति स्मि ?  
व्यातः । ख्यातः ।

लवादेः ॥५१३।६१॥ लू इत्येवमादिभ्य उत्तरस्य ततकारस्य नो भवति । लूनः । लूनवान् । लीनः ।  
लीनवान् । लू इत्यतः प्रभृति वृद्धिति वृत्पर्यन्ता लवादयः । तत्र स्तृजित्येवमादिभ्यो नत्व पूर्वैरेव सिद्धम् ।

ऋतश्च क्तेः ॥५१३।६२॥ ऋकारान्तेभ्यो ल्वादिव्यश्च परस्य क्तेस्तकारस्य नो भवति । ल्वादिव्यो  
अत्ये ऋट्ग्रहणं प्रयोजयन्ति । कीर्णिः । गीर्णिः । शीर्णिः । ल्वादिव्यः । लनिः । लीनिः । गूर्णिः । चूर्णिः ।  
वर्णिः । इति त्रय चिन्त्यम् ।

ओदितः ॥५१३।५३॥ ओकारेतेश्च धो. परस्य ततकारस्य नो भवति । लग्नः । लग्नवान् । उद्विग्नः ।  
उद्विग्नवान् । आपीनः । आपीनवान् “प्यायः पी” [४।३।२३] “आड.” [४।३।२४] इति पीभावः । आति-  
देशिकाः ल्वादय ओदितः । षड् प्राणिप्रसव इत्यादयो व्रीड् वृणोत्यर्थे इत्येवमन्ता दैवादिकाः । सूनः । सून-  
वान् । दूनः । दीनः । उज्जीनः इत्यादि ।

क्षीणः ॥५१३।६४॥ क्षी इत्येतस्मात् कृतदीत्वात्परस्य ततकारस्य नो भवति । तपरकरणमन्दे-  
हार्थम् । प्रक्षीणः । प्रक्षीणवान् । “तेऽस्ये” [४।४।५६] इति दीत्वम् । यदा दीत्व तदाऽनेन नत्वम् । क्षीणोऽसि  
जालम् । “वा डेन्याक्रोशे” [४।४।६०] इति दीत्वम् । दीत्वनिर्देशः किमर्थः ? क्षितोऽसि जालम् ।

श्याञ्चिद्विचोऽस्पर्शनिपादानाजये ॥५१३।६५॥ श्या अञ्चि दिव इत्येतेभ्यः परस्य ततकारस्य नो  
भवत्यस्पर्शं अनपादाने अजये यथासङ्ख्यम् । शीन घृतम् । शीन मेदः । “द्रवघनस्पर्शयोः श्यः” [४।३।१६]  
इति जित्वम् । “हल.” [४।४।२] इति दीत्वम् । अजित्वपक्षे “स्फादेरातो” [५।३।६०] इति नत्व सिद्धम् ।  
अस्पर्श इति किम् ? शीतो वर्तते । शीतो वातः । शीतमुदकमित्यत्र स्पर्शाभिधानद्वारेणैव द्रव्ये वृत्तिः । तेन  
नत्वाभावां जित्व च सिद्धम् । स्पर्शा गुणो गृह्यते । ननु “स्पृश उपतापे” इत्येतस्य स्पर्शो रोगः । तत्र प्रतिशीनः ।  
य य जायते “द्रवघनस्पर्शयोः” [४।३।१६] इति जित्वे सिद्धे “प्रतेः” [४।३।२०] इति वचनात् । अञ्च ।  
समक्को शकुने पक्षौ । अनपादान इति किम् ? उदकमुदक कृपात् । व्यक्त इत्यञ्जेः प्रयोगः । दिव । आद्यूनः ।  
आयूनवान् । “ह्यो गण्डे च” [४।४।५७] इत्यूट् । अजय इति किम् ? घृत वर्तते । क्रीडायामन्युपमानाद्विजि  
गीया गम्यते ।

निर्वाणोऽवाते ॥५१३।६६॥ निर्वाण इति निपात्यते अवातेऽर्थे । यदि ध्वर्थो वाताधारो न भवतीत्यर्थः ।  
नि पूर्वादाते परस्य ततकारस्य नत्व निपात्यते । निर्वाणो मुनिः । निर्वाणो दीपः । “धिगत्यथाञ्च” [२।४।५८]  
इति वर्तते न । अवात इति किम् ? निर्वातो वातः । निर्वात वातेन । वातोऽत्र निर्वातक्रियायाः आधारः ।  
निर्वाणो दीपो वातेनेत्यत्र दीपाधारो ध्वर्थो वातस्तु करणं तेन नत्वम् ।

शुपिपचे. क्षौ ॥५१३।६७॥ शुपि पचि इत्येताभ्या परस्य ततकारस्य ककारवकारदेशौ भवतः ।  
क्षौ । शुपवान् । पचः । पचवान् ।

क्षेम ॥५१३।६८॥ क्षै इत्येतस्मात्परस्य ततकारस्य मकारादेशो भवति । क्षामः । क्षामवान् ।

प्रस्तीमो वा ॥५१३।६९॥ प्रपूर्वात्स्त्रियाये परस्य ततकारस्य मकारादेशो वा भवति । प्रस्तीमः । प्रतीम-  
न् । प्रस्तीमः । प्रस्तीमवान् । “प्रपूर्वस्य स्त्र्यः” [४।३।१८] इति जि. । “हल.” [४।४।२] इति दीत्वम् ।  
प्रस्तीमो वा “स्फादेरातो धोरस्यतः” [५।३।६०] इत्यस्यासिद्धत्वात् पूर्व ज । कृते विद्वत्तन्मिच्छत्वा-

त्रत्वं न भवति । प्रग्रहणं किम् ? केवलादन्यगिपूर्वाच्च न भवति । स्त्यानः । मस्त्यानः । त्वै स्त्यै इत्यनयोः परस्य ग्रहणं पूर्वस्य सत्त्वाभावात् ।

फुल्लः ॥५।३।७०॥ फुल्ल इति निपात्यते । फुल्लः । फुल्लवान् । जिफला विशरण इत्यस्मात्परस्य तत्कारस्य लत्व निपात्यते । “ति” [५।२।१८६] इति उड उत्त्वम् । कथं फलितम् । फलान्यस्य मञ्जातानीति द्रष्टव्यम् । अथवा फल निपत्तावित्यस्य इडभाव उड उत्त्व लत्व च निपात्यते । फुल्ल विक्रमन इत्यन्य पञ्चायचि रूपमिति चेत्, नैव फलेस्ते लत्वमन्तरेण प्रयोगः स्यात् ।

समुदः ॥५।३।७१॥ सम् उद् इत्येतान्या परः फुल्लो निपात्यते । सम्फुल्लः । सम्फुल्लवान् । उत्फुल्लः । उत्फुल्लवान् । “सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः” [५०] । समुद्रयामेव गोः । इह मा भूत् । प्रफुल्ला लता ।

जीवकृशोऽज्ञाघ्राः ॥५।३।७२॥ जीव कृशः उत्लाघ इत्येते शब्दाः निपात्यन्ते । जीवादिभ्यः क्ते कृते तत्कारस्य ख निपात्यते । इटि वा कृते इत्शब्दस्य । जीवः । कृशः । उत्लाघः । अचि इगुट् लक्षणो के च कृते रूपं सिद्ध्येत् । किं तु कृते क्ते अनिष्टं स्यात् । लाघेर्गिपूर्वस्य ग्रहणं किम् ? अस्यैव गिपूर्वस्य निपातनमन्यन्य मा भूत् । प्रक्षीयितः । परिकृशितः । उदिति विशेषनिर्देशात् अन्यगिपूर्वस्य न भवति । प्रोक्षयितः । परिकृशः इत्यादिषु निपातितस्य शब्दस्य पश्चात् प्रादिसविधिः । परिगतः कृशः परिकृशः । प्रगतः क्षीवः प्रक्षीवः । नाप गिसञ्जा । यत्क्रियायुक्तास्त प्रति गिसञ्जा भवन्ति ।

त्राघ्राहीनुदोन्दविन्तेर्विभाषा ॥५।३।७३॥ त्रा घ्रा ही नुद उन्द विन्ति इत्येतान्या परस्य तत्कारस्य विभाषया नत्व भवति । त्रातः । त्राणः । घ्रातः । घ्राणः । हीतः । हीणः । नुत्तः । नुन्नः । समुत्तः । समुन्नः । विन्तः । विन्नः । ही इत्येतस्याप्राप्ते इतरेषां प्राप्ते नत्व विकल्प्यते । विन्तेरिति शनम्बिकरणनिर्देशाद् “विद विचारणे” [५०] इत्यस्य ग्रहणम् । तदुक्तम्—

वेत्तेस्तु विदितो ज्ञेयो विद्यतेर्वित्त इत्यते ।

विन्तेर्विन्नश्च वित्तश्च वित्तं भोगे तु विन्दते ॥

विभाषेति व्यवस्थितविभाषाविज्ञानम् । तेन—

देवत्रातो गलो ग्राह इतियोगे च सद्विधिः ।

मिथस्तेन विभाष्यन्ते गवाक्षः सशितव्रत ॥

इति सिद्धम् । देवैस्त्रातः देवत्रातः । सञ्ज्ञायामपि त्रातेति भवति । प्राण्यङ्गे गलः । विपे गर एव । नरु ग्राहः । “विभाषा ग्रहः” [२।१।१७] इति णः । आदित्यादिषु पञ्चायजेव ग्रहः । इतियोगे च सद्विधिर्न भागि वर्पनीति धावति । हन्तीति पलायते । “लक्षणहेत्वोः क्रियाया” [२।०।१०४] इति शतृशानौ न भागः । “न वा माकाङ्क्षे” [२।२।१४४] इत्यतो मण्डकश्रुत्या विभाषाऽनुवर्तते । अनितियोगे नित्यं भवति । अर्पणं वसति । अर्पणीयानो वसतीति । ननु चेति शब्देनैव हेत्वर्थस्य द्योतितत्वात् वर्पनीत्यादौ कथं सद्विधिः ? इत् नित्यं हरणम् “विभाषा लृट् सत्” [२।३।१३] इत्यनेन करिण्यामीति व्रजति क्रियाया तदर्थ्यामितियोगे लृट् सद्विधिर्न भवति । अत्रान्तममानाविकरणे अनितियोगे च सद्विधिः । करिष्यन् पश्येति । वान्तममानाविकरणेऽपि विकल्प इति केचित् । करिष्यन् पुरुषः । करिष्यति पुरुषः । वानायने नित्यम् । गवाक्षः । प्राण्यङ्गं गोऽन्तम् । अन्वबोधनम् । गोग्रम् । गवाग्रम् । व्रतविषये नित्यमिन्वम् । शमितव्रतः । विविधप्रतिषेधयोर्बोधनरूपेण विविधं वक्ष्यताम् विभाषा सर्वं लभ्यते । आहतौ पदार्थे सर्वं लक्ष्यगणिमेकं अनुपनीय विविधं प्रतिपश्येति । द्वयमुपदिश्यते । त्वन्तो पदार्थे उभयमत्र भवतीति प्रतिपाद्यते ।

वित्तभित्तद्वन्द्वगृन्पृन्ग्वित्तर्गानि ॥५।३।७४॥ वित्त भित्त द्वन्द्वं गृन् पृन् ग्वित्तं ऋण इत्येते शब्दाः निपात्यन्ते । विन्तिन्ति “विद् लृ लोभे” इत्यन्य भोगे प्रतीतौ च निपात्यते । भोगे वित्तं न्य । ऋणः ।

मुज्यत इति भोगो धनादिप्रतीतो विरोड्य पुरुषः । विन्नमन्यत् । भित्तमिति निपात्यते शकल चेत् । भिन्न  
एण्डमित्यर्थः । उक्तञ्च—

तत्त्वमभिधायकं चेच्छकलस्यानर्थकः प्रयोगः स्यात् ।

सकलेनाप्यभिहिते न भवति तत्त्वं निगमयाम् ॥

भिदि क्रिया शब्दव्युत्पत्तिनिमित्तम् । प्रवृत्तिनिमित्तं तु शकलत्वजातिः । क्रियाभिधाने भिन्न शकल-  
मियपि भवति । दूनः । गूनः । दुग्बोर्दीत्व नत्व च निपात्यते । पूओ विनाशो नत्वम् । पूना यवाः । विनाश  
इति किम् ? पूता यवाः । पूत धान्यम् । सित इति सिनोतेर्ग्रासकर्मकर्तृकस्य भवति । सितो ग्रासः स्वयमेव ।  
ग्रास इति किम् ? सिता पाशेन शूकरी । कर्मकर्तृकस्येति किम् ? सितो ग्रासो देवदत्तेन । ऋण इति ऋ इत्येन-  
स्मात् उत्तमर्णाधमर्णयोर्नत्वम् । ऋण ददाति । ऋण धारयति । ऋतमन्यत् ।

क्षित्यस्य कुः ॥५१३।७५॥ क्षित्यो यस्य तस्य धोः कवर्गोऽन्तादेशः पदान्ते । घृतसृक् । “सृष्टोऽनुदके  
क्षि” [१।१।५६] इति क्विः । एव यादृक् । तादृक् । युङ् । नस्य कुत्वम् । त्यग्रहणपरिभाषया “क्तेः कु”  
इति सिद्धे क्षित्यो यस्येति वसनिर्देशात् असत्यपि क्वो क्विविधानेनोपलक्षितस्य क्विवन्नतस्यापि भवति ।  
सहस्रद्वगिति । इहापि तर्हि त्यात् । रज्जुसृङ्भ्याम् । रज्जुसृङ्भिः । सगिति निपातनात् क्यन्तोपलक्षण  
नास्तीत्यदोषः । “नशेर्वा” [वा०] । जीवनक् । जीवनट् । क्विपि विचि वा । अथवा जीवस्य नाशो जीवनडिति  
सम्पदादित्वात्किञ्च ।

ससजुपो रिः ॥५१३।७६॥ सकारान्तस्य पदस्य सजुप् इत्येतस्य च रिर्भवति । “अन्तेऽलः” [१।१।४६]  
इत्यन्तस्य । जश्त्वापवादोऽयम् । सर्वजः साधुभिरासेव्यते । सजुः । सह जुपा वर्तते “सहेति तुल्ययोगे”  
[१।१।६१] रसः । “वा नीचः” [४।१।१६०] इति सहस्य सो भवति । यदि वा सह जुपते इति सजुः ।

अहन् ॥५१३।७७॥ अह्नित्यस्य पदस्य रिर्भवति । अहोभ्याम् । अहोभिः । दीर्घाहा कालः । हे दीर्घा-  
तोऽत्र । अह्निति विकृतनिर्देशात् रेसिद्धत्वेन नख न भवति । वचनं तु हे दीर्घाहोऽत्रेति सावकाशम् ।  
रन्तेर्लटि अह्नित्यस्य लाक्षणिकत्वान्न भवति । “अहो रिविधौ रूपरात्रिरथन्तरेषूपसङ्ख्यानम्” [वा०] इति ।  
रोऽनुपीत्यन्य बाधनार्थम् अहोरूपम् । अहोरात्रिः । एकदेशविकृतत्वादित्यापि भवति । अहश्च रात्रिश्च  
अहोरात्रः । अहो रथन्तरम् अहोरथन्तरम् ।

रोऽसुपि ॥५१३।७८॥ अह्नित्येतस्य रेपादेशो भवत्यसुपि परतः । अहर्गच्छति । अहर्ददाति । असु-  
पोति विभ ? अहोभ्याम् । अहोभिः । ननु अहर्ददातीत्यत्रापि “त्यस्ते त्याश्रयम्” [१।१।६७] इति सुगतिः ।  
एव तर्हि रेपविधानसामर्थ्यात् अहो रविधौ अपि त्यलक्षणं न भवति । यत्र तु ख तत्र त्याश्रयेण रित्यम् । दीर्घाहा  
निर्वाप । हे दीर्घाहोऽत्रेति ।

वसुस्त्रसुध्वस्वनडुहां दः ॥५१३।७९॥ वस्वन्तस्य पदस्य स्रसु ध्वसु अनडुह् इत्येतेषां च दकारादेशो  
भवति । विद्वत्कुलम् । विद्वद्भ्याम् । विद्वद्भिः । उखाया स्रसते उखासत् । उखासद्भ्याम् । उखासद्भिः ।  
परं वा । परंभ्यम् । स्वनडुकुलम् । अनडुद्भ्याम् । अनडुद्भिः । पदस्येति किम् ? अनडुहा । वस्वा-  
दीनामिति विभ ? पयोभ्याम् । अनडुहो दत्वप्राप्तिरितरेषा रित्वम् । “ससजुपो रिः” [५।१।७६] इत्यतः सका-  
राणां दत्वमन्वर्तते । तेन विद्वानिति नकारस्य न भवति । “येन नाप्राप्ते” इति न्यायेन रित्वस्य दत्व बाधकम् ।  
रन्तेर्लटि अह्नित्येतस्य लाक्षणिकत्वान्न भवति । “येन नाप्राप्ते” इति न्यायेन रित्वस्य दत्व बाधकम् ।  
अहो रविधौ अपि त्यलक्षणं न भवति । पदाधिकारादित्यापि भवति । विद्वत्काम्यति । “नः क्ये”  
[१।१।६०] इति निपात्तं विद्वत्काम्यत्वं नञ्ज्ञा ।

तिपि धोः ॥५१३।८०॥ तिपि परतो धोः सकारान्तस्य पदस्य दकारादेशो भवति । अचकास्त्वान् । अन्वशाद्भवान् । लङ् । “हल्ङचापः” [४।३।५६] इति तिपः खम् । तिपीति किम् ? क्विपि चका । गित्वा-पवाटो योगः ।

सिपि रिर्वा ॥५१३।८१॥ सिपि परतो धोः सकारान्तस्य पदस्य रिर्भवति ढकारो वा । अचकास्त्वम् । अन्वशास्त्वम् । अन्वशास्त्वम् । दकारस्य विकल्पपक्षे रित्त्व सिद्धमेव । रिग्रहणमुत्तरार्थम् । “ढः” [५।३।८२] इत्यत्र पक्षे रिर्यथा स्यात् । तिपि सिपि च परतो धुरेव सम्भवति । बुग्रहणमयुत्तरार्थम् ।

दः ॥५१३।८२॥ धोर्दकारान्तस्य पदस्य सिपि परतो रिर्भवति ढकारो वा । अभिनस्त्वम् । अभिनस्त्वम् । अजर्घास्त्वम् । अजर्घस्त्वम् । गृध इत्येतस्मात् यङुच् । द्वित्वाटिकार्यम् । लङ् सिप् उट् एप् “एकाचः” [५।३।८३] इत्यादिना भवभावः । हल्ङचापः खम् । जश्त्व ढकारः ।

मो नः ॥५१३।८३॥ धोर्मकारान्तस्य पदस्य नकारादेशो भवति । प्रताम्यतीति प्रतान् । प्रशान् । प्रदान् । नत्वस्यासिद्धत्वात् नृदन्तनखम् । न इति किम् ? विद् । भिद् । धोरित्येव । इट् । किम् । अनयोर्मसगे च्चारणस्यावकाशः इदामतीत्यादौ “न. क्ये” [१।२।१०४] इति पठत्वाभावः । पठस्येत्येव । प्रशामो । प्रशाम् ।

म्बोः ॥५१३।८४॥ धोर्मकारस्य मकारवकारयोश्च परतः नकारादेशो भवति । जङ्गन्त्वम् । जङ्गन्त्वम् । अपदान्तार्थ आरम्भः ।

इको दी चौरुडः ॥५१३।८५॥ रेफवकारान्तस्य धोः पदस्य उडः इको दीर्भवति । गीः । आशी । आट् पूर्वस्य शासोऽनुदात्तेतो ग्रहणाट्प्राप्तमित्वम् । “आशिपि” [२।४।१४६] इति निपातनाद्भवति । धूर्वी । धूर्वः पदान्तस्य वकारस्य ऊठा भवितव्यमिति वग्रहणमुत्तरार्थम् । इक इति किम् ? अत्रिभर्भवान् । मकारे अकारस्य मा भूत् । वोरिति किम् ? भिद् । छिद् । उड् इति किम् ? अत्रिभर्भवान् । चस्य वेर्मा भूत् । धोरिति किम् ? साधुः । मुनिः । पठस्येत्येव । गिरो । गिरः ।

हल्यभकुर्धुरः ॥५१३।८६॥ हल्परौ यौ रेफवकारौ तदन्तस्य धोरुड इको दीर्भवति भमजक कुर्धुरो च वर्जयित्वा । आस्तीर्णम् । अवगृर्णम् । दीव्यति । सीव्यति । अभकुर्धुर इति किम् ? भस्य धुर वहतीति धुर्यम् । दिवि भवो दिव्यम् । क्विग्रन्तस्येद ग्रहणम् । कुर । कुर्यात् । कृजो विद्धतनिर्देशात् चिकीर्षनीत्यत्र दीत्व भवत्येव । ह्युर् । ह्युर्यात् । आशिपि लिङ् । धोरित्येव । चतुर इच्छति चतुर्यति । दिवमिच्छति दिव्यति । त्यस्यैमौ रेफव कारौ । इक इत्येव । गव्यति । “यि त्ये” [४।३।६७] इत्यवादेशः । हल्परगविति विशेषण किम् ? मुमुरीयतीति मा भूत् । अपदान्तार्थ वचनम् ।

उडि ॥५१३।८७॥ धोरुडभूतौ यो रेफवकारौ तयोदट् ढकः दीर्भवति । कीर्तयति । हृष्टिता । मट्टिता । तृर्विता । धूर्विता । “अचो रहाद् द्वे” [५।४।१२६] इत्यस्यामिद्धत्वादुड्भूतत्वम् । प्रतिदीव्ना । प्रतिपर्मात् “कन् युवृषित्ति” [३० सू०] इत्यादिना कन् । “अनोऽखमस्वस्फात” [४।४।१२७] इत्ययम् । “न पदान्” [१।१।५८] इत्यादिना स्थानिवद्भावप्रतिषेधः । “असिद्धं बहिरद्गमन्तरद्गे” [५०] इत्यन्यामित्यत्वाच्च दीव्यम् । अथ वाऽत्र “हलि” [४।३।१२६] इति दीव्यम् । तस्य नेति प्रतिषेधः क्मान्न भवति । रेफवकारान्तस्य सन्त् [भन्] म प्रतिषेधः । इह क्मान्न भवति । री गतिगमणयो । वी गतिप्रजनमान्यशनेषु । रिर्षु । [रिर्षु] । रिर्षु । विर्षुः । यणादेशस्य स्थानिवद्भावात् बहिरङ्गलक्षणत्वाद्वा असिद्धत्वमिति न भवति । चतुर्यति यत्र अत्र गन्तव्यत्वात् बोद्धवन्तो रेफो नास्तीति न दीव्यम् । गुणादीनामव्युपपन्नत्वात् । जित्रि । किर्यो । गिर्योऽपि “हलि” दीव्यं न भवति । न्युपगौ बहलवचनात् । “जीर्घने सिचव” [३०] । इति हि । “अन इटो” [५।१।७८] इत्येवम् । सन्त्वम् । रेफव वकार । ( कृगृपृ ) “कृ गृ पृ कुटिमिद्विग्यञ्च” [३०] इति । उडोऽपि प्राप्ते उडोऽपि सौत्रे निर्देशः ।

दादुर्दो मोऽदसोऽसेः ॥११३८८॥ अदसः असकारस्य दात्परस्य वर्णमात्रस्य उवर्णादेशो भवति  
 टकारस्य च मकारः । अमुम् । अमू । अमून् । अमुना । अमून्याम् । उत्त्वस्यासिद्धत्वात्प्राक् मन्विष्यार्थम् ।  
 भाव्योपि क्वचित्त्व गृह्णात्युक्तम् । ततः “स्थानेऽन्तरतमः” [१११४७] इति मात्रिकार्णमात्रिकयोर्मात्रिको  
 द्विमात्रिकस्य द्विमात्रिक उकारो भवति । असेरिति किम् ? अदस्यति । “स्वेप. क्यच्” [२११६] । अनेरिति  
 यप्रविद्यमानसकारस्येत्युच्यते । अदः कुलम् । अदोऽत्र इत्यत्रापि स्यात् । एव तर्हि अः सिर्यस्मिन् मोऽयमभिः ।  
 अकारीभूतः निर्यस्मिन्नित्यर्थः । तस्यासेरुत्वम् । तेन त्यदाद्यत्वविषये विधिः । “विष्वग्देवयोश्च ढेरद्वयञ्चौ कौ”  
 [११११६८] इति अद्रयादेवे कृते दर्शनभेदः । “अन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य” [५०] इति परिभाषा नाश्रिता  
 तेषाम “यदे सोऽद्रौ” परतः उत्त्व भवति । अमुद्रयङ् । “पृथङ् मत्वं केचिदिच्छन्ति लत्ववत्” । चलीकृत्यते ।  
 कलुतः । कल्पकः । इत्यत्र लाक्ष्णिकस्य रेफस्य ऋकारस्य च लत्वम् । एवमन्यत्रापि । अमुमुयङ् ।  
 परिभाषाभरणे तु “केचिदन्त्यसदेशस्य” अदमुयङ् । त्यदाद्यत्र विषय एव मुत्वम् । “नेत्येकेऽसेहिं दृश्यते” ।  
 अद्रद्वयद्विति चत्वारो भेदाः । दादिति किम् ? अमुया । अमुयोः । स्त्रिया टौसोः परतः त्यदाद्यत्वे टापि “प्राटि  
 चाप.” [५१२१००] इति एवे अयादेशो च कृते “अन्तेऽलः” [१११४६] इति यमारस्योत्व मा भूत् ।

वहावीरेतः ॥११३८९॥ बहौ निमित्ते निष्पन्नस्य अदसः दात्परस्यः एतः ईकारादेशो भवति । अमी ।  
 अमीभि । अमीभ्यः । अमीषाम् । अमीषु । अथवा बहावित्यर्थनिर्देशः । बहावर्ये वर्तमानस्य अदसः इति ज्ञेयम् ।  
 पारिभाषिके हि अमी इत्यत्र परत्वासम्भवाच्च स्यात् ।

वाक्यस्य टेः पः ॥११३९०॥ वाक्यस्य टेः पो भवतीत्येपोऽधिकारो वेदितव्यः । वक्ष्यति “दूराद्धते”  
 [५१३९२] आगच्छ भो देवदत्ता ३ । वाक्यग्रहणं किम् ? अन्त्यस्य यथा स्यात् । पदाधिकारात् सर्वेषां पदानां  
 मा भूत् । येरिति किम् ? “अचश्च” [११११२] इति अनन्तस्याप्यचो यथा स्यात् । अन्यथा अच्चा वाक्ये  
 विशेषणमात्रे हलन्तस्य न स्यात् । अचो विशेष्यत्वे सर्वेषामच्चा स्यात् ।

प्रत्यभिवादेऽशूद्रस्यसूयके ॥११३९१॥ शूद्र स्त्री असूयक विषयवर्जिते प्रत्यभिवादे यद्वाक्य वर्तते  
 तस्य टेः पो भवति । अभिवाद्ये देवदत्तोऽह भो ३ । आयुष्मानेधि देवदत्ता ३ । अत्राभिवाद्यमाने गुरुणा प्रयुक्त-  
 माग्नी पूर्वक प्रिरहितयुक्त प्रतिवचनम् इत्यभिवादः । अशूद्रस्यसूयक इति किम् ? अभिवादये तुपजकोऽहम् ।  
 भो आयुष्मानेधि तुपजक । शूद्रे पो न विहितः । अभिवादये गार्ग्यह भो । आयुष्मती भव गार्गि । स्त्रिया पो न  
 भवति । अभिवादये स्थाल्यह भो । आयुष्मानेधि स्थालिन् । अत्र दण्डिबदसज्जाशब्दे पो न भवति । सज्जा-  
 नृपल स्थालिन् न त्व प्रत्यभिवादमर्हसीत्युच्यते । लोभ्यवहारात्प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययाद्वा नामान्तस्य गोत्रान्तस्य  
 च पविधिः । इह न भवति देवदत्त कुशल्यसि । देवदत्त आयुष्मानेधि । इन्द्रधर्मन् कुशल्यसि । सर्वः पवि  
 भो । आयुष्मानेधि देवदत्त भो ३ । आयुष्मानेधि देवदत्त भो । राजन्यः । अभिवादये इन्द्रवर्माऽह भोः । आयु-  
 ष्मानेधि इन्द्रवर्मन् । आयुष्मानेधि इन्द्रवर्मन् । विश । अभिवादये इन्द्रपालितोऽह भोः । आयु-  
 ष्मानेधि इन्द्रपालिन् । भोगव्यवस्थाप्राप्ते राजन्यविशोगोत्रत्वात्प्राप्ते विकल्पः ।

दूराद्धते ॥११३९२॥ दूराद्धते आह्वाने वर्तमानस्य वाक्यस्य टेः पो भवति । आगच्छ भो देवदत्ता ३ ।  
 दूराद्धते इति किम् ? आगच्छ भो देवदत्त । प्रत्यन्विशेषेण आह्वाने यत्र शब्दः श्रूयते तद्दूरमिह नास्ति ।  
 इह च [११३९३] इति वा ।

हैह्येप्रयोगे हैहयोः ॥५१३।६३॥ है हे इत्येतयोः प्रयोगे हैहयोः पो भवति दूराद्धूते । है३ जिनदत्त । जिनदत्त है३ । है३ जिनदत्त । जिनदत्त है३ । पुनर्हैह्योर्ग्रहणं किम् ? अन्यस्य मा भूत् । हैह्योगेव यथा स्यात् । प्रथमं हैह्यग्रहणम् अनन्तयोरपि यथा स्यात् । अन्यथा वाक्यस्य टेः प्राप्नोति । सूत्रारम्भस्तु अनृतोऽनन्तस्येत्यादिबाधकः सम्भाव्येत । प्रयोगग्रहणादनर्थक्योरपि भवति । आगच्छ भो माणव है३ देवदत्त इति ।

अनृतोऽनन्तस्याप्येकैकस्य रोः ॥५१३।६४॥ ऋकारवर्जितस्य गेरनन्त्यस्यापि अन्यस्यापि टेः एकैकस्य पो भवति । है३देवदत्त३ । हे देवदत्त३ । अनृत इति किम् ? कृष्णमित्रा३ । गेरिति किम् ? देवदत्तस्य वकारात्परत्र माभूत् । एकैकग्रहणं पर्यायार्थम् ।

ओमभ्यादाने ॥५१३।६५॥ अभ्यादानं प्रारम्भः । ओमित्येव शब्दः अभ्यादाने पो भवति । ओ३ मृपम पवित्रम् । ओ३मृपममृपमभ्यामिनं प्रणमन् । अभ्यादान इति किम् ? ओ भो ददाति । अयमोमशब्द प्रतिश्रवणे वर्तते ।

वा हेः पृष्टप्रत्युक्तौ ॥५१३।६६॥ पृष्टप्रत्युक्तौ हेः पो भवति वा । अकार्पाः कट देवदत्त । इति पृष्ट अकार्पा ही३ । अकार्पा हि । अलावीः केदार देवदत्त । अलाविप ही३ । अलाविप हि । हेरिति किम् ? करोमि ननु । पृष्टप्रत्युक्ताविति किम् ? देवदत्तः कट करिष्यति । प्रत्युक्ताविति किम् ? देवदत्त कटमकार्पाहि । वेति योगविभागः । तेन सर्व एव पविधिः साहसमनिच्छता वा प्रयोक्तव्यः ।

विचार्यं पूर्वम् ॥५१३।६७॥ विचार्यं पूर्वं पविधिमापद्यते । अहिर्नु३ रज्जुनु३ । स्थाणुनु३ पुरुषो नु । द्वयोर्ब्रह्मना वा वाक्यानां पूर्वस्य टेः पो भवति ।

प्रतिश्रवणे ॥५१३।६८॥ प्रतिश्रवणे च वाक्यस्य टेः पो भवति । प्रतिश्रवणं श्रवणाभिमुख्यं प्रतिजानम् अभ्युपगमश्चाविशेषेण गृह्यते । श्रवणाभिमुख्ये देवदत्त भो किमात्य३ इति । प्रतिजाने कृतकः शब्दो भोः । एव भवितुमर्हती३ । अभ्युपगमे भोज्य मे देहि भोः । हन्त ते दास्यामी३ ।

पूजिते ॥५१३।६९॥ पूजिते च वाक्यस्य टेः पो भवति । शोभनः खर्वमि अग्निभूता३ । पडा३ । कावेपि च कृते “एचोऽडे” [५।३।१०४] इत्यादिना आकार इदुतौ च । अथवा शोभनं खर्वमि देवत्ता३ इत्युदाहरणम् ।

चिदित्युपमार्थं ॥५१३।१००॥ चिदित्येतस्मिन्नुपमार्थं प्रयुज्यमाने वाक्यस्य टेः पो भवति । अग्निर्वा द्या३ । राजाचिद्व्या३ । चिदिति किम् ? राजेव व्यात् । अग्निर्माणवको भावात् । इत्युपमार्थं प्रयोगाप्रयोगयोर्उपमार्थोऽस्ति । न तु चिच्छब्दः । उपमार्थ इति किम् ? कथञ्चिद्वधीपि । कृच्छ्रेऽत्र चिद्व्या३ । इतिरूपेण किम् ? चिच्छब्दस्य मा भूत् । वाक्यस्य देवत्ता स्यात् ।

कोपाऽस्यासम्मतौ औ वा ॥५१३।१०१॥ कोपा अस्या सम्मति इत्येवार्थं प्राप्य भवति वा । कोपे-माणवका३ । माणवक । अविनीतका३ । अविनीतक । इदानीं ज्ञानमि ज्ञाना३ । अज्ञानान्-माणवका३ । माणवक । अभिरूपका३ । अभिरूपक । शोभनं खर्वमि माणवक । इत्युपमार्थं तन्मार्थत्वात् । शाक्तीका३ । शाक्तीक । वाटीका३ । वाटीक रिता ते शक्ति । “आस्यायेनाध्यम्य” [५।३।६] इत्यादिना द्विवचः । वेति व्यन्धितविभाषा विज्ञानान् कोपार्थं भर्जनं च पञ्चमः । चौर । चौरा३ । वृत्त । वृत्ता३ । चौरा३ । चौर । वृत्ता३ । वृत्त । वातविश्यानि न्यानि । वातविश्यानि न्यानि । भर्जने च निदं माकादन्त्याद्वयुक्तस्य टेः पविधिरिति च । अहं इत्युपमार्थं अहं इत्युपमार्थं इदानीं ज्ञानमि ज्ञानम् । निदं इति किम् ? अहं देवदत्त । माकादन्त्येति किम् ? अहं देवदत्त । माकादन्त्येति । भर्जने इत्येव । अहं पद एतस्य ते दास्यामि ।

भवद्भवद्वयवतो वा रिं काववस्यौ ॥५॥४॥ भवत् भगवत् अयवत् इत्येतेषां कौ परतः वा  
५५





परङ् । प्राङ्साये । प्राङ्माये । कुक् । पूर्वान्तत्वात् परस्य “नाद्यन्ते” [५।४।७६] इति पत्वप्रतिषेधः ।  
दुक्—सुपण्ट् शेते । सुपण्ट् शेते । सुपण्ट् परङ् । सुपण्ट् साये । सुपण्ट् साये । सुपण्ट् साये । दुक् । पूर्वान्तत्वे  
परस्य “पदस्य दोः” [५।४।१२१] इत्यादिनियमात् छत्वाभावः ।

[ इनां धुट् सोश्चः ॥१।४।१३॥ ]

नश्शि तुक् ॥१।४।१४॥ नकारस्य पदान्तस्य शकारे परतो वा तुगागमो भवति । अत्रापि छत्वा  
पूर्वान्तत्वम् । भवाञ्छेते । भवाञ्छेते । भवाञ्छेते ।

[ मयो वोञ्च्युञ्ज. ॥१।४।१५॥ ]

डमो नित्यं डमुट् प्रात् ॥१।४।१६॥ प्रात्परो यो डम् तदन्तात्परस्याचो नित्य डमुट् भवति ।  
कुङ्डास्ते । नुगरिणह । कुर्वनास्ते । प्रादिति किम् ? प्राडास्ते । अचीत्येव । कुङ् शेते । ननु परमदण्डिना-  
वित्यत्र क्तमान भवति । अत्र हि “त्यखे त्याश्रयम्” [१।१।६३] इत्यवयवविभक्तीमाश्रित्य पदान्तत्वमस्तीति चेत्  
नात्र दोष—त्याश्रयलक्षणेन पदत्वमुत्तरपदे एव भवति नान्यत्र । कथमिति चेत्, “भवद्भगवद्वयवत्.” [५।४।३]  
एति निर्देशात् । अन्यथा अश्रवत्कारस्यापि जश्त्व स्यात् । एव च पीतपयसौ सुराजानावित्यत्र रित्वनग्रे न भवतः ।

ढो ढे खम् ॥१।४।१७॥ ढकारस्य ढकारे परतः खं भवति । ऊढिः । गूढम् । लीढम् । पदान्ते  
ढकारस्यासम्भवात् वचनात्पदमध्ये विधिः । नन्विह सम्भवति मधुलिङ्गद्वौकत इति । ढत्वस्यासिद्धत्वात्  
जश्त्वमत्र भविष्यति । ननु मयेऽपि ढत्वस्यासिद्धत्वात्परो ढकारो नास्ति तत्र यदि वचनाड्ढत्वम् । पदान्तेऽपि  
स्यात् । पदमध्ये श्रुतिकृतमानन्तर्यमस्तीति भवति । पदान्ते न श्रुतिकृत नापि गान्त्वकृतमानन्तर्यम् ।  
जश्त्वस्य सिद्धत्वात् ।

रो रि ॥१।४।१८॥ रेफस्य रेफे परतः खं भवति । नीरक्तम् । दूरक्तम् । अग्नीरथः । इन्दूरथः ।  
पुनरुक्त वातः । “निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य” [५०] इतीयं परिभाषा नेहाश्रीयते “रेश्च सुपि”  
[५।४।२४] इति ज्ञापकात् । तत्र रेरेव नुपीति नियमो वक्ष्यते । इह यदि निरनुबन्धकस्य रेफस्य ग्रहणं स्यात्  
तमेव तगानुवर्तते । इति रे प्राप्स्यभावान्नियमोऽनर्थकः स्यात् । इह पदस्यावयवो यो रेफः तस्य खं भवतीत्या-  
“ग्रहादपदान्तरस्यापि रेफस्य न भवति । अजर्था इति जर्थाध् इत्यस्माद्यडुवन्ताल्लडः सिप् । “हल्ड्याप”  
[४।१।५६] इति सिपः खम् । “घ्युड” [५।२।२३] एप् । रन्तत्वम् । “भूलो जश्” [५।३।५७] इति धकारस्य  
वत्त्वम् । “सिपि रिवां” [५।३।२१] “द” [५।३।२२] इति ढकारस्य रित्वादेशः । अत्र रो रीति पूर्वस्य  
न परस्य विभर्जनीय । एव त्वर्द्धेऽडुवन्तस्य अपात्पाः । रो रीति निर्देशात् “रादिफः” [३० सू०] इति  
विभानमनित्यम् । “ढो ढे खम्” [५।४।१७] इति निर्देशात् “वर्णान्कारः” [३० सू०] अप्यनित्यः ।

विरामे विसर्जनीयः ॥१।४।१९॥ विरामविषये रेफान्तस्य पदस्य विसर्जनीयादेशो भवति । देवः ।  
धरिः । गारु । त्व । अक्तः । विराम इति किम् ? अग्निरत्र । प्रातरत्र । वायुर्वाति । विरतिः वर्णस्यानुच्चारण  
विरामः । विसर्जनीय इति अक्षरेणवादेऽपि श्रुतिद्वयस्य सञ्ज्ञा ।

शर्परे खरि ॥१।४।२०॥ शर्परे खरि परतः रेफान्तस्य विमर्जनीय आदेशो भवति । पुरुषःत्सरुक् ।  
नर लरि । ‘खवि’ [५।४।२५] नत्वस्यापमपवादः ।

एप्पो ॥१।४।२१॥ शर्परे खरिति वन्ते । खरि यो कुपू तयोः शर्परयोः परतः रेफस्य विसर्जनीय  
आदेशो भवति । एप्पो लौम् । नन्विह प्नातम् । ननु पूर्वस्य सिद्धे किमर्थमिदम् । अस्मिन्ननुच्यमाने स  
एप्पो लौम् नन्विह प्नातम् नन्विह प्नातम् । नन्विह प्नातम् । नन्विह प्नातम् । नन्विह प्नातम् ।



युक्मिषांसकुम्भकुशाकर्णीपात्रेऽतोऽमे॥ १४१३४॥ कृ कमि कस कुम्भ कुगा कर्णी पात्र  
नयोः पत्र अकारत उत्तन्व रेपत्वागुथत्य सकारदेशो भवति । कृकम्पोः सर्वत्यान्तयोग्रहणम् । अयस्कारः ।  
रशत मार । तपस्यान । अयस्कान्त । अयस्त्वस । पयस्त्वसः । वंस इति कमेरेव्युत्पत्तिपक्षे पृथग्रह-  
णम् । अयस्कान् । “नुद्व्रहरो लिङविनिष्टस्यापि” [ प० ] अयस्कुम्भी । पयस्कुम्भी । गौरादित्वान्डी ।  
अयस्कान् । अयस्कान् । अयस् ह्य कर्णास्त्याः “नासिकोद्ग्राह” [ १४१४२ ] आदिना डी । अयस्कपर्णी ।  
अयस्करी । अयस्करी “बत्कादी” [ १४१३६ ] । अयस्तात्रम् । पयस्तात्रम् । अयस्तात्री । पयस्तात्री ।

कुकम्यादिग्रहणं किम् ? पयःपानम् । अत इति किम् ? गीःकारः । धूःकारः । तपरकरणं किम् ? भाः  
कामः । भास्कर इति “कस्कादौ” । अमेरिति किम् ? प्रातःकारः । स इत्येव । यशः करोति । अयुस्थ  
त्येत्येव । परमयशःकारः । कमेरणिङन्तस्य सत्रे निर्देशः किम् ? अयस्कान्तः ।

शिरोऽधसोः पदे ॥५१४३५॥ शिरस् अधम् इत्येतयो रेफस्य सकारादेशो भवति पदगन्धे  
परतः । शिरस्पदम् । अधस्पदम् । मयूरव्यसकादित्वात्स । से इत्येव । शिरसः पदम् । अशुन्यत्वेव ।  
परमशिरःपदम् ।

कस्कादौ ॥५१४३६॥ कस्क इत्येवमादिषु रेफस्य सकारादेशो भवति । यथा ते तत्र पठ्यन्ते तथैव  
तेषां साधुत्वम् । कस्कः । किमः तमन्तस्य वीप्साया द्वित्वम् । कौतस्कुन । समुदायस्यामृत्वेऽपि वचनात् तत्र  
आगतेऽयंऽण् । भातुष्पुत्रः । सेऽपि “कृतो विद्यायोऽनिसम्बन्धात्” [५१०१३६] इत्यनुप् । “इण प’  
[५१४३७] इति पत्वम् । शुनस्कर्णः ! असञ्ज्ञाया “ताया आक्रोशे” [५३१३४] इत्यनुप् । सञ्ज्ञाया तु  
श्वकर्ण इति । सयस्कालः । सद्यस्त्रीः । सम्पदादित्वात् क्विप् । तत्र भवः सायस्कः । तमस्त्याण्डम् ।  
अयस्कण्डम् । तपस्कण्डम् । मेदस्तिण्डः । आकृतिगणोऽयमविहितलक्षणं सत्वमिति द्रष्टव्यम् ।

इण्कोः सः पः ॥५१४३७॥ इणः कवर्गाच्चोत्तरस्य सकारस्य पत्व भवतीत्येयोऽभिकागे वेदितव्यः ।  
वक्ष्यति “त्यादेशयोः” [५१४३६] । मुनिषु । देवेषु । गीर्षु । बालु । प्राङ्क्षु । उदङ्क्षु । सिपेव । मुवाप ।  
इणोरिति किम् ? यात्यति । “क्षियाजी.प्रैपेषु” [५३१०२] इति निर्देशादिण्परेण सकारेण गृह्यते । म  
इति स्थानिनिर्देशो रेफस्य स्थानित्वनिवृत्त्यर्थः । पुनः पग्रहणं कुप्योरित्यस्य निवृत्त्यर्थम् । उत्तरत्र “नाद्यन्ते”  
[५१४३६] इति प्रतिषेधात् पदस्येत्येनदनुवर्तमानमिह विशेषणरूपेण सम्बन्ध्यते ।

नुमृशर्व्ववायेऽपि ॥५१४३८॥ नुमृव्यवाये शर्व्ववाये अर्व्ववायेऽपि इण्कोरुत्तरस्य सकारस्य पकारा  
देशो भवति । सर्वापि । धनृपि । अत्र नुमादेशो नुम् । तेनेह न भवति । पुसु । शर्व्ववाये । सर्पिणु । धनुष्यु ।  
रेः सत्वे कृते वरत्य पत्वम् ।

[ त्यादेशयोः ॥५१४३६॥ शास्वस्वसाम् ॥५१४३७॥ पणि चाणिस्तोरेव ॥५१४३८॥  
सखिदिस्विदिसहेः ॥५१४३९॥ प्राक् सितादृष्टापि ॥५१४४०॥ स्थादेशेन चस्य ॥५१४४१॥ गेः  
सूज्जसूतोस्तुस्तुभः ॥५१४४२॥ ]

.....म इति पत्वे य .....माश्रीयते । अभितृष्टाकित्वत्र चस्य टवर्गः स्यात् । चस्य च गेः  
परस्य सत्त्व भवतीदमपि नियमार्थवचनम् । अभिपिपित्तति । परिपिपित्तति । अत्र द्विः प्रयोगो द्वित्वं गो भिन  
इत्येव पत्व मिडम् । “मिडे सत्यारम्भो नियमाय ।” स्थादीनामेव वक्ष्यमाणानां चस्य पत्वम् । चेन च वार्ता  
नान्तेषां मुनोऽयादीनाम् । अभिसुपति । अभिमिपामति । स्थादीनां चन्येवेति न शङ्क्यम् .....येतिज्ञान  
मनर्थः स्यात् ।

स्थालेनयसेधसिचसञ्जस्वञ्जाम् ॥५१४४६॥ गैरिति वर्तते । गेः परेषां स्था से नय सेव भिन  
मञ्ज त्वञ्ज इत्येतेषां सकारस्य पत्व भवति । अभिपिपित्तति । परिपिपित्तति । अत्र व्यवाये-अन्यप्रात् ।  
परप्रात् । चेन च व्यवाये-अभितृष्टा । अभिपेणति । अन्यपेणति । अतिपिपेणति । अत्रादेशमप्यत्र  
भावाद्भावेन विविधः । मेव इति भौवादिभ्यश्च ग्रहणम् । अभिपेति । निपेति । अन्यपेति । न्यपेति । चस्य  
च । अभिपिपेति । निपिपेति । अभिपिपित्तति । अन्यपिपित्तति । चेन च व्यवाये-अभिपिपित्तति । अभिपिपित्तति ।

१ प्रतिषु [ ] कोष्ठकान्तर्गतानां मूत्राणां वृत्तिम्वुटितम् । मूत्राणि तु जैनेन्द्र पन्ना यायीमनुगम्यत्र  
निदिष्टानि ।











नाप्राप्तन्यायेन” [ ५० ] “नाद्यन्ते” [ ५।४।७६ ] इत्यस्यैव प्रतिषेधस्य बाधकं गिलच्छणं न सिद्धं यदीत्यस्य ।  
अथवा “पुरस्तादपवादांश्चनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्” [ ५० ] इति यद्विदुः सर्वत्र प्रतिषेधः ।  
यदीति किम् ? परिपिपिच्छति ।

सेधो गतौ ॥५१४७६॥ सेधतेर्गत्यर्थस्य पत्व न भवति । अभिसेधति । प्रतिसेधति गाः । “स्थासेन-  
यसेध” [५१४४६] इत्यादिना प्राप्तस्य प्रतिषेधः । गताविति किम् ? प्रतिषेधति पापम् । निवारयतीत्यर्थः ।

निस्तब्धप्रतिस्तब्धौ ॥५॥४॥८०॥ निस्तब्ध प्रतिस्तब्ध इतीमौ शब्दौ निपात्येते । निस्तब्धः । प्रति-  
स्तब्धः । के परतः “स्तम्भे.” [५॥४॥८०] इति प्राप्ते प्रतिषेधः ।

सोढः ॥५१४८१॥ सहेः सोढभूतस्य पत्य न भवति । परिसोढा । परिसोढुम् । एव निसोढा । विसोढा । परिनिविभ्यः “सिद्धसहसुद्धस्त्वञ्जाम्” [५१४५२] इत्यनेन प्राप्तिः । सोढभूतस्य ग्रहणं किम् ? परिपरते । निग्रहते । सोढ इति सहेः सोढभूतस्यानुकरणं ङसा निर्दिष्टः ।

स्तम्भुसिबुसहां कचि ॥५१४८२॥ स्तम्भु सिबु सह इत्येतेषा कचि परतः षत्व न भवति । अभ्यत-  
स्तम्भत् । पर्यतस्तम्भत् । “स्तम्भेः” [५१४८२] इत्या चेन च व्यवयये गिनिमित्तं प्रतिषिध्यते । सिबुसहोस्तु  
परिनिविभ्य परयो. “वाञ्छा” [५१४५३] इति विकल्पः प्राप्तः । पर्यसीषिवत् । न्यसीषिवत् । पर्यसीपहत् ।  
न्यसीपदत् । सर्वत्र गियुक्ताणि च क्रियते । गिलक्षणास्य षत्वस्याय प्रतिषेधो न तु “त्यादेशयोः” [५१४३६]  
इत्यनेन चादुत्तरस्य व्यवहितत्वात् ।

सुजः स्वसनोः ॥१४८॥ सुनोतेः सकारस्य स्य सन् इत्येतयोः परतः पत्वं न भवति । अभिसोष्यते । परिसोष्यते । अभ्यसोष्यत । पर्यसोष्यत । सनि । सुसृपति । नैतद्युक्तम् । “पणि चाण्डिस्तोरेव” [५।४।४१] इति निगमादत्राप्ताप्तिः । २८ तर्हि अभिसुसृपति । अत्रापि “स्थादेशचेन चस्य” [५।४।४४] इति नियमादत्राप्तिः । तत्रोक्तम् । गिनिमित्त स्यादीनामेव पत्व नान्यस्येति । क्वपि तद्गुं दाहरणम् । अभिसुसृः । रित्वे विसर्जनीये च कृते “पणि” [५।४।४६] इति नियमाभावाच्चात्परस्य प्राप्तं पत्व प्रतिपिष्यते । स्वसनोरिति किम् ? सुपाव ।

अग्निप्रसाद । निप्रसाद । अग्निप्रस्वज्जे । निप्रस्वज्जे । “लिटि स्वज्जेर्वा न खं भवतीत्युपसंख्यातव्यम्” [वा०] रत्नादिना पदे प्राप्ते प्रतिषेधः ।

पू नो एः समाने ॥५।४।८२॥ पदस्येति वर्तमान समान इत्यनेन समानधिकरण जायते । प्रकाररेफा-  
ग्रासुत्तम्य नकारत्व णकारदेशो भवति समाने पदे चेन्निति तन्निमित्तिनौ भवतः । कुष्णाति । मुष्णाति ।  
आनीर्याम् । वितीर्याम् । समान इति किम् ? मुनिर्नयति । साधुर्नयति स्वर्गम् । “धिन्विक्कृण्वोर च” [२।१।७५]  
इत्यत्र णत्वनिर्देशाद् श्रुत्यानद्यपि परस्मै णत्व भवति । तिष्ठणाम् । मातृणाम् । पकारग्रहणमुत्तरार्थम् । अव्यवाये  
एतेनापि सिद्धमेतत् ।

[illegible]

तदा भवेत्” इति । “रिवि रवि गता” इत्यस्य । रिवनम् । रिवनीयम् । अत्यस्ताभावादनुत्वारो नान्तीति  
एत्वाभावः । तृष्णम् । तृष्णीयमित्यत्र परस्वत्वस्यासिद्धत्वादनुत्वारोऽस्तीति एत्व भवति ।

पूर्वपदात् खावगः ॥५१॥८७॥ खु इति वर्तते । पकाररेफवतः पूर्वपदात् अगकागन्तात् उत्तम्य  
नकारस्य खो भवति खुविपये । पुष्पणन्दी । श्रीणन्दी । श्रीनन्दिशब्दस्य जुष्नादिषु णत्व निषिद्धम् । खरणम् ।  
वात्रीणसः । खाविति किम् ? शुष्कनासिकः । दीर्घनासिकः । अग इति किम् ? ऋगयनम् । जुष्नादिषु वृनमन  
तृप्नोतिशब्दयोः प्रतिषेधवचन जापकम् ऋकारस्याट्रेफादजशेन व्यवहितत्वात् पदस्य एत्व भवतीति एत्वप्राप्ति ।  
नियमार्योऽयं योगः । पूर्वपदात्खावेव नान्यत्र । अथ पूर्वपदादेव खाविति कस्मान्न नियमो भवति । एव मति पु  
नियमः स्यात् । अखुविपये पूर्वेण एत्वसिद्धेः “वाह्याद्वाहनम्” [५१॥६२] इत्याचारम्भोऽनर्थकः स्यात् । या  
से कृते समुदायाया विभक्ती तथा समुदायम्यैरुपपत्तये पूर्वेण प्राप्तिरस्तीति नियमो वष्टते । पूर्वपदस्य तु न्मर्थमाणा  
यवापेक्षम् । पूर्वपदशब्दश्च सम्बन्धिशब्दः । तेनोत्तरपदस्यस्य नकारस्य एत्व नियमो निवर्तयति न पूर्वपदस्यस्य नापि  
त्यस्यस्य । करणप्रियः । खारपायणः । करण प्रियमस्य । खरपत्यापत्यमिति विग्रहः । अग इत्यनन्तरस्य प्रतिषेधः ।  
प्राप्नोतीति चेत्, तत्र को दोषः ? खौ चाखौ च पूर्वेण एत्व स्यात् । एव तर्हि अग इति योगविभागः । तेन  
विधिनियमयोः प्रतिषेधः ।

वनं पुरगामिश्रकासिद्धकाशारिकाकोटराग्रेभ्यः ॥५१॥८८॥ खाविति वर्तते । पुरगा  
मिश्रका सिद्धका शारिका कोटरा अग्र इत्येतेभ्यः पर वन विनम्यते । विनाम इति पत्वणत्वयोः सङ्गा । पुरगा-  
वणम् । मिश्रकावणम् । सिद्धकावणम् । शारिकावणम् । कोटरावणम् । तामे कृते पूर्वपदस्य “गिरिवने स्थितुलु  
कोटराद्यो. खौ” [५१॥२२०] इति दीत्वम् । वनस्याग्रे अग्रेवणम् । “राजदन्त” [५१॥६३] आदित्वात्पूर्वनिषान् ।  
“उपोऽद्वल.” [५१॥१२७] इत्यनुप् । “मिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः” । एतेभ्य एव वन विनम्यते नान्येभ्यः ।  
मनोहरवनम् । अथ पुरगादिभ्यो वनमेव विनम्यते नान्यदिति कस्माच्च नियमः । एव मति पुरगादिनियम स्यात् ।  
वन त्वनियत तस्य खौ पूर्वेणैव एत्व सिद्धमित्युत्तरसूत्रे खावपि प्रादिभ्यः पर वन विनम्यत इतिपिगच्छोऽनर्थः  
स्यात् । जायते पुरगादिभ्य एव वन विनम्यते इति नियमः । पुरगादीना कृतदीत्वानामुच्चारण किम् ? यत्रैव  
दीत्व तत्रैव एत्व यथा स्यात् । इदमेव जापकमनित्य श्रौ दीत्वमिति तेन लम्बकर्णः । विद्ध कर्णः । अल्पिह ।  
कमदरकू इत्येवमादि निद्धम् ।

प्रान्तनिःशरेक्षुप्लक्षाम्रकार्ष्यखदिरपीयूक्षाभ्योऽखावपि ॥५१॥८९॥ प्र अन्तर निम् अर  
इक्षु प्लक्ष आम्र कार्ष्य खदिर पीयूक्षा इत्येतेभ्यः पर वन विनम्यते अखावपि खावपि च । प्रवणम् । अर  
वणम् । निर्वणम् । शरवणम् । इक्षुवणम् । प्लक्षवणम् । कार्ष्यवणम् । खदिरवणम् । पीयूक्षावणम् । प्रण  
वनम्, अन्तर्गत वनम्, निर्गत वनमिति विग्रहः । शरवणादिषु तामः । ये ओपविवनम्पतिशब्दा न भवति ।  
अग्नौ ग्नो च पूर्वान्यामप्राप्ते विवि. । ओपविवनम्पतिशब्देभ्यन्तु खावप्राप्ते विवि । अग्नौ वृत्तगच्छेन विवि  
प्राप्ते निवर्तय वचनम् । अपिशब्दस्य पूर्वसूत्रे प्रयोजनमुक्तम् ।

विभाषांपधिवनस्पतिभ्यः ॥५१॥९०॥ ओपविवनम्पतिशब्दस्य पर वन विभाषा निवर्तते ।  
ओपविन्य-दृवावणम् । दृवावनम् । व्रीहिवणम् । व्रीहिवनम् । वनस्पतिभ्य-करीवणम् । करीवणम् ।  
आरकवणम् । आरकवनम् । व्यवस्थितविभाषाऽऽश्रयणात् द्वयत्रयचतस्रोर्विभक्त्यः । तेन न भवति । अत्र  
वनम् । “द्विजिह्वादिभ्यश्च न भवति” [वा०] । ईरिवणम् । ईरिवनम् । रमीवणम् । रमीवनम् । यो पुरगादिभ्य  
एव वन विनम्यते इत्यस्य विभाषा । यो त्वन्निद्धकादिभ्यमेव वा वृत्ते । यदि एतन्निद्धकादिभ्योऽनर्थः  
नेमिदिभ्योऽनर्थः इत्येवम् । इत्युत्तरसूत्रे, पर्यायार्थः । इह वनम्पतिशब्दे कृतान्ता इति अर्थः । यत्र —

‘कर्ता वनम्पतिज्ञेयो वृक्षा पुष्पफलोपगा ।’





हिम्योर्नुनोः ॥५॥४॥१०२॥ हि मी इत्येतयोर्मी नुनौ तयोर्णत्वं भवति गिस्थानिमित्तात् । प्रहिणोति । प्रहिणुतः । प्रमीणाति । प्रमीणीतः । एवीत्ययोः कृतयोः एकदेशविकृतस्यानन्यत्वाएणत्वम् ।

आनि ॥५॥४॥१०३॥ आनीत्येतस्य धोः परस्य णो भवति । आनिं प्रति गित्वाभावादिह गिग्रहण आदि-  
मानोपलक्षणम् । प्रवपाणि । प्रापयाणि । अर्धवद्ग्रहणपरिभाषयाऽर्धवत् एव नेर्ग्रहणादिह न भवति । प्रवृद्धा  
वपा येपा तानि प्रवपानि मासानि । आनीत्यविभक्तीको निर्देशः ।

णोऽनितेः ॥५॥४॥१०४॥ गेः परस्यानितेर्नकारस्य णो भवति । प्राणिनि । पर्यणिनि । अट्ठ्वयायेऽपि ।  
पर्याणीत् । पुनर्णग्रहणमपवादविषयेऽपि णत्वार्थम् । हे प्राण् ? इति । कथन्तस्य किः । “अन्तस्”  
[५॥४॥१०५] इति प्रतिषेधः प्रातः । तिपा निर्देशो यदुपन्तनिवृत्त्यर्थः ।

सचस्योभौ ॥५॥४॥१०५॥ सचस्यानितेरुभौ नकारौ विनश्येते । गेरिति वर्तते । प्राणिणिपति । परा-  
णिणिपति ! पराणिणत् । अत्र द्वित्वे कृते चरूपेण व्यवधानाद्धोर्नकारस्य न प्राप्नोतीत्येवमर्थं सूत्रम् । उभो-  
त्रया किमर्थम् ? यावत् पूर्वनकारस्य पूर्वसूत्रेण णत्व सिद्धम् । धोस्त्वारम्भमामर्थान्नकारस्य व्यवधानेऽपि भवि-  
ष्यति । नापि द्वितीयस्य णत्वमुच्यमान पूर्वस्यापवादः । सचस्येति वसनिर्देशात् । अन्यथा चादित्येवोच्येत । निय-  
मार्थं तद्युभौग्रहणम्—गेरनन्तरमुभयोरेव णत्व न तृतीयस्य । प्राणिणिष्यतेः लुङि कचि च कृते पुनः कचि द्वित्वे  
सति प्राणिणिनिपत् । ननु च “पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे” इति वचनात् कृतणत्वस्य द्वित्वे सति उभयोर्णत्व लभ्यत  
इति नार्थोऽनेनेति उभौग्रहणार्थं तर्हि सूत्रं कर्तव्यम् । न च “पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे” इतीदं सर्वविषयम्  
अन्यथा श्रौजिददित्त्र हत्वधत्वधुत्वहत्वानामसिद्धत्वाभावात् हृति इत्येतस्य द्वित्व न स्यात् ।

हन्तेरघः ॥५॥४॥१०६॥ घवर्तिस्य हन्तेर्नकारस्य णो भवति । गेरिति वर्तते । ग्रहण्यते । परिहणनम् ।  
अन्तःशब्दस्य गिमज्जोक्ता । अन्तर्हण्यते । अन्तर्हणनम् । उत्तरत्र वेति व्यवस्थितविभाषावलोकनात् देशविषये  
न भवति । अन्तर्हणनो देशः । अघ इति किम् ? प्रघ्नन्ति । प्राघानि । “घनान्तर्घण” [२॥३॥६६] आदि  
सूत्रे अन्तर्घणादीना निपातनाणत्वम् । अघ इति योगविभागात् । हन्तेरघपूर्वस्यैव णत्वम् । तेनेह न भवति ।  
रुघ्नन् इति । गज्जाया “पूर्वपदात्खावगः” [५॥४॥१०७] इति णत्व प्रातम् । असज्जाल्वे “एकाज् द्यौ ण्”  
[५॥४॥६६] इति ।

वा म्घोः ॥५॥४॥१०७॥ मकारवकारयोः परतः हन्तेर्नकारस्य वा णत्व भवति । ग्रहण्यः । ग्रहन्वः ।  
ग्रहणम् । ग्रहन्मः । वाग्रहण पूर्वविधीना नित्यार्थम् ।

कृत्यच्च ॥५॥४॥१०८॥ कृत्यो यो नकारः तस्याच उत्तरस्य णो भवति स चेन्नकारपरो भवति गिस्था-  
निमित्तात् । कृतीति नकारस्य विशेषण नाच । कृत्यञ्चकाराच्चः परस्य नकारस्य णत्व भवतीत्यर्थः । प्रया-  
णम् । प्रयाणम् । प्रयाणमाणम् । प्रयाणीयम् । अग्रयाणिर्हन्ते ते वृषल । प्रयाधिणः । प्रहीणः । प्रहीणवान् ।  
अन्तःशब्दस्य गित्वा अन्तर्वाणम् । अन्तरयणम् । वेति व्यवस्थितविभाषाभिसम्बन्धादिह न भवति । अन्तरयणो  
रग इति । इहापि भवति । निर्विण्ण प्रात्राणीदिति । अच इति किम् ? प्रभुग्नः ।

रेर्घा ॥५॥४॥१०९॥ एयन्तायो विहित कृत्यन्धत्याच उत्तरस्य नकारस्य वा णत्व भवति । गेरिति  
वर्ति । प्रयाणम् । प्रयाणम् । ननु प्रयाणमाण इत्यत्र यस्मा व्यवहितत्वात् कथं कृतो णत्वम् ? अट्ठ्वयाय इति ।  
वर्ति । एयन्ताद्विहितं कृत्यो व्यवसायेऽपि णत्व भविष्यति । पूर्वैण नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम् ।

हलन्तेजुड ॥५॥४॥११०॥ हलन्ते, सर्वस्य हलन्तत्वात् हल्यग्रहणादिविशेषणम् । हजादेरिजुडो धोः  
वर्तते इति नकारस्य वा णत्व भवति गेरितिमित्तात् । प्रयोपणम् । प्रयोपनम् । प्रमोहणम् । प्रमोहनम् । “कृत्यचः  
[५॥४॥११०] इति निर्देशः प्राप्ते विकल्पः ।

[ संनुम इजादेः ॥५१४१११॥ निसनिजनिन्दो वा ॥५१४११२॥ न भाभूपूकमिगमिया-  
यीवेपाम् ॥५१४११३॥ पात् पदान्तात् ॥५१४११४॥ अन्तस्य ॥५१४११५॥ पदव्यवायेऽपि  
॥५१४११६॥ ]

जुम्नादिषु ॥५१४११७॥ जुम्ना इत्येवमादिषु शब्देषु नकारस्य शाकारदेशो न भवति । जुम् ।  
जुम्नाति । नृप । नृप्नोति । इदमेव ज्ञापकम् । नृपिः स्वादावप्यस्ति । एकदेशविकृतन्यानन्यत्वात् जुम्नाति ।  
जुम्नन्ति । नृप्नुतः । नृप्नुवन्ति । विकरणान्तनिर्देशः किम् ? जोभणम् । तर्पणम् । नन्दिन् । नन्दन नगर इत्येतेषां  
“पूर्वपदात्वावगः” [५१४१२७] इति एतत् प्राप्तम् । हरिन्द्री । हरिन्दनः । गिग्निगम् । नर्त्तन नदन गन  
निवेश निवास अग्नि अनूप एतान्युत्तरपदानि मञ्जायामेव । परिनर्तनम् । पग्निन्दनम् । भेरीनदनम् । परिगहनम् ।  
शरनिवेशः । शरनिवासः । शरगिनः । दर्भानूपम् । आचार्यभोगीनः । “आचार्यादण्व च” [ग० सू०] ।  
आचार्यानी । “चतुर्ह्यनी चयसि द्रष्टव्या” [वा०] । “ईरिकादीनि च वनोत्तरपदानि सन्ज्ञायाम्” [वा०] ।  
ईरिका । तिमिर । समीर । कुबेर । हरि । कर्मार । इति ईरिकादिः । आचार्ययूना । अत्रिययूना । दीर्घाणी  
शरदिति । अवहितलक्षणो एत्वप्रतिषेधः जुम्नादिषु द्रष्टव्यः ।

न नृतेर्यङि ॥५१४११८॥ नृतेर्यङि एव न भवति । नरीनृत्यते । नरीनृत्येते । नरीनृत्यन्ते । त्यगे ।  
त्याश्रयात् । नर्त्तति । नरिनर्त्ति । नरीनर्त्ति ।

स्तोः श्चुना श्चुः ॥५१४११९॥ सकारतवर्गयोः शाकारचवर्गाभ्यां योगे शाकारचवर्गा भवतः । अत्र  
स्थान्यादेशयोर्थयामख्यम्, स्थानिनिमित्तयोस्तु नेष्यते । “शात्” [५१४१२३] इति तवर्गस्य चत्व प्रतिषेधाज्जायते ।  
सकारस्य शकारेण । जिनालयशोभते । तस्यैव चवर्गेण । धन्यश्चिनोति पुण्यम् । ओत्रश्चू । वृश्चनि पापम् ।  
मुनिश्चिद्वन्ति कर्मबन्धम् । तवर्गस्य शकारेण । अग्निचिच्छेते । छुत्वमसिद्धमिति शे चुत्वम् । प्रपेश शकारेण ।  
“शात्” [५१४१२३] इति प्रतिषेधं वक्ष्यति । तवर्गस्य चवर्गेण । तत्त्वविच्छिनोति । तत्त्वविच्छिद्यति । तत्त्वविच्छि  
यति । सर्गिह्वयः । भवाञ्जगरीयति । आचिति मिद्रे श्चुनेति निर्देशः शादिति प्रतिषेधश्च ज्ञापकः । परेण  
पूर्वेण च चुना योगे चुत्वमिति । तेन राज्ञः । याच्या । “मस्तिजगोर्कलि” [५१४१२६] इति निर्देशात् मज्जति ।  
भृज्जतीत्यत्र चुत्वे कर्तव्ये जश्च नामिदम् ।

पुना पृः ॥५१४१२०॥ मकारतवर्गयोः पकारतवर्गाभ्यां योगे पकारतवर्गा भवतः । अत्रापि “न तोः पि”  
[५१४१२२] इति प्रतिषेधात् स्थानिनिमित्तयोर्थयामद्वयाभावः । सकारस्य पकारेण । कपण्डे । तस्य पदगण ।  
अश्चयीकते । पुरपटक्वयति । तवर्गस्य पकारेण परेण प्रतिषेधं वक्ष्यति । पूर्वण पेष्टा । पेष्टम् । तवर्गस्य पदगण ।  
वृट्ठट्ठ । अट्ठ अट्ठते । तकागेपदेन क्विपि स्थान्तये च कृते श्रवणार्थं । मण्डट्ठक्वयति । अट्ठ । अट्ठति ।  
आविष्टौकते । भवाण्णकारयति ।

पदस्य टोर्नाम्नवतिनगरी ॥५१४१२१॥ पदस्य टोः परेण नाम्नवति नगरी उपेतोपा कृत्य भर्ता ।  
पराशतः । पराशवति । पराशार्थं । नियमार्थमिदम् । पदान्तयोः परस्य नाम्नवतिनगरीत्यस्य नाम्नवति ।  
तत्त्वामृतलिङ् तरति टु त्वम् । पदान्तस्यैव नियमादिप्रतिषेधः । ईट् लुता । ईट् । पदमेति वर्तमान पुन  
पदमेति ग्रहणमन्तर्धम् । ननु तथापि नाम्नवतिनगरीषु परम् पूर्वस्य पदान्तवर्गमिदं पदमेति निर्देशः  
अतुल्यजातीस्य मकारस्यापि परस्य पद्वनिवृत्तिर्या स्यात् । मृष्टिङ् मीटति ।

न तो पि ॥५१४१२२॥ तवर्गस्य पकारे वट्ठक तन्न भवति । ट्ठक्कम् । तीर्थट्ठपेट्ठम् ।  
नमन्तट्ठ ।

१ प्रतिषु [ ] कोष्टकान्तर्गतानां सूत्राणां वृत्तिं गणितानां । सूत्राणि तु जैनेन्द्रपत्राण्यर्थं  
ननुसूत्राणि निर्दिष्टानि ।

शात् ॥५१४१२३॥ शकारात् परस्य तवर्गस्य यदुक्तं तन्न भवति । किमुक्तम् ? चुत्वम् । प्रश्नः ।  
दिङ् । पदान्तस्य गकारस्याभावात् अपदान्ते प्रतिषेधः ।

ख्शः शो यो वा ॥५१४१२४॥ ख्श इत्येतस्य शकारस्य गकारो भवति वा । आख्याता ।  
प्राख्याता । पर्याख्यानमिति वक्ष्यस्यासिद्धत्वात् “कृत्यच.” [५१४१०८] इति णत्व नास्ति । वेति योगविभागः ।  
तेन तुना त्रेणे “व उब्जे.” इति लब्धम् । उब्जिता । उब्जितुम् । उब्जितव्यम् ।

यरो डो विभाषा डे ॥५१४१२५॥ पुनः पदस्येति सामर्थ्यात् पदान्त इति लभ्यते । यः पदान्तस्य  
विभाषया ङादेशो भवति डे परतः । सुवाङ्मनयति । सुवाग् नयति । पण्मुलः । षड्मुलः । सन्नयनम् । सद्गनयनम् ।  
ककुम्भण्डलम् । ककुम्भण्डलम् । पदान्तस्येति किम् ? सङ्गः । स्तम्भाति । वेल्यनुवृत्तौ विभाषाग्रहण व्यवस्थार्थम् ।  
तेन त्वे नित्यं भवति । वाङ्मयम् । त्वङ्मयम् । पण्णाम् । वाचो विकारः । “नित्यं दुरादेः” [३१३१०६]  
इति मयङ् । त्वचः आगत “हेतुमनुष्याद्वा रूप्य.” [३१३१५५] । “मयट्” [३१३१५६] इति मयट् ।

अचो र्हाद् द्वे ॥५१४१२६॥ अच उत्तरो यौ रेफहकारौ ताभ्यामुत्तरस्य यरो विभाषया द्वे रूपे  
भवतः । अर्कः । अर्कः । तर्कः । तर्कः । ब्रह्मन् । ब्रह्मन् । सहाम् । सह्याम् । अच इति किम् ? ह्नुते ।  
विभाषेत्यनुवृत्तेर्व्यवस्था । शरोऽचि द्वित्वन्न भवत्येव । आदर्शः । वर्षति । तर्पम् । “रहौ निमित्तभूतौ द्वित्वस्य न  
च निमित्तिकार्यं निमित्तस्य” । तेनेह न भवति । भद्रहृदः ।

अनचि ॥५१४१२७॥ र्हादिति निवृत्तम् । अच इति वर्तते यर इति च । अच उत्तरस्य यरो  
विभाषया द्वे भवतः । अनचि । दद्धवत्र । दध्यत्र । मद्धवत्र । मध्वत्र । अत्र यकारवकारौ निमित्तम् । अनचीति  
यदि पर्युदात्तः ह्लात्वा कर्तव्यम् । एव तर्हि प्रसज्यप्रतिषेधोऽयम् । अचि नेति । तेन हल्यवसाने च द्वित्वम् ।  
वाक् । वाक् । त्वक् । त्वक् । अच इत्येव । स्नातम् । प्लातम् । व्यवस्थितविभाषाधिकारात् “त्रिप्रभृतिषु न  
भवति” [वा०] । इन्द्रः । राष्ट्रम् । “यणः परस्य मयोऽचि विकल्पः” [वा०] । उल्का । उल्का । वल्मीकः ।  
वल्मीकः । “गर उत्तरस्य खयः” [वा०] । स्थाली । स्थाली । “खय उत्तरस्य शरोऽपि” [वा०] । अप्सरः ।  
प्रप्सरः । “पुत्रादिनी त्वमसि पापे इत्याक्रोशे नेष्यते” [वा०] । “द्विमान्नात्परत्यापि” [या०] । पात्रम् । सूत्रम् ।

भलां जश् भशि ॥५१४१२८॥ भला वर्णानां जशादेशो भवति भशि परतः । लब्धा । दोग्धा ।  
अरुणा । अपदान्ता । आरम्भः । भशीति किम् ? दम्भे ।

चे चर्त्त्वम् ॥५१४१२९॥ चे वर्तमानानां भला चर्त्वं भवति जश्च च । चिखनिषति । चिच्छेद ।  
टिक्वाणिषति । तिष्ठाति । पशुल्यते । जिघत्सति । बुभुत्सते । डुटौके । दधौ । प्रकृतिचरा प्रकृतिचरः  
प्रकृतिचरा प्रकृतिचरो भवन्ति । अभिप्रेक्षा इत्यर्थः । चिचीपति । टिटीके । ततार । पपौ । जिजनिपते ।  
तुपौ । टिटेय । टटो । सर्वत्र “स्थानेऽन्तरतमः” [१११४७] इति व्यवस्था ।

खरि ॥५१४१३०॥ भला खरि परत चर्त्त्वति । भेत्ता । भेतुम् । विभित्सति ।

विरामे वा ॥५१४१३१॥ विरामे वर्तमानानां इला वा चर्त्वं भवति । वाक् । वाग् । मबुलिट् ।



तोर्लि ॥५१४१३४॥ तवर्गस्य लकारे परतः परस्त्वत्व भवति । तडिल्लोला । भवोल्लोकेशः । नकारस्य नासिक्थो लकारः । वेति नाविकृतम् ।

स्यास्तम्भोः पूर्वस्योदः ॥५१४१३५॥ स्या स्तम्भ इत्येतयोदः परयोः पूर्वस्य स्व भवति । उत्थाता उत्थातुम् । उत्थातव्यम् । उत्ताम्भिता । उत्ताम्भितुम् । उत्ताम्भितव्यम् । उद इति कानिदंशात् परत्यादेः ऽथोयस्य सकारस्य तकारः । स्यास्तम्भोरिति किम् ? उत्स्विन्नः । पूर्वस्येति किम् ? परस्वनिवृत्त्यर्थम् । उद इति किम् ? सस्थितिः ! उद इति योगविभागः कल्पनीयः । तेन स्तम्भेऽपि रोमे पूर्वस्वम् । उत्स्विन्नो नाम रोगः ।

भय्यो हः ॥५१४१३६॥ भयः पदान्तादुत्तरस्य हकारस्य पूर्वस्व भवति । सुवाग्वसति । मधुलिङ्गगति । धर्मविद्धितम् । ककुब्भसति । महाप्राणस्योष्मणः स्थाने तादृश एव पूर्वचतुर्थो भवति । “चतुष्टय समन्तभद्रस्य” [५१४१४०] इति वक्ष्यति तेन विकल्पः । सुवाग् हसति । मधुलिङ् हसति । धर्मविद् हितम् । ककुब् हसति । भय्य इति किम् । प्राङ् हसति ।

शश्छोऽटि ॥५१४१३७॥ शयः पदान्तादुत्तरस्य शकारस्य आटि परतश्छकारो भवति । वाक्छोभो । धर्मविच्छेते । ककुप्छोभते । पक्षे न भवति । वाक् शोभते । धर्मवित् शेते । ककुप्शोभते । केचित् शश्छोऽमीति पठन्ति । तेन तच्छ्लोकः । तच्छ्वसनमिति ।

हलो यमां यमि खम् ॥५१४१३८॥ हल उत्तरेपा यमा यमि परतः ख भवति । शय्या इत्या “समज” [२१३८१] आदिमूत्रेण क्यपि अयडि च कृते द्वौ यकारौ । क्रमजन्तृतीयः । मय्यमत्यानेन लम । पक्षे न भवति । शय्या । आदित्य इत्यत्र अपत्यार्थे द्वौ यकारौ । “सास्य देवता” [३१२११६] उति तृतीयः । क्रमजश्चतुर्थः । मय्यमस्य मय्यमयोर्वा खम् । हल इति किम् ? अन्नम् । यमामिति किम् ? अर्थ्यं मातु । अर्थमर्हति । अर्थार्थे वा । “पाद्यार्थ्ये” [४१२१३२] इति निपातनम् । यमीति किम् ? शाङ्गम् । ययामख्यविज्ञानादिह न भवति । पित्र्यम् ।

भरो भरि स्वे ॥५१४१३९॥ हल उत्तरस्य भरो भरि स्वे परतः ख भवति । प्रत्तमयत्तमिणा “मे स्तोऽचः” [५१२१४६] इत्याकारस्य तकारे कृते त्रयस्तकाराः । क्रमजश्चतुर्थः । मय्यमस्य मय्यमयोर्वा खम् । भरो भरि स्वे इत्यत्र मरुच्छब्दस्य गित्योपसृख्यानमामर्थ्यार्थ्यजन्तादपि तकारे कृते च या स्त काराः । क्रमजः पञ्चमः । मय्यमस्य मय्यमयोर्मय्यमाना वा खम् । भर इति किम् ? शाङ्गम् । भरीति किम् ? प्राप्नोति । स्वे इति किम् ? तर्णा । यायासख्यान्मिदमिति चेत् । उज्झिता । शिण्दि । पिण्दि इत्यत्र चतुर्थ्यादि स्वे तृतीयस्य ख यथा स्यात् ।

चतुष्टयं समन्तभद्रस्य ॥५१४१४०॥ शयो ह इत्यादि चतुष्टय समन्तभद्राचार्यस्य मतेन भार्गवाचार्येण नास्ति मते । तथा चैवोदाहृतम् ।

अथभवनन्तिविचिताया जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ पञ्चमस्याचार्यस्य चतुर्थ

पादः समानः । समानश्च पञ्चमोऽप्यय ।

## अथ प्रशस्तिः

जिनमत जयताज्जितदुर्मतं सकलसत्त्वहितं सुमतिप्रदम् ।  
नयचयाङ्कितमिष्टविशिष्टवाग्भवभयातपचारणवारिदम् ॥१॥  
पाणिनिना यदयुक्तं लपितं कृत्वाष्टक मोहात् ।  
तदिह निरस्तं निखिलं श्रीगुरुभिः पूज्यपादाख्यैः ॥२॥  
जगन्नाथनाम्ना द्वितीयाभिधानात्सतां वादिराजार्थमोपाख्यसाधोः ।  
जनन्याः सुतेनापि वीराभिधायाः दयादानपूजादिसंशुद्धमूर्तेः ॥३॥  
जैनेन्द्रशब्दशास्त्रं स्वोपक्रमतो नरेन्द्रकीर्तिसुगुरोः ।  
अन्ते लिखितं पठित पाठितमपि भारतीभवत्या ॥४॥  
जीवोऽस्त्वगुरुत्वमेवमुशनाः काव्याह्वय भास्करो  
मित्रत्वं च विचक्षणत्वमगमन्निन्दुः सुधाधामताम् ।  
गीर्वाणत्वमनन्ततां सुरगणाः शेषो वृषा जिष्णुतां  
जैनेन्द्रं समधीत्य शब्दविलयं श्रीपूज्यपादोदितम् ॥५॥  
पूज्यपादापराख्याय नमः श्रीदेवनन्दिने ।  
व्यधायि पञ्चकं येन सूत्रं जैनेन्द्रमूलकम् ॥६॥  
महावृत्तिकृते तस्मै नमोऽस्त्वभयनन्दिने ।  
यद्वाक्यादभया धीराः शब्दविद्यासु सन्ततम् ॥७॥  
खटा दृष्ट्वा सुसृष्टिं स्तुतिमकृत मुखैश्चाथ जैनेन्द्रशब्दी  
जिह्वाभूयस्त्वभावादुरगपतिरतोऽध्येति नात्येति पारम् ।  
रीटां दुःखावलीढां निजमदवशगाः प्राप्पुरिन्द्रादयोऽपि  
कृत्वेमां देवनन्दी विविधसुरगणैः पूज्यपादाह्वयोऽभूत् ॥८॥  
प्रमाणमकलङ्गीयं पूज्यपादीयलक्षणम् ।  
धानक्षयं च सत्काव्यं रत्नत्रयमुदाहृतम् ॥९॥

इति प्रशस्तिः सम्पूर्णा शुभम्भवतु

# जैनेन्द्रसूत्राणामकारादिक्रमः

अ	अतिरुमे चातिः	१।४।८	अनवकलृप्यमर्पे	२।३।१२१	
अकथितञ्च	१।२।१२१	अतेः	२।२।१२३	अनश्च वात्	३।१।१०
अकर्तरि	२।३।१८	अतोऽनादेर्घेः	५।१।८३	अनाप्यकः	५।१।१७०
अकर्मको धिः	१।२।२	अतोऽप्राच्यभर्गादेः	३।२।१५८	अनाश्वाननृचानौ	२।२।६०
अकामेऽमूर्धमस्तकात्	४।३।१३१	अतोऽम्	५।१।२१	अनितावनुकरणम्	१।२।१३३
अक्षाद्यैवदुः	१।१।६८	अतो येष्	५।१।१३६	अनीचः	३।१।१७
अगे	१।४।१०६, ४।४।४८	अतो ह्रस्म्येऽनादेशादेः	४।४।११०	अनुरुपायाम्	४।१।१३२
अग्नौ चेः	२।२।७८	अतो हेः	४।४।६६	अनुक्तपु स्कादाच्च	५।२।५३
अङि	४।४।३४	अतोऽहः	५।४।६१	अनुक्ते	१।४।१
अङ्गल्यादेष्टुण्	४।१।१६२	अत्कायाः	५।१।२७	अनुग्वलागामी	३।४।१३८
अचः	४।२।२, ४।४।१२५	अत्यात्	५।१।४	अनुगत्तेतोऽपसूदीप-	२।२।१३१
अचश्च	१।१।१२	अत्वसोऽधोः	४।४।१२	अनुगत्तोपदेशननति	४।४।३७
अचि	४।३।१८२	अदेहेप्	१।१।१६	अनुपदेशेऽदः	१।२।१३६
अचित्तहस्तिवेनोष्ठक्	३।२।३६	अदेशकालाट्टण्	३।३।७१	अनुशक्तिकदेः	५।२।२५
अचीको यण्	४।३।६५	अदोऽट्	५।२।६५	अनृतोऽनन्तस्यायेकै-	५।४।६४
अचो रहाद् द्वे	५।४।१२६	अदोऽनन्ते	२।२।६०	अनोऽखमम्बस्कात्	४।४।१२२
अजाद्यत	१।३।९९	अद् बाह्यादेरिज्	३।१।८५	अनोर्धेः	१।२।४५
अजाद्यतष्टाप्	३।१।४	अद्रौ त्रिककुद्	४।२।१४७	अन्तरादेष्टुज्	३।३।३५
अजाविभ्या थः	३।४।६	अर्धकरणे चायथाच्च	२।४।५६	अन्तरान्तरेण योगे	१।४।३
अजीवे	४।२।१००	अधिकृत्य कृते ग्रन्थे	३।३।६१	अन्तस्य	५।४।१५५
अजीवेऽङ्गः	४।२।७२	अविपरी अनर्थकौ	१।४।१०	अन्तेऽलः	१।१।४९
अञ्चे. पूजायाम्	५।१।१०१	अवीत्याऽदृगख्यानाम्	१।४।८१	अन्त्यादचष्टिः	१।१।६५
अञ्चेरुप्	४।१।६६	अवीष्टे	२।३।१४२	अन्त्येनेतादिः	१।१।७३
अटश्च	४।३।७८	अधुना	४।१।८३	अन्वृधमो.	४।३।७५
अटकुवाट्त्ववायेऽपि	५।४।८६	अधु मृत्	१।१।५	अन्ययेवकथमि-थ	२।४।१०
अटक्. वोपादे	४।१।१३६	अ पापानुवाचोर्बोप्	४।१।६४	अन्यपरार्थेऽनेक वम	४।३।८६
अण्	४।१।३०	अप्याग्निग्देशकालात्	३।३।८८	अन्यस्यापि	४।३।८७
अणि	३।२।१२२	अ चटुक्चुगन्	१।४।८०	अन्ये-नोऽपि	२।२।५७
अणुस्तिन्त्वामनो	१।१।८२	अन.	४।२।११०, ४।४।५८	अन्व-पानुलो-ने	२।४।१०
अणो वे. प्राणिवृत्तान्	१।२।८५	अनद् गौ	५।१।७०	अपयम	१।४।१०७
अण् कुडिलिवाय	३।३।१११	अनञि	५।४।१०७	अपागनेऽनीयनो	४।२।५०
अण् म	५।२।१०७	अनन्तदे कट्	२।२।६८	अने इवेऽनन्तो	२।२।६८
अण् न	४।४।४०	अनन्तदे तु	२।३।१६	अ च व	२।२।१०७
अण् न	४।३।८५	अनन्तदे	५।३।१०३	अने नान्ता न नान्ता	३।२।१०

अप् चोशिष्यायुष्यमद्र-	१।४।७७	असख्य हिः	१।१।७४	आतो धोः	४।४।१२७
अप् तदर्थाथप्रतिरित-	१।३।३१	असिद्धवदत्राभात्	४।४।२१	आधर्वणः	३।३।१०१
अप्राणिजतेः	१।४।८२	असौ	५।१।१६५	आदितः	५।१।१२२
अभिजनः	३।३।६४	अस्ताति	४।१।१०४	आटेप्	४।३।७५
अभिजिद्विदभृतोऽणो यज्	४।२।७	अस्तिब्रूजोर्भूवची	१।४।१२४	आदेरेकाचो द्वे	४।३।१
अभिनिविशश्च	१।२।११९	अस्त्यात्	२।३।८४	आदेगेप्	१।१।५
अभिनिष्कामति द्वारम्	३।३।६०	अस्य च्वौ	५।२।१४१	आग्रतः	५।२।१७०
अमानिनीत्याज्ञात्	४।३।१५२	अस्विदिस्विदिसहेः	५।४।४६	आधमर्ण्ये चैनः	१।४।७४
अमावस्या वा	२।१।१०३	अहः	१।४।१०५	आधारोऽधिकरणः	१।२।११६
अमेकाचोऽम्बत्	४।३।१७८	अहस्सर्वेक देशसख्यात-	४।२।८६	आनङ् द्वन्द्वे	४।३।१३८
अम्बाम्गोभूमिसव्याप-	५।४।७१	अहन्	५।३।७७	आनि	५।४।१०३
अयप्रभिशोक्तो लृट्	२।२।६३	आ		आने मुक्	५।१।१४१
अयामन्तात्वान्येत्तुप्	४।४।५५	आकर्षदेः कः	३।३।१७	आन्महतो जातीये च	४।३।१५८
अर्पनाद् घुन्	३।३।७३	आकालोऽच् प्रदीपः	१।१।११	आपृजपृधामीत्	५।२।१५७
अर्तिनीवलीरीकन्यूदीक्षमा-	५।२।४१	आक्रोशे नञ्यनिः	२।३।६३	आप्रपदम्	३।४।१३३
अर्ते.	५।१।११०	आक्रोशेऽवन्योर्ग्रहः	२।३।४१	आत्राधे च	५।३।८
अर्थावस्ये च	१।४।६१	आक्तेः शीलधर्मसाधुत्वे	२।२।११२	आमः	१।४।१४९
अर्धाच्च	४।२।१०३	आटः	४।३।२४	आमीयुवोः	१।२।९४
अर्शादेरः	४।१।५०	आटः स्पद्धं	१।२।२६	आमेतः	२।४।७६
अर्.	२।२।१७	आडि चापः	५।२।१००	आम्यात् सर्वनाम्नः सुट्	५।१।३४
अलङ्कृज्जिनिराकृज्	२।२।११४	आडि यमियसिक्रीडि-	२।२।१२५	आम्बत् तत्कृजः	१।२।५६
अल्पाख्यायाम्	४।२।१३७	आडि शीले	२।२।१६	आयनेयीनीयियः फटम्ब-	५।१।२
अल्पान्तरम्	१।३।१००	आडो दोऽव्यसने	१।२।१४	आयस्थानेभ्यष्टण्	३।३।४९
अल्पे	४।१।१४१	आडो नाऽस्तियाम्	५।२।११३	आयामिना	१।३।१३
अप्रक्रयः	३।३।१७०	आडो यमहनः	१।२।२३	आर्हाडण्	३।४।१७
अप्रशक्तो.	५।२।१६	आडो यि	५।१।४४	आलम्बनाविदूरेऽवात्	५।४।४६
अप्रशक्त्यन्तानु-	३।४।१३६	आडो माडोः	४।३।६२	आवट्यात्	३।१।५
अप्रि	१।३।२६	आड्प्राज्ञौ	२।३।६०	आवश्यकधमर्ण्ययोः	२।३।१४६
अप्रशक्तानुवशादनेवा-	४।२।६१	आ च त्वात्	३।४।१११	आवि	५।१।१४७
अप्र	४।१।७२	आ च हौ	४।४।१०७	आशितम्भवः	२।२।४३
अप्र	१।४।१००	आ चार्थवेदसत्यानाम्	२।१।२३	आशिपि	२।१।१२३
अप्र	५।२।१७२	आच्छादने वृज.	२।३।५०	आशिपि नाथः	१।४।६२
अप्र	३।३।१७	आच्छादिनि	४।३।१२४	आशिपि लिङ्लोडौ	२।४।४६
अप्र	३।३।६६	आतः	२।४।६०	आशिपि हनः	२।२।४७
अप्र	१।३।१०३	आतः क	२।२।३	आश्वयुज्या वुज्	३।३।२०
अप्र	३।३।६१	आतो गौ	२।१।१०६, २।३।८८	आपादाच्च	३।३।८
अप्र	४।२।१६	आतो एल त्रौ.	५।२।३७	आ सर्वनाम्नः	४।३।१६७
अप्र	५।३।१८			आसिद्धौ देश्यदेशीय	४।१।१२६

आहस्थः	५।३।५२	इषा च प्राप्तापन्ने	१।३।२०	उगिदचा धेऽधोः	५।१।४९
आहि च दूरे	४।१।१०१	इपि	२।४।३८ ; ५।१।१४६	उगिद्वन्नान्दी	३।१।६
इ		इप् तच्छ्रितातीतपतित-	१।३।२१	उटः	५।१।७५
इकः प्रोऽड्याः	४।३।१७२	इन्नेन	१।४।४०	उडि	५।३।८७
इकस्तौ	१।१।१७	इवे प्रतिकृतौ कः	४।१।१५०	उडोऽतः	५।२।४
इको दी वेंरुडः	५।३।८५	इष्टादेः	४।१।२२	उच्चनीचावुदात्तानुदात्तौ	१।१।१३
इको वहेऽपीलोः	४।३।२२३	इमुसुक्तः कः	५।२।५२	उच्चरोऽधेः	१।२।४६
इगुडः शलोऽनियो-	२।१।४०	इसुसोः सामर्थ्यं	५।४।३२	उज्जुहोत्यादिभ्यः	१।४।१४५
इयणो जिः	१।१।४५	ई		उज्	१।१।२५
इडः	१।४।१२० ; २।३।२०	ई उत्	४।३।१०७	उणादयोऽन्यत्राभ्याम्	२।४।६२
इडान दः	१।२।१५१	ई प्राध्मोः	५।२।१४०	उणादयो बहुलम्	२।२।१६७
इच्छा	२।३।८३	ईच्च गणः	५।२।१६४	उतस्त्यादस्कात्	४।४।९७
इच्छाथे लिङ् लोटौ	२।३।१३३	ईटीटः	४।४।२०	उताप्योः ण्योक्तौ लिट्	२।३।१२८
इच्छोद्बोधेऽकच्चिति	२।३।१२६	ईडः स्वै	५।१।१३६	उत्करादेश्छः	३।२।७०
इजः	३।२।८८	ईतः पुङ् नित्यम्	४।३।४९	उत्तरपथेनाहत च	३।४।७३
इजो ब्रह्मचः प्राच्यभरतेपु	१।४।१३७	ईदासः	४।४।१२६	उत्तरपदं यु	१।३।१०५
इटि चात्वम्	४।४।६३	ईदुदः	४।४।१२३	उत्तराच्च	४।१।१०२
इट् ते	५।१।६५	ईदूदेद् द्विदिः	१।१।२०	उत्तादेरज्	३।१।७१
इडाविजः	१।१।७६	ईये	४।४।६४	उदः	१।२।६१
इणः पः	५।४।२७	ईपन्नः	४।१।७६	उद ईहे	१।२।१९
इणः पीव्वलुङ्ग्लिटा-	५।४।६०	ईपात्र वाक्	२।१।६६	उदकस्योदन्योरच खौ	४।३।१६८
इण्को सः पः	५।४।३७	ईपि चोपपोडन्धकर्मः	२।४।३५	उदन्वानुदधौ	५।३।३४
इतोऽनिजः	३।१।१११	ईपोऽद्वलः	४।३।१२७	उदिकूले रुजिवहो.	२।२।३४
इतो मनुष्यजातेः	३।१।५५	ईप्केन्यव्यवाये पूर्वपरयोः	१।१।६०	उदि ग्रहः	२।३।३४
इटम इश्	४।१।६६	ईप्लौण्डैः	१।३।१५	उदि पुट्टयोतिश्रिनः	२।३।४५
इटमदमोः सकोः	५।१।६	ईवधिकरणे च	१।४।४४	उन्योग्रः	२।३।२७
इटमो मः	५।१।१६६	ईवविके	१।४।१७	उपजाते	३।३।८६
इटमो वो घः	३।४।१६१	ईव्विशोपणे वे	१।३।१०१	उपजोपक्रम तदायुक्तौ	१।४।६१
इटमो हः	४।१।७७	ईव्वमोर्विभाषा	१।४।१५३	उपत्यमावित्यके	३।४।५५
इटमो हि	४।१।८२	ईव्वमश्च	४।२।१५६	उपदशो भाषाम्	२।४।६३
इदिदोर्नुम्	५।१।३७	ईशः	५।१।१३७	उपमानात्	४।२।६६, ४।२।३८
इदुदुडोऽन्यु मुहुसः	५।४।२८	ईश्वरः	३।४।४२	उपार्थे यथय. सामीप्ये	५।३।५
इदुदुन्याम्	५।२।१११	ईश्वरेऽविना	१।४।१८	उपार्थुं परिग्रहान्तरात्	४।१।६७
इदुगोप्ता	१।१।१०	ईपदर्थे	४।३।२११	उपावेऽन्वात्रे	१।२।१२०
इदुदगि	४।४।१०४	उ		उपात्तानुनीविश्रान्तौ	२।३।३६
इन्	४।१।१६	उ	१।१।८६	उपात्	१।२।८१
इन् विषाम्	४।२।१५२	उपादेयं	३।४।२	उपाप्रतिपत्तिरुत	४।३।११०
इन्दुन्युपर्वणम्	४।४।६	उपित्यञ्च	४।३।१५७	उपाप्रत्ययान्तम्	५।४।५५

उपान्यासुड्	१११६६	ऋतः	५१११०६; ५१२१८६	एचैप्	४१३७६
उपागन्तव्यकरणे	११२१२०	ऋतः स्फादेरेप्	५१२१२२	एजेः सशः	२१२३२
उपेन	११४११६	ऋत इदोः	५११७४	एत ऐ	२१४१८६
उपचोलादेः	११११५६	ऋत उत्	४१३१९८	एतदः	४११७१
उत्ते	११२११६	ऋतश्च केः	५१३१६२	एति हः	५१२१५४
उप्योक्तात्	११२१५४	ऋतष्ठञ्	११३१५२	एतेतौ थोः	४११७०
उप्यले	११३१२१	ऋतो डिधे	५१२१०५	एत्येधत्पूड् सु	४१३७७
उत्तिहः	५११११६	ऋतोरेण्	११४१९९	एघा	४१११०६
उत्तुलुम्	११११६२	ऋतो वित्रायोनि-	४१२१३६	एप्यतोऽपदे	४१३८४
उभात्वम्	११४१६५	ऋत्यकः	४१३१०५	एभ्योऽहोऽहः	४१२१६०
उरः	५१२१६६	ऋत्विग्दधृक्स्तदिगुणि	२१२१५७	एरुः	२१४७३
उरःप्रभृतिभ्यः कप्	४१२१५१	ऋदुडोऽक्लृपिचृतेः	२१११६२	एरिवाक्चादुडो-	४१४७८
उर्ध्वत्	५१२१२०	ऋदुशनस्पृक्दशोऽनेह-	५११७१	एधे	५११६३
उरतोऽण् च	११२१००	ऋन्मत्प्यादेरेण्	११३१६९	एमे	२१४८१
उरनोऽने	४१२१९५	ऋन्मोः	४१२१५३	एवाकः	४१११२६
उपासोपसः	४१३१४४	ऋषौ मित्रे	४१३१३१	ऐ	
उष्टाद् घञ्	११३११६	ए		ऐपीत्	४१३१४१
उत्तभेदे	११२१५	एकः	११३७६	ओ	
उत्ति	४१३८३	एकः किः	११४१५६	ओः पुयण्ज्ये	५१२१७८
उत्ति मे	११४१५३	एकगोपूर्वाद्धञ् नित्यम्	४११४४	ओजः सहोम्भसा वर्तते	११३१५०
उत्तिलौ च द्वे	४११३२	एकदिक्	११३८१	ओत्	१११२३
उत्तमुप्ये उपमेवे	४१११५२	एकद्विचत्वरचैकशः	११२१५५	ओतः श्ये	५१२७१
ऊ		एकविभक्ति	११३९४	ओदपूर्वस्य योऽशि	५१४४
ऊधत्	११११३	एकस्य ते मे	५१३११८	ओदितः	५१३६३
ऊधयोऽनञ्	४१२१३२	एकस्य सकृत्	४१२१२६	ओमभ्यादाने	५१३१५५
ऊन् ( ऊं )	१११२६	एकाचोऽनुदात्तात्	५११११५	ओमाडोः	४१३८२
ऊरत्	१११५६	एकाचो वशो भष् सपः	५१३१५४	ओरावश्यके	२१११०२
ऊरगोरिदे	१११५८	एकाच्च	४१११४९	ओर्दोशे ठञ्	११२१६५
ऊ रोऽनदिधे.	४१११५३	एकान् यौ णः	५१४१६६	ओपधेरजातौ	४१२४३
ऊर्ध्वोऽनुभन्तश्च एत्	४११६२	एकादात्रिंशत्सहाये	४११११३	ओसि	५१२१६६
ऊर्ध्वे इतिपुत्रे	११४१३१	एकान्नः	४१३१८४	औ	
औ		एको वञ्	५१३७	औसम्	४१४१५६
और्ध्वोऽनुभन्तश्च एत्	४१२१३०	एटि पररूपम्	४१३८१	औड त्रापः	५१११५५
और्ध्वोऽनुभन्तश्च एत्	११३७	एहोऽति पदान्तात्	४१३१६६	औत.	४१४७६
और्ध्वोऽनुभन्तश्च एत्	११३६६	एह् प्रादेशे	१११७०	औदच्च सोः	५१२११२
और्ध्वोऽनुभन्तश्च एत्	११३७	एहोऽदे पूर्वत्वात्परस्त्वेषा	१११०४	क	
और्ध्वोऽनुभन्तश्च एत्	५१२१३३	एहोऽज्वापाः	४१३६६	कशम्याम्	४११६०
और्ध्वोऽनुभन्तश्च एत्	११३७	एहोऽशित्वा.	४१३८	कसाहन्	११४२२

कः खौ	३।३।१११	कर्तुः क्यङ् सखं विभाषा	२।१।६	काण्डाण्डादीरः	४।१।३७
ककुदस्यावस्थाया खम्	४।२।१४६	कर्तृकरणे भा	१।४।२६	काण्डात् क्षेत्रे	३।१।२८
कचि स्वापेः	४।३।१४	कर्तृकर्मणोः कृति	१।४।६८	का पथ्यन्त्रयोः	४।३।२१०
कच्छाग्निवक्त्रवर्तयोः	३।२।१०४	कर्तृकर्मणोर्भूकृज्	२।३।१०५	का भोभिः	१।३।३२
कच्छादः	३।२।१११	कर्तृस्थे कर्मण्यमूर्तो	१।२।३२	काम्यः	२।१।७
कठिनान्तप्रस्तारस्थानेषु	३।३।१८६	कर्त्राप्यम्	१।२।१२०	कायाः स्तोकादेः	४।३।१२१
कडङ्गरदधिणास्थाली-	३।४।६६	कर्त्रोर्जीवपुरुषयोर्न	२।४।३०	कायास्तम्	४।१।७३
कण्ठेनःश्रद्धाघाते	१।२।१३६	कर्मठः	३।४।१५६	कारके	१।२।१०६
कण्ड्वादेर्यक्	२।१।२५	कर्मणि च	१।३।७६	कारे प्रायः	४।३।१२८
कतरकतमौ समर्थौ	१।३।५८	कर्मणि चारण्	२।३।१०	कार्मः शीले	४।४।१६३
कतिः सख्या	१।१।३३	कर्मणि चेवे	२।४।३२	कार्यार्थोऽप्रयोगीत	१।२।३
कत्को पेडचि	४।३।२०७	कर्मणि भृतौ	२।२।२७	कार्पापणसहस्रमुवर्णशत-	३।४।२७
कन्यादेर्दकज्	३।२।७५	कर्मणि यत्पशार्त्कर्त्रङ्	२।३।६८	कार्पापणाद् वा प्रतिश्च	३।४।२३
कथादेष्टृण्	३।३।२०६	कर्मणि हनः	२।२।७४	कालप्रयोजनाद् रोगस्य	४।१।१६
कद्र्वो रोऽस्त्वम्भुवः	४।४।१३४	कर्मणीन् विप्रियः	२।२।८०	कालविभागेऽनहोगत्रा-	२।३।११३
कन्यापलदनगरग्राम-	३।२।११८	कर्मणीप्	१।४।२	कालसमयवेलासु तुम्	२।३।१४३
कन्यायाः	३।२।६७	कर्मणोपेयः सम्प्रदानम्	१।२।१११	कालाः	१।३।२५
कन्यायाः कनीन् च	३।१।१०५	कर्मण्यन्याख्यायाम्	२।२।७९	कालाच्च	४।२।३९
क क् पौ च	५।४।२२	कर्मण्यण्	२।२।१	कालाद्वज्	३।२।१३१
कपिजातेर्दज्	३।४।११७	कर्मण्यधिकरणे	२।३।७४	कालास्ताधुपुण्यत्पच्य	३।३।१८
कपिबोधादाङ्गिरसे	३।१।६६	कर्मण्यङोपे दृशिचिदः	२।४।१५	कालात्रः	३।१।१००
कम्प्योर्णिडीयङ्	२।१।२८	कर्मण्याक्रोशे कृजः	२।४।११	कालाध्वन्यविच्छेदे	१।४।४
करणाधिकरणयोः	२।३।६६	कर्मण्यात्मनि	२।१।५३	काला मैयैः	१।३।६७
करणे	२।४।२४	कर्मवेपात्रः	३।४।९४	काले	४।१।६३
करणे यजः	२।२।७३	कर्मव्यतिहारे जः	२।३।७६	कालेऽधिकरणे मुनो	१।१।६७
कर्कलोहिताद्वीकण्	४।१।१६४	कर्माव्ययने वृत्तम्	३।३।१८१	कालेभ्यः	३।१।७१
कर्णललाटभृणयोः कः	३।३।४१	कर्मेवाविशीङ्स्वामः	१।२।११७	कालेभ्यो भववत्	३।२।२९
कर्णेऽकर्तरि	१।४।३३	कलापिनोऽण्	३।३।७६	काश्यादेष्टृनिर्दो	३।२।६२
कर्णे लक्षणान्याविष्टा-	४।३।२१८	कलाप्यश्चयववुमाद्	३।३।२३	काम्रूगोणीभ्या तरङ्	४।१।१५
कर्तरि	१।३।७६	कलाप्यत्रादीनामिनङ्	३।१।११५	कान्यनेकाच्यालिलव्याम-	७।१।३१
कर्तरि कृज्	२।४।५२	कत्र उगणे	४।३।२१३	किमिलाम्पय लृङ्	२।३।१२२
कर्तरि कृति	५।१।११३	कट्राय	२।१।१२	किमृमर्दनाम्नो	१।१।६८
कर्तरि नेन	१।३।७७	कट्काटौ	५।१।३६	किमृमो नि शोम्णे	४।१।११७
कर्तरि चपिदेष्टृयोः	२।२।१६४	कन्वे	३।०।००	किमृमृमृमृमृ	३।०।००
कर्तरि चारम्भे च	२।१।५६	कान्यपारम्भौ	३।३।१२५	किमृमृमृमृमृ	२।३।१००
कर्तरि जे	१।०।८	काऽपदाने	१।१।३७	किमृमृमृमृमृ	२।३।१००
कर्तरि ज्	२।१।६४	काऽपदाने	३।१।१४५	किमृमृमृमृमृ	५।०।१००
कर्तरि ज्	२।०।६७	काऽपदाने	१।१।००	किमृमृमृमृमृ	१।१।१४

निडाशिपि	२।४।८५	कुशलायुक्तेन चासेवायाम् १।४।४८	कौल्यानुरिमारुडकात् ३।१।२२
किमः	३।४।१६२	कुशाग्रान्छुः ४।१।१५६	कौ वेतौ १।१।२४
किम क.	५।१।१६२	कुशिरज्जेः श्यो मे वा २।१।६०	कौशल्येभ्यः ३।१।१४२
किमिदं न्या यम्	४।१।१६०	कुमीददशैकादशाद्भौ ३।३।१५४	कौशेय्या दण् ३।३।११५
किमिदमो कोन्	४।३।१९६	कुस्तुम्भरुगोपदा ४।३।११६	किडति १।१।१६
किमेमिदं भिन्नादामदन्ते	४।२।२०	कुहोरुचुः ५।२।१६४	किडत्यनि वा ५।२।२
किमोऽः	४।१।७८	कुक्कमिसकुम्भमुशा ५।४।३४	कङ्कान्वतु तः १।१।२८
किरतेर्नवे	४।३।११३	कुजः करणे खुट् २।२।५५	कल्याधिकरणे १।४।७०
किरतेर्नवे जीविनाकुला-	१।२।३३	कुजः श च २।३।८२	क्यादनत्यन्ते ४।२।१२
किश्च पञ्चम	५।१।१३४	कुजो द्वितीयतृतीयशम्- ४।२।६२	क्यादन्ते ३।१।४४
किरादेष्टु	३।३।१७२	कुजो मिथ्यायोगेऽभ्यासे १।२।६७	किन्त्वत्तौ खौ २।३।१५०
कुक्कौ तगे	५।१।१६३	कुजो ये च ४।४।६६	क्तेनाहोरात्रभेदा- १।३।३६
कुदागन्वावात्	३।४।२५०	कुजो हेतुशीलानुलोम्ये २।२।२५	क्त्वा १।३।८५
कुदीक्षामीगुरवान्नो रः	४।१।१४३	कुज त्नादेरुः २।१।७४	क्त्वि स्कन्दत्यदोः ४।४।३०
कुरदयोगेऽखलभाजनाग	३।१।३७	कृतलब्धक्रीतसम्भूताः ३।३।१४	क्यङ्मानिनोः ४।३।१४८
कुरदपा यतवाच	२।१।१०५	कृति १।३।७१	क्यचि ५।२।१४२
कुत्वा रूपः	४।१।१४४	कृते ग्रन्थे ३।३।८५	क्यच्यनाद्धृत्यापत्य ४।४।१४१
कुत्वाऽन्तयो.	४।१।१३१	कृत्यचः ५।४।१०८	क्यषो वा १।२।८६
कुत्वा कुत्वा	१।३।४८	कुदमिद् २।१।८०	क्यकथादिसूत्रान्तादण् ३।२।५२
कुत्वाऽन्तियुत्वा	३।१।१५७	कुदधृत्ता १।१।६	क्रमः ५।१।११२
कुप्पो	५।४।२१	कुम्बलियोगेऽतत्तत्त्वे- ४।२।५५	क्रमः क्त्वि ४।४।१६
कुप्पोत्तये	५।४।२६	कुपो रो लेऽङ्कपादेः ५।३।३६	क्रमादेर्बुन् ३।२।५३
कुमति	५।४।६०	कुपिभृजा वशोभद्रस्य २।१।९९	क्रमिद्रमो यङः ३।२।१३४
कुमत्तयम्	४।२।१०७	कुसुम्भुत्तद्रुत्तुधुवो ५।१।११६	क्रमो मे ५।२।७४
कुम्भा 'ममाविमि	४।३।६५	कु धान्ये २।३।२८	क्रयः स्वार्थे ४।३।७१
कुम्भागीरिषोर्नि	२।२।४६	कुम्भमिदमुपलपाना ५।२।७	क्रये २।२।६१
कुम्भादेवर्गाद्विहत्	३।२।६७	कुण्ठ ५।२।१२५	क्रियामध्ये केपौ १।४।६
कुम्भाति	४।२।१४१	कुण्ठाग्रज्ज ३।२।३५	क्रियायोगे गि १।२।१३०
कुम्भाग्ररे-तो ज	३।२।१०८	कुनौ वि (चि) क् ३।४।१५३	क्रियासमभिवारे लोड् तस्य २।४।२
कुम्भा	३।२।३६	कुण्डः ४।३।५७	क्रीडजैगा ४।३।४१
कुम्भा 'कृत्	३।१।१०३	कुण्डानो वा ४।१।३५	क्रीडाजीविक्योनित्यम् १।३।८०
कुम्भा	३।२।१६	कुण्डाग्रान्ता मन्त्रो वा ३।२।४०	क्रीडोऽनुपर्याडः १।२।१५
कुम्भा 'कोऽन्त	३।३।२६	कुडोऽण् ३।२।११०	क्रीतवत्परिमाणात् ३।३।११४
कुम्भा 'कु	३।२।२७	कुण्डनृपाभमौ ५।२।१०१	क्रीतात्करणदे ३।१।४३
कुम्भा 'कु	३।३।४४	कुण्डिगम्भदे २।२।३५	नधमण्डार्थात् २।२।१३३
कुम्भा 'कु	३।३।४४	कु ५।२।१०१	क्रीडपादे. ३।१।६५
कुम्भा 'कु	३।३।४४	कुण्डिगम्भान्तो १।४।१४६	कुपादे. श्ना २।१।७६
कुम्भा 'कु	३।३।४४	कुण्डिगम्भान्तो ३।३।१००	क्लिशः १।१।८१



क्लिशस्तक्त्वो.	५।१।६८	खावन्यपदार्थं	१।३।१८	गाण्ड्यजगारखौ	४।१।३६
क्वणो वीणाया च	२।३।६८	खावटन.	४।३।२२७	गाथिविदथिकेशिपणि	४।४।२५७
क्वित्यस्य कुः	५।२।७५	खित्यभेः	४।३।१७६	गावटः	२।३।५३
क्विवप्	२।२।६३	खेऽवनः	४।४।१६०	गिप्रादुर्भ्या यऽच्यऽन्ते	५।६।६८
क्षत्राद् घ.	३।१।१२५	खेयराजस्यर्म्यमृपोय	२।१।६४	गिग्निदीपोर्णमास्याग्रहा-४।२।११२	
क्षिज्योः	४।३।६८	खोऽलकर्मपुरुषात्	४।२।१५	गिरिवने किशुलुस्कोटग	४।३।२२०
क्षिप्रवचने लृट्	२।३।१०६	खौ	१।३।३८, २।४।२६,	गिगेश्लुः शम्भजीविपु	३।३।२५
क्षियाशी.प्रेपेपु	५।३।१०२		३।३।८६, ३।६।५७,	गुणात्स्वयादेः	४।२।६३
क्षियो दीः	४।४।५८		४।१।१५१, ५।३।३२	गुणे श्रीदत्तत्वान्नियाम्	१।६।३४
क्षीणः	५।३।६४	खौ कन्थोशीनरेपु	१।४।६६	गुणोक्तिब्राह्मणादिभ्यः	३।४।११४
क्षीवृशोल्लाघाः	५।३।७२	खौ मनसः	४।३।१२३	गुणोक्ते स्तोऽलरस्फोटः	३।१।३०
क्षीणलवणयोर्लोत्ये	५।१।३३	खौ विभाषा वुण्	२।३।६०	गुणोक्त्येपत्	१।३।६६
क्षीरहविपो श्रुतम्	४।३।२२	खौ शरदो वुञ्	३।३।३	गुपृधूपविच्छिपणि-	२।१।२६
क्षीराड्ढण्	३।२।१५	खौ श्रमणाश्वाभ्याम्	३।२।६	गुपतिज्किद्व्य. सन्	२।१।३
क्षुत्तृङ्गर्धेऽगनायो-	५।२।१४३	ख्यत्याडतः	४।३।६६	गृष्ट्यादेः	३।१।२२४
क्षुद्रजीवा.	१।४।८४	खशः शो यो वा	५।४।१२४	गे	४।२।११९
क्षुद्राभ्यो वा	३।१।१२०	ग		गेः काशे	४।३।२२४
क्षुद्रवर्ततेर्गृ	५।१।१००	गत्यर्थवदेऽच्छुः	१।२।१३८	गे. खयजोः	५।१।६६
क्षुद्रवस्त्वान्तव्यन्तलग्न-	५।१।६२६	गत्वरः	२।२।१४७	गे. मुन सुमोन्मुन्तुमः	५।४।४५
क्षुन्नादिपु	५।४।११७	गडमडचरयमोऽगोः	२।१।८७	गेऽत उत्	४।४।१००
क्षुश्रुव.	२।३।३३	गन्धनावक्षेपमेवाऽन्याय-	१।२।२७	गे यक्	२।१।६३
क्षेपाव्यथातिग्रहेष्वकृत्	४।२।५१	गन्धस्यैकतृप्तिमुसुग्भि-	४।२।१३६	गेरवनः	४।२।८७
क्षेपे	१।३।८१	गमः	२।२।४५	गेरयतो	५।३।३७
क्षेपे किमः	१।३।५९	गमः कवौ	४।४।४१	गेरमेऽपि विहृते.	५।६।६८
क्षेमप्रियमद्रेऽण् च	२।२।८२	गमहनजनखन	४।४।९३	गेरुहः प्र.	५।२।१३७
क्षै मः	५।३।६८	गमिपुयमा छः	५।२।७५	गे स्तोऽचः	५।२।११९
क्वत्याचि खम्	५।२।६६	गमेरिण् मे	५।१।१०६	गेहे क.	२।१।१८
ख		गमो वा	१।१।८७	गो.	३।३।१
ख पाठन्याहत्यादेः	४।२।१३६	गम्भीगज्य	३।३।३३	गोखलस्थान	३।३।१०
ख पिच्छस्वत्	५।२।११७	गम्यादिर्वर्त्यनि	२।३।१	गोत्रावपरात्	३।१।६१
ख.	३।१।१२८	गर्गादेर्यन्	३।१।६४	गोवाया गार.	३।१।१८
खचि	४।१।८८	गर्तयुगदादिभ्यश्छु	३।२।११४	गोपयार्	३।३।१८
खट्वाऽक्रमे	१।३।२३	गर्जे	२।३।१२५	गोऽपित	१।१।८
खमादिभो	५।१।१४६	गवाज्वादीनि च	१।१।८७	गोत्रयश्चरणा	३।१।८
खमि	५।६।१३०	गष्टक्	२।२।११	गोत्रयश्चरणा	३।१।१०
खमन्वा	२।२।८१	गाऽगमे	५।२।८१	गाऽगमि	३।२।११
खमि	३।६।३७	गाऽगमि	१।१।७५	गाऽगमि	१।१।७५
खमि	३।२।१०६	गाऽगमि	१।१।७५	गाऽगमि	१।१।७५

मोनोहेः शकृत्पुरोडाशे ३।३।११३	घो वा	प्रा३।११६	चर्मणोऽज्	३।४।१४
मोहे रुडः ४।४।८३	ड		चर्मणवदष्टीवच्चक्रीवद्	प्रा३।३३
मौणाग्रचारे २।१।८	डनुगतेतो द.	१।२।६	चर्मोदस्योः पूरेः	२।४।१७
मोयुयथौ २।१।१२०	डमो नित्य डमुद् प्रात्	प्रा४।११६	चल्यत्रार्थात्	१।२।८५
मौ भो मि २।३।७३	डसिडसो	४।३।६७	चरयात्र खम्	प्रा२।१६०
मौरादेः ३।१।२३	डसिडयो. स्मास्तिमनौ	प्रा१।१३	चस्यास्त्वे	४।४।७३
मो ख्व २।३।२१	डसे.	प्रा१।२८	चस्यैपा लिटि	४।३।१३
मौडीनास्वीनकोपीन- ३।४।१४१	डस्य क्विभक्तोः किडति	४।४।१३	चात्	प्रा२।६०
ग्रन्थान्तेऽधिके ४।३।१८७	डस्यातो नुक्	प्रा२।१८३	चादिरसत्वे	१।२।१२८
गिञ्चावन्निग्रधिवशि ४।३।१२	डिडस्योरतः	१।१।४३	चायः कीः	४।३।१६
गहेर २।२।१३	डित्	१।२।५०	चार्ये द्वन्द्व,	१।३।६२
गहोऽलिटि दो ५।१।८५	डित. सप्तम्	२।४।८०	चि	४।३।२३३
गहोऽवे वर्पप्रतिग्रन्थे २।३।४७	डिति प्रश्च	१।२।६६	चित्तेः कपि	४।३।२२८
ग्राममौद्यान्ना तक्षण ४।२।६७	डिगत	प्रा१।१४०	चिन्नार्थे	२।३।१२६
गानजनग्रमुमहाग्नेय ३।२।३७	डोलौ	३।१।१२	चिदित्युपमार्थे	प्रा३।१००
गामाप्स्यो-ण्टो ३।२।२७	डेः खौ पराच्च	४।३।१२६	चिन्तिपूजिकधिकुम्भ-	२।३।८७
गामात्य-न्दो ३।३।३७	डेराम् म्वाभ्नीभ्यः	प्रा२।११०	चिस्फुरोर्णौ	४।३।४६
गामाग्रजे ३।२।७४	डैर्य.	प्रा१।११	चे चर्त्वम्	प्रा४।१२६
गामन्नुव क्विप् २।२।१५६	डेनुदोरम्	प्रा१।२४	चेलेषु वनोपेः	२।४।१९
गौदा योऽण् च ३।३।६२	डौ	१।२।७	चो. कुः	प्रा३।४७
ग्रीमवसन्तादा ३।३।२१	डणो. कुक्कुट् शरि	प्रा४।१२	च्विडाजूर्यादिः	१।२।१३२
ग्रीमाकम्भार् वृज् ३।३।२४	डयाम्भृद	३।१।१	च्यौ	प्रा२।१३५
गो गति ५।३।३८	च		छ	
गोऽवात् १।२।४७	चक्ष. ख्याज्	१।४।१२५	छः	३।२।२३
गोऽज्जे २।३।५७	चजोः कुधिरण्यरोत्ते	प्रा२।५६	छकारकेऽन्यस्य दुक्	४।३।२०४
गोऽज्जि क्तु. २।२।११५	चट्काणैर.	३।१।११७	छगलिनो दिनिण्	३।३।८०
	चतुरनहुदोर्वा	प्रा१।७२	छत्रादेर्णः	३।३।१८०
	चतुरशारेरलिकृते.	४।२।६२२	छटिक्पधिवलेर्दञ्	३।१।१२

छे	४।३।६१	जीविमोपनिषदाविधे	१।२।१४८	ज	
छेदादेर्नियम्	३।४।६२	जुमि	५।२।८०	ज इच्	४।२।१२८
छोऽनुप्रवचनादेः	३।४।१०४	जुपोऽनु	२।२।८७	जस्वग्निते कर्त्ताये फले	१।२।६८
छ्वाः शृङ्गे च	४।४।१७	जुप्रश्च क.	५।१।१०३	जात् स्त्रियाम्	४।२।२२
ज		जृश्चिस्तम्भुप्रचुम्बुचु-	२।१।५०	जिह्वतो मुक्	५।२।३८
जक्षित्यादयः	४।३।५	जं:	४।३।९५, ४।३।२३४	जिणमोर्दामिताम्	४।४।८६
जङ्गलधेनुवलजे	५।२।३०	जः	१।२।५३	जिणमोर्वाङ्गे	५।२।४८
जनपद उस्	३।२।६१	जाहृप्रीगुटः कः	२।१।१०८	जिण्यगजार्पाप्युगुणि-	१।४।३०
जनगोर्वा	४।४।३१	जागम्यद्यर्थधेरणि कर्त्ता गौ	१।२।१२२	जिनोऽण्	४।२।२१
जनमनखनाम्	४।४।४३	जाजनोर्जा	५।२।७७	जिन्नभिचिद्यौ	२।३।६६
जनिव्यो	५।२।४०	जीप्सास्थेयोक्तो	१।२।१८	जिडौ	२।१।६२
जनेर्तः	२।२।८४	जोऽङ्गे.	१।२।७१	जिस्ते पदः	२।१।५१
जन्ययेनुप्यान्नवश्यवन्त्य-	३।३।१६५	जोऽपह्वे	१।२।४०	जीत क.	२।२।६५
जयजभदहदशभज्जपशाम्	५।२।१८४	जो स्वार्थे कण्ठे	१।४।५८	जेरुपः	४।४।६५
जम्भ्या वोश्च	३।३।१२३	ज्यः	४।१।१२०, ४।१।३५	ज्णिग्यचः	५।२।३
जय्यल+यकार्यमुकरम्	३।४।९२	ज्यादेयमः	४।४।१५२	ज्णिगद्+हृदरक्तविभारे	४।३।१५१
जगया वासङ्	५।१।१६०	ज्योतिरायुषः स्तोमः	५।४।६४	ट	
जल्पमिधकृद्गुणट-	२।२।१३८	ज्योतिरुद्गतावाङ्.	१।२।३६	टलोरेवाद्.	४।४।१३३
जश्शमो' मिः	५।१।१७	ज्योत्स्नातमित्राष्टङ्गिणी-	४।१।४०	टगमनुये	२।२।५०
जम. शी	५।१।१४	ज्वरत्वरन्विष्यविमवा वोटो.	४।४।१८	टवृचि	३।१।१६
जमि	५।२।१०४	ज्वलितिमन्ताणः	२।१।११३	टिट्टाणज्+ट्गट्+स्वर्ग-	२।१।१८
जागुः	२।२।१३६	झ		टिडादि	१।१।५३
जागुर्विणिजलूटिति	५।२।८२	झकारान्तनेकालिभो वा	४।३।१३३	टिङ्गरे	२।४।६५
जानमहद्वृद्धादुल्लः	४।२।७८	झयो ह	५।४।१३६	टे	४।४।१२६, ४।४।१५५
जातन्मेभ्यः परिमाणे	३।३।१०४	झरूपकल्पचेलट्+वृगोत्र	४।३।१५५	टोमिधेनन्तदश्च	४।३।१११
जातिनाम्न क.	४।१।१३७	झगे झरि स्वं	५।४।१३६	ट्फण् कपिण्या	३।२।५८
जानिश्च	४।३।१५३	झला जश् भशि	५।४।१२८	टिवनोऽयु	२।३।११
जातुप्रदायटौ लिट्	२।३।१२३	झलिक.	१।१।८३	ट	
जतिरयोट.	३।१।५३	झलो जग्	५।३।५७	टन् कवचिनश्च	३।२।२६
जतिर्वात्	३।१।४५	झलो झलि	५।३।४४	टट्भन्नादे	३।३।३१
जतिश्छो दन्धुनि	४।२।१८	झल्यमिति सृष्टृगोऽम	४।३।५१	टण्छौ	३।२।६१
जापान्योर्लक्षणं	२।२।५१	झवनिष्टोन्ना कृत्	२।१।४४	टण्चावर्गि	३।१।८१
जापाना निट्	४।१।१३५	झि विभक्त्यन्त्यादर्थार्थ	१।३।५५	टप्प	५।२।५४
जान्निप्रन्नाटमाथ-	१।४।६३	झिर्मवन्नान्तोऽवकादे	१।१।३०	टाट्ठिच द्विगोत्रायगेऽच	४।१।१८
जिदान्नागद्वेष्टश्च	३।३।३८	झेचुम्	२।१।८८	टनत्वा	४।१।११
जिह्वति वञ्चये युवाऽन्तो	३।१।८१	झेचुम्	३।२।८१	टाट्ठायान्नाय	३।३।१८१
जिह्वते ऋचिज्ज	२।१।८३	झेचुम्	५।१।३	ट	३।३।४६
जिह्वार्थेऽन्ते	४।४।१५३				

उयो ग्रहणे कः	४।१।११	खनुचो	२।१।१०६	तदस्यास्यस्मिन्निति मनुः	४।१।२३
उयो वयसि	४।१।५३	खोर्व्या.	२।१।८२	तदस्यास्मिन्निति	३।४।१५
उट्स्वोः	४।३।१५०	त		तद्च्छति पथिदूतयोः	३।३।५९
उट्याग्नः	४।३।१२५	तः	३।३।१०२, २।२।८५	तद्दीयते नियुक्तम्	३।३।८४
उट्स्त्रीप्रमाणोः	४।२।११६	तः सेट् पूट्शीट्स्विन्	१।६।६२	तद्धरति वहत्यावहति	३।४।४६
उट्धोः	३।४।४७	तद्वाः स्वार्थे	२।१।७२	तद्युक्तात् कर्मणोऽण्	४।२।४२
उट् गुणवृत्तार्थ-	१।३।७५	ततः आगतः	३।३।४८	तद्योजको हेतुः	१।२।१२६
उत्तरादः पञ्चमस्य टुक्	५।१।१२२	ततो नुट्	५।२।१७१	तद्धत्	४।३।७३
उनाद् धुट् गोश्च.	५।४।१३	ततो यूनि	३।१।८०	तद्धतिरथ युगप्रासङ्गा-	३।३।१६१
उजर्त्येतावतः	४।३।८५	तत्र	१।३।४०	तद्वाचि धौ वाऽयदि	२।३।१३१
उज्जोहितात् क्यप्	२।१।११	तत्र जातः	३।३।१	तद्धेत्यधीते	३।२।५१
उज्जित. विन.	२।३।७०	तत्र दीयते भववत्	३।४।८९	तनादिम्यस्तथासो.	१।४।१४८
ढ		तत्र नियुक्तः	३।३।१८६	तनोतेर्यकि	४।४।४६
ढणि रम	३।१।१२२	तत्र भवः	३।३।२८	तनोतेर्वा	४।४।१५
ढण् च मण्डकात्	३।१।१०८	तत्र विदितः	३।४।४३	तपःसहस्राभ्या विनिनो	४।१।२६
ढ. गम	४।४।१३५	तत्र साधुः	३।३।२०२	तपस्तपःकर्मकस्य कर्मवत्	२।१।६१
ढो ढ गम्	५।४।१७	तत्रेदमिति स्वरूपे	१।३।८६	तपोऽनुतापे च	२।१।५६
ढ्, ण् पूर्वग्याणो ढी.	४।३।२१६	तत्रेव	३।४।१०८	तप्तान्ववाद्रहसः	४।२।८४
ढ्, ण्	३।१।११६	तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः	३।२।९	तमधीष्टो भूतो भूतो भावी	३।४।७६
ण		तत्प्रकृतोक्तौ मयट्	४।२।२८	तमसोऽयसमन्धात्	४।२।८१
णम चाभीक्षर्ये	१।४।८	तत्प्रत्यनुमीपलोमकृलात्	३।३।१५१	तमेष्टावतिशायने	४।१।११४
णमपगुरो वा	४।३।४५	तथोर्धोऽधः	५।३।५६	तथोर्व्यक्तस्वार्थः	२।४।५५
णान्ति नभुडः	४।४।१४६	तटः	४।१।८५	तरति	३।३।१३०
णिचः	१।२।७२	तटधीनोक्तौ	४।३।५९	तवकममकावेकाथे	३।२।१२३
णिभिर्भुभ कर्तरि वच्	२।१।४३	तदन्ता धव.	२।१।२६	तवममौ डसि	५।१।१५५
णो.	२।३।७७, ४।४।५३	तदर्थं विदिते प्रकृतौ	३।४।११	तव्यानीयौ	२।१।८३
णभीभर्तुभे	१।२।६४	तदर्थति	३।४।६०	तस्	३।३।८२
णोर्वा	५।४।१०९	तदर्थं वत्	३।४।१०६	तस्माद्	

तस्य विकारः	३१११०२	तुन्दारैरिलः	४१११४३	तदादि	११११६९
तस्य व्याख्यान इति च	३१११४२	तुभ्यमह्यो ऽयि	५१११५४	त्यदादेर	५१११२६
तस्य शत्रुशानाववैकार्ये	२१११०२	तुमर्थाद् भावे	११४१२५	त्यदादौ दृशोऽनलोके ऽक्च	२१११५८
तस्य समूहः	३१११३२	तुमीच्छाया भोर्वोप्	२१११५	त्यदाश्च	५१११५७
तस्यापत्यम्	३१११७७	तुमेककर्तृके	२१३१३४	त्यस्ये कयापीदतोऽमुषो	५१११५०
तस्येदम्	३१११८८	तुग्निमेयस्सु	४१४१४४	त्यादेशयो	५१४१३६
ता	११३१७०	तुह्योस्तातड्डाशिपि	५१११३०	त्रपुजतुनो पुक्	३१३१०६
ता चानादरे	११४१४६	तुदीवर्मतीम्यो दृग्	३१३१६८	त्रमिष्टविशृप्तिपः कनु	२१२११६
ताऽतस्यर्थे स्येन	११४१३९	तृष्णीमि भुवः	२१४१४८	त्राघ्नाहीनुदोन्वित्स्ने	५१३१७३
तादी भः	४११११७	तृजकाभ्या योगे	११३१७८	त्रिचतुगे स्त्रिया तिसृ-	५१११५८
ताया आक्रोशे	४१३१३४	तृज्याश्चाहं	२१३१४५	त्रे	३१३१४४
ताया रूच्यश्च	३१४१४३	तृणह दम्	५१२१६०	त्रेन् कस्या	३१२१४४
ताया व्याश्रये	४१२१५३	तृणे जातौ	४१३१२०६	त्रेस्तृ च	४१२१७
ता शेषे	११४१५७	तृन्	२१२११३	त्रेस्त्रयः	५१११३५
तासन्त्योः खम्	५१२१५२	तृयस्त्रोः क्रियान्तरे	२१४१४२	त्वमावेके	५१११५६
तासामाप्यस्तद्वलचः	११२१५८	तृतपो	४१४११३	त्वयपादाने	२१४१७७
तास्थाने	११११४६	तृन्मोखे वन्	२१३१०१	त्वामाविप	५१३१२६
ता हेतौ	११४१३५	तृण्ये	४१४१५९	त्वामौ	५१११५३
ति	११२१३१, ५१२१८६	ते द्वयः	४१२१९	त्वे द्यापोः स्वनित्यो	४१३१७३
तिक्रित्वाटिभ्यो द्वन्द्वे	११६१४०	तेन	११३१६०	थ	
तिरादेः फिन्	३१११६२	तेन क्रियानुये	३१६१०७	थ	४१३१६
तिक्रियेऽदो जगियः	११४११०	तेन क्रीतम्	३१४१३५	थविस्मेः	२१६१८६
तिदुप्रादयः	११३१८१	तेन दीव्यति स्वनति	३१३१२७	थस्नोगतः	४१११०२
तिदुव्रतयसिमुसरकमे-	५११११६	तेन निवृत्त	३१२१५८, ३१४१७५	थन्य	४१३१३०
तिलिग्विगतन्तुगण्ड-	३१३१७८	तेन प्रोक्तम्	३१३१७६	थन्य मे पितृचि	५१२१८५
तिपि यो.	५१३१८०	तेन यथाकथाचदन्ताभ्या	३१६१६१	थाम. मे	२१६१६६
तिरश्चयपवर्ग	२१४१६५	तेन रक्त गगात्	३१२११	थो न्यः	५१११६४
तिरमन्तिर्यवे	४१३१२००	तेन विचश्चुचुचणौ	३१६१६६	ठ	
तिरमो वा	५१६१३०	तेभ्य दप् च	११६१६३	ठगमग्रन्थना शपि	६१६१०१
तिरोऽन्तर्द्वौ	११२१४०	तेभ्यो भवति वा	२१३१३६	ठ	५१३१८०
तिरमवाद्यौ	३१३११२	तेमग्नानंद	६१११६	ठक्षिणाटा	४१११००
तिष्ठदग्गादीनि च	११३१११	ते रिभस्त्र	४१११६१	ठक्षिणाटा	४१११००
ति वपुनर्विमुना भवन्द्वे	११११६६	ते विंशतेति	११६१२८	ठक्षिणाटा	४१११००
ति वपुनर्विमुना भवन्द्वे	४१११३०	ते नेति	११११५६	ठक्षिणाटा	४१११००
ति वपुनर्विमुना भवन्द्वे	४१११३०	तो म मावनन्वे	५१११६६	ठक्षिणाटा	४१११००
ति वपुनर्विमुना भवन्द्वे	४१११३०	तेनेति	५१११३१	ठक्षिणाटा	४१११००
ति वपुनर्विमुना भवन्द्वे	४१११३०	तो म मावनन्वे	५१११६६	ठक्षिणाटा	४१११००
ति वपुनर्विमुना भवन्द्वे	४१११३०	तेनेति	५१११३१	ठक्षिणाटा	४१११००
ति वपुनर्विमुना भवन्द्वे	४१११३०	तो म मावनन्वे	५१११६६	ठक्षिणाटा	४१११००
ति वपुनर्विमुना भवन्द्वे	४१११३०	तेनेति	५१११३१	ठक्षिणाटा	४१११००
ति वपुनर्विमुना भवन्द्वे	४१११३०	तो म मावनन्वे	५१११६६	ठक्षिणाटा	४१११००
ति वपुनर्विमुना भवन्द्वे	४१११३०	तेनेति	५१११३१	ठक्षिणाटा	४१११००
ति वपुनर्विमुना भवन्द्वे	४१११३०	तो म मावनन्वे	५१११६६	ठक्षिणाटा	४१११००
ति वपुनर्विमुना भवन्द्वे	४१११३				

दन्तशिलास्तौ	४११३६	दौरकृद्गो	५१२१३४	य तिल्यतिमास्या ति	५१२१४५
दम्भ इच्च	५१२१५८	दुन्योरगौ	२११११६	यावनुप्	४१२१२०
दयापासः	२११३३	दुसो दण्	३१११३१	यावाप्रथिवीमुनागीर-	३१२२७
दस्ति	४१२२२५	दुहानुत्थदुपद्विपद्रुह-	२१२११८	युतिस्वाप्नोर्जिः	५१२१६७
दज	२१२५	दुहो घध	२१२१६	युत्पुपादिलितार्ति-	२११४८
दात्र-धात्रोर्वा	२११११२	दूरादधूते	५१३१६२	युद्भ्यो लुटि	१२१८७
दादुर्दोमोऽद्वोऽस्तेः	५१३१८८	दूरान्तिकार्थेस्ता च	११४१४२	युद्भ्यो मः	४११३४
दादेषोर्ध्वः	५१३१४६	दृतिकुक्षिकलसिदत्त्यत-	३१३१३१	युप्रागापागुदक्प्रतीचो	३१२१८०
दाधा भपित्	१११२७	दृतिनाथयोः पशौ हजः	११२१३०	योः	५१२१५५
दाधेष्ट-गिरादसो रु.	२१२१४२	दृन्कारापुनर्वर्षाभ्योऽभुवः	४१४१८०	योः ख चाऽजिनस्य	४१११३८
दानीम्	४११८४	दृशदृष्टवतौ	४१२१६५	यो जसि च	४१३१६३
दान्तशान्तपूर्णदन्त	५१११२४	दृशुरेप्	५१३१२६	यो वरुणस्य	५१२१२८
दामन्यादेश्छः	४१२५	दृजो क्वनिम्	२११८१	द्रव्यघनस्पर्शयोः इय.	४१३१९६
दामतानात् मरुतादेः	३१११४	दृश्यर्थेदिचन्तायाम्	५१३१२१	द्रव्य भये	४१११५८
दाम्नीशसमुज्जस्तुतु-	२१२१६०	दृश्यन्तेऽन्यतोऽपि	४११७६	द्रान्तस्य तो न. पूर्वस्य दो	५१३१५६
दामगोनौ सप्रदाने	२१५६०	देदो दिगि लिटि	५१२१२१	द्रिः	३१११४६
दिक्कन्दाऽन्नागदितरते	११४३८	देऽनतः	५११५	द्रुणवज्जलेः	४१२११४
दिक्क-दे-यो वाकेन्नोऽ	४११६२	देमृणो	३१३२२	द्रेर्बहुषु तेनैवावियाम्	११४१३३
दिक्कस्य नौ	११३४५	देये वा च	४१२६०	द्रोः	३१३११९
दिगादेश्चो	३१२८४	देवताद्वन्द्वे	४१३१३९. ५१२१२६	द्रोणपर्वतजीवन्ताद् वा	३११६२
दिगादेश्च	३१३२९	देवतान्तात्तादर्थ्ये य.	४१२१३१	द्वन्द्वं रहत्यादौ	५१३१३३
दिगादेश्च च	३१२१२६	देवपथादिभ्यः	४१११५४	द्वन्द्वमनोज्ञादे.	३१४१२३
दिगदित्यादित्यपति प्रोप्य	३११७०	दे वा	२११४७	द्वन्दाच्चुदृष्टो राथे	४१२१०८
दिद वर्त	११२११५	देवात्तन्	४१२३४	द्वन्दाच्छः	३१२१७
दिद रु	४१३१०८	देविमशिशपादीर्घसन्धेय-	५१२१६	द्वन्दाद्वन् वैरमैथुनकयोः	३१३१६३
दिद न्या	५११६१	देविट्शो गौ	२१२१२६	द्वन्द्वे	१११३६
दिदस्य	११४६७	देशोऽनोत्.	४१२१०३	द्वन्द्वे युवस्तिलङ्गम्	११४१०२
दिदस्य पुन्यम्	४११४३	देराज्ञात्	३१३३०	द्वन्द्वे सुः	११३१६८

द्वित्रिभ्यामञ्जलेः	४।२।१०५	धूमादेः	३।२।१०५	न ते नामिकायाः खो	३।४।१५१
द्वित्रिभ्यामण् च	३।४।३४	धेः १।२।२१, १।२।३० १।२।४१		न यात्	५।१।५६
द्वित्रेर्भमुज्	४।१।१०८	धेऽकौ	४।४।६	न थान्मद	२।४।७१
द्वित्वेऽचि	१।१।५६	धोर्यङ् क्रियासमभिहारे	२।१।१०	न दण्डमाण्वान्तेवामिपु	३।३।६८
द्विदण्ट्यादिः	४।२।१२६	धोस्तस्मिन्नेव	४।३।७०	न दविपयग्रादीनि	१।४।६०
द्विप्राप्तौ परे	१।४।६९	ध्यपाये श्रुवमपादानम्	१।२।११०	नदीभिश्च	१।३।१७
द्विविभज्ये तरेयम्	४।१।११६	ध्वर्वाचः कर्मणि	१।४।२४	नदीमानुपीभ्योऽदुम्भ-	३।१।१०२
द्विप.	२।४।६२	व्याङ्क्षैः	१।३।४२	नयादेर्ज	३।२।७६
द्विपोऽरो	२।२।१०६	व्याडेः पस्मः	४।३।५३	नयाम्भतुः	३।२।६५
द्विस्तावास्तिस्तावानुगमम्	४।२।८६			न द्वयच. प्राच्यभस्तेषु	३।२।८६
द्वीपादनुममुद्रे यज्	३।२।१३०	न		न धुस्तेऽगे	१।१।१८
द्वेस्तीय.	४।१।६	नः क्ये	१।२।१०४	नन्दिग्रहिपचिभ्यो ल्यु	२।१।१०७
द्वयचः	३।१।११०	न कपि	५।२।११६	नपः	५।१।१६
द्वयचोऽण	३।१।१४३	नक्तगत्रिमहोभ्यो दिवम्	४।२।७६	नप. स्वमो	५।१।२०
द्वयजृचः	३।३।४४	न क्तिचि दीश्च	४।४।४०	न पदान्तद्वित्वरेयलोप	१।१।५८
द्वयज्यगधकलिङ्गमर्म-	३।१।१५२	न क्रोटादिवह्वचः	३।१।४६	नपरे न.	५।४।११
द्वयनगेरीदपः	४।३।२०२	नख मृदन्तस्याकौ	५।३।३०	नपोऽङ्कलः	५।१।५१
द्वयष्टन. मख्यायामवाऽ	४।३।१५६	नख मुञ्चिर्वि कृत्तुकि	५।३।२८	नपो वा	४।२।१११
		नखमुखात्त्वो	३।१।५१	न प्ये	४।४।६८
ध		न ग्यो	४।२।१५५	न प्रतिपदम	१।३।७३
ध	५।३।५५	न गतिहिमायेंभ्यः	१।२।६	न विस्ताचितकम्भ्यात्	३।१।२७
धनुप.	४।२।१३३	नगगन्कुन्मादाद्ययोः	३।२।१०६	न वे	१।१।३७
धन्वयोड.	३।२।६६	न गोपवनादेः	१।४।१३८	नद्या य आसम	१।२।६१
धर्म चरति	३।३।१६२	नगो वाऽजीवे	४।३।१८५	नद्यावे क्त	२।३।९५
धर्मपत्यर्थन्यायादनपेते	३।३।१९८	न चवाहैवयोगे	५।३।२०	न भामृपस्मिगमिथा	५।१।११३
धर्मशीलवर्णान्तात्	४।१।५५	न जौ जि	४।३।३१	नभ्रान्नपान्नवदानाम-न-	१।१।१८८
धर्मान् केवलादन्	४।२।१०५	न जितलोऽग्वार्थतृनाम	१।४।७२	नमपुग्मोभ्यो	५।१।२६
वायो णि.	५।२।१४६	नज्	१।३।६८	नम शप्	२।१।५८
वात्रपात्रे	२।२।१६१	नज	४।२।६७	नम स्विन्त्याऽन्वयाऽ	१।१।७६
वान्प्रगोहणे खन्	३।१।१०७	नज शुचीष्वग्नेवन	५।२।३४	न मादोगे	१।१।११
वावृति गो	४।३।७९	न ने	५।२।११	न मादेऽप येऽवर्ण	१।१।१६१
वागीड शत्रुर्वा-हणि	२।२।१०८	नजोऽन्	४।३।१८१	नमिर्भ्यन्-व-वर्मा	२।२।१०८
वागेस्तमर्	१।२।१०८	नज्-दुभ्यो. न्विथ-ते-	१।२।१०३	न न गतिता	५।३।२०
वि	५।३।६३	नज्-द्विभ्रविभ्रज्चतु	४।२।७५	नगोर्ग्विभ्रज्च-व-व-व-	२।१।११
विगत्यर्थच	२।४।५८	नज्-ये चतुर्गगन्तव्यग	४।१।१५	न घ्नो वा	१।३।८६
विन्विह्वान्ते च	२।१।५	नज्-गदादितु	३।२।६८	न यन्तव्य	२।१।११
विन्विह्वान्ते च	२।१।५	नज्-गदादितु	३।२।६८	न यन्तव्य	२।१।११
विन्विह्वान्ते च	२।१।५	नज्-गदादितु	३।२।६८	न यन्तव्य	२।१।११
विन्विह्वान्ते च	२।१।५	नज्-गदादितु	३।२।६८	न यन्तव्य	२।१।११

न लङ्लुट् सामीप्याव्यु- २।३।१११	नासिकाया नश्चात्थू- ४।२।११८	नीलपीतादौ ३।२।२
न लिङि ५।१।८७	नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्त- ३।१।४८	नुमशर्व्ववापेऽपि ५।१।३८
न वज्रवेर्गतो ५।२।६४	नासिक्यो ङः १।१।४	नुवा ४।१।४
न वर्जने १।४।१२६	नास्तिकास्तिकदैष्टिमाः ३।३।१७८	नृतल्ययोरुज् ३।२।१६२
न वा रूपमत्वरसधुपा ५।१।१२८	निसनिक्षनिन्दो वा ५।४।११२	नृतेर्यङि ५।४।१६८
न वा श्वेः ४।३।२७	नि. १।२।१२७	नेच्यात् ४।३।६२
न वा नाकाङ्गले २।२।६४	निकयवसथे वसति ३।३।१९०	नेटः ५।२।८४
न वित्ताचितकमत्यात् ३।१।२७	निजामुच्येप् ५।२।१७४	नेटि ५।१।८०
न वृहत्कोटः ४।३।१४६	नित्य गतिविशेषे २।१।२०	नेन्द्रत्य ५।२।२७
न वृतादे ५।१।१०७	नित्य दुशरादेः ३।३।१०६	नेर्गदनदपतपदभुमा- ५।१।१००
न व्यो लिङि ४।३।३६	नित्यम् ३।३।१४५	नेर्विडधिरिसो ३।४।१५२
न शशद्ववाडीनान् ४।४।११७	नित्यबीभक्तयो. ५।३।३	नेल् त्वत्तादेः ३।१।८
नो श ५।४।९९	निन्दहिंसकिलशस्त्राद- २।२।१२७	नैकाचः ४।१।१५४
नश्च पुमि ४।३।६१	निपानमाहावः २।३।६१	नैकार्थ्ये बोध्ये सामान्य- ५।२।३५
नश्चापदान्तन्य भक्ति ५।४।८	निमित्तं सयोगोत्पादौ ३।४।३७	नोङः ४।४।५
नश्च प्रश्नान् ५।४।२	निमूले कपः २।४।२२	नोङस्त्रयात् क्त्वा १।१।६५
नश्चि तुक् ५।४।१४	नियोऽवोदोः २।३।२५	नोऽपुसो हति ४।४।१३०
न समाहारि ४।२।६१	निरभ्योः पूत्वोः २।३।२६	नोमता गो. १।१।६४
न साने ४।२।१३	निरकाजनाद् १।१।२२	नोऽसे मट् ४।१।२
न सुदुर्भो केवगान्याम् ५।१।४७	निर्दुस्तुवे. सुपिच्छतिसमाः ५।४।६६	नौ गदनदपठत्वनः २।३।६७
न ग्रेस्तासि मोऽवमि ५।२।३६	निर्धारणे १।३।७४	नौ णश्च २।३।५४
न स्वादौ न्योऽपि ४।३।३	निर्वाणोऽवाते ५।३।६६	नौ द्वयचण्डः ३।३।१२१
न रत्नविमि ४।२।६६	निर्वृत्ते ऽक्षयूतादे ३।३।१४२	नौ भर्मविषसीताभ्यस्ता- ३।३।१६७



पत्नी	३।१।३३	परिमाणाख्याया सर्वेभ्यः	२।३।१९	पानेलुंक	५।२।४४
पत्यन्तपुरोहितादेर्ण्यः	३।३।११८	परिमाणात्सख्यायाःसङ्घ-	३।४।५६	पात्राद् घश्च	३।४।६५
पत्रात्	३।३।६१	परिमाणाद्भृदुपि	३।१।२६	पात्रेनमितादयश्च	१।३।४३
पत्रादण्	३।३।९०	परिमुखम्	३।३।१५२	पाठः पत्	४।४।११६
पथः कट्	३।४।७१	परिवृतो रथः	३।२।८	पाठम्याट्म्याड्मपि-	१।२।७३
पथः पन्थः	३।३।६	परिव्यवक्रियः	१।२।१२	पाठस्य पदाज्यातिगोप	४।३।१६३
पथिमध्यभुक्षामात्	५।१।६२	परिपदो ण्यः	३।३।१६५; ३।३।२०५	पाठो वा	३।१।१५
पथो वा	४।२।६८	परिस्कन्दः प्राच्यभस्तेपु	५।४।५७	पात्रान्ये	४।२।३२
पथो वुन्	३।३।१६	परेः	५।४।५६	पान डेजे	५।४।६३
पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्र-	३।४।१३२	परेः सृदेवित्तिपरटवद-	२।२।११९	पापाणके कुत्स्यैः	१।३।४९
पथ्यतिथिवसतिस्वपते	३।३।२०७	परेऽचः पूर्वविधौ	१।१।५७	पायसान्नाय्यनिष्ठाप्य-	२।१।१०४
पदघोर्गृह्णाति	३।३।१६०	परेर्घाङ्कयोगे	५।३।४०	पारायणतुगायणचन्द्राय	३।४।६८
पदरुजविशस्पृशो घञ्	२।३।१५	परेर्जने	५।३।४	पारे मध्ये तथा वा	१।३।१५
पदव्यवायेऽपि	५।४।११६	परेर्वा	४।३।३७	पागरूपवीणातलश्लोक-	२।१।२२
पदस्य	५।३।१४	परोक्षे लिट्	२।२।६५	पाशादेर्यः	३।२।४९
पदस्य टोर्नाम्नवतिनगरी	५।४।१२१	परोऽचो मित्	१।१।५५	पिच्छास्मदः	२।४।७८
पदादपादादौ	५।३।१५	परोपात्	१।२।३५	पिटे चिः	३।४।१५४
पदार्थसम्भावनानुज्ञा	१।४।६	परो म्रिः	५।३।२	पिति कृति तुक्	४।३।५६
पदास्वैरिवाह्यवक्ष्येपु	२।१।९८	परोवरपरपगपुत्रपौत्र-	३।४।१३५	पितुर्यश्च	३।३।५३
पदे ग्योर्योव्	५।२।८	परो भुयोऽवजने	२।३।५१	पितृव्यमातुलमातामह-	३।२।३१
पद् ये	४।३।१६४	परो यजे	२।३।४३	पिष्टात्	३।३।११०
पन्थो ण नित्यम्	३।४।७२	परो वाटिन्निपरटः	२।२।१२८	पीलाया वा	३।१।१०७
परः	२।१।२	पर्यादेष्ट्	३।३।१३३	पुग्वौ घः प्रायेण	२।३।१००
परकान्तैककर्तृकात्	२।४।७	पर्यपाङ्गद्विरखव. कया	१।३।१०	पुयोगात् ग्योगोपाल	३।१।३८
परम्	१।३।६५	पर्यभिभ्याम्	४।१।७५	पुव्यज्जातीयदेवीये	४।३।१५४
परस्परान्धोऽन्येनरेतरे	१।२।१०	पर्यातिवचनेऽलमर्थे	२।४।५१	पुमि चाट्ठिर्चा.	१।४।१०८
परस्यादेः	१।१।५१	पर्यायार्हणोत्पत्तौ वुण्	२।३।६२	पुसौदोऽय्	५।१।१६९
पगनुकृजः	१।२।७६	पर्वनात्	३।२।११६	पुमोऽमुट्	५।१।१८
परावग्योगे	२।४।६	पश्चादेरगन्	४।२।६	पुच्छभागदचीवरागिण्	२।१।११
परावगवमोत्तमादेः	३।२।१२५	पलल्यादेः	३।२।८६	पुण्यमुद्रिनाभ्या नप्	१।४।१०६
परिनिष्पन्नम्	१।२।११३	पत्यगजहस्तिभ्यो वर्चम.	४।२।८०	पुष्पकाभ्यान्	४।२।१०
परिणामा टन्	३।४।१६	पशुपञ्च समुदोः	२।३।५६	पुत्राच्छ्र वा	४।२।१०
परिणाऽक्षमलाकासम्बा.	१।३।८	पाककर्णपण्पुष्पकम्	३।१।५८	पुत्रान्नादा	३।१।१६
परिनिनिन्न सेवन्तिवज्रम्	३।४।५१	पाकमूले पौतुकर्णा-	३।४।१४४	पुत्रे वा	१।३।१०५
परिपन्थ निवृत्ति	३।३।१५८	पात्राभावेदृष्टश शः	२।१।११०	पुम गत्ययम मोऽनुभा	५।४।१०
परिपुञ्जित्तिश्रीरप	२।२।१४०	पात्राभ्यान्मात्राण-	५।२।३६	पुगसावणे	२।३।१०
परिपुञ्जित्तिश्रीरप	५।२।२२	परिपुञ्जित्तिश्रीरप	२।२।५३	पुम कृत् वा	२।२।८८
परिपुञ्जित्तिश्रीरप	५।२।३२	परिपुञ्जित्तिश्रीरप	३।१।५५	पुम कृत् वा	२।२।८८

पुरपादण्	३।४।६	पौत्रादि वृद्धम्	३।१।८८	प्रवृत्ति गन्धम्	३।१।१८
पुरपात् प्रमाणे वा	३।१।२९	प्वस्तिवाक्से क्तवः	५।१।३१	प्रयोजनम्	३।४।१००
पुरे वा	४।३।२१२	प्यायः पी	४।३।२३	प्रवरः	३।२।८८
पुरोऽन्तोऽप्ये सु	२।२।२३	प्ये	४।४।३८	प्रवाहणम्	५।१।३३
पुरोऽशाब्ज्	३।३।४५	प्ये विपूर्वात्	४।४।५६	प्रशस्ताया न्य	४।२।१०१
पुरोऽस्त कि	१।२।१३७	प्ये च	४।३।३४	प्रगतेऽर्धेः	३।२।११
पुवः लौ	२।२।१६३	प्रः	४।४।८७, ५।२।१६३	प्रगतीक्या	३।२।८८
पुवाडुत्	५।१।८६	प्रकारे गुणोक्तेः	५।३।१०	प्रगत्यत्य	४।२।१०३
पुक्तादेर्भे	४।१।५६	प्रकारे था	४।१।८६	प्रग्ने चान्तुंगे	३।२।१७
पुप्पस्तिद्वौ मे	२।२।६६	प्रकारोक्तो जातीयः	४।१।१२८	प्रहनेऽधेः	३।२।८८
पूगाब्जोऽतान्तोपूर्वत्	४।२।१	प्रकृत्याऽचि दिपाः	४।३।१०३	प्रसितोत्तुगभ्या भा च	३।४।१०
पूः	५।१।१६	प्रकृष्टे ठः	३।४।१०१	प्रस्त्यो वा	५।३।१६
पूज्जः शानः	२।२।१०६	प्रकृष्टगर्हे मन्यकर्मण्य-	१।४।२७	प्रत्यपुरवहान्तात्	३।२।१००
पूजाकृत्योर्नानः	३।१।८४	प्रचये वा	२।४।३	प्रत्यैप्	५।२।१००
पूज्जिने	५।३।६६	प्रजने वातेः	४।३।४७	प्रहरणम्	३।३।१८६
पूज्जोरे व	३।१।३६	प्रजने सुः	२।३।५८	प्रहरणमिति कीडाया गु	३।२।१०६
पूज्ज वा	४।२।१४६	प्रजामेधाञ्	४।२।१२४	प्रहासे मन्यवानि सुभ	३।२।१५४
पूज्जैकमवर्जत्तपुराण	१।३।४४	प्रज्ञादेः	४।२।४४	प्राक्कण्णरुद्धः	३।४।१
पूज्जनन्तिन्	५।३।२७	प्रज्ञाभद्वार्चावृत्तिभ्यो गुः	४।१।२८	प्राक्तेर्वाऽसमः	३।१।८१
पूज्जनान्नवग	५।४।८७	प्रतिकण्ठललामार्थात्	३।३।१६१	प्राक्सितादद्यापि	५।४।४३
पूज्जन्	१।३।६७	प्रतिजनादेः खञ्	३।३।२०३	प्राग्द्रोरेण्	३।१।६८
पूज्जन्	४।३।६	प्रतिज्ञाने तम	१।२।४८	प्राग् धोत्ते	३।२।१४६
पूज्जन्	४।१।२०	प्रतिपदमेति ठश्च	३।३।१६३	प्राग्याहण्	३।३।२६
पूज्जन्ने नन	१।१।४२	प्रतिपले कृञः	१।४।६०	प्राग्वतठञ्	३।४।६१
पूज्जन्ने रिजरादने	४।१।८७	प्रतिपले कानात्तसिः	४।२।४६	प्राचा क्यदेः	३।२।११५
पूज्जन्ने रमचन	१।३।५३	प्रतिपले	५।३।६६	प्राचा ग्रामाणाम्	५।२।१०

प्राद्वोः	५।३।४५	फेनाटिलश्च	४।१।२६	भक्तिः	३।३।३०
प्राद्वृत्त्यमिडस्ति	५।४।७३	फेश्लु च	३।१।१३७	भक्त्यान्नाभ्या मिश्रणव्य-	१।३।३०
प्राव्यं वन्धे	१।२।१४७	च		भजो एवः	२।२।६५
प्रायश्चित्तिचित्तयोः	४।३।११७	बन्धोऽधिकगणे	२।४।२८	भजभाममिदो वुग	२।२।१४४
प्रायोऽनपत्येऽणीनः	४।४।१५५	बन्धौ वे	४।३।१०	भञ्जेर्जा	४।४।३२
प्रायो (य आ) भीक्षये	२।२।६९	बलादेर्मतुर्वा	५।१।५७	भर्गात् वैर्गर्त	३।१।१००
प्रावृष एण्यः	३।२।१३६	बले	४।३।२२१	भवतष्ट्रगुलमौ	३।२।६१
प्रावृषप्रः	३।३।२	ब्रहावीरेतः	५।३।८६	भवति	१।४।७१
प्रियवशो वदः खच्	२।२।३६	बहुत्वेऽदोरपि	३।२।१०३	भवतेगः	५।२।१७३
प्रियस्थिरस्फिरगदरः	४।४।१४८	बहुपूगणसङ्घस्य	४।१।४	भवद्भगवदवचनो वा रिः	५।४।३
प्रसुत्वः साधुकारिणि	२।१।१२२	बहुल खौ	१।४।१२६	भवद्वद्वा तन्नामीये	२।३।१०७
प्रे	२।२।४	बहुल गुरुवृद्धतृप्रदीर्घ	४।४।१४९	भव्यगेयप्रवचनीयो-	२।४।५३
प्रेद्वस्तु श्रवः	२।३।२६	बहुलापिन्यालाटौ	४।१।४६	भमन्यावृत्तुभ्योऽवर्पा-	३।२।१३७
प्रेलपसृष्टमयवदवमः	२।२।१२६	बहोर्धा वामत्तौ	४।२।२७	भम्भैपाजाजाद्वान्वाना	५।२।५२
प्रे लिप्तायाम्	२।३।४२	बहोर्वत्नसौ	५।३।१७	भस्य	४।४।११८
प्रेल्वाप्चतुगे नुट्	५।१।३६	बहौ भल्येत्	५।२।६८	भस्य टेः खम्	५।१।६५
प्रे वणिजाम्	२।३।४८	बह्वो नृगोर्वा टः	४।१।१३४	भागाग्रश्च	३।४।६८
प्रे मृजोरिन्	२।२।१३६	बह्वादेष्ट.	३।३।१८२	भा गुणोक्त्याऽर्थनोने	१।३।७
प्रे पातिमर्गप्राप्तकाले	२।३।१३६	बह्लपाच्छस्कारकादा	४।२।४७	भागे चानुप्रतिपगिा	१।४।२२
प्रोः	५।२।१७६	बह्लादेः	३।१।३१	भाऽतुलोपमाभ्या तुल्याये.	१।४।७६
प्रो धि च	१।२।६६	बह्वृचो बहुलं टज्	३।३।४३	भाटाविदमोऽन्वादेशे	४।३।११८
प्रो नपि	१।१।७	बाढान्तिकयो. साधनेदौ	४।१।१२२	भाटौ वोक्तपुंस्क	५।१।५३
प्रोऽभ्यार्थभ्योः	५।२।१०२	बाहन्तस्तुक्रमण्डलुभ्य	३।१।६०	भात्युक्त काल	३।२।४
प्रोष्टपदाना जाते	५।२।२३	विमेतेर्हेतुभये	४।३।४८	भाया श्रीजन्मदो	४।३।२२२
प्रोऽष्टैयजात्वदः	४।२।१२१	विल्वमादेश्लस्य	४।४।१४३	भार्थ	१।४।१४
प्लक्षादिभ्योऽण्	३।३।२२२	बुव्यु नश्जनेट्प्रदुव्योणः	१।२।८३	भावर्म टि०.	१।१।३०
प्लादेः प्र.	५।२।७८	बृहत्तिका	४।२।१४	भावयानिन्	२।३।६
फ		बो नममद्वन्	५।३।२४	भाव्यादिम.	३।३।१४३
फट्	३।१।२०	ब्रह्मणन्व	३।४।२२६	भावे	२।३।१७
फणः सन्तानाम्	४।४।११६	ब्रह्मणो गम्भेभ्य	४।२।१०६	भावेऽणो	२।२।६०
फण्णिजोर्वा	३।१।७६	ब्रम्रगुणवृत्तेषु क्विप्	२।२।७५	भावे त्वन्तलो	३।४।११०
फलभजो	४।४।११२	ब्राह्मणमाणववाटवान्	३।२।४२	भावे	१।१।३८
फलेद्रव्यात्मभगिक्वृत्ति-	२।२।३१	ब्राह्मोऽज्ञातौ	४।४।१६२	भिन्नादे	३।२।३३
फगुन्वटः	३।३।६	ब्रुव आदर्श्च	२।४।७०	भिन्नाम्नादाये	२।२।२०
फण्यहतेर्ग	३।१।१३८	ब्रुव ईट्	५।२।६१	भिन्यात्पुंयो नटे	२।१।६०
फाचुनीश्रवणमर्चिकी	३।२।१८	म		भिरुलिङ्गो नमोऽदो	४।४।८०
निग्दो	३।१।१४७	नन्वा	३।३।२०४	भिरा प्रकटमी	२।२।५७
फुन्तः	५।३।३०	नन्वादा	३।३।२०५	भिरा वा	४।४।१०५

भिसोऽत ऐम्	५११८	मदजनहतात्करण-	३१३२०१	माना गन्धमथानुगम्	२१४६८
भोमादयोऽपादाने	२१४६१	मदेभ्योऽण्	३१२८५	माने कः	३१३१२०
भीरोः स्थानम्	५१४६३	मधुमन्मोर्ब्राह्मणकोशिकयोः	३१११६५	मानवधदानशान्त्यो दीधरः	२१४११४
भीहीभृद्वामुज्वन्	२११३५	मधूपशुचिमुष्काद्रः	४११३३	मालेपीनेष्टमाना भागि-	४१३१६०५
भुजप्रयाजानुयाजोऽप्रयोज्य-	५१२१६८	मध्यान्तादगुरौ	४१३१३०	मावधेः	५१११५०
भुजोऽदौ	१२१६३	मध्यान्मः	३१२१२८	मासाद् वयमि राज-	३१४६०
भुमात्थागापाहाक्ता	४१४६५	मध्मे पदे निवचने	१२११४५	मिटः	४११११५
भुवः खन्तरे	२१२१५२	मध्वादेः	३१२१६६	मिडस्त्रिशोऽस्मत्पुम	१२११५२
भुस्थोरि-	१११६१	मनः	२१२१००	मिडैकार्थं वा	११४१५४
भूतपूर्वं चरद्	३१४१४२	मनस्युरनस्यनत्याधाने	१२११४४	मिट्शिद्गः	२१४१६३
भूतवच्चाशमायाम्	२१३१०८	मनुष्यादिष्वरण्यात्	३१२१०७	मिडमीज्जीटा ग्रे च	४१३१४३
भूते	२१२१७२, २१३११६	मनो डाण्च	३११६	मितनखपरिमाणे पचः	२१२१३६
भूयहये	२११९०	मनोरुश्चक्षुश्चेतोरहोर-	४१२१५६	मिडेरैप्	५१२१७६
भूवादयो धुः	१२११	मनोरौ च	३११४१	मिथस्थतसोऽमृततसाम्	२१४१८२
भूयाऽपरिग्रहेऽलमन्तः	१२११३५	मनोर्जातौ युक् चाऽजौ	३१११४८	मिष्वस्ममस्विथस्थितित्तम्	२१४१६४
भृग्वत्रिकुत्सवशिष्टगोत	१४११३६	मन्त्रेसुक्विपु	४१४१६२	मुक्तापेतापोदपतितापन-	१३१३३
भृजा त्रयाणामि-	५१२१७५	मन्थौदनसक्तुविन्दुवज्र	४१३१७१	मुण्डमिश्रश्लक्ष्णलक्षण	२१११८
भृजोऽदौ	२११६३	मन्माभ्या खौ	४११५८	मुदगादण्	३१३१४८
भृतृजिधारिसदि-	२१२१४४	मन्वन्कनिव्विचं क्वचित्	२१२१६२	मुमचः	४१३१७७
भृशादंश्चौ हलो सुवि	२१११०	मम्	१२१७५	मुपग्रहिर्दविदः सश्च	१११८२
भेग्यो मृगुलम्	३१३१३	ममोद्द्वयो मतोर्वोऽ-	५१३१३१	मृगोत्तरपूर्वात्सकधनः	४१२१०१
भेपजानन्तावसथेतिहाज्यः	४१२१३०	मयद्	३१३१५६	मृजेरैप्	५१२११
भोत्किाणेषुकार्पादिभ्यो	३१२१४७	मयट्वैतयोरभक्षाच्छा	३१३१०८	मृडमृदगुधकुथवदवसः	१११८०
भ्यप-	५१२१५०	मयूरव्यसकादयश्च	११३१६६	मृदन्तनुम्विभक्त्याम्	५१४१६५
भ्योऽभ्यम्	५१२१२६	मयो वोऽच्युजः	५१४१५	मृदस्तिकः	४१२१४५
भ्ररजोरग्गेरग्ना	४१४१४६	मस्जिनशोर्भलि	५११३६	मृदो लुङ्लिडोश्च	१२१५७
भ्राजभासभापदीपजीव	५१२१६६	मृतोऽज् खजौ	३१११३०	मृषः परेः	१२१७६
भ्रातरि च त्पायमि	३११८२	महाराजप्रोष्ठपदाभ्या	३१२१३०	मृषः स्वार्थे	१११९३
भ्रातृर्षश्च	३१११३३	मरागजात्	३१३७२	मेघर्तिभयेषु कृजः	२१२१४१
भ्यो एव	३११११४	महेन्द्राद् घाणौ च	३१२१२४	मेनिः	२१४७५
भोपपपपपपपप-	४१४१६६	माडि लुङ्	२१३१५१	मो नः	५१३८३
भोपपपपपपपप-	४१४१६६	माटो व्यतिग्रे	२१४१५	मोऽनुस्वारः	

यखौ वाऽशब्दे	३।३।४०	यमः	२।१।६७	येनालि विविस्तदन्ताद्योः	१।१।६७
यग् दुहः	२।१।५७	यस्कादिभ्यो वृद्धे	१।४।१३४	येना च द्वेपः शाश्वतिकः	१।४।८५
यडि	५।२।१३६	यस्य ड्या च	४।४।१३६	योगाद्यश्च	३।४।६६
यडुडोरेप्	५।२।१८०	यस्य वा	५।१।१२१	योऽो रूपोत्तमाद् बुज्	३।४।१२२
यडोऽचि	१।४।१४४	याचितापमित्यात्करण	३।३।१४६	योऽनोऽरासुयुवः	२।१।८४
यडो वा	५।२।९२	याजकादिभिः	१।३।७२	योजन याति	३।४।७०
यचि भः	१।२।१०७	याडापः	५।२।१०८	यो यडः	२।२।१५५
यच्चयत्रयोः	२।३।१२४	याग्ये पाशः	४।१।११०	योऽर्धात्	३।२।१२४
यजयाचयतविच्छप्रच्छ-	२।३।७२	यावति विन्दजीवः	२।४।१६	योऽमख्यापरिमाणा-	३।४।३८
यजिजपिवदशामूकः	२।२।१३५	यावद्य थावधृत्यसादृश्ये	१।३।६	यौनमौखाद् बुज्	३।३।५१
यजिनजिप्रवचाम्	५।२।६६	यासुण् मो डित्	२।४।८४	य्वावचि सन्धौ	५।३।१०५
यजर्विगम्या घखजौ	३।४।६७	यि किडत्ययङ्	५।२।१३१	य्वृग्रहवृहगमोऽन्	२।३।५२
यजेः लुवः	२।३।२३	यि खम्	४।४।१०८	य्वौ स्त्र्याख्यौ सु.	१।२।९२
यनः	३।१।१६	यिट् चेष्टस्य	४।४।१५१		
यनजोः	१।४।१३५	यित्ये	४।३।६७		
यनिजोः	३।१।९०	युक्तवदुसि लिङ्गसख्ये	१।१।६८		
यन्यतो ढो.	५।२।६६	युग्य पत्रे	२।१।१००		
यणेत्योः	४।४।७७	युजातः	२।३।१०६		
यन. प्रतिदाप्रतिनिधौ	१।४।२२	युजेरसे	५।१।५०		
यतश्च निर्धारणम्	१।४।४९	युजोऽयजपात्रे गे.	१।२।६०		
यत्तदेतेभ्यः परिमाणे	३।४।१६०	युद्	२।३।६७		
यत्ये तदादि गुः	१।२।१०२	युड्या बहुलम्	२।३।९४		
यन्मययाऽनु.	१।३।१२	युवा खलतिपलितवलि-	१।३।६३		
यथातथयथापुरयो.क्रमेण	५।२।३५	युवाल्पयो. कन् वा	४।१।१२३		
यथातथयोरगृयाप्रत्युक्तौ	२।४।१४	युवावौ द्वौ	५।१।१५१		
यथानुग्वसम्भुजस्य	३।४।१३१	युवोरनामौ	५।१।१		
यथासग्य समा.	१।२।४	युग्मदस्मदो	५।१।१४५		
यथान्वे यथायथम्	५।३।१२	युग्मदस्मदोऽकट्खन्	३।२।१२१		
यद्भावाद् भावगति	१।४।४५	युग्मदस्मदो ढसोऽश्	५।१।२३		
यनेऽश्ववृषभयोः कचि	५।१।३०	युग्मदस्मदोऽविपत्ताम्यन्	५।३।१६		
यन मन्त्रियुपे च	२।३।६६	यृतिनतिमानिदेतिर्तीर्थ	२।३।७८		
यन लचने	१।१।८६	यृन्नि	३।१।६२		
यनमनमान सन् च	५।१।३२	यृनि	३।१।७५		
यनदुस्वार्त्त पन्थन	५।१।३२	यृनयौ जमि	५।१।५२		
यनो ढो विभागा ढे	५।१।२५	ये कडाग	१।३।००		
यददुक्ते	५।३।६	येऽदौ	१।१।५६		
यननययदिग्वय	३।१।८६	ये ङ	१।१।४५		
यनचोऽन	३।३।८३	येऽदुक्तेऽनोऽनोऽनो	१।१।३१		

र

रः खम्	४।४।१६
रक्ते	४।२।१८
रक्षत्युञ्जति	३।३।१५५
रङ्कोः	३।२।७६
रजःकृयामुतिपगिपदो	४।१।३८
रज्जेः	४।४।२५
रथवदयो.	४।३।२०८
रथाय.	३।३।८६
रघादेः	५।१।९३
रविजभोग्नि	५।१।४०
रन्तोऽगु	१।१।४८
रन्नभेदः	२।१।८८
रभोऽगच्छितो	५।१।१०
रग्मो	२।३।१०
रन्धोनप-ये	३।१।५१
गजदन्ताद्यो	१।३।६६
गजन्वादेयुज्	३।१।१६
गजन्वान मौग-ये	५।१।५५
गजन्वशुगाय	३।१।८६
गजाद मन्त्रि-य	१।२।१३
गज म च	३।१।१६
गजि म च	२।२।८२
गज्ज च	३।१।५०



वयःशक्तिशीले	२।२।१०७	वा क्यत्य	४।४।५२	वा नि क्योपमिश्रणञ्चे	४।३।१६७
वयसि	२।२।१५	वाक्यस्य टे. पः	५।३।६०	वा नीचः	४।३।१६०
वयसि दन्तस्य दत्	४।२।१४२	वाक्यादेर्वोध्यन्याम्या-	५।३।६	वाऽनुदात्तस्यर्हुट.	४।३।५२
वयस्तिनुताः	४।१।६१	वाऽधः	२।१।७१	वाऽनुपि	५।४।६७
वयस्तुल्याभ्या सम्मिते	३।३।१६६	वा खौ	४।२।१३४	वाऽन्यस्मिन् मपि एटे स्थ	३।१।८३
वयस्यनन्त्ये	३।१।२४	वागमिड्	१।३।८२	वाऽऽप.	४।४।५७, ५।२।१२७
वयोवाक्प्राणिजाल्यु-	३।४।११६	वाऽगे	२।१।२७	वा पदस्य	४।३।६४
वरणादे.	३।२।६२	वाऽगेः	१।२।३९	वा पदान्तस्य	२।१।४, ५।४।१३३
वरुणभवशर्वरुद्रेन्द्र-	३।१।४२	वा गौ	१।४।६६	वा परावगम्याम्	४।१।६५
वर्गान्तात्	३।३।३६	वाऽग्रेप्रथमपूर्वं	२।४।१०	वा परे	२।३।११४
वर्जनेऽपपरिभ्याम्	१।४।२१	वा ग्रावेद्व्याशास.	१।४।१४७	वाऽवदितौ	४।३।१०६
वर्णद्विदादेष्टयण् च	३।४।११३	वाडिस्त्रुयो.	२।३।४६	वा पूर्वापगदहनात्	३।२।१४०
वर्णाद् बहुल तो नस्तु	३।१।३६	वा डिश्योः	४।४।१२४	वा बहूना जातिप्रश्ने	४।१।१४८
वर्णेनार्हद्रूपयोग्यानाम्	१।४।८६	वाचयमामूर्यपश्योप्रपश्य	२।२।३८	वा भादि	१।३।८४
वर्णे नित्ये	४।२।३७	वा चत्वारिंशदादौ	४।३।१६०	वा मावकरणे	५।४।९४
वर्णो वुञ्	३।२।६८	वाचस्तदर्थया.	४।२।४१	वा भावारम्भयो.	५।१।१२३
वर्त्यत्यस्य	१।४।७३	वा चित्तविकारे	४।४।८५	वाऽभ्यवात्	४।३।२१
वर्त्यत्यवरेऽववे	१।३।११२	वाचेः	५।२।६३	वाभ्राश्ल्लाशभ्रमुक्तमु-	२।१।६६
वर्षप्रमाणे	२।४।१८	वाचो ग्मिन्	४।१।४८	वा मः	४।४।३६
वर्षस्याभाविनि	५।२।२१	वा जमि	१।१।४०	वाऽमर्त्ये	३।२।१२०
वर्षादुप् च	३।४।८५	वा जृभ्रमुत्रमाम्	४।४।११५	वाऽमावास्याया.	३।३।७
वलाप्यगस्येड्	५।१।८४	वाऽन्वेदिन्स्त्रियाम्	४।२।१७	वा मुचो धरेप्	५।२।१५६
वलि व्योः खम	४।३।५५	वाऽदा	५।४।५३	वा मो.	५।३।१५६
वशि	५।१।११४	वा द्यग्लेगशोके	४।३।१६२	वा म्यो	५।४।१०७
वसुसुखम्बनदुहा दः	५।३।७६	वाऽऽदृकाचितपात्राग्नः	३।१।५२	वा म्यो खम	४।१।६८
वसोऽनुपात्ताट.	१।२।११८	वा तदमृगतृगधान्यय-	१।४।८८	वाभ्यगो.	१।४।७५
वसोर्जि	४।४।१२०	वातातीमागम्या कुम्	४।१।५२	वाऽवृत्तुपिबुपमो य	३।२।०६
वन्नेर्हुट्	४।१।१५५	वाऽनेऽधोर्धमात्	५।२।५१	वा रोमानपयोः	३।२।००३
वन्नक्तविक्रमाष्टः	३।३।१३६	वा दिक्मवे	१।१।३६	वाऽर्थ या	४।२।००
वन्नद्रव्याभ्या टकौ	३।४।५०	वा देव्यामोणे	४।४।६०	वा लिदि	१।१।००
वन्मद्रिपो वसुनिगमन	२।२।८८	वा यो.	५।२।३१	वाऽवगम्य	१।१।०५
वराध्रे लिट्.	२।२।३५	वा द्रुहृदृग्युर्गीगणान्	५।३।५०	वा वागम्ये	१।२।००
वा	१।२।६५ १।३।६	वा वे	१।२।८२	वा निव मीन रात	३।३।००३
वा क्यसि लिट् च	२।३।००६	वा वेऽश्चो	२।१।४४	वा निपाद	१।०।००
वा क्यकर्म.	२।३।३	वाऽनप्रत्ने नि	४।१।८८	वा निपेदतन यो	५।०।००
वा क्यदि	१।४।०६	वा न्य	५।१।७७	वाऽवद्वि	३।०।००
वा क्यि	१।४।१४४	वाऽनन्तादौ	५।०।००	वा निपाद	५।०।००
वा क्ये	५।०।००५	वा न्य	१।०।००	वा नि	५।०।००

वशिजिह्वाशिनोः के हे	४१४१६५	वितस्मायामेधास्त्रजः	४११४७	वृद्धे कुञ्जादिभ्यो ङ्कः	३११८७
वाऽशेषात्	२११११७	विन्मतोरूप्	५१११२४	वृद्धेऽन्यनुप्	३११७३
वा श्यावारोकात्	४१२१४४	विपरजनेः	१२११३	वृद्धोन्तोष्टोरभ्रराजन्य-	३१२३४
वाऽपान्तेऽन्खादौ	५१४१०१	विपूयविनीयजित्या-	२१११६७	वृन्दारकनागकुञ्जरैस्तत्	११३५७
वाष्पोष्मपेनादुद्धमे	२११११३	विप्रसमोऽलौ डुः	२१२१५६	वृषभोपनहो ज्यः	३४११३
वा समीपे	१४१६२	विभक्ती	११२१५७	वृषाकप्यग्निकुसित-	३११४०
वाऽसुपि	४१३८०	विभक्ते का	१४१५०	वृतो वा	५११८६
वा सुपो बहुः प्राक्तु	४१११२७	विभक्त्यामाष्टनः	५१११४३	वैः शालशङ्कटौ	३४११४८
वा से	३१११५५	विभाषा ग्रहः	२११११७	वैः स्कन्दोऽते	५४१५५
वाऽस्थः स्फादेः	४१४६७	विभाषाऽचि	५१३३६	वैः स्कम्भेः पः	५४१५९
वा स्वल्पत्योः	४१३१३७	विभाषाऽन्यत्र	४१३१०२	वैः स्वार्थे	११२३७
वाऽस्वाङ्गादेः	३११४६	विभाषा लियोः	४१३४४	वेडि	१४१११६
वा स्मरणल्	५११६८	विभाषा लृटः सत्	२१३११३	वेजो वयिः	१४१११३
वाऽऽरितान्वाद्यौ	११३१०३	विभाषेकोऽस्वे प्रश्च	४१३१०४	वेञ्च प्रश्नाख्याने	२३१६१
वाटीकग्रामेभ्यः	३११६३	विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः	५४१६०	वेष्टः	५४१६१
वा हेः पृष्ठप्रत्युक्तौ	५१३६६	विमुक्तादिभ्योऽण्	४११६५	वेतनादेर्जोवति	३१३१३५
वाद्याद् वाहनम्	५४१९२	विरामे वा	५४११३१	वेत्तेः सिद्धसेनस्य	५४११७
विशतिकात्त्रः	३४१२९	विरामे विसर्जनीयः	५४११६	वेरितः	२११४९
विशतित्रिंशद्भ्या ड्ब्रुलौ	३४१२१	विरोधि चानाश्रये	१४१८६	वेर्मैडः	४४१६९
विंशतेश्च	३४१६८	विशिपतिपदिस्कन्दो-	२४१४१	वेवे स्थानान्तात्	४१२१६
विशत्यादेर्वा	४१११०	विशेषण विशेष्येणेति	१३१५२	वेश्च स्वनोऽशने	५४१५०
विकर्णकुपीतपात्का-	३११११३	विश्वदेवयोश्च टेर	४३११६८	वैकशालायाष्टः	४११६३
विकर्णशुभ्रछगलात्	३१११०६	विश्वजनात्ममोगान्तात्	३४१७	वैकहलि पूर्ये	४३११७०
विगुदामीपरेः स्थलम्	५४१७०	विश्वस्य वसुराटोः	४३१२२६	वैकाद्वधमुञ्	४११०७
विचार्य पूर्वम्	५३१९७	विसमाप्तौ क्तोऽनञ्	१३१५५	वैनोऽदूरेऽकायाः	४११६६
वित्तभित्तदूनगून-	५३१७४	विसारिणो मत्स्ये	४१२१३	वैशाखाषाढपष्टिकैका-	३४११०३
विदाकुर्वन्तु वा	२११३७	वीप्वेत्थम्भूतलक्षणे-	१४१११	वैषमोह्यसूश्वसः	३१२८२
विदाभ्योऽण्प्रधानन्त्य	३११६३	वुञ्छणवठेत्रदण्य-	३१२१६०	नोक्त नाक्	३१२१०३



बोर्णुजः	५।१।८२	गकि सहश्च	२।१।८६	शास इत्	४।४।३३
बोर्णोः	१।१।७७ ; ५।२।८८	गकि हस्तिक्वाटे	२।२।५२	शास्त्वमाम्	५।४।४०
बोर्वात्	४।२।१३१	गक्तियष्टीकण्	३।३।१७७	गा हौ	४।४।३५
बो वा किति	४।३।३३	शक्तौ	४।३।६६	शिखाया बल्ः	३।२।६८
बो विधूनने जुक्	५।२।४३	गरिडकादेर्ज्यः	३।३।६६	शिखाशालाशम्पूर्णाश्रिया	४।२।८
बोप्रजाग्विदात्	२।१।३४	गतमानविगतिसहस्रवस	३।४।२४	शित्तर्वस्य	१।१।५२
बोशीनरेपु	३।२।६४	शतादस्त्रार्थेऽसे ठयौ	३।४।१८	शि धम्	१।१।३१
बो कपविचलसकथ-	२।२।१२०	गतादिमासार्धमामसवत्स-	४।१।८	शिरोऽभसे पदे	५।४।३५
व्यः	४।३।३६	शताद्वा	३।४।३२	शिलाया दः	४।१।१५६
व्यक्तवक्समुक्तौ	१।२।४४	शटेर्गात्	१।२।५६	शिल्पम्	३।३।१७४
व्यजोऽघञचोः	१।४।१२८	शदोऽगतौ तः	५।२।४६	शिल्पिनि ट्युः	२।१।११९
व्यञ्जनैरपसिक्ते	३।३।१४६	शपोऽदादिभ्यः	१।४।१४३	शिवादिभ्योऽण्	३।२।१०१
व्यतुल्याख्या अजात्या	१।३।६४	शब्दकर्मणो वेः	१।२।२६	शिशुकन्द्यममभद्वन्द्वेन्द्र-३।३।६२	
व्यथो लिटि	५।२।१६८	शब्ददुदुर करोति	३।३।१५६	शीटो मे	५।३।१३०
व्यधमदजपोऽगौ	२।३।६४	शब्दे च	१।२।१२३	शीटोऽधिकरणे	२।२।२०
व्यवहृपणोः सामर्थ्ये	१।४।६४	शमित्यामदेर्घिण्	२।२।११७	शीटोऽट्	५।१।६
व्यस्य वा कर्तरि	१।४।७५	शमित्यामदो दीः	५।२।७२	शीम्वोरात्	५।१।५८
व्याः	२।३।१४७	शमि धोः खौ	२।२।१६	शीर्षच्छेदाश्च	३।४।६३
व्याडश्च रमः	१।२।८०	शम्याष्टलज्	३।३।१०७	शीलम्	३।३।१७६
व्याघ्रैरपमेयोऽनघोगे	१।३।५१	शरः खयि	५।२।१६२	शुक्राद् घः	३।२।२१
व्यामिश्रः स्वरितः	१।१।१४	शरद्वच्छुनकदर्माद्	३।१।६१	शुच्युञ्ज्योर्घनि	५।२।५७
व्युडोऽवो हलः संश्च	१।१।९७	शरि सश्च	५।४।२३	शुण्डिकादिभ्योऽण्	३।३।५०
व्युत्तपः	१।२।२२	शर्करादिभ्योऽण्	४।१।१६१	शुद्राग्रान्तशुभ्रवृषव-	४।२।१४५
व्युदः काकुदान्तात्	४।२।१४८	शर्कराया वा	३।२।६३	शुनोऽन्तेः	४।२।६८
व्युपेशीडोऽन्त्ये	२।३।३७	शर्परे खरि	५।४।२०	शुभ्रादेः	३।१।११०
व्युप्यदेरण्	३।४।६०	शलातुनो वा	३।३।१७३	शुपिपचेः कौ	५।३।६७
व्यो ख वा	५।४।५	शरल्लोऽटि	५।४।१३७	शुक्चूर्णभक्तेषु पिपः	२।४।२०
व्रजयज. क्यप्	२।३।८०	शमि	५।१।२५	शूलोन्वायः	३।२।१०
व्रजवदलोऽनः	५।१।७६	शमो न.	५।१।२५	शृङ्गल्लोदरिकमन्य फा-	४।१।१७
व्रते	२।२।६८	शम्भोविमृष्टान्वाही	४।२।३	शृङ्गव्योमः	२।२।१५०
व्रश्चभ्रजमृजमृजयजरा	५।३।५३	शामलाद्वा	३।३।६६	शृङ्ग्रा प्रो वा	५।२।१०६
व्रातस्तादन्विनाम्	४।२।२	शाम्बादेर्घ	४।१।१५७	शं मृचान	५।१।२८
व्रीरिशालेर्दन्	३।४।१२८	शास्त्रासाहाय्यविषा युम्	५।२।१८२	शंपतमुपगमिगाल	४।१।१००
व्रीदादेः	४।१।६२	शास्त्रोर्विभागा	५।२।१४५	शेषाद्वा	४।२।१५६
श		शाणान्	३।४।३३	शय	२।३।१०० ; ३।२।१००
शम्भोविमृष्टे	३।४।१२८	शान्	५।४।१०३	शंभोऽन्ते	३।३।१०३
शम्भुवज्जलादन्विनाम्	२।४।५०	शान्ताद्वा	३।३।६६	शंभोऽन्ते	३।४।१०३
शक्ति लिट् च	२।३।१८८	शान्ताद्वा	३।३।६६	शंभोऽन्ते	४।१।१०८

शो	४।४।१०	षे कृति बहुलम्	४।३।१३२	सन्निधिः	४।३।१३२
शौनकादिभ्यश्छन्दसि	३।३।७७	पेऽङ्गुलेभिस्तल्यादेः	४।२।८८	सन्नेहो	४।३।१३२
शनसः खम्	४।४।१०१	पे ष्यस्य पुनपत्योर्जिः	४।३।१६	सन्निधिः	४।३।१३२
शनान्तखम्	४।४।२२	पोऽन्यः	१।४।६५	सन्निधिः	४।३।१३२
शुभुभुवा चोरचीयुवौ	४।४।७२	ष्टुना ष्टुः	५।४।१२०	सन्निधिः	४।३।१३२
श्वशपः	५।१।५९	ष्ठिवृत्तम्वाचमा शिति	५।२।७३	सन्निधिः	४।३।१३२
श्याऽच्चिद्वोऽत्पशाया	५।३।६५	ष्यान्ते	१।१।३४	सन्निधिः	४।३।१३२
श्याद्व्याधातुतसुलिह-	२।१।११४	ष्योऽन्तु लपान्त्ययो वृद्धे	३।१।६३	सन्निधिः	४।३।१३२
शैनपातातैलपाता	३।२।५०	प्रो नो राः समाने	५।४।८५	सन्निधिः	४।३।१३२
भाद्र भुक्त ठोऽनेन	४।१।१८	स		सन्निधिः	४।३।१३२
भादे शरदः	३।२।१३२	सद्योः	१।२।६२	सन्निधिः	४।३।१३२
भिणीभुवोऽगौ	२।३।२४	सख्यः	२।२।६	सन्निधिः	४।३।१३२
भुवः शृ	२।१।७०	संख्यादी रश्च	१।३।४७	सन्निधिः	४।३।१३२
भुवोऽनिट्	२।२।८९	सख्यापरिमाणे इतिश्च	३।४।१६३	सन्निधिः	४।३।१३२
भुल्लृष्टः सनः	१।२।५२	सख्यावाङ्गोऽङ्गुगणात्	४।२।६६	सन्निधिः	४।३।१३२
भेष्यादि कृतैः	१।३।५४	सख्यायाः कोऽतिशतः	३।४।१६	सन्निधिः	४।३।१३२
'भुक' किति	५।१।११७	सख्यायाः पादशतेभ्यो	४।२।१०	सन्निधिः	४।३।१३२
शिल्पः	२।१।४१	सख्यायाः सख्यासंवत्स-	५।२।२०	सन्निधिः	४।३।१३२
शिल्पशीट्स्यासवसज	२।४।५७	सख्याया अत्रयवे तयट्	३।४।१६४	सन्निधिः	४।३।१३२
श्वगणाहा	३।३।१३४	सख्याया गुणत्व नि-	३।४।१६६	सन्निधिः	४।३।१३२
श्वसुवमघोनोऽहति	४।४।१२१	सख्याया ध्वभ्यावृत्तौ कृत्व	४।२।२४	सन्निधिः	४।३।१३२
श्वसस्तुट् च	३।२।१३५	सख्याया विधार्थे धा	४।१।१०६	सन्निधिः	४।३।१३२
श्वसो वसीयसश्च	४।२।८३	सख्या वश्येन	१।३।१६	सन्निधिः	४।३।१३२
श्वदेरावनः	५।२।१३	सख्याविसायादेरहन्	४।३।२१५	सन्निधिः	४।३।१३२
श्वारमचर्मणा सकोच	४।४।१३२	सख्ये सख्या भयातन्ना	१।३।८७	सन्निधिः	४।३।१३२

समः समि	४।३।१६६	सरजसोर्वष्टीवपदष्टीवा-	४।२।७६	साधुनिपुणेनार्चामीत्रप्रते	१।४।५१
समजनिपदनिपदमन-	२।३।८१	सरोरिजादेः	२।१।३२	सान्ताः	४।२।६५
समयस्तदस्य प्राप्तम्	३।४।९७	सरोऽनोऽश्यामायसः	४।२।९६	साम आक्रम	५।१।२९
समयासपत्रानिष्यत्रा-	४।२।६४	सरोर्हलः	२।३।८५	सामान्येनोपमानम्	१।३।५०
समर्थः पदविधिः	१।३।१	सर्वकूलभ्रकरीपेपु कपः	२।२।४०	सामि	१।३।२४
समर्थात् प्रथमाद् वा	३।१।६७	सर्वचर्मणः कृतः	३।४।१३०	सायश्चिरप्राहुरेप्रमे-	३।२।१३६
समवायात् समवैति	३।३।१६४	सर्वत्राग्निकलिभ्या ढण्	३।२।२८	साल्नावयवप्रत्यग्रथ	३।१।१५४
समवाये	४।३।१११	सर्वनाम्नः स्मै	५।१।१२	साल्नेयगान्धारिभ्याम्	३।१।१५१
समा समां विजायते	३।४।१३७	सर्वनाम्नः स्याद् प्रश्चप्रा	२।१।०९	सावज्जेः	५।१।१३०
समानस्य स ज्योतिर्ज-	४।३।१६२	सर्वनाम्नो भा च	१।४।३६	सावनहुहः	५।१।६०
समानोदरे शयितः	३।३।२०८	सर्वभूमिपृथिवीभ्यामण्	३।४।४१	सावैम्मे	५।१।७७
समापनात्सादेः	३।४।८२	सर्वस्य द्वे	५।३।१	साऽस्मिन् पौर्णमासीति	३।२।१६
समायाः खः	३।४।१०५	सर्वस्य सो वा दि	४।१।८१	साऽस्य देवता	३।२।१९
समिष्टचिस्त्रजिवरः	२।२।१२४	सर्वाण्यो वा	३।४।८	सिकताशर्कराभ्याम्	४।१।३१
समि मुष्टौ	२।३।३५	सर्वात्	३।४।४५	सिचो यडि	५।४।७८
समियुद्रुवः	२।३।२२	सर्वादिः सर्वनाम	१।१।३५	सिति	१।२।१०५
समुद्रः	५।३।७१	सर्वात्रीनानुपदीनायान	३।४।१३४	सिद्धशुक्रपक्ववन्धैः	१।३।३६
समुदाङ्ग्यमोऽग्रन्थे	१।२।७०	सर्वैकाभ्या खः	३।३।१६३	सिद्धिरनेकान्तात्	१।१।१
समूले हनश्च	२।४।२३	ससजुयो रिः	५।३।७६	सिद्धी भा	१।४।५
समूहवच्च बहुपु	४।२।२६	सस्थानक्रियं स्वम्	१।१।२	सिध्मादेः	४।१।२५
समोऽकृजे	१।२।१६	ससौ प्रशसे	४।२।४६	सिन्धुनेरजाते	४।३।४२
समो गम्प्रच्छिस्वृच्छि-	१।२।२४	सस्मे लङ् च	२।३।१५२	सिन्धुपकरादण्	३।३।४
समो भया	१।२।५०	सस्तेऽद्युस्थस्य	५।४।३३	सिन्धुदेरण्	३।३।६७
सम्पदा चाभिविधौ	४।२।५८	सहनन्वित्यमानाद्	३।१।५०	सिपि रिवा	५।३।८१
सम्पद्युपाङ्गजः सुङ्भूये	४।३।११०	सहस्य सः खौ	४।३।१८६	सिर्तुर्दि	२।१।३८
सम्पादिनि	३।४।६३	सहस्य सत्रिः	४।३।२०१	सिलिट् दे	१।१।८५
सम्प्रति	२।२।१०१	सहार्थेन	१।४।३०	सिन्धुगहमुद्रस्तुन्वज्जाम	५।४।५७
सम्प्रतेरस्मृतौ	१।२।४२	सद्विबहोऽत्यौः	४।३।२१७	सिन्धुमीमुद्रतामो दौ	४।४।६१
सम्प्रत्यः	३।१।२२६	सदे	२।२।८३	सुः पूजाया न गिति	१।४।७
सम्प्रदानेऽपु	१।४।२३	सदेति तुल्ययोगे	१।३।६१	सुकर्मपापमन्त्रपुराणे इन्	२।२।७६
सम्प्रान्जानुनो ज.	४।२।१३०	साक्षादादिः	१।२।१४३	सुपट् पयोर्वा कृन्ते	५।३।११
सम्प्रोदश्च कट्	३।४।८६	सान्	५।४।७७	सुपट्	४।४।४६
सम्प्रोदने	२।२।१०३	सान्दविप्रात्	४।१।१६०	सुपट्. न्नजोगे	२।४।५५
सम्प्रोदने दोषन्	१।४।५५	सन्दे	३।४।२६	सुच	५।४।११
सम्प्रोदवदति पचति	३।४।५१	सन्दा कान्ये	४।२।५७	सुच न्यगो	५।४।८३
सम्प्रोदनेऽग्नि सग्नि	२।३।१३०	सन्दाकर्म उरगम	१।२।१११	सुगे न्यगो	२।४।११
सम्प्रोदनेऽग्नि सग्नि	१।३।१३१	सन्दाकर्म उरगम	१।३।१६	सुगे न्यगो	१।३।८६
सम्प्रोदने	५।४।९	सन्दाकर्म उरगम	१।४।१३	सुगे न्यगो	२।४।८७

मुटनपः	१।१।३२	सोढः	५।४।८१	स्थानीवादेशोऽनत्विगो	१।१।५६
मुधातुरकट् च	३।१।८६	सोमवरुणोऽग्नेरीः	४।३।१४०	स्थानेऽन्तरतमः	१।१।४०
मुपश्च	१।२।१५६	सोमाट्ठ्यण्	३।२।२५	स्थादेशेन चत्य	५।४।४५
मुपि	२।२।७; ५।२।६७	सोमे सुजः	२।२।७७	स्थासेनयसेधसिचसञ्ज-	४।४।४६
मुपि शीलेऽजातौ णिन्	२।२।६६	सोडिति	५।२।१०६	स्थास्तम्भोः पूर्वत्योदः	५।४।१३५
मुपीकोऽचि	५।१।५२	सोऽस्य निवासः	३।३।६३	स्थूलदूरयुवहस्वत्तिप्र-	४।४।१४७
मुपो भेः	१।४।१५०	सौ	४।४।११	स्थूलादिभ्यः प्रकारोक्तौ	४।२।११
मुपो धुमृगोः	१।४।१४२	सौ मे	५।१।८८	स्थेण्पिबुभूभ्यः सेमं	१।४।१४६
मुप्योः	४।४।७६	स्तम्भेरमकर्णेजपौ	२।२।१८	स्थेशभासपितकमो वरः	२।२।१५४
मुप् मुपा	१।३।३	स्तम्भुसिबुसहा कचि	५।४।८२	स्थोऽवविप्राच्च	१।२।१७
मुभगाद्व्यस्थूलपलित-	२।२।५४	स्तम्भुस्तुम्भुस्कम्भुस्तु-	२।१।७७	स्नेहने पिपः	२।४।२७
मुग्मिन्त पदम्	१।२।१०३	स्तम्भेः	५।४।४८	स्नोर्दार्थात्	५।१।१११
मुयजोर्वनिप्	२।२।८६	स्तुते भ्रातुः	४।२।१५७	स्नोश्च जिश्च	२।१।५६
मुराशीध्वो. पिनः	२।२।१२	स्तुत् सोमौ चाग्नेः	५।४।६५	स्पद्धं परम्	१।२।६०
मुपामादिषु च	५।४।७२	स्तुशासिण्वृदुजुषःक्यप्	२।१।१९१	स्पृशमृशकृपतृपटपो वा	२।१।३९
मुसख्यादेः	४।२।१४०	स्तुसुधूजो मे	५।१।१३१	स्पृशोऽनुदके क्विः	२।२।५६
मुसर्वाद्विप्राप्	५।२।१७	स्तोयसख्ये	३।४।११६	स्पृष्टिग्रहिपतिदयि-	२।२।१४१
मुस्तिनृणसोमाज-	४।२।१२६	स्तोः श्चुना श्चुः	५।४।११६	स्फाटतोऽसुटः	५।१।६१
मुट्टदुट्टवै मित्रा-	४।२।१५०	स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्र	१।३।३४	स्फादेः स्कोऽन्ते च	५।३।४६
मुत्तसाम्नोश्छः	४।१।६३	स्तोके प्रतिना	१।३।७	स्फादेरातो धोर्यएवतोऽ	५।३।६०
मुत्ताकोटः	३।२।५५	स्त्रियाः	४।४।७४	स्फाद्यत्योरस्फुरेप्	५।२।१३८
मुत्तेऽस्मिन् सुविग्रहि-	५।२।११४	स्त्रिया क्तिः	२।३।७५	स्फान्तस्य खम्	५।३।४१
मुभक्त्योर्मिडि	५।२।८६	स्त्रिया खौ	४।२।१४३	स्फायः स्फीस्ते	४।३।१७
मुर्पाद्या	३।४।२५	स्त्रियाम्	३।१।३	स्फायो वः	५।२।४८
मुर्पागत्पयोश्छे च	४।४।१३८	स्त्रियामुप्	३।१।६८	स्फुरिस्फुल्योर्धञि	४।३।४०
मुषत्पद कमरः	२।२।१४३	स्त्री	१।२।६३	स्फुरिस्फुल्योर्निनिवेः	५।४।५८
मुजीगूनशः कवरप्	२।२।१४६	स्त्रीगोर्नीचः	१।१।८	स्फेदः	१।२।१००
मुजुञ्जलपशुचलप	२।२।१३२	स्त्रीधेनुवाग्दारात्पुसनङ्-	४।२।७३	स्मिडः	४।३।५०
मुदिपरे	२।३।१६	स्त्रीपुसान्नुक्त्वात्	३।१।७२	स्मिपूङ्ग्वशः सनि	५।१।१३३
मुड्गुते सङ्	५।४।६२	स्त्रीभ्यो ढण्	३।१।१०६	स्मृदत्वरप्रथमस्तृस्पशो-	५।२।१६२

स्येनाब्दस्याडसेः	५।१।१०	हनो वष लिङि	१।४।११४	हिमकापिहतौ	४।३।१६५
सुश्रुद्रुलुङ्चुडो वा	५।२।१७६	हन्तेरघः	५।४।१०६	हि मये वा	५।४।१०
स्वतन्त्रः कर्ता	१।२।१२५	हन्तेर्जः	४।४।३६	हिम्योर्तुनोः	५।४।१०२
स्वनहसोर्वा	२।३।६५	हरत्युत्सङ्गादेः	३।३।१३८	हीने	१।४।१५
स्वपितृपोर्नजिङ्	२।२।१५१	हरितायजः	३।१।८९	हीयमानपापयोगात्	४।२।५२
स्वपितृमित्रेया यङि	४।३।१५	हरीतक्यादेः	२।३।१२४	हुसल्यो हेर्धिः	४।४।६४
स्वयं केन	१।३।२२	हलः	२।३।१०२, ४।४।२	हुस्तुवोगंवः	४।४।८२
स्वरतिपूङ्धूज्स्व्यूदितः	५।१।६२	हलन्तात्	१।१।८४	हक्रोर्न वा	१।२।२४
स्वरितेनाधिकारः	१।२।५	हलश्चेजुङः	५।४।११०	हजोऽनुत्सेवे	२।२।१४
स्वसखि	१।२।६७	हलसीराष्टण्	३।३।६२	हतः	३।१।६१
स्वसुरङ्गः	३।१।३२	हलामचः	५।१।७८	हति चैका	४।३।१७४
स्वसुरङ्गणुः	३।१।२२१	हलि	४।३।१२६, ५।४।६	हत्यचामादेः	५।२।५
स्वसृनप्तृनेष्टृस्वष्टृश्रुतु	४।४।८	हलि खम्	५।१।१७१	हृत्सिन्धुमगे द्वयोः	५।२।२४
स्वागतादेः	५।२।१२	हलुङः किङत्यनिदितः	४।४।२३	हृदयस्य हृल्लोखयाण्	४।३।१६१
स्वाङ्गादेधिसकध्नः	४।२।११३	हलोऽनन्तराः स्फः	१।१।३	हृदर्थद्युसमाहारे	१।३।४६
स्वाङ्गान्नीचोऽस्कोङः	३।१।४७	हलोऽनादेः	५।२।१६१	हृदुप्युप्	१।१।६
स्वाङ्गोतस्त्वे कृभुवः	२।४।४६	हलो यः	४।४।५१	हृष्टापचितौ	५।१।२२५
स्वाङ्गेऽधुवे	२।४।३९	हलो यमा यमि खम्	५।४।१३८	हृमोऽवे	२।१।१५
स्वाङ्गेपु प्रसिते	४।१।१३	हलो हतो ङयाम्	४।४।१४०	हेऽसले	४।३।१८६
स्वादावधे	१।२।१०६	हलङ्यापो घः सुसिन्धु	४।३।५६	हेतावनुना	१।४।१३
स्वादुमि णम्	२।४।१२	हल्यभकुर्द्युः	५।३।८६	हेतुफलयोर्लिङ्	२।३।३२
स्वादेः श्नुः	२।१।६६	हल्यभोरीः	४।४।१०३	हेतुमति	२।१।२४
स्वाभाविकत्वाभिधान-	१।१।१००	हल्यभसेः	५।२।६३	हेतुमनुयाद् वा रूपम्	३।३।५४
स्वामीश्वराधिपति-	१।४।४७	हल्येतत्तदोरनन्त्रेऽकोः	४।३।१०६	हेतौ	१।४।३२
स्वार्थे	२।१।४२	हल्येर्	५।२।८६	हेमन्तात्त्वम्	३।२।१३८
स्वार्थे लुभात्	५।१।१०२	हल्यैवुप्युनः	५।२।८७	हेरकचि	५।२।६१
स्वीकृतावुपायम्	१।२।५१	हविरपूपादेर्वा	३।४।३	हे शरदादेः	४।२।१०६
स्वीपद् दुसिङ्छाङ्	२।३।१०३	हशश्वतोर्लिङ्	२।२।९६	हेदेप्रयोगे हेह्योः	५।३।६३
स्वेनो दीः	४।३।८८	हश्च	१।४।६४	हो दः	५।३।८८
स्वेन क्यच्	२।१।६	हस्तादाने चेरन्नेवे	२।३।३८	होत्राभ्यश्छः	३।४।२७५
स्वेपु पुषः	२।४।२६	हस्ते पाणौ स्वीकृतौ	१।२।१६६	हो ह्योर्गिति	५।२।५१
स्वोवामौ	२।४।७७	हस्ते वतिग्रहः	२।४।२५	हो हल श्नुः शान्	२।१।७८
स्वौज्जमौर्दृष्टान्यभिन्	३।१।०	हाङः	४।४।१०६	हात्तगश्वग्न्यायुगिज्जो	५।१।११
ह		हाङः क्विच	५।२।१७३	हन्ते	४।१।१००
ह	१।३।४	हान्	१।४।१५१, ३।३।३४	हन्तन्ते	४।१।८८
हनः सिः	१।१।८८	हान्त	२।१।२७७	हान्तिर्गिच	२।१।८६
हनश्च वध	२।३।६३	हान्तान्तमुज्जिह्वोऽन्	३।१।१००	हान्तान्	२।२।०
हन्त्येऽजिह्वोः	५।२।३६	हिन्यर्थादेः कर्म मान	२।३।३१	हो ति	४।३।००
हनिदुर्गन्धश्च मनि	४।४।१४	हिन्यर्थादेः कर्म मान	३।३।१८८	हो ति	४।३।००
हन्ते	५।१।१००				

## जैनेन्द्रवार्तिकानामकारादिक्रमः

अ		अनौ कर्मणि वाच्यभिधानम्	३३२
प्रकाकारयोः प्रयोगे नेति वक्तव्यम्	१४१७९	अन्तशब्दस्य अ(ता)द्विविधिणः त्रैविध्यमिति	३३३
चकृतसन्धीना शेषलादीनामिति वक्तव्यम्	४१११४०	अन्तादिमो वक्तव्यः	३३४
अक्षप्रकरणे दूष्णीमः काम् वक्तव्यः	४१११३०	अनन्तस्य नल मिया वा वृत्तिः	३३५
अक्षादूहिन्यामैवक्तव्यः	४१३७५	अन्यत्रापि दृश्यते	३३६
अग्रेस्तूपत्योर्वचनम्	२११४५	अन्यस्मिन्नपि वाचि दृश्यते कान्तरेऽपि च	३३७
अग्नीधः शरणे वाच्ये रण् वक्तव्यो भसञ्ज्ञा च	३१३१८८	अन्यादेष्टुण् वक्तव्यः	३३८
अग्रग्रामाभ्यां नियो णत्वम्	५१२११०	अन्येभ्योऽपि भवतीति वक्तव्यम्	४१११०१
अग्रतस् प्राप्तादिभ्य उपसख्यानम्	२१२१२३	अपुरीति वक्तव्यम्	४१११०२
अग्रप्रश्चाट्टिमः	३१२१६१	अप्राण्यङ्गादिति वक्तव्यम्	४११११७
अज्ञात्रकण्ठेभ्यो वा प्रतिषेधः	३११४७	अप्रसव्य इत्यादावपि वक्तव्यः	४१११२७
अज्ञातेरिति वक्तव्यम्	१११९८	अप्सुमति चाखौ वक्तव्यम्	४१११२७
अत्रिधौ भयादीनामुपसख्यानं नपु सके क्तादिनि-		अभयाच्चेति वक्तव्यम्	२१२१४७
वृत्त्यर्थम्	२१३१५२	अभितःपरितःसमयानिकवाहप्रतियोगेभ्योपसख्यानम्	
अत्राष्टाशोकाकोट्यपोटासोद्यमुष्टाभ्योऽपीति केचित्	२११११४		२१११३
अग्निश्रोत्रप्राज्ञाणोत्रमात्राद्युक्त्यस्योपसख्यानम्	३११११३	अभ्यर्हितस्य च	११३१००
अण् प्रकरणे अग्निपदादिभ्य उपसख्यानम्	३१४१९०; ४११११८	अरण्याण्यो वक्तव्यः	३१२१०७
अण् प्रकरणे ज्योत्स्नादिभ्य उपसख्यानम्		अर्णसः ख च	४१११३५
	४११३० ४११५०	अर्थातिदेशाद्विशेषणानामपि तद्वत्ता सिद्धा	११११६८
		अर्थादात्तसन्निहिते वर्त्तमानादिभ्योऽपि	४१११५६

अष्टाचत्वारिंशतो डबुडिनौ च वक्तव्यौ	३।४।८७	उगित्कार्यं वर्णकार्यं च तदन्तादपि भवती। वक्तव्यम्
अस्मिन्प्रकरणे तदाहेति माशब्दादिभ्य		उत्तानादिषु च कर्तुम्
उपसख्यानम्	३।३।१५६	उत्पातेन जायमानेऽवक्तव्या
अहो रिविधौ रूपरात्रिरथन्तरेपूपसख्यानम्	४।२।८६, ५।३।७७;	उदीच्यग्रामात् प्रत्ययोरण् वक्तव्य.
आ		उपमानादियस्य सत्त्वं वक्तव्यं द्वित्वप्रतिषेधः
आख्यातमाख्यातेन सातत्ये	१।३।६६	उपमानात् पञ्चपुच्छाभ्यामिति वक्तव्यम्
आख्यानशब्दात्प्रतिषेधो वक्तव्यः	२।१।२४	उपवत्तादिभ्य उपसख्यानम्
आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च	३।२।५२	उप् ख्यामान्ताटजिनान्ताच्च वक्तव्यः
आख्यानात् कृतस्तदाचष्ट इति कृदुप्प्रत्यापत्तिः		उभयत आश्रयणे न तद्वद्भावः
प्रकृतिवच्च कारकमिति	२।१।२४	उभयवर्तसोः कावों धिगुपर्यादिषु त्रिषु । वृ
आङ्निवृत्तिश्च कालात्यन्तस्योगे मर्यादायाम्	२।१।२४	पा योगस्ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ॥
आट्पूर्वादङ्गेः सञ्ज्ञाया क्यवक्तव्यः	२।१।६१	उवर्णादित्यस्य च ख वक्तव्यम्
आचारे सर्वमृद्भ्यः क्विच्चा भवतीत्येके	२।१।६; ४।३।१८०	उसाख्यायिकासु बहुलमिति वक्तव्यम्
आचार्यादणत्व च	३।१।४२	ऋ
आदिभ्य उपसंख्यानम्	२।४।४६	ऋकारलृकारयोः स्वसञ्ज्ञा वक्तव्या
आदेशचेति वक्तव्यम्	३।२।१२८	ऋकारान्तत्वादिभ्यः क्तिस्तवद्भवतीति वक्त
आपदादिपूर्वपदात्कालान्ताद् ठञ्जिठौ वक्तव्यौ	३।२।६२	ऋणदशप्रवत्ततरकम्बलवमनानामृगो
आर्यक्षत्रियाम्यामपुयोगे वेति वक्तव्यम्	३।१।४२	ऋतुनश्रवाणा समानाक्षराणामानुपूर्व्येण
इ		वक्तव्यम्
इज उपसख्यानमजात्यर्थे कर्त्तव्यम्	३।१।५५; ३।१।६६	ऋते भासे
इणवदिकः	५।१।१०६	ए
इन्प्रकरणे बलाद्याहृस्पूर्वादुपसख्यानम्	४।१।५६	एकधुराशब्दात्स्वस्योत्पन्नव्यः
इन्तिष्ठयन्धातित्येषु च न भवति	४।३।१३२	एकाक्षरपूर्वपदाना यो. ग्व वक्तव्यमपप.
इवोपमानपूर्वस्य शुक्ल बा	४।२।१६	एचो द्वितीयत्वे तदादेः ग्व वक्तव्यम्
इषोऽनिच्छाया युज् वक्तव्य.	२।३।८६	एवे चानियोगे पररूपम्
इह तदस्मै दीयते इति वक्तव्यम्	३।४।६६	एहीडादयोऽन्वपदार्थं
इह प्रकरणे राजसमानशब्दात् राष्ट्रात् तन्म गजन्-		ते
पञ्चवदिति वक्तव्यम्	३।१।१५५	एङ्दीन्नाभ्याममत. ग्व पूर्वनिर्णयेन
ई		ओ
ईक्ष् च	३।१।७०	ओनेऽमरमेनि य पदमन्तु विनापया मय
ईद्वयमानपूर्वस्य युञ् वक्तव्यम्	१।३।८३	ओन्नाट्प्रोर्वा मे पररूपमुपसख्यानो ३।१।
ईदसो ऽमे एवद्भाववचनम्	४।२।५६	ओदनशब्दाद्वक्तव्य
ईदसो ऽमे प्रतिषेधो वक्तव्य.	१।१।८	अजन्मदे स्प्रप्रतिषेधो वक्तव्य.
ईदमेऽन्तुः प्रत्य द्वे भवत इति वक्तव्यम्	४।३।३	क
उ		क
उत्तानादिभ्यो च वक्तव्यम्	४।१।३६	क





वहि कर्मणा बहुलमाभीक्ष्ये कर्तार चाभिदधाति १।३।६६	
जागर्तंरगौ वक्तव्यौ	२।३।८३
जातान्तात्प्रतिपेधो वक्तव्यः	३।१।४५
जिज्ञासावैरूप्यार्जवनिशानेषु यथाक्रम सन्निभ्यते	२।१।४
जिह्वाकात्यहरितकात्ययोर्न भक्त्येव	१।१।७१
जीवितपरिणाम इति च वक्तव्यम्	३।४।५६
ज्योत्स्नातमित्राभ्या णिद् भवति पक्षे	४।१।५०

## झ

झिस्ख्यादेरिति वक्तव्यम्	१।४।१०७
झिस्जक्त्य भमात्रे टिख च वक्तव्य सायम्प्राति	
काद्यर्थम्	४।४।१४२
भेर्ममात्रे टिखम्	१।४।८५, ४।२।१२०, ५।२।६

## ञ

जियकोः प्रतिपेधे णिश्रन्थिग्रन्थिब्रूजा ढविधौ धीना	
चोपख्यान कर्तव्यम्	२।१।५६

## ट

टण् लुप्तोश्च	४।३।१४७
टण् प्रकरणे तश्चिन्वत्तने इति नवयजादिभ्य उप	
ख्यानम्	३।२।३०
टेनोः समानकालग्रहण वक्तव्यम्	४।१।१०

## ड

डटो वा उव्वक्तव्यः	४।१।११
डट् स्तोमे वक्तव्यः	३।४।१५८
डुप्रकरणे मितद्रुप्रभृतीनामुपख्यानम्	२।२।५६

## ढ

ढेऽपि कश्चिद् पुबट्ठावो वक्तव्य	४।३।१४७
---------------------------------	---------

## ण

णत्वविधौ र्नेर्नस उपख्यानम्	४।२।११०
णिश्रन्थिग्रन्थिब्रूजा ढविधौ बीनाञ्च	२।१।६३

## न

त पर्यन्तद्वय मन्वर्थे	४।१।५६
नन्वार्त्ति च मयान्त्यादिभ्य उपख्यानम्	३।४।८०
नन्वेऽभिगमनमर्थे च वक्तव्यम्	३।१।७०
नन्वेऽपि वक्तव्यम्	१।१।५६
नन्वेऽपि वक्तव्यम्	४।२।५५
नन्वेऽपि वक्तव्यम्	४।१।४६

तमे परतः तादेः कादेश्चान्तिकस्य न्न वक्तव्यम्	४।४।१४२
तलन्तस्य डिक्योरुभयम्	५।२।१०२
तसादिप्रभशब्दस्य उभयादेशो वक्तव्यः	४।१।११
तमिप्रकरणे आद्यादिभ्य उपख्यानम्	४।२।४६
तस्य हृत्यदे	३।४।२६, ३।१।४
ताभ्यामेव पितरि डामहः	३।२।३१
तीयान्तात्स्वार्थे वा ईकण् वक्तव्यः	३।२।८
तुरमुजयोरच	२।२।४५
तृप्त्यर्थे तूपख्यानम्	१।३।७५
तृप्त्यर्थे योगे उपख्यानम्	१।२।३०
तेन वाक्किदक्पश्यद्भयो युक्तिदण्डहरेष्वनुप्	४।३।१३३
त्रिचतुर्भ्यां हायनस्य णत्वमपि वयसीष्यते	३।१।१५
त्रिप्रभृतिषु न भवति	५।४।१२०

## द

दाणश्च सा चेदवर्थेऽशिष्टव्यवहारे इति वक्तव्यम्	१।२।५०
दिक्छन्दमात्रादयमेनो वक्तव्यः	४।१।६६
दिम्पूर्वपदस्य चापरस्य पश्चभावो वक्तव्यः	४।१।१७
दिग्धमहपूर्वाच्च अत्यो भवति	२।२।२०
दुःशब्दे वाचि शासियुष्टिदिशि वृषिमृषिभ्यः युञ्	
भवति	२।३।१०६
दूतकणिभ्या यो वक्तव्यः	३।४।११६
दृष्टे सामनि वृद्धादङ्कवद्वक्तव्यम्	३।२।७९
देवस्य यजजौ	३।१।७१
देवाना प्रियादिष्वनुप्	४।३।१३५
देवासुगदिभ्यो वुनः प्रतिपेधो वक्तव्य	३।३।६३
द्युधोभयाद्वक्तव्यः	१।१।८३
द्वन्द्वे देवासुगदिभ्यः प्रतिपेधो वक्तव्य	३।३।६०
द्वित्वे गोयुगः	३।१।५०
द्विवक्तुन्नाच्च कर्णात्प्रतिपेधो वक्तव्यः	३।१।५५
द्विमात्रात्परस्मादि	५।४।१००
द्विपः शतृया वचनम् १।३।७५, १।१।७०, ३।२।१००	
द्वयजग्न्य पूर्वनिपातो वक्तव्य	१।३।१००

## ध

धमन्त्यान्त्याथ ङो वक्तव्य	१।१।१००
धेनोर्नन्तुपूर्वासा नेथ्ये	३।२।१००

## न

नन्वेऽपि वक्तव्यम्	३।२।१००
--------------------	---------

नभोऽनुभावे क्षेपे मिद्व्युपसंख्यानम्	४।३।१८१
ननो पृष्ठप्रतिवचने भूतमात्रे लट् वक्तव्यः	२।२।१००
नभोऽङ्गिरोमनुषा वत्सुपसंख्यानम्	१।२।१०७
नशब्दे नुशब्दे च वाचि पृष्ठप्रतिवचने भूते वा लट् वक्तव्यः	२।२।१००
नाभि नभश्च	३।४।२
निन्दाधमारोगापनयेयु यथाक्रम सन्निष्यते	२।१।३
निमित्तात्मर्मनयोगे ईव्वक्तव्या	१।४।४४
निमिमीलिया याचोरात्वप्रतिषेधो वक्तव्यः	४।३।४३
निरादयः क्रान्ताग्रये कया	१।३।८१; १।४।१०२
निसो गत इति वक्तव्यम्	३।२।८१
निसो देतो	२।२।४६
नुप्रच्छिन्ना च	१।२।१४
नृनरयोरैव	३।१।२३
नेतुर्नक्षत्रे उपसंख्यानम्	४।२।११६
नेर्णुव इति वक्तव्यम्	३।२।८१

प

पञ्चजनशब्दाहुपसंख्यानम्	३।४।७
पञ्चान्दसा एते शब्दास्तदत्रापि नस् वक्तव्यः	४।२।११८
परिचर्यापरिसर्यामृगयाणा निपातन वक्तव्यम्	२।३।८३
परिषाद्वर्षाच्चेति वक्तव्यम्	३।३।१५२
परैर्या	२।३।८९
परोक्षे लोवविराते प्रयोक्तुः शक्यदर्शनत्वेन दर्शनविषये लट् वक्तव्यः	२।२।६२
पर्यायस्य ग्लानार्थे क्षपा	१।३।८१, ४।२।१५
पर्याय शब्द वक्तव्यः	३।२।३६
पाणिशरीत्यादीनां गुर्वनुशतेन ही वक्तव्यः	३।१।४५
पाणो समवशब्दे च लुङ्गैर्या वक्तव्यः	२।१।६२
पाणिनि-दध प्रतिषेधः	१।४।९३

पुरान्तात्प्रतिषेधो वक्तव्यः	३।३।३५
पुरुषाद् वधविकारसमूहतेनकृतेविति वक्तव्यम्	३।४।९
पुष्पमूलेषु बहुलम्	३।३।१६२
पूर्वपदस्य च ठाजादौ अनजादौ च लं वक्तव्यम्	४।१।१३६
पूर्वप्रथमयोरतिशये द्वे भवतः पूर्वमासादग्न वक्तव्यः	३।२।३०
पृच्छतौ सुस्नातादिभ्य इएसमर्थेभ्यः	३।३।१५६
पृथिव्या आजौ	३।१।७०
पौङ्ग्रीपुत्रादिभ्यश्छो वक्तव्यः	३।२।२३
प्यखे कर्मणि का वक्तव्या	१।४।३७
प्यादेशोऽन्तरङ्गस्यापि विधेर्नाधिकः	४।४।१६
प्रकृत्यर्थस्य षट्त्वे षड्गवः	३।४।१५०
प्रकृत्याके राजन्यमनुष्ययुवानः	३।४।१२३
प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्	२।४।४; ४।३।१२४; ४।३।१२५
प्रथमाधिकारे द्वितीयस्यापि वृद्धेऽप्यनुवक्तव्यः	३।३।६३
प्रभूतादिभ्यश्च	३।३।१५६
प्रमाणपरिमाणाभ्या सख्यायाश्चापि सशये मात्रट्- वक्तव्यः	३।४।१५८
प्रमाणशब्दा ये प्रसिद्धास्तेभ्यो द्वयसङ्गादीनां ध्वंसन वक्तव्यम्	३।४।१५८
प्ररोहणे शाकटशाकिनौ	३।४।१५०
प्रश्नाख्यातयोरश्च का वक्तव्या	१।४।३७
प्राणिनीति वक्तव्यम्	४।२।७६
प्राण्यङ्गे नित्य लत्वम्	५।३।३६
प्रादयो गताद्यर्थे च वया	१।३।८१; १।३।८६
प्रादूहोतोव्ये पैष्येषु	४।३।७५, ५।३।१०२
प्रावृट् वर्षाशरत्कालदिवा जेऽनुप्	४।३।१३२



वा गोमयेष्विति वक्तव्यम्	३।२।१०७	व्यासवरुडनिपादचण्डालत्रिम्यादीनामिति	
वा ठण् छसोः [ठक्छसोश्च]	५।२।२२	वक्तव्यम्	३।२।२६
वाततिलमाषेषु अजतुदजहातिभ्यः सश्वक्तव्यः	२।२।३२	घृताद्भोजने तन्नितृत्तो च	२।२।१८
वा तदन्तवाल्ललाटानामूङ् च	४।१।२५	श	
वातात्समूहे तन्न सहते इति च	४।१।५६	शसिदुहिगुहिभ्यो वेति वक्तव्यम्	१।१।६१
वा प्रियस्य	१।१।१०१	शकटादण् वक्तव्यः	३।२।१६१
वान्त रति वक्तव्यम्	१।४।९३	शकन्धादिपु पररूपम्	४।३।२१
वामदेवाग्रो वक्तव्यः	३।२।७२	शतस्रद्वाधश्च	३।२।२३
वायोरुभयत्र प्रतिषेधः इष्यते	४।३।१३६	शतषष्टिम्या पथष्टिकः	३।२।५२
वारिजङ्गलस्थलकान्तराजशङ्कपूर्वपदादिति		शशतोर्दिनिर्वक्तव्यः	३।२।५७
वक्तव्यम्	३।४।७३	शप उपलम्भन इति च वक्तव्यम्	१।२।१५
वा लिप्तायामिति वक्तव्यम्	१।२।२०	शयवासवासिष्यकालवाचिनो द्विधा	४।३।१३३
वा समर्थानाः सख्याया गुणस्य निमये		शर उत्तरस्य खयः	५।३।१२७
वर्त्तमानयोः	३।४।१६९	शसिदुहिगुहिभ्यो वेति वक्तव्यम्	४।१।१६६
विकारे स्नेहे तैलः	३।४।१५०	शिद्धेर्जिज्ञासाया दो वक्तव्यः	१।२।१५
विग्रामाननक्षत्र ( विद्या च नाङ्गक्षेत्र )		शीतोष्णतृप्तेभ्यस्तन्न सहत इत्यालुर्वक्तव्यः	४।१।५६
धर्मत्रिपूर्वा	३।२।५२	शीर्षान्नजः	४।१।५२
विशालक्षणवाल्पसूत्रान्तादकल्पादेः	३।२।५२	शीलादिप्रकरणे धाञ्कुसुजनिनदिभ्य हर्लिट्	
विनापि निमित्त पूर्वोत्तरपटयोर्वा ख वक्तव्यम्	४।१।१३६	वक्तव्यः	२।२।१५५
विपरीताच्चेति वक्तव्यम्	३।४।१३६	शीलिकामिभक्ष्याचरीक्षिज्ञमिभ्यो णो वक्तव्यः	२।२।१
विभाजयितुर्णिगञ्ज	३।३।११८	शीले को मख च	४।१।१३०
विरोधेऽण् वक्तव्यः	३।४।११४	शुनः खौ शोकपुच्छलाङ्गलेषु	४।१।१३४
विशतेश्चोति वक्तव्यम्	३।४।१५८	शुभिरुचिभ्या प्रतिषेधो वक्तव्यः	२।१।२९
विशतितुरिट् सञ्ज	३।३।१६६	शूद्राचामहत्यूर्वात् जातिश्चेत्	३।१।१४
विशिष्टादिप्रतिप्रकृतेरनात्सपूर्वपदादुप-		शृङ्गवृदाभ्यामारको वक्तव्यः	४।१।५६
सख्यानम्	३।४।१०४		

स एव डामहो मातङ्गि वाच्याया षिञ्	३।२।३१	मुदुगेरधिकरणे डो वक्तव्यः	२।२।४६
नकर्मकादिति वक्तव्यम्	१।२।५४	सु [द्यु] नोजिर्वाचदीत्वम्	३।४।२
सन्धोश्च ऋधिद्रुह्योः	१।२।११२	मुग्धूनाञ्च तृतीयस्यैकाचो द्वित्व भवति	४।३।३
सङ्ख्याप्रकृतैरिति वक्तव्यम्	२।२।५५	सुसर्वादिकृद्देश्यो जनपदस्य सूत्रान्ताद्-	
मङ्ख्याया अल्पीयसो वाचिकाया.	१।३।१००	कस्यादेरिष्यते	३।२।५२
मञ्जायामण् वक्तव्यः.	३।४।८७	सेनाङ्गकलक्तुद्रजीवितकृमृगनृणधान्यपक्षिणा	
मत्प्राक्कारडप्रान्तशतेकेभ्यः पुपाट्टाप्	३।१।४	प्रकृत्यर्थवहुत्वे एकवद्भावः	१।४।८८
समसप्रधारणाया क्रिम आक्षेपे द्वे भवतः.	५।३।६	सेनाङ्गेषु बहुत्वे	१।४।७८
समानाञ्च तदादेश्च अत्रात्मादिषु चेप्यते ।		सौवीरेषु मिमतशब्दाण्यफिजो वक्तव्यौ	३।१।१३८
ऊर्वाहमाञ्च देहाञ्च लोसेत्तरपदादपि ॥	३।३।३५	स्तोमे डो नक्तव्यः	३।४।५६
समानान्यशेचेति वक्तव्यम्	२।२।५८, ४।३।१९५	न्विधामप-ये उक्त्वक्तव्यः	३।१।११७
नमिधामाधाने टेन्यण् वक्तव्यः	३।३।८८	न्वीनपुसकयोर्विभक्त्या वाऽम्भानो गोऽन्तु	५।३।९
नमूदे कटः	३।४।१५०	स्वर्गादिभ्यो यो वक्तव्यः	३।४।१०५
नम्पदादिभ्यः क्तिञ्चि वक्तव्यः	२।३।७५	स्वाङ्गकर्मकादिति वक्तव्यम्	१।२।१४; १।२।२२
नम्पूर्वाद्धेति वक्तव्यम्	२।१।९३	सादीरेरिणोः	४।३।७६
सम्भन्वाजिनशण्यपिण्डेभ्यः फलाट्टाप्	३।१।४	सायेंऽवधार्यमाणेऽनेकस्मिन् द्वे भवतः	५।३।९
सम्भूयोऽम्भनोः सप्त च	३।१।८५	स्वाथ द्वयमन्मात्रदौ बहुल वक्तव्यो	३।४।१५८
सर्वजनाट्टण् गश्च वक्तव्यः	३।४।७	ह	
सर्पय गोरजादिप्रसंगे य.	३।१।७०	हनो वा वध इति च वक्तव्यम्	२।१।८६
सर्पनामस्यशोः पूर्णनिपातो वक्तव्यः	१।३।१०१	हन्तीत्यपि वक्तव्यम्	३।१।१५८
सर्पनाम्नो वृत्तिमात्रे पुनश्चाव.	१।१।३६	हन्तेऽस्मिन्माया ध्नीभावो वक्तव्यः	५।२।१३९
सर्पनाम्नो वृत्तिमात्रे पूर्वसदस्य पुनश्चाव.	१।३।८८	हृत्तेर्गतिताच्छील्ये	१।२।५५
सर्पमवर्धसर्पमर्देन भवतीति वक्तव्यमधिकरणे		हलर्मागट्टण् वक्तव्य	३।३।१६१
तदिन मुक्त्वा	१।३।१२०	हृत्किञ्चोऽस्मागन्तना गिन्चा योगे निपात्यते	२।१।१८
सर्ववेदादिभ्यः स्वाथे	३।४।११४	हायनाद्वयमि न्मृतः	३।१।११
सर्वसादेरमाच्चोम्	३।२।५२	न्विशब्दयोगे उपसर्गान्नम	१।४।५६
सर्वादेश्चेति वक्तव्यम्	१।१।५६	हिमाचैलुः	१।१।५१
सप्तञ्च इटुल्लम्	१।२।१०	हिमागन्तयोर्न-च	३।१।६५
सप्तमद्वेति वक्तव्यम्	३।४।१००	हृत्तान्वातुर्मा वक्तव्यः	१।१।५१
सत्तिमहन्नाद्वेति वक्तव्यम्	३।१।५६	हृत्तोरप्रति यो वक्तव्य	१।१।५१
हृत्तिमुद्विन्तीहारे-ञ्चचेति वक्तव्यम्	३।१।१४	येज्यासा स्वायें कं [द्यु] वक्तव्य	३।१।१३५

## जैनैन्द्रपरिभाषणामकारादिक्रमः

अ	ग
अत्रौ दृद्युभ्यामिदं ईप् तत्याश्चानुवक्तव्यः ४।३।१२७	गुकारौ निवृत्ते पुनर्न तदिभिन्ना ४।३।१२७
अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य ४।३।१३१; ४।४।१००	गोरधिकारे तदन्त्यस्य च ४।३।१३१; ४।४।१००
४।४।१२१, ४।४।१४७; ५।१।१६२; ५।३।८८	गोणमुखयोर्मुख्ये सम्प्रत्ययान् ५।१।१६२; ५।३।८८
अनित्यमागमशासनम् ४।३।१६९	च
अग्निनस्मिन्नहणेऽर्थवता चानर्थकेन च तदन्त्यविधिः ३।१।६, ४।४।१२; ५।१।१६४; ५।४।६०	चविकारेऽप्यपवादा प्र उन्मार्गां वाच्यते ५।३।१६६, ५।४।६०
अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्ग उच्चाधते ४।३।१२७, ५।१।१५७	ङ
अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गः प्यादेशो वाधते ४।४।६८	ङल्योः समानविषयत्व स्मर्यते ५।३।१२९
अन्याभावेऽन्त्यसदेशस्य कार्यम् ५।२।७४	ण
अन्यत्र ध्रुवहणे व्यादेः समुदायस्य ग्रहणम् ४।३।१९८	णोऽन्यण् कृत भवति ४।३।१२२
असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्गे १।१।५८; ४।३।५५, ४।३।३५, ४।४।१७; ५।३।२८, ५।३।८७	त
उ	तदागमास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते ५।३।८०
उभयत आक्षयणे न तद्ग्रहावः ५।१।५८, ५।२।१३२	तदादेशास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते ५।१।१०८
ए	तन्मध्यपतितास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते ४।३।१०९
एव देशविरक्तस्यान्यत्वात् ४।४।५४, ५।१।८, ५।१।१६०;	तिवाक्कारकणा प्राक्सुबुत्पत्तेः कृदिभः सविधिः १।३।८२; ३।१।४३; ४।३।१६६
एवमदाक्षय्येनान्तरङ्गानपि जग्यादिविधीन् बहिरङ्गः प्यादेशो वाधते १।४।११०	त्यग्रहणे यस्मात्स तदादेः १।१।८, ५।३।१८; ४।३।१३३
एवानुबन्धग्रहणे न ह्यनुबन्धकत्वं २।१।६	त्यग्रहणे चाकायः ४।३।१३३
क	त्यात्यसमवे त्यस्य ग्रहणम् ४।३।१६६
कश्चिन् सप्तपरिभाषाम् १।१।४५, १।२।१६०; ५।३।२७	द
कश्चिन् सप्तपरिभाषाम् १।१।४५, १।२।१६०; ५।३।२७	द्यावित्यधिकारे त्यग्रहण स्वरूपग्रहणमेव ४।३।१३३
कश्चिन् सप्तपरिभाषाम् १।१।४५, १।२।१६०; ५।३।२७	द्युवधिकारे त्यग्रहण स्वरूपग्रहण न तदन्त्यविधिः ४।३।१६१
कश्चिन् सप्तपरिभाषाम् १।१।४५, १।२।१६०; ५।३।२७	द्विर्वद्ध सुबद्ध भवति ४।४।३७
कश्चिन् सप्तपरिभाषाम् १।१।४५, १।२।१६०; ५।३।२७	ध
कश्चिन् सप्तपरिभाषाम् १।१।४५, १।२।१६०; ५।३।२७	धोरधिकारे तदन्त्यविधिरप्यस्ति ५।१।५०
कश्चिन् सप्तपरिभाषाम् १।१।४५, १।२।१६०; ५।३।२७	धोः स्वरूपग्रहणात्तत्त्वविज्ञानम् ५।२।१, ५।२।३६; ५।३।२६
कश्चिन् सप्तपरिभाषाम् १।१।४५, १।२।१६०; ५।३।२७	न
कश्चिन् सप्तपरिभाषाम् १।१।४५, १।२।१६०; ५।३।२७	नजिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः १।३।६८

नानर्थकेऽन्तेऽलोऽन्त्यविधिः	४।३।८५, ५।१।१७१,	येन नाव्यवधानेन तेन व्यवहितेऽपि	५।१।८३
	५।४।३	त	
नानुबन्धकृत ह्रस्वत्वम्	२।४।५	लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रविपदोक्तस्यैव	५।१।५२ ५।४।९५
नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः	१।१।१३	लिङ्गमभिष्य लोकाभ्यस्तत्वास्तिङ्गस्य	५।२।२०
निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य	४।३।१०८, ४।४।६४	व	
	५।४।१८	वर्णाश्रये नास्ति त्याश्रयम्	४।३।९९, ४।४।३३,
निर्दिश्यमानस्यादेगा भवन्ति	४।४।११६, ५।२।१५१		४।४।४१, ५।३।५४
प		वार्णाद्गात्र बलीयः	१।१।७८, १।४।११३; ४।३।३३,
पुरस्तादपवादो अनन्तरान्विधीन् आधत्ते नोत्तरान्	२।१।४१		४।४।१७ ५।१।२३४
पूर्वं धुर्गिना युज्यते पश्चात्साधनवाचिना त्येन	५।२।१२२, ५।२।१३८	व्यपदेशिवद्भावो न मृदा	५।१।५४
पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे	५।४।६६	स	
पूर्वत्रासिद्धे न स्थानियन्	५।३।३६, ५।३।४६,	सकृद्गते परनिर्णये विनिर्गमितो व्रानित एव	
	५।३।५५, ५।४।६	१।२।९०, ४।४।४३, ४।४।६४, ४।४।९४, ५।१।५५,	
प्रकृत्यापवादप्रिय तन् उन्मर्गोऽभिनिविगते	१।४।१२३		५।१।५७, ५।२।५, ५।२।११०
प्रकृतिग्रहणे यदुन्मत्तस्य गण्यम्	५।१।८५, ५।३।५५	सञ्ज्ञाहृन्मोः पूर्णो विधिः	५।२।१९
प्रकृतिप्रदनुकरणं भवति	२।४।८६	सञ्ज्ञावि गो त्यग्रहणात्तदन्तविधिर्नास्ति	१।१।६,
म			१।१।२०, २।१।२६
मन्त्रेऽपवादः पूर्वान् विधीन्नावन्ते नोत्तरान्	१।१।५३,	मन्त्रविवो न तदन्तविधिः	१।१।६७, ५।२।८६
२।१।१११, २।३।३६ १।३।१७८ ४।४।७७,		सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विगतस्य	१।१।६८,
	५।१।१५६	२।१।३२, ५।१।८, ५।१।२१, ५।२।५५, ५।३।२८	
मृद्वग्रहणे लिङ्गविनिर्गत्वापि ग्रहणम्	१।३।६३,	सन्निपातगोशिश्यानामन्त्रतरापाये उभयोरप्यभावात्	१।१।६,
४।२।६३, ४।३।१४८, ४।४।१२१, ५।४।३, ५।४।३८			१।१।७, १।१।१३३
य		मिदं सत्यागमो नियमार्थः	१।१।६, ५।३।२८,
यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विरुध्ये न			५।३।३७, ५।३।३१
तदन्तिनम्	५।१।२०	न्नादिगमल उगन्त्येव नास्ति	५।१।८८
येन नात्राने तस्य तद्भावनेन	५।२।१५ ५।३।८१	न्नादिना प्रकृतिलिङ्गस्यैव अनुवर्तनो	५।१।१५५

जैनेन्द्र-गणपाठसूची

अ					
अक्षयूतादि:	३।३।१४८	कर्णादि:	३।२।६०	तिकादि:	३।१।१४९
अङ् गुल्मादि:	४।१।१६२	कल्याणयादि:	३।१।११५	तुन्वादि:	४।१।४३
अजादि:	३।१।४	कस्मादि:	५।४।३६	तृणादि:	३।२।६०
अपूप्यादि:	३।४।३	काशादि:	३।२।६०	तौत्वल्यादि:	१।४।१३२
अरीहत्यादि:	३।२।६०	काश्यादि:	३।२।६२	त्यदादि:	१।१।६९, ५।१।१६९
अर्धचादि:	१।४।१०८	किसरादि:	३।३।१७२	द	
अर्षाद्यादि:	४।१।५०	कुञ्जादि:	३।१।८७	दण्डादि:	३।४।६४
अरुमादि:	३।२।६०	कुम्भपद्यादि:	३।२।६०	दधिपयत्रादि:	१।४।६०
अश्वपत्यादि:	३।१।६६	कुर्वादि:	३।२।८७	दामन्यादि:	३।३।२६
अश्व्यादि:	३।१।९६	कुलाळादि:	३।१।१३९	दटादि:	३।४।११३
आ		कुशाश्व्यादि:	३।३।८७	देवपथादि:	४।१।१५४
आहिताग्न्यादि:	१।३।१०३	कौशल्यादि:	३।२।६०	द्वारादि:	५।२।९
इ		क्रोडादि:	३।१।१४२	द्विदण्ड्यादि:	४।२।१२६
न्द्रजननादि:	३।३।६२	क्रौत्त्यादि:	३।१।४६	धूमादि:	३।२।१०५
न्यादि:	४।१।२२	जुन्हादि:	३।१।६५	न	
उ		ग	५।४।११७	नडादि:	३।१।८८, ३।२।७१
उगवादि:	३।४।२	गर्गादि:	३।१।६३	नद्यादि:	३।२।७६
उणादि:	२।२।१६७	गवाश्व्यादि:	१।४।८७	प	
उत्तरादि:	३।२।७०	गहादि:	३।२।११४	पक्षादि:	३।२।६०
उत्सद्वाद.	३।३।१३८	गष्ट्यादि:	३।१।१२४	पर्पादि:	३।३।१३३
उत्सादि.	३।१।७१	गोपवनादि:	१।४।१३९	पर्वादि:	४।२।६
उद्गात्रादि:	३।४।११६	गोपालकादि:	३।१।३८	पलयादि:	३।२।८६
उपवादि.	१।४।१३०	गौरादि:	३।१।२३	पात्रेसमितादि:	१।३।४३
उग्रः प्रभृति	४।२।१५१	घ	४।१।६६	पारस्क्यादि:	४।१।२७
ऊ		च	१।२।१२८	पाशादि:	४।३।११६
ऊर्वादि.	१।२।१३२	छ	३।४।६२	पुरोहितादि:	३।२।४१
श्रयादि.	३।२।६०	त	३।४।१५७	पुष्करादि:	३।४।११८
फादि:	३।२।१११	ति	३।३।१०५	पूर्वादि:	४।१।५६
भादि.	१।३।१०४	तारकादि:	१।४।१४०	पृथ्वादि:	१।१।४२
दि.	३।२।७५	तालादि:		पैलादि:	३।४।११२
.	३।३।२०६	तिष्ठन्निवादि:		प्रज्ञादि:	१।४।१३१
				प्रादि:	४।२।४४
					१।३।८१



## जैनैन्द्र-व्याकरणम्

प्रेक्षादिः पञ्चादिः	व	३१/१६० ३१/१२२	रेवत्यादिः रैवतिकादिः	३१/११३४ ३१/३९९	शुभ्रादिः शौण्डादिः शौनकादिः श्वादिः श्रेण्यादिः	३१/११३ ११/३१ ३१/३१ ५१/२१ ११/३५४
ब्रह्मादिः वाह्यादिः ब्राह्मणादिः बीह्यादिः	व	३१/१३१ ३१/१८५ ३१/१११४ ४१/१४२	लोमादिः लोहितादिः	ल ४१/१२७ ३१/१२१		
भर्गादिः भन्त्रादिः भिन्नादिः भीमादिः	भ	३१/११५८ ३१/११२६ ३१/१३३ ३१/४६१	वरणादिः वराहादिः वलादिः वाकिनादिः विदादिः विनयादिः विमुक्तादिः वेननादिः व्यानादिः	घ ३१/१६२ ३१/१६० ३१/१६९, ४१/१५७ ३१/११४५ ३१/१६३ ४१/१४० ४१/१६५ ३१/११२५ ११/१५१	सख्यादिः सक्तागादिः सन्तापादिः सपत्न्यादिः सब्रह्मचार्यादिः सर्वादिः साक्षादादिः सिन्ध्यादिः सिन्धादिः सुग्यादिः सुतनमादिः मुपामादिः स्त्रुलादिः मन्त्रादिः स्वागतादिः	स ३१/१६० ३१/१६० ३१/४६५ ३१/१३४ ४१/१३३ ११/१३५ ३१/१४२ ४१/१२५ ३१/१६७ ४१/१५४ ३१/१६० ५१/१७२ ४१/१११ ३१/१८ ५१/११२
मनोज्ञादिः मयूख्यमकादिः महियादिः	म	३१/११२३ ११/३६६ ३१/१६९				
यनादिः यन्यादिः याजकादिः यावादिः युवादिः	य	५१/३३१ ११/११३५ ११/३७२ ८१/३५ ३१/१२०	श	३१/१८७ ३१/१६६ ४१/१०६ ३१/१०६ ८१/१६१ ८१/१५७ ३१/१०१ ३१/५८	ह	
गजान्तादिः गजान्तादिः	र	११/३०६ ३१/१८६	गम्यादिः गमिडकादिः गम्यादिः गम्यादिः शर्करादिः शान्यादिः शिवादिः शुद्धिकादिः			

# जैनेन्द्र-संज्ञासूची

अ

क

त

जैनेन्द्रसंज्ञा

पाणिनिसंज्ञा

जैनेन्द्रसंज्ञा

पाणिनिसंज्ञा

जैनेन्द्रसंज्ञा

पाणिनिसंज्ञा

अधिकरणः

अधिकरणम्

करणम् [११२।११४]

करणम्

तः [१११।२८]

निष्ठा

[११२।११६]

अनुदात्तः

कर्त्ता [११२।१२४]

कर्त्ता

ता [११२।१५८]

पठ्ठी

[१११।११३]

प्रथमपुरुषः

कर्म [११२।१२०]

कर्म

ति [११२।१३१]

गतिः

अन्त्यः [११२।१५२]

चतुर्थी

का [११२।१५८]

पञ्चमी

त्यः [२।१११]

प्रत्ययः

अपदानम्

अपदानम्

किः [११४।५६]

सम्बुद्धिः

थः [४।३।३]

अभ्यस्तम्

[११२।११०]

उत्तमपुरुषः

खम् [१११।६१]

लोपः

दः [११२।१५१]

आत्मनेपदम्

अन्त्यम् [११२।१५२]

उत्तमपुरुषः

खुः [१११।२६]

सञ्ज्ञा

दिः [११२।२०]

प्रगल्भम्

इत् [११२।३]

इत्

गि [११२।१३०]

उपसर्गः

दोः [१११।११]

दीर्घः

इप् [११२।१५८]

द्वितीया

गुः [११२।१०२]

अङ्गम्

दुः [१११।६८]

वृद्धम्

इल् [११२।३४]

पट्

घ [११२।१९९]

लघु

धुः [११३।१०५]

उत्तरपदम्

इप् [११२।१५८]

सप्तमी

ङ [११२।१९९]

अनुनासिकः

ध्रिः [४।२।६]

तद्राजः

उत् [११२।६६]

उपधा

ड [११२।१९९]

भावकर्म

ध्वः [११२।६२]

द्वन्द्वः

उल् [११२।६२]

इलुः

डि. [११२।३०]

अभ्यासः

ध्विः [११२।५५]

द्विवचनम्

उदात्त [११२।१३]

उदात्तः

च [४।३।६]

अभ्यासः

धम् [११२।३१]

सर्वनामस्थानम्

उप् [११२।६२]

लुक्

ज [११२।१९९]

भावकर्म

धिः [११२।२]

अकर्मकः

उल् [११२।६२]

लुप्

झ [११२।१९९]

अभ्यासः

धुः [११२।१]

धातुः

ए [११२।५५]

एकवचनम्

ञ [११२।१९९]

सम्प्रसारणम्

न [११२।३१]

निपातः

एल् [११२।६६]

गुणः

ट [११२।१९९]

अभ्यासः

नप् [नपुसकलिङ्गत्य सञ्ज्ञा प्राचाम्]

उपसर्जनम्

ऐ [११२।५५]

वृद्धिः

ठ [११२।१९९]

अभ्यासः

निः [११२।२२]

पदम्

ऑ [११२।५५]

वृद्धिः

ड [११२।१९९]

अभ्यासः

न्यक् [११३।६२]

ह्रस्वः

ऐ [११२।५५]

वृद्धिः

ड [११२।१९९]

अभ्यासः

प [११२।११]

प्लुतः

ऐ [११२।५५]

वृद्धिः

ड [११२।१९९]

अभ्यासः

पदम् [११२।१०३]

पदम्

ऐ [११२।५५]

वृद्धिः

ड [११२।१९९]

अभ्यासः

प्र. [११२।११]

ह्रस्वः

व		य		स	
वम् [११३।८६]	बहुव्रीहिः	यः [११३।४४]	कर्मधारयः	सख्या [११३।३३]	सख्या
बहुः [११३।१५५]	बहुवचनम्	युग्मम् [११३।१५२]	मन्व्यमपुरुषः	सः [११३।२]	समावः
बोन्व्यम् [११३।५५]	सम्बोधनम्			सत् [११३।१०५]	सत्
भ		र		सम्प्रदानम्	सम्प्रदानम्
भः [११३।१०७]	भम्	रः [११३।४७]	द्विगु.	[११३।१११]	
भा [११३।१५८]	तृतीया	रुः [११३।१००]	गुरु	सर्वनाम [११३।३५]	सर्वनाम
भु [११३।२७]	द्वु	वा [११३।१५८]	प्रथमा	सु. [११३।९७]	सि
म		वाक् [११३।७६]	उपपदम्	स्कः [११३।३]	सयोगः
मम् [११३।१५०]	परस्मैसदम्	विभक्ती [११३।१५७]	विभक्तिः	स्वम् [११३।२]	सार्गम्
मु. [११३।९२]	नटी			स्वरितः [११३।१४]	स्वरितः
मृत् [११३।५]	प्रातिपदिकम्	प		ह	
		पम् [११३।१६]	तत्पुरुषः	ह. [११३।४]	अन्वयीभातः
				हृत् [११३।६१]	तदितम्

# जैनेन्द्र और पाणिनि-व्याकरणकी तुलनात्मक सूत्र-सूची

जैनेन्द्र-सूत्र-संख्या	पाणिनि-सूत्र-संख्या	जैनेन्द्र-सूत्र-संख्या	पाणिनि-सूत्र-संख्या	जैनेन्द्र-सूत्र-संख्या	पाणिनि-सूत्र-संख्या
११११	×	१११३३	१११२३	१११६५	१११६४
१११२	१११९	१११३४	१११२४	१११६६	१११६५
१११३	१११७	१११३५	१११२७	१११६७	{ १११५२ १११७२
१११४	१११८	१११३६	१११२८	१११६८	१११७३
१११५	११२४५	१११३७	१११२९	१११६९	१११७४
१११६	११२४६	१११३८	१११३०	१११७०	१११७५
१११७	११२४७	१११३९	१११३१	१११७१	×
१११८	११२४८	१११४०	१११३२	१११७२	{ १११६९ १११७०
१११९	११२४९	१११४१	१११३३	१११७३	१११७१
१११६०	११२५०	१११४२	१११३४-३६	१११७४	१११७३
१११६१	११२२७	१११४३	७११६	१११७५	११२१
१११६२	११२२८	१११४४	×	१११७६	११२२
१११६३	११२२९, ३०	१११४५	१११४५	१११७७	११२३
१११६४	११२३१	१११४६	१११४६	१११७८	११२४
१११६५	११११	१११४७	१११५०	१११७९	११२५
१११६६	१११२	१११४८	१११५१	१११८० }	११२७
१११६७	१११३	१११४९	१११५२	१११८१ }	११२८
१११६८	१११४	१११५०	१११५३	१११८२	११२९
१११६९	१११५	१११५१	१११५४	१११८३	११२१०
१११७०	१११११	१११५२	१११५५	१११८४	११२११
१११७१	१११६२	१११५३ }	१११५६	१११८५	११२१२
१११७२	१११६४	१११५४ }	१११५७	१११८६	११२१३
१११७३	१११६५	१११५५	१११५८	१११८७	११२१४
१११७४	१११६६	१११५६	१११५९	१११८८	११२१५
१११७५	१११६७	१११५७	१११६०	१११८९	११२१६
१११७६	१११६८	१११५८	१११६१	१११९०	११२१७
१११७७	१११६९	१११५९	१११६२	१११९१	११२१८, १९
१११७८	१११७०	१११६०	१११६३	१११९२	११२२०
१११७९	१११७१	१११६१	१११६४	१११९३	११२२१
१११८०	×	१११६२	१११६५	१११९४	११२२२, २३
१११८१	×	१११६३	१११६६	१११९५	
१११८२	१११४२	१११६४	१११६७		
१११८३	१११४३				

१११९६	११२२४, २६	११२३३	×	११२७१	११२७३
१११९७	११२२५	११२३४	११३३८	११२७२	११३१७४
१११९८	११२५१	११२३५	११३३९	११२७३	११३१८९
१११९९	११२६३	११२३६	११३४०	११२७४	११३१७७
११११००	×	११२३७	११३४१	११२७५	११३१७८
अध्याय १ पाद २		११२३८	११३४२	११२७६	११३१७९
११२१	११३१	११२३९	११३४३	११२७७	११३१८०
११२२	×	११२४०	११३४४	११२७८	११३१८१
११२३	११३२	११२४१	११३४५	११२७९	११३१८२
११२४	११३१०	११२४२	११३४६	११२८०	११३१८३
११२५	११३११	११२४३	११३४७	११२८१	११३१८४
११२६	११३१२	११२४४	११३४८	११२८२	११३१८५
११२७	११३१३	११२४५	११३४९	११२८३	११३१८६
११२८	११३१४	११२४६	११३५०	११२८४	११३१८७
११२९	११३१५	११२४७	११३५१	११२८५	११३१८८
११३०	११३१६	११२४८	११३५२	११२८६	११३१९०
११३१	११३१७	११२४९	११३५३	११२८७	११३१९१
११३२	११३१८	११२५०	११३५४	११२८८	११३१९२
११३३	११३१९	११२५१	११३५५	११२८९	११३१९३
११३४	११३२०	११२५२	११३५७	११२९०	११३१९४
११३५	११३२१	११२५३	११३५८	११२९१	×
११३६	११३२२	११२५४	११३५८	११२९२	११३१९५
११३७		११२५५		११२९३	११३१९६
११३८	११३२३	११२५६	११३६०	११२९४	११३१९७
११३९	११३२४	११२५७	११३६१	११२९५	
११४०	११३२५	११२५८	११३६२	११२९६	११३१९८
११४१	११३२६	११२५९	११३६३	११२९७	११३१९९
११४२	११३२७	११२६०	११३६४	११२९८	११३२००
११४३	११३२८	११२६१	×	११२९९	११३२०१
११४४	११३२९	११२६२	११३६५	११३००	११३२०२
११४५	११३३०	११२६३	११३६६	११३०१	११३२०३
११४६	११३३१	११२६४	११३६८	११३०२	११३२०४
११४७	११३३२	११२६५	११३६९	११३०३	११३२०५
११४८	११३३३	११२६६	११३७०	११३०४	११३२०६
११४९	११३३४	११२६७	११३७१	११३०५	११३२०७
११५०	११३३५	११२६८	११३७२	११३०६	११३२०८
११५१	११३३६	११२६९	११३७३	११३०७	११३२०९
११५२	११३३७	११२७०	११३७४	११३०८	११३२१०

# तुलनात्मक सूत्र-सूची

११२१०६	११४२३	११२१४७	११४७८	११३२५	२११२८
११२११०	११४२४	११२१४८	११४७९	११३२६	२११२९
११२१११	११२३२	११२१४९	११४८०	११३२७	२११३०
११२११२	११४३५	११२१५०	११४८१	११३२८	२११३१
११२११३	११४४४	११२१५१	११४१००	११३२९	२११३२
११२११४	११४४२	११२१५२	११४१०१	११३३०	२११३४, ३५
११२११५	११४४३	११२१५३	११४१०५, १०७, १०८	११३३१	२११३६
११२११६	११४४५	११२१५४	११४१०६	११३३२	२११३७
११२११७	११४४६	११२१५५	११४१०७	११३३३	२११३८
११२११८	११४४८	११२१५६	११४१०८	११३३४	२११३९
११२११९	११४४७	११२१५७	११४१०९	११३३५	२११४०
११२१२०	११४४९	११२१५८	×	११३३६	२११४१
११२१२१	११४५१	अध्याय १ पाद ३		११३३७	२११४३
११२१२२ }	११४५२	११३१	२१११	११३३८	२११४४
११२१२३ }	११४५३	११३२	२११३	११३३९	२११४५
११२१२४	११४५४	११३३	२११४	११३४०	२११४६
११२१२५	११४५५	११३४	२११५	११३४१	२११४७
११२१२६	११४५६	११३५	२११६	११३४२	२११४८
११२१२७	११४५७	११३६	२११७, ८	११३४३	२११४९
११२१२८	११४५७	११३७	२११८	११३४४	२११५०
११२१२९	११४५८	११३८	२११९	११३४५	२११५१
११२१३०	११४५९	११३९	२१११०	११३४६	२११५२
११२१३१	११४६०	११३१०	२११११	११३४७	२११५३
११२१३२	११४६१	११३११	२१११२	११३४८	२११५४
११२१३३	११४६२	११३१२	२१११३	११३४९	२११५५
११२१३४	११४६३	११३१३	२१११४	११३५०	२११५६
११२१३५	११४६४, ६५	११३१४	२१११५	११३५१	२११५७
११२१३६	११४६५	११३१५	२१११६	११३५२	२११५८
११२१३७	११४६७, ६८	११३१६	२१११७	११३५३	२११५९
११२१३८	११४६८	११३१७	२१११८	११३५४	२११६०
११२१३९	११४७०	११३१८	२१११९	११३५५	२११६१
११२१४०	११४७१	११३१९	२११२०	११३५६	२११६२
११२१४१	११४७२	११३२०	२११२१	११३५७	२११६३
११२१४२	११४७३	११३२१ }	२११२२	११३५८	२११६४
११२१४३	११४७४	११३२२ }	२११२३	११३५९	२११६५
११२१४४	११४७५	११३२३	२११२४	११३६०	२११६६
११२१४५	११४७६	११३२४	२११२५	११३६१	२११६७
११२१४६	११४७७	११३२५	२११२६	११३६२	२११६८
११२१४७	११४७८	११३२६	२११२७	११३६३	२११६९

१३।६३	२।१।६७	१।३।१०१	२।२।३५	१।४।३३	२।३।२४
१।३।६४	२।१।६८	१।३।१०२	२।२।३६	१।४।३४	२।३।२५
१।३।६५	२।१।७०	१।३।१०३	२।२।३७	१।४।३५	२।३।२६
१।३।६६	२।१।७२	१।३।१०४	२।३।३८	१।४।३६	२।३।२७
१।३।६७	२।२।५	१।३।१०५	×	१।४।३७	२।३।२८
१।३।६८	२।२।६	अध्याय १ पाद ४		१।४।३८	२।३।२९
१।३।६९	२।२।७	१।४।१	२।३।१	१।४।३९	२।३।३०
१।३।७०	२।२।८	१।४।२	२।३।२	१।४।४०	२।३।३१
१।३।७१	×	१।४।३	२।३।४	१।४।४१	२।३।३२
१।३।७२	२।२।९	१।४।४	२।३।५	१।४।४२	२।३।३४
१।३।७३	×	१।४।५	२।३।६	१।४।४३	२।३।३५
१।३।७४	२।२।१०	१।४।६	२।३।७	१।४।४४	२।३।३६
१।३।७५	२।२।११	१।४।७	१।४।८	१।४।४५	२।३।३७
१।३।७६	२।२।१४	१।४।८	१।४।९	१।४।४६	२।३।३८
१।३।७७	२।२।१५	१।४।९	१।४।९	१।४।४७	२।३।३९
१।३।७८		१।४।९	१।४।९	१।४।४८	२।३।४०
१।३।७९	२।२।१६	१।४।१०	१।४।९	१।४।४९	२।३।४१
१।३।८०	२।२।१७	१।४।११	×	१।४।५०	२।३।४२
१।३।८१	२।२।१८	१।४।१२	×	१।४।५१	२।३।४३
१।३।८२	२।२।१९	१।४।१३	×	१।४।५२	२।३।४४
१।३।८३	२।२।२०	१।४।१४	×	१।४।५३	२।३।४५
१।३।८४	२।२।२१	१।४।१५	×	१।४।५४	२।३।४६
१।३।८५	२।२।२२	१।४।१६	×	१।४।५५	२।३।४८
१।३।८६	२।२।२४	१।४।१७	२।३।९	१।४।५६	२।३।४९
१।३।८७	२।२।२५	१।४।१८		१।४।५७	२।३।५०
		१।४।१९		१।४।५८	२।३।५१

१।४।७२	२।३।६६	१।४।११०	२।४।३६	१।४।१४७	२।४।१८
१।४।७३ }	२।३।७०	१।४।१११	{ २।४।३७	१।४।१४८	२।४।१९
१।४।७४ }			{ २।४।३८	१।४।१४९	२।४।२०
१।४।७५	२।३।७१	१।४।११२	२।४।४०	१।४।१५० }	२।४।२१
१।४।७६	२।३।७२	१।४।११३	२।४।४१	१।४।१५१ }	२।४।२२
१।४।७७	२।३।७३	१।४।११४	२।४।४२	१।४।१५२	२।४।२३
१।४।७८	२।४।७४	१।४।११५	२।४।४३	१।४।१५३	२।४।२४
१।४।७९	२।४।७५	१।४।११६	२।४।४४	१।४।१५४	२।४।२५
१।४।८०	२।४।७६	१।४।११७	२।४।४५	अध्याय २ पाठ ३	
१।४।८१	२।४।७७	१।४।११८	२।४।४६	२।४।१	३।४।१
१।४।८२	२।४।७८	१।४।११९	२।४।४७	२।४।२	३।४।२
१।४।८३	२।४।७९	१।४।१२०	२।४।४८	२।४।३	३।४।३
१।४।८४	२।४।८०	१।४।१२१	२।४।४९	२।४।४	३।४।४
१।४।८५	२।४।८१	१।४।१२२	२।४।५०	२।४।५	३।४।५
१।४।८६	२।४।८२	१।४।१२३	२।४।५१	२।४।६	३।४।६
१।४।८७	२।४।८३	१।४।१२४	२।४।५२, ५३	२।४।७	३।४।७
१।४।८८	२।४।८४	१।४।१२५	२।४।५४	२।४।८	३।४।८
१।४।८९	२।४।८५	१।४।१२६	X	२।४।९	३।४।९
१।४।९०	२।४।८६	१।४।१२७	२।४।५५	२।४।१०	३।४।१०
१।४।९१	२।४।८७	१।४।१२८	२।४।५६	२।४।११	३।४।११
१।४।९२	२।४।८८	१।४।१२९	२।४।५७	२।४।१२	३।४।१२
१।४।९३	२।४।८९	१।४।१३०	२।४।५८	२।४।१३	३।४।१३
१।४।९४	२।४।९०	१।४।१३१	२।४।५९	२।४।१४	{ ३।४।१४
१।४।९५	२।४।९१	१।४।१३२	२।४।६०, ६१		{ ३।४।१५
१।४।९६	२।४।९२	१।४।१३३	२।४।६२	२।४।१५	३।४।१६
१।४।९७	२।४।९३	१।४।१३४	२।४।६३	२।४।१६	३।४।१७
१।४।९८	२।४।९४	१।४।१३५	२।४।६४	२।४।१७	३।४।१८
१।४।९९	२।४।९५	१।४।१३६	२।४।६५	२।४।१८	३।४।१९
१।४।१००	२।४।९६	१।४।१३७	२।४।६६	२।४।१९	३।४।२०
१।४।१०१	२।४।९७	१।४।१३८	२।४।६७	२।४।२०	३।४।२१
१।४।१०२	२।४।९८	१।४।१३९	२।४।६८	२।४।२१	३।४।२२
१।४।१०३	२।४।९९	१।४।१४०	२।४।६९	२।४।२२	३।४।२३
१।४।१०४ }	२।४।१०	१।४।१४१	२।४।७०	२।४।२३ }	३।४।२४
१।४।१०५ }		१।४।१४२	२।४।७१	२।४।२४ }	३।४।२५
१।४।१०६	X	१।४।१४३	२।४।७२	२।४।२५	३।४।२६
१।४।१०७	२।४।११	१।४।१४४	२।४।७३	२।४।२६	३।४।२७
१।४।१०८	२।४।१२	१।४।१४५	२।४।७४	२।४।२७	३।४।२८
१।४।१०९	२।४।१३	१।४।१४६	२।४।७५	२।४।२८	३।४।२९
			२।४।७६	२।४।२९	{ ३।४।३०,
					{ ३।४।३१



रा११२६	रा११३२	रा११६७	रा११७१	रा१११०१	×
रा११३०	रा११३३	रा११६८	रा११७२	रा१११०२	रा१११२५
रा११३१	रा११३५	रा११६९	रा११७३	रा१११०३	रा१११२२
रा११३२	रा११३६	रा११७०	रा११७४	रा१११०४	रा१११२९
रा११३३	रा११३७	रा११७१	रा११७५	रा१११०५	रा१११३०,
रा११३४	रा११३८	रा११७२	रा११७६		१३१, १३२
रा११३५	रा११३९	रा११७३	रा११७७, ७८	रा१११०६	रा१११३३
रा११३६	रा११४०	रा११७४	रा११७९	रा१११०७	रा१११३४
रा११३७	रा११४१	रा११७५	रा११८०	रा१११०८	रा१११३५
रा११३८	रा११४३, ४४	रा११७६	रा११८१	रा१११०९	रा१११३६
रा११३९	×	रा११७७	रा११८२	रा११११०	रा१११३७
रा११४०	रा११४५	रा११७८	रा११८३	रा१११११	रा१११३८
रा११४१ }	रा११४६	रा११७९	रा११८४	रा११११२	रा१११३९
रा११४२ }		रा११८०	रा११८५	रा११११३	रा१११४०
रा११४३	रा११४८	रा११८१	रा११८४	रा११११४ }	रा१११४१
रा११४४	रा११४९	रा११८२	रा११८५	रा११११५ }	
रा११४५	रा११५२	रा११८३	रा११८६	रा११११६	रा१११४२
रा११४६	रा११५३		रा११८७	रा११११७	रा१११४३
रा११४७	रा११५४	रा११८४	रा११८८	रा११११८	रा१११४४
रा११४८	{ रा११५५	रा११८५	{ रा११८९	रा११११९	रा१११४५
रा११४९	{ रा११५६		{ रा११९०	रा१११२०	रा१११४६,
रा११५०	रा११५७	रा११८६	रा११९१		१४७
रा११५१	रा११५८	रा११८७	रा११९२	रा१११२१	रा१११४८
रा११५२	रा११५९	रा११८८	रा११९३	रा१११२२	रा१११४९
रा११५३	रा११६०	रा११८९	रा११९४	रा१११२३	रा१११५०
रा११५४	रा११६१	रा११९०	रा११९५		
रा११५५	रा११६२	रा११९१	रा११९६		

अध्याय ७ पाठ ७

तुलनात्मक सूत्र-सर्त्री

रा०१३	रा०१	रा०४६	रा०५१	रा०८०	
	[ वा० ]	रा०५० } रा०५१ }	रा०५२, ५३	रा०८१ रा०८२	
रा०१४	रा०१	रा०५२	रा०५४	रा०९०	
रा०१५	रा०१०	रा०५३	रा०५५	रा०९१	
रा०१६	रा०११	रा०५४ } रा०५५ }	{ रा०५६ रा०५७ }	रा०९२ रा०९३	
रा०१७	रा०१२	रा०५६	रा०५८	रा०९४	
रा०१८	रा०१३	रा०५७	रा०५९	रा०९५	
रा०१९	रा०१४	रा०६०	रा०६१	रा०९६	
रा०२०	रा०१५	रा०६१	रा०६२	रा०९७	
रा०२१	रा०१६	रा०६२	रा०६३	रा०९८	
रा०२२	रा०१७	रा०६३	रा०६४	रा०९९	
रा०२३	रा०१८	रा०६४	रा०६५	रा०१००	
रा०२४	रा०१९	रा०६५	रा०६६	रा०१०१	
रा०२५	रा०२०	रा०६६	रा०६७	रा०१०२	
रा०२६	रा०२१	रा०६७	रा०६८	रा०१०३	
रा०२७	रा०२२	रा०६८	रा०६९	रा०१०४	
रा०२८	X	रा०६९	रा०७०	रा०१०५	
रा०२९	रा०२४	रा०७०	रा०७१	रा०१०६	
रा०३०	रा०२५	रा०७१	रा०७२	रा०१०७	
रा०३१	रा०२६	रा०७२	रा०७३	रा०१०८	
रा०३२	रा०२७	रा०७३	रा०७४	रा०१०९	
रा०३३	{ रा०२८ रा०३० }	रा०७४	रा०७५	रा०११०	
रा०३४	रा०३१	रा०७५	रा०७६	रा०१११	
रा०३५	रा०३२	रा०७६	रा०७७	रा०११२	
रा०३६	रा०३३, ३४	रा०७७	रा०७८	रा०११३	
रा०३७	रा०३५	रा०७८	रा०७९	रा०११४	
रा०३८	रा०३६, ३७	रा०७९	रा०८०	रा०११५	
रा०३९	रा०३८	रा०८०	रा०८१	रा०११६	
रा०४०	रा०४२	रा०८१	रा०८२	रा०११७	
रा०४१	रा०४३	रा०८२	रा०८३	रा०११८ } रा०११९ }	
रा०४२	रा०४४	रा०८३	रा०८४	रा०१२०	
रा०४३	रा०४५	रा०८४	रा०८५	रा०१२१	
रा०४४	रा०४६	रा०८५	रा०८६	रा०१२२	
रा०४५	रा०४७	रा०८६	रा०८७		
रा०४६	रा०४८	रा०८७	रा०८८		
रा०४७	रा०४९	रा०८८	रा०८९		
रा०४८	रा०५०	रा०८९	रा०९०		

रा२।१२३	रा२।१४२	रा२।१६१	रा२।१८१, १८३	रा२।३१	रा२।३३
रा२।१२४	रा२।१४२	रा२।१६२	रा२।१८४	रा२।३२	रा२।३४
रा२।१२५	रा२।१४२	रा२।१६३	रा२।१८५	रा२।३३	रा२।३५
रा२।१२६	रा२।१४५	रा२।१६४	रा२।१८६	रा२।३४	रा२।३५
रा२।१२७ } रा२।१२८ }	रा२।१४६	रा२।१६५	रा२।१८७	रा२।३५	रा२।३६
रा२।१२९	रा२।१४७	रा२।१६६	रा२।१८८	रा२।३६	रा२।३७, ३८
रा२।१३०	रा२।१४७	रा२।१६७	रा२।१	रा२।३७	रा२।३९
रा२।१३१	रा२।१४९	अध्याय २ पाठ ३		रा२।३८	रा२।४०
रा२।१३२	रा२।१५०	रा२।१	रा२।३	रा२।३९	रा२।४१
रा२।१३३	रा२।१५१	रा२।२	रा२।४	रा२।४०	रा२।४२
रा२।१३४	रा२।१५०	रा२।३	रा२।५	रा२।४१	रा२।४५
रा२।१३५	रा२।१६६	रा२।४	रा२।६	रा२।४२	रा२।४६
रा२।१३६	रा२।१६५	रा२।५	रा२।७	रा२।४३	रा२।४७
रा२।१३७	रा२।१५४	रा२।६	रा२।८	रा२।४४	रा२।४८
रा२।१३८	रा२।१५५	रा२।७	रा२।९	रा२।४५	रा२।४९
रा२।१३९	रा२।१५६	रा२।८	रा२।१०	रा२।४६	रा२।५०
रा२।१४०	रा२।१५७	रा२।९	रा२।११	रा२।४७	रा२।५१
रा२।१४१	रा२।१५८	रा२।१०	रा२।१२	रा२।४८	रा२।५२
रा२।१४२	रा२।१५९	रा२।११	रा२।१३	रा२।४९	रा२।५३
रा२।१४३	रा२।१६०	रा२।१२	रा२।१४	रा२।५०	रा२।५४
रा२।१४४	रा२।१६१	रा२।१३	रा२।१५	रा२।५१	रा२।५५
रा२।१४५	रा२।१६२	रा२।१४	रा२।१६	रा२।५२	रा२।५६,
		रा२।१५			५७, ५८

रा३।६८	रा३।६५	रा३।१०२	रा३।१२१	रा३।१४०	रा३।१६४
रा३।६९	रा३।६८, ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७	रा३।१०३	रा३।१२२	रा३।१४१	रा३।१६५
रा३।७०	रा३।८८	रा३।१०४	रा३।१२६	रा३।१४२	रा३।१६६
रा३।७१	रा३।८९	रा३।१०५	रा३।१२७	रा३।१४३	रा३।१६८
रा३।७२	रा३।९०, ९१	रा३।१०६	रा३।१२८	रा३।१४४	रा३।१६८
रा३।७३	रा३।९२	रा३।१०७	रा३।१३१	रा३।१४५	रा३।१६९
रा३।७४	रा३।९३	रा३।१०८	रा३।१३२	रा३।१४६	रा३।१७०
रा३।७५	रा३।९४	रा३।१०९	रा३।१३३	रा३।१४७	रा३।१७१
रा३।७६	} रा३।४२	रा३।११०	रा३।१३४	रा३।१४८	रा३।१७२
रा३।७७		रा३।१११	रा३।१३५	रा३।१४९	रा३।१७३
रा३।७८	रा३।९७	रा३।११२	रा३।१३६	रा३।१५०	रा३।१७४
रा३।७९	रा३।९५	रा३।११३	रा३।१३७	रा३।१५१	रा३।१७५
रा३।८०	रा३।९८	रा३।११४	रा३।१३८	रा३।१५२	रा३।१७६
रा३।८१	रा३।९९	रा३।११५	रा३।१३९	अध्याय २ पाद ४	
रा३।८२	रा३।१००	रा३।११६	रा३।१४०	रा३।१	रा३।१
रा३।८३	रा३।१०१	रा३।११७	रा३।१४१	रा३।२	रा३।२
रा३।८४	रा३।१०२	रा३।११८	रा३।१४२	रा३।३	रा३।३
रा३।८५	रा३।१०३	रा३।११९	रा३।१४३	रा३।४	रा३।४
रा३।८६	रा३।१०४	रा३।१२०	रा३।१४४	रा३।५	रा३।५
रा३।८७	रा३।१०५	रा३।१२१	रा३।१४५	रा३।६	रा३।६
रा३।८८	रा३।१०६	रा३।१२२	रा३।१४६	रा३।७	रा३।७
रा३।८९	रा३।१०७	रा३।१२३	रा३।१४७	रा३।८	रा३।८
रा३।९०	रा३।१०८	रा३।१२४	रा३।१४८	रा३।९	रा३।९
रा३।९१	रा३।१०९	रा३।१२५	रा३।१४९	रा३।१०	रा३।१०
रा३।९२	रा३।११०	रा३।१२६	रा३।१५०	रा३।११	रा३।११
रा३।९३	रा३।१११	रा३।१२७	रा३।१५१	रा३।१२	रा३।१२
रा३।९४	रा३।११२	रा३।१२८	रा३।१५२	रा३।१३	रा३।१३
रा३।९५	रा३।११३	रा३।१२९	रा३।१५३	रा३।१४	रा३।१४
रा३।९६	रा३।११४	रा३।१३०	रा३।१५४	रा३।१५	रा३।१५
रा३।९७	रा३।११५	रा३।१३१	रा३।१५५	रा३।१६	रा३।१६
रा३।९८	रा३।११६	रा३।१३२	रा३।१५६	रा३।१७	रा३।१७
रा३।९९	रा३।११७	रा३।१३३	रा३।१५७	रा३।१८	रा३।१८
रा३।१००	रा३।११८	रा३।१३४	रा३।१५८	रा३।१९	रा३।१९
रा३।१०१	रा३।११९	रा३।१३५	रा३।१५९	रा३।२०	रा३।२०
	रा३।१२०	रा३।१३६	रा३।१६०	रा३।२१	रा३।२१
	रा३।१२१	रा३।१३७	रा३।१६१	रा३।२२	रा३।२२
	रा३।१२२	रा३।१३८	रा३।१६२	रा३।२३	रा३।२३
	रा३।१२३	रा३।१३९	रा३।१६३	रा३।२४	रा३।२४

२।४।२५	३।४।३६	२।४।६३	३।४।७७	३।१।३	४।१।३
२।४।२६	३।४।४०	२।४।६४	३।४।७८	३।१।४	४।१।४
२।४।२७	३।४।४८	२।४।६५	३।४।७९	३।१।५	४।१।७५
२।४।२८	३।४।४१	२।४।६६	३।४।८०	३।१।६	४।१।५,६
२।४।२९	३।४।४२	२।४।६७	३।४।८१	३।१।७	४।१।७
२।४।३०	३।४।४३	२।४।६८	३।४।८२	३।१।८	४।१।१०
२।४।३१	३।४।४४	२।४।६९	३।४।८३	३।१।९	४।१।११
२।४।३२	३।४।४५	२।४।७०	३।४।८४	३।१।१०	४।१।१२
२।४।३३	३।४।४६	२।४।७१		३।१।११	४।१।१३
२।४।३४	३।४।४८	२।४।७२	३।४।८५	३।१।१२	४।१।१९
२।४।३५	३।४।४९	२।४।७३	३।४।८६	३।१।१३	४।१।१५
२।४।३६	३।४।५०,५१	२।४।७४	३।४।८७	३।१।१४	४।१।१६,२७
२।४।३७	३।४।५२	२।४।७५	३।४।८९	३।१।१५	४।१।१८
२।४।३८	३।४।५३	२।४।७६	३।४।९०	३।१।१६	४।१।१९
२।४।३९	३।४।५४	२।४।७७	३।४।९१	३।१।१७	४।१।१४
२।४।४०	३।४।५५	२।४।७८	३।४।९२	३।१।१८	४।१।१५
२।४।४१	३।४।५६	२।४।७९	३।४।९३	३।१।१९	४।१।१६
२।४।४२	३।४।५७	२।४।८०	३।४।९६	३।१।२०	४।१।१७
२।४।४३	३।४।५८	२।४।८१	३।४।१००	३।१।२१	४।१।१८
२।४।४४	३।४।५९	२।४।८२	३।४।१०१	३।१।२२	४।१।१९
२।४।४५	३।४।६०	२।४।८३	३।४।१०२	३।१।२३	४।१।२०
२।४।४६	३।४।६१	२।४।८४	३।४।१०३	३।१।२४	४।१।२०
२।४।४७	३।४।६२	२।४।८५	३।४।१०४	३।१।२५	४।१।२१

૩૧૧૪૧	૪૧૧૩૮	૩૧૧૭૬	૪૧૧૬૩	૩૧૧૧૬	૪૧૧૧૨૭
૩૧૧૪૨	૪૧૧૪૬	૩૧૧૮૦	૪૧૧૬૪	૩૧૧૧૧૭	૪૧૧૧૨૮
૩૧૧૪૩	૪૧૧૫૦	૩૧૧૮૧	૪૧૧૧૬૩	૩૧૧૧૧૮	૪૧૧૧૩૦
૩૧૧૪૪	૪૧૧૫૧	૩૧૧૮૨	૪૧૧૧૬૪	૩૧૧૧૧૯	૪૧૧૧૨૯
૩૧૧૪૫	૪૧૧૫૨	૩૧૧૮૩	૪૧૧૧૬૫	૩૧૧૧૨૦	૪૧૧૧૩૧
૩૧૧૪૬	૪૧૧૫૩	૩૧૧૮૪	૪૧૧૧૬૬,	૩૧૧૧૨૧	૪૧૧૧૩૨,
૩૧૧૪૭	૪૧૧૫૪		૧૬૭		૧૩૪
૩૧૧૪૮	૪૧૧૫૫	૩૧૧૮૫	૪૧૧૧૬૫, ૧૬	૩૧૧૧૨૨	૪૧૧૧૩૩
૩૧૧૪૯	૪૧૧૫૬	૩૧૧૮૬	૪૧૧૧૭	૩૧૧૧૨૩	૪૧૧૧૩૫
૩૧૧૫૦	૪૧૧૫૭	૩૧૧૮૭	૪૧૧૧૮	૩૧૧૧૨૪	૪૧૧૧૩૬
૩૧૧૫૧	૪૧૧૫૮	૩૧૧૮૮	૪૧૧૧૯	૩૧૧૧૨૫	૪૧૧૧૩૮
૩૧૧૫૨	૪૧૧૬૨	૩૧૧૮૯	૪૧૧૧૦૦	૩૧૧૧૨૬	૪૧૧૧૩૭
૩૧૧૫૩	૪૧૧૬૩	૩૧૧૯૦	૪૧૧૧૦૧	૩૧૧૧૨૭	૪૧૧૧૪૦
૩૧૧૫૪	૪૧૧૬૪	૩૧૧૯૧	૪૧૧૧૦૨	૩૧૧૧૨૮ } ૩૧૧૧૨૯ }	૪૧૧૧૩૯
૩૧૧૫૫	૪૧૧૬૫	૩૧૧૯૨	૪૧૧૧૦૩		
૩૧૧૫૬	૪૧૧૬૬	૩૧૧૯૩	૪૧૧૧૦૪	૩૧૧૧૩૦	૪૧૧૧૪૧
૩૧૧૫૭	૪૧૧૬૮	૩૧૧૯૪	૪૧૧૧૦૫	૩૧૧૧૩૧	૪૧૧૧૪૨
૩૧૧૫૮	૪૧૧૬૯	૩૧૧૯૫	૪૧૧૧૦૬	૩૧૧૧૩૨	૪૧૧૧૪૩
૩૧૧૫૯	૪૧૧૭૦	૩૧૧૯૬,	૪૧૧૧૦૭	૩૧૧૧૩૩	૪૧૧૧૪૪
૩૧૧૬૦	૪૧૧૬૭, ૭૧	૩૧૧૯૭	૪૧૧૧૦૮	૩૧૧૧૩૪	૪૧૧૧૪૬
૩૧૧૬૧	૪૧૧૭૬	૩૧૧૯૮	૪૧૧૧૦૯	૩૧૧૧૩૫	૪૧૧૧૪૭
૩૧૧૬૨	૪૧૧૭૭	૩૧૧૯૯	૪૧૧૧૧૦	૩૧૧૧૩૬	૪૧૧૧૪૮
૩૧૧૬૩	૪૧૧૭૮	૩૧૧૧૦૦	૪૧૧૧૧૧	૩૧૧૧૩૭	૪૧૧૧૪૯
૩૧૧૬૪	૪૧૧૭૯	૩૧૧૧૦૧	૪૧૧૧૧૨	૩૧૧૧૩૮	૪૧૧૧૫૦
૩૧૧૬૫	૪૧૧૮૦	૩૧૧૧૦૨	૪૧૧૧૧૩	૩૧૧૧૩૯	૪૧૧૧૫૧
૩૧૧૬૬	૪૧૧૮૧	૩૧૧૧૦૩	૪૧૧૧૧૪	૩૧૧૧૪૦	૪૧૧૧૫૨,
૩૧૧૬૭	૪૧૧૮૨	૩૧૧૧૦૪	૪૧૧૧૧૫		૧૫૩
૩૧૧૬૮	૪૧૧૮૩	૩૧૧૧૦૫	૪૧૧૧૧૬	૩૧૧૧૪૧	૪૧૧૧૫૪
૩૧૧૬૯	૪૧૧૮૪	૩૧૧૧૦૬	૪૧૧૧૧૭	૩૧૧૧૪૨	૪૧૧૧૫૫
૩૧૧૭૦	૪૧૧૮૫	૩૧૧૧૦૭	૪૧૧૧૧૮	૩૧૧૧૪૩	૪૧૧૧૫૬
૩૧૧૭૧	૪૧૧૮૬	૩૧૧૧૦૮	૪૧૧૧૧૯	૩૧૧૧૪૪	૪૧૧૧૫૭
૩૧૧૭૨	૪૧૧૮૭	૩૧૧૧૦૯	૪૧૧૧૨૦	૩૧૧૧૪૫	૪૧૧૧૫૮
૩૧૧૭૩	૪૧૧૮૯	૩૧૧૧૧૦	૪૧૧૧૨૧	૩૧૧૧૪૬	૪૧૧૧૫૯
૩૧૧૭૪	૪૧૧૮૮	૩૧૧૧૧૧	૪૧૧૧૨૨	૩૧૧૧૪૭	૪૧૧૧૬૦
૩૧૧૭૫	૪૧૧૯૦	૩૧૧૧૧૨	૪૧૧૧૨૩	૩૧૧૧૪૮	૪૧૧૧૬૧
૩૧૧૭૬	૪૧૧૯૧	૩૧૧૧૧૩	૪૧૧૧૨૪	૩૧૧૧૪૯	૪૧૧૧૭૪
૩૧૧૭૭	૪૧૧૯૨	૩૧૧૧૧૪	૪૧૧૧૨૫	૩૧૧૧૫૦	૪૧૧૧૬૮
૩૧૧૭૮	૪૧૧૯૬૨	૩૧૧૧૧૫	૪૧૧૧૨૬	૩૧૧૧૫૧	૪૧૧૧૬૯

૩૧૧૧૫૨	૪૧૧૧૭૦	૩૧૧૨૬	૪૧૧૨૪	૩૧૧૬૭	૪૧૧૮૭
૩૧૧૧૫૩	૪૧૧૧૭૧,	૩૧૧૩૦	૪૧૧૨૫	૩૧૧૬૮	૪૧૧૮૬
	૧૭૨	૩૧૧૩૧	૪૧૧૨૬	૩૧૧૬૯	૪૧૧૮૮
૩૧૧૧૫૪	૪૧૧૧૭૩	૩૧૧૩૨	૪૧૧૨૭	૩૧૧૭૦	૪૧૧૯૦
૩૧૧૧૫૫	×	૩૧૧૩૩	૪૧૧૨૮	૩૧૧૭૧	૪૧૧૯૧
૩૧૧૧૫૬	૪૧૧૧૭૫	૩૧૧૩૪	૪૧૧૨૯	૩૧૧૭૨	૪૧૧૯૨
૩૧૧૧૫૭	૪૧૧૧૭૬	૩૧૧૩૫	૪૧૧૪૦	૩૧૧૭૩	૪૧૧૯૩
૩૧૧૧૫૮	૪૧૧૧૭૭,	૩૧૧૩૬	૪૧૧૪૧	૩૧૧૭૪	૪૧૧૯૪
	૧૮૮	૩૧૧૩૭	૪૧૧૪૩	૩૧૧૭૫	૪૧૧૯૫
અધ્યાય ૩ પાઠ ૨		૩૧૧૩૮	૪૧૧૪૬	૩૧૧૭૬	૪૧૧૯૭
૩૧૧૧	૪૧૧૧	૩૧૧૩૯	૪૧૧૪૭	૩૧૧૭૭	૪૧૧૯૮
૩૧૧૨	×	૩૧૧૪૦	૪૧૧૪૮	૩૧૧૭૮	૪૧૧૯૯
૩૧૧૩	૪૧૧૨	૩૧૧૪૧	૪૧૧૪૯	૩૧૧૭૯	૪૧૧૧૦૦
૩૧૧૪	૪૧૧૩	૩૧૧૪૨	૪૧૧૪૨	૩૧૧૮૦	૪૧૧૧૦૧
૩૧૧૫	૪૧૧૪	૩૧૧૪૩	૪૧૧૫૦	૩૧૧૮૧	૪૧૧૧૦૪
૩૧૧૬	૪૧૧૫	૩૧૧૪૪	૪૧૧૫૧	૩૧૧૮૨	૪૧૧૧૦૫
૩૧૧૭	૪૧૧૬	૩૧૧૪૫	૪૧૧૫૨	૩૧૧૮૩	૪૧૧૧૦૬
૩૧૧૮	૪૧૧૧૦	૩૧૧૪૬	૪૧૧૫૩	૩૧૧૮૪	૪૧૧૧૦૭
૩૧૧૯	૪૧૧૧૪	૩૧૧૪૭	૪૧૧૫૪	૩૧૧૮૫	૪૧૧૧૦૮
૩૧૧૧૦	૪૧૧૧૫	૩૧૧૪૮	૪૧૧૫૬	૩૧૧૮૬	૪૧૧૧૧૦

		અધ્યાય ૩ પાદ ૩			
૩૨૨૧૦૫	૪૨૨૧૨૭	૩૨૨૧	૪૨૨૧૫	૩૨૨૧૯	૪૨૨૧૩
૩૨૨૧૦૬	૪૨૨૧૨૮	૩૨૨૨	૪૨૨૨૬	૩૨૨૪૦	૪૨૨૧૪
૩૨૨૧૦૭	૪૨૨૧૨૯	૩૨૨૩	૪૨૨૨૭	૩૨૨૪૧	૪૨૨૧૫
૩૨૨૧૦૮	૪૨૨૧૩૦	૩૨૨૪ {	૪૨૨૨૮	૩૨૨૪૨	૪૨૨૧૬
૩૨૨૧૦૯	૪૨૨૧૩૧	૩૨૨૫ }		૩૨૨૪૩	૪૨૨૧૭
૩૨૨૧૧૦	૪૨૨૧૩૨	૩૨૨૬	૪૨૨૨૯	૩૨૨૪૪	૪૨૨૧૮
૩૨૨૧૧૧	૪૨૨૧૩૩	૩૨૨૭	૪૨૨૩૦	૩૨૨૪૫	૪૨૨૧૯
૩૨૨૧૧૨	૪૨૨૧૩૪	૩૨૨૮ {	૪૨૨૩૪	૩૨૨૪૬	૪૨૨૨૦
૩૨૨૧૧૩	૪૨૨૧૩૫,	૩૨૨૯ }		૩૨૨૪૭	૪૨૨૨૧
	૧૩૬	૩૨૨૧૦ }	૪૨૨૩૫	૩૨૨૪૮	૪૨૨૨૨
૩૨૨૧૧૪	૪૨૨૧૩૭,	૩૨૨૧૧ }		૩૨૨૪૯	૪૨૨૨૩
	૧૩૮	૩૨૨૧૨	૪૨૨૩૬	૩૨૨૫૦	૪૨૨૨૪
૩૨૨૧૧૫	૪૨૨૧૩૯	૩૨૨૧૩	૪૨૨૩૭	૩૨૨૫૧	૪૨૨૨૫
૩૨૨૧૧૬	૪૨૨૧૪૦	૩૨૨૧૪ }	૪૨૨૩૮	૩૨૨૫૨	૪૨૨૨૬
૩૨૨૧૧૭	૪૨૨૧૪૧	૩૨૨૧૫ }	૪૨૨૩૯	૩૨૨૫૩	૪૨૨૨૭
૩૨૨૧૧૮	૪૨૨૧૪૨	૩૨૨૧૬	૪૨૨૪૦	૩૨૨૫૪	૪૨૨૨૮
૩૨૨૧૧૯	૪૨૨૧૪૩	૩૨૨૧૭	×	૩૨૨૫૫	૪૨૨૨૯
૩૨૨૧૨૦	૪૨૨૧૪૪	૩૨૨૧૮	૪૨૨૪૧	૩૨૨૫૬	૪૨૨૩૦
૩૨૨૧૨૧	૪૨૨૧	૩૨૨૧૯	૪૨૨૪૨	૩૨૨૫૭	૪૨૨૩૧
૩૨૨૧૨૨	૪૨૨૨	૩૨૨૨૦	૪૨૨૪૩	૩૨૨૫૮	૪૨૨૩૨
૩૨૨૧૨૩	૪૨૨૩	૩૨૨૨૧	૪૨૨૪૪	૩૨૨૫૯	૪૨૨૩૩
૩૨૨૧૨૪	૪૨૨૪	૩૨૨૨૨	૪૨૨૪૫	૩૨૨૬૦	૪૨૨૩૪
૩૨૨૧૨૫	૪૨૨૫	૩૨૨૨૩	૪૨૨૪૬	૩૨૨૬૧	૪૨૨૩૫
૩૨૨૧૨૬	૪૨૨૬	૩૨૨૨૪	૪૨૨૪૭	૩૨૨૬૨	૪૨૨૩૬
૩૨૨૧૨૭	૪૨૨૭	૩૨૨૨૫	૪૨૨૪૮	૩૨૨૬૩	૪૨૨૩૭
૩૨૨૧૨૮	૪૨૨૮	૩૨૨૨૬	૪૨૨૪૯	૩૨૨૬૪	૪૨૨૩૮
૩૨૨૧૨૯	૪૨૨૯	૩૨૨૨૭	૪૨૨૫૦	૩૨૨૬૫	૪૨૨૩૯
૩૨૨૧૩૦	૪૨૨૧૦	૩૨૨૨૮	૪૨૨૫૧	૩૨૨૬૬	૪૨૨૪૦
૩૨૨૧૩૧	૪૨૨૧૧	૩૨૨૨૯	૪૨૨૫૨	૩૨૨૬૭	૪૨૨૪૧
૩૨૨૧૩૨	૪૨૨૧૨	૩૨૨૩૦	૪૨૨૫૩	૩૨૨૬૮	૪૨૨૪૨
૩૨૨૧૩૩	૪૨૨૧૩	૩૨૨૩૧	૪૨૨૫૪	૩૨૨૬૯	૪૨૨૪૩
૩૨૨૧૩૪	૪૨૨૧૪	૩૨૨૩૨	૪૨૨૫૫	૩૨૨૭૦ }	૪૨૨૪૪
૩૨૨૧૩૫	૪૨૨૧૫	૩૨૨૩૩	૪૨૨૫૬	૩૨૨૭૧ }	૪૨૨૪૫
૩૨૨૧૩૬	૪૨૨૧૬	૩૨૨૩૪	૪૨૨૫૭	૩૨૨૭૨	૪૨૨૪૬
૩૨૨૧૩૭	૪૨૨૧૭	૩૨૨૩૫	૪૨૨૫૮	૩૨૨૭૩	૪૨૨૪૭
૩૨૨૧૩૮	૪૨૨૧૮	૩૨૨૩૬	૪૨૨૫૯	૩૨૨૭૪	૪૨૨૪૮
૩૨૨૧૩૯	૪૨૨૧૯	૩૨૨૩૭	×	૩૨૨૭૫	૪૨૨૪૯
૩૨૨૧૪૦	૪૨૨૨૦	૩૨૨૩૮	૪૨૨૬૦	૩૨૨૭૬	૪૨૨૫૦
			૪૨૨૬૧	૩૨૨૭૭	૪૨૨૫૧
			૪૨૨૬૨	૩૨૨૭૮	૪૨૨૫૨
			૪૨૨૬૩	૩૨૨૭૯	૪૨૨૫૩
			૪૨૨૬૪	૩૨૨૮૦	૪૨૨૫૪
			૪૨૨૬૫	૩૨૨૮૧	૪૨૨૫૫
			૪૨૨૬૬	૩૨૨૮૨	૪૨૨૫૬
			૪૨૨૬૭	૩૨૨૮૩	૪૨૨૫૭
			૪૨૨૬૮	૩૨૨૮૪	૪૨૨૫૮
			૪૨૨૬૯	૩૨૨૮૫	૪૨૨૫૯
			૪૨૨૭૦	૩૨૨૮૬	૪૨૨૬૦
			૪૨૨૭૧	૩૨૨૮૭	૪૨૨૬૧
			૪૨૨૭૨	૩૨૨૮૮	૪૨૨૬૨
			૪૨૨૭૩	૩૨૨૮૯	૪૨૨૬૩
			૪૨૨૭૪	૩૨૨૯૦	૪૨૨૬૪
			૪૨૨૭૫	૩૨૨૯૧	૪૨૨૬૫
			૪૨૨૭૬	૩૨૨૯૨	૪૨૨૬૬



३।३।७७	४।३।१०६	३।३।११४	४।३।१५६	३।३।१५७	४।४।२९
३।३।७८	४।३।१०७	३।३।११५	४।३।१५६	३।३।१५७	४।४।३०
३।३।७९	४।३।१०८	३।३।११६	४।३।१५७	३।३।१५४	४।४।३१
३।३।८०	४।३।१०९	३।३।११७	४।३।१५८	३।३।१५५	४।४।३२, ३३
३।३।८१	४।३।११०	३।३।११८	४।३।१६०	३।३।१५६	४।४।३४
३।३।८२	४।३।१११	३।३।११९	४।३।१६१	३।३।१५७	४।४।३५
३।३।८३	४।३।११४	३।३।१२०	४।३।१६२	३।३।१५८	४।४।३६
३।३।८४	४।३।११५	३।३।१२१	४।३।१६३	३।३।१५९	४।४।३७, ३८
३।३।८५	४।३।११६	३।३।१२२	४।३।१६४	३।३।१६०	४।४।३९
३।३।८६	४।३।११७	३।३।१२३	४।३।१६५	३।३।१६१	४।४।४०
३।३।८७	४।३।११८	३।३।१२४	४।३।१६७	३।३।१६२	४।४।४१
३।३।८८	४।३।१२०	३।३।१२५	४।३।१६८	३।३।१६३	४।४।४२
३।३।८९	४।३।१२१	३।३।१२६	४।४।१	३।३।१६४	४।४।४३
३।३।९०	४।३।१२२	३।३।१२७	४।४।२	३।३।१६५	४।४।४४
३।३।९१	४।३।१२३	३।३।१२८	४।४।३	३।३।१६६	४।४।४५
३।३।९२	४।३।१२४	३।३।१२९	४।४।४	३।३।१६७	४।४।४६
३।३।९३	४।३।१२५	३।३।१३०	४।४।५	३।३।१६८	४।४।४७
३।३।९४	४।३।१२६	३।३।१३१	४।४।७	३।३।१६९	४।४।४८, ४९
३।३।९५	४।३।१२७	३।३।१३२	४।४।८	३।३।१७०	४।४।४९

३।३।१९०	४।४।७३, ७४	३।४।१७	५।१।१८	३।४।५५	५।१।५६
३।३।१९१	४।४।७६	३।४।१८	५।१।२१	३।४।५६	५।१।५७, ५८
३।३।१९२	४।४।७७	३।४।१९	५।१।२२	३।४।५७	×
३।३।१९३	४।४।७८, ७९	३।४।२०	५।१।२३	३।४।५८	५।१।५९
३।३।१९४	४।४।८३	३।४।२१	५।१।२४	३।४।५९	५।१।६०
३।३।१९५	४।४।८२, ८४	३।४।२२	५।१।२५	३।४।६०	५।१।६१
	८५, ८६, ८७	३।४।२३	×	३।४।६१	×
	८८, ८९, ९०	३।४।२४	५।१।२७	३।४।६२	५।१।६४
३।३।१९६ }	४।४।९१	३।४।२५	५।१।२६	३।४।६३	५।१।६५
३।३।१९७ }		३।४।२६	५।१।२८	३।४।६४	५।१।६६
३।३।१९८	४।४।९२	३।४।२७	५।१।२९,	३।४।६५	५।१।६८
३।३।१९९	४।४।९३	३।४।२८	५।१।३०, ३१	३।४।६६	५।१।६९, ७०
३।३।२००	४।४।९४	३।४।२९	५।१।३२	३।४।६७	५।१।७१
३।३।२०१	४।४।९७	३।४।३०	५।१।३३	३।४।६८	५।१।७२
३।३।२०२	४।४।९८	३।४।३१ }		३।४।६९	५।१।७३
३।३।२०३	४।४।९९	३।४।३२ }	५।१।३४	३।४।७०	५।१।७४
३।३।२०४	४।४।१००	३।४।३३	५।१।३५	३।४।७१	५।१।७५
३।३।२०५	४।४।१०१	३।४।३४	५।१।३६	३।४।७२	५।१।७६
३।३।२०६	४।४।१०२	३।४।३५	५।१।३७	३।४।७३	५।१।७७
३।३।२०७	४।४।१०४	३।४।३६	५।१।३८	३।४।७४	५।१।७८
३।३।२०८	४।४।१०५	३।४।३७	५।१।३९	३।४।७५	५।१।७९
		३।४।३८ }		३।४।७६	५।१।८०
		३।४।३९ }	५।१।४०	३।४।७७	५।१।८१
३।४।१	५।१।१	३।४।४०	५।१।४०	३।४।७८ }	५।१।८२
३।४।२	५।१।२	३।४।४१	५।१।४१	३।४।७९ }	५।१।८३
३।४।३	५।१।३	३।४।४२	५।१।४२	३।४।८०	५।१।८४
३।४।४	५।१।४	३।४।४३	५।१।४३	३।४।८१	५।१।८५
३।४।५	५।१।५, ७	३।४।४४ }		३।४।८२	५।१।८६
३।४।६	५।१।६	३।४।४५ }	५।१।४४	३।४।८३	५।१।८७
३।४।७	५।१।७	३।४।४६	५।१।४७	३।४।८४	५।१।८८
३।४।८ }	५।१।८	३।४।४७	५।१।४८	३।४।८५	५।१।८९
३।४।९ }	५।१।९	३।४।४८	५।१।४९	३।४।८६	५।१।९०
३।४।१०	५।१।१०	३।४।४९	५।१।५०	३।४।८७	५।१।९१
३।४।११	५।१।११	३।४।५०	५।१।५१	३।४।८८	५।१।९२
३।४।१२	५।१।१२	३।४।५१	५।१।५२	३।४।८९	५।१।९३
३।४।१३	५।१।१३	३।४।५२	५।१।५३	३।४।९०	५।१।९४
३।४।१४	५।१।१४	३।४।५३	५।१।५४	३।४।९१	५।१।९५
३।४।१५	५।१।१५	३।४।५४	५।१।५५	३।४।९२	५।१।९६

अध्याय ३ पाठ ४

# જૈનેન્દ્ર-વ્યાકરણમ્

૪૧૧૧૪૫	પ્રા૩૧૬૦	૪૧૧૧૮	પ્રા૪૧૬	૪૧૧૧૬	પ્રા૪૫૧
૪૧૧૧૪૬	પ્રા૩૧૬૧	૪૧૧૧૯	પ્રા૪૧૭	૪૧૧૧૭	પ્રા૪૫૨
૪૧૧૧૪૭	પ્રા૩૧૬૨	૪૧૧૨૦	પ્રા૪૧૧	૪૧૧૧૮	પ્રા૪૫૩
૪૧૧૧૪૮	પ્રા૩૧૬૩	૪૧૧૨૧	પ્રા૪૧૫	૪૧૧૧૯	પ્રા૪૫૪
૪૧૧૧૪૯	પ્રા૩૧૬૪	૪૧૧૨૨	પ્રા૪૧૪	૪૧૧૨૦	પ્રા૪૫૫
૪૧૧૧૫૦	પ્રા૩૧૬૬	૪૧૧૨૩	પ્રા૪૧૬	૪૧૧૨૧	પ્રા૪૫૭
૪૧૧૧૫૧	પ્રા૩૧૬૭	૪૧૧૨૪	પ્રા૪૧૭	૪૧૧૨૨	પ્રા૪૫૮
૪૧૧૧૫૨	પ્રા૩૧૬૮	૪૧૧૨૫	પ્રા૪૧૮	૪૧૧૨૩	પ્રા૪૫૯
૪૧૧૧૫૩	પ્રા૩૧૬૯	૪૧૧૨૬	પ્રા૪૧૯	૪૧૧૨૪	પ્રા૪૬૦, ૬૧,
૪૧૧૧૫૪	પ્રા૩૧૭૦	૪૧૧૨૭	પ્રા૪૨૦	૪૧૧૨૫	૬૨, ૬૩, ૬૪, ૬૬,
૪૧૧૧૫૫	પ્રા૩૧૭૧	૪૧૧૨૮	પ્રા૪૨૧	૪૧૧૨૬	૬૭,
૪૧૧૧૫૬	પ્રા૩૧૭૨	૪૧૧૨૯	પ્રા૪૨૨	૪૧૧૨૭	પ્રા૪૬૮
૪૧૧૧૫૭	પ્રા૩૧૭૩	૪૧૧૩૦	પ્રા૪૨૩	૪૧૧૨૮	પ્રા૪૬૯, ૭૦
૪૧૧૧૫૮	પ્રા૩૧૭૪	૪૧૧૩૧	પ્રા૪૨૪	૪૧૧૨૯	પ્રા૪૭૧
૪૧૧૧૫૯	પ્રા૩૧૭૫	૪૧૧૩૨	પ્રા૪૨૫	૪૧૧૩૦	પ્રા૪૭૨
૪૧૧૧૬૦	પ્રા૩૧૭૬	૪૧૧૩૩	પ્રા૪૨૬	૪૧૧૩૧	પ્રા૪૭૩
૪૧૧૧૬૧	પ્રા૩૧૭૭	૪૧૧૩૪	પ્રા૪૨૭	૪૧૧૩૨	પ્રા૪૭૪
૪૧૧૧૬૨	પ્રા૩૧૭૮	૪૧૧૩૫	પ્રા૪૨૮, ૨૯	૪૧૧૩૩	પ્રા૪૭૫
૪૧૧૧૬૩	પ્રા૩૧૭૯	૪૧૧૩૬	પ્રા૪૩૦	૪૧૧૩૪	પ્રા૪૭૬
૪૧૧૧૬૪	પ્રા૩૧૮૦	૪૧૧૩૭	પ્રા૪૩૧	૪૧૧૩૫	

## અધ્યાય ૪ પાદ ૨

૪૧૧૧	પ્રા૩૧૮૨	૪૧૧૩૮	પ્રા૪૩૨	૪૧૧૩૬	પ્રા૪૭૭
૪૧૧૨	પ્રા૩૧૮૩	૪૧૧૩૯	પ્રા૪૩૩	૪૧૧૩૭	પ્રા૪૭૮
૪૧૧૩	પ્રા૩૧૮૪	૪૧૧૪૦	પ્રા૪૩૪	૪૧૧૩૮	પ્રા૪૭૯
૪૧૧૪	પ્રા૩૧૮૫	૪૧૧૪૧	પ્રા૪૩૫	૪૧૧૩૯	પ્રા૪૮૦
૪૧૧૫	પ્રા૩૧૮૬	૪૧૧૪૨	પ્રા૪૩૬	૪૧૧૪૦	પ્રા૪૮૧
૪૧૧૬	પ્રા૩૧૮૭	૪૧૧૪૩	પ્રા૪૩૭	૪૧૧૪૧	પ્રા૪૮૨
૪૧૧૭ } ૪૧૧૮ }	પ્રા૩૧૮૮	૪૧૧૪૪	પ્રા૪૩૮	૪૧૧૪૨	પ્રા૪૮૩, ૮૪
૪૧૧૯	પ્રા૩૧૮૯	૪૧૧૪૫	પ્રા૪૩૯	૪૧૧૪૩	પ્રા૪૮૫
૪૧૧૧૦	પ્રા૪૧, ૨	૪૧૧૪૬	પ્રા૪૪૦	૪૧૧૪૪	પ્રા૪૮૬
૪૧૧૧૧	પ્રા૪૩	૪૧૧૪૭	પ્રા૪૪૨	૪૧૧૪૫	પ્રા૪૮૭
૪૧૧૧૨	પ્રા૪૪	૪૧૧૪૮	પ્રા૪૪૩	૪૧૧૪૬	પ્રા૪૮૮
૪૧૧૧૩	પ્રા૪૫	૪૧૧૪૯	પ્રા૪૪૪	૪૧૧૪૭	પ્રા૪૮૯
૪૧૧૧૪ } ૪૧૧૧૫ }	પ્રા૪૬	૪૧૧૫૦	પ્રા૪૪૫	૪૧૧૪૮	પ્રા૪૯૦
૪૧૧૧૬	પ્રા૪૭	૪૧૧૫૧	પ્રા૪૪૬	૪૧૧૪૯	પ્રા૪૯૧
૪૧૧૧૭	પ્રા૪૮	૪૧૧૫૨	પ્રા૪૪૭	૪૧૧૫૦	પ્રા૪૯૨
		૪૧૧૫૩	પ્રા૪૪૮		
		૪૧૧૫૪	પ્રા૪૪૯		
			પ્રા૪૫૦		

## તુલનાત્મક સૂત્ર-સૂચી

જારા૬૩	પ્રાજા૬૧	જારા૧૩૦	પ્રાજા૧૨૬	જારા૬	દારા૧૧
જારા૬૪	પ્રાજા૬૨	જારા૧૩૧	પ્રાજા૧૩૦	જારા૬	દારા૧૧૩
જારા૬૫	પ્રાજા૬૩	જારા૧૩૨	પ્રાજા૧૩૧	જારા૧૦	દારા૧૧૪
જારા૬૬	પ્રાજા૬૪	જારા૧૩૩	પ્રાજા૧૩૨	જારા૧૧	દારા૧૧૫
જારા૬૭	પ્રાજા૬૫	જારા૧૩૪	પ્રાજા૧૩૩	જારા૧૨	દારા૧૧૬
જારા૬૮	પ્રાજા૬૬	જારા૧૩૫	પ્રાજા૧૩૪	જારા૧૩	દારા૧૧૭
જારા૧૬૯	પ્રાજા૬૭	પ્રારા૧૩૬	પ્રાજા૧૩૫	જારા૧૪	દારા૧૧૮
જારા૧૦૦		જારા૧૩૭	પ્રાજા૧૩૬	જારા૧૫	દારા૧૧૯
જારા૧૦૧	પ્રાજા૬૮	જારા૧૩૮	પ્રાજા૧૩૭	જારા૧૬	દારા૧૨૧
જારા૧૦૨	પ્રાજા૬૯	જારા૧૩૯	પ્રાજા૧૩૮	જારા૧૭	દારા૧૨૨
જારા૧૦૩	પ્રાજા૧૦૦	જારા૧૪૦	પ્રાજા૧૪૦	જારા૧૮	દારા૧૨૩
જારા૧૦૪	પ્રાજા૧૦૧	જારા૧૪૧	પ્રાજા૧૩૯	જારા૧૯	દારા૧૨૪
જારા૧૦૫	પ્રાજા૧૦૨	જારા૧૪૨	પ્રાજા૧૪૧	જારા૨૦	દારા૧૨૫
જારા૧૦૬	પ્રાજા૧૦૪	જારા૧૪૩	પ્રાજા૧૪૩	જારા૨૧	દારા૧૨૬
જારા૧૦૭	પ્રાજા૧૦૫	જારા૧૪૪	પ્રાજા૧૪૪	જારા૨૨	દારા૧૨૭
જારા૧૦૮	પ્રાજા૧૦૬	જારા૧૪૫	પ્રાજા૧૪૫	જારા૨૩ } જારા૨૪ } જારા૨૫ }	દારા૧૨૮
જારા૧૦૯	પ્રાજા૧૦૭	જારા૧૪૬	પ્રાજા૧૪૬		
જારા૧૧૦	પ્રાજા૧૦૮	જારા૧૪૭	પ્રાજા૧૪૭		
જારા૧૧૧	પ્રાજા૧૦૯	જારા૧૪૮	પ્રાજા૧૪૮	જારા૨૬	દારા૧૨૯
જારા૧૧૨	પ્રાજા૧૧૦, ૧૧૧, ૧૧૨	જારા૧૪૯	પ્રાજા૧૪૯	જારા૨૭	દારા૧૩૦
જારા૧૧૩	પ્રાજા૧૧૩	જારા૧૫૦	પ્રાજા૧૫૦	જારા૨૮	દારા૧૩૧
જારા૧૧૪	પ્રાજા૧૧૪	જારા૧૫૧	પ્રાજા૧૫૧	જારા૨૯	દારા૧૩૨
જારા૧૧૫	પ્રાજા૧૧૫	જારા૧૫૨	પ્રાજા૧૫૨	જારા૩૦	દારા૧૩૩
જારા૧૧૬	પ્રાજા૧૧૬	જારા૧૫૩	પ્રાજા૧૫૩	જારા૩૧	દારા૧૩૭
જારા૧૧૭	પ્રાજા૧૧૭	જારા૧૫૪	પ્રાજા૧૫૪	જારા૩૨	દારા૧૩૮
જારા૧૧૮	પ્રાજા૧૧૮	જારા૧૫૫	પ્રાજા૧૫૫	જારા૩૩	દારા૧૩૯
જારા૧૧૭	પ્રાજા૧૧૯	જારા૧૫૬	પ્રાજા૧૫૬	જારા૩૪	દારા૧૪૧
જારા૧૨૦	પ્રાજા૧૨૦	જારા૧૫૭	પ્રાજા૧૫૭	જારા૩૫	દારા૧૪૨
જારા૧૨૧		જારા૧૫૮	પ્રાજા૧૫૮	જારા૩૬	દારા૧૪૩
જારા૧૨૨		જારા૧૫૯	પ્રાજા૧૬૦	જારા૩૭	દારા૧૪૪
જારા૧૨૩	પ્રાજા૧૨૧	અધ્યાય ૪ પાદ ૩		જારા૩૮	દારા૧૪૫
જારા૧૨૪	પ્રાજા૧૨૨	જારા૧	દારા૧	જારા૩૯	દારા૧૪૬
જારા૧૨૫	પ્રાજા૧૨૪	જારા૨	દારા૨	જારા૪૦	દારા૧૪૭
જારા૧૨૬	પ્રાજા૧૨૫	જારા૩	દારા૩	જારા૪૧	દારા૧૪૮
જારા૧૨૭	પ્રાજા૧૨૬	જારા૪	દારા૪	જારા૪૨	દારા૧૪૯
જારા૧૨૮	પ્રાજા૧૨૭	જારા૫	દારા૫	જારા૪૩	દારા૧૫૦
જારા૧૨૯	પ્રાજા૧૨૮	જારા૬	દારા૬	જારા૪૪	દારા૧૫૧
		જારા૭	દારા૭	જારા૪૫	દારા૧૫૩

જાણી૪૬	દાણી૫૪	જાણી૮૪	દાણી૯૭	જાણી૧૧૭	૧૫૬, ૧૫૭
જાણી૪૭	દાણી૫૫	જાણી૮૫	દાણી૯૮	X	
જાણી૪૮	દાણી૫૬	જાણી૮૬	દાણી૯૯	જાણી૧૧૮	૨૪૪૩૨
જાણી૪૯	જાણી૫૭	જાણી૮૭	દાણી૧૦૦	જાણી૧૧૯	૨૪૪૩૪
જાણી૫૦	દાણી૫૮	જાણી૮૮	દાણી૧૦૧	જાણી૧૨૦	દાણી૧
જાણી૫૧	દાણી૫૯	જાણી૮૯	} દાણી૧૦૨	જાણી૧૨૧	દાણી૨
જાણી૫૨	દાણી૬૦	જાણી૯૦		જાણી૧૨૨	દાણી૩
જાણી૫૩	દાણી૬૧	જાણી૯૧	દાણી૧૦૩	જાણી૧૨૩	દાણી૪
જાણી૫૪	દાણી૬૨	જાણી૯૨	દાણી૧૦૪	જાણી૧૨૪	દાણી૫
જાણી૫૫	દાણી૬૩	જાણી૯૩	દાણી૧૦૫	જાણી૧૨૫	દાણી૬
જાણી૫૬	દાણી૬૪	જાણી૯૪	દાણી૧૦૬	જાણી૧૨૬	દાણી૭, ૮
જાણી૫૭	} દાણી૬૫	જાણી૯૫	દાણી૧૦૭	જાણી૧૨૭	દાણી૮
જાણી૫૮		જાણી૯૬	દાણી૧૦૮	જાણી૧૨૮	} દાણી૧૦
જાણી૫૯	દાણી૬૬	જાણી૯૭	દાણી૧૦૯	જાણી૧૨૯	
જાણી૬૦	દાણી૬૭	જાણી૯૮	દાણી૧૧૦	જાણી૧૩૦	દાણી૧૧
જાણી૬૧	દાણી૬૮	જાણી૯૯	દાણી૧૧૧	જાણી૧૩૧	દાણી૧૨
જાણી૬૨	દાણી૬૯	જાણી૧૦૦	દાણી૧૧૨, ૧૧૪	જાણી૧૩૨	દાણી૧૩
જાણી૬૩	દાણી૭૦	જાણી૧૦૧	દાણી૧૧૪	જાણી૧૩૩	દાણી૧૪
જાણી૬૪	દાણી૭૧	જાણી૧૦૨	દાણી૧૧૫	જાણી૧૩૪	દાણી૧૫
જાણી૬૫	દાણી૭૨	જાણી૧૦૩	દાણી૧૧૬	જાણી૧૩૫	દાણી૧૬
જાણી૬૬	દાણી૭૩	જાણી૧૦૪	દાણી૧૧૭	જાણી૧૩૬	દાણી૧૭
જાણી૬૭	દાણી૭૪	જાણી૧૦૫	દાણી૧૧૮	જાણી૧૩૭	દાણી૧૮
જાણી૬૮	} દાણી૭૫	જાણી૧૦૬	દાણી૧૧૯	જાણી૧૩૮	દાણી૧૯
જાણી૬૯		જાણી૧૦૭	દાણી૧૨૦	જાણી૧૩૯	દાણી૨૦
જાણી૭૦	દાણી૭૬	જાણી૧૦૮	દાણી૧૨૧	જાણી૧૪૦	દાણી૨૧
જાણી૭૧	દાણી૭૭	જાણી૧૦૯	દાણી૧૨૨	જાણી૧૪૧	દાણી૨૨
જાણી૭૨	દાણી૭૮	જાણી૧૧૦	દાણી૧૨૩	જાણી૧૪૨	દાણી૨૩
જાણી૭૩	દાણી૭૯	જાણી૧૧૧	દાણી૧૨૪	જાણી૧૪૩	દાણી૨૪
જાણી૭૪	દાણી૮૦	જાણી૧૧૨	દાણી૧૨૫	જાણી૧૪૪	દાણી૨૫
જાણી૭૫	દાણી૮૧	જાણી૧૧૩	દાણી૧૨૬	જાણી૧૪૫	દાણી૨૬
જાણી૭૬	દાણી૮૨	જાણી૧૧૪	દાણી૧૨૭	જાણી૧૪૬	દાણી૨૭
જાણી૭૭	દાણી૮૩	જાણી૧૧૫	દાણી૧૨૮	જાણી૧૪૭	દાણી૨૮
જાણી૭૮	દાણી૮૪	જાણી૧૧૬	દાણી૧૨૯	જાણી૧૪૮	દાણી૨૯
જાણી૭૯	દાણી૮૫	જાણી૧૧૭	૧૪૪, ૧૪૫,	જાણી૧૪૯	દાણી૩૦
જાણી૮૦	દાણી૮૬	જાણી૧૧૮	૧૪૬, ૧૪૭,	જાણી૧૫૦	દાણી૩૧
જાણી૮૧	દાણી૮૭	જાણી૧૧૯	૧૪૮, ૧૪૯,	જાણી૧૫૧	દાણી૩૨
જાણી૮૨	દાણી૮૮	જાણી૧૨૦	૧૫૦, ૧૫૧,	જાણી૧૫૨	દાણી૩૩
જાણી૮૩	દાણી૮૯	જાણી૧૨૧	૧૫૩, ૧૫૪,	જાણી૧૫૩	દાણી૩૪

४३।१५४	४३।४२	४३।१६२	४३।८४, ८५	४३।२२६	४३।१२८
४३।१५५	४३।४३	४३।१६३	४३।८६	४३।२३०	४३।१२९
४३।१५६	४३।४४	४३।१६४	४३।८८	४३।२३१	४३।१३०
४३।१५७	४३।४५	४३।१६५	४३।८९	४३।२३२	४३।१३७
४३।१५८	४३।४६	४३।१६६	४३।९०	४३।२३३	४३।१३८
४३।१५९	४३।४७, ४८	४३।१६७	४३।९१	४३।२३४	४३।१३९
४३।१६०	४३।४८	४३।१६८	४३।९२	अध्याय ४ पाद ४	
४३।१६१	४३।५०	४३।१९६	४३।९३	४४।१	४४।१
४३।१६२	४३।५१	४३।२००	४३।९४	४४।२	४४।२
४३।१६३	४३।५२	४३।२०१	४३।९५	४४।३	४४।३, ४
४३।१६४	४३।५३	४३।२०२	४३।९७	४४।४	४४।६
४३।१६५	४३।५४	४३।२०३	४३।९८	४४।५	४४।७
४३।१६६	४३।५५	४३।२०४ } ४३।९९	४३।९९	४४।६	४४।८
४३।१६७	४३।५६	४३।२०५ }	४३।१००	४४।७	४४।१०
४३।१६८	४३।५७	४३।२०६	४३।१००	४४।८	४४।११
४३।१६९	४३।५८	४३।२०७	४३।१०१	४४।९	४४।१२
४३।१७०	४३।५९	४३।२०८	४३।१०२	४४।१० }	
४३।१७१	४३।६०	४३।२०९	४३।१०३	४४।११	४४।१३
४३।१७२	४३।६१	४३।२१०	४३।१०४	४४।१२	४४।१४
४३।१७३	४३।६३, ६४	४३।२११	४३।१०५	४४।१३	४४।१५
४३।१७४	४३।६२	४३।२१२	४३।१०६	४४।१४	४४।१६
४३।१७५	४३।६५	४३।२१३	४३।१०७	४४।१५	४४।१७
४३।१७६	४३।६६	४३।२१४	४३।१०८	४४।१६	४४।१८
४३।१७७	४३।६७	४३।२१५	४३।११०	४४।१७	४४।१९
४३।१७८	४३।६८	४३।२१६	४३।१११	४४।१८	४४।२०
४३।१७९	४३।६९	४३।२१७	४३।११२	४४।१९	४४।२१
४३।१८०	४३।७०	४३।२१८	४३।११५	४४।२०	४४।२२
४३।१८१ }	४३।७३, ७४	४३।२१९	४३।११६	४४।२१	४४।२३
४३।१८२ }		४३।२२०	४३।११७	४४।२२	४४।२४
४३।१८३	४३।७५	४३।२२१	४३।११८	४४।२३	४४।२५
४३।१८४	४३।७६	४३।२२२	४३।११९, १२०	४४।२४	४४।२६
४३।१८५	४३।७७	४३।२२३	४३।१२१	४४।२५	×
४३।१८६	४३।७८	४३।२२४	४३।१२३	४४।२७	४४।२७
४३।१८७	४३।७९	४३।२२५	४३।१२४	४४।२८	४४।२८, २९
४३।१८८	४३।८०	४३।२२६	४३।१२२	४४।२९	४४।३०
४३।१८९	४३।८१	४३।२२७	४३।१२५	४४।३०	४४।३१
४३।१९०	४३।८२	४३।२२८	४३।१२७	४४।३१	४४।३२



[illegible]



ପ୍ରା ୧୧୦	ଭା ୧୪୨		୨୦, ୨୧, ୨୨,	ପ୍ରା ୧୧୩	ଭା ୧୦୪, ୧୦୫
ପ୍ରା ୧୧୧	ଭା ୧୪୩		୨୩, ୨୫, ୨୬	ପ୍ରା ୧୧୪	ଭା ୧୦୬
ପ୍ରା ୧୧୨	ଭା ୧୪୪	ପ୍ରା ୧୧୨୭	ଭା ୧୨୪	ପ୍ରା ୧୧୫	ଭା ୧୦୭
ପ୍ରା ୧୧୩	ଭା ୧୪୫	ପ୍ରା ୧୧୨୮	ଭା ୧୨୭	ପ୍ରା ୧୧୬	ଭା ୧୦୮
ପ୍ରା ୧୧୪	ଭା ୧୪୬	ପ୍ରା ୧୧୨୯	ଭା ୧୩୦	ପ୍ରା ୧୧୭	ଭା ୧୦୯
ପ୍ରା ୧୧୫	ଭା ୧୪୭	ପ୍ରା ୧୧୩୦	ଭା ୧୩୧	ପ୍ରା ୧୧୮	ଭା ୧୧୦
ପ୍ରା ୧୧୬	ଭା ୧୪୮	ପ୍ରା ୧୧୩୧	ଭା ୧୩୨	ପ୍ରା ୧୧୯	ଭା ୧୧୧
ପ୍ରା ୧୧୭	ଭା ୧୪୯	ପ୍ରା ୧୧୩୨	ଭା ୧୩୩	ପ୍ରା ୧୧୧୦	ଭା ୧୧୨
ପ୍ରା ୧୧୮	ଭା ୧୫୦	ପ୍ରା ୧୧୩୩	ଭା ୧୩୪	ପ୍ରା ୧୧୧୧	ଭା ୧୧୩
ପ୍ରା ୧୧୯	ଭା ୧୫୧	ପ୍ରା ୧୧୩୪	ଭା ୧୩୫	ଅଧ୍ୟାୟ ୫ ପାଠ ୨	
ପ୍ରା ୧୧୧୦	ଭା ୧୫୨	ପ୍ରା ୧୧୩୫	ଭା ୧୩୬	ପ୍ରା ୧୧	ଭା ୧୧୪
ପ୍ରା ୧୧୧୧	ଭା ୧୫୩	ପ୍ରା ୧୧୩୬	ଭା ୧୩୭	ପ୍ରା ୧୧୨	X
ପ୍ରା ୧୧୧୨	ଭା ୧୫୪	ପ୍ରା ୧୧୩୭	ଭା ୧୩୮	ପ୍ରା ୧୧୩	ଭା ୧୧୫
ପ୍ରା ୧୧୧୩	ଭା ୧୫୫	ପ୍ରା ୧୧୩୮	ଭା ୧୩୯	ପ୍ରା ୧୧୪	ଭା ୧୧୬
ପ୍ରା ୧୧୧୪	ଭା ୧୫୬	ପ୍ରା ୧୧୩୯	ଭା ୧୪୦	ପ୍ରା ୧୧୫	ଭା ୧୧୭
ପ୍ରା ୧୧୧୫	ଭା ୧୫୭	ପ୍ରା ୧୧୪୦	ଭା ୧୪୧	ପ୍ରା ୧୧୬	ଭା ୧୧୮
ପ୍ରା ୧୧୧୬	ଭା ୧୫୮	ପ୍ରା ୧୧୪୧	ଭା ୧୪୨	ପ୍ରା ୧୧୭	ଭା ୧୧୯
ପ୍ରା ୧୧୧୭	ଭା ୧୫୯	ପ୍ରା ୧୧୪୨	ଭା ୧୪୩	ପ୍ରା ୧୧୮	ଭା ୧୧୧୦
ପ୍ରା ୧୧୧୮	ଭା ୧୬୦,	ପ୍ରା ୧୧୪୩	ଭା ୧୪୪	ପ୍ରା ୧୧୯	ଭା ୧୧୧୧
	୧୧, ୧୨	ପ୍ରା ୧୧୪୪	ଭା ୧୪୫	ପ୍ରା ୧୧୧୦	ଭା ୧୧୧୨
ପ୍ରା ୧୧୧୯	ଭା ୧୬୧	ପ୍ରା ୧୧୪୫	ଭା ୧୪୬	ପ୍ରା ୧୧୧୧	ଭା ୧୧୧୩
ପ୍ରା ୧୧୧୧୦	ଭା ୧୬୨	ପ୍ରା ୧୧୪୬	ଭା ୧୪୭	ପ୍ରା ୧୧୧୨	ଭା ୧୧୧୪
ପ୍ରା ୧୧୧୧୧	ଭା ୧୬୩	ପ୍ରା ୧୧୪୭	ଭା ୧୪୮	ପ୍ରା ୧୧୧୩	ଭା ୧୧୧୫
ପ୍ରା ୧୧୧୧୨	X	ପ୍ରା ୧୧୪୮	ଭା ୧୪୯	ପ୍ରା ୧୧୧୪	ଭା ୧୧୧୬
ପ୍ରା ୧୧୧୧୩	} ଭା ୧୬୮	ପ୍ରା ୧୧୪୯	ଭା ୧୫୦	ପ୍ରା ୧୧୧୫	ଭା ୧୧୧୭
ପ୍ରା ୧୧୧୧୪		ପ୍ରା ୧୧୫୦	ଭା ୧୫୧	ପ୍ରା ୧୧୧୬	ଭା ୧୧୧୮
ପ୍ରା ୧୧୧୧୫	ଭା ୧୬୯	ପ୍ରା ୧୧୫୧	ଭା ୧୫୨	ପ୍ରା ୧୧୧୭	ଭା ୧୧୧୯
ପ୍ରା ୧୧୧୧୬	ଭା ୧୭୦	ପ୍ରା ୧୧୫୨	ଭା ୧୫୩	ପ୍ରା ୧୧୧୮	ଭା ୧୧୧୧୦
ପ୍ରା ୧୧୧୧୭	ଭା ୧୭୧	ପ୍ରା ୧୧୫୩	ଭା ୧୫୪	ପ୍ରା ୧୧୧୯	ଭା ୧୧୧୧୧
ପ୍ରା ୧୧୧୧୮	ଭା ୧୭୨	ପ୍ରା ୧୧୫୪	ଭା ୧୫୫	ପ୍ରା ୧୧୧୧୦	ଭା ୧୧୧୧୨
ପ୍ରା ୧୧୧୧୯	ଭା ୧୭୩	ପ୍ରା ୧୧୫୫	ଭା ୧୫୬	ପ୍ରା ୧୧୧୧୧	ଭା ୧୧୧୧୩
ପ୍ରା ୧୧୧୧୧୦	ଭା ୧୭୪	ପ୍ରା ୧୧୫୬	ଭା ୧୫୭	ପ୍ରା ୧୧୧୧୨	ଭା ୧୧୧୧୪
ପ୍ରା ୧୧୧୧୧୧	ଭା ୧୭୫	ପ୍ରା ୧୧୫୭	ଭା ୧୫୮	ପ୍ରା ୧୧୧୧୩	ଭା ୧୧୧୧୫
ପ୍ରା ୧୧୧୧୧୨	ଭା ୧୭୬	ପ୍ରା ୧୧୫୮	ଭା ୧୫୯	ପ୍ରା ୧୧୧୧୪	ଭା ୧୧୧୧୬
ପ୍ରା ୧୧୧୧୧୩	ଭା ୧୭୭	ପ୍ରା ୧୧୫୯	ଭା ୧୬୦	ପ୍ରା ୧୧୧୧୫	ଭା ୧୧୧୧୭
ପ୍ରା ୧୧୧୧୧୪	ଭା ୧୭୮	ପ୍ରା ୧୧୬୦	ଭା ୧୬୧	ପ୍ରା ୧୧୧୧୬	ଭା ୧୧୧୧୮
ପ୍ରା ୧୧୧୧୧୫	ଭା ୧୭୯, ୧୮୦	ପ୍ରା ୧୧୬୧	ଭା ୧୬୨	ପ୍ରା ୧୧୧୧୭	ଭା ୧୧୧୧୯
ପ୍ରା ୧୧୧୧୧୬	ଭା ୧୮୦, ୧୮୧,	ପ୍ରା ୧୧୬୨	ଭା ୧୬୩	ପ୍ରା ୧୧୧୧୮	ଭା ୧୧୧୧୧୦

પ્રારા૨૬	૭૩૧૨૪	પ્રારા૬૭	૭૩૧૬૭	પ્રારા૧૦૪	૭૩૧૧૦૬
પ્રારા૩૦ } પ્રારા૩૧ }	૭૩૧૨૫	પ્રારા૬૮	૭૩૧૬૧, ૬૨ ૬૪, ૬૮	પ્રારા૧૦૫	૭૩૧૧૧૦
પ્રારા૩૨	૭૩૧૨૬, ૨૭	પ્રારા૬૯	૭૩૧૭૨	પ્રારા૧૦૬	૭૩૧૧૧૧
પ્રારા૩૩	૭૩૧૨૮, ૨૯	પ્રારા૭૦	૭૩૧૭૩	પ્રારા૧૦૭	૭૩૧૧૧૨
પ્રારા૩૪	૭૩૧૩૦	પ્રારા૭૧	૭૩૧૭૧	પ્રારા૧૦૮	૭૩૧૧૧૩
પ્રારા૩૫	૭૩૧૩૧	પ્રારા૭૨	૭૩૧૭૪	પ્રારા૧૦૯	૭૩૧૧૧૪
પ્રારા૩૬	૭૩૧૩૨	પ્રારા૭૩	૭૩૧૭૫	પ્રારા૧૧૦	૭૩૧૧૧૬
પ્રારા૩૭	૭૩૧૩૪	પ્રારા૭૪	૭૩૧૭૬	પ્રારા૧૧૧	૭૩૧૧૧૭
પ્રારા૩૮	૭૩૧૩૩	પ્રારા૭૫	૭૩૧૭૭	પ્રારા૧૧૨	૭૩૧૧૧૮, ૧૧૯
પ્રારા૩૯	૭૩૧૩૪	પ્રારા૭૬	૭૩૧૭૮	પ્રારા૧૧૩	૭૩૧૧૨૦
પ્રારા૪૦	૭૩૧૩૫	પ્રારા૭૭	૭૩૧૭૯	પ્રારા૧૧૪	×
પ્રારા૪૧	૭૩૧૩૬	પ્રારા૭૮	૭૩૧૮૦	પ્રારા૧૧૫	૭૪૧૧
પ્રારા૪૨	૭૩૧૩૭	પ્રારા૭૯	૭૩૧૮૨	પ્રારા૧૧૬	૭૪૧૩
પ્રારા૪૩	૭૩૧૩૮	પ્રારા૮૦	૭૩૧૮૩	પ્રારા૧૧૭	૭૪૧૪
પ્રારા૪૪	૭૩૧૩૮ વાં	પ્રારા૮૧	૭૩૧૮૪	પ્રારા૧૧૮	૭૪૧૫
પ્રારા૪૫ } પ્રારા૪૬ }	૭૩૧૩૯	પ્રારા૮૨	૭૩૧૮૫	પ્રારા૧૧૯	૭૪૧૬
પ્રારા૪૭	૭૩૧૪૩	પ્રારા૮૩	૭૩૧૮૬	પ્રારા૧૨૦	૭૪૧૭
પ્રારા૪૮	૭૩૧૪૧	પ્રારા૮૪	×	પ્રારા૧૨૧	૭૪૧૮
પ્રારા૪૯	૭૩૧૪૨	પ્રારા૮૫	૭૩૧૮૭	પ્રારા૧૨૨	૭૪૧૧૦
પ્રારા૫૦	૭૩૧૪૩	પ્રારા૮૬	૭૩૧૮૮	પ્રારા૧૨૩	૭૪૧૧૧
પ્રારા૫૧	૭૩૧૪૬	પ્રારા૮૭	૭૩૧૮૯	પ્રારા૧૨૪	૭૪૧૧૨
પ્રારા૫૨	૭૩૧૪૭	પ્રારા૮૮	૭૩૧૯૦	પ્રારા૧૨૫	૭૪૧૧૩
પ્રારા૫૩	૭૩૧૪૮, ૪૯	પ્રારા૮૯	૭૩૧૯૧	પ્રારા૧૨૬	૭૪૧૧૪
પ્રારા૫૪	૭૩૧૫૦	પ્રારા૯૦	૭૩૧૯૨	પ્રારા૧૨૭	૭૪૧૧૫
પ્રારા૫૫	૭૩૧૫૧	પ્રારા૯૧	૭૩૧૯૩	પ્રારા૧૨૮	૭૪૧૧૭, ૧૮, ૧૯, ૨૦
પ્રારા૫૬	૭૩૧૫૨	પ્રારા૯૨	૭૩૧૯૪	પ્રારા૧૨૯	૭૪૧૧૬
પ્રારા૫૭	×	પ્રારા૯૩	૭૩૧૯૬	પ્રારા૧૩૦	૭૪૧૨૧
પ્રારા૫૮	૭૩૧૫૩	પ્રારા૯૪	૭૩૧૯૮, ૯૯	પ્રારા૧૩૧	૭૪૧૨૨
પ્રારા૫૯	૭૩૧૫૪	પ્રારા૯૫	૭૩૧૧૦૦	પ્રારા૧૩૨	૭૪૧૨૩
પ્રારા૬૦	૭૩૧૫૫	પ્રારા૯૬	૭૩૧૧૦૧	પ્રારા૧૩૩	૭૪૧૨૪
પ્રારા૬૧	૭૩૧૫૬	પ્રારા૯૭	૭૩૧૧૦૨	પ્રારા૧૩૪	૭૪૧૨૫
પ્રારા૬૨	૭૩૧૫૭	પ્રારા૯૮	૭૩૧૧૦૩	પ્રારા૧૩૫	૭૪૧૨૬
પ્રારા૬૩	૭૩૧૫૮	પ્રારા૯૯	૭૩૧૧૦૪	પ્રારા૧૩૬	૭૪૧૨૭
પ્રારા૬૪	૭૩૧૬૦	પ્રારા૧૦૦	૭૩૧૧૦૫	પ્રારા૧૩૭	૭૪૧૨૮
પ્રારા૬૫	૭૩૧૬૧	પ્રારા૧૦૧	૭૩૧૧૦૬	પ્રારા૧૩૮	૭૪૧૨૯
પ્રારા૬૬	૭૩૧૬૨	પ્રારા૧૦૨	૭૩૧૧૦૭	પ્રારા૧૩૯	૭૪૧૩૦
	૭૩૧૬૩	પ્રારા૧૦૩	૭૩૧૧૦૮		

[illegible]

प्रा३।५६	कारा४२	प्रा३।९५	कारा८७	प्रा४।२७	कारा३६
प्रा३।६०	कारा४३	प्रा३।९६	कारा९३	प्रा४।२८	कारा४१
प्रा३।६१	कारा४४	प्रा३।९७	कारा९८	प्रा४।२९	कारा४०
प्रा३।६२	कारा४४ वा०	प्रा३।९८	कारा९९	प्रा४।३०	कारा४२
प्रा३।६३	कारा४५	प्रा३।९९	कारा१००	प्रा४।३१	कारा४३
प्रा३।६४	कारा४६	प्रा३।१००	कारा१०१	प्रा४।३२	कारा४४
प्रा३।६५	कारा४७	प्रा३।१०१	कारा१०३	प्रा४।३३	कारा४५
	४८, ४९	प्रा३।१०२	कारा१०४	प्रा४।३४	कारा४६
प्रा३।६६	कारा५०	प्रा३।१०३	कारा१०५	प्रा४।३५	कारा४७
प्रा३।६७	कारा५१, ५२	प्रा३।१०४	कारा१०७	प्रा४।३६	कारा४८
प्रा३।६८	कारा५३	प्रा३।१०५	कारा१०८	प्रा४।३७	कारा५७
प्रा३।६९	कारा५४	अध्याय ५ पाद ४		प्रा४।३८	कारा५८
प्रा३।७०	कारा५५	प्रा४।१	कारा४, ६	प्रा४।३९	कारा५९
प्रा३।७१		प्रा४।२	कारा७	प्रा४।४०	कारा६०
प्रा३।७२		प्रा४।३	X	प्रा४।४१	कारा६१
प्रा३।७३	कारा५६	प्रा४।४	कारा१७	प्रा४।४२	कारा६२
प्रा३।७४	कारा५७, ५८, ५९, ६०	प्रा४।५	कारा२०	प्रा४।४३	कारा६३
प्रा३।७५	कारा६२	प्रा४।६	कारा२२	प्रा४।४४	कारा६४
प्रा३।७६	कारा६६	प्रा४।७	कारा२३	प्रा४।४५	कारा६५
प्रा३।७७	कारा६८	प्रा४।८	कारा२४	प्रा४।४६	
प्रा३।७८	कारा६८	प्रा४।९	कारा२५	प्रा४।४७	कारा६६
प्रा३।७९	कारा७२	प्रा४।१०	कारा२६	प्रा४।४८	कारा६७
प्रा३।८०	कारा७३	प्रा४।११	कारा२७	प्रा४।४९	कारा६८
प्रा३।८१	कारा७४	प्रा४।१२	कारा२८	प्रा४।५०	कारा६९
प्रा३।८२	कारा७५	प्रा४।१३	कारा२९	प्रा४।५१	कारा७०
प्रा३।८३	कारा६४	प्रा४।१४	कारा३०, ३१	प्रा४।५२	
प्रा३।८४	कारा६५	प्रा४।१५	कारा३३	प्रा४।५३	कारा७१
प्रा३।८५	कारा७६	प्रा४।१६	कारा३२	प्रा४।५४	प्रा४।७२
प्रा३।८६	कारा७७, ७८	प्रा४।१७	कारा३३	प्रा४।५५	कारा७३
प्रा३।८७	कारा७८	प्रा४।१८	कारा३४	प्रा४।५६	कारा७४
प्रा३।८८	कारा८०	प्रा४।१९	कारा३५	प्रा४।५७	कारा७५
प्रा३।८९	कारा८१	प्रा४।२०	कारा३५	प्रा४।५८	कारा७६
प्रा३।९०	कारा८२	प्रा४।२१	कारा३७	प्रा४।५९	कारा७७
प्रा३।९१	कारा८३	प्रा४।२२		प्रा४।६०	कारा७८
प्रा३।९२	कारा८४	प्रा४।२३	कारा३६	प्रा४।६१	कारा७९
प्रा३।९३	कारा८५	प्रा४।२४	कारा३६	प्रा४।६२	कारा८०
प्रा३।९४	कारा८६	प्रा४।२५	X	प्रा४।६३	कारा८१
		प्रा४।२६	कारा३८	प्रा४।६४	कारा८३

ਪ੍ਰ।੪।੬੫	ਦਿ।੩।੮੨	ਪ੍ਰ।੪।੮੬	ਦਿ।੪।੫	ਪ੍ਰ।੪।੧੨੫	ਦਿ।੪।੩੭
ਪ੍ਰ।੪।੬੬	ਦਿ।੩।੮੪	ਪ੍ਰ।੪।੮੭	ਦਿ।੪।੬	ਪ੍ਰ।੪।੧੨੬	ਦਿ।੪।੩੮
ਪ੍ਰ।੪।੬੭	ਦਿ।੩।੮੫	ਪ੍ਰ।੪।੮੯	ਦਿ।੪।੭	ਪ੍ਰ।੪।੧੨੭	} ਦਿ।੪।੩੯
ਪ੍ਰ।੪।੬੮	ਦਿ।੩।੮੭	ਪ੍ਰ।੪।੯੨	ਦਿ।੪।੮	ਪ੍ਰ।੪।੧੨੮	
ਪ੍ਰ।੪।੬੯	ਦਿ।੩।੮੮	ਪ੍ਰ।੪।੯੩	ਦਿ।੩।੯	ਪ੍ਰ।੪।੧੨੯	ਦਿ।੪।੪੦
ਪ੍ਰ।੪।੭੦	ਦਿ।੩।੯੬	ਪ੍ਰ।੪।੯੪	ਦਿ।੪।੧੦	ਪ੍ਰ।੪।੧੩੦	ਦਿ।੪।੪੧
ਪ੍ਰ।੪।੭੧	ਦਿ।੩।੯੭	ਪ੍ਰ।੪।੯੫	ਦਿ।੪।੧੧	ਪ੍ਰ।੪।੧੩੧	ਦਿ।੪।੪੨
ਪ੍ਰ।੪।੭੨	ਦਿ।੩।੯੮	ਪ੍ਰ।੪।੯੬	ਦਿ।੪।੧੨	ਪ੍ਰ।੪।੧੩੨	ਦਿ।੪।੪੩
ਪ੍ਰ।੪।੭੩	ਦਿ।੩।੧੦੧	ਪ੍ਰ।੪।੯੭	ਦਿ।੪।੧੩	ਪ੍ਰ।੪।੧੩੩	ਦਿ।੪।੪੪
ਪ੍ਰ।੪।੭੪	ਦਿ।੩।੧੦੨	ਪ੍ਰ।੪।੯੮	ਦਿ।੪।੧੪	ਪ੍ਰ।੪।੧੩੪	X
ਪ੍ਰ।੪।੭੫	ਦਿ।੩।੮੬, ੮੬, ੯੦, ੯੧, ੯੨, ੯੩, ੯੪, ੯੫	ਪ੍ਰ।੪।੯੯	ਦਿ।੪।੩੬	ਪ੍ਰ।੪।੧੩੫	ਦਿ।੪।੪੫
ਪ੍ਰ।੪।੭੬ }	ਦਿ।੩।੧੧੧	ਪ੍ਰ।੪।੧੦੦	ਦਿ।੪।੧੭	ਪ੍ਰ।੪।੧੩੬	ਦਿ।੪।੪੬
ਪ੍ਰ।੪।੭੭ }		ਪ੍ਰ।੪।੧੦੧	ਦਿ।੪।੧੮	ਪ੍ਰ।੪।੧੩੭	ਦਿ।੪।੪੭
ਪ੍ਰ।੪।੭੮	ਦਿ।੩।੧੧੨	ਪ੍ਰ।੪।੧੦੨	ਦਿ।੪।੧੫	ਪ੍ਰ।੪।੧੩੮	ਦਿ।੪।੪੮
ਪ੍ਰ।੪।੭੯	ਦਿ।੩।੧੧੩	ਪ੍ਰ।੪।੧੦੩	ਦਿ।੪।੧੬	ਪ੍ਰ।੪।੧੩੯	ਦਿ।੪।੪੯
ਪ੍ਰ।੪।੮੦	ਦਿ।੩।੧੧੪	ਪ੍ਰ।੪।੧੦੪	ਦਿ।੪।੧੭	ਪ੍ਰ।੪।੧੪੦	ਦਿ।੪।੫੦
ਪ੍ਰ।੪।੮੧	ਦਿ।੩।੧੧੫	ਪ੍ਰ।੪।੧੦੫	ਦਿ।੪।੧੮	ਪ੍ਰ।੪।੧੪੧	ਦਿ।੪।੫੧
ਪ੍ਰ।੪।੮੨	ਦਿ।੩।੧੧੬	ਪ੍ਰ।੪।੧੦੬	ਦਿ।੪।੧੯	ਪ੍ਰ।੪।੧੪੨	ਦਿ।੪।੫੨
ਪ੍ਰ।੪।੮੩	ਦਿ।੩।੧੧੭	ਪ੍ਰ।੪।੧੦੭	ਦਿ।੪।੨੦	ਪ੍ਰ।੪।੧੪੩	ਦਿ।੪।੫੩
ਪ੍ਰ।੪।੮੪	ਦਿ।੩।੧੧੮	ਪ੍ਰ।੪।੧੦੮	ਦਿ।੪।੨੧	ਪ੍ਰ।੪।੧੪੪	ਦਿ।੪।੫੪
ਪ੍ਰ।੪।੮੫	ਦਿ।੪।੧	ਪ੍ਰ।੪।੧੦੯	ਦਿ।੪।੨੨	ਪ੍ਰ।੪।੧੪੫	ਦਿ।੪।੫੫
ਪ੍ਰ।੪।੮੬	ਦਿ।੪।੨	ਪ੍ਰ।੪।੧੧੦	ਦਿ।੪।੨੩	ਪ੍ਰ।੪।੧੪੬	ਦਿ।੪।੫੬
ਪ੍ਰ।੪।੮੭	ਦਿ।੪।੩	ਪ੍ਰ।੪।੧੧੧	ਦਿ।੪।੨੪	ਪ੍ਰ।੪।੧੪੭	ਦਿ।੪।੫੭
ਪ੍ਰ।੪।੮੮	ਦਿ।੪।੪	ਪ੍ਰ।੪।੧੧੨	ਦਿ।੪।੨੫	ਪ੍ਰ।੪।੧੪੮	ਦਿ।੪।੫੮
		ਪ੍ਰ।੪।੧੧੩	ਦਿ।੪।੨੬	ਪ੍ਰ।੪।੧੪੯	ਦਿ।੪।੫੯
		ਪ੍ਰ।੪।੧੧੪	ਦਿ।੪।੨੭	ਪ੍ਰ।੪।੧੫੦	X

# अथ जैनेन्द्रधुपाठः

प्रप्रणस्य जिनं भक्त्या संसंश्रित्याभिधागमम् ।

उपोपपाद्यते धूनामुदुत्कृष्टा मया स्थितिः ॥ १ ॥

धुः	अर्थः	धुः	अर्थः	धुः	अर्थः
मृ	सत्तायाम्	पटै	कुत्सिते शब्दे	टौकृड्	गती
एभै	वृद्धौ	यनीड्	प्रयत्ने	त्रौकृड्	
स्वदं	सर्वत्र	युतृड्	दीतौ	ष्वत्कै	
गादं	प्रतिष्ठालिप्ता	जुतृड्		वक्कै	
गाद	ग्रन्थेषु	विधृड्	याचने	मरुकै	
नाधृ	प्रतीयाते	वेधृड्		तिकै	गत्याक्षेपे
नाधृ	माञ्जारीरूप-	भयिड्	शैथिल्ये	टिकै	
नाधृ	तापैश्वर्येषु	प्रधिड्	कौटिल्ये	टीकृड्	
वधं	धारणे	कथ्यै	श्लाघायाम्	रधिड्	
नादं	सन्धने	शीकृड्	सेचने	लधिड्	
रुमिड्	आप्रवले	लोकृड्	लोचने	अधिड्	कैतवे च
रिमिड्	सौत्वे	श्लोकृड्	संघाते	वधिड्	
वदिड्	स्तुतिभिवादनयोः	द्रेकृड्	शङ्कोत्साहे	मधिड्	सामर्थ्यं
भग्निड्	प्रियहृत्पयोः	ध्रेकृड्		राष्ट्रड्	
मदिड्	स्तुतिमोदमस्तव्य-	रेकृड्	शकायाम्	लाष्ट्रड्	आयसे च
	गतिषु	शकिड्		द्राष्ट्रड्	
नदिड्	किञ्चिच्चलने	अकिड्	लक्षण्ये	श्लष्ट्रड्	कण्ठे
किशदिड्	परिदेवने	वकिड्	कौटिल्ये		

मृजिङ्	भर्जने	मठिङ्	शोके	माने	पूजायाम्
मृजीङ्		कठिङ्		पने	स्तुतौ
एजृङ्	दीप्तौ	मुठिङ्	पलायने (पालने)	पणै	व्यवहारे च
भ्रेजृङ्		एठै	विवावायाम्	बुणै	भ्रमणे
भ्राजै		हेठै		धूणै	
वर्चै		गुपौङ्	गुप्तौ	विणिङ्	ग्रहणे
ग्रष्टै	हिंसातिक्रमयोः	तिष्ठङ्	स्तुतौ	बुणिङ्	
घष्टै		ष्टेष्ठङ्		बृणिङ्	
स्फुष्टै		तेष्ठङ्	कम्पे च	भामै	क्रोधे
चेष्टै		ग्लेष्ठङ्	दैन्ये	क्षमपै	सरने
गोष्ठै	सघाते	डुवैष्ठङ्	चलने	क्षमुङ्	कान्तौ
लोष्ठै		केष्ठङ्		अयै	गतौ
हुडिङ्		खेष्ठङ्		वयै	
पिडिङ्		गेष्ठङ्		व्यै	
शडिङ्	रुजाया च	ग्लेष्ठङ्	गतौ	मयै	
हिडिङ्		कपिङ्		पयै	
कुडिङ्		मेष्ठङ्		नयै	
वडिङ्		रेष्ठङ्		रयै	
मडिङ्	वेष्टने	त्रपूपै	लजायाम्	पवै	रक्षाया च
वेष्टै		रेभृङ्	शब्दे	रेवृङ्	
भडिङ्	परिभाषायाम्	रभिङ्		तयै	गतिदानदहन- हिंसासु च
मडिङ्	शुद्धौ	अभिङ्	श्रवणसे	दयै	
तुडिङ्	तोडने	अविङ्		उयीङ्	तन्तुसन्ताने
भुडिङ्	मृतौ	लविङ्	वर्णं	पूयीङ्	दुर्गन्धविशरणयो
चडिङ्	कोपे	कवृङ्	अघाष्ट्यं च	क्षमायीङ्	विधृनने
तडिङ्	ताडने	क्लीवृङ्	मदे	स्फायीङ्	वृद्धौ
कडिङ्	मदे	चीवृङ्	कथने	श्रोप्यायीङ्	
खडिङ्	मये	शीवृङ्		तायृङ्	सन्तानपालनयोः
हेटृङ्	अनादरे	चौभृङ्		क्नुयीङ्	मवृत्ता
वाटृङ्	आगव्ये	शलभै	भोजने	कले	
द्राटृङ्	विगरणे	वल्लभै		क्लल्ल	
घाटृङ्		जभिङ्	गात्रविनामे	वल्ल	
श्लाटृङ्	श्लापायाम्	जृभिङ्		वल्ले	रूपे
पटिङ्	गतौ	ष्टभिङ्	नभे	गल्ल	
अटिङ्		म्भभिङ्		मनै	वाग्गे
वटिङ्	एकचर्गनाम	डुभृङ्		मन्यै	

## जैनेन्द्रधुपाठः

भले	{ दानहिंसापारभाषणेषु	कासृड्	शब्दकुत्सायाम्	गुड्	{ गतो	अव्यक्ते शब्दे
भल्ले		णसृड्	गब्दे	गाड्		
कल्ले	{ सख्याशब्दयोः	भासै	{ दीप्तौ	च्युड्	{	
तेवृड्		रासृड्		ड्युड्		
देवृड्	{ देवने	काशृड्	{ कौटिल्ये	प्रुड्	{	
देवृड्		णसै		प्लुड्		
पेवृड्	{	भसै	{ भये	श्यैड्	{	
रोवृड्		आडःशसुड्		रुड्		रोपे च
केवृड्	{ सेवने	भसुड्	{ प्रमादे	धृड्	{	अविश्वं सने
रोवृड्		प्रसुड्		मिड्		प्रतिदाने
गेवृड्	{	ग्लसुड्	{ अदने	दडे	{	रक्षणे
ग्लेवृड्		ईहै		त्रैड्		पालने
पेवृड्	{	वहिड्	{ वृद्धौ	पूड्	{	पवने
प्लेवृड्		महिड्		प्यैड्		वृद्धौ
मेवृड्	{ सेवने	दक्षै	{ शैश्रय च	मूड्	{	बन्धने
ग्लेवृड्		गहँ		डीड्		विहायसा गतौ
धुक्षे	{ मदीपनजीवनक्लेशेषु	गल्है	{ कुत्सायाम्	द्युतै	{	
धिक्षे		वहँ		लुटै		दीप्तौ
वृक्षे	{ वृत्तौ	वल्हँ	{ प्राधान्ये	शुभै	{	
शिक्षे		वटै		रुचै		अभिप्रीतौ च
भिक्षे	{ विप्रोपादाने	वल्है	{ परिभाषणाच्छाद- नहिंसासु	शिवताड्	{	वर्ण
दीक्षे		वेहृड्		जिमिड्		स्नेहे
	{ मौह्योपनयननिय- मप्रतादेशोभ्यासु	जेहृड्	{	जिष्विदाड्	{	मोक्षे च
				घुटै		परिवृत्तौ च



घटैप्	चेष्टायाम्	मथ	}	हिंसायाम्	फल	}	गमने
व्यथैप्	चलभीत्योः	कथ		गल			
प्रथैप्	प्रख्यातौ	क्थ		हुल			
प्रसैप्	विस्तारे	क्थ		पेल्लु			
मुटैप्	मदे	चण			पथे		
स्वटैप्	खनने	हल	}	चलने	हुल	}	हिंसासवरणयोश्च
जित्वरापै	सञ्चमे	हल		दीप्तौ	कये		निष्पचने
कटैप्	}	ज्वल	आशाने	दुवमु	उद्गरणे		
क्लटैप्		रमु	भये	क्षर	मचलने		
कटिङ्		द	नये	पहै	मर्पणे		
क्षजिङ्	गतिदानयोः	नृ	पाके	रमुङ्	क्रीडायाम्		
ठक्षै	गतिहिंसायाम्	श्रा	कम्पने	शद्लु	शातने		
कृपै	कृपायाम्	चलि	ऊर्जने	पद्लु	गतिविशरणयोश्च		
	डैदितोऽमी	छदिर्	जिह्वोन्मथने	क्रुगौ	रोदनाहानयो.		
ज्वर	रोगे	लडि	हर्षम्पलेनयोः	कुच	सर्वर्चनकौटिल्य		
गड	सेचने	मदी	अवतंसने	रुहौ	प्रतिस्तभविलेखनेषु		
हेड	वेष्टने	स्वनिर्	शब्दे	कसृ	जनने		
वट	}	व्यन	गतौ	भू	गमने		
भट		परिभाषणे	फल	वृत् घटादिः	बुधन्	भुवि	
नट	वृत्तौ	स्यमु	}	वृत् ज्वलादि.	बोधने		
एक	लोठने	स्वन		शब्दे	अत	सातत्यगमने	
चक	वृत्तौ च	राजृङ्	}	चित्ती	मजाने		
कले	हसने	दुभ्रागृङ्		द्विती	निवासे		
रगे	शक्ने	दुभ्याशृङ्		कृत	गतिवृणास्पदेषु		
लगे	सजने	भ्राजै		व्युतिर्	विभामे		
हगे	}	वृत् पुणादिः	ज्वल	व्युतिर्	}	क्षरणे	
हगं		सवरणे	चल	दीप्तौ		श्च्युतिर्	
पगे			जल	कम्पने		व्युतिर्	
एगे	}	जल	धान्ये	कुथि	}	निमामनेशयो.	
अरु		कुटिलाया गतौ	रुल	वैक्लव्ये		पुथि	
अरा		द्वल	स्थाने	लुथि			
करु	}	पुल	त्रिद्वेभ्यने	मथि	}		
रु		गतौ	हट	प्राणधान्यावरो वयोः		मथ	
चरा		वन	मदत्ते	पिपृ	शास्त्रमाहृतयोः		
करु	}	पुन	सम्माननयो	पिपृ	गतौ		
अरु		दाने	पुन		ग्यद	क्षरणे	

## जैनेन्द्रधुपाठः

वद	स्थैर्ये	लगि		तुज	हिमने
खद	हिंसाया च	गगि		तुजि	
गद	व्यक्ताया वाचि	तगि		पिजि	पालने च
रद	विलेखने	वगि		गज	
जिद्धिदा		मगि	गते	गुजि	
खद	अव्यक्ते शब्दे	स्वगि		गृज	
मर्द	गतियाचनयोः	इगि		गृजि	
नर्द		रिगि		मृज	शब्दे
गर्द	शब्दे	लिगि		मृजि	
तर्द	हिंसायाम्	त्वगि	कम्पने च	रुज	
कर्द	कुत्सिते शब्दे	पुगि		क्षीज	
खर्द	दशने	जुगि	वर्जने	गर्ज	
अदि	बन्धने	बुगि		गज	मदने च
इदि	परमैस्वर्ये	दीघ	पालने	त्यजौ	त्यागे
विदि	अवयवे	लीघ	शोषणे	शुच	पाके
खिदि	कुत्सने	शिघि	आघ्राणे	कुच	उच्चैः शब्दे
दुनदि	समृद्धौ	ओखृ		क्रुच	कौटिल्याल्पोभावात्
चदि	दीप्तिहादनयोः	राखृ		लुच	अपनयने
अदि	चेष्टायाम्	लाखृ	शोषणालमर्थयोः	अच	गतिपूजनयोः
वदि		द्राखृ		वंचु	
गदि	आह्वानरोदनयोः	भ्राखृ		चचु	
लदि		शाखृ		तचु	गतौ
बिलदि	परिदेवने	श्लाखृ	व्याप्तौ	त्वचु	
स्वदिरो	गतिशोषणयोः				

गुचु	स्तैयकरणे	रट	परिभाषणे	कठ	कृच्छ्रजीवे
ग्लुचु		रठ		हठ	स्तुतिशठत्वयोः
कुचु		लट		उठ	उपघाते
खुचु		शट		पिटि	हिमासक्लेशयोः
अर्च	पूजायाम्	वट	रुजाविशरणगत्यवमादने	शठ	कैतवे
म्लेच्छ	अव्यक्ताया वाचि	खिट	वेष्टने	शुठ	गतिप्रतिघाते
लछ	लछणे	पिट	अनादरे	श्रुठ	
लाछि		शिठ		लुठि	आलस्ये
वाछि	इच्छायाम्	रौडू	सघाते	शुठि	शोषणे
	आयामे च	जट		विड	आक्रोशे
ह्रीच्छ	लजायाम्	भट	शब्दे च	अड	उग्रमे
हुर्वा	कौटिल्ये	पिट		लड	विलासे
मुच्छर्वा	मोहसमुल्लाययोः	भट	भृतौ	कड	मदे
स्फूर्च्छर्वा	विस्तृतौ	तट	उच्छ्राये	कडु	कार्कश्ये
युच्छ	प्रमोदे	नट	वृत्तौ	चुडु	भावकरणे
उछि	उच्छने	खट	काक्षायाम्	अडु	अभियोगे
गुज	अव्यक्ते शब्दे	हट	दीप्तौ	मडि	भूपायाम्
गुजि		पट	अवयवे	बुडि	प्रमर्दने
कज		लुट	विलोडने	चुडि	अल्पीभावे
अर्ज		चिट	परप्रेष्ये	भुडि	खण्डने
सर्ज	सर्जने	स्फुटिर्	विशरणे	वडि	विभाजने
कजे	व्यथने	हेट	विद्यावायाम्	रुटि	स्तेये
खर्ज	मार्जने च	कुटि	वैकृत्ये	लुटि	
अज	गतिक्षेपणयोः	अट	गतौ	गडि	सुग्वकदेशे
तेज	पालने	पट		क्रीडू	विहारे
खज	मथने	इट		तृडू	तोडने
खजि	गतिवैकृत्ये	किट		गुप्	रक्षणे
एजृ	कपने	किटी	व्यक्ताया वाचि	धूप	तपःमताये
दुओस्फूर्ज	वज्रनिर्घोषे	रुठि		जप	व्यक्ताया वाचि
पञ्जौ	सगे	लुठि		रप	
शौटृ	गर्व	अठ		लप	मानमे च
यौटृ	वधे	हुटू	स्थौल्ये	जप	
मेटृ	उन्मादे	पठ		चप	मात्रने
मेटृ		वठ	मदनसम्पत्तौः	पच	रमसाते
लोटृ	वर्षवर्गने	मठ		चप	मन्याया गती
उट्रे		भट			

तुप	हिंसायाम्	कण	शब्दे	शूल	रुजायाम्
तुप		धण		तूल	निर्गणे
तुफ		ध्वण		पूल	सधाते
तुफ		ध्रण		मूल	प्रतिष्ठायाम्
तुप		व्रण		फल	निर्गतौ
तुप		स्तन		फुल्ल	विक्रमने
तुफ		वन	समत्तौ	चुल्ल	भाक्करणे
तुफ		वन		चिल्ल	शैथिल्ये
पिमु		पण	अपनयने	वेल्ल	चलने
पिमु		ओण्		वेल्ल	
शुभ	भाषणे च मैथुने	शोण्	वर्णगत्योः	केल्ल	
यमौ		भोण्		रेल्ल	
जम		श्लोण्	सधाते	कनेल्ल	
पर्व		पैण्		द्वेल्ल	
रफ		वनी	गीतप्रेरणश्लेषणेषु	स्वल	सवये
रफि		अम	दीप्तिकातिगतिषु	स्वल	
मर्ग		णमौ	गीतभक्तिशब्देषु	गल	अदने
वर्ग		क्रमु	प्रहन्वे	चर्व	
वर्ग		मठ	पादविक्षेपे	श्वल	आशुगमने
वर्ग		कील		श्वल्ल	
वर्ग	गतौ	मय्य	वधने	खोल्ल	गतिप्रतिघाते
वर्ग		सुत्तर्		धोम्व	गतिचातुर्ये
वर्ग		इन्दर्		त्सर	छद्मगतौ
वर्ग		सुत्तर्		कमर	हूर्छने
वर्ग		हय	इर्प्यार्थाः	पेल्ल	

चर	भक्षणे	वत्	रोपे	मृपु	सहने च
क्षिपु	निरसने	तक्ष	त्वचने	पुप	पुष्टौ च
ष्ठिपु		सूर्ध्व	अनादरे	तुपु	डाहे
जीव	प्राणधारणे	काक्षि	काक्षायाम्	श्रिपु	
पीव	स्थौल्ये	वाक्षि		श्लिपु	
मीव		माक्षि	घोरवासिते च	मुपु	
णीव		द्राक्षि		प्लुपु	सवपे
तीव		वाक्षि		घुपु	
तुर्वी	हिंसने	चूप	पाने	हृपु	अलीके
थुर्वी		तूप	तुष्टौ	कुपौ	विलिखितौ
धुर्वी		लूप	स्तेये	लस	श्लेषक्रीडनयोः
जुर्वी		मूप		जर्ज	परिभाषणहिमातर्जनेषु
भर्वी		शूप	प्रसवे	चर्च	
शर्व		भूप	अलकारे	क्षर्क्ष	हमने
अर्व		ऊप	रुजायाम्	हसे	
गुर्वी	उद्यमने	ईप	उज्जे	शुस	शब्दे
हिवि	प्रीणने	कप	हिंसायाम्	हस	
दिवि		शिप		हस	
धिवि		धप		हस	
कृवि		भप		गस	रोपकृते च
अव	हिंसाविकरणयोः	वप		पुपि	
	गतिप्रीतितृष्टिदीप्तिवृ-	मप		मिश	ममाथा
	द्धिकात्यवस्यवगमन-	रुप		मश	
	प्रवेशश्रवणस्वाभ्यर्थ-	रिप		गिंस	लुतिगती
	याचनक्रियेच्छालिंग-	जूप		शश	प्रेक्षणे
	नहिंसादनभाववर्क्षणेपु	शप		दशौ	दशने
मक्ष	सवाते	शमु	सवाते च	शसु	स्तुतौ
अक्ष	व्याप्तौ च	यूप		दहो	भस्मीकरणे
तक्ष	तनूकरणे	शृपु	भर्म्भने	मिने	मेचने
त्तक्ष		भप		च	परिक्लृप्ते
रक्ष	पालने	जिपु	मेचने	रह	त्यागे
णिक्ष	चुम्बने	विपु		ह	वृद्धौ
तृक्ष	गतौ	मिपु		दहि	
स्तृक्ष		पुपु		वृ	
गक्ष		वृपु		पप	
शक्ष		उ		त्रि	शब्दः च
रहि					
मिन्					
पेन्					

## जैनेन्द्रधुपाठः

तहिर	}	अर्दने	है	वेष्टने	खनुज्	अवगारणे
उहिर			धै	चित्तायाम्	दानज्	खडने
अह	}	पूजने प्रसवैश्वर्ययोः	स्मृ	वरणे	शानज्	तेजने
तु			दुष्ट	शपोज्	ग्राकोजे	
शु	}	गतौ	धृ	कौटिल्ये	भेषज्	दीप्तौ
हु			हृ	अव	पूर्वोपादाननि-	
धृ	}	हयै च	स्व	शब्दोपतापयोः	रसनयोश्च	हिंसायाम्
धृ			स	गतौ	छपज्	रसनयोश्च
जि	}	अभिभावे	ऋ	प्रापणे च	चपज्	भुक्तौ
जि			गृ	प्रापणे च	चुपज्	भुक्तौ
पा	}	पाने	घृ	सेचने	घासज्	दाने
धेद्			तृ	लवनतरणयोः	दासज्	दाने
प्रा	}	गधोपादाने	ट्वोधि	गतिवृद्धयोः	माहज्	माने
ध्मा			वसो	निवासे	गुहज्	सवरणे
छा	}	शब्दाग्निसयोगयो	वद	व्यक्ताया वाचि	भक्षज्	आदाने च
म्ना			यजौज्	एते मवंतः	भक्षज्	आदाने च
दाणु	}	अभ्यासे	दुवपौज्	दानदेवपूजा-	श्रिज्	सेवायाम्
देष			वहौज्	सगतकरणेषु	हृज्	हरणे
म्लै	}	शोधने	वेज्	बीजसताने	भृज्	भरणे
म्लै			व्येज्	प्रापणे	धृज्	धारणे
म्लै	}	हर्षधने	भजौज्	तनुसताने	डुकृज्	करणे
म्लै			रजौज्	पाके	णीज्	प्रापणे
म्लै	}	गानविनामे	रजौज्	सेवायाम्	एते मवंतः	इति ६४६ भूवादयो न्याय
म्लै			स्वने	रागे	इति ६४६ भूवादयो न्याय	
म्लै	}	न्यक्करणे	रजौज्	रागे	इति ६४६ भूवादयो न्याय	
म्लै			स्वने	रागे	इति ६४६ भूवादयो न्याय	
म्लै	}	तत्तौ	रजौज्	रागे	इति ६४६ भूवादयो न्याय	
म्लै			स्वने	रागे	इति ६४६ भूवादयो न्याय	

विजिज्यो विविज्यो	पृथक्भावे व्याप्तौ	वा भा ष्णा श्रा द्रा प्सा पा रा ला दाप् ख्या प्रा मा	गतिगधनयोः दीप्तौ शौचे पाके कुत्साया गतौ भक्षणे रक्षणे दाने आदाने लवने प्रकर्षणे पूरणे माने	धृज् वृजौ	स्तुतौ व्यक्ताया वाचि इत्यदादयः ७० उच्चिक्कणा धनः
इति १४ ह्लादयः उच्चिक्कणा धनः ।	अदो भक्षणे विट जाने इनौ हिंसागत्योः अस भुवि मृज् शुद्धौ वचो परिभाषणे रुदिर् अश्रुविमोचने जिष्ण्वो शये अन } श्वस } प्राणने जक्ष भक्षहसनयोः			दिवु क्रीडाजयेच्छापणि- द्युतिगतिपु पिबु तंतुमताने गुध परिवेष्टने क्षिप प्रेरणे पुष्प विकसने तिम } ष्टिम } आर्द्रभावे ष्टीम }	
जागृ दरिद्रा चक्रायु शामु	वृत् निन्दाक्षये दुर्गतौ दीप्तौ अनुशिष्टौ वृत्	चक्षौड् ईरे ईडे ईशौ आसै वसै	व्यक्ताया वाचि गतौ स्तुतौ ऐश्वर्ये उपवेशने आच्छादने	ब्रीड इप पुह राधो व्यधो पुपौ शुपौ तुपौ दुपौ श्रिपौ शकौ गिवा श्रुयै क्षुपौ शुपौ विधु रधु गुध तृप् दृप् दृह मृ पृगु प्रिगु	लज्जायाम् गत्याम् शक्ने वृद्धावेन ताडने पुष्टौ शोषणे तोषणे वितत्ये आलिगने मर्पणे गात्रप्रक्षरणे कोपे तुमुक्तगे शोधने सगये स्निग्धने च अदशने प्रीणने मोहने च निवासायाम् वचिने उद्विग्नगे प्रीने
सत्ति पस वश धु मु धु कु रु डुल्लु क्षु तु शु धु दृगु दृक् दी दा	स्वप्ने कान्तौ अभिगमने ऐश्वर्यप्रमवयोः वृत्तिहिंसापूरणेपु शब्दे तेजने धरणे स्तुतौ मिश्रणे गती रमरणे गतिप्रजनमानसनेपु प्राप्ते	आडः शासुट् दृच्छायाम् कासिड् णिसिड् णिजिड् शिजिड् पिजिड् पृजिड् पृचोड् ऊपृट् शीट् इट् हुट् द्विषौट् दुहौट् दिहौट् लिशौट् ऊपृट्	गतिमतानयोः बुचने शुद्धौ अव्यक्ते शब्दे सपचने प्राणिगर्भविमोचने स्वप्ने अवयवने ग्रपनयने अप्रतीतो क्षरणे लेपे आन्दादने आच्छादने		

## जैनेन्द्रधुपाठः

अमु	क्षेपणे
यमु	प्रयत्ने
जमु	मोक्षणे
तमु	स्तम्भे
दमु	
पृप	दाहे
पृप	
व्युप	विभागे
त्रिम	प्रेरणे
कुम	श्लेषणे
वुम	उत्सर्गे
मुस	खटने
मयी	परिमारे
लुट	दिलोडने
उच	समवाये
अष्ट	अधःपतने
अष्ट	
वृत्त	वरणे
कुश	तनूकरणे
जितृप	पिपासायाम्
रप	तुष्टे
रप	रोपे
टिप	क्षेपे
रुप	प्रोवे
गुप	व्याकुले च
पुप	विमोहने
रप	
लुप	
मृप	मात्रे

शमु	उपशमने
दमु	
तमु	काधायाम्
भमु	क्लेशने
भ्रमु	चलने
क्षमु	सहने
क्लमु	ग्लाने
मदी	हर्षे
	वृत्
जृपु	वयोहानौ
भृपु	
शो	तनूकरणे
छो	छेदे
दो	
पो	अतर्कमार्गि
	एते मवंतः
शनीङ्	प्रादुर्भावे
काशौ	दीतौ
दीपीङ्	
पूरीङ्	आप्यायने
तूरीङ्	हिंसागतित्वरणयोः
थूरीङ्	हिंसावयोहान्योः
जूरीङ्	
धूरीङ्	गतिहिंसयोः
गूरीङ्	
शूरीङ्	हिंसास्तम्भयोः
चूरीङ्	दाहे
तपै	ऐश्वर्ये वा
वतङ्	वरणे

ग्रने	प्राणने
अनो रुधौङ्	कामे
युजौङ्	समाधौ
सृजौङ्	विसर्गे
लिशौङ्	अल्पे च
उपूडौ	प्राणिप्रसवे
दूडौ	परितापे
दीडो	क्षये
डीडो	गतौ
धोडो	अनादरे
मीडो	हिंसायाम्
रीडो	श्रवणे
लीडो	श्लेषणे
व्रीडो	वृणोत्यर्थे
पीङ्	पाने
ईङ्	गतौ
प्रीङ्	प्रीतौ
माङ्	माने
	एते छैदितः
मृषौञ्	तितिक्षायाम्
शुचिरीञ्	पूतिभावे
णहौञ्	बधने
रञ्जौञ्	रागे
गपौञ्	आक्रोशे
	एते जितः
इति १२८ दिवादयः श्यविकरण	धवः
पुञ्	अभिपवे
पिञ्	वधने



डुडु	उपतापे
श्रु	श्रवणे
हि	गतिवृद्धयोः
पृ	प्रीतौ
स्पृ	चलने च
आप्पृ	व्याप्तौ
शक्पृ	शक्तौ
राधै	} ससिद्धौ
साधै	
तिक	} हिंसायाम्
तिग	
पघ	
जिधृपा	प्रागल्भ्ये
ढभु	ढभे
ऋधु	वर्द्धने

एते मवन्तः

अशृङ्	व्याप्तौ
ष्टिघट्	आस्कन्दने

डितावेतौ

इति २७ श्नुविकरणाः धवः ।

तुडौज्	व्यथने
दिशौज्	अतिसर्जने
भ्ररजौज्	पाके
त्तिघौज्	प्रेरणे

एते जितः

इती	छेदने
खिदौ	परितापे
पिश	अवयवे

वृत्

नि	} गतौ
पि	
वि	धारणे
दि	निवासगम्योः
प	प्रेरणे
मृ	प्राग्व्यापे
ज	निन्दने

गृ	निगरणे
एते मवन्तः	
दृङ्	अनादरे
वृङ्	स्थाने
प्रच्छो	डितावेतौ
	जीर्णने
सृजौ	वृत्
टौमस्जौ	विमर्गे
ऊरुजौ	शुद्धौ
ऊभुजौ	भगे
रुशौ	कौटिल्ये
रिजौ	} हिंमने
छुपौ	
सृशौ	} स्पर्शे
लिगौ	
विच्छौ	} गतौ
मृशौ	
विशौ	आमर्शे
गुदो	प्रवेशे
पद्लृ	क्षोदे
ओव्रश्चू	अवसातने
उच्छौ	छेदने
ऋच्छ	विवासे
	इन्द्रियप्रलयमूर्ति
	भावयो
मिच्छ	उत्कटेशे
चर्च	} परिभाषणे
जर्ज	
अर्भ	} मवरणे
त्वच	
ऋच	स्तुतौ
उञ्ज	आर्जवे
उञ्ज	उपमर्ग
लुभ	विमोहने
गिप	मन्थनमुद्रनिर्दि-
	मादानेषु
ऋन	} हिंसाया
ऋन	

वृफ	} वृत्तौ
वृम्फ	
दृफ	} उत्कलेशे
दृम्फ	
गुफ	} ग्रथने
गुम्फ	
तुभ	} पूरणे
तुम्भ	
शुभ	} शोभायें
शुम्भ	
दभी	ग्रथे
चूती	हिंसाया च
भूपी	} गतो
जुन	
शुन	} विधाने
विध	
पृड	} मुख्यने
मृड	
पृण	प्रीणने
मृण	हिंसायाम्
तुण	कौटिल्ये
पृण	कर्मणि शुभे
मुण	प्रतिजाने
कुण	शब्दोपकरणयोः
द्रुण	हिंसागतिरौटिल्येषु
धुण	} ध्रमणे
धूर्ण	
पृण	दीप्तेऽप्ययो
कुण	शब्दे
लुण	विनेषने
खुर	छेदन च
मुण	मरेष्टने
शृण	भीमार्थगच्छयोः
पृण	उपमने
वृण	उद्वेगने
वृण	} हिंसाया
वृण	

જૈનેન્દ્રધુપાઠ:

[illegible]

हुक्रीञ्	द्रव्यविनिमये	क्षीप्	हिसायाम्	ओलडि	} उत्त्नेपे
प्रीञ्	तृप्तिदीप्तयोः	जा	अवधो वने	हुल्	
श्रीञ्	पाके	वधो	वधने	चल	अपवारणे
मीञ्	हिसायाम्	अथ	प्रतिहर्षविमोचनयोः	पीड	गहने
पिञ्	वन्धने	मय	विलोडने	नट	अवस्त्रडने
स्कुञ्	आप्रवणे	अथ	सदभं	अथ	प्रीतिहर्षे
क्नुञ्	शब्दे	कुथ	धक्केणे	वध	सयमने
हञ्	गतो	मृट	क्षोटे	पृ	पूग्णे
गृहञ्	उपादाने	मृड	मुखने	वर्द्ध	छेदने च
पूञ्	पवने	गुध	गेपे	ऊर्जे	चलप्राणनयोः
स्तृञ्	आच्छादने	कुप	निष्कर्षे	इल	} प्रेरणे
कृञ्	हिसायाम्	क्षुभ	सचलने	क्षुड	
वृञ्	वरणे	णभ	हिसायाम्	चूर्ण	} प्रक्षेपे
भृञ्	जितः	तुभ	विप्रधने	पृथ	
भृ	} हिसायाम्	किञ्च	भोजने	मत्र	सवधे
कृ		अरा	उछे	मभ	अदने
मृ	} पालनपूरणयोः	अस	आभीक्ष्णे	चुटि	} छेदने
पृ		इप्	विप्रयोगे	चुट	
वृ	वरणे	विप	} स्नेहनसेचनसेवनपूरणोपु	क्षुट	} कुत्सने च
भृ	भर्त्सने	प्रुप		कुट्ट	
दृ	भये	प्लुप	स्तेये	चुट्ट	अल्पीभावे
नृ	नये	मुप	पुष्टौ	अट्ट	} अनादरे
जृ	वयोदानो	पुप	भूतप्रादुर्भावे	पुट्ट	
ऋ	} गतो	खच्च	एते मचंतः	श्रठ	} गतिमस्कारयोः
दृ		वृड्	सभक्तौ	श्रठि	
गृ	शब्दे	इति ५४ क्रयादप. श्नाविहरणाः	डित्	तुजि	} शिवाभिलषान-
	एते मचन्तः	धवः		विजि	
यून्	धपने	चुर	} स्तेये	विजि	} निकेतनेषु
प्रीन्	तर्जने	लुट		विजि	
आ	जितौ	चिनि	न्मरणे	विजि	} मापने
इग	दानो	यत्रि	चूर्णमोचने	विजि	
फा	दरा	स्फुट	परिहासे	विजि	} गता
गी	गना	कुडि	अनुभवापने	विजि	
ली	रेपरे	लट	उपमेवायाम्	विजि	} दाने
	अक्षेपणे	मिडि	} न्नेरुने	विजि	
नी	धुन्	विजि		विजि	} आनाये
नी	वन्धने	विजि		विजि	
नी	भने	विजि		विजि	

## जैनेन्द्रधुपाठः

खड्ग	}	भेदे	घट्ट	चलने	अर्क	}	स्तुतौ
खाडि			खट्ट	सवरणे	ईड		रोपणे
कडि	}	विभाजने	व्यय	धये	रुष	}	अव्ययने
वडि			मुत्त	सघाते	चर्च		भाषणे
मडि	डयि	शब्द	सगिराविष्कृगणे				
भडि	डिपि	कण	निमीलने				
छडि	पिडि	जमि	नागने				
पुस्त	पूण	सूट	आश्रवणे				
चुड	}	आदरानादरयोः	पुस	अभिवर्द्धने	जस	}	ताडने
नष			टकि	बधने	पश		बधने
धष	}	नागने	धूस	कातिकरणे	अम	}	रोगे
राणि			कीट	वर्णने	चट		हृत्यर्थाः
चष	}	व्यथने	पूज	पूजने	स्फुट	}	
जुष			शुठ	आलस्ये	घट		
जल	}	शौचकर्मणि	शुठि	शोपणे	दिवु	}	मर्दने
तल			मार्ज	शब्दे	अर्ज		प्रतियत्ने
तुल	}	उन्माने	गर्ज		विशब्दे	घुष	}
पुल			घृ	सवणे	आडः	शिल्पयोगे	
सुल	}	समुच्चये	पचि	विस्तारे	लस	}	अलकारे
मूल			तिज	निशाने	भूष		असने
डिप	}	क्षेपे	कृन	आख्याने	मोक्ष	}	पूजने
कल			कुवि	छादने	अर्ह		नियोगे
विल	}	रक्षणे	लुवि	अर्हने	शा	}	निकारोपस्कारयोः
रुमि			तुवि		यत		निसक्ष
वुटि	हप		व्यक्ताया वाचि	}	प्रसहने		
पल	मत्त		स्नेहने				

मुद संसर्गे  
त्रस वारणे  
मुच प्रमोचने  
( आस्वदः सकर्मकात् )

पुप धारणे  
दल विदारणे

पट

पुट

लुट

लुजि

तुजि

पिजि

भजि

पिसि

कुसि

दसि

लसि

त्रसि

कुशि

घटि

वृहि

गुप

धूप

विच्छु

चीव

वर्ह

वटह

पुथ

लोह

लोचु

मद

त्रुप

तर्क

वृटु

पु

न्यद

भाषार्थाः

आश्रयने  
मरणे

सूत्र  
मूत्र  
रुध्र  
वृक्क  
कच्छ  
चित्र  
अस  
मिश्र  
लिङ्ग  
अध  
दड  
अक  
अग  
पर्ण  
वर्ण  
कथ  
वर  
गण  
शठ  
श्वठ  
पट  
वट  
मृप  
रह  
स्तन  
गद्री  
पन  
पप ( अगिः )  
स्वर  
रच  
कन  
चह  
मह  
सग  
रुप  
श्रथ

अवमोचने  
प्रस्त्रवणे  
पारुष्ये  
दर्शने  
शैथिल्ये  
चित्रकरणे  
कटाचिद्दर्शने च  
समाधाते  
सपर्चने  
कर्णभेदे  
दृष्ट्युपसहारे  
दण्डनिपाते  
लक्षण्ये  
पदलक्षण्ये च  
हरितभावे  
वर्णक्रियाविस्तार-  
गुणवचनेषु  
वदने  
ईसायाम्  
सख्याने  
सम्यगवभाषणे  
ग्रथे  
तितिक्षायाम्  
त्यागे  
देवशब्दे  
गतौ वा  
गते ( अगिः )  
आज्ञेपे  
प्रतिपन्ने  
गतौ  
परिकल्पने  
पृत्रयाम्  
जैनेन्द्रे

स्पृह  
भाम  
सूच  
खेट  
खोट  
गोम  
कुमार  
शील  
साम  
वेल  
पल्यूल  
वास  
गवेप  
वास  
निवास  
भाज  
सभाज  
ऊन  
कूट  
केत  
ग्राम  
कुण  
स्तेन  
वन्नि  
लजि  
पार  
तीर  
स्त्रीम  
मुख  
दुःख  
रम  
व्यय  
रूप  
हेट  
लाभ  
रण  
ईसायाम्  
क्रोधे  
पैशुन्ये  
भक्षण्ये  
क्षेपे  
उपक्षेपे  
क्रीडने  
उपधारणे  
सात्वने  
कालोपदेशे  
लवनपवनयोः  
गतिमुखसेवनयो  
मार्गणे  
उपसेवायाम्  
आल्लादने  
पृथक्करणे  
प्रीतिदर्शनयो.  
परिहाने  
दाहे

ग्रामधरणे

चौयें

विभाजने

प्रकाशने

कर्मममातौ

शयनायाम्

तत्प्रियायाम्

आन्वात्मनेद्वयो

वित्तमनुमर्ग

स्पर्धायाम्

द्वयोः संगे

प्रसंगे

मात्रविचूर्णन

पते मयंत

## जैनेन्द्रधुपाठः

पटै	गतौ	स्पष्टै	वितर्कणे	अथ	}	हिंसायाम्
गहै	गहणे	गुरै	उद्यमने	क्रथ		
गुमै	अन्वेपणे	कुस्मै	कुस्मृतौ	हिसि	}	बंधने च
कुटै	विस्मापने	समै	}	ग्रथ		
गुरै	}	लक्षै		चीक	}	आभर्षणे
बोरै		कुस्मै	अवक्षेपे	शीक		
खल्ल	विकातौ	कुटै	प्रतापने	आढः	सद	गतौ
	परिवृ हणे	भलौ	आभडने	जुष		परितर्पणे
	वृत्	वचै	प्रलभने	अंथ	}	संदर्भे
अथे	उपयाच्यायाम्	वृषै	शक्तिबंधने	ग्रंथ		
समै	सदानक्रियायाम्	मदै	वृत्तियोगे	आलु		लभने
गंध	माने	मदै	परिकूजे	तनु		अद्वोपहिंसायाम्
सगामै	पुत्ते	विपै	ख्याननिवासेषु	गेः (गिपूर्वस्तनुः)		दैर्घ्ये
चित्तौ	सवित्तौ	मनै	स्तभे	वच		सदेशवचने
छः	संवरणे	गुड्	जुगुप्सायाम्	मान		पूजायाम्
दशौ	दशने	गुड्	विज्ञापने	गहं		विनिन्दने
दणौ	दर्शने च		डैदितः	माणं		अन्वेपणे
उभै	}	लक्षजू	दर्शनाकनयः	कठि		शोके
उभै			जित्	मृजू		शौचालकारयोः
तजै	कुटुम्बधारणे	युजौ	}	धृष		प्रसहने
मनं	गुप्तभाषणे	पिच				एते मवंतः
स्पर्शे	गहणश्लेषणयोः	षह	मर्पणे	मृपै		तितिक्षायाम्
भर्षे	}	ईर	क्षेपणे	तपै		दाहे
तजै		ली	द्रवीकरणे	वदै		भाषणे
वस्तौ	}	वृजी	वर्जने	अचै		पूजायाम्
गौ		जृ	वयोदानौ	अदं		हिंसायाम्
विषा	हिंसायाम्	रिच	वियोजनसपर्चनयोः	शुदै		शोधने
निषा	परिमाणे	शिष	असर्वोपयोगे			पेदितः
पातो	रूप्यायाम्	विपूर्वौ (वि-शिष)	उतिशये	वृज्		वग्ने
गुप्तै	संकोचने	वृष	प्रीणने	धूज्		कपने
गुप्तै	पूरणे	छट्	सटीपने	प्रीज्		तर्पणे
गुप्तै	आशायाम्	छट्	अपवारणे			जितः
शटै	शलाशायाम्	हमी	भये			इति ३५१ चुरादयो ध्व
गटै	पूजायाम्	मी	गतौ			समाप्ताः ।

एतत्प्रयोगजनननिष्पन्नमिति विज्ञाप्ये हेच्छप्रभृतिरव्योनिट्वागनैश्च ।

दोनमिति विज्ञाप्ये च सधामनेन धूना सुधीभिरधिगम्यमितां स्वरायाम् (?) ॥

एतन्मोक्षमार्गमनसपनिमनुयानर्षमाणि श्रयतारानीकामसेदितान्पुत्रिललितनखानीकशीतांशुविभयः ।

एतन्मोक्षमार्गमनसपनिमनुयानर्षमाणि श्रयतारानीकामसेदितान्पुत्रिललितनखानीकशीतांशुविभयः ।

# भारतीय ज्ञानपीठ के सांस्कृतिक प्रकाशन

## [ प्राकृत, संस्कृत ग्रन्थ ]

१. महाबन्ध [ महाधवल सिद्धान्त शास्त्र ] [ भाग १-५ ] हिन्दी अनुवाद सहित	५६)
२. करलक्षण [ सामुद्रिक शास्त्र ]—हस्तरेखा विज्ञानका नवीन ग्रन्थ	॥॥)
३. मदनपराजय—भाषानुवाद तथा ७८ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावना	८)
४. कन्नडप्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रन्थसूची—	१३)
५. न्यायविनिश्चय विवरण [ भाग १-२ ]	३०)
६. तत्त्वार्थवृत्ति—श्रुतसागर सूरिरचित टीका । हिन्दी सार सहित	१६)
७. आदिपुराण भाग [१]—भगवान् ऋषभदेवका पुण्य चरित्र	१०)
८. आदिपुराण भाग [२]—भगवान् ऋषभदेवका पुण्य चरित्र	१०)
९. उत्तर पुराण [ २३ तीर्थकरो का पुण्य चरित्र ]	१०)
१०. नाममाला सभाष्य—	३॥)
११. केवलज्ञानप्रश्नचूडमणि—ज्योतिष ग्रन्थ	४)
१२. सभाष्यरत्नमंजूषा—छन्दशास्त्र	२)
१३. वसुनन्दि-श्रावकाचार	५)
१४. जिनसहस्रनाम	४)
१५. समयसार—[ अग्रेजी ]	८)
१६. कुरलकाव्य—तामिल भाषाटीका पञ्चमवेद [ तामिल लिपि ]	५)
१७. तत्त्वार्थराजवार्तिक [ भाग १-२ ]	२४)

## [ हिन्दी जैन ग्रन्थ ]

१८. पुराणसार-संग्रह [ भाग १-२ ]	४)
१९. व्रततिथिनिर्णय	३)
२०. मुक्तिदूत [ उपन्यास ]—श्रृङ्गना पवनञ्जयकी पुण्यगाथा	५)
२१. भारतीय विचार धारा—	२)
२२. वर्द्धमान [ महाकाव्य ]	६)
२३. जैन-जागरणके अग्रदूत	६)
२४. आधुनिक जैन कवि	३॥॥)
२५. जैनशासन—जैनधर्मका परिचय तथा विवेचन करानेवाली सुन्दर रचना	३)
२६. कुन्दकुन्दाचार्यके तीन रत्न—	२)
२७. हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास	२॥॥=)
२८. हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन [ भाग १-२ ]	५)
२९. धर्मशर्माभ्युदय	३)
३०. खण्डहर्षका वैभव	६)
३१. खोजकी पगडंडियाँ	५)
३२. अध्यात्म-पटावली	४॥)
३३. चौलुक्य कुमारपाल	८)

भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस-५







# ज्ञानपीठके महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

## [ हिन्दी ग्रन्थ ]

१ मुक्तिदूत [वीराणिकरोगास]	५)
२ शेर-ओ-शायरी	८)
३ मिलन यागिनी [गीत]	४)
४ वैदिक साहित्य	६)
५. भेरे बापू	२॥)
६. पच-पदोप [गीत]	२)
७. भारतीय विचारधारा	२)
८ ज्ञानगंगा [सूक्तियाँ]	६)
९ गहरे पानी पैठ	२॥)
१० बद्धमान [महाकाव्य]	६)
११. शेर-ओ-सुखन [भाग १]	८)
१२. जैन जागरणके अग्रदूत	५)
१३. हमारे आराध्य [संस्मरण]	३)
१४ भारतीय ज्योतिष	६)
१५. रत्नतरश्मि [एकाकी]	२॥)
१६ संस्मरण	३)
१७. आकाशके तारे :	
घरतीके फूल	२)
१८ रेखाचित्र	४)
१९. खण्डहरोंका वैभव	६)
२०. खोजकी पगडंडियाँ	४)
२१ सत्यके बाद	३)
२२ जिन्दगी मुसकराई	४)
२३ हिन्दू विवाहमें कन्यादान	
का स्थान	१)
२४. खेत-खिलौने	२)
२५ अध्यात्म-मदावली	४॥)
२६ द्विवेदी पत्रावली	२॥)
२७ शेर-ओ-सुखन [भाग २]	३)
२८ शेर-ओ-सुखन [भाग ३]	३)
२९ शेर-ओ-सुखन [भाग ४]	३)
३० शेर-ओ-सुखन [भाग ५]	३)
३१ चौलुस्य कुमारपाठ	४)
३२ बाण्डासका भारत	
[भाग १-२]	८)
३३ शत्रुके नातोपात्र	४॥)
३४ रेडियो नाट्य गिर्य	२॥)
३५ जिन खोजा जिन पाइयाँ	२॥)
३६. हिन्दी जैन साहित्य	
परिशीलन [भाग १-२]	५)

३७. धूपके धान	३)
३८. ध्वनि और संगीत	४)
३९ क्या मैं अन्दर आ	
सकता हूँ ?	२॥)
४० और खाई बढ़ती गई	२॥)
४१ संस्कृत साहित्य में	
आयुर्वेद	३)

## [ सांस्कृतिक ग्रन्थ ]

४२ महाबन्ध [भाग १]	१२)
४३. महाबन्ध [भाग २]	११)
४४. महाबन्ध [भाग ३]	११)
४५. महाबन्ध [भाग ४]	११)
४६. महाबन्ध [भाग ५]	११)
४७. करलक्ष्मण	॥)
४८. मदनपराजय	८)
४९ कन्नड प्रांतीय ताडपत्रीय	
ग्रन्थ-सूची	१३)
५०. तत्त्वार्थवृत्ति	१६)
५१. न्यायविनिश्चयविवरण	
[भाग १]	१५)
५२ न्यायविनिश्चयविवरण	
[भाग २]	१५)
५३. सभाष्य रत्नमजूपा	२)
५४. नाममाला सभाष्य	३॥)
५५. केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि	४)
५६. आदिपुराण [भाग १-२]	२०)
५७ समयसार [अंग्रेजी]	८)
५८. जातकट्टक्या [पाली]	९)
५९. वसुनन्दि-श्रावकाचार	५)
६० तत्त्वार्थवार्तिक [भाग १-२]	२४)
६१ यिरुकुल [तामिल लिपि]	५)
६२ जिनसहस्रनाम	४)
६३ सर्वार्थसिद्धि	१२)
६४. उत्तरपुराण	१०)
६५. पुराणसारसंग्रह [भाग १-२]	४)
[ हिन्दी जैन ग्रन्थ ]	
६६. आधुनिक जैन कवि	३॥)
६७. हिन्दी-जैन साहित्यका	
संक्षिप्त इतिहास	२॥=)
६८ कृन्दकृन्दाचार्यके तीन रत्न	२)
६९. जैन-शासन	३)
७०. धर्मशान्तिम्युदय	३)